

निर्गमं पाठयन्

सम्पत्ति के लिए

सूत्रकृतांग : प्रथम श्रुतस्कंध

सूयगडो १

सम्मति के लिए

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण तथा परिशिष्ट)

वाचना-प्रमुख
आचार्य तुलसी

सम्पादक-विवेचक
युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुवादक
मुनि दुलहराज

प्रकाशक
जैन विश्व भारती
लाडनूँ (राजस्थान)

प्रकाशक :

जैन विश्व भारती

लाहन् (राजस्थान)

आर्थिक सौजन्य :

रामपुरिया चेरिटेबल ट्रस्ट

कलकत्ता

प्रबन्ध-सम्पादक .

श्रीचन्द्र रामपुरिया

निदेशक

आगम और साहित्य प्रकाशन

(जैन विश्व भारती)

प्रथम संस्करण .

१९८४

पृष्ठांक :

७००

मूल्य : **१८५ रुपये**

मुद्रक .

मित्र परिषद् कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित

जैन विश्व भारती प्रेस, लाहन् (राजस्थान)

SŪYAGADO 1

सम्मति के लिए

[Text, Sanskrit Rendering and Hindi Version with notes]

Vācānā Pramukha
ĀCĀRYA TULSI

Editor and Commentator
YUVĀCĀRYA MAHĀPRAGŪA

Translated by
MUNI DULAHARĀJA

Publisher
JAIN VISHVA BHARATI
LADNUN (Raj.)

Managing Editor :
Sreechand Rampuria
Director
Agama and Sahitya Prakashan
Jain Vishwa Bharati

By munificence .
Rampuriah Charitable Trust
Calcutta

First Edition . 1984

Pages . 700

Price : Rs. 185 00

Printers :
Jain Vishwa Bharati Press
Ladnun (Raj.)

समर्पण

॥ १ ॥

पुढो बि पण्णापुरिसो सुबक्को,
आणापहाणो जणि जस्स तिब्बं ।
सक्कप्पओगे पवरासयस्स,
जिक्कस्स तस्स प्पणिहाणपुठ्वं ॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था ।
सत्य-योग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से ॥

॥ २ ॥

विलोब्धिं आगमबुद्धमेव,
सद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं ।
सञ्जायसञ्जाणरयस्स निब्बं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुठ्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिरचिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

॥ ३ ॥

पवाहिमा जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि ।
ओ हेउमूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्य प्पणिहाणपुठ्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में मेरे मन में ।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से ॥

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का, जो अपने हाथों से उप्त और सिंचित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है; उस कलाकार का, जो अपनी तूलिका से निरूपकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का, जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोधपूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगे। सकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सब को समझागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं।

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुह्यतर प्रवृत्ति में उन्मुक्तभाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि 'जैन विश्व भारती' द्वारा आगम प्रकाशन के क्षेत्र में जो कार्य सम्पन्न हुआ है, वह मूर्धन्य विद्वानों द्वारा स्तुत्य और बहुमूल्य बताया गया है।

हमने ग्यारह अंगों का पाठान्तर तथा 'जाव' की पूर्ति से संयुक्त सु-संपादित मूल पाठ 'अंगमुस्ताणि' भाग १, २, ३ में प्रकाशित किया है। उसके साथ-साथ आगम-ग्रन्थों का मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं प्राचीनतम व्याख्या सामग्री के आधार पर सूक्ष्म ऊहापोह के साथ लिखित विस्तृत मौलिक टिप्पणों से मण्डित संस्करण प्रकाशित करने की योजना भी चलती रही है। इस शृंखला में चार आगम-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।—

- (१) ठाणं
- (२) समवाओ
- (३) दसवेआलियं
- (४) उत्तरज्झयणाणि

प्रस्तुत आगम 'सूयगढो १' उसी शृंखला का पांचवा ग्रन्थ है। बहुश्रुत वाचना-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी एवं अप्रतिम विद्वान् संपादक-विवेचक युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने जो श्रम किया है, वह ग्रन्थ के अवलोकन से स्वयं स्पष्ट होगा।

संपादन-विवेचन सहयोगी मुनि दुलहराजजी ने इसे सुसज्जित करने में अनवरत श्रम किया है।

ऐसे सु-संपादित आगम-ग्रन्थ को प्रकाशित करने का सौभाग्य 'जैन विश्व भारती' को प्राप्त हुआ है, इसके लिए वह कृतज्ञ है।

प्रस्तुत आगम 'सूयगढो १' का मुद्रण श्री रामपुरिया चेरिटेबल ट्रस्ट (कलकत्ता) द्वारा घोषित अनुदान राशि में से हुआ है। मैं उस ट्रस्ट के सभी ट्रस्टियों के प्रति संस्था की ओर से हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

जैन विश्व भारती के अध्यक्ष श्री बिहारीलालजी सरावगी की निरन्तर और सघन प्रेरणा के कारण ही, कुछ वर्षों के व्यवधान के पश्चात्, आगम प्रकाशन का कार्य पुनः तत्परता से प्रारम्भ हुआ है। मुझे आशा है कि इस प्रकाशन कार्य की निरन्तरता बनी रहेगी और हम निकट भविष्य में और अनेक आगम-ग्रन्थ प्रस्तुत करने में सक्षम होंगे।

आशा है पूर्व प्रकाशनों की तरह यह प्रकाशन भी विद्वानों की दृष्टि में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

सम्पादकीय

आगम-सम्पादन की प्रेरणा

वि० सं० २०११ का वर्ष और चैत्र मास । आचार्य श्री तुलसी महाराष्ट्र की यात्रा कर रहे थे । पूना से नारायणगांव की ओर जाते-जाते मध्यावधि में एक दिन का प्रवास मंचर में हुआ । आचार्य श्री एक जैन परिवार के भवन में ठहरे थे । वहां मासिक पत्रों की फाइले पड़ी थी । गृह-स्वामी की अनुमति ले, हम लोग उन्हें पढ़ रहे थे । सांभ की बेला, लगभग छह बजे होंगे । मैं एक पत्र के किसी अंश का निवेदन करने के लिये आचार्य श्री के पास गया । आचार्य श्री पत्रों को देख रहे थे । जैसे ही मैं पहुँचा, आचार्यश्री ने 'धर्मदूत' के मध्यस्क अंक की ओर संकेत करते हुए पूछा — "यह देखा कि नहीं ?" मैंने उत्तर में निवेदन किया— "नहीं, अभी नहीं देखा ।" आचार्य श्री बहुत गम्भीर हो गये । एक क्षण रुककर बोले — "इसमें बौद्ध पिटकों के सम्पादन की बहुत बड़ी योजना है । बौद्धों ने इस दिशा में पहले ही बहुत कार्य किया है और अब भी बहुत कर रहे हैं । जैन आगमों का सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से अभी नहीं हुआ है और इस ओर अभी ध्यान भी नहीं दिया जा रहा है ।" आचार्य श्री की वाणी में अन्तर्वेदना टपक रही थी, पर उसे पकड़ने में समय की अपेक्षा थी ।

आगम-सम्पादन का संकल्प

रात्रि-कालीन प्रार्थना के पश्चात् आचार्य श्री ने साधुओं को आमन्त्रित किया । वे आए और वन्दना कर पंक्तिबद्ध बैठ गए । आचार्यश्री ने सायंकालीन चर्चा का स्पर्श करते हुए कहा— "जैन आगमों का कार्याकल्प किया जाए, ऐसा संकल्प उठा है । उसकी पूर्ति के लिए कार्य करना होगा । बोलो, कौन तैयार है ?"

सारे हृदय एक साथ बोल उठे— "सब तैयार हैं ।"

आचार्य श्री ने कहा— "महान् कार्य के लिए महान् साधना चाहिये । कल ही पूर्व तैयारी में लग जाओ, अपनी-अपनी रुचि का विषय चुनो और उसमें गति करो ।"

मंचर से विहार कर आचार्य श्री सगमनेर पहुँचे । पहले दिन वैयक्तिक बातचीत होती रही । दूसरे दिन साधु-साधवियों की परिषद् बुलाई गई । आचार्य श्री ने परिषद् के सम्मुख आगम-सम्पादन के मकल्प की चर्चा की । सारी परिषद् प्रफुल्ल हो उठी । आचार्य श्री ने पूछा— "क्या इस संकल्प को अब निर्णय का रूप देना चाहिये ?"

समलय से प्रार्थना का स्वर निकला — "अवश्य, अवश्य ।" आचार्य श्री औरंगाबाद पधारे । सुराना भवन, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (वि० सं० २०११), महावीर जयन्ती का पुण्य-पर्व । आचार्य श्री ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इस चतुर्विध संघ की परिषद् में आगम-सम्पादन की विधिवत् घोषणा की ।

आगम-सम्पादन का कार्यारम्भ

वि० सं० २०१२ श्रावण मास (उज्जैन चातुर्मास) से आगम सम्पादन का कार्यारम्भ हो गया । न तो सम्पादन का कोई अनुभव और न कोई पूर्व तैयारी । अकस्मात् 'धर्मदूत' का निमित्त पा आचार्य श्री के मन में संकल्प उठा और उसे सबने शिरोधार्य कर लिया । चिन्तन की भूमिका से इसे निरी भावुकता ही कहा जाएगा, किन्तु भावुकता का मूल्य चिन्तन से कम नहीं है । हम अनुभव-विहीन थे, किन्तु आत्म-विश्वास से शून्य नहीं थे । अनुभव आत्म-विश्वास का अनुगमन करता है, किन्तु आत्म-विश्वास अनुभव का अनुगमन नहीं करता ।

प्रथम दो-तीन वर्षों में हम अज्ञातदिशा में यात्रा करते रहे । फिर हमारी सारी दिशाएँ और कार्य-पद्धतियाँ निश्चित और सुस्थिर हो गईं । आगम-सम्पादन की दिशा में हमारा कार्य सर्वाधिक विशाल व गहन कठिनाइयों से परिपूर्ण है, यह कहकर मैं स्वल्प भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूँ । आचार्यश्री के अदम्य उत्साह और समर्थ प्रयत्न से हमारा कार्य निरन्तर गतिशील हो रहा है । इस कार्य में हमें अन्य अनेक विद्वानों की सद्भावना, समर्थन व प्रोत्साहन मिल रहा है । मुझे विश्वास है कि आचार्य श्री की यह वाचना पूर्ववर्ती वाचनाओं से कम अर्थवान् नहीं होगी ।

सम्पादन का कार्य सरल नहीं है— यह उन्हें सुविधित है, जिन्होंने उस दिशा में कोई प्रयत्न किया है। दो-ढाई हजार वर्ष पुराने ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य और भी जटिल है, क्योंकि उनकी भाषा और भावधारा आज की भाषा और भावधारा से बहुत व्यवधान पा चुकी है। इतिहास की यह अपवाद-शून्य गति है कि जो विचार या आचार जिस आकार में आरम्भ होता है, वह उसी आकार में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बढ़ा हो जाता है या छोटा। यह ह्रास और विकास की कहानी ही परिवर्तन की कहानी है। कोई भी आकार ऐसा नहीं है, जो कृत है और परिवर्तनशील नहीं है। परिवर्तनशील घटनाओं, तथ्यों, विचारों और आचारों के प्रति अपरिवर्तनशीलता का आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य का केन्द्र-बिन्दु यह है कि जो कृत है, वह सब परिवर्तनशील है। अकृत या शाश्वत भी ऐसा क्या है, जहाँ परिवर्तन का स्पर्श न हो। इस विश्व में जो है, वह वही है जिसकी सत्ता शाश्वत और परिवर्तन की धारा से सर्वथा विभक्त नहीं है।

शब्द की परिधि में बधने वाला कोई भी सत्य क्या ऐसा हो सकता है, जो तीनों कालों में समान रूप से प्रकाशित रह सके ? शब्द के अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है। भाषाशास्त्र के इस नियम को जानने वाला यह आग्रह नहीं रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है, जो आज प्रचलित है। 'पापण्ड' शब्द का जो अर्थ आगम-ग्रन्थों और अशोक के शिला-लेखों में है, वह आज के श्रमण साहित्य में नहीं है। आज उसका अपकर्ष हो चुका है। आगम साहित्य के सैकड़ों शब्दों की यही कहानी है कि वे आज अपने मौलिक अर्थ का प्रकाश नहीं दे रहे हैं। इस स्थिति में हर चिन्तनशील व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के सम्पादन का काम कितना दुरूह है।

मनुष्य अपनी शक्ति में विश्वास करता है और अपने पौरुष से खेलता है, अतः वह किसी भी कार्य को इसलिए नहीं छोड़ देता कि वह दुरूह है। यदि यह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की सम्भावना नष्ट ही नहीं हो जाती किन्तु आज जो प्राप्त है, वह अतीत के किसी भी क्षण में विलुप्त हो जाता। आज से हजार वर्ष पहले नवागी टीकाकार (अभयदेव सूरि) के सामने अनेक कठिनाइयाँ थी। उन्होंने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है—

१. सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्यक् गुरु-परम्परा) प्राप्त नहीं है।
२. सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक कृति या स्थिति) प्राप्त नहीं है।
३. अनेक वाचनाएँ (आगामिक अध्यापन की पद्धतियाँ) हैं।
४. पुस्तकें अशुद्ध हैं।
५. कृतियाँ सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गम्भीर हैं।
६. अर्थ विषयक मतभेद भी हैं।^१

इन सारी कठिनाइयों के उपरान्त भी उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और वे कुछ कर गये।

कठिनाइयाँ आज भी कम नहीं हैं, किन्तु उनके होते हुए भी आचार्य श्री तुलसी ने आगम-सम्पादन के कार्य को अपने हाथों में ले लिया। उनके शक्तिशाली हाथों का स्पर्श पाकर निष्प्राण भी प्राणवान् बन जाता है तो भला आगम-साहित्य, जो स्वयं प्राणवान् है, उसमें प्राण-संचार करना क्या बड़ी बात है ? बड़ी बात यह है कि आचार्य श्री ने उसमें प्राण-संचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साधवियों की असमर्थ अंगुलियों द्वारा कराने का प्रयत्न किया है। सम्पादन-कार्य में हमें आचार्य श्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं है किन्तु मार्ग-दर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त है। आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिये अपना पर्याप्त समय दिया है। उनके मार्ग-दर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का सम्बल पा हम अनेक दुस्तर धाराओं का पार पाने में समर्थ हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ सूयगडो (प्रथम श्रुतस्कंध) का सानुवाद संस्करण है। आगम साहित्य के अध्येता दोनों प्रकार के लोग हैं, विद्वद्जन और साधारण जन। मूल पाठ के आधार पर अनुसंधान करने वाले विद्वानों के लिए मूल पाठ का संपादन 'अंगमुत्ताणि' भाग १ में किया गया है। प्रस्तुत संस्करण में मूल पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पण हैं और टिप्पणों के सन्दर्भस्थल भी उपलब्ध हैं।

१. स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति श्लोक, १,२ :

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सद्गुरुस्य विद्योगतः ।
 सर्वस्वपरशास्त्राणामवृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥
 वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः ।
 सूत्राणामतिगाम्भीर्यात्, मतभेदाश्च कुत्रचित् ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका बहुत ही लघुकाय है। हमारी परिकल्पना है कि सभी अंगों और उपांगों की बृहद् भूमिका एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में हो।

संस्कृत छाया

संस्कृत छाया को हमने वस्तुतः छाया रखने का ही प्रयत्न किया है। टीकाकार प्राकृत शब्द की व्याख्या करते हैं अथवा उसका संस्कृत पर्यायान्तर देते हैं। छाया में बंसा नहीं हो सकता।

हिन्दी अनुवाद और टिप्पण

प्रस्तुत आगम का हिन्दी अनुवाद मूलस्पर्शी है। इसमें केवल शब्दानुवाद की-सी विरसता और अटिलता नहीं है तथा भावानुवाद जैसा विस्तार भी नहीं है। श्लोकों का आशय जितने शब्दों में प्रतिबिम्बित हो सके उतने ही शब्दों की योजना करने का प्रयत्न किया गया है। मूल शब्दों की सुरक्षा के लिए कहीं-कहीं उनका प्रचलित अर्थ कोष्ठको में दिया गया है। श्लोक तथा श्लोकगत शब्दों की स्पष्टता टिप्पणों में की गई है।

इसका अनुवाद वि० स० २०१६ बेंगलूर चतुर्मास में प्रारम्भ किया था। यात्राओं तथा अन्यान्य कार्यों की व्यस्तता के कारण इसकी संपूर्ति में अधिक समय लग गया। अवरोधों की लम्बी यात्रा के बाद प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार होकर अब जनता तक पहुँच रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के टिप्पणों में चूर्णि के पृष्ठांक स्वर्गीय मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा संपादित तथा प्रकाशित सूत्रकृतांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) की चूर्णि के हैं। अनुवाद और टिप्पण-लेखन में मुनि दुलहराजजी ने तत्परता से योग दिया है। इसका पहला परिशिष्ट मुनि दुलहराजजी ने, दूसरा मुनि धनजयजी ने, तीसरा और चौथा मुनि हीरालालजी ने तथा पाँचवा मुनि राजेन्द्रकुमारजी ने तैयार किया है। साध्वी जिनप्रभाजी ने संस्कृत छाया का पुनरावलोकन किया और मुनि सुदर्शनजी तथा समणी कुसुमप्रभाजी ने प्रूफ देखने में पूरा सहयोग दिया।

‘अंगसुत्ताणि’ भाग १ में प्रस्तुत सूत्र का संपादित पाठ प्रकाशित है। इसलिए इस संस्करण में पाठान्तर नहीं दिए गए हैं। पाठान्तरों तथा तत्सम्बन्धी अन्य सूचनाओं के लिए ‘अंगसुत्ताणि’ भाग १ द्रष्टव्य है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक साधुओं की पवित्र अंगुलियों का योग है। आचार्यश्री के वरदहस्त की छाया में बैठकर कार्य करने वाले हम सब संभागी हैं, फिर भी मैं उन सब साधु-साध्वियों के प्रति सद्भावना व्यक्त करता हूँ जिनका इस कार्य में योग है और आशा करता हूँ कि वे इस महान् कार्य के अग्रिम चरण में और अधिक दक्षता प्राप्त करेंगे।

आचार्यश्री प्रेरणा के अनन्त स्रोत हैं। हमें इस कार्य में उनकी प्रेरणा और प्रत्यक्ष योग दोनों प्राप्त हैं, इसलिए हमारा कार्य-पथ बहुत श्रद्धालु हुआ है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मैं कार्य की गुरुता को बढ़ा नहीं पाऊंगा। उनका आशीर्वाद दीप बनकर हमारा कार्य-पथ प्रकाशित करता रहे, यही हमारी आशा है।

१५ अगस्त, १९८४

जोधपुर

—युवाचार्य महाप्रज्ञ

भूमिका

नाम-बोध

प्रस्तुत आगम का नाम 'सूयगडो' है। समवाय, नंदी और अनुयोगद्वारा—तीनों आगमों में यही नाम उपलब्ध होता है।^१ निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने प्रस्तुत आगम के तीन गुण-निष्पन्न नाम बतलाए हैं—^२

१. सूतगड—सूतकृत
२. सुसकड—सूत्रकृत
३. सूयगड—सूचाकृत

प्रस्तुत आगम मौलिकदृष्टि से भगवान् महावीर से सूत (उत्पन्न) है तथा यह ग्रंथरूप में गणधर के द्वारा कृत है, इसलिए इसका नाम सूतकृत है।

इसमें सूत्र के अनुसार तत्त्वबोध किया जाता है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है।

इसमें स्व और पर समय की सूचना कृत है, इसलिए इसका नाम सूचाकृत है।

वस्तुतः सूत, सुत और सूय— ये तीनों सूत्र के ही प्राकृत रूप हैं। आकारभेद होने के कारण तीन गुणात्मक नामों की परिकल्पना की गई।

सभी अग मौलिक रूप में भगवान् महावीर द्वारा प्रस्तुत और गणधर द्वारा ग्रन्थरूप में प्रणीत हैं। फिर केवल प्रस्तुत आगम का ही 'सूतकृत' नाम क्यों? इसी प्रकार दूसरा नाम भी सभी अंगों के लिए सामान्य है। प्रस्तुत आगम के नाम का अर्पस्पर्शी आधार तीसरा है। क्योंकि प्रस्तुत आगम में स्वसमय और परसमय की तुलनात्मक सूचना के संदर्भ में आचार की प्रस्थापना की गई है। इसलिए इसका सबंध सूचना से है। समवाय और नंदी में यह स्पष्टतया उल्लिखित है—

'सूयगडं णं ससमया सुइज्जंति, परसमया सुइज्जंति, ससमय-परसमया सुइज्जति ।'

जो सूचक होता है उसे सूत्र कहा जाता है। प्रस्तुत आगम की पृष्ठभूमि में सूचनात्मक तत्त्व की प्रधानता है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है।

सूत्रकृत के नाम के संबंध में एक अनुमान और किया जा सकता है। वह वास्तविकता के बहुत निकट प्रतीत होता है। दृष्टि-वाद के पांच प्रकार हैं—

- | | |
|----------------|---------------|
| १. परिकर्म | ४. पूर्वगत |
| २. सूत्र | ५. त्रुटिका । |
| ३. पूर्वानुयोग | |

आचार्य वीरसेन के अनुसार सूत्र में अन्य दार्शनिकों का वर्णन है।^३ प्रस्तुत आगम की रचना उसी के आधार पर की गई, इसलिए इसका 'सूत्रकृत' नाम रखा गया। सूत्रकृत शब्द के अन्य व्युत्पत्तिक अर्थों की अपेक्षा यह अर्थ अधिक सगत प्रतीत होता है। 'सूतगड' और बौद्धों के 'सुत्तनिपात' में नामसाम्य प्रतीत होता है।

१ (क) समवायो, पइज्जगसमवाओ, सू० ४४ ।

(ख) नंदी सू० ८० ।

(ग) अनुयोगहाराइं, सू० ५० ।

२. सूत्रकृतगनिर्युक्ति, गाथा २ : सूतगडं सुसकडं, सूयगडं केव गोण्णाइं ।

३. (क) समवाओ, पइज्जगसमवाओ, सू० ६० ।

(ख) नंदी, सू० ८२

४. कसायपाहुड, भाग १, पृ० १३४ ।

अंग और अनुयोग

द्वादशांगी में प्रस्तुत आगम का स्थान दूसरा है। अनुयोग चार हैं—

- | | |
|-----------------|-----------------|
| १. चरणकरणानुयोग | ३. गणितानुयोग |
| २. धर्मकथानुयोग | ४. द्रव्यानुयोग |

चूणिकार के अनुसार प्रस्तुत आगम चरणकरणानुयोग (आचार-शास्त्र) है।^१ शीलांकसूरी ने इसे द्रव्यानुयोग (द्रव्यशास्त्र) की कोटि में रखा है। उनके अनुसार आचारांग प्रधानतया चरणकरणानुयोग तथा सूत्रकृतांग प्रधानतया द्रव्यानुयोग है।^२

समवाय तथा नदी में द्वादशांगी का विवरण दिया हुआ है। वहाँ सभी अंगों के विवरण के अंत में 'एवं चरणकरणपदवचना' पाठ मिलता है। अभयदेवसूरी ने 'चरण' का अर्थ श्रमणधर्म और 'करण' का अर्थ पिण्डविशुद्धि, समिति आदि किया है।^३

चूणिकार ने कालिकश्रुत को चरणकरणानुयोग तथा दृष्टिवाद को द्रव्यानुयोग माना है।^४

द्वादशांगी में मुख्यतः द्रव्यशास्त्र दृष्टिवाद है। शेष अंगों में द्रव्य का प्रतिपादन गौण है। द्रव्यशास्त्र में भी गौणरूप में आचार का प्रतिपादन हुआ है। चूणिकार ने मुख्यता की दृष्टि से प्रस्तुत आगम को आचारशास्त्र माना है और वह उचित भी है। वृत्तिकार ने इसमें प्राप्त द्रव्य विषयक प्रतिपादन को मुख्य मानकर इसे द्रव्यशास्त्र कहा है। इन दोनों वर्गीकरणों में सापेक्ष दृष्टिभेद है।

आकार और प्रकार

प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कंध हैं। समवाय और नदी में इसका उल्लेख मिलता है।^५ प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह और द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन हैं। इसका उल्लेख समवाय, नदी, उत्तराध्ययन और आवश्यक में है।^६ उनका विवरण इस प्रकार है—

प्रथम श्रुतस्कंध

अध्ययन	उद्देशक	रचनावस्तु	परिमाण
१. समए (समय)	४	पद्य	श्लोक ८८
२. वेयालिए (वैतालीय)	३	"	" ७६
३. उपसर्गपरिण्णा (उपसर्गपरिज्ञा)	४	"	" ८२
४. इत्थीपरिण्णा (इत्थीपरिज्ञा)	२	"	" ५३
५. नरयविभत्ती (नरकविभक्ति)	२	"	" ५२
६. महावीरत्थुई (महावीरस्तुति)	०	"	" २६
७. कुसीलपरिभासितं (कुशीलपरिभाषित)	०	"	" ३०
८. वीरिय (वीर्य)	०	"	" २७
९. धम्मो (धर्म)	०	"	" ३६
१०. समाही (समाधि)	०	"	" २४

१. सूत्रकृतांगचूणि, पृ० ३ : इह चरणानुयोगेन अधिकारो ।

२. सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र १ : तत्राचाराङ्गं चरणकरणप्राधान्येन व्याख्यातम्, अथुना अवसरायात द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताङ्गं द्वितीयमङ्गं व्याख्यातुमारभ्यते ।

३. समवायांगवृत्ति, पत्र १०२ : चरणम्—अतश्श्रमणधर्मसंयमाद्यनेकविधम् । करणम्—पिण्डविशुद्धिसमित्याद्यनेकविधम् ।

४. सूत्रकृतांगचूणि, पृ० ३ : कालियसुयं चरणकरणानुयोगो, विट्ठितातो द्रव्यानुजोपोति ।

५. (क) समबाओ, पइण्णगसमबाओ, सू० ६० ।

(ख) संबी, सू० ८२ ।

६ (क) समबाओ, पइण्णगसमबाओ, सू० ६० ।

(ख) संबी, सू० ८२ ।

(ग) उत्तराध्ययन ३१/१६ ।

(घ) आवश्यक अध्ययन ४ ।

११. मग्ने (मार्ग)	०	"	" ३८
१२. समोसरणं (समवसरण)	०	"	" २२
१३. आहत्तहीयं (याथातथ्य)	०	"	" २३
१४. गंधो (ग्रन्थ)	०	"	" २७
१५. जमईए (यमकीय)	०	"	" २५
१६. गाहा (गाथा)	०	"	सूत्र ६

दूसरा भूतस्कंध

अध्ययन	उद्देशक	रचना-वर्ण	परिमाण
१. पौण्डरीए (पौण्डरीक)	०	गद्य	सूत्र ७२
२. किरियाठाणे (क्रियास्थान)	०	"	" ८१
३. आहारपरिण्णा (आहारपरिज्ञा)	०	"	" १०२
४. पञ्चभक्षणकिरिया (प्रत्याख्यानक्रिया)	०	"	" २५
५. आचारसुयं (आचारश्रुत)	०	पद्य	श्लोक ३३
६. अद्दज्ज (आर्द्रकीय)	०	"	" ५५
७. णालंद्दज्जं (नालदीय)	०	गद्य	सूत्र ३८

प्रस्तुत आगम की पद संख्या ३६ हजार बतलाई गई है।^१

धवला मे भी इसकी पद संख्या यही निर्दिष्ट है। किन्तु धवला और जयधवला दोनों मे भी इसके दो भूतस्कंध होने का उल्लेख नहीं है और न अध्ययनों की संख्या का भी उल्लेख है।^१

विषय-वस्तु

समवाय तथा नंदी मे प्रस्तुत आगम के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख मिलता है। समवाय के अनुसार सूत्रकृतांग में स्वसमय-परसमय की सूचना, जीव-अजीव की सूचना, लोक-बलोक तथा जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों की सूचना दी गई है।

नवदीक्षित भ्रमणों की दृष्टि परिमार्जित करने के लिए १८० क्रियावादी दर्शनों, ८४ अक्रियावादी दर्शनों, ६७ अज्ञानवादी दर्शनों और ३२ विनयवादी दर्शनों की ब्यूह-रचना कर स्वसमय की स्थापना की गई है।^१

नंदी मे प्रतिपाद्य विषय का विवरण संक्षिप्त है। उसमें जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों की सूचना का उल्लेख नहीं है। उसमे स्वसमय की स्थापना का उल्लेख है, किन्तु नवदीक्षित की दृष्टि परिमार्जित करने की कोई चर्चा नहीं है।^१

प्रस्तुत आगम मूलतः आचार-शास्त्र है। 'अंग और अनुयोग' शीर्षक मे यह बताया जा चुका है। आचार की पृष्ठभूमि को समझाने के लिए दूसरे दार्शनिकों की दृष्टियों का निरूपण किया गया है, वह प्रासंगिक है, किन्तु मौलिक विषय आचार-निरूपण ही है।

निर्युक्तिकार ने सूत्रकृत के प्रत्येक अध्ययन के विषय का प्रतिपादन किया है। उससे भी इसका मुख्य विषय आचारशास्त्रीय प्रमाणित होता है।

१. समवाओ, पद्दण्णसमवाओ, सू० १० : क्षत्तीसं पबसहस्साहं पयणोणं ।

२. (क) पदसंहागम, धवला, भाग १, पृ० ११ ।

(ख) कसायपाहुड, जयधवला, भाग १, पृ० १२२ ।

३. समवाओ, पद्दण्णसमवाओ, सू० १० ।

४. नंदी, सू० ८२ ।

निर्युक्तिकार के अनुसार अध्ययनों के प्रतिपाद्य इस प्रकार हैं—

१. स्वसमय-परसमय का निरूपण
२. सम्बोधि का उपदेश
३. उपसर्गों [प्राप्त कण्ठो] की तितिक्षा का उपदेश
४. स्त्रीदोष का वर्जन—ब्रह्मचर्य साधना का उपदेश
५. उपसर्गभीरु और स्त्रीवशावर्ती मुनि का नरक में उपपात
६. भगवान् महावीर ने जैसे उपसर्ग और परीसह पर विजय प्राप्त की, वैसी ही उन पर विजय पाने का उपदेश
७. कुशील का परित्याग और शौल का समाचरण
८. वीर्य का बोध और पंडितवीर्य में प्रयत्न
९. यथार्थ धर्म का निर्देश
१०. समाधि का प्रतिपादन
११. मोक्षमार्ग का निर्देश
१२. चार वादि-समवसरणों—दार्शनिकों के अभिमत का प्रतिपादन
१३. यथार्थ का प्रतिपादन
१४. गुरुकुलवास का महत्व
१५. आदानीय—चारित्र का प्रतिपादन
१६. पूर्वोक्त विषय का संक्षेप में संकलन—निर्ग्रन्थ आदि की परिभाषा

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों का विषय-निरूपण इस प्रकार है—

१. पुंश्चरीक के दृष्टान्त द्वारा धर्म का निरूपण
२. क्रियाओं का प्रतिपादन^१
३. आहार का निरूपण
४. प्रत्याख्यानक्रिया का निरूपण
५. आचार और अनाचार का अनेकान्तदृष्टि से निरूपण
६. आर्द्रकुमार का गोशालक आदि श्रमण-ब्राह्मणों से चर्चा-संवाद^२
७. गौतम स्वामी और पार्श्वपत्न्यीय उदक पेठालपुत्र का चर्चा-संवाद

अंग साहित्य में आचार-निरूपण विभिन्न मन्दर्भों में किया गया है। आचारांग प्रथम अंग है। उसमें वह अध्यात्म के सन्दर्भ में किया गया है। सूत्रकृत दूसरा अंग है। इसमें वह दार्शनिक मीमांसा के सन्दर्भ में किया गया है। इसमें संदर्भ का परिवर्तन हुआ है,

१. सूत्रकृतानिर्मुक्ति, गाथा २२-२६ : ससमयपरसमयवरुणा य जाऊण बुभुक्षा जेव ।
संबुद्धस्सुवसग्गा बीवोसविबुज्जणा जेव ॥
उवसग्गभीरुणो बीवसस्स णरएसु होज्ज उववाओ ।
एव महप्पा बीरो जयमाह तहा जएज्जाह ॥
णिस्सोल-कुसोलज्जो सुसोलसेवी य सीलवं जेव ।
जाऊण बीरियवुगं पंडियवीरिए पयत्तिसब्बं ॥
धम्मो समाहि मग्गो समोसद्धा जउसु सव्ववासीसु ।
सीसगुणवोसकहणा गंधमि सवा गुहनिवासो ॥
आयाणिय संकलिया आयाणिज्जम्मि आयतत्तरिस्सं ।
अप्यगंधे पिडिकवयणे गाछाए अहिगारो ॥
२. सूत्रकृतानिर्मुक्ति, गाथा १६५ : किरियाओ मणियाओ किरियाठाणंति तेण अउभयणं ।
अहिगारो पुण मणिओ बंधे तह मोवज्जमग्गे य ॥
३. सूत्रकृतानिर्मुक्ति, गाथा १८० : अज्जहएण गोसालमिक्खंभवतोतिबंढीण ।
अह हत्थिनावसाणं कहियं इणमो तहा बुद्धं ॥

मुख्य प्रतिपाद्य परिवर्तित नहीं हुआ है। दिगम्बर साहित्य में प्रस्तुत सूत्र का विषय-वर्णन इस प्रकार मिलता है—

सूत्रकृत में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्पाकल्प, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया का निरूपण किया गया है।^१ यह आचार्य अकलंक का प्रतिपादन है।

आचार्य बीरसेन ने धवला में उक्त प्रतिपादन किया है। उसमें स्वसमय-परसमय की प्ररूपणा का प्रतिपादन इससे अतिरिक्त है।^२

जयधवला में उन्होंने (आचार्य बीरसेन ने) प्रस्तुत आगम का विषय-वर्णन भिन्न प्रकार से किया है। उसके अनुसार सूत्रकृत में स्वसमय, परसमय तथा स्त्रीपरिणाम—व्रतीबता, अस्फुटता, कामावेश, विभ्रम, आस्फालनसुख, पुष्कामिता आदि स्त्री के लक्षणों का प्ररूपण किया गया है।^३

समीक्षा—

दोनों परम्पराओं में जो विषय-वस्तु का वर्णन है, उससे वर्तमान में उपलब्ध सूत्रकृतांग पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। सूत्रकृतांगनिर्युक्ति का विषय-वर्णन इसका अपवाद है। उसकी रचना प्रस्तुत आगम की व्याख्या के लिए ही लिखी गई थी। इसीलिए उसमें प्रस्तुत आगम का अधिकृत और विशद विषय-वर्णन प्राप्त है।

समवाय और नदी में प्राप्त सूत्रकृत का विषय-वर्णन पढ़ने से मन पर पहला प्रभाव यही पड़ता है कि प्रस्तुत आगम दर्शन-शास्त्रीय (द्रव्यानुयोग) ग्रन्थ है। उक्त दोनों विवरणों में स्त्रीपरिज्ञा आदि अध्ययनों में प्राप्त विषय-वस्तु का कोई उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थराजवार्तिक के वर्णन में मुनि के आचार धर्म का उल्लेख है, किन्तु स्वसमय और परसमय के निरूपण का उल्लेख नहीं है। धवला में उक्त वर्णन के माय-साय स्वसमय और परसमय का भी उल्लेख है। जयधवला में स्त्रीपरिणाम का उल्लेख है, जो उपसर्ग-परिज्ञा और स्त्रीपरिज्ञा अध्ययनों की ओर इंगित करता है। इन विभिन्न विषय-वर्णनों के अध्ययन के आधार पर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१. विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी रुचि या दृष्टि के अनुसार मुख्य विषयों का संक्षेप में प्रतिपादन किया और गौण विषयों की उपेक्षा कर दी।

२. प्रस्तुत आगम के प्राचीन रूप का परम्परा-प्राप्त विषय-वर्णन और अद्यतनरूप का विषय-वर्णन मिश्रित हुआ है। उस मिश्रण में कहीं प्राचीन विषय-वर्णन की प्रमुखता है और कहीं अद्यतन विषय-वर्णन की।

यह प्रश्न फिर मन को आन्दोलित करता है कि समवाय और नदी के सकलन-काल में प्रस्तुत आगम का वर्तमान रूप स्थिर हो चुका था, जो श्रुतस्कन्ध और अध्ययनों की सख्या से स्पष्ट प्रतीत होता है,^४ फिर उनमें स्त्रीपरिज्ञा आदि अध्ययनों की सूचना क्यों नहीं दी गई? क्या सकलन-काल में उनके सामने जो सूत्रकृत रहा, उसमें द्रव्य का प्रतिपादन प्रधान था? क्या यह प्राप्त सूत्रकृत किसी दूसरी वाचना का है? ये प्रश्न अभी पर्याप्तरूपेण आलोच्य हैं।

दार्शनिक मत—

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम तथा बारहवें अध्ययन में और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में अनेक दार्शनिक मतों का उल्लेख मिलता है। आगमरचना की शैली के अनुसार दार्शनिक आचार्यों के नामों का उल्लेख नहीं है। केवल उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन और अस्वीकार है। बौद्धों के दीघनिकाय के 'सामञ्जसलमुत्त' में जैसे तत्कालीन दार्शनिक मतवादों का वर्णन है, वैसे ही प्रस्तुत आगम में विभिन्न मतवादों का समवसरण है। उपनिषदों में भी यत्र तत्र इन मतवादों का उल्लेख है। श्वेताश्वतर

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक १।२० : सूत्रकृते ज्ञानविनय-प्रज्ञापना-कल्पाकल्प-छेदोपस्थापनाव्यवहारधर्मक्रियाः प्रकल्पन्ते।

२. षड्वङ्गगम, धवला भाग १, पृ० ६६। सूदयवं नाम अंगं क्षुत्तीस-पय-सहस्रेति जाणाविषयपण्यवणा-कल्पाकल्प-छेदोपस्थापना-व्यवहार-धर्म-क्रियाओ पक्खेइ ससमय-परसमय-सरुवं च पक्खेइ।

३. कथायपाहुड, जयधवला भाग १, पृ० १२२ : सूदयवं नाम अंगं ससमयं परसमयं भीपरिणामं—इत्थेव्यास्फुटत्व-मवनावेश-विभ्रमास्फालन-सुख-पुष्कामिताविस्त्रीलक्षणं च प्रकल्पयति।

४. (क) समवाओ, पङ्कजसमवाओ, सू० ६० : वो सुयवर्त्तवा, तेवीसं अकल्पयणा।

(ख) मंशी सू० १८२ : वो सुयवर्त्तवा, तेवीसं अकल्पयणा।

उपनिषद् में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदुच्छावाद आदि की चर्चा है।^१

मैत्रायणी उपनिषद् में कालवाद की स्पष्ट मान्यता प्रदर्शित है।^२ उस समय में ये विभिन्न वाद बहुत प्रचलित थे। अतः तत्कालीन सभी परम्पराओं के साहित्य में उनका उल्लेख होना स्वाभाविक है। महावीर और बुद्ध का युग सम्प्रदायों की बहुलता का युग रहा है। दीर्घनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में ६२ मतवाद वर्णित हैं। प्रस्तुत सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के बारहवें अध्याय में चार वादों का वर्णन मिलता है—

१. क्रियावाद

३. अज्ञानवाद

२. अक्रियावाद

४. विनयवाद

मूल आगम में इनके भेदों का उल्लेख नहीं है। निर्युक्तिकार ने इन चार वादों के ३६३ भेदों का उल्लेख किया है।^३

समवाय में आए हुए सूत्रकृत के विवरण में भी इनका उल्लेख है, जो पहले बताया जा चुका है। इससे इतना स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के युग में मतवादों की बहुलता थी। वीरसेनाचार्य के अनुसार इन ३६३ मतवादों का वर्णन दृष्टिवाद का विषय है। उन्होंने धवला में लिखा है—दृष्टिवाद में ३६३ दृष्टियों का निरूपण और निग्रह किया जाता है।^४

जयधवला में उन्होंने लिखा है—दृष्टिवाद के सूत्र नामक दूसरे प्रकार में नास्तिवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद और वैतयिकवाद का वर्णन है।^५

समवाय तथा नंदी में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। नंदी की चूर्ण तथा वृत्ति में इसका कोई वर्णन नहीं है फिर भी दृष्टिवाद नाम से ही यह प्रमाणित होता है कि उसमें समस्त दृष्टियों—दर्शनों का निरूपण है। दृष्टिवाद द्रव्यानुयोग है। तत्त्वमीमासा उसका मुख्य विषय है। इसलिए उसमें दृष्टियों का निरूपण होना स्वाभाविक है।

प्रस्तुत सूत्र में दृष्टियों का प्रतिपादन मुख्य विषय नहीं है, किन्तु आचार-स्थापना की पृष्ठभूमि में विभिन्न दर्शनों के दृष्टि-कोणों को समझना आवश्यक है। इस दृष्टि से वह प्रासांगिक रूप में वर्णित है।

अ० महावीर के युग में ३६३ मतवाद थे—यह समवायगत सूत्रकृतागत के विवरण तथा सूत्रकृतागनिर्युक्ति से ज्ञात होता है। किन्तु उन मतवादों तथा उनके आचार्यों के नाम वहाँ उल्लिखित नहीं हैं। उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने ३६३ मतवादों को गणित की प्रक्रिया से समझाया है, किन्तु वह मूलस्पर्शी नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि ३६३ मतों की मौलिक अर्थ-परम्परा विच्छिन्न होने के पश्चात् उन्हें गणित की प्रक्रिया के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया गया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों के साहित्य में किञ्चित् प्रकार-भेद के साथ वह प्रक्रिया मिलती है। उसके लिए आचारांग वृत्ति १।१।१।४, स्थानांगवृत्ति ४।४।३।४, प्रवचनसारोद्धार गाथा १।५८, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ७८७, ८८४-८८८ द्रष्टव्य हैं।

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् १।२; ६।१।

२. मैत्रायणी उपनिषद् ६।१४, १५।

३. सूत्रगडो १।१२।२।

४. सूत्रकृतागनिर्युक्ति गाथा १।१२, १।१३ : असिपसय किरियाणं, अकिरियाणं च होइ कुलसीती ।

अन्नाणि सत्तुो वेणइयाणं च बलीसा ॥

तेसि मत्ताणुमतेणं पन्नवणा वणिग्या इहउत्तयणे ।

सम्भावणिउत्तयस्य समोत्तरणमाहु तेणं ति ॥

५. षट्खंडागम, प्रथमखण्ड, धवला पृ० १०८ : एषां दृष्टिमतानां त्रयाणां त्रिविष्टयुत्तराणं प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते ।

६. कसायपाहुड, जयधवला, पृ० १३४ : अं सुत्तं नाम त जीवो अवधजो अकत्ता णिगुणो अजोत्ता सव्वगओ अणुमेत्तो णिउत्तयणो सपयासओ परप्पयासओ णत्थि जीवो ति य णत्थिपवावं, किरियावावं अकिरियावावं अण्णाण-वावं णाणवावं वेणइयवावं अण्येययारं गणिवं च वणोदि ।

“असीदिसवं किरियाणं, अकिरियाणं च आहु कुलसीदि ।”

सत्तुण्णाणीणं वेणइयाणं च बलीस ॥६६॥

एषोए गाहाए अणिवत्तिणिसय-तिसट्ठिसमयाणं वणणं कुणदि ति अणिवं होदि ।

बाइयों ने भी आधारभूत दस बादों की नामोल्लेखपूर्वक चर्चा की है, जैसे—

- | | |
|-------------------------|-------------------------------------|
| १. भाववतवाद | ६. मरणान्तर होशवाला आत्मा |
| २. नित्यता-अनित्यता-वाद | ७. मरणान्तर बेहोश आत्मा |
| ३. सान्त-अनन्त-वाद | ८. मरणान्तर न-होशवाला न-बेहोश आत्मा |
| ४. अमराविक्षेप-वाद | ९. आत्मा का उच्छेद |
| ५. अकारणवाद | १०. इसी जन्म में निर्वाण । |

दीघनिकाय में इन दस बादों के विभिन्न कारणों का उल्लेख कर ६२ भेद किए गए हैं ।^१

जैन परम्परा के आदि-साहित्य में ये भेद तत्कालीन मतवादों के रूप में संकलित कर दिए गए थे । किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य में उनकी परम्परागत सख्या प्राप्त रही, उनका प्रत्यक्ष परिचय नहीं रहा, इसीलिए उस संख्या की संगति गणित की प्रक्रिया से की गई ।

क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी दार्शनिकों के ये चार वर्गीकरण थे । इनमें अनेक मुख्य और गौण सम्प्रदाय थे । कुछ-कुछ विचारभेद को लेकर उनका निर्माण हुआ था । स्थानांगसूत्र में आठ अक्रियावादी सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है—

- | | |
|----------------|------------------|
| १. एकवादी | ५. सातवादी |
| २. अनेकवादी | ६. समुच्छेदवादी |
| ३. मितवादी | ७. नित्यवादी |
| ४. निमित्तवादी | ८. असत्परलोकवादी |

ये अक्रियावादियों के मुख्य सम्प्रदाय ज्ञात होते हैं । व्याख्या ग्रन्थों में यत्र तत्र अन्य नाम भी मिलते हैं, किन्तु उनकी व्यवस्थित नामावलि या परिचय आज प्राप्त नहीं है ।

आचार्य अकलकदेव ने इन चारों वर्गों के आचार्यों के कुछ नामों का उल्लेख किया है ।^२

क्रियावादी दर्शनों के आचार्य—

१. कौत्कल, २. काण्विद्धि [काण्वेविद्धि, कण्वेविद्धि], ३. कौशिक, ४. हरिश्मश्रु, ५. मांछयिक [मांघयिक, मांघनिक], ६. रोमस, ७. हारीत, ८. मंड, ९. अश्वलायन ।

अक्रियावादी दर्शनों के आचार्य—

१. मरीचिकुमार, २. कपिल, ३. उलूक, ४. गार्ग्य, ५. व्याघ्रभूति, ६. वाङ्मलि, ७. माठर, ८. मौद्गलायन ।

अज्ञानवादी दर्शनों के आचार्य—

१. शाकल्य, २. वात्कल, ३. कुथुमि, ४. सात्यमुद्रि, ५. नारायण [रागायन], ६. कठ, [कण्व], ७. मध्यदिन, ८. मौद, ९. पेंपलाद, १०. वादरायण, ११. अबण्ठीकृद् [स्वेष्टकृत्, स्वष्टिकृत्], १२. औरिकायन [ऐतिकायन, अनिकात्यायन], १३. वसु, १४. जैमिनि ।

विनयवादी दर्शनों के आचार्य

१. वशिष्ठ, २. पाराशर, ३. जतुकर्ण, ४. वाल्मीकि, ५. रोमर्षि, ६. सत्यदत्त, ७. व्यास, ८. ऐलापुत्र, ९. औपमन्यव, १०. ऐन्द्रवत्, ११. अयस्पृण ।

आचार्य वीरसेन की ध्वला टीका^३ और सिद्धसेनगणी की तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका^४ में भी क्वचित् किञ्चित् परिवर्तन के

१. दीघनिकाय—ब्रह्मजालसुत्त पृ० ५-१५ ।

२. स्थानांग बा२२ ।

३. तत्त्वार्थराजवार्त्तिक १।२० ।

४. पद्यभाष्य भाग १, पृ० १०७-१०८ ।

५. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका, अध्याय ८ ।

साथ ये नाम मिलते हैं। ध्वला और भाष्यानुसारिणी में उक्त नामसूचि आचार्य अकलंक की सूचि के आधार पर संकलित की गई है—ऐसा प्रतीत होता है। श्वेताम्बर साहित्य में भाष्यानुसारिणी टीका के अतिरिक्त कहीं भी यह नामसूचि प्राप्त नहीं है। दिगम्बर साहित्य में भी आचार्य अकलंक से पूर्व यह प्राप्त नहीं है। उन्हें यह कहा से प्राप्त हुई, इसका भी प्रमाणपुस्तक उत्तर दे पाना कठिन है।

उक्त सूची में अधिकांश नाम वैदिक परम्परा के आचार्यों के प्रतीत होते हैं; श्रमण-परम्परा के आचार्यों के नाम नगण्य हैं या नहीं हैं, यह अनुसन्धेय है।

प्रस्तुत सूत्र (सूत्रकृतांग) के अनुसार क्रियावाद आदि चारों वाद श्रमण और वैदिक दोनों में थे। 'समणा माहणा एगे' इस वाक्य के द्वारा स्थान-स्थान पर यह सूचना दी गई है। श्रमण परम्परा के अद्य प्राप्त दोनों मुख्य सम्प्रदाय—जैन और बौद्ध—जगत् के अकृत या अनादि होने के पक्ष में हैं। किन्तु उस समय श्रमण सम्प्रदाय भी जगत् को अकृत मानते थे।^१

प्रस्तुत सूत्र की रचनाशैली के अनुसार 'एगे' शब्द के द्वारा विभिन्न मतवाद निरूपित किए गए हैं। किन्तु कहीं-कहीं दर्शन के नाम का प्रत्यक्ष उल्लेख भी मिलता है। अणिकवादी बौद्धों के लिए 'क्षणयोगी' शब्द का प्रयोग मिलता है।^२

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में बौद्ध शब्द भी मिलता है।^३ प्रथम श्रुतस्कन्ध में बुद्ध और बौद्ध दोनों का प्रयोग हुआ है।^४

सूत्रकार के सामने बौद्ध साहित्य रहा है, ऐसा प्रस्तुत आगम में प्रयुक्त शब्दों से प्रतीत होता है। उदाहरण रूप में यहाँ तीन शब्द प्रस्तुत हैं—

(१) खघ (स्कन्ध)—पंच खघे वयतेगे।^५

(२) घाउ (घातु)—मुठवी आऊ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।

चत्तारि घाउणो रूव, एवमाहुसु जाणणा।^६

(३) आरोप्प (आरोप्य)—भवति आरोप्प महन सत्ता।^७

बौद्धपिटको के अनुसार स्कन्ध पांच होते हैं—

१ रूप-स्कन्ध, २ वेदना-स्कन्ध, ३ सज्ञा-स्कन्ध, ४ सस्कार-स्कन्ध, ५ विज्ञान-स्कन्ध।

बौद्धपिटको में पृथ्वी आदि चार महाभूतों को घातु कहा गया है।^८

दीघनिकाय में भव के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—

काम-भव —पाथिव लोक।

रूप-भव —अपाथिव साकारलोक।

अरूप-भव—निराकार लोक।

सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्षों के अध्ययन से पता चलता है कि उपनिषद् तथा सांख्य दर्शन के ग्रन्थ भी उनकी दृष्टि के सामने रहे हैं। सांख्य के पचीस तत्त्वों में प्रकृति और पुरुष—ये दो मुख्य हैं। प्रकृति के अर्थ में प्रधान शब्द का प्रयोग सांख्य दर्शन

१. सूयगडो, १।१।६७ : माहणा समणा एगे, आह अडकडे जगे।

२. वही, १।१।१७ : पंच खघे वयतेगे, बाला उ खणजोइणो।

३. वही २।६।२८ : बुद्धाणं तं कप्पइ पारणाए।

४. वही, १।१।१२५ : तमेव अबिजाणंता अबुद्धा बुद्धवाविणो।

बुद्धा मो सि य मण्णता अतए ते समाहिए ॥

५. वही, १।१।१७।

६. वही, १।१।१८।

७. वही, २।६।२६।

८. दीघनिकाय पृ० २६०।

९. वही, पृ० ७६।

१०. वही, पृ० १११।

मे मिलता है।^१ सूत्रकार ने उसका प्रयोग किया है।^२ कठोपनिषद् में एकात्मवाद और नानात्मवाद का दृष्टान्तपूर्वक वर्णन है।^३ सूत्रकृतांग १।१ का नीचा श्लोक उसके सन्दर्भ में पठनीय है। 'विष्णु नाणा हि दीसए' (सूत्रकृतांग १।१।६) का आधार 'एकं रूप बहुधा यः करोति'—कठोपनिषद् ५।१२) रहा है।

सूत्रकार के सम्मुख गोशालक, संजयवेनद्विपुत्र, पकुषकात्यायन आदि श्रमण परम्परा के आचार्यों का साहित्य भी रहा है। प्रस्तुत आगम में प्रयुक्त शब्दों के आधार पर इसकी निश्चित सम्भावना की जा सकती है। बारहवें अध्यायन में 'वंक' शब्द है। इसका आशय यह है कि पकुषकात्यायन के अकृततावाद के अनुसार सात काय बन्ध्य—कूटस्थ होते हैं। दीघनिकाय के सामञ्जस्यफलसुत्त में भी यही शब्द प्रयुक्त हुआ है।^४ प्रस्तुत आगम में अनेक समीक्षणीय स्थल हैं।^५ यहाँ उनकी ओर एक इंगित मात्र किया गया है।

रचनाकार और रचनाकाल

पारपरिकदृष्टि से यह सम्मन है कि द्वादशांगी की रचना गणधरो (भगवान् महावीर के ग्यारह प्रधान शिष्यों) ने की थी। इस सम्मति के अनुसार सूत्रकृतांग गणधरो की रचना है। किन्तु वर्तमान में कोई भी अंग अविकलरूप में प्राप्त नहीं है। आज जो भी प्राप्त है वह उत्तरकाल में सकलित है। सकलनकार के रूप में वर्तमान आगमों के रचनाकार देवघिंगणी हैं।

प्रो० विटरनीत्स का अभिमत है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है, उसकी तुलना में द्वितीय श्रुतस्कन्ध अर्वाचीन है। उसके अनुसार प्रथम श्रुतस्कन्ध एक व्यक्ति की रचना है। इसकी सम्भावना अधिक है कि वह किसी संग्राहक के द्वारा विभिन्न पक्षों और उपदेशों का संग्रह करतैयार किया हुआ सगृहीत ग्रन्थ है। दूसरा श्रुतस्कन्ध गद्य में लिखा हुआ है। वह अव्यवस्थित ढंग से एकत्र किए गए परिशिष्टों का समूह मात्र है। किन्तु भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों का जीवन-बोध कराने की दृष्टि से वह भी महत्वपूर्ण है।^६

प्रो० विटरनीत्स के इस अभिमत में सहमति प्रगट की जा सकती है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध उसकी तुलना में अर्वाचीन है। आशा, शब्द-प्रयोग और रचनाशैली की दृष्टि से आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भांति सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन प्रतीत होता है। आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध जैसे प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका (परिशिष्ट) के रूप में उत्तरकाल में उसके साथ जोड़ा गया है, वैसे ही सूत्रकृतांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका (परिशिष्ट) के रूप में उत्तरकाल में उसके साथ जोड़ा गया है। आचाराग की चूलिका का 'आचारचूला' के रूप में स्पष्ट उल्लेख है, वैसे सूत्रकृतांग चूलिका का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट भाग है, इस तथ्य से निर्युक्तिकार परिचित थे। महाअध्यायन शब्द के द्वारा यह तथ्य जाना जाता है।^७ चूलिकार ने निर्युक्तिकार के आशय को थोड़ा स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के मोतह अध्यायन छोटे हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्यायन बड़े हैं।^८ निर्युक्तिकार के आशय को शीलाकसूरी ने बहुत स्पष्ट किया है। उनके स्पष्टीकरण से यह प्रतीत होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट है। उन्होंने लिखा है—प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो विषय सत्तेय में निरूपित किया गया है वही विषय द्वितीय श्रुतस्कन्ध में युक्तिपूर्वक विस्तार से निरूपित है। उनके मतानुसार सत्तेय और विस्तार—दोनों पद्धतियों द्वारा निरूपित विषय समीचीन रूपेण

१. सांख्यकारिका, २२।

२. सुयगबो, १।१।६५ : पहाणाई तहाबरे।

३. कठोपनिषद् ५।६, १०, १२।

४. दीघनिकाय १।२।

५. History of Indian Literature, Part II, Page 441.

६. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गाथा, १४२, १४३ : जामं ठवणावविए जेसे काले तहेव भावे य।

एसो जलु महत्तमि निक्खेवो अण्णिहो होति ॥

जामं ठवणावविए जेसे काले तहेव भावे य।

एसो जलु अण्णयणे निक्खेवो अण्णिहो होति ॥

७. सूत्रकृतांगचुलि पृ० ६०८ : गाहासोलसगाईं कुकुलगाईं, तह्णसवणाईं इमाईं, महत्तरियाईं महंति अण्णयणाईं, अह्णया महंति च ताईं अण्णयणाईं च मह्णयणाईं।

प्रतिपादित होता है ।^१

ये परिशिष्ट किसी एक आचार्य के द्वारा लिखित हैं या भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा, इसका निर्णय करना सरल नहीं है । आचारांग के साथ जिस प्रकार आचारचूला का सम्बन्ध प्रदर्शित है उसी प्रकार सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों के साथ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों का सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं है । फिर भी समग्रदृष्टि से प्रदर्शित सम्बन्ध के द्वारा द्वितीय श्रुतस्कन्ध को प्रथम श्रुतस्कन्ध के वार्तिक या परिशिष्ट की कोटि में रखा जा सकता है । द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययनों में पाच अध्ययन गद्य में हैं । आदर्शों में उनका आकार बहुत ही सक्षिप्त है । उस संक्षेप के कारण वे बहुत दुर्बोध बन गए । उन्हें पढ़ने पर सहज ही पाठक के मन पर उनके अव्यवस्थित होने का प्रभाव हो सकता है । किन्तु पाठ की पूर्णता करने पर वह प्रभाव नहीं हो सकता है । यदि प्रो० विटरनीत्स के सामने प्रस्तुत पुस्तक का पाठ होता तो सम्भवतः उनकी उक्त धारणा नहीं बन पाती ।

प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना सुधर्मा स्वामी की है, अतः इसका कालमान ईस्वी पूर्व पाचवीं शताब्दी होना चाहिए । द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है । अतः इसका रचनाकाल निश्चित करना भी कठिन है । वह ईस्वी सन् पाच सौ पूर्व की रचना है, यह इस आधार पर कहा जा सकता है कि देवधिंगणी के सामने यह प्राप्त था । इसमें मागधी के कुछ विशेष प्रयोग मिलते हैं, जैसे—अकम्मा, अस्माक । प्राकृत की दृष्टि से इनके स्थान में 'अकम्हा, अम्ह' का प्रयोग होना चाहिए था । शीलाकसूरी ने इस विषय में लिखा है कि मगध देश में ग्वालो तथा स्त्रियों के द्वारा भी ये शब्द संस्कृत की भाँति प्रयुक्त किए जाते हैं, इसलिए उनका वैसे ही प्रयोग किया गया है ।^२ इन शब्द-प्रयोगों से ज्ञात होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना, मगध में जैन साधु बिहार कर रहे थे, उसी समय में हुई या उसके आसपास में हुई ।

जैन साधुओं का बिहार मुख्यरूपेण बगाल, बिहार आदि में होना था । ईसापूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी में श्रुतकेवली भद्रबाहु हजारों साधुओं के साथ दक्षिण भारत में चले गए । ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में श्रुतकेवली स्थूलभद्र के उत्तराधिकारी आर्य महागिरि और सुहस्ती मालवा में बिहार करने लगे । ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में मगध में मौर्यवंश का पतन हो गया । बृहद्रथ को मारकर उनके सेनानी पुष्यमित्र शुंग ने राज्य पर अधिकार कर लिया । पुष्यमित्र तथा शुंगवंश के शासनकाल में जैन और बौद्धों को अपने मूल बिहारक्षेत्र को बदलना पड़ा ।

बिहारक्षेत्र-परिवर्तन की भूमिका के मदभ्रं में यह अनुमान किया जा सकता है कि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के आसपास होनी चाहिए ।

रचनाशैली

सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध पद्यशैली में लिखित है । सोलहवा अध्ययन गद्यशैली में लिखा हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह गद्यशैली में लिखित नहीं है । निर्युक्तिकार ने गाथा शब्द की मीमांसा करते हुए कुछ विकल्प प्रस्तुत किए हैं । उनमें लिखा है कि प्रस्तुत अध्ययन गद्य है, वह गाथाछंद या सामुद्रछंद में लिखित है ।^३

१. सूत्रकृतांग, द्वितीयश्रुतस्कन्ध, वृत्ति पत्र १ :

इहानन्तरश्रुतस्कन्धे योऽर्थः समासतोऽभिहितः, असावेवानेन श्रुतस्कन्धेन सोपपत्तिको व्यासेनाभिधीयते; त एव विध्वजः सुतगृहीता मन्त्रिण्येष्वां समासव्यासाभ्यामभिधानमिति । यदि वा पूर्वश्रुतस्कन्धोक्त एवाथोऽनेन दृष्टान्तद्वारेण सुखावगमार्थं प्रतिपाद्यत, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य श्रुतस्कन्धस्य सम्बन्धीनि सप्त महाध्ययनानि प्रतिपाद्यन्ते ।

२. (क) सूत्रकृतांग २/२/६ वृत्ति पत्र ४८ : इह चाकस्मादित्ययं शब्दो मगधदेशे सर्वेणाप्यागोपालाङ्गनादिना संस्कृत एवोच्चार्य इति ।
(ख) सूत्रकृतांग २/७/१५, वृत्ति पत्र १७३ : अस्माकमित्येतन्मगधदेशे आगोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं संस्कृतमेवोच्चार्यते तद्विहापि तथैवोच्चारितमिति ।

३. (क) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा १३१, १३२ : ।

मधुरामिधानकुला तेन य गाहं ति नं वेति ॥

गाथीकता य अथवा अथवा सामुद्रेण छंदेन ।

एएण होती गाथा एसो अण्णो वि पञ्जाओ ॥

- (ख) सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र २७०, २७१ : मधुर—भूतिपेशसमभिधानम्—उच्चारणं यस्याः सा मधुरामिधानयुक्ता, गाथाङ्गवसोपमि-
बद्धस्य प्राकृतस्य मधुरत्वाविरूपमिप्रायः, गीयते पठ्यते मधुराभरप्रवृत्त्या गायन्ति वा तामिति गाथा, यत एवमतस्तेन कारणेन गाथामिति तां ब्रुवते । नमिति वाक्यालङ्कारे एतां वा गाथामिति । अन्यथा वा निवर्तितमधिकृत्याह—‘गाथीकया व’ इत्यादि,
'गाथीकृताः'—पिण्डीकृता विनिष्ठाः सन्त एकत्रमीलिता अर्था यस्यां सा गायेति, अथवा—सामुद्रेण छन्दसा वा निबद्धा सा गायेत्युच्यते ।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध का बड़ा भाग गद्यशैली में लिखित है। वह विस्तृत शैली में लिखा हुआ है। उसमें यत्र तत्र रहस्यवादी शैली के वाक्य उपन्यस्त हैं—

जहा पुण्व तथा अवरं, जहा अवरं तथा पुण्व । (सू० २/१/५४)

एष्य वि सिया, एष्य वि णो सिया । (सू० २/१/६०)

प्रस्तुत भाग में रूपक और दृष्टान्तों का भी समीचीन प्रयोग किया गया है। प्रथम अध्ययन में पुण्डरीक का रूपक बहुत ही सुन्दर है। दृष्टान्तों का प्रयोग अनेक स्थानों पर उपलब्ध है। इससे सवाद और प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया गया है। संवादशैली का एक सुन्दर उदाहरण दूसरे अध्ययन में मिलता है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का यमकीय अध्ययन यमक अलंकार में लिखित है। यह आगम ग्रन्थों की काव्यात्मक शैली का विरल उदाहरण है। परिचय की दृष्टि से उसके दो श्लोक यहा उद्धृत हैं—

भूतेषु ण विषयभेदोऽस्य धम्मो वुसोमभो ।

वुसोमं जगं परिणाय अस्स जीवियमावणा ॥

मावणाजोगमुदुप्पा जले णावा व माहिया ।

णावा व तीरसंपणा सव्ववुक्खा तिउट्ठति ॥

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सूत्र और चूलिका (परिशिष्ट) तथा सूत्र और वृत्ति—ये दोनों संलग्नरूप में मिलते हैं। इस सम्बन्ध में चूर्णिकार और वृत्तिकार के सकेत बहुत मूल्यवान् हैं। इनके आधार पर अन्य आगमों में भी इस पद्धति की सम्भावना की जा सकती है। यह आगमिक अध्ययन का व्यापक दृष्टिकोण है, जो सब आगमों के अध्ययन के लिए उपयोगी है। इससे तदुभयागम की दृष्टि स्पष्ट होती है। आगम के तीन प्रकार हैं—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम। इस तीसरे प्रकार में सूत्र और अर्थ दोनों साथ-साथ होते हैं। समीक्ष्यमाण सूत्र इसका श्रेष्ठ और स्पष्ट उदाहरण है। दूसरे श्रुतस्कन्ध का दूसरा अध्ययन 'क्रियास्थान' है। उसका विषय सत्रहवें सूत्र तक समाप्त हो जाता है। इस प्रकार दूसरा अध्ययन भी वही समाप्त हो जाता है। उससे आगे ६४ सूत्र और हैं। वे प्रस्तुत अध्ययन की चूलिका (परिशिष्ट) के रूप में हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। स्वयं सूत्रकार ने भी 'अदुत्तर' शब्द के द्वारा उसकी सूचना दी है। व्याख्याग्रन्थों के अनुसार जैसे चिकित्साशास्त्र में मूलसंहिता में—श्लोकस्थान, निदान और शारीर चिकित्सा में जो प्रतिपादित नहीं है वह उत्तरसंहिता में प्रतिपादित है। रामायण आदि के भी जैसे उत्तर हैं, वैसे ही जो प्रस्तुत अध्ययन (क्रियास्थान) में प्रतिपादित नहीं है वह इस उत्तर भाग में प्रतिपादित है। इसलिए यह आचारचूला की भांति प्रस्तुत अध्ययन का उत्तर भाग या चूलिका (परिशिष्ट) भाग है। द्वितीयश्रुतस्कन्ध के दूसरे अध्ययन के १९ वें सूत्र की व्याख्या में चूर्णिकार ने सूत्र और वृत्ति का स्पष्ट विभाग प्रदर्शित किया है—सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा एवं एताणि सखेयेण सुत्ताहं वुत्ताहं, एतेसि इवाणि सुत्तेन खेव वित्ते ण्णति, जहा वेतासिए, चत्तारि विणयसमाधिद्वाना उच्चारेतु पक्खा एक्केवकस्स विभासा, जहा वा उक्खित्तणाए संघाडेत्ति उच्चारैऊण पवाणि एक्केवकस्स अरम्भणं वुक्खति, विट्ठिवाते सुत्ताणि आणिऊण पक्खा सग्गो खेव विट्ठिवातो, तेसि सुत्तपवाणं एतेण खेव वृत्तिमं वति ।

वृत्ति के उपसंहार में चूर्णिकार ने लिखा है—उक्ता वृत्तिः। वृत्तिकार ने सूत्र और वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है,

१. देखें—२/२/७७ ।

२. सुयगडो, १/१५/४, ५ ।

३. (क) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ३५३ : अदुत्तरं च ण तेम्यः क्रियास्थानेभ्यः अब उत्तरं अदुत्तरं, यथा वेदसंहितानां उत्तरं जं मूलसंहितासु श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्साकल्पेषु च यत् यथोपबिष्टं च, यथोपबिष्टं सवुत्तरोऽभिधीयते, रामायणछन्दोपद्धिततमादीनपि उत्तरं अस्थि, एवमिहापि तेरससु किरियाद्वानेषु जं वृत्तं अधम्मवक्कस्स अनुवसमपुब्बकं उत्तरं उवेत्ति ।

(ख) सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्धवृत्ति, पत्र ५६ : अस्मात्प्रयोवसक्रियास्थानप्रतिपादनादुत्तरं यवन्न न प्रतिपादितं, तदधुनोत्तरभूतेनानेन सूत्रसंबर्णेन प्रतिपाद्यते, यथाऽऽचारे प्रथमश्रुतस्कन्धे यन्माप्तिहितं तदुत्तरभूताभिरचूलिकाभिः प्रतिपाद्यते; तथा चिकित्साशास्त्रे मूलसंहितायां श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्सितकल्पसंस्कृतायां यन्माप्तिहितं तदुत्तरोऽभिधीयते, एवमप्यत्रापि छंदश्चित्पादा-वुत्तरसंघावोऽवगम्यः, तद्विहापि पूर्वमेव यन्माप्तिहितं तदनेनोत्तरग्रन्थेन प्रतिपाद्यते इति ।

४. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ३५६ ।

५. वही, पृ० ३५७ ।

किन्तु उन्होंने वृत्ति का उल्लेख किया है—**अदेवमेनामि चतुर्हशाप्युद्दिश्य प्रत्येकमाहितः प्रभृति बिबृजोति ।**

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र की रचनाशीली में अनेक विघाएं निहित हैं ।

भाषा और व्याकरण-विमर्श

प्रस्तुत आगम के भाषा-प्रयोग प्राचीन और अनेकदेशीय हैं । इसमें व्याकरण के नियमों की प्रतिबद्धता भी कम है । इसमें प्राचीन शब्द प्रयोग भी मिलते हैं । वैदिक व्यवस्था के अनुसार चार आश्रमों में पहला ब्रह्मचर्य आश्रम है । वहां ब्रह्मचर्य का अर्थ गुरुकुल है । चौदहवें 'ग्रन्थ' अध्ययन में ब्रह्मचर्य इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—**उद्गाय सुबंभचेरं वसेज्जा (१/१४/१) । आयसा (१/४/१/६) पणसा (१/१३/१३)**—ये कायसा की भांति मागधी के विशेष प्रयोग हैं ।

व्याकरण विषयक सकेत पांचवें परिशिष्ट में दिए गए हैं । उदाहरण स्वरूप कुछेक यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जैसे—**एवंपुवट्टिया (१/३२)** । इसमें तीन शब्द हैं—**एव+अपि+उवट्टिया** । द्विपदमधि के अनेक प्रयोग मिलते हैं, जैसे—**चिट्ठतदुव (१/८३)**—**चिट्ठत+अदुव**, **मुहमगलिओदरिय (७/२५)**—**मुहमगलिओ+ओदरिय** । छद की दृष्टि से दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व के प्रयोग मिलते हैं, जैसे—**पिट्टओ** के स्थान पर '**पिट्टु**' (५/२६), **महनीओ** के स्थान पर '**महनीउ**' (५/३६), **समाहीए** के स्थान पर '**समाहिए**' (३/४७) । यत्र-तत्र सधि और वर्णलोप के संयुक्त प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—**सदहताजय (६/२६)**—**सदहता+आदाय** यहां '**दा**' का लोप किया गया है । **गारव (१/३/१२)**—यहां **गारव** होना चाहिए । '**जराउ**' (७/१) यह विभक्ति रहित पद है और यहां '**या**' का लोप किया गया है—**जराउया** । विभक्ति रहित पद-प्रयोगों के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे—**पाण (२/७५)**, **गिद्ध (३/३६)**, **पाव (५/१६)**, **तणरुक्व (७/१)** । वचन-व्यत्यय तथा विभक्ति-व्यत्यय के प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—**बहुस्सुए**, **धम्मिए**, **माहणे**, **भिवसुए (२/७)** । यहां सर्वत्र बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग है । **इन्धीसु (४/१२)** यहां तृतीया विभक्ति के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग है । **गनिरागती (१/३/१८)** यहां विसर्ग का रकारीकरण संस्कृत के समान है । व्यञ्जन परिवर्तन के कारण कहीं-कहीं अर्थ-बोध की जटिलता भी उत्पन्न हो जाती है । उदाहरण के लिए प्रथम श्रुतस्कन्ध के चौदहवें अध्ययन के १६ वे श्लोक का चतुर्थ चरण प्रस्तुत किया जा सकता है । आदर्शों में उसके प्रकार मिलते हैं—**१. ण यासियावाय बियागरेज्जा । २. ण यासिसावाय बियागरेज्जा ।**

चूर्णिकार ने इसका अर्थ आशीर्वाद या स्तुतिवाद किया है ।^१ वृत्तिकार ने भी इसका यही अर्थ किया है ।^२ 'आशिप्' शब्द का प्राकृतरूप 'आसिसा' बनता है ।^३ 'आसिसा' के द्वितीय सकार का लोप तथा यकारश्रुति करने पर 'आसिया' रूप बन जाता है । इसके पूर्व चस्थानीय यकार है । इसलिए 'यासियावाय' के संस्कृतरूप 'च आशिर्वाद' और 'च अस्याद्वाद'—दोनों किए जा सकते हैं । इसी संभावना के आधार पर हमका अर्थ विद्वानों ने अस्याद्वाद किया, किन्तु यदि 'आसिसावाद' पाठ सामने होता तो यह कठिनाई नहीं आती । इस प्रकार की कठिनाई का अनुभव व्याख्याकारों को अनेक स्थलों पर करना पड़ा है और आज भी पड़ रहा है ।

व्याख्या-ग्रन्थ

सूत्रकृतांग जैन परम्परा में बहुमान्य आगम रहा है । इसका दार्शनिक मूल्य बहुत है । इसमें भगवान् महावीर के समय का गंभीर चिन्तन अन्तर्निहित है । इस पर अनेक आचार्यों ने व्याख्याएं लिखी हैं । इसके प्रमुख व्याख्या-ग्रन्थ ये हैं—

१. निर्युक्ति, २. चूर्णि, ३. वृत्ति, ४. दीपिका, ५. बिबरण, ६. स्तवक ।

निर्युक्ति

यह सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या-ग्रन्थ है । इसमें २०४ गाथाएं हैं । इसमें अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाएं और संकेत हैं । शेष व्याख्याओं के लिए यह आधारभूत व्याख्या-ग्रन्थ है । यह पद्यात्मक है और इसकी भाषा प्राकृत है । इसके कर्ता द्वितीय भद्रबाहु (वि० पाचवी-छठी शताब्दी) हैं ।

१. सूत्रकृतांग, द्वितीयअतस्कन्धवृत्ति, पत्र ६२ ।

२. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० २६३ : "संशु एतुती" तस्याशीर्भति स्तुतिवादमिरथं., न तद्दानवन्दनादिभिस्तोजितो ब्रूयात्—आरोग्यमस्तु, ते वीर्यं चायुः, तथा सुमगा भवाण्टपुत्रा इत्येवमादीनि न व्याकरेत् ।

३. सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र २५५ : नापि चासीर्वाहं बहुशुभो बहुवनो (बहुधर्मो) वीर्यायुस्त्व भूया इत्यादि व्यागृणीयात् ।

४. हेमचन्द्र, प्राकृतव्याकरण १/१५ : स्त्रियामाहविजुतः ।

चूर्णि

निर्युक्ति के पश्चात् दूसरा व्याख्या-ग्रन्थ चूर्णि है। वह सूत्र के आशय को प्रकट करने में बहुत महत्वपूर्ण है। यह गद्यात्मक है और इसकी भाषा प्राकृत-संस्कृत का मिश्रितरूप है। इसके कर्ता जिनदासगणि माने जाते हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह समीक्षणीय है। प्रस्तुत चूर्णि की शैली आचारांगचूर्णि के समान है। चूर्णिकार ने एक स्थान पर यह उल्लेख भी किया है 'ये द्वार जैसे आचार और कल्प (की चूर्णि) में प्ररूपित हैं, वैसे ही यहाँ प्ररूपित करने चाहिए।' इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार, कल्प और सूत्रकृतांग की चूर्णियाँ एककर्तृक हैं। आचारांग और उत्तराध्ययन की चूर्णि का कर्ता एक ही व्यक्ति होना चाहिए, इसकी चर्चा हमने 'आयारो तह् आयारचूला' की भूमिका में की है।

वृत्ति

यह तीसरा महत्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ है। इसमें स्थान-स्थान पर विषय का विशद विवेचन हुआ है। इसकी भाषा संस्कृत है। इसके कर्ता शीलाकसूरि हैं। इनका अस्तित्वकाल ई० ८वीं शती माना जाता है। वृत्ति के प्रारम्भ में उन्होंने उसके निर्माण का प्रयोजन बतलाया है और पूर्ववृत्ति का संकेत किया है। प्रारम्भिक श्लोक इस प्रकार हैं—

स्वपरसमयार्थसूचकमन्तगमपर्ययार्थगुणकलितम् ।
सूत्रकृतमङ्गलमनुलं विवृणोमि जिगान्ममस्कृत्य ॥१॥
व्याख्यातगङ्गमिह यद्यपि सूरिमुख्येभक्त्या तथापि विवरीषुमहं यतिष्ये ।
किं पक्षिराजगतमित्यङ्गम्य सभ्यक, तेनैव वाञ्छति यथा शलको न गंतुम् ॥२॥
ये मय्यवज्ञा व्यधुरिद्वयोधा, जानन्ति ते किञ्चन तानवास्य ।
मत्तोऽपि यो मन्त्रमतिस्तथाऽर्चो, तस्योपकाराय ममैव यत्नः ॥३॥

वृत्ति के अन्त में यह उल्लेख मिलता है कि प्रस्तुत वृत्ति शीलाचार्य ने बाहुरिगणि की सहायता से की—

'कृता चेयं शीलाचार्येण बाहुरिगणिसहायेन ।'

वृत्ति के अंतिम श्लोक में वृत्तिकार ने पाठक के कल्याण की कामना की है—

यदवाप्तमत्र पुण्यं टीकाकारेण मया समाविभृता ।
तेनापेततमस्को भव्यः कल्याणभाग् भवतु ॥

चूर्णि और वृत्ति में अनेक स्थलों में पाठभेद और अर्थभेद हैं। अर्थभेद के कुछ विशेष स्थल ये हैं—

१।३३, ३४, ३६, ४३, ५०, ५५, ६८, ७२, ७३, ७६; २।१७, १८; ४।४५, ७।११, १३, १५, १६; ८।८, १६, १९, २४; ९।१७, २६; ११।१६, १७, ३२; १२।११, १३; १४।२२; १५।७ ।

दीपिका

इसकी भाषा संस्कृत है। इसके कर्ता उपाध्याय साधुरंग हैं। इसका रचनाकाल ई० १५४२ है।

विवरण

इसकी भाषा संस्कृत है। इसके कर्ता हर्षकुल हैं। इसका रचनाकाल ई० १८२६ है।

स्तवक

इसकी भाषा गुजराती है। इसके कर्ता पार्श्वचन्द्रसूरि हैं।

उक्त तीनों (दीपिका, विवरण और स्तवक) व्याख्याग्रन्थ वृत्ति पर आपृत और संक्षिप्त हैं।

१. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ५ : एताणि द्वाराणि अहा आयारो कप्ये वा परुषिताणि तथा परुषेयव्याणि ।

२. आयारो तह् आयारचूला, भूमिका पृ० ३० ।

३. आयारो तह् आयारचूला, भूमिका, पृ० ३१ ।

उपसंहार

प्रस्तुत भूमिका मे सूत्रकृतांग के विशाल और गभीर विषय पर संक्षिप्त विमर्श किया गया है। इसमे ऐतिहासिक तथा दार्शनिक सामग्री प्रचुर मात्रा में है। उस पर विशद प्रकाश डालने का प्रयत्न टिप्पणों मे किया गया है।

जोधपुर (राजस्थान)
१ सितम्बर, १९८४

—आचार्य तुलसी

विषय सूची

पहला अध्ययन

१. बंधन और बधन-मुक्ति की जिज्ञासा
२. दुःख का मूल—परिग्रह
३. हिंसा से वैर की वृद्धि
४. ममत्व और मूर्च्छा
५. कर्ममुक्ति का उपाय
६. विरति और अविरति का विवेक
७. पांच भूतों का निर्देश
८. पांच भूतों से आत्मा की उत्पत्ति
- ९-१०. एकात्मवाद की स्वीकृति और उसकी विप्रतिपत्ति
- ११-१२. तज्जीव-तच्छरीरवाद का स्वरूप और निष्पत्ति
- १३-१४. अक्रियावाद और उसकी विप्रतिपत्ति
- १५-१६. पांच महाभूतों के अतिरिक्त अजर-अमर आत्मा और लोक की स्वीकृति
१७. बौद्ध सम्मत पांच स्कंधों से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं
१८. धातुवादी बौद्धों का मत
- १९-२०. बौद्ध दर्शन के एकान्तवाद से दुःख-मुक्ति के आशवासन का निरसन
- २१-२४. नियतिवादी की स्थापना और दोषापत्ति
- २५-२८. अज्ञानवाद की स्थापना और दोषापत्ति
- २९-३२. बौद्धों का कर्मोपचय विषयक दृष्टिकोण
- ३३-३६. कर्मोपचय सिद्धान्त की समीक्षा
- ३७-४०. पुनिकर्म आहार और उसके सेवन से होने वाले दोष
४१. लोक देव या ब्रह्म द्वारा निर्मित
४२. लोक ईश्वरकृत
४३. लोक स्वयंभूकृत
४४. लोक अंबकृत
४५. लोक अनादि
४६. दुःखोत्पत्ति और दुःख-निरोध का ज्ञान
- ४७-४८. अवतारवाद की स्थापना
- ४९-५०. अपने अपने मत की प्रशंसा
- ५१-५२. सिद्धवाद की स्थापना और निष्पत्ति
५३. प्रावादुक्तों की आचार-विचार विषयक विसंगति
५४. भिक्षु को तटस्थ रहने का निर्देश

५५. अपरिग्रह और अनारम्भ पथ का निर्देश
५६. आहार सम्बन्धी निर्देश
- ५७-५८. लोकवाद विषयक आन्यताएं
५९. मनुष्य परिमित-अपरिमित का कथन
- ६०-६१. बहिंसा की परिभाषा और पृष्ठभूमि
- ६२-६३. भिक्षु की चर्या के कुछ निर्देश

दूसरा अध्ययन

१. सम्बोधि की दुर्लभता
२. मृत्यु की अनिवार्यता
३. हिंसा-विरति का उपदेश
४. कर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं
- ५-६. जीवन की अनित्यता
- ७-८. कर्म-विपाक का अनुचिन्तन
९. आचार और माया
- १०-११. अहंत्वा द्वारा प्रवेदित अनुशासन
१२. वीर कौन ?
- १३-१४. कर्मक्षरीर को कृश करने का निर्देश
- १५-१६. कौटुम्बिक व्यक्तियों द्वारा श्रमण को श्रामण्य से च्युत करने का प्रयास
२०. मोह-मूढ़ता से पुनः असम्यग की ओर प्रस्थान
२१. महापथ के प्रति प्रणत होने का निर्देश
२२. वैतालिक मार्ग के साधन
- २३-२४. मान-विवर्जन का निर्देश
२५. अधिकार नहीं, मुनिपद बन्धनीय
- २६-२७. समता धर्म का अनुशीलन
- २८-३०. समता धर्म की पृष्ठभूमि और उसका निरूपण
३१. धर्म का पारगामी कौन ?
३२. घर में कौन रहेगा ?
३३. बन्धना-पूजा है सूक्ष्म शल्य
- ३४-३५. एकलविहारी की चर्या
३६. सामायिक किसके ?
४०. राज-संसर्ग असमाधि का कारण
४१. कलह-विवर्जन का निर्देश
४२. गृहस्थ के भ्राजन में भोजन का निषेध
४३. मद न करने का कारण
४४. सहनशीलता का निर्देश

- ४५-४६ कृतदाय से धर्म की तुलना
 ४७-४८ ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा और स्वाख्यात समाधि
 ५० मुनि के लिये अकरणीय का विवेक
 ५१ कषाय-विजय से विवेक की उपलब्धि
 ५२ आत्महित की साधना के दुर्लभ अंग
 ५३-५४ महावीर की देन—सामायिक की परम्परा
 ५५ कर्म का अपचय कैसे ?
 ५६ काममूर्च्छा और ऊर्ध्व (मोक्ष) दृष्टि
 ५७ पांच महाव्रत के धारक कौन ?
 ५८ महावीर की समाधि के अज्ञाता
 ५९-६० कामैषणा का परिणाम
 ६१ असाधुता और शोक का अविनाभाव
 ६२ जीवन की अनित्यता का बोध
 ६३ हिंसा का परिणाम
 ६४ हिंसा की प्रवृत्ति का एक कारण—परलोक में सदेह
 ६५ द्रष्टा का वचन श्रद्धेय
 ६६ आत्म-तुला
 ६७ अगारवास में धर्म की परिपालना और निष्पत्ति
 ६८ सत्य का अनुसन्धान
 ६९ मोक्षार्थी की चर्या
 ७०-७१ अशरण भावना का चिन्तन
 ७२ अपना अपना कर्म
 ७३ बोधि का दुर्लभता
 ७४-७५ धर्म की त्रैकालिकता और निष्पत्ति का निर्देश

तीसरा अध्ययन

- १-३ लौकिक शूर और सयमी शूर की तुलना
 ४ शीत परीषह और मुनि
 ५ उष्ण परीषह और मुनि
 ६-७ याचना परिषह और मुनि
 ८ वध परीषह और मुनि
 ९-११ आक्रोश परीषह और मुनि
 १२ कठोर स्पर्श का परीषह और मुनि
 १३ केशलोच और ब्रह्मचर्य की दुश्चरता और मुनि
 १४-१६ वध और बन्धन से पराजित मुनि की मनःस्थिति
 १७ परीषह विजय का निर्देश
 १८-२० ज्ञातिजनो द्वारा दिये जाने वाले अनुकूल परीषहो के प्रकार
 २१ ज्ञाति-सम्बन्ध पाताल की भांति दुस्तर
 २०-२१ सग आश्रव और आवर्त से तुलित
 २३-२६ भोगों के लिये निमन्त्रण

- ३७-३९ शिथिल व्यक्ति द्वारा भोग-निमन्त्रण की स्वीकृति
 ४०-४१ अध्यात्म पथ में कायर की स्थिति
 ४२-४३ भविष्य का भय और ज्योतिष आदि का आलम्बन
 ४४ मन्देह की स्थिति
 ४५-४६ आत्महित माधक की परमवीर से तुलना
 ४७-५७ परतीर्थिको के आरोप और उनका निराकरण
 ५८ बहुगुण उत्पादक चर्चा का निर्देश
 ५९-६० रुग्ण-सेवा और उपसर्ग-सहन का उपदेश
 ६१-६५ अन्यान्य ऋषियों की चर्या को सुन, आत्म-विषीदन की स्थिति
 ६६-६८ सुख से सुख प्राप्ति की स्थापना और निरसन
 ६९-७७ अन्नह्यचर्य का समर्थन, निरसन और विपाक
 ७८ कामभोग की निवृत्ति से ससार-पारगमिता
 ७९ मयनचर्या का निर्देश
 ८० विरति, शान्ति और निर्वाण
 ८१-८२ रुग्ण-सेवा और उपसर्ग-सहन का उपदेश

चौथा अध्ययन

- १-९ श्रामण्य से च्युत करने वाली स्त्रियों का चरित्र-चित्रण
 १० स्त्री-संवास से होने वाला अनुताप
 ११ स्त्री को विषबुझे काटे की उपमा
 १२ तपस्वी और स्त्री-संवास
 १३-१६ स्त्री-परिचय और उससे होने वाली दोषापत्तियां
 १७ द्विपक्ष-सेवन की विडम्बना
 १८-१९ कुशील भिक्षु का आचरण और मन स्थिति
 २० प्रजावान् का स्त्री-संवास
 २१-२२ व्यभिचार की फलश्रुति
 २३-२६ स्त्रियों की चल मन स्थिति का चित्रण
 २७ स्त्रियों के संवास से श्रामण्य का नाश
 २८-२९ पाप का अपलाप
 ३० अन्न-पान का प्रलोभन
 ३१ मोह-मूढ की दशा
 ३२-४९ स्त्री में आसक्त व्यक्ति की विडम्बना
 ५० कर्मबन्ध का कारण—कामभोग का सेवन
 ५१ कामभोग भय-उत्पादक
 ५२ परक्रिया—स्त्री के स्पर्श का निषेध
 ५३ कामवाछा से मुक्त होने का निर्देश

पांचवां अध्ययन

- १ सुधर्मा का नरक विषयक प्रश्न
 २ नरक का अभिवचन

- ३-५. नरक-गमन की हेतुभूत प्रवृत्तियाँ
- ६-७. नैरयिकों का दिशाभ्रम और करुण क्रन्दन
- ८-१०. बैतरणी नदी का त्रास
- ११-१२. असूर्य नरकावास का संताप
१३. नैरयिकों को तपाना
१४. संतक्षण नरकावास का दुःख
- १५-१६. कड़ाही में पकाना, असह्य दुःख-वेदन
- १७-१८. शीत नरकावास के दुःख
- १९-२३. विविध प्रकार की वेदना
- २४-२५. रक्त तथा पीब से भरी कुम्भी में पकाना
- २६-२७. जैसा कर्म वैसा भार
- २८-३४. नरकपालों द्वारा दी जाने वाली वेदना का चित्रण
३५. विदूष्य अग्निस्थान की वेदना
३६. सजीवनी नरक भूमि की प्रताड़ना
३७. मानसिक श्लाघा की पराकाष्ठा
- ३८-३९. सदाज्वला बन्धन-स्थान की वेदना
- ४०-४३. वेदना के विविध प्रकार
४४. वैतालिक पर्वत की विचित्रता
- ४५-४७. बन्धन और आक्रन्दन
४८. सदाजला नदी की दुर्गमता
४९. पत्तयें दुःख
५०. जैसा कर्म वैसा फल
- ५१-५२. नरक की अप्राप्ति के हेतुभूत साधनों का निर्देश

छठा अध्ययन

- १-२. जम्बू द्वारा ज्ञातपुत्र के ज्ञान, दर्शन और शील की जिज्ञासा
३. सुधर्मा द्वारा प्रवृत्त सम्मान
- ४-६. महावीर के ज्ञान, दर्शन और शील विषयक अभि-
वचन
- १०-१४. महावीर की मेरु पर्वत से तुलना
- १५-२४. विविध उपमाओं से महावीर का गुण-वर्णन
२५. अनन्तचक्षु महावीर
२६. अभ्यात्म दोषों का पूर्ण विसर्जन
२७. वाद-निर्णय और यावज्जीवन संयम की स्थिति
२८. सर्ववर्जी महावीर
२९. धर्म-श्रवण की फलश्रुति

सातवाँ अध्ययन

१. षड्जीवनिकाय का निरूपण
- २-४. जीर्वाहिसा का परिणाम
५. कुशीलधर्मी का लक्षण
६. आग जलाने वाला और बुझाने वाला—दोनों हिंसक

७. अग्नि का समारम्भ—सब जीवों का समारम्भ
८. वनस्पति की हिंसा : अनेक जीवों की हिंसा
९. अनार्यधर्मा कौन ?
- १०-११. कुशील का विपाक-दर्शन
- १२-१८. कुशील व्यक्तियों का दर्शन और उसका निरसन
१९. दृष्टि की परीक्षा
२०. समय का अवबोध
२१. भ्रामण्य से दूर कौन ?
२२. सचित्त परिहार
- २३-२६. रस की आसक्ति का कु-परिणाम
२७. अनासक्ति का अवबोध
२८. पाच कारणों से गुणवर्धन
- २९-३०. मुक्ति का उपाय

आठवाँ अध्ययन

१. वीर्य क्या और वीर कौन ?
२. दो प्रकार के वीर्य
३. कर्मवीर्य और अकर्मवीर्य की निष्पत्ति
- ४-६. बालवीर्य या कर्मवीर्य का स्वरूप और फल-निष्पत्ति
- १०-२२. पण्डितवीर्य या अकर्मवीर्य का दर्शन, स्वरूप और
आचरण
२३. अबुद्ध के पराक्रम की फलश्रुति
- २४-२७. बुद्ध के पराक्रम, तप और संयम की फलश्रुति

नौवाँ अध्ययन

१. धर्म की जिज्ञासा
- २-३. हिंसा और परिग्रह से दुःख-विमोचन नहीं
४. धन का विभाजन, कर्मों का छेदन
- ५-७. अशरण का अवबोध
- ८-१०. मूलगुणों का निर्देश
- ११-२४. उत्तरगुण-चर्या का विवेक
- २५-२७. भाषा का विवेक
२८. ससर्ग-वर्जन
- २९-३२. श्रमण की चर्या
३३. आचार्य की उपासना
३४. पुरुषादानीय कौन ?
३५. त्रैकालिक धर्म का स्वरूप
३६. सतत साधना का निर्देश

दसवाँ अध्ययन

- १-३. समाधि धर्म के कुछ निर्देश
४. बन्धन-मुक्ति का निर्देश
५. पाप-कर्म का आवर्त

६. स्थितात्मा का स्वरूप
७. कायर समाधि की साधना करने में असमर्थ
- ८-९. अज्ञानी मुनि की चर्या और विपाक
१०. अनासक्ति का उपदेश
११. असमाधि के स्रोत (स्थूल शरीर) की कृशता
१२. प्रकेलेपन की अभ्यर्थना
१३. समाधि की प्राप्ति किसे ?
१४. परीषद्-विजय का निर्देश
१५. गृहस्थोचित कर्म-वर्जन का निर्देश
१६. समाधि धर्म के अज्ञानता
१७. असयमी के वैर-वर्धन का प्रतिपादन
१८. अजर-अमर की भाँति आचरण का निषेध
१९. असमाधि का कारण
- २०-२२. मूलगुण समाधि के कारण
- २३-२४. उत्तरगुण के पालन से समाधि

ग्यारहवाँ अध्ययन

- १-३. जम्बू की मोक्ष-मार्ग विषयक जिज्ञासा
- ४-६. सुघर्मा द्वारा मार्गसार का कथन
- ७-८. प्रत्येक प्राणी के पृथक् अस्तित्व का प्रतिपादन
९. हिंसा के निषेध का मौलिक कारण
१०. ज्ञान का सार
११. शान्ति और निर्वाण का अनुबोध
१२. विरोध-वर्जन—अहिंसा का आधार
- १३-१५. एषणा का विवेक
- १६-२१. दानकाल में भाषा-विवेक का अवबोध
२२. निर्वाण का संधान
- २३-२४. धर्म-दीप का प्रतिपादन
- २५-३१. हिंसा-धर्म को मानने वाली बौद्धदृष्टि की समीक्षा
३२. महाघोर स्रोत को तरने का उपाय
३३. ग्राम्यधर्मों से विरति
३४. निर्वाण का संधान कैसे ?
३५. साधु-धर्म का संधान और पाप-धर्म का निराकरण
३६. शान्ति की प्रतिष्ठा
३७. कष्ट-सहन का निर्देश
३८. केवली का मत

बारहवाँ अध्ययन

१. समवसरण के चार प्रकार
- २-३. अज्ञानवाद का निरूपण
४. विनयवाद तथा अक्रिय-आत्मवाद का निरूपण
५. शून्यवादी बौद्धों का मत

६. अक्रियावाद का परिणाम
७. पकुघकात्यायन का मत
८. अक्रिय-आत्मवादी निरुद्ध प्रज्ञा से उपमित
- ९-१०. अष्टांग निमित्तज्ञान की यथार्थता, अयथार्थता
११. दुःख स्वकृत, दुःख-मुक्ति के दो साधन—विद्या और आचरण
१२. जीवों की आसक्ति कहा ?
१३. जन्म-मरण की अटूट परम्परा
१४. समार-स्रमण के दो हेतु—विषय और अगता
१५. अकर्म से कर्मक्षय का प्रतिपादन
१६. स्वयं सम्बुद्ध तीर्थङ्करों का मार्ग
१७. वाग्वीर और कर्मवीर का निर्देश
१८. मध्यस्थभाव का स्वरूप
१९. ज्योतिर्भूत पुरुष का ससर्ग
- २०-२१. क्रियावाद का प्रतिपादक कौन ?
२२. मसार के वलय से मुक्त कौन ?

तेरहवाँ अध्ययन

१. यथार्थ प्रतिपादन का संकल्प
- २-४. सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ प्रदाता गुरु के निन्हेवन से अनन्त संसार
५. शिष्य के दोष और उनका परिणाम
६. छद्म से अमुक्त कौन ?
७. मध्यस्थ और कलह से परे कौन ?
- ८-९. परमार्थ का पल्लिमन्थु—अहंकार
- १०-११. जाति और कुल का मद गृहस्थ-कर्म है
- १२-१६. विभिन्न मद-स्थानों के परिहार का निर्देश
१७. अनासक्त रहने का निर्देश
- १८-२२. धर्मकथा करने का विवेक और प्रयोजन
२३. वनय-मुक्त कौन ?

चौदहवाँ अध्ययन

१. अप्रमाद के कुछ सूत्र
- २-४. गुरुकुलवास का महत्त्व
५. अनुशासन कब ?
६. विषिकित्सा का निराकरण
- ७-९. अनुशिष्टि-सहन के निर्देश
- १०-११. अनुशास्ता की पूजनीयता
- १२-१३. जिन-प्रवचन का महत्त्व
१४. जीव-प्रवेष का निषेध
- १५-१७. धर्म, समाधि और मार्ग की आराधना और निष्पत्ति

- १८ सन्देह-विमोचन का प्रयत्न
- १९ अर्थ-निवृत्ति और प्रशस्ति-वचन का निषेध
- २० प्रवचन की इयत्ता
- २१ नो हीणे नो अहरिते
- २२ विभज्यवाद का निरूपण और भाषा-विवेक
- २३ प्रवचनकार के लिये कुछ निर्देश
- २४ आज्ञासिद्ध वचन के प्रयोग का निर्देश
- २५ कैवलिक समाधि के प्रतिपादन की विधि
- २६ सूत्र, अर्थ और शास्त्र के प्रति विवेक
- २७ ग्रन्थी या शास्त्रज्ञ भिक्षु का स्वरूप

पन्द्रहवाँ अध्याय

- १ त्रिकालविद्
- २ अनुपम तत्त्व का व्याख्याता
- ३ सत्य और मैत्री
- ४ धर्म की जीवन्त भावना
- ५ भावना-योग
- ६ कर्म का अकर्ता
- ७ महावीर्यवान् की निष्पत्ति
- ८ विज्ञाता-द्रष्टा ही काम-वासना का पारगामी
- ९ आदिमोक्ष पुरुष की पहिचान
- १० मार्ग के अनुशासक कौन ?
- ११ संयम-धनी का स्वरूप
- १२ अनुपम संधि की प्राप्ति
- १३ अनुपम संधि की फलश्रुति
- १४ अन्तेण बहुद्

- १५ अंत के सेवन से उपलब्धि
- १६ अ-मनुष्यों के निर्वाण की समीक्षा
- १७ मनुष्य जीवन की दुर्लभता
- १८ सम्बोधि और उपदेश की दुर्लभता
- १९ पुनर्जन्म किसका नहीं ?
- २० तयागत का स्वरूप
- २१ निष्ठास्थान की प्राप्ति
- २२ प्रवर्तक वीर्य का कार्य
- २३ लक्ष्य-प्राप्ति का साधन
- २४ निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रतिफलन
- २५ वीर्यवान् सुव्रत की त्रैकालिकता

सोलहवाँ अध्याय

- १ साधक के अभिवचन
- २ अभिवचन के प्रति जिज्ञासा
- ३ 'माहन्' का स्वरूप
- ४ 'श्रमण' का स्वरूप
- ५ 'भिक्षु' का स्वरूप
- ६ 'निग्रन्थ' का स्वरूप

परिसिद्ध

- १ टिप्पण-अनुक्रम
- २ पदानुक्रम
- ३ सूक्त और सुभाषित
- ४ उपमा
- ५ व्याकरण विमर्श

पहलं अध्यायनं
समए

पहला अध्यायन
समय

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'समय' है। निर्युक्ति में यह नाम निश्चित नहीं है। वहाँ इसमें वर्ण्य विषय के आधार पर 'समय-परसमयप्रकृषा'—(स्वसमय-परसमयप्रकृषा) कहा गया है।^१ पूर्णि और वृत्ति में इस अध्ययन का नाम 'समय' दिया गया है।^२ संभव है 'स्वसमय-परसमयप्रकृषा' यह नाम बहुत दीर्घ हो जाता, अतः संक्षेप में इसे 'समय' की संज्ञा दे दी गई हो।

समवाची (२३/१) में भी 'समय' नाम ही निश्चित है।

निर्युक्तिकारने 'समय' के बारह प्रकार विनिश्चित किए हैं और पूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने उसकी व्याख्या की है—

१. नाम समय—किसी का नाम 'समय' हो।

२. स्थापना समय—किसी वस्तु में 'समय' की आरोपना करना।

३. द्रव्य समय—सचित या अचित द्रव्य का स्वभाव—गुणधर्म। जैसे—जीव द्रव्य का उपयोग, वर्मास्तिकाय का गति स्वभाव, अधर्मास्तिकाय का स्थिति स्वभाव, आकाशास्तिकाय का अवगाहन स्वभाव।

अथवा—जिस द्रव्य का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के माध्यम से जो स्वभाव अभिव्यक्त होता है, वह 'द्रव्य समय' कहलाता है। जैसे—

(क) वर्ण से—जमर काला है, कमल नीला है, कंबलकाटक लाल है, हल्दी पीली है, चंद्र श्वेत है।

(ख) गन्ध से—चंदन सुगन्धयुक्त है, सहस्रुन तुरगन्धयुक्त है।

(ग) रस से—सूट कटुक है, नीम तिक्त है, कपित्थ कर्षला है, गुड़ मीठा है।

(घ) स्पर्श से—पाषाण कर्कश है, भारी है, पत्थी की पांख हल्की है, बर्फ ठण्डा है, आग गरम है, घृत स्निग्ध है, राल रुख है। अथवा—जिस द्रव्य का जो उपयोग-काल है वह भी 'द्रव्य समय' कहलाता है, जैसे—

दूध के उष्ण-अनुष्ण, ठंडे या गर्मे के आधार पर उसका उपयोग करना।

वर्षाश्रु में सबंध, शरदश्रु में अल, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर में आंवले का रस, वसन्त में घृत, ग्रीष्म में गुड़—ये सारे अमृत-तुल्य होते हैं।^३

४. क्षेत्र समय—(क) आकाश का स्वभाव।

(ख) ग्राम, नगर आदि का स्वभाव।

(ग) हेक्कुव आदि क्षेत्रों का स्वभाव-प्रभाव, जैसे—वहाँ के सभी प्राणी सुन्दर, सब सुखी और बेर रहित होते हैं।

अथवा—क्षेत्र—क्षेत्र आदि को संवारने का समय।

अथवा—ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक्लोक का स्वभाव।

५. कालसमय—काल में होने वाला स्वभाव, जैसे—सुषमा आदि काल में द्रव्यों का होने वाला स्वभाव।

१. निर्युक्ति भाषा २२ : स्वसमय-परसमयप्रकृषा यः.....

२. (क) पूर्णि पृ० १६ : तत्त्वं कथमन्यथायं समवाचि ।

(ख) वृत्ति पत्र २ : तत्त्वाद्यन्यथायं समवाच्यम् ।

३. (क) निर्युक्ति भाषा २० : (ख) पूर्णि पृष्ठ १२, २० : (ग) वृत्ति पत्र ११ ।

४. पूर्णि पृ १२ : वर्षाश्रु भवन्ममृतं शरदि अलं गोपश्रु हेमन्ते ।

शिशिरे आमलकरसो घृतं वसन्ते गुडो रुक्मश्रुः ॥

९. कुतीर्यसमय—अन्यतीर्थियों की धार्मिक मान्यता । जैसे—कुछ दार्शनिक हिंसा में धर्म मानते हैं, कुछ ज्ञानवादी होते हैं, कुछ स्नान, उपवास, गुरुकुलवास में ही धर्म मानते हैं ।
७. संगारसमय—संकेत का समय—काल । जैसे—पूर्वकृत संकेत के अनुसार सिद्धार्थ नामक सारथी ने बलदेव को संबोधित किया था ।
८. कुलसमय—कुल का धर्म—आचार-व्यवहार । जैसे—जक जाति वालों के लिए पिपृषुद्धि, आभीरकों के लिए मन्वनी बुद्धि ।
९. गणसमय—गण की आचार-व्यवस्था, जैसे—मल्लगण का यह आचार है कि जो मल्ल अनाथ होकर मरता है, उसका दाह-संस्कार गण से होता है, अथवा जिसकी दुर्-अवस्था हो जाती है उसका उद्धार गण करता है ।
१०. संकरसमय—भिन्न-भिन्न जाति वालों का समागम और उनकी एकवाक्यता । बामभार्य की परंपरा में अनाचार में प्रवृत्त होने के लिए विभिन्न जाति वाले एक मत हो जाते हैं ।
११. गण्डीसमय—उपासना की पद्धति, जैसे—भिक्षु की प्रातः वेष्मार्गंडी, मध्याह्न में जायन्तवर्ण्डी, अपरान्ह में धर्मकथा करना, सन्ध्या में समिति का आचरण करना ।
- वृत्तिकार ने भिन्न-भिन्न संप्रदायों की प्रथा को गंडी-समय माना है । जैसे—शाक्य भिक्षु भोजन के समय गंडी का ताडन करते हैं ।
१२. भावसमय—यह अध्ययन जो अयोपशम भाव का उद्बोधक है ।

विषय-वस्तु

प्रस्तुत अध्ययन का विषय है स्वसमय—जैन मत और परसमय—जैनतर मतों के कुछेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन । इस अध्ययन के चार उद्देशक और अठासी श्लोक हैं । इनमें विभिन्न मतों का प्रतिपादन—खंडन और मंडन है । निर्युक्तिकार ने उद्देशकों के अर्थाधिकार की चर्चा की है । पहले उद्देशक के छह अर्थाधिकार हैं—

पंचभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मवष्टवाद, अफलवाद ।

दूसरे उद्देशक के चार अर्थाधिकार हैं—नियतिवाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, कर्मचय-अभाववाद ।

तीसरे उद्देशक के दो अर्थाधिकार हैं—आधाकर्म, कृतवाद ।

चौथे उद्देशक का एक अर्थाधिकार है—परतीर्थियों की अविरत-गृहस्थ-वृत्त्यता ।

वस्तुतः यह अध्ययन अनेक दार्शनिकों के कुछेक प्रचलित सिद्धान्तों के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का सुन्दर निरूपण करता है । हमने इस अध्ययन के विषयों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

१-६ बंधन और बंधन-मुक्ति का विवेचन ।

७-८ पंचमहाभूतवाद ।

९-१० एकात्मवाद ।

११-१२ तज्जीव-तच्छरीरवाद ।

१३-१४ अकारकवाद ।

१५-१६ आत्मवष्टवाद ।

१. जूनि पृ० १६-२० ।

२. वृत्ति पत्र ११ : गण्डी समयो—यथाशाक्यानां भोजनावसरे गण्डीताडनमिति ।

३. निर्युक्ति गाथा २७-२९ : मधपंचभूत एकप्पए य तज्जीवतस्सरीरी य ।

तथ य अकारकवादी आतच्छब्दो अफलवादी ॥

चित्ति ए भियतीवायो अण्णाणो तह य जाणवादी य ।

कम्मं चयं न गच्छति चतुस्विधं भिक्खुसमबन्धि ॥

तइए आहाकम्मं कडवादी जय य ते कवादी तु ।

किञ्चुबन्ना य चइत्थे परण्यवादी अविरत्तेनु ॥

- १७-१८ बौद्धों का पंचस्कंध और चतुष्टयवाद ।
 १९-२७ एकतावादी दर्शनों की निरूपणात्मकता ।
 २८-४० नियतिवाद ।
 ४१-५० अज्ञानवाद ।
 ५१-५६ बौद्धों की कर्मोपचय की चिन्ता और उसका समाधान ।
 ६०-६३ आकाशकर्म-दोष का प्रतिपादन ।
 ६४-६६ जगत्कर्तृत्व के विभिन्न दर्शनों की चर्चा ।
 ७०-७१ अवतारवाद ।
 ७२-७३ आत्मप्रवाद की प्रशंसा ।
 ७३-७५ सिद्धवाद ।
 ७६-७९ याचना का सिद्धान्त ।
 ८०-८२ लोक-स्वरूप की चर्चा ।
 ८३-८५ अहिंसा का स्वरूप ।
 ८६-८८ भिक्षुक की चर्चा ।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में भूतवादी दर्शनों के दोनो पक्षों—पंचभूतवाद और चतुर्भूतवाद का प्रतिपादन हुआ है। आगमयुग में पंचभूतवाद प्रचलित था। पकुषकाख्यायन पंचभूतवाद को स्वीकार करते थे। दर्शनयुग में जबकि सम्मत चार भूतों का ही उल्लेख मिलता है। वे आकाश तत्त्व को नहीं मानते थे।

एकात्मवादी दर्शनों उपनिषदों का उपजीवी है। 'सर्वत्र एक हो आत्मा है'—यह ६-१० श्लोक में प्रतिपादित है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमीय-तत्त्वमीयवादी' दर्शन का इस अध्ययन में संक्षिप्त वर्णन है। किन्तु दूसरे श्रुतस्कंध (१/१३-२२) में उसका विस्तार मिलता है। प्रस्तुत सूत्र में इस मत के प्रवर्तक का नाम नहीं मिलता, किन्तु बौद्ध साहित्य में अजितकेसकंवल को इस मत का प्रवर्तक माना है।

अक्रियावाद पूरणकाश्यप का दार्शनिक पक्ष है। पकुषकाख्यायन और पूरणकाश्यप—दोनों अक्रियावादी थे। बौद्ध साहित्य में इसका विस्तार से वर्णन प्राप्त है। वृत्तिकार जीवार्थ ने अकारकवाद को सांख्यदर्शन का अभिमत बतलाया है।^१

पंचमहाभूतवाद पकुषकाख्यायन के दार्शनिक पक्ष की एक शाखा है। पंचमहाभूतवादी की मान्यताओं का विशद वर्णन प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध (१/२५-२६) में प्राप्त है।

सत्तरहवें, अठारहवें श्लोक में बौद्ध सम्मत पांच स्कंधों तथा चार धातुओं का उल्लेख है।

प्रस्तुत अध्ययन में नियतिवाद का उल्लेख है। उसका विस्तार द्वितीय श्रुतस्कंध (१/४२-४५) में प्राप्त है।

एकतालीसवें श्लोक में अज्ञानवाद का उल्लेख है। अज्ञानवादी दार्शनिकों के विचारों का निरूपण इसी आगम के १२/२,३ में प्राप्त है। दीर्घनिकाय में प्रकृति संश्रयवेलद्विपुल के अनिश्चयवाद के निरूपण को संश्रयवाद या अज्ञानवाद माना जा सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन (श्लोक ६४-६६) में अकस्मिकत्व की प्रचलित विभिन्न मान्यताओं का निरूपण है। विभिन्न दार्शनिक सृष्टि-संरचना की विभिन्न मान्यताओं को लेकर चलते थे। ६४ से ६७ श्लोक तक सृष्टिवाद का मत उल्लिखित कर ६८ वें श्लोक में सूत्रकार ने अपना अभिमत प्रदर्शित किया है।

श्लोक ७०,७१ में अवतारवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित है। वृत्तिकार ने इसे वैरागिक संप्रदाय का अभिमत माना है।^२ वैरागिक का अर्थ आजीवक संप्रदाय किया गया है। गोबालक उसके आचार्य थे।^३

श्लोक के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के मत को प्रदर्शित कर सूत्रकार ने जैन मत का प्रतिपादन किया है। (श्लोक

१. वृत्ति पत्र २१, २२ ।

२. वृत्ति पृष्ठ ४३ : वैरागिकका इतिहास—से वि कडवादिनी चेव ।

३. (क) वृत्ति पत्र ४६ : वैरागिकका गोबालकमतानुसारिणः ।

(ख) नवी वृत्ति, हरिजगदपुरी, पृष्ठ ८७ : वैरागिककाजीविका एवोच्यन्ते ।

८०—८२) ।

श्लोक ८३-८५ में अहिंसा विषयक चर्चा है। चौरासीवें श्लोक में अनन्तबाध और अपरिणामबाध के आधार पर हिंसा का समर्थन करने वाले दृष्टिकोण का प्रतिपादन मिलता है।

प्रस्तुत अध्ययन में कुछ विशेष शब्द प्रयुक्त हैं—तिष्णन्वा (२०-२५), संग्रह्यं (३०), पासस्थ (३२) ।

प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपादित कुछ मौलिक विचार—

१. परिग्रह और दुःख का सम्बन्ध (२) ।
२. हिंसा और वैर का सम्बन्ध (३) ।
३. परिग्रहमूलक हिंसा के तथ्य का उद्घाटन ।
४. परिग्रह और हिंसा के त्याग के लिए सम्यग् दर्शन जरूरी ।
५. दुःख का निवर्तन धर्म-अधर्म के विवेक से होता है, तर्क से नहीं (४६-४८) ।

कुछ विशेष प्रयोग—

१. पञ्चया (प्रव्रजिताः) १६ ।
२. जिया (जीवाः) २८ ।
३. अप्पत्तियं अप्रीतिकं ३६ ।

विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मतों का इस अध्ययन में सुन्दर निरूपण हुआ है। हमने उन मतों के पूर्वपक्ष की चर्चा करते हुए बौद्ध और वैदिक परम्पराओं की मान्यताओं को भी टिप्पणों में स्पष्ट किया है। इस अध्ययन में अन्य दार्शनिकों के मतों का संक्षेप में उल्लेख है। उनका विस्तार दूसरे श्रुतस्कंध में प्रतिपादित है। इसका निर्देश हमने यथास्थान कर दिया है।

दार्शनिक तत्वों के निरूपण के साथ-साथ इसमें बन्धन-विवेक और बन्धन-मुक्ति के उपायों की भी सुन्दर चर्चा है। जम्बू ने सुधर्मा से पूछा—किमाह बधणं कीरे? कि वा जाण तिउट्टह?—भगवान् महावीर ने किसे बन्धन माना है? उसे तोड़ने का उपाय क्या है? इसके उत्तर में सुधर्मा ने कहा—परिग्रह बंधन है, हिंसा बंधन है। इसका हेतु है—ममत्त्व। बन्धन-मुक्ति का उपाय है—धन और परिवार में अन्धान-दर्शन और जीवन का मृत्यु की ओर संघावन की अनुभूति। (श्लोक २-५)

इस अध्ययन की श्रृंखला में अनेक नए-नए तथ्यों का उल्लेख है। हमने टिप्पणों में उनका यथेष्ट उपयोग किया है।

कृतिकार शिलाक ने भी अनेक जानकारीयें प्रस्तुत की हैं।

छासठवें श्लोक का तीसरा चरण है—मारेण सयुया माया—इसमें मृत्यु की उत्पत्ति की कथा का संकेत मात्र है। यह कथा महाभारत के द्रोणपर्व, अध्याय ५३ में मिलती है। कृतिकार ने इस श्लोक के स्थान पर आचार्य नागार्जुन द्वारा सम्मत श्लोक दिया है। वह पूरे कथानक का द्योतक है—

अतिवह्नीयजीवा णं, नही विज्जन्ते पणं ।

ततो से मायासंजुते, करे लोगस्सज्जिह्वा ॥

देखें—टिप्पण संख्या—१२८ ।

पद्यमै अरभ्यणः बहुला अरभ्यण

समए : समय

पद्यमो उहेसो : बहुला उहेसक

मूल

संस्कृत आया

हिन्दी अनुबाद

१. बुद्धमेव तित्ठतेज्जा
बंधनं परिजानिया ।
किमाह बंधनं बीरे ?
कि वा जानं तित्ठइ ? ।१।

बुध्येत त्रोटयेत्,
बन्धनं परिज्ञाय ।
किमाह बन्धनं बीरः ?
कि वा जानन् त्रोटयति ? ॥

१. सुधर्मा ने कहा—'बोधि को प्राप्त करो ।' बंधन को जानकर उसे तोड़ डालो ।' जम्बू ने पूछा—'महावीर ने' बंधन' किसे कहा है ? किस तत्त्व को जान लेने पर उसे तोड़ा जा सकता है ?'

२. चित्तमंतवचित्तं वा
परिगिरह्म कितामवि ।
अण्णं वा अनुजानाह
एवं दुक्खा न मुच्यई ।२।

चित्तवत् अवित्तं वा,
परिगृह्य कुशमपि ।
अण्यं वा अनुजानाति,
एवं दुःखात् न मुच्यते ॥

२. सुधर्मा ने कहा—'जो मनुष्य चेतन' या अचेतन पदार्थों में तनिक भी' परिग्रह-बुद्धि (ममत्व) रखता है और दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है' वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता ।'

३. स्वयं तिवातए पाजे
अहुवा अण्णेहि धावए ।
हणंतं बाणुवावाह
वेरं बहुइ अप्पणो ।३।

स्वयं अतिपातयेत् प्राणान्,
अथवा अन्यैः धातयेत् ।
घ्नन्तं वा अनुजानाति,
वेरं बर्धयति आत्मनः ॥

३. परिग्रही मनुष्य प्राणियों का स्वयं हनन करता है,' दूसरों से हनन कराता है अथवा हनन करने वाले का अनुमोदन करता है, वह अपने वैर को बढ़ाता है'—वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता ।

४. अस्मि कुले समुत्पण्णे
जेहि वा संबसे जरे ।
ममात्ती लुप्पती बाले
अण्णमण्णेहि मुच्छिअ ।४।

यस्मिन् कुले समुत्पन्नः,
यैर्वा संबसेत् नरः ।
ममत्ववान् लुप्यते बालः,
अन्योऽप्यं मृच्छितः ॥

४ जो मनुष्य जिस कुल में' उत्पन्न होता है और जिनके साथ संवास करता है वह उनमें ममत्व रखता है' तथा वे भी उसमें ममत्व रखते हैं । इस प्रकार परस्पर होने वाली मूर्खता से मृच्छित होकर' वह बाल (अज्ञानी) नष्ट होता रहता है'—वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता ।

५. वित्तं सोयरिया वेव
सज्जमेव न ताणइ ।
संघासि जीवितं वेव
कम्मणा अ तित्ठइ ।५।

वित्तं सौदर्याश्चैव,
सर्वमेतद् न ज्ञाणाय ।
संघासति जीवितं चैव,
कर्माणि तु त्रोटयति ॥

५. धन और भाई-बहिन'—ये सब प्राण नहीं दे सकते ।' जीवन मृत्यु की ओर दौड़ रहा है,' इस सत्य को जान लेने पर मनुष्य कर्म के बंधन को तोड़ डालता है ।'

६. एए नंवे विउत्तकम्म
एणे सवणमहाणा ।
अजानन्ता विउत्तिस्सत्ता
सत्ता कामेहि ज्ञानवा ।६।

एतान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य,
एके अमण - ब्राह्मणाः ।
अजानन्तः व्युच्छिन्ताः,
सत्ताः कामेषु मानवाः ॥

६. कुछ अमण-ब्राह्मण' इन उक्त ग्रन्थों' (परिग्रह और परिग्रह-हेतुओं) का परित्याग कर, विरति और अविरति के भेद को नहीं जानते हुए' गवं करते हैं ।' वे मननशील होने पर भी कामभोगों में आसक्त रहते हैं ।

७. संति पंच महाभूया
इहमेवेतिमाहिया ।
पृथ्वी आकाश तेज
वायु अस्मात्पंचमा । ७।

सन्ति पञ्च महाभूतानि,
इह एकेषां आहूतानि ।
पृथ्वी आपः तेजो,
वायुः आकाशपञ्चमानि ॥

७. कुछ दार्शनिकों" (भूतवाधियों) के मत में यह निरूपित है कि इस जगत् में पाँच महाभूत हैं"— पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश ।

८. एए पंच महाभूया
तेजो एगो ति आहिया ।
अह एति विनाशे उ
विनाशो होइ देहिणो । ८।

एतानि पञ्च महाभूतानि,
तेभ्यः एक इति अहूताः ।
अय एषां विनाशे तु,
विनाशो भवति देहिनः ॥

८. ये पाँच महाभूत हैं । इनके संयोग से" एक— आत्मा" उत्पन्न होता है । इन पाँच महाभूतों का विनाश होने पर" आत्मा (देही) का विनाश हो जाता है ।"१०

९. अहा य पृथ्वीभ्ये
एगे जाया हि दोसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए
विष्णु जाणा हि दोसए । ९।

यथा च पृथिवीस्तूपः,
एको नाना हि दृश्यते ।
एवं भो ! कृत्स्नो लोको,
विज्ञो नाना हि दृश्यते ॥

९. जैसे—एक ही पृथ्वी-स्तूप (मृत्-पिण्ड) नानारूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार समूचा लोक एक विज्ञ" (ज्ञानपिण्ड) है, वह नानारूपों में दिखाई देता है ।

१०. एवमेगे ति जंपंति
मंदा आरंभजिस्तिवा ।
एगे किच्चा सयं पापं
तिग्गं दुक्खं नियच्छइ । १०।

एवमेके इति जल्पन्ति,
मंदाः आरम्भनिश्चिताः ।
एकः कृत्वा स्वयं पापं,
तोत्रं दुःखं नियच्छति ॥

१०. क्रिया करने में अलस और हिंसा से प्रतिबद्ध" कुछ दार्शनिक उक्त सिद्धांत का निरूपण करते हैं । (यदि आत्मा एक है तो यह कैसे घटित होगा कि) अकेला व्यक्ति स्वयं पाप करता है और वही तीव्र" दुःख भोगता है ।"११

११. पत्थेयं कसिणे आया
जे बाला जे य पंडिया ।
संति पेक्खा ज ते संति
जत्थि सत्तोबवाइया । ११।

प्रत्येकं कृत्स्नः आत्मा,
ये बालाः ये च पंडिताः ।
सन्ति प्रेत्य न ते सन्ति,
न सन्ति सत्त्वाः ओपपातिकाः ॥

११. प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् अखंड" आत्मा है, इसीलिए कुछ अज्ञानी हैं और कुछ पंडित हैं । जो शरीर हैं वे ही आत्माएं हैं ।" वे आत्माएं परलोक में नहीं जाती ।" उनका पुनर्जन्म नहीं होता ।"

१२. जत्थि पुण्णे व पाप्मे वा
जत्थि लोए इआ परे ।
शरीरस्स विनाशेण
विनाशो होइ देहिणो । १२।

नास्ति पुण्यं वा पापं वा,
नास्ति लोकः इतः परः ।
शरीरस्य विनाशेन,
विनाशो भवति देहिनः ॥

१२. न पुण्य है, न पाप है और न इस लोक से चिन्न दूसरा कोई लोक है । शरीर का विनाश होने पर आत्मा (देही) का भी विनाश हो जाता है ।"१३

१३. कुव्वं च कारयं जेव
सव्वं कुव्वं ज विज्जइ ।
एवं अकारओ अप्पा
ते उ एवं प्रगल्भिता । १३।

कुर्वश्च कारयश्चेव,
सर्वं कुर्वन् न विद्यते ।
एव अकारकः आत्मा,
ते तु एव प्रगल्भिताः ॥

१३. आत्मा सब करता है, सब करवाता है, फिर भी वह (पुण्य-पाप का बंध) करने वाला नहीं होता, इसलिए वह अकर्त्ता है । अक्रियावादी इस सिद्धांत की स्थापना करते हैं ।

१४. जे ते उ बाइणो एवं
लोए तेसि कुओ सिमा ?
तमाओ ते तमं जंति
मंदा आरंभजिस्तिवा । १४।

ये ते तु वादिनः एव,
लोकः तेषां कुतः स्वात् ?
तमसः ते तमा भान्ति,
मंदाः आरम्भनिश्चिताः ॥

१४. जो दार्शनिक ऐसा कहते हैं उनके मतानुसार यह लोक" कैसे घटित होगा ? अक्रियावादी पुरुषार्थ करने में अलस और हिंसा से प्रतिबद्ध" होकर तम से घोर तम (अज्ञान से घोर अज्ञान) की ओर चले जाते हैं ।"१५

१५. संति पंच महाभूया
इहमेवेति आहिया ।
आयच्छा पुणेगाहु
आया लोगे य सासए । १५।

सन्ति पञ्च महाभूतानि,
इह मेकेषां आहूतानि ।
आत्मषष्ठाः पुनरेके आहुः,
आत्मा लोकश्च शाश्वतः ॥

१५. 'पाँच महाभूत हैं—' वह पंचमहाभूतवादी दार्शनिकों का ए अभिमत है । कुछ महाभूतवादी दार्शनिक पाँच महाभूत तथा आत्मा को छठा तत्त्व" मानते हैं । उनके मतानुसार आत्मा और लोक शाश्वत हैं ।"

१६. कुहो ते न विनश्यन्ति
नो न उत्पद्यते असन् ।
सर्वेषु सम्बन्धा भावा
नियतीभावमागता ॥१६॥

१७. पञ्च स्क्वेषे वयंतेगे
आसा उ अणजोहणो ।
अणो अणणो नेबाहु
हेउयं च अहेउय ॥१७॥

१८. पुढवी आऊ तेऊ य
तहा बाऊ य एगओ ।
चत्वारि धाउओ रुबं
एवमाहुंनु जाणता ॥१८॥

१९. अगारमावसन्ता वि
आरणा वा वि पव्वया ।
इमं दरिसणमावणा
सव्वदुक्खा विमुक्कन्ति ॥१९॥

२०. तेणाविमं तिण्णवा णं
ण ते धम्मविज्ज जणा ।
जे ते उ बाइणो एवं
ण ते ओहंतराऽऽहिया ॥२०॥

२१. तेणाविमं तिण्णवा णं
ण ते धम्मविज्ज जणा ।
जे ते उ बाइणो एवं
ण ते संसारपारगा ॥२१॥

२२. तेणाविमं तिण्णवा णं
ण ते धम्मविज्ज जणा ।
जे ते उ बाइणो एवं
ण ते गमस्स पारगा ॥२२॥

२३. तेणाविमं तिण्णवा णं
ण ते धम्मविज्ज जणा ।
जे ते उ बाइणो एवं
ण ते जम्मस्स पारगा ॥२३॥

ही तौ न विनश्यतः,
नो च उत्पद्यते असन् ।
सर्वेऽपि सर्वथा भावाः,
नियतिभावमागताः ॥

पञ्च स्कन्धान् वदन्ति एके,
बालास्तु अणयोगिनः ।
अन्यं अनन्यं नेबाहुः,
हेतुकं च अहेतुकम् ॥

पृथ्वी आपः तेजश्च,
तथा वायुश्च एककः ।
चत्वारि धातोः रूपाणि,
एवमाहुः ज्ञायकाः ॥

अगारमावसन्तोऽपि,
आरण्याः वाऽपि प्रव्रजिताः ।
इदं दर्शनमापन्नाः,
सर्वदुःखात् विमुच्यन्ते ॥

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः ।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते ओषंतराः आहृताः ॥

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः ।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते संसारपारगाः ॥

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः ।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते गमस्य पारगाः ॥

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः ।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते जन्मनः पारगाः ॥

१६. जब दोनों^{१६} (आत्मा और लोक) का बिनाश नहीं होता । असत् उत्पन्न नहीं होता । सभी पदार्थ सर्वथा निमित्तभाव को प्राप्त हैं, शाश्वत हैं ।^{१७}

१७. कुछ दार्शनिक (बौद्ध) पांच स्कन्धों (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार) का निरूपण करते हैं । वे स्कंध अणयोगी (अणिक) हैं । वे स्कंधों से अन्य या अनन्य आत्मा को नहीं मानते । वे स-हेतुक आत्मा को नहीं मानते ।

१८. धातुवादी बौद्ध यह मानते हैं कि पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु—इन चार धातुओं से शरीर निर्मित होता है ।^{१९}

१९. वे प्रवादी यह कहते हैं—गृहस्थ, आरप्यक^{२०} या प्रव्रजित^{२१} कोई भी हो, जो इस दर्शन में आ जाता है,^{२२} वह सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है ।^{२३}

२०. किसी दर्शन में आ जाने^{२४} तथा त्रिपिटक आदि ग्रंथों को जान लेने से^{२५} वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे दुःख के प्रवाह का तीर नहीं पा सकते ।^{२६}

२१. किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रंथों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे संसार के पार नहीं आ सकते ।

२२. किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रंथों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे गर्भ के पार नहीं आ सकते ।

२३. किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रंथों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे जन्म के पार नहीं आ सकते ।

२४. तेनाजिमं तिणञ्चा णं
न ते धम्मविदः जनाः ।
जे ते उ वाइणो एवं
न ते दुक्खस्स पारगाः ॥२४॥

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः ।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते दुःखस्य पारगाः ॥

२४. किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रंथों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे दुःख के पार नहीं आ सकते ।

२५. तेनाजिमं तिणञ्चा णं
न ते धम्मविदः जनाः ।
जे ते उ वाइणो एवं
न ते मारस्स पारगाः ॥२५॥

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः ।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते मारस्य पारगाः ॥

२५ किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रंथों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते । (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे मृत्यु के पार नहीं आ सकते ।

२६. आणाविहाइं दुक्खाइं
अणुहवंति पुणो पुणो ।
संसारचक्रवालमि
बाहिमच्चुजराकुले ॥२६॥

नानाविधानि दुःखानि,
अनुभवन्ति पुनः पुनः ।
संसारचक्रवाले,
व्याधिमृत्युजराकुले ॥

२६ वे व्याधि, मृत्यु और जरा से आकुल इस संसार-चक्रवाल में नाना प्रकार के दुःखों का बार-बार अनुभव करते हैं ।

२७. उच्चावधानि गच्छन्ता
गर्भमेस्संतणंतसो ।
णायपुत्ते महावीरे
एवमाह जिणोत्तमे ॥२७॥

उच्चावधानि गच्छन्तः,
गर्भमेष्यन्ति अनन्तशः ।
जातपुत्रः महावीरः,
एव आह जिनोत्तमः ॥

२७ वे उच्च और निम्न स्थानों में घ्रमण करते हुए अनन्त बार जन्म लेंगे—ऐसा जिनोत्तम जातपुत्र महावीर ने कहा है ।

—सिं बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

बीम्मा उद्देशो : दूसरा उद्देशक

२८. आघायं पुण एगेसि
उबवण्णा पुठो जिया ।
वेदयन्ति सुहं दुक्खं
अदुवा सुप्पति ठाणओ ॥२८॥

आख्यात पुनरेकेषां,
उपपन्नाः पृथग् जीवाः ।
वेदयन्ति सुखं दुःखं,
अथवा लुप्यन्ते स्थानतः ॥

२८. कुछ दार्शनिक (नियतिवादी) यह निरूपित करते हैं—जीव पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं, पृथक्-पृथक् सुख-दुःख का वेदन करते हैं और पृथक्-पृथक् ही अपने स्थान से च्युत होते हैं—मरते हैं ॥

२९. ण तं सयं कडं दुक्खं
ण य अण्णकडं च णं ।
सुहं वा अइ वा दुक्खं
सेहियं वा असेहियं ॥२९॥

न तद् स्वयं कृतं दुःखं,
न च अन्यकृतं च ।
सुखं वा यदि वा दुःखं,
सैद्धिकं वा असैद्धिकम् ॥

२९. वह दुःख स्वयंकृत नहीं होता, अन्यकृत भी नहीं होता । सैद्धिक—निर्वाण का सुख हो अथवा असैद्धिक—सांसारिक सुख-दुःख हो (वह सब नियतिकृत होता है ॥)

३०. ण सयं कडं ण अण्णेहि
वेदयन्ति पुठो जिया ।
संगइयं तं तथा तेसि
इहमेवेसिमाहियं ॥३०॥

न स्वयं कृतं न अन्ये,
वेदयन्ति पृथग् जीवाः ।
सागतिकं तत् तथा तेषां,
इह एकेषामाहृतम् ॥

३०. सभी जीव न स्वकृत सुख-दुःख का वेदन करते हैं और न अन्यकृत सुख-दुःख का वेदन करते हैं । वह सुख-दुःख उनके सागतिक—नियतिजनित होता है, ऐसा कुछ (नियतिवादी) मानते हैं ।

३१. एवमेयाणि जंपता
बाला पंडियमाणिणो ।
जिययाजिययं संतं
अयापंता अबुद्धिया ॥३१॥

एवमेतानि जल्पन्तो,
बालाः पंडितमानिनः ।
नियताऽनियतं सत्,
अजानन्तः अबुद्धिकाः ॥

३१. इस प्रकार नियतिवाद का प्रतिपादन करने वाले अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको पंडित मानते हैं । कुछ सुख-दुःख नियत होता है और कुछ अनियत—इस सत्य को वे अल्पबुद्धि वाले मनुष्य नहीं जानते ।

३२. एवमेवो उ पास्तत्वा
ते भूयो विप्रगल्भिताः ।
एवंयुक्त्वया संता
पस्तदुक्त्वयिनोयगा ॥५॥

३३. जविनो निगा जहा संता
परितानेन तज्जिता ।
असंकियाइ संकति
संकियाइ असंकिणो ॥६॥

३४. परितानियाणि संकंता
पासियाणि असंकिणो ।
अज्जानभयसंविग्गा
संपत्तिं तहि तहि ॥७॥

३५. अहं तं पवेज्ज वज्जं
अहे वज्जस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ
तं तु भंदो न वेहई ॥८॥

३६. अहियप्पाऽहियपण्णाणे
विसमंतेणुवागए ।
से बद्धे पयपासाइं
तत्थ धायं भियच्छइ ॥९॥

३७. एवं तु समणा एगे
मिच्छदिट्ठो अपारिया ।
असंकियाइ संकति
संकियाइ असंकिणो ॥१०॥

३८. धम्मपण्णवणा जा सा
तं तु संकति मूढगा ।
आरंभाइं न संकति
अवियत्ता अकोविया ॥११॥

३९. सव्वप्यगं विउक्कस्सं
सव्वं जूमं विह्वलिया ।
अप्यसियं अकम्मंसे
एयमट्ठं मिये जुए ॥१२॥

एवं एके तु पार्श्वस्थाः,
ते भूयो विप्रगल्भिताः ।
एवमपि उपस्थिताः सन्तः,
नात्मदुःखविमोक्षकाः ॥

जविनो मृगा यथा श्रान्ताः,
परितानेन तज्जिताः ।
असंकितानि शंकन्ते,
शंकितानि अशंकिनः ॥

परितानि शंकमानाः,
पाशितानि अशंकिनः ।
अज्ञानभयसंविग्नाः,
संप्रलीयन्ते तत्र तत्र ॥

अथ तत् प्लवेत वध्नं,
अधो वध्नस्य वा व्रजेत् ।
मुच्येत पदपाशात्,
तत् तु मन्दो न पश्यति ॥

अहितात्मा अहितप्रज्ञानः,
विषमान्तेन उपागतः ।
स बद्धः पदपाशान्,
तत्र घातं नियच्छति ॥

एवं तु श्रमणाः एके,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः ।
अशंकितानि शंकन्ते,
शंकितानि अशंकिनः ॥

धर्मप्रज्ञापना या सा,
तां तु शंकन्ते मूढकाः ।
आरम्भान् न शक्नुते,
अव्यक्ताः अकोविदाः ॥

सर्वात्मकं व्युत्कर्षं,
सर्वं 'जूमं' विधूय ।
अप्रीतिकं अकर्मणः,
एनमर्थं मृगः व्युतः ॥

३२. इस प्रकार कुछ पार्श्वस्थ (नियति का एकान्गी आग्रह रखने वाले नियतिवादी)^१ साधना-मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। यह उनकी दोहरी घृष्टता है। वे साधना-मार्ग में प्रवृत्त होने पर भी^२ अपने दुःखों का विमोक्षण नहीं कर सकते।

३३. जैसे बेगवादी मृग^३ मृगजाल से^४ भयभीत^५ और श्रान्त (विग्मूढ) होकर^६ अशंकनीय के प्रति शंका करते हैं और शंकनीय के प्रति अशंकित रहते हैं।

३४. वे बिछे हुए मृगजाल के प्रति शंकित होते हैं और पाशयंत्र के प्रति अशंकित होते हैं। वे अज्ञानबल भय से व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ते हैं।

३५. यदि वे छलांग भरते हुए पदपाश (कूटयंत्र) की बाध को^७ फांद जाएं अथवा उसके नीचे से निकल जाएं तो वे उस पदपाश से^८ मुक्त हो सकते हैं, किन्तु वे मंदमति उस उपाय को नहीं देख पाते।

३६. अपना हित नहीं समझने वाले और हित की बुद्धि से शून्य वे मृग विषमांत—संकरे द्वारा बाले^९ पाशयंत्र से जाते हैं और उस बंधन में बंध कर मृग्यु को प्राप्त होते हैं।

३७. इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्यों^{१०} श्रमण अशंकनीय के प्रति शंका करते हैं और शंकनीय के प्रति शंका नहीं करते।^{११}

३८. अव्यक्त^{१२}, अकोविद और मोहमूढ^{१३} श्रमण जो धर्म की प्रज्ञापना है उसके प्रति शंका करते हैं^{१४} और आरंभ (हिंसा) के प्रति शंका नहीं करते।

३९. पूर्ण लोभ, मान, माया और क्रोध^{१५} को नष्ट कर साधक अकर्मण (सिद्ध)^{१६} हो जाता है, किन्तु मृग की भांति अज्ञानी^{१७} नियतिवादी इस अर्थ (उपलब्धि) से व्युत हो जाता है—अकर्मण नहीं हो सकता।

१. 'प्रति' इति शेषः ।

२. 'प्रति' इति शेषः ।

३. 'प्राप्तः' इति शेषः ।

४. 'प्रति' इति शेषः ।

५. 'जूमं' (३०) भाषा इत्यर्थः ।

४०. जे एयं नाभिजानन्ति
मिच्छद्विदो अणारिषा ।
मिगा वा पासबद्धा ते
घायमेसंतऽणंतसो ॥१३॥

४१. माहणा समणा एगे
सब्बे णाणं सयं वए ।
सब्बलोके वि जे पाणा
ण ते जाणन्ति किञ्चन ॥१४॥

४२. मिलवल्हू अमिलवल्हूस्त
जहा वुत्ताणुभासए ।
ण हेउं से विपाणाइ
भासियं तऽणुभासए ॥१५॥

४३. एवमण्णाणिद्या णाणं
अयं वि सयं सयं ।
णिच्चयत्तं ण जाणन्ति
मिलवल्हू व्व अबोहिया ॥१६॥

४४. अण्णाणिद्याण चीमंसा
अण्णाणे ण नियच्छइ ।
अप्पणो य परं णालं
कतो अण्णाणुत्तासिउं ? ॥१७॥

४५. वणे मूढे जहा जंतु
मुढणेयाणुगामिए ।
दो वि एए अकोविद्या
तिव्वं सोयं नियच्छइ ॥१८॥

४६. अंधो अंधं पहं जेतो
दूरमद्धाण गच्छइ ।
आवज्जे उप्पहं जंतु
अदुवा पंथाणुगामिए ॥१९॥

४७. एवमेगे नियागाथिन्
धम्ममाराहगा वयं ।
अदुवा अहम्ममावज्जे
ण ते सब्बजुयं वए ॥२०॥

४८. एवमगे बियक्काहि
णो अण्णं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य बियक्काहि
अयमंजु हि दुम्मइ ॥२१॥

ये एनं नाभिजानन्ति,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः ।
मृगा इव पाशबद्धास्ते,
घातं एष्यन्ति अनन्तशः ॥

ब्राह्मणाः श्रमणा एके,
सर्वे ज्ञानं स्वकं वदेयुः ।
सर्वलोकेऽपि ये प्राणाः,
न ते जानन्ति किञ्चन ॥

म्लेच्छः अम्लेच्छस्य,
यथा उक्तं अनुभाषते ।
न हेतुं स विजानाति,
भाषितं तदनुभाषते ॥

एवं अज्ञानिका ज्ञान,
वदन्तोऽपि स्वकं स्वकम् ।
निश्चयार्थं न जानन्ति,
म्लेच्छ इव अबोधिका ॥

अज्ञानिकानां विमर्शः,
अज्ञाने न नियच्छति ।
आत्मनश्च परं ज्ञानं,
कुतः अन्यान् अनुशासितुम् ॥

वने मूढो यथा जन्तु,
मूढनेत्रनुगामिकः ।
द्वावपि एतौ अकोविदौ,
तीव्रं स्रोतो नियच्छतः ॥

अन्धो अन्धं पथं नयन्,
दूरमध्वानं गच्छति ।
आपद्यते उत्पथं जन्तुः,
अथवा पथानुगामिकः ॥

एवमेके नियागाथिनः,
धर्माराधकाः वयम् ।
अथवा अधर्ममापद्येरन्,
न तं सर्वजुं ब्रजेयुः ॥

एवमेके वितर्कः,
नो अन्यं पर्युपासीताः ।
आत्मनश्च वितर्कः,
अयं ऋजुहि दुर्मतयः ॥

४०. जो मिथ्यादृष्टि अनार्य इस (अकपौष होने के उभाव)
को नहीं जानते वे पाश से बद्ध मृग की भाँति अनन्त
बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

४१. कुछ ब्राह्मण और श्रमण—वे सब अपने-अपने
ज्ञान की सचाई को स्थापित करते हुए कहते हैं—
'समूचे लोक मे (हमारे मत से भिन्न) जो मनुष्य हैं
वे कुछ भी नहीं जानते ।

४२. जैसे म्लेच्छ अम्लेच्छ के कथन का दोहराता है,
उसके कथन के अभिप्राय को नहीं जानता, किन्तु
कथन का पुनः कथन कर देता है ।

४३. इसी प्रकार अज्ञानी (पूर्णज्ञान से शून्य) अपने-
अपने ज्ञान को प्रमाण मानते हुए भी निश्चय-अर्थ
(सत्य) को नहीं जानते, म्लेच्छ की भाँति अज्ञानी
होने के कारण उसका हार्द नहीं समझ पाते ।

४४. अज्ञानिकों का उक्त विमर्श अज्ञान के विषय में
निश्चय नहीं करा सकता । (सदिग्ध मतिवाले)
अज्ञानवादी अपने आपको भी जब अज्ञानवाद का
अनुशासन नहीं दे सकते तब दूसरों को उसका
अनुशासन कैसे दे सकते हैं ?

४५. जैसे वन में दिग्मूढ बना हुआ मनुष्य दिग्मूढ नेता
(पथ-दर्शक) का अनुगमन करता है तो वे दोनों
मार्ग को नहीं जानते हुए घोर जंगल में चले
जाते हैं ।

४६. जैसे एक अंधा दूसरे अंधे को मार्ग में ले जाता हुआ
(जहाँ पहुँचना है वहाँ से) दूर मार्ग में चला जाता
है अथवा उलटपट्ट में चला जाता है अथवा किसी
दूसरे मार्ग में चला जाता है ।

४७. इसी प्रकार कुछ मोक्षार्थी कहते हैं—'हम धर्म के
आराधक हैं ।' किन्तु (वे धर्म के लिए प्रयत्नित
होकर भी) अधर्म के मार्ग पर चलते हैं । वे सबसे
सीधे मार्ग (संप्रम) पर नहीं चलते ।

४८. कुछ अज्ञानवादी अपने वितर्कों के गर्व से किसी
दूसरे (विशिष्ट ज्ञानी) की पर्युपासना नहीं करते ।
वे अपने वितर्कों के द्वारा यह कहते हैं कि हमारा
यह मार्ग ही ऋजु है, शेष सब दुर्मति हैं—उत्पथ-
गामी हैं ।

४६. एवं तवकाए साहेता
अम्माधम्मो अकोविदा ।
दुक्खं ते नातिवट्ठंति
सङ्गो पञ्जरं जहा । २२।

एवं तर्केण साधयन्तः,
धर्मधर्मे अकोविदाः ।
दुःखं ते नातिवर्तन्ते,
शकुनिः पञ्जरं भञ्जितः ॥

४६. वे तर्क से (अपने मत को) सिद्ध करते हैं, पर धर्म और अवर्म को नहीं जानते । जैसे पक्षी पिंजरे से अपने आपको मुक्त नहीं कर सकता, वैसे ही वे दुःख से मुक्त नहीं हो सकते ।

५०. सयं सयं पसंसता
वरहंता परं वचं ।
जे उ तस्स विउत्संति
संसारं ते विउत्सिया । २३।

स्वकं स्वकं प्रशंसन्तः,
गर्हमाणाः परं वचः ।
ये तु तत्र व्युच्छ्रियन्ति,
संसारं ते व्युच्छ्रिताः ॥

५०. अपने अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निंदा करते हुए जो गर्व से उछलते हैं वे संसार (जन्म-मरण की परंपरा) को बढ़ाते हैं ।

५१. अहावरं पुरक्खायं
किरियावाइदरिसणं ।
कम्मचित्तापणट्ठाणं
दुक्खसंघविबट्ठणं । २४।

अथापरं पुराख्यातं,
क्रियावाददर्शनम् ।
कर्मचित्ताप्रणष्टानां,
दुःखस्कन्धविवर्धनम् ॥

५१. अज्ञानवादी दर्शन के बाद क्रियावादी दर्शन का निरूपण किया जा रहा है जो प्राचीन काल से निरूपित है । बौद्धों का कर्म-विषयक चिन्तन सम्यक्-दृष्ट नहीं है । इसलिए वह दुःख-स्कन्ध को बढ़ाने वाला है ।

५२. जाणं काएणऽणाउट्ठी
अबुहो जं च हिंसइ ।
पुट्ठी वेदेइ परं
अवियत्तं ज्ञु सावय्जं । २५।

जानन् कायेन अनाकुट्टी,
अबुधः यं च हिनस्ति ।
स्पृष्टो वेदयति परं,
अव्यक्तं खलु सावयम् ॥

५२. जो जीव को जानता हुआ (संकल्पपूर्वक) काया से उसे नहीं मारता अथवा अबुध हिंसा करता है—अन-जान में किसी को मारता है, उसके अव्यक्त (सूक्ष्म) सावय (कर्म) स्पृष्ट होता है । उसी क्षण उसका वेदन हो जाता है—वह क्षीण होकर पृथग् हो जाता है ।

५३. संतिमे तओ आयाणा
जेहि कीरइ पावणं ।
अभिकम्मो य पेसा य
मनसा अनुजाणिया । २६।

सन्ति इमानि त्रीणि
आदानानि,
यैः क्रियते पापकम् ।
अभिक्रम्य च प्रेष्य च,
मनसा अनुजाय ॥

५३. ये तीन आदान—मार्ग हैं जिनके द्वारा कर्म का उप-चय होता है—
१. अभिक्रम्य—स्वयं जाकर प्राणी की घात करना ।
२. प्रेष्य—दूसरे को भेजकर प्राणी की घात कर-वाना ।
३. प्राणी की घात करने वाले का अनुमोदन करना ।

५४. एए उ तओ आयाणा
जेहि कीरइ पावणं ।
एवं भावविसोहोए
निष्खाणमभिगच्छइ । २७।

एतानि तु त्रीणि
आदानानि,
यैः क्रियते पापकम् ।
एवं भावविशोद्या,
निर्वाणमभिगच्छति ॥

५४. ये तीन आदान हैं जिनके द्वारा कर्म का उपचय होता है । जो इन तीन आदानों का सेवन नहीं करता वह भावविशुद्धि (राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति) के द्वारा निर्वाण को प्राप्त होता है ।

५५. पुसं पि ता समारंभ
आहारदुट्ठं असंखए ।
भुज्जमाणो वि सङ्गाणो
कम्बुणा ओवलिप्यते । २८।

पुत्रमपि तावत् समारम्भ,
आहारार्थमसंयतः ।
भुज्जमानोऽपि मेघावी,
कर्मणा नोपलिप्यते ॥

५५. असंयमी गृहस्थ भिक्षु के भोजन के लिए पुत्र (सूअर या बकरे) को मार कर मांस पकाता है, मेघावी भिक्षु उसे खाता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता ।

५६. मनसा जे पडस्संति
चित्तं तेति न विज्झह ।
अणवणं अतहं तेति
न ते संवृत्तचारिणो । २६।

मनसा ये प्रदुष्यन्ति,
चित्तं तेषां न विद्यते ।
अनवद्यं अतथ्यं तेषां,
न ते संवृतचारिणः ॥

५६. जो मन से प्रद्वेष करते हैं—निर्घृण होते हैं उनके कुमल-चित्त नहीं होता ।^{१००} (केवल काम-व्यापार से) कर्मोपचय नहीं होता—यह उनका सिद्धांत तथ्यपूर्ण नहीं है । उक्त सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले संवृतचारी नहीं होते—कर्म-बंध के हेतुओं में प्रवृत्त रहते हैं ।

५७. इच्छेयाहिं विट्ठीहिं
सायागारवजिस्सया ।
सरणं ति मज्जमाणा
सेवन्ती पापणं जणा । ३०।

इत्येताभिः दृष्टिभिः,
सातागौरवनिश्रिताः ।
शरणं इति मन्यमानाः,
सेवन्ते पापकं जनाः ॥

५७. इन दृष्टियों को स्वीकार कर^{१०१} वे बाढ़ी सारिरीक सुख में आसक्त हो जाते हैं । वे अपने मत की शरण मानते हुए सामान्य व्यक्ति की भांति पाप का सेवन करते हैं ।

५८. जहा आसाविणि जावं
जाइअंघो बुकहिया ।
इच्छई पारमागतं
अंतराले विसीयई । ३१।

यथा आसाविणीं नावं,
जात्यन्धः आरुह्य ।
इच्छति पारमागन्तुं,
अंतराले विषीदति ॥

५८. जैसे जन्मान्ध मनुष्य सन्धिद्व तौका^{१०२} में बैठकर समुद्र का पार पाना चाहता है, (किन्तु उसका पार नहीं पाता), वह बीच में ही डूब जाता है ।

५९. एवं तु समणा एगे
मिच्छविट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंसी ते
संसारं अणुपरियट्ठंति । ३२।
—ति वेमि ॥

एवं तु श्रमणाः एके,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः ।
संसारपारकांक्षिणस्ते,
संसारं अनुपर्यटन्ति ॥
—इति ब्रवीमि ॥

५९. इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनायं श्रमण संसार का पार पाना चाहते हैं, (किन्तु उसका पार नहीं पाते), वे बार-बार संसार में श्रमण करते हैं ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

तइमो उद्देशो : तीसरा उद्देशक

६०. अं किञ्चि वि पूइकडं
सङ्गी आगंतु ईहियं ।
सहस्संतरियं भुजे
दुपक्कं चैव सेवई । १।

यत् किञ्चिदपि पूतिकृतं,
श्रद्धिना आगंतुकान् ईहितम् ।
सहस्रान्तरितं भुञ्जीत,
द्विपक्षं चैव सेवते ॥

६०. श्रद्धालु गृहस्थ^{१०३} ने आगन्तुक भिक्षुओं के लिए कुछ भोजन निष्पादित किया । उस (आधाकर्म) भोजन से दूसरा भोजन मिश्रित हो गया । वह पूतिकर्म^{१०४} (आधाकर्म से मिश्रित) भोजन यदि भिक्षु हजार घरों के अंतरित हो जाने पर भी लेता है, खाता है, फिर भी वह द्विपक्ष का सेवन करता है—^{१०५} प्रवृजित होने पर भी भोजन के निमित्त गृहस्थ जैसा आचरण करता है ।

६१. तमेव अवियाणंता
विसमंति अकोविद्या ।
मच्छा वेसालिया चैव
उदगस्सऽभिपागमे । २।

तमेव अविजानन्तः,
विषमे अकोविदाः ।
मत्स्याः वैशालिकाश्चैव,
उदकस्याभ्यागमे ॥

६१. वे पूतिकर्म के सेवन से उत्पन्न दोष को नहीं जानते । वे कर्मबंध के प्रकारों^{१०६} को भी नहीं जानते ।^{१०७} जिस प्रकार समुद्र में रहने वाले विशालकाय मत्स्य^{१०८} ज्वार के साथ नदी के मुहाने पर आते हैं ।

६२. उदगस्स प्पभावेणं
सुक्कम्मि घातमंति उ ।
ठंकेहि य कंकेहि य
आमिसत्थेहि ते इही । ३।

उदकस्याल्पभावेन,
शुष्के घातं यन्ति तु ।
ध्वांक्षैश्च कंकैश्च,
आमिषाणिभिस्ते दुःखिनः ॥

६२. (ज्वार के लौट जाने पर) पानी कम हो जाता है^{१०९} और नदी की बालू सूख जाती है^{११०} तब मांसार्थी^{१११} ठंका और कंक पक्षियों के द्वारा^{११२} नोचने जाने पर वे मत्स्य दुःख का अनुभव करते हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।^{११३}

६३. एवं तु सप्तमा एगे
बहुभाषसुहेसिणो ।
मच्छा वेसासिधा वेव
बाववेसंतनंतसो ॥४॥

६४. इक्षमण्यं तु अज्जानं
इहमेगेसिमाहिणं ।
वेवउत्ते अयं लोए
मंभउत्ते सि आवरे ॥५॥

६५. ईसरेण कडे लोए
पह्माणाह तहावरे ।
जीवाजीवसमायुक्तो
सुखदुःखसमन्विते ॥६॥

६६. स्वयंभुवा कडे लोए
इति कुतं महसिणा ।
मारेण संयुया माया
तेज लोए असासए ॥७॥

६७. माहणा सप्तमा एगे
आह अंडकडे अगे ।
असो तत्त्वमकासी य
अयानंता नुसं वए ॥८॥

६८. सएहि परियाएहि
लोणं ब्रूया कडे ति य ।
तत्त्वं ते न विजानंति
नायं नासीत् कदाचिदपि ॥९॥

६९. अमनुजसमुत्पादं
दुःखमेव विजानीया ।
समुत्पादमजानन्ता
किं भाहिति संवरं ? ॥१०॥

७०. शुद्धे अपापए माया
इहमेगेसिमाहिणं ।
पुनो कीडापदोसेवं
से तत्त्व अवरेण्णह ॥११॥

७१. इह संवृते बुची जाए
पञ्चा होइ अपापए ।
विषयं व जहा भुज्जो
वीर्यं सरयं सहा ॥१२॥

एवं तु श्रमणाः एके,
वर्तमानसुखैषिणः ।
मत्स्या वैशालिका इव,
पातमेष्यन्ति अनन्ताः ॥

इदं अन्यत् तु अज्जानं,
इह एकेषां आहृतम् ।
देवोप्तः अयं लोकः,
ब्रह्मोप्तः इति चापरे ॥

ईश्वरेण कृतो लोकः,
प्रधानादिना तथा अपरे ।
जीवाजीवसमायुक्तः,
सुखदुःखसमन्वितः ॥

स्वयंभुवा कृतो लोकः,
इति उक्तं महर्षिणा ।
मारेण संस्तृता माया,
तेन लोकः अशाश्वतः ॥

आहणाः श्रमणाः एके,
आहुः अंडकृतं जगत् ।
असौ तत्त्वमकार्षीञ्च,
अजानन्तः मृषा वदन्ति ॥

स्वर्कः पर्यायेः,
लोकं ब्रूयात् कृत इति च ।
तत्त्वं ते न विजानन्ति,
नायं नासीत् कदाचिदपि ॥

अमनोज्ञसमुत्पादं,
दुःखं एव विजानीयात् ।
समुत्पादं अजानन्तः,
कथं ज्ञास्यन्ति संवरम् ॥

शुद्धः अपापकः आत्मा,
इह एकेषां आहृतम् ।
पुनः क्रीडाप्रदोषेण,
स तत्र अपराधयति ॥

इह संवृतः मुनिर्जातः,
पश्चाद् भवति अपापकः ।
विकटं इव यथा भूयो,
नीरजस्कं सरजस्कं तथा ॥

६३. इसी प्रकार वर्तमान सुख की एवणा करने वाले
कुछ श्रमण^{१११} इन विशालकाय मत्स्यों की भांति
अनन्त बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।^{११२}

६४. यह एक अज्ञान है । कुछ प्राणियों द्वारा यह निरूपित है कि यह लोक देव द्वारा उत्पन्न है (देव द्वारा इसका बीज-बपन किया हुआ है) ।^{११३} कुछ कहते हैं—यह लोक ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न है (ब्रह्मा द्वारा इसका बीज-बपन किया हुआ है) ।^{११४}

६५. कुछ कहते हैं—जीव-अजीव से युक्त तथा सुख-दुःख से समन्वित यह लोक ईश्वर द्वारा कृत है और कुछ कहते हैं—यह प्रधान (प्रकृति) द्वारा कृत है ।^{११५}

६६. स्वयंभू ने इस लोक को बनाया^{११६}—यह महर्षि ने कहा है । उस स्वयंभू ने मृत्यु से युक्त माया की रचना की,^{११७} इसलिए यह लोक अशाश्वत है ।

६७. कुछ ब्राह्मण और श्रमण कहते हैं कि यह जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है ।^{११८} उस ब्रह्मा ने सब तत्त्वों की रचना की है । जो इसे नहीं जानते वे मिथ्यावादी हैं ।

६८. अपने पर्यायों से लोक कृत है—ऐसा कहना चाहिए । (लोक किसी कर्ता की कृति है ऐसा मानने वाले) तत्त्व को नहीं जानते । लोक कभी नहीं था—ऐसा नहीं है ।^{११९}

६९. दुःख असंयम की उत्पत्ति है—यह ज्ञातव्य है । जो दुःख की उत्पत्ति को नहीं जानते वे संवर (दुःख-निरोध) को कैसे जानेंगे ?^{१२०}

७०. कुछ बादियों ने यह निरूपित किया है—आत्मा शुद्ध होकर अपापक—कर्म-मल रहित या मुक्त हो जाता है । वह फिर क्रीडा और प्रदोष (राग-द्वेष) से युक्त होकर मोक्ष में भी कर्म से बंध जाता है । (फलतः अनन्तकाल के बाद फिर अवतार लेता है ।)

७१. मनुष्य जीवनकाल में संवृत मुनि होकर अपाप (कर्म-मल से रहित) होता है । फिर जैसे पानी स्वच्छ होकर पुनः मलिन हो जाता है, वैसे ही यह आत्मा निर्मल होकर पुनः मलिन हो जाता है ।^{१२१}

७२. एयाणुवीड मेधावी
अंभवेरं ण तं वसे ।
पुढो पावाउया सव्वे
अवखायारो सयं सयं ॥१३

७३. सए सए उवट्ठाने
सिद्धिमेव ण अण्णहा ।
अधो वि होति वसवत्ती
सव्वकामसमप्पिए ॥१४

७४. सिद्धा य ते अरोगा य
इहमेगेसि आहियं ।
सिद्धिमेव पुरोकाउं
सासए गडिया जरा ॥१५

७५. असंवुद्धा अणावीयं
अभिहिंति पुणो-पुणो ।
कल्पकालमुवज्जंति
ठाणा आसुरकित्थिसिय ॥१६ स्थानानि आसुरकित्थिकानि ॥

—सि बेनि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

७६. एते जिया भो ! ण सरणं
बाला पंडियमाणिणो ।
हित्वा णं पुव्वसंजोगं
सितकिच्चोवएसगा ॥१

एते जिता भो ! न शरणं,
बालाः पंडितमानिनः ।
हित्वा पूर्वसंयोगं,
सितकृत्योपदेशकाः ॥

७६. हे शिष्य ! विषय और कषाय से पराजित वे प्रावादुक^{११} शरण नहीं हो सकते । वे अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको पंडित मानते हैं । वे पूर्व संयोगों (स्वजन, धन आदि) को छोड़कर पुनः गृहस्थोचित कार्यों का उपदेश देते हैं ।^{१२}

७७. तं च भिक्षू परिज्जाय
विज्जं तेसु ण मुच्छए ।
अणुक्कस्से अणवत्तीणे
मज्जेण मुणि जावए ॥२

तं च भिक्षुः परिज्जाय,
विद्वान् तेषु न मूर्च्छेत् ।
अनुत्कर्षः अनपत्नीनः,
मध्येन मुनिः यापयेत् ॥

७७. विद्वान् भिक्षु उनके मतवादों को जानकर उनमें मूर्च्छित न बने । वह मुनि अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष न दिलाए । इन दोनों से बचकर मध्य-मार्ग (तटस्थ भाव) से जीवन यापन करे ।^{१३}

७८. सपरिग्गहा य सारंभा
इहमेगेसिमाहियं ।
अपरिग्गहे अणारंभे
भिक्षु जाणं परिज्जेत् ॥३

सपरिग्रहाश्च सारम्भाः,
इह एकेषां आहृतम् ।
अपरिग्रहः अनारम्भः,
भिक्षाः जानन् परिज्जेत् ॥

७८. कुछ दर्शनों में यह व्याख्यात है कि परिग्रही^{१४} और आरम्भ (पचन-पाचन आदि) करने वाले भी मुनि हो सकते हैं । किन्तु ज्ञानी^{१५} भिक्षु अपरिग्रह और अनारंभ के पथ पर चले ।

७६. कष्टे सु घासमेसेज्जा
विद्ध वसेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्यमुक्को य
ओमाणं परिवर्ज्जए ॥४॥

कृतेषु घासमेषयेत्,
विद्वान् दत्तेषणां चरेत् ।
अगूढः विप्रमुक्तश्च,
अवमानं परिवर्जयेत् ॥

७६. विद्वान् भिक्षु गृहस्थों द्वारा अपने लिए कृत^{११४} आहार की एषणा (याचना) करे और प्रदत्त आहार का धोवन करे ।^{११५} वह आहार में अनासक्त^{११६} और अप्रतिबद्ध होकर अवमान संलब्धी^{११७} (विशेष प्रकार के भोज) में न जाए ।

८०. सोमवायं विसामेज्जा
इहमेगेसिमाहियं ।
विपरीयपण्णसंभूयं
अण्णबुत्त-तयाणुगं ॥५॥

लोकबाधं निशाम्येत्,
इह एकेषां आहृतम् ।
विपरीतप्रशासम्भूतं,
अन्योक्त-तदनुगम् ॥

८०. कुछ वादियों द्वारा निरूपित लोकबाध को^{११८} सुनी, जो विपरीत प्रज्ञा से उत्पन्न है और जो दूसरे की कही हुई बात का अनुगमन मात्र है ।^{११९}

८१. अण्ते णितिए लोए
सासए ण विणस्सई ।
अंतव णितिए लोए
इह धीरोऽतिपासई ॥६॥

अनन्तो नित्यो लोकः,
शाश्वतः न विनश्यति ।
अन्तवान् नित्यो लोकः,
इति धीरोऽतिपश्यति ॥

८१. कुछ मानते हैं कि लोक नित्य, शाश्वत और अविनाशी है, इसलिए अनन्त है । किन्तु धीर पुरुष देखता है कि लोक नित्य होने पर भी सान्त है ।

८२. अपरिमाणं विजाणाह
इहमेगेसि आहियं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं
इह धीरोऽतिपासई ॥७॥

अपरिमाणं विजानाति,
इह एकेषां आहृतम् ।
सर्वत्र सपरिमाणं,
इति धीरोऽतिपश्यति ॥

८२. ज्ञात हो रहा है कि लोक अपरिमित है, वह कुछ धार्मिकों द्वारा आख्यात है, किन्तु धीर पुरुष सर्वत्र (सब अवस्थाओं में) उसे परिमित देखता है ।^{१२०}

८३. जे केह तसा पाणा
चिद्धंत्तुव थावरा ।
परियाए अत्थि से अंजु
जेण ते तसथावरा ॥८॥

ये केचित् त्रसाः प्राणाः,
तिष्ठन्ति अथवा स्थावराः ।
पर्यायः अस्ति स ऋजुः,
येन ते त्रसस्थावराः ॥

८३. इस लोक में कुछ प्राणी त्रस हैं और कुछ स्थावर हैं । यह उनका व्यक्त पर्याय है । (अपने-अपने व्यक्त पर्याय के कारण) कुछ त्रस होते हैं और कुछ स्थावर होते हैं ।^{१२१}

८४. उरालं जगतो जोगं
विक्कजासं पल्लेति य ।
सव्वे अकंतदुक्खा य
अओ सव्वे अहिंसगा ॥९॥

उदारं जगतः योगं,
विपर्यासं परायन्ति च ।
सर्वे अकान्तदुःखाश्च,
अतः सर्वे अहिंसकाः ॥

८४. जगत् में घटित होने वाली विभिन्न अवस्थाएं हमारे सामने हैं । दूसरी विपरीत अवस्था के आने पर पहली अवस्था प्रलीन हो जाती है । कोई भी जीव दुःख नहीं चाहता,^{१२२} इसलिए सभी जीव अहिंस्य हैं—हिंसा करने योग्य नहीं हैं ।^{१२३}

८५. एयं खु णाणिणो सारं
जं ण हिंसइ कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव
एयावंतं विजाणिया ॥१०॥

एतत् खलु ज्ञानिनः सारं,
यत् न हिनस्ति कञ्चनम् ।
अहिंसा समतां चैव,
एतावत् विजानीयात् ॥

८५. ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता । समता अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है ।^{१२४}

८६. बुसिते विगयगिद्धी य
आयाणं सारक्खए ।
अरियासणसेज्जासु
भत्तपाणे य अंतसो ॥११॥

व्युषितः विगतगृद्धिश्च,
आत्मानं संरक्षेत् ।
चर्यासनशय्यासु,
भक्तपाने च अन्तश्च ॥

८६. संयमी धर्म में स्थित रहे,^{१२५} किसी भी इन्द्रिय-विषय में आसक्त न बने,^{१२६} आत्मा का संरक्षण करे^{१२७} और जीवन-पर्यन्त चर्या, आसन, शय्या और भक्तपान के विषय में होने वाले असंयम से अपने आपको बचाए ।

सूयगडो १

१८

अ० १ : समय : इलो० ८७-८८

८७. एतेहि तिहि ठाणेहि
संजए सययं मुणी ।
उक्कसं जलणं णूम-
मउभूत्थं च विगिणए । १२।

एतेषु त्रिषु स्थानेषु,
संयतः सततं मुनिः ।
उत्कर्षं ज्वलनं 'णूम',
अध्यस्तं च विवेचयेत् ॥

८७. मुनि इन तीन स्थानों—ईर्ष्या समिति, आसन-शयन और भक्त-पान में सतत संयत रहे । वह मान, क्रोध, माया^{१८} और लोभ^{१९} का विवेक करे—उन्हें आत्मा से पृथक् करे ।

८८. समिए तु सया साहू
पच्चसंवरसंबुडे ।
सितेहि असिते भिक्षू
आमोक्खाए परिक्खएवजासि । १३।

समितस्तु सदा साधुः,
पञ्चसवरसंवृतः ।
सितेषु असितः भिक्षुः,
आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥

८८. पांच समितियों से सदा समित, पांच संवरों से संवृत भिक्षु^{२०} (नाना प्रकार की आसक्तियों और मतवादों से) बंधे हुए लोगो के बीच में^{२१} अप्रतिबद्ध रहता हुआ अंतिम क्षण तक मोक्ष के लिए परिव्रजन करे ।

—सि बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्यायन १

श्लोक १ :

१. बोधि को प्राप्त.....तोड़ डालो (बुद्धेज्ज तिउट्टेज्जा)

‘आचारः प्रथमो धर्मः’—यह आचार-शास्त्र का प्रसिद्ध सूत्र है, किन्तु इस सूत्र में आचार का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि का प्रतिपादन नहीं है। भगवान् महावीर के आचार-शास्त्र का सूत्र है—‘ज्ञानं प्रथमो धर्मः’। पहले ज्ञान फिर आचार। ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नहीं हो सकता और अनुपालन भी नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक करता है तथा अनाचार को छोड़ आचार का अनुपालन करता है। ‘बुद्धेज्ज तिउट्टेज्जा’—इस श्लोकांश में यही सत्य प्रतिपादित हुआ है। पहले बंधन को जानो फिर उसे तोड़ो। बंधन क्या है? उसके हेतु क्या हैं? उसे तोड़ने के उपाय क्या हैं? इन सबको जानने पर ही उसे तोड़ा जा सकता है। यह दृष्टि न केवल ज्ञानवाद है और न केवल आचारवाद है। यह दोनों का समन्वय है।

चूर्णिकार ने बुद्धेज्ज, उवलभेज्ज, भिदेज्ज, जहेज्ज और आगमेज्ज—इन सबको ज्ञानार्थक धातु माना है।^१ बोधि, उपलब्धि, भेद या विवेक, प्रहाण और आगम—ये सब ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

२. तोड़ डालो (तिउट्टेज्जा)

इसका अर्थ है—तोड़ना। त्रोटन दो प्रकार का होता है—द्रव्य-त्रोटन और भाव-त्रोटन। द्रव्य-त्रोटन—अर्थात् किसी भी पौद्गलिक पदार्थ का टूटना। भाव-त्रोटन के तीन साधन हैं—ज्ञान, दर्शन और चरित्र। इन तीन साधनों से अज्ञान, अविरति और मिथ्यादर्शन को तोड़ना भाव-त्रोटन है। प्रमाद, राग-द्वेष, मोह आदि को तोड़ना तथा आठ प्रकार के कर्मों के बंधन को तोड़ना भी भाव-त्रोटन है।^२

३. महावीर ने (धीरे)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—तीर्थंकर किया है।^३

चूर्णिकार ने इस शब्द के स्थान पर ‘धीरे’ शब्द मानकर उसका अर्थ—बुद्धि आदि गुणों को धारण करने वाला किया है।^४

४. बंधन किसे.....तोड़ा जा सकता है? (किमाह बंधनं.....आणं तिउट्टह ?)

जंबू ने आर्य सुधर्मा से पूछा—भगवान् महावीर की वाणी में बंधन क्या है और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है? इन दो प्रश्नों के उत्तर में आर्य सुधर्मा ने कहा—परिग्रह बंधन है, हिंसा बंधन है।^५ बंधन का हेतु है—ममत्त्व।^६ बंधन-मुक्ति के उपाय हैं—

१. वसवेआलियं, ४ श्लोक १० : पडमं आणं तओ वया।

२. चूर्णि, पृष्ठ ११ : बुद्धेज्ज वा उवलभेज्ज वा भिदेज्ज वा। एवमग्येऽपि ज्ञानार्था धातवो वस्तव्याः, तद् यथा—जहेज्ज वा आगमेज्ज वा।

३. चूर्णि, पृष्ठ २१ : तिउट्टेज्ज त्रोटेज्ज। सा बुविधा—द्रव्यत्रोटणा य भावत्रोटणा य। दब्बे वेसे सब्बे य। वेसे एगतंतुणा एगपुजेण वा छिण्णेण वोरो त्रुटो बुद्धकति, सव्वेण वि त्रुटो त्रुटो खेव भण्णति। भावतोद्धटना भावेनेव भावो त्रोटेतब्बो, आण-बंसण-वरिस्ताणि अत्रोटयिस्ता तेहि खेव करणभूतेहि अण्णाण-अविरति-मिच्छावरिस्ताणि त्रोटितब्बाणि, जघुहिट्ठा वा पमाताविबंधहेतु त्रोटेज्ज, बंधं च अट्ठ कम्मणिमल्लानि त्रोटेज्ज।

४. वृत्ति, पत्र १३ : धीरः तीर्थंकृत्।

५. चूर्णि, पृष्ठ २१ : धीरो इति बुद्ध्यादीन् गुणान् वधातीति धीरः।

६. सूयगढो १।१।२, ३।

७. वही, १।१।४।

(१) धन और परिवार में अत्राण-दर्शन और (२) जीवन का मृत्यु की दिशा में संघावन ।^१

व्यवहार के घरातल पर मनुष्य का पुरुषार्थ दुःख की निवृत्ति और सुख की उपलब्धि के लिए होता है। अध्यात्म के घरातल पर मनुष्य बंधन की निवृत्ति और मोक्ष की उपलब्धि के लिए पुरुषार्थ करता है। बंधन दुःख है और मोक्ष सुख है। अतः दुःख और सुख ही अध्यात्म की भाषा में बंध और मोक्ष—इन शब्दों द्वारा प्रतिपादित हुए हैं।

श्लोक २ :

५. श्लोक २ :

कर्म-बंध के मुख्य हेतु दो हैं—आरंभ और परिग्रह। राग-द्वेष, मोह आदि भी कर्म-बंध के हेतु हैं किन्तु वे भी आरंभ और परिग्रह के बिना नहीं होते। अतः मुख्यतः इन दो हेतुओं—आरंभ और परिग्रह का ही ग्रहण किया गया है। इन दोनों में भी परिग्रह गुरुतर कारण है। परिग्रह के लिए ही आरंभ किया जाता है। अतः सबसे पहले सूत्रकार प्रस्तुत श्लोक में परिग्रह का निर्देश करते हैं। प्राणातिपात आदि पांच आस्रवों में भी परिग्रह गुरुतर माना गया है, अतः उसका उल्लेख पहले हुआ है—यह चूर्णिकार का अभिमत है।^१

वृत्तिकार का अभिमत है कि सभी प्रकार के आरंभ कर्मों के उपादान कारण हैं। ये आरंभ प्रायशः 'मैं' और 'मेरा' इससे उद्भूत होते हैं। 'मैं' और 'मेरा' परिग्रह का द्योतक है। अतः प्रस्तुत श्लोक में सबसे पहले परिग्रह का निर्देश किया गया है।^२

चूर्ण और वृत्ति के अनुसार परिग्रह बंध का हेतु है—यह प्रमाणित होता है। यदि परिग्रह को बंध का हेतु न माना जाए तो 'किमाह बंधणं वीरे'—इस प्रश्न का उत्तर मूल पाठ में उपलब्ध नहीं होता। परिग्रह बंधन है—यह स्वीकार करने पर ही उस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत श्लोक में मिल जाता है।

६. चेतन (चित्तमंत)

चित्त के अनेक अर्थ हैं—जीव, चेतना^३, उपयोग, ज्ञान^४। चित्तवत् का अर्थ है—जीव के लक्षणों से युक्त, चेतनावान् अथवा ज्ञानवान्। विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं पृ० १२४, १२५।

७. तनिक भी (किसामवि)

कृश, तनु और तुच्छ—ये एकार्यक शब्द हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसे परिग्रह का विशेषण मानकर इसका अर्थ—तृणतुषमात्र परिग्रह किया है।^५ हमने इसको ममत्व या परिग्रह-बुद्धि के साथ जोड़कर इसका अर्थ—तनिक भी—किया है। प्रस्तुत शब्द 'किसा' में आकार अलाक्षणिक है। वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में 'कस' का अर्थ—परिग्रह ग्रहण करने की बुद्धि से जीव का गमन-परिणाम—किया है।^६ चूर्णिकार ने 'किमा' का अर्थ इच्छामात्र या प्रार्थना या कषाय किया है। वैभव न होने पर भी कषाय की बुद्धि से ग्रहण किए जाने वाले वस्त्र-पात्र भी परिग्रह बन जाते हैं—यह उनका अभिमत है।^७

१. सूयगडो, १।१।५ : चित्तं सोयरिया चेव, सम्बन्धेयं न ताणह ।

संघाति जीवित चेव, कम्मणा उ त्तिउट्टइ ॥

२. चूर्ण, पृष्ठ २१, २२ : उक्तं हि—“आरम्भ—परिग्रहो बन्धहेतु” [] येऽपि च रागादयः तेऽपि नाऽऽरम्भपरिग्रहा-व्यतरेण भवन्तीति, तेन तावेव वा गरीयांसावित्ती कृत्वा सूत्रेणैवोपनिबद्धौ, तत्रापि परिग्रहनिमित्तं आरम्भः क्रियत इति कृत्वा स एव गरीयस्त्वात् पूर्वमपदिश्यते, पंचणहं वा पाणातिवाताविआसवाणं परिग्रहो गुरुतरतो त्ति कातुं तेण पुब्बं परिग्रहो वुच्चति ।

३. वृत्ति, पत्र १३ : सर्वांरम्भाः कर्मोपादानरूपाः प्रायश आत्मात्मोपग्रहोत्त्वाना इति कृत्वाऽऽवो परिग्रहमेव वक्षितवान् ।

४. ब्रह्मकालिक, जिनवास चूर्ण, पृष्ठ १३५ : चित्तं जीवो भण्णह.....चेयणा ।

५. वृत्ति, पत्र १३ : चित्तम्—उपयोगो ज्ञानं ।

६. (क) चूर्ण, पृष्ठ २२ : कृशं तनु तुच्छमित्यनर्थांतरम्, तृणतुषमात्रमपि ।

(ख) वृत्ति, पत्र १३ : कृशमपि स्तोक्रमपि तृणतुषादिकमपीत्यर्थः ।

७. वृत्ति, पत्र १३ : यदि वा कसनं कसः—परिग्रहग्रहणबुद्ध्या जीवस्य गमनपरिणाम इति यावत् ।

८. चूर्ण, पृष्ठ २२ : अथवा कषायमपीति इच्छामात्रं प्रार्थना अथवा कषायतः असत्यपि विषये कषायतः परिग्रहमानानि वस्त्र-पात्राणि परिग्रहो भवति ।

८. दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है (अण्णं वा अनुवाणइ)

चूणिकार का अभिमत है कि प्रस्तुत श्लोक में स्वयं परिग्रह न रखने, दूसरों से परिग्रह न रखवाने का उल्लेख नहीं है, किन्तु इस तृतीय चरण के द्वारा ये दोनों बातें गृहीत की गई हैं।^१

९. दुःख से (दुःखस्य)

दुःख के दो अर्थ हैं—कर्म और कर्म-विश्राक।^२ कर्म बंधन है और विश्राक उसका परिणाम। परिग्रही मनुष्य बंधन से मुक्त नहीं हो सकता। अप्राप्त परिग्रह के प्रति उसकी तीव्र आकांक्षा होती है, जो परिग्रह नष्ट हो गया उसके प्रति उसके मन में तीव्र अनुताप होता है, जो है उसके संरक्षण में पूरा आयास करता है और परिग्रह के उपभोग से कभी तृप्ति नहीं होती, अतृप्ति बढ़ती है। ये सारे दुःख ही दुःख हैं। यहां बंध के अर्थ में दुःख शब्द प्रयुक्त है।^३

श्लोक ३ :

१०. हनन करता है (तिपातए)

चूणिकार और वृत्तिकार ने मूलतः इसको 'त्रिपातयेत्' मानकर व्याख्या की है। उन्होंने 'त्रि' शब्द से आयुष्य-प्राण, बल-प्राण और शरीर-प्राण अथवा मन, वचन, काया का ग्रहण किया है। वैकल्पिक रूप में उन्होंने यहां अकार का लोप मान कर मूल शब्द 'अतिपातयेत्' माना है।^४

प्रस्तुत प्रसंग में यह वैकल्पिक अर्थ ही उचित लगता है।

११. वह अपने बैर को बढ़ाता है (वेरं बहुइ अप्पजो)

चूणिकार ने बैर की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'विरज्यते येन तद् बैरम्'—जिससे विरति की जाती है, वह बैर है।^५ इस शब्द के अनेक अर्थ हैं—

१. आठ कर्म।
२. पाप।
३. बैर।
४. अर्थ।

प्रस्तुत प्रसंग में 'बैर' शब्द बन्धन के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रस्तुत श्लोक में हिंसा करना, हिंसा करवाना, और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना—इन तीनों का कथन है। चूणिकार का कथन है कि कुछ दार्शनिक स्वयं हिंसा नहीं करते किन्तु दूसरों से करवाते हैं तथा अनुमोदन भी करते हैं। कुछ दार्शनिक स्वयं हिंसा करते हैं, दूसरों से नहीं करवाते। कुछ दार्शनिक तीनों प्रकार से हिंसा करते हैं।^६

१. चूणि, पृष्ठ २२ : सूचनामात्रं सूत्रं इति कृत्वा स्वयङ्कुरण कारवणानि अणुमतीए गहिताइं।

२. (क) चूणि, पृष्ठ २२ : दुक्खं कम्मं तद्विपाकवत्।

(ख) वृत्ति, पत्र १३ : दुःखम्—अष्टप्रकारं कर्म तत्फलं वा असातोबयादिरूपं तस्मात्।

३. (क) चूणि, पृष्ठ २२।

(ख) वृत्ति, पत्र १३ : परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षासोकी प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे जातृप्तिरित्येवं परिग्रहे सति दुःखात्मकाद्वन्धनात् मुख्यत इति।

४. (क) चूणि, पृष्ठ २२ : तिपातए सि आयुर्बलशरीरप्राणेष्वो त्रिभ्यः पातयतीति त्रिपातयति, त्रिभ्यो वा मनो-वाक्-काययोगेष्वः पातयति, करणभूतेर्वा मनो-वाक्-काययोगेः पातयतीति त्रिपातयति। अतिपातयतीति वा बलव्यम्, अकारलोपं कृत्वाऽपविश्यते तिपातयति।

(ख) वृत्ति, पत्र १४।

५. चूणि, पृष्ठ २२ : विरज्यते येन तद् बैरम्।

६. वही, पृष्ठ २२ : अबवा बैरमिति अनुप्यगारं कम्मं। उक्तं हि—पावे वेरे बज्जेति ता वेरं।

७. वही, पृष्ठ २२ : करिचत् स्वयं त्रिविधेऽपि करणे वर्त्तते, करिचद् द्विविधे, करिचदेकविधे।

परिग्रह के लिए हिंसा होती है। जहां परिग्रह है वहां हिंसा का होना निश्चित है, इसलिए परिग्रह और हिंसा—ये दोनों परस्पर संबंधित हैं। ये एक ही वस्त्र के दो अंचल हैं। ये दोनों बन्धन के कारण हैं। यद्यपि राग और द्वेष भी बन्धन के कारण हैं, किन्तु वे भी परिग्रह और हिंसा से उत्तेजित होते हैं, इसलिए परिग्रह और हिंसा बन्धन के पार्श्ववर्ती कारण बन जाते हैं।

परिग्रही व्यक्ति प्राणियों के प्राणों का वियोजन करता है। इस क्रिया से वह सैकड़ों जन्मों तक चलने वाला वेर बांधता है। इस प्रकार वह दुःख की परम्परा से कभी मुक्त नहीं हो पाता। एक दुःख से मुक्त होते ही दूसरे दुःख में फंस जाता है।

वृत्तिकार ने यहां तीन उदाहरणों का उल्लेख मात्र किया है—१. शुनकवध, २. वारत्तक अमात्य ३. मधु बिन्दू।^१

इलोक ४ :

१२. कुल में (कुले)

वृत्तिकार ने कुल शब्द से मातृपक्ष और पितृपक्ष दोनों का ग्रहण किया है।^१ वृत्तिकार ने राष्ट्रकूट आदि कुलों का ग्रहण किया है।^१

१३. ममत्व रखता है (ममाती)

मनुष्य माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, मित्र आदि में ममत्व रखता है। वह मानता है कि ये सब मेरे हैं।^१

१४. इस प्रकार परस्पर होने वाली मूर्च्छा से मूर्च्छित होकर (अण्मण्णेहि मुच्छिण्)

वृत्तिकार ने यहा चतुर्भंगी प्रस्तुत की है—^१

- (१) कोई मनुष्य माता-पिता आदि में मूर्च्छित, किन्तु वे इसमें मूर्च्छित नहीं।
- (२) वे इसमें मूर्च्छित किन्तु वह उनमें मूर्च्छित नहीं।
- (३) वह उनमें मूर्च्छित तथा वे भी इसमें मूर्च्छित।
- (४) शून्य—०।

प्रस्तुत पद तृतीय भग का द्योतक है। वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'अन्येषु अन्येषु' मानकर इस प्रकार अर्थ किया है—व्यक्ति पहले माता-पिता के प्रति ममत्व रखता है, फिर पत्नी आदि के प्रति और फिर पुत्र, पौत्र के प्रति ममत्व रखता है।^१

१५. नष्ट होता रहता है (नुपतो)

ममत्व के कारण वह मनुष्य बन्धन-मुक्ति के मार्ग पर नहीं चल सकता। ममत्व या मूर्च्छा बन्धन का हेतु है, (या) दुःख का हेतु है। यहा नष्ट होने का अर्थ है दुःख से मुक्त नहीं होना।

१. वृत्ति, पृष्ठ २२। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने इनका स्थल-निर्देश फुट नोट नं ३ में इस प्रकार किया है—(१) पिडनियुक्ति गाथा ६२८ तथा टीका। आवश्यकनियुक्ति गाथा १३०३, हारिमद्रीया वृत्ति पत्र ७०६ अथा आवश्यकवृत्ति, विभाग २, पत्र १६७।

२. वृत्ति, पृष्ठ २२ : कुले इति मातृ-पितृपक्षे।

३. वृत्ति, पत्र १४ : राष्ट्रकूटादौ कुले।

४. वृत्ति, पत्र १४ : मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यावियस्याविव ममावमिति ममत्ववान्।

५. वृत्ति, पृष्ठ २२ : एत्थ चउभंगो—सो तेषु मुच्छितो ण ते तत्थ मुच्छिता १ (ते तत्थ मुच्छिता) ण सो तेषु २। सूत्राभिहितस्तु अण्मण्णेहि मुच्छित्ते त्ति सो वि तेषु ते वि तम्मि त्ति ३। चतुर्थ : शून्य ४।

६. वृत्ति, पत्र १४ : अन्येष्वन्येषु च मूर्च्छितो गृहोऽप्युपपन्नो, ममत्वबहुल इत्यर्थः, पूर्वं तावन्मातापित्रोस्तदनु भार्यायां पुनः पुत्रादौ स्नेहवानिति।

श्लोक ५ :

१६. भाई और बहिन (सोयरिया)

इसका संस्कृत रूप है 'सोदर्या'। इससे वे व्यक्ति गृहीत हैं जो नालबद्ध होते हैं, एक ही उबर से उत्पन्न होते हैं, जैसे—भाई-बहिन ।'

१७. ये सब ज्ञान नहीं दे सकते (सम्बन्धेयं न ज्ञानम्)

घन, भाई-बहिन आदि ज्ञान नहीं दे सकते। कूर्णिकार ने यहां 'पालक पादच्छेद' के उदाहरण की ओर संकेत किया है।^१ आवश्यक कूर्ण में यह उदाहरण 'सुलस' के नाम से निर्दिष्ट है। संभव है पालक का ही दूसरा नाम सुलस हो। वह उदाहरण संक्षेप में इस प्रकार है—

सुलस कालसीकरिक का पुत्र था। कालसीकरिक मर कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ। पारिवारिक लोगों ने सुलस को पिता का उत्तराधिकारी नियुक्त करना चाहा। सुलस ने इन्कार कर दिया। उसने कहा—पिता प्रतिदिन पांचसी भैंसों को मारता था। मैं यह कार्य नहीं कर सकता। हिंसा नरक का कारण है। पारिवारिक लोगो ने कहा—हम सब तुम्हारे पाप का विभाग ले लेंगे। तुम केवल एक भैंसे को मारना, शेष हम सब कर लेंगे। शुभ मुहूर्त में पुत्र को अभिषिक्त करना था। एक भैंसे को सभाया गया। उसके गले में लाल कणेर की माला डाली गई और कुल्हाड़ी पर लाल चन्चन का लेप किया गया। कुल्हाड़ी को सुलस के हाथ में देकर पारिवारिक लोगों ने कहा—'तुम भैंसे पर प्रहार कर अपने व्यवसाय का प्रारंभ करो।' सुलस ने उस कुल्हाड़ी का प्रहार अपने पैरों पर किया। वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। सचेत होने पर उसने अपने स्वजनों से कहा—मेरा यह दुःख आप बंटाइए। उन्होंने कहा—दुःख नहीं बांटा जा सकता। हम इसका विभाग लेने में असमर्थ हैं। सुलस ने कहा—फिर आप सब ने यह कैसे कहा कि पांच सौ भैंसों के मारने के पाप का हम विभाग कर लेंगे। कोई भी व्यक्ति, चाहे फिर वह अपना सगा भाई ही क्यों न हो, दुःख को नहीं बांटा सकता।'

१८. जीवन मृत्यु को ओर बौड़ रहा है (संघाति जीवितं चेव)

जीवन का जो एक-एक क्षण बीत रहा है, उससे मृत्यु-काल सन्निकट होता है। एक-एक क्षण के आयुष्य का बीतने का अर्थ ही है—मृत्यु की ओर बढ़ना। इसी प्रकार जीवन की भाति कामभोग भी विनाश की ओर ही बढ़ते हैं। वे निरंतर विनष्ट होते रहते हैं। जीवन और कामभोग दोनों अनित्य हैं।^२

१९. कर्म के बंधन को तोड़ डालता है (कर्मणा उ त्तुद्ध)

जब व्यक्ति इस सत्य को जान लेता है कि इस संसार में कोई भी ज्ञान नहीं दे सकता और यह जीवन निरंतर मृत्यु की ओर दौड़ा जा रहा है, तब वह कर्म के बंधन को तोड़ने में सफल हो जाता है।

कर्म बंधन है। उसके परोक्ष हेतु हैं—राग और द्वेष तथा प्रत्यक्ष हेतु है—परिग्रह और हिंसा। कारण को मिटाए बिना कार्य को नहीं मिटाया जा सकता। बंधन के कारणों को तोड़े बिना बंधन को नहीं तोड़ा जा सकता। परिग्रह और हिंसा की मूर्च्छा को तोड़ना ही वह सत्य है जिसे जान लेने पर बंधन को तोड़ा जा सकता है।

प्रस्तुत श्लोक में अध्यात्म चेतना के जागरण के आधारभूत दो तत्त्व बतलाए गए हैं—१. घन और परिवार में ज्ञान देने की क्षमता का अभाव २. जीवन की नश्वरता और तीसरा आधारभूत तत्त्व है—आत्मा की परिणामि-नित्यता। उसकी चर्चा इसी अध्ययन के सातवें श्लोक से प्रारंभ होती है और अड़सठवें श्लोक में उसका उपसंहार होता है।

१. (क) कूर्ण, पृष्ठ २३ : सोयरिया जाम जाता भगिनी नालबद्धा ।

(ख) वृत्ति, पत्र १४ : सोदर्या भ्रातृभगिन्यादयः ।

२. कूर्ण, पृष्ठ २३ : पालकपादच्छेदोदाहरणम् ।

३. आवश्यक कूर्ण, उत्तर भाग, पृष्ठ १६६, १७० ।

४. कूर्ण, पृ २३ : समस्तं घाति संघाति मरणाय घाबति, जीवनवत् कामभोगादपि हि अग्नि-चीरादिबिनाशाय बाधति (घावंति) । एवं जीवितं कामभोगादित्यात्मकं जानीहि ।

कान्ट ने नैतिकता के तीन आधारभूत तत्त्व माने हैं। वे ये हैं—(१) संकल्प की स्वतंत्रता (२) आत्मा की अमरता (३) ईश्वर।

श्लोक ६ :

२०. श्रमण-माहण (समणमाहणा)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने श्रमण शब्द से शाक्य आदि श्रमणों का तथा माहण शब्द से परित्राजक आदि का ग्रहण किया है।^१ चूर्णिकार ने वैकल्पिक रूप में श्रमण का अर्थ साधु और माहण का अर्थ श्रमणोपासक किया है। अथवा तत्पुरुष समास कर श्रमण को भी माहण माना है।^२

२१. ग्रंथों (परिग्रह और परिग्रह-हेतुओं) (गंधे)

ग्रंथ का शाब्दिक अर्थ है—वाघने वाला। उसके अनेक प्रकार हैं—सजीव या निर्जीव पदार्थ, धन या पारिवारिक जन, आरंभ और परिग्रह।^३

२२. नहीं जानते हुए (अयाणता)

इसका अर्थ है—विरति और अविरति के दोषों को नहीं जानने वाला।^४

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—परमार्थ को नहीं जानने वाला किया है।^५

प्रस्तुत अध्ययन के ६८वें श्लोक के आधार पर इसका अर्थ जगत् और आत्मा के स्वरूप को नहीं जानने वाला तथा ६९वें श्लोक के आधार पर दुःख और दुःख के हेतुओं को नहीं जानने वाला, फलित होता है।

२३. गर्व करते हैं (विउत्सिता)

चूर्णिकार और वृत्तिकार इसके अर्थ में एक मत नहीं हैं। चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—विविध प्रकार से बद्ध तथा बीभत्सरूप में अहंमन्यता रखने वाला।^६

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अनेक प्रकार से दूढ़ता से बद्ध अर्थात् अपने मत में अभिनिविष्ट।^७

श्लोक ७ :

२४. कुछ बार्शनिकों (भूतवादियों) के मत में (एगोसि)

इस शब्द से पांच महाभूतवादियों का ग्रहण किया गया है।^८ वृत्तिकार ने इस शब्द से बार्हस्पत्यमतानुसारी (लोकायतिक) भूतवादियों का ग्रहण किया है।^९

वृत्तिकार ने एक प्रश्न उठाया है कि सांख्य, वैशेषिक आदि भी पांच महाभूतों का सद्भाव मानते हैं फिर प्रस्तुत श्लोक में प्रतिपादित पांच महाभूतों के कथन को लोकायतिक मत की अपेक्षा में ही क्यों मानना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान वे

१. (क) चूर्ण, पृष्ठ २३ : श्रमणाः शाक्यादयः, माहणा परित्राजकादयः।

(ख) वृत्ति, पत्र १४ : श्रमणाः शाक्यादयो बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च माहणाः।

२. चूर्ण, पृष्ठ २३ : समणा लिंगत्वा माहणा समणोपासगा तत्पुरुषो वा समासः श्रमणा एव माहणा श्रमणमाहणाः।

३. चूर्ण, पृष्ठ २३।

४. चूर्ण पृष्ठ २३. अयाणता विरति—अविरति बोधे य।

५. वृत्ति पत्र १४ : परमार्थमजानाना।

६. चूर्ण, पृष्ठ २३ : विउत्सिता, बद्धा इत्यर्थः, बीभत्सं वा उत्सृता विउत्सिता।

७. वृत्ति, पत्र १४ : विविधम्—अनेकप्रकारम् उन्—प्राबल्येन सिता—बद्धाः स्वसमयेऽभिनिविष्टाः।

८. चूर्ण, पृष्ठ २३ : एगोसि ण सव्वेसि, जे पंचमहाभूतवाइया तेसि एवं।

९. वृत्ति, पत्र १४ : एकेषां भूतवादिनाम् आख्यातानि प्रतिपादितानि ततोऽर्थकृता तेषां भूतवादिनिर्बाहस्पत्यमतानुसारिणिः।

स्वयं देते हुए कहते हैं कि सांख्य प्रधान से महान्, महान् से अहंकार और अहंकार से बोद्धक आदि तत्त्व मानते हैं। वैशेषिक काल, बिम्ब, आत्मा आदि तथा अन्य वस्तु-समूह को भी मानते हैं। लोकायतिक पांच भूतों के अतिरिक्त किसी आत्मा आदि तत्त्व का अस्तित्व नहीं मानते। अतः प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या उन्हीं के मतानुसार की गई है।

२५. पांच महाभूत हैं (पांच महामूया)

पांच महाभूत हैं—पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु और आकाश।

ये भूत सर्वलोकव्यापी हैं, अतः इन्हें 'महाभूत' कहा गया है।

शरीर में जो कठोर भाग है वह पृथिवी भूत है।

शरीर में जो कुछ रूप या द्रव भाग है वह अप् भूत है।

शरीर में जो उष्ण स्वभाव या शरीराग्नि है वह तेजस् भूत है।

शरीर में जो चल स्वभाव या उच्छ्वास-निश्वास है वह वायु भूत है।

शरीर में जो शुषिर स्थान है वह आकाश भूत है।

श्लोक ८ :

२६. इनके संयोग से (तेभ्यो)

यह संस्कृत के 'तेभ्यः' का प्रतिकूलक पद है। इसका अर्थ है—इन पांच महाभूतों के संयोग से। वृत्तिकार ने इसका अर्थ—काया के आकार में परिणत इन पांच महाभूतों से—ऐसा किया है। चूर्णिकार ने 'ते ओ' ऐसा बैकल्पिक पाठ मानकर 'ओ' का अर्थ—'शिष्यामन्त्रण' किया है।

२७. एक—आत्मा (एगो)

यहाँ एक शब्द 'आत्मा' का द्योतक है। एक ऐसा चेतन द्रव्य (आत्मा) जो भूतों से अव्यतिरिक्त है।

भूतवादियों के अनुसार यह समूचा लोक भौतिक है। चेतन और अचेतन सभी द्रव्य भौतिक हैं।

२८. विनाश होने पर (विनासे)

वृत्तिकार का मत है कि पांच भूतों का काया के आकार में परिणमन तथा उनमें चैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाने पर पांच भूतों में से किसी एक भूत की कमी अर्थात् वायु या तेजस् की कमी या दोनों की कमी हो जाने पर प्राणी मृत घोषित हो जाता है।

१. वृत्ति, पत्र १५।

२. वृत्ति, पत्र १५। महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वात्महृत्स्वविशेषणम्।

३. चूर्ण, पृष्ठ २३, २४ : तत्र यो ह्यस्मिन् शरीरके कठिनभावो तं पुडविभूतं, यावत् किञ्चिद् रूपं तं आउभूतं, उसिजस्वभावो कायाग्निरथ तेजभूतं, चलत्वभावं उच्छ्वासनिःश्वासरथ वातभूतं, चक्षुषिःशुषिरस्वभावमाकाशम्।

४. चूर्ण, पृष्ठ २४।

५. वृत्ति, पत्र १६ : तेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्यः।

६. चूर्ण, पृष्ठ २४ : अथवा ते ओ ! एगो लि सिस्सामन्त्रणं।

७. वृत्ति, पत्र १६ : एक कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्मा जयति।

८. चूर्ण, पृष्ठ २४ : भौतिकोऽयं लोकः चेतनमचेतनद्रव्यं सर्वं भौतिकम्।

९. वृत्ति, पत्र १६ : अथैषां कायाकारपरिणतो चैतन्याभिव्यवर्तो सत्यां तदूर्ध्वं तेवान्यतमस्य विनाशे अथनमे चायोस्तेष्वशेषयोर्वाततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते।

२६. आत्मा (देहो) का विनाश हो जाता है (विजासो होइ देहिणो)

प्राणी का विनाश हो जाता है अर्थात् उसे भूत कह दिया जाता है। इस घटना में केवल किसी एक भूत का विनाश होता है। उसके विनष्ट होते ही प्राणी मर जाता है। इसमें भूतों से व्यतिरिक्त किसी जीव या आत्मा का अपगम नहीं होता। यह भूतवादियों का पूर्वपक्ष है।^१ शरीर पांच भूतों से निर्मित है। किसी एक भूत की कमी होने पर पृथ्वी भूत पृथ्वी में, अप् भूत अप् में, वायु भूत वायु में, तेजस् भूत तेजस् में और आकाश भूत आकाश में मिल जाता है।^२ कृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में विशेषावश्यक भाष्य की पाँच गाथाएं तथा उनकी स्वोपज्ञवृत्ति का उद्धरण प्रस्तुत कर भूतवादियों के मत का निराकरण किया है।^३

श्लोक ७-८ :

३०. श्लोक ७-८

आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करने वाले दार्शनिक भूतवादी कहलाते हैं। प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में उन्हें 'पंचमहाभौतिक' कहा गया है।^४ वहां चार्वाक या बृहस्पति जैसे किसी भी शब्द का प्रयोग प्राप्त नहीं है। वर्तमान में चार्वाक या बृहस्पति के सिद्धान्त-सूत्र मिलते हैं। उनमें चार भूतों—पृथिवी, अप्, तेज और वायु का ही उल्लेख मिलता है।^५ इनमें आकाश परिगणित नहीं है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने वाले चार्वाक अमूर्त आकाश को मान भी कैसे सकते हैं? दर्शनयुगीन साहित्य में चार्वाक सम्मत चार भूतों का ही उल्लेख मिलता है। आगम-युग में पंचभूतवादी थे। पञ्चकथायायन पंचभूतों को स्वीकार करते थे और आत्मा को नहीं मानते थे।^६

भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है और भूतों का विनाश होने पर चैतन्य विनष्ट हो जाता है। यह अनात्मवादियों का सामान्य सिद्धान्त है। इसकी प्रतिध्वनि दर्शनयुग के साहित्य में भी मिलती है।^७

शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इसलिए परलोक, पुनर्जन्म और मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। भूतवादी सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु ही मोक्ष है। वे धर्माचरण को भी महत्त्व नहीं देते। उनका प्रतिपाद्य है कि धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए। इसकी पुष्टि में उनका तर्क है कि उसका फल परलोक में होता है। जब परलोक ही संदिग्ध है तब उसका फल असंदिग्ध कैसे होगा? कौन समझदार पुरुष हाथ में आए हुए मूल्यवान् पदार्थ को दूसरे को सौंपना चाहेगा? कल मिलने वाले मयूर की अपेक्षा आज मिलने वाला कबूतर अच्छा है। संदिग्ध सोने के सिक्के की अपेक्षा निश्चित चादी का सिक्का अच्छा है।^८

श्लोक ६ :

३१. विज्ञ (ज्ञानिपिड) (विण्णु)

कृत्तिकार ने 'विण्णु' (विज्ञ) का वैकल्पिक अर्थ विण्णु भी किया है।^९ कृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल 'विद्वान्' किया है।^{१०}

१. वृत्ति, पत्र १६ : ततश्च मून इति व्यदेशः प्रवर्तते, न पुनर्जीवापगम इति भूताव्यतिरिक्तचैतन्यवादिपूर्वपक्ष इति।

२. कृत्ति, पृष्ठ २४ : विजासो नाम पञ्चस्वैव गमनम्, पृथिवी पृथिवीमेव गच्छति, एव शेषाण्यपि गच्छन्ति।

३. कृत्ति, पृष्ठ २४ में उद्धृत विशेषावश्यक भाष्य गाथा १६५१—५५ तथा स्वोपज्ञ टीका।

४. सूयगडो, २।१।२३ : अहावरे बोच्चे पुरिसजाए पंचमहभूइए लि आहिउजह।

५. तत्त्वोपप्लवसिह : पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।

तत्त्वमुवाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ॥

६. बेल्ले—सूयगडो १।१।१५, १६ का टिप्पण।

७. (क) षड्वर्णनसमुच्चय, तर्करहस्यदीपिका, पृष्ठ ४५८ : यदुवाच आचस्पतिः—..... तेभ्यश्चैतन्यम् :

(ख) सम्मति तर्क, वृत्ति पत्र, परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः।

८. कामसूत्र इति लोकायतिकाः—

न धर्माचरेत्। एष्यत्फलत्वात्। सांशयिकत्वाच्च। कोद्व्यशक्तिशो हस्तगतं परगतं कुर्यात्। अरमद्यकपोतः श्वो मयूरात्।

वरं सांशयिकाम् निष्कावसांशयिकः कार्वाणः ॥

९. कृत्ति, पृष्ठ २५ : विण्णुरिति विद्वान् विण्णुर्वा।

१०. वृत्ति, पत्र १६।

'विष्णु' जीव का पर्यायवाची नाम है ।'

इलोक १० :

३२. हिंसा से प्रतिबद्ध (आरंभनिस्तिय ।)

जो हिंसायुक्त व्यापार में आसक्त, संबद्ध, अद्युपपन्न होते हैं वे 'आरंभनिस्तिय' कहे जाते हैं ।'

३३. तीव्र (तिव्वं)

यह दुःख का विशेषण है । जूणिंकार ने इसका संस्कृत रूप 'त्रिप्रम्' कर इसका अर्थ—कायिक आदि तीन प्रकार का कर्म किया है । इसका वकल्पिक अर्थ है—कर्म ।'

३४. भोगता है (णियच्छइ)

इसका अर्थ है—भोगना, वेदन करना, अवश्य प्राप्त करना ।' आर्य प्रयोग के कारण यहाँ बहुवचन के स्थान पर एक वचन है ।' संभव है कि छन्द की दृष्टि से ऐसा किया गया है ।

इलोक ६-१० :

३५. इलोक ६-१०

सत् एक या । यह सिद्धान्त ऋग्वेद में प्राप्त होता है ।' किन्तु वह 'सत्' आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है । एकात्मवाद का सिद्धान्त उरनिषदों में मिलता है । छान्दोग्य उरनिषद् में बताया है कि एक मूर्त् पिंड के जान लेने पर सब मूर्त्तमय विज्ञात हो जाता है । घट आदि उसके विकार हैं । मृत्तिका ही सत्य है ।'

जूणिंकार ने पृथ्वी स्तूप की व्याख्या दो प्रकार से की है—

१. एक पृथ्वीस्तूप नाना प्रकार का दीखता है । जैसे—निम्नोन्नत भूभाग, नदी, समुद्र, शिना, बालू घून, गुफा, कंदरा आदि भिन्न-भिन्न होने पर भी पृथ्वी से व्यतिरिक्त नहीं दीखती ।

२. एक मिट्टी का ण्डि कुम्हार के चाक पर आरोपित होने पर भिन्न-भिन्न प्रकार से परिणत होता हुआ घट के रूप में निर्वर्तित होता है । उसी प्रकार एक ही आत्मा नाना रूपों में दृष्ट होता है ।'

इस प्रसंग में जूणिंकार ने 'ब्रह्मबिन्दु' उरनिषद् का एक श्लोक उद्धृत किया है—एक ही भूतात्मा सब भूतो में व्यवस्थित है । वह एक होने पर भी जल में चन्द्र के प्रतिबिम्ब की भांति नाना रूपों में दिखाई देता है ।

१. भगवई २०।१७ । जीवत्यिकायस्स णं संते । केवतिया अभिवयणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता, त जहा—जीवे इ वाविष्णु इ वा ।

२. वृत्ति, पत्र २० : आरम्भे—प्राणुपपन्नकारिणि व्यापारे निःश्रिता—आसक्ताः संबद्धा अद्युपपन्नाः ।

३. जूणि, पृष्ठ २५; २६ : त्रिप्रकार कायिकादि कर्मअथवा त्रिमितापयतीति त्रिप्रम्, किञ्च तत् ? कर्म ।

४. (क) जूणि, पृष्ठ २५ : णियच्छति वेवयतीत्यर्थः ।

(ख) वृत्ति, पत्र २० : निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यंतया गच्छन्ति—प्राप्नुवन्ति ।

५. वृत्ति, पत्र २० : आर्यत्वाद् बहुवचनार्थे एकवचनमकारि ।

६. ऋग्वेद १।१६।४६ : एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

७. छान्दोग्य उपनिषद् ६।१।४ : यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृत्तमयं विज्ञातं स्यात् । वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।

८. जूणि, पृष्ठ २५ ।

९. ब्रह्मबिन्दूपनिषत् श्लोक १२ : एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव, दृश्यते अलक्षणवत् ॥

कठोपनिषद् में भी एक ही आत्मा के अनेक रूपों को अग्नि के उदाहरण द्वारा समझाया गया है, जैसे—अग्नि जगत् में प्रवेश कर अनेक रूपों में व्यक्त होता है, वैसे ही एक आत्मा सब भूतों की अन्तरात्मा में प्रविष्ट हो नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है।'

प्रस्तुत सूत्र में एक के नानारूपों में अभिव्यक्त होने का प्रतिपादन है। उसका पूर्वपक्ष छान्दोग्य उपनिषद् का मूर्त्पिंड और उसके नानात्व का प्रतिपादन ही संगत प्रतीत होता है। प्रतिबिम्ब या प्रतिरूपता का सिद्धान्त प्रस्तुत सूत्र में विवक्षित नहीं है और सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह दृश्य जगत् के साथ उतना संगत भी नहीं है। नानात्व के सिद्धान्त की एक द्रव्य के नाना पर्यायों के साथ संगति हो सकती है, किन्तु प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त संगत नहीं होता। इसका संबंध सादृश्य से है, पर्याय से नहीं है।

जैनदृष्टि यह रही है कि एक आत्मा या समष्टि-चेतना वास्तविक नहीं है और न वह दृश्य जगत् का उपादान भी है। अनन्त आत्माएं हैं और प्रत्येक आत्मा इसलिए स्वतंत्र है कि उसका उपादान कोई दूसरा नहीं है। चेतना व्यक्तिगत है। प्रत्येक आत्मा का चैतन्य अपना-अपना है। इसका प्रतिपादन प्रस्तुत सूत्र के २/१/५१ में किया गया है।

एकात्मवाद में क्रिया की सार्यकता नहीं होती। इसीलिए एकात्मवादी ज्ञानवादी होते हैं, क्रियावादी नहीं होते। 'मन्त्र' शब्द से यही तथ्य सूचित होता है। एकात्मवाद में न कोई हिंस्य होता है और न कोई हिंसक। इसलिए वे हिंसा करते हुए भी हिंसा को नहीं मानते। 'आरंभनिश्चित' शब्द से यही तथ्य सूचित होता है। चौदहवें श्लोक में भी 'मंद' और 'आरंभनिश्चित'—ये दो पद हैं। इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने 'मव' शब्द के द्वारा एकात्मवाद और अकारकवाद—दोनों के अक्रियावादी होने की सूचना दी है। 'आरंभनिश्चित' शब्द के द्वारा इस सूचना का अनुमान भी किया जा सकता है कि इन दोनों को सृष्टि का आरंभ स्वीकृत है।

चूणिकार ने प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'पुडवीयूमे' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'पृथिव्येव स्तूपः'—पृथ्वी ही स्तूप है।'

वृत्तिकार ने इस व्युत्पत्ति के साथ-साथ—'पृथिव्या वा स्तूपः'—पृथ्वी का स्तूप, यह व्युत्पत्ति भी की है।'

श्लोक ११ :

३६. अलण्ड (कसिजे)

इसका अर्थ है—सर्व, अलंड।' चूणिकार ने इसका अर्थ—'शरीर मात्र' किया है और शरीर से व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं होती, ऐसे पूर्वपक्ष का उल्लेख किया है।'

३७. जो शरीर हैं वे ही आत्माएं हैं (संति)

जो शरीर हैं, वे ही आत्माएं हैं। जब तक शरीर हैं तब तक ही आत्माएं हैं—यह इस शब्द का तात्पर्यार्थ है।'

३८. वे आत्माएं परलोक में नहीं जातीं (पेच्चा न ते संति)

वे आत्माएं परलोक में नहीं जातीं, क्योंकि काया के आकार में परिणत भूतों में चैतन्य पैदा होता है और उनके विघटन से चैतन्य नष्ट हो जाता है। एक भव से दूसरे भव में जाने वाला चैतन्य प्राप्त ही नहीं होता, इसलिए परलोक में जाने वाला, शरीर से भिन्न, स्वकर्मफल को भोगने वाला 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ नहीं है।'

१. कठोपनिषद् ५.१६ : अग्निर्यच्चको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिक्रपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिक्रपो बहिरव ।

२. चूणि, पृ० २५ ।

३. वृत्ति, पत्र १६ ।

४. वृत्ति, पत्र २० : कुस्नाः सर्वोऽप्यात्मानः ।

५. चूणि, पृ० २६ : कसिजो जाम शरीरमात्रः, न तु शरीरात् व्यतिरिच्यते ।

६. वृत्ति, पत्र २० : सन्ति विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते तवमावे तु न विद्यन्ते ।

७. वृत्ति, पत्र २० : कायाकारपरिणतेषु भूतेषु चैतन्याविर्भावो भवति, भूतसमुदायविघटने च चैतन्यापगमो, न पुनरप्यत्र गच्छन्वतन्यमुपलभ्यते, इत्येतदेव दर्शयति—'पिच्चा न ते संति' ति प्रेत्य परलोके न ते आत्मानः सन्ति विद्यन्ते परलोकानुयायी शरीराद् भिन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्मावयः पदार्थोऽस्तीति भावः ।

३६. उनका पुनजन्म नहीं होता (अस्ति सत्तोववाइया)

प्राणी एक भव से दूसरे भव में नहीं जाते। यहाँ 'अस्ति' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। यह बहुवचन में प्रयुक्त है।^१

उपपात का अर्थ है—उत्पत्ति या जन्म। जो जन्म से निष्पन्न है वह औपपातिक कहा जाता है। यह वृत्तिकार का अभिमत है।^२ प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

उपपात जन्म का एक प्रकार है। देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं। उनका गर्भ आदि में से नहीं गुजरना पड़ता। वे तत्काल सम्पूर्ण शरीर वाले ही उत्पन्न होते हैं। यह अर्थ यहाँ शब्द नहीं है। 'आयारो' में भी सामान्य जन्म के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध है।^३

श्लोक ११-१२ :

४०. श्लोक ११-१२ :

अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचारों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध (१।१३-२२) में विस्तार से मिलता है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

.....पैर के तलवे से ऊपर, शिर के केशाग्र से नीचे और तिरछे चमड़ी तक जीव है—शरीर ही जीव है। यही पूर्ण आत्म-वर्भाव है। यह जीता है (तब तक प्राणी) जीता है, यह मरता है (तब प्राणी) मर जाता है। शरीर रहता है (तब तक) जीव रहता है। उसके विनष्ट होने पर जीव नहीं रहता। शरीर पर्यन्त ही जीवन होता है। जब तक शरीर होता है तब तक जीवन होता है। [शरीर के विकृत हो जाने पर] दूसरे उसे जलाने के लिए ले जाते हैं। आग में जला देने पर उसकी हड्डियाँ कबूतर के रंग की हो जाती हैं। आसंदी (अरबी, चारपाई) को पांचवीं बना उसे उठाने वाले चारों पुरुष गांव में लोट आते हैं। इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है, शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं होता।

जिनके मत में यह सु-आख्यात है—जीव अन्य है और शरीर अन्य है, वह इसलिए सु-आख्यात नहीं है कि वे इस प्रकार नहीं जानते कि आयुष्मान् ! यह आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व, वलयाकार है या गोल, त्रिकोण है या चतुष्कोण, सम्बा है या षट्कोण। कृष्ण है या नील, लाल है या पीला या शुक्ल। सुगन्धित है या दुर्गन्धित। तीता है या कडुआ, कर्बला है या खट्टा या मधुर। कर्कश है या कोमल, भारी है या हल्का, शीत है या उष्ण, चिकना है या रूखा। (आत्मा का किसी भी रूप में ग्रहण नहीं होता।) इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है, शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं होता।

जिनके मत में यह सु-आख्यात है—जीव अन्य है और शरीर अन्य है, वह इसलिए सु-आख्यात नहीं है कि उन्हें वह इस प्रकार उपलब्ध नहीं होता—

जैसे कोई पुरुष म्यान से तलवार निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह तलवार है, यह म्यान। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष मूँज से शलाका को निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह मूँज है, यह शलाका। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष मांस से हड्डी को निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह मांस है, यह हड्डी। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष हथेली में लेकर आंवले को दिखलाए—आयुष्मान् ! यह हथेली है, यह आंवला। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है।

१. वृत्ति पत्र २१ : अस्तिशब्दतिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः।

२. वृत्ति, पत्र २१ : उपपातेन निर्वाताः औपपातिकाः।

३. आयारो, १।२, ४ : अस्ति मे आया औववाइय, अस्ति मे आया औववाइय।

जैसे कोई पुरुष दही से नवनीत निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह नवनीत है, यह दही । पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है ।

जैसे कोई पुरुष तिलों से तेल निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह तेल है, यह खली । पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है ।

जैसे कोई पुरुष ईस से रस निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह ईस का रस है, यह छाल । पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है ।

जैसे कोई पुरुष अरणी से आग निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह अरणी है, यह आग । पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है ।

इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है, शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं है ।^१

जैन साहित्य में तत्त्वजीव-तत्त्वशरीरवाद का उल्लेख है किन्तु उसके पुरस्कर्ता तीर्थंकर का उल्लेख नहीं है । बौद्ध साहित्य में उसके तीर्थंकर का भी उल्लेख प्राप्त है ।

बौद्ध साहित्य में उपलब्ध अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचारों की उक्त विचारों तथा प्रस्तुत श्लोक-युगल से तुलना करने पर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस श्लोक-युगल में अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचार प्रतिपादित हुए हैं । दीघनिकाय के अनुसार अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचार इस प्रकार हैं—

.....दान नहीं है, यज्ञ नहीं है, आहुति नहीं है । सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल-विपाक नहीं है । न यह लोक है और न परलोक । न माता है और न पिता । औपपातिक सत्त्व (देव) भी नहीं है । लोक में सत्य तक पहुँचे हुए तथा सम्यक् प्रतिपन्न श्रमण-ब्राह्मण नहीं हैं जो इस लोक और परलोक को स्वयं जानकर, साक्षात् कर बतला सकें । प्राणी चार महाभूतों से बना है । जब वह मरता है तब (शरीरगत) पृथ्वी तत्त्व पृथ्वीकाय में, पानी तत्त्व अप्काय में, अग्नि तत्त्व तेजस् काय में और वायु तत्त्व वायुकाय में मिल जाते हैं । इन्द्रिया आकाश में खली जाती हैं । चार पुरुष मृत व्यक्ति को खाट पर ले जाते हैं । जलाने तक उसके चिन्ह जान पड़ते हैं । फिर हड्डियाँ कपोत वर्ण वाली हो जाती हैं । आहुतियाँ राख मात्र रह जाती हैं । 'दान करो' यह मूर्खों का उपदेश है । जो आस्तिकवाद का कथन करते हैं, वह उनका कहना तुच्छ और झूठा विलाप है । मूर्ख हो या पंडित, शरीर का नाश होने पर सब विनष्ट हो जाते हैं । मरने के बाद कुछ नहीं रहता ।^२

४१. श्लोक १२ :

भूतों से व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है, भूतों के विघटित होने पर आत्मा का अभाव हो जाता है—इस पक्ष को पुष्ट करने वाले दृष्टान्तों का उल्लेख बुद्धिकार ने किया है । वे इस प्रकार हैं—

१. जल के बिना जल का बुदबुद नहीं होता, इसी प्रकार भूतों के व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है ।

२. जैसे केले के तने की छाल को निकालने लगे तो उस छाल के अतिरिक्त अन्त तक कुछ भी सार पदार्थ हस्तगत नहीं होता, इसी प्रकार भूतों के विघटित होने पर भूतों के अतिरिक्त और कुछ भी सारभूत तत्त्व प्राप्त नहीं होता ।

३. जब कोई व्यक्ति अलात को घुमाता है तो दूसरों को लगता है कि कोई चक्र घूम रहा है, उसी प्रकार भूतों का समुदाय भी विशिष्ट क्रिया के द्वारा जीव की भ्रान्ति उत्पन्न करता है ।

१. सूयगडो २।१।१५-१७ ।

२. दीघनिकाय १।२।४।२२ : एवं वुत्ते, भंते, अज्जिओ केसकंबलो मं एनवओच —नत्थि, महाराज, विन्नं, नत्थि यिट्ठं, नत्थि हुतं, नत्थि सुकतुक्कटानं कम्मम फलं विपाको, नत्थि अयं लोको, नत्थि परो लोको, नत्थि माता, नत्थि पिता, नत्थि सत्ता ओपपातिका, नत्थि लोके समणब्राह्मणा सम्मग्गता सम्मापटिण्णता ये इमं च लोकं परं च लोकं सयं अभिञ्जा सच्चिक्खत्वा पवेदेन्ति । चात्तुमहाभूतिको अयं पुरिसो यथा काणं करोति, पठवी पठविकायं अनुपेति अनुपगच्छति, आपो आपोकायं अनुपेति अनुपगच्छति, तेजो तेजोकायं अनुपेति अनुपगच्छति, बायो बायोकायं अनुपेति अनुपगच्छति, आकासं इन्द्रियाणि सङ्कुपन्ति । आसन्निवपञ्चमा पुरिसा मत्तं आवाय गच्छन्ति । यावाव्वाहना पवामि पञ्चायन्ति । कापोतकानि अट्ठीणि भवन्ति । अस्सग्गता आहुतियो । बत्तुपञ्चसं यद्विदं दानं । तेसं पुच्छं मुसा विलापो ये केचि अत्थिकवाचं वदन्ति । बाले च पण्डिते च कायस्स मेवा उच्चिक्खज्जन्ति विमस्सन्ति, न होन्ति परं मरणात्ति ।

५. जैसे स्वप्न में विज्ञान बहिर्मुख आकार के रूप में अनुभूत होता है, आन्तरिक घटना बाह्य अर्थ के रूप में प्रतीत होती है, इसी प्रकार आत्मा के न होने पर भी भूत समुदाय में विज्ञान का प्राबुध्भाव होता है।

५. जब स्वच्छ कांच में बाहर के पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब ऐसा लगता है कि वह पदार्थ कांच के अन्दर स्थित है, किन्तु वह वैसे नहीं है।

६. जैसे गर्मी में भूमी की उष्मा से उत्पन्न किरणें दूर से बेलने पर जल का भ्रम उत्पन्न करती हैं,

७. जैसे गन्धर्वनगर आदि यथार्थ न होने पर भी यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करते हैं—

उसी प्रकार काया के आकार में परिणत भूतों का समुदाय भी आत्मा का भ्रम उत्पन्न करता है। यथार्थ में वह उससे पृथक् नहीं है।

वृत्तिकार ने अंत में लिखा है—‘इन दृष्टान्तों के प्रतिपादक कुछ सूत्र कहे जाते हैं किन्तु मुझे प्राचीन सूत्र-प्रतियों तथा प्राचीन टीकाओं में वे प्राप्त नहीं हुए इसीलिए मैंने उनका उल्लेख नहीं किया है।’

श्लोक १४ :

४२. यह लोक (सोए)

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—सम्यक्स्वलोक, ज्ञानलोक या संयमलोक, अथवा इहलोक या परलोक या दूसरा कोई लोक।^१

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—‘चतुर्गत्यात्मक संसार किया है।’ लोक शब्द का अर्थ—दर्शन, दृष्टि या आलोक भी किया जा सकता है।

४३. हिंसा से प्रतिबद्ध (आरंभनिश्चिता)

आरंभ के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य आरंभ—छह जीवनिकायों का वध आदि।

२. भाव आरंभ—हिंसा आवि में परिणत असुप्त संकल्प।^२

वृत्तिकार ने हिंसाजन्य व्यापार से संबद्ध व्यक्ति को ‘आरंभनिश्चित’ माना है।^३

४४. तमसे घोर तम की ओर चले जाते हैं—(तमाओ ते तमं अंति)

तम के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य तम—नरक, तमस्काय, कुण्डराजि। ये तीनों अंधकारमय हैं।

२. भाव तम—मिथ्यादर्शन, एकेन्द्रिय अवस्था।^४

मिथ्यादर्शन में दृष्टि अंधकारपूर्ण होती है और एकेन्द्रिय जीव स्त्यानद्धि निद्रा (गहन सुषुप्ति) में होते हैं इसलिए ये तमस् की अवस्था में रहते हैं।

१. वृत्ति, पत्र २१ : अस्मिन्नाद्यं बहुषो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा—.....आप्ति समुत्पादयतीति। अमोषां च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि केचित्सूत्राणि व्याचक्षते, अस्माभिस्तु सूत्रादर्शेषु चिरन्तनटीकायां बाहुल्यवान्नोत्प्लिखितानोति।

२. वृत्ति, पृष्ठ २८ : लोकत्वात् सम्यक्स्वलोकः ज्ञानलोकः संयमलोकः वा, अथवा योऽभिप्रेतो लोकः परोऽन्यो वा।

३. वृत्ति, पत्र २३ : लोकः चतुर्गतिकसंसारः।

४. वृत्ति, पृष्ठ २८ : आरम्भे द्रव्ये भावे च। द्रव्ये वत्कायवधः, भावे हिंसाविपरिणता असुप्तसंकल्पा।

५. वृत्ति, पत्र २३ : प्राप्नुपमर्षकारिणि विवेकिजननिर्गते आरम्भे—व्यापारे निश्चयेन नितरां वा धिताः—संबद्धाः, पुण्यपापयोरभाव इत्याभित्य वरलोकनिरपेक्षतयाऽऽरम्भनिश्चिता इति।

६. वृत्ति, पृष्ठ २८ : तमो हि द्वेधा—द्रव्ये भावे च। द्रव्ये नरकः तमस्कायः कुण्डराजवधः, भावे मिथ्यादर्शनं एकेन्द्रिया वा।

तम के दो अर्थ हैं—मिथ्यादर्शन या अज्ञान ।' ब्रूणिकार के अनुसार इस पद का अर्थ है—ये प्राणी अज्ञान से अज्ञान की ओर ही जाते हैं ।

वृत्तिकार ने इस पद के दो अर्थ किए हैं—

१. ये प्राणी अज्ञान से ओर अज्ञान में जाते हैं ।

२. एक यातनास्थान (नरक) से दूसरे महत्तर यातनास्थान (सातवें नरक) में जाते हैं ।

४५. श्लोक १३-१४ :

अक्रियावादि पूरणकाश्यप का दार्शनिक पक्ष है । बौद्ध साहित्य में पूरणकाश्यप के विचारों का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है—

'कर्म करते-कराते, छेदन करते-कराते, पकाते-पकवाते, शोक कराते, परेशान होते, परेशान करते, चलते-चलाते, प्राणों का अतिपात करते, अदत्त लेते, सेंध लगाते, गांठ लूटते, चोरी-बदमाशी करते, परस्त्रीगमन करते तथा झूठ बोलते हुए भी पाप नहीं होता । तीक्ष्ण धार के चक्र से काटकर इस पृथ्वी के प्राणियों का कोई मांस का एक खलिहान बना दे, मांस का एक पुंज बना दे, तो भी उसको उसके द्वारा पाप नहीं होगा, पाप का आगम नहीं होगा । यदि घात करते-कराते, छेदन करते-कराते, पकाते-पकवाते, गंगा नदी के दक्षिण तट पर भी चला जाए तो भी इसके कारण उसके पाप नहीं होगा, पाप का आगम नहीं होगा । दान देते-बिलाते, यज्ञ करते-कराते, गंगा के उत्तर तीर पर भी आ जाए तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं होगा, पुण्य का आगम नहीं । दान से, दमन से, संयम से और सत्य-वचन से पुण्य नहीं होता, पुण्य का आगम नहीं होता ।'

पञ्चकात्यायन और पूरणकाश्यप—ये दोनों ही अक्रियावादी थे । ये दोनों ही पुण्य और पाप को अस्वीकार करते थे ।

प्रस्तुत श्लोकों की व्याख्या सांख्यदर्शनपरक भी की जा सकती है । ब्रूणिकार ने इसका संकेत भी दिया है ।' सांख्यदर्शन के अनुसार तेरहवें श्लोक का अनुवाद इस प्रकार होगा—'आत्मा कुछ करता है और कुछ करवाता है, किन्तु सब कुछ नहीं करता, इसलिए वह अकर्ता है । अक्रियावादी इस सिद्धान्त की स्थापना करते हैं ।'

ब्रूणिकार ने लिखा है—आत्मा सर्वथा, सर्वत्र और सर्वकाल में सब कुछ नहीं करता, इसलिए वह अकर्ता है ।'

वृत्तिकार ने लिखा है—(अकारवाद सांख्य दर्शन) के अनुसार आत्मा अमूर्त, नित्य और सर्वव्यापी है, इसलिए वह कर्ता नहीं हो सकता । यद्यपि उसमें स्थितिक्रिया तथा मुद्रा-प्रतिबिम्ब न्याय से भुजिक्रिया होती है, फिर भी वह सब क्रियाओं का कर्ता नहीं है, इसलिए वह अकर्ता है ।'

सांख्यकारिका में पुरुष (आत्मा) के पांच धर्म बतलाए गए हैं—साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व ।' पुरुष के अकर्तृत्वभाव की सिद्धि में दो हेतु हैं—'पुरुष विवेकी है तथा उसमें प्रसव धर्म का सर्वथा अभाव है । अविवेकता से ही सम्भूय-कारिता के रूप में कर्तृत्व आता है तथा जो प्रसवधर्म अर्थात् अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, वही कर्ता हो

१. ब्रूणि, पृष्ठ २८ : तम इति मिथ्यादर्शनं अज्ञानं वा ।

२. वृत्ति, पत्र २३ : अज्ञानरूपात्मसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति, भूयोऽपि ज्ञानावरणादिरूपं महत्तरं तमः संखिन्वन्तोयुक्तं भवति, यद्विवा—तम इव तमो—देःसमुद्घातेन सबसद्विवेकप्रध्वंसित्वाद्यातनास्थानं तस्माद्—एवंभूतात्मसः परतरं तमो यान्ति, सप्तमनरक-पृथिव्यां रौरवमहारौरवकालमहाकासाप्रतिष्ठानाद्यं नरकावासं यान्तीत्यर्थः ।

३. वीर्यनिकाय १।२।४।१७ ।

४. ब्रूणि, पृष्ठ २७ : एते नाम सांख्यादयः ।

५. बही, पृष्ठ २७ : सर्वं कुण्यं न विज्जति स्ति, सर्वं सर्वथा सर्वत्र सर्वकालं चेति ।

६. वृत्ति, पत्र २१, २२ : अकारकवादिमताभिधित्तया आह.....आत्मनश्चामूर्तत्वात्तत्त्वत्वात् सर्वव्यापित्वाच्च कर्तृत्वानुपपत्तिः, अत एव हेतोः कारयितृत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति ।यद्यपि च स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयस्यायेन (अपास्कटिकस्यायेन च) भुजिक्रियां करोति तथापि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्ति ।

७. सांख्यकारिका १६ : तस्माच्च विपर्ययात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृत्वमविवेकः ॥

सकता है। ये दोनों अविवेकता (सम्भूयकारिता) और प्रसवधर्मिता गुणों के ही धर्म हैं। अतः जहाँ गुण नहीं हैं उस पुरुष तत्त्व में इन दोनों धर्मों का भी अभाव ही रहेगा, इसलिए वह कर्ता नहीं, अकर्ता ही सिद्ध होता है।^१

कर्तृत्व सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों में ही निहित है, फिर भी उनकी सन्निधि से वह कर्ता की भांति प्रतीत होता है।^२

इस अभिमत के संदर्भ में तेहरवें श्लोक के प्रथम दो चरणों का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—आत्मा सब कुछ करने वाला और कराने वाला है (ऐसा प्रतीत होता है), (किन्तु वास्तव में) वह कर्ता नहीं है।

सांख्य दर्शन में कर्तृत्व का विचार अधिष्ठातृत्व और उपादान—इन दो दृष्टियों से किया गया है। 'मिट्टी से घड़ा बनता है'—इसमें मिट्टी उपादान है। 'मिट्टी घड़ा बन जाती है'—इस वाक्य में उपादान कर्ता रूप में प्रस्तुत है। प्रकृति कर्ता है—इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति बुद्धि आदि तत्त्वों का उपादान कारण है। पुरुष उनका उपादान कारण नहीं है, इसलिए वह अकर्ता है। पुरुष के सांनिध्य के बिना प्रकृति में परिणाम नहीं हो सकता, इसलिए वह अपनी सन्निधि के कारण उस परिणाम का साक्षी है, उसका अधिष्ठाता है। इस अधिष्ठातृत्व की दृष्टि से वह कर्ता भी है। तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है कि पुरुष प्रकृति के परिणाम का उपादान के रूप में कर्ता नहीं है, वह साक्षी रूप में कर्ता है। प्रकृति में उपादानमूलक कर्तृत्व है, पुरुष में अधिष्ठातृमूलक। यह सापेक्ष कर्तृत्व और अकर्तृत्व ही प्रस्तुत श्लोक में विवक्षित है।

४६. आत्मा को छट्ठा तत्त्व मानने वाले (आयच्छट्ठा)

आत्मा को छट्ठा तत्त्व मानने वाले अर्थात् पांच महाभूतों से यह अरीर निष्पन्न हुआ है और आत्मा छट्ठा तत्त्व है—ऐसा मानने वाले दार्शनिक।^३

४७. आत्मा और लोक शाश्वत हैं (आया लोगे य सासए)

'लोगे' का अर्थ है—पृथिवी आदि रूप वाला लोक। चूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१. प्रधान (प्रकृति) २. सम्यक्त्व।^४ कुछ दार्शनिक आत्मा और पांच भूतों को अनित्य मानते थे किन्तु आत्मवैशेषिकवादी इन्हें शाश्वत मानते थे। आत्मा सर्वव्यापी तथा अमूर्त होने के कारण आकाश की तरह शाश्वत है तथा पृथिवी आदि भूत अपने रूप से कभी प्रच्युत नहीं होते अतः वे भी शाश्वत हैं।^५

४८. ते

चूणिकार ने 'ते' शब्द से आत्मा और लोक का अर्थ फलित किया है।^६ वृत्तिकार ने 'ते' से पृथ्वी आदि पांच भूत और आत्मा का ग्रहण किया है।^७ वास्तव में चूणिकार का अभिमत संगत है।

श्लोक १६ :

४९. उन दोनों (आत्मा और लोक) (दुहओ)

चूणिकार को 'दुहओ' का यह अर्थ सम्मत है—आत्मा तथा आक्षुष-अचाक्षुष प्रकृति अथवा ऐहिक या आमुष्मिक लोक।^८

१. सांख्यकारिका, पृष्ठ ८६, ६० (ब्रजमोहन चतुर्वेदी कृत अनुवाद)
२. सांख्यकारिका, २० : गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तव्य भवत्युदासीनः ।
३. चूणि, पृष्ठ २८ : पंचमहभूतियं सरीरं, सरीरी छट्ठो, स च आत्मा ।
४. चूणि, पृष्ठ २८ : लोको नाम प्रधानः सम्यक्त्वं चेति ।
५. वृत्ति, पत्र २४ : एतानि आत्मवैशेषिकानि भूतानि यथाऽप्येवं आदिनामनित्यानि तथा नामोद्यमिति वक्ष्यति—आत्मा लोकश्च पृथिव्यादिकः 'शाश्वतः' अविनाशी, तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वावमूर्तत्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वं, पृथिव्यादीनां च तद्रूपाप्रच्युतेर-विनश्यत्त्वमिति ।
६. चूणि, पृष्ठ २८ ।
७. वृत्ति, पत्र २४ : ते आत्मवैशेषिकाः वृत्तिव्यापकाः पञ्चार्थाः ।
८. चूणि, पृष्ठ २८ : दुहओ नाम उदयतो, आत्मा प्रधानं आक्षुषमचाक्षुषं वा ऐहिकाऽऽमुष्मिको वा लोकः ।

वृत्तिकार ने 'उभयतः' का मुख्य अर्थ दो प्रकार का विनाश माना है—निर्हेतुक विनाश और सहेतुक विनाश । वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ द्विरूप अर्थात् चेतन या अचेतन जगत्—ये दोनों नष्ट नहीं होते—भी किया है ।^१

५०. सभी पदार्थ सर्वथा नियतिभाव को प्राप्त हैं । (सद्येधि सद्यहा भावा णियती भावमागया)

इन दो चरणों की व्याख्या में चूर्णिकार और वृत्तिकार एक मत नहीं हैं ।

चूर्णिकार ने इन दो चरणों का अर्थ साख्यदर्शन के आधार पर किया है । वे 'नियति' का अर्थ प्रधान (प्रकृति) करते हैं । उनके अनुसार इनका अर्थ होगा—महत् आदि सभी विकार प्रकृति के ही अधीन हैं ।^२

वृत्तिकार के अनुसार इनका अर्थ है—पृथ्वी आदि पांच महाभूत तथा आत्मा—ये सभी पदार्थ नित्य हैं, शाश्वत हैं । वृत्तिकार ने नियतिभाव का अर्थ नित्यत्व किया है ।^३

५१. श्लोक १५-१६ :

पंचमहाभूतवाद पकुघकात्यायन के दार्शनिक पक्ष की एक शाखा है । पकुघकात्यायन नित्यपदार्थवादी था । इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध (१।२३-२६) में मिलता है । पंचमहाभूतवादी मानते हैं—'.....' इस जगत् में पांच महाभूत हैं । हमारे मत के अनुसार जिनसे त्रिया-अत्रिया, मुक्त-दुःकृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु, सिद्धि-असिद्धि, नरक-स्वर्ग, तथा अन्ततः तृण मात्र कार्य भी निवृत्त होता है... उम भूत समवाय को पृथक्-पृथक् नामों से जानना चाहिए, जैसे—पृथ्वी पहला महाभूत है, पानी दूसरा महाभूत है, अग्नि तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पांचवा महाभूत है । ये पांच महाभूत अनिमित्त, अनिर्मापित, अकृत, अकृत्रिम, अकृत, अकृतक, अनादि, अनिघन (अनन्त), अवन्ध्य (सफल), अपुरोहित (दूसरे द्वारा अप्रवर्तित), स्वतंत्र और शाश्वत हैं ।"^४

बौद्ध साहित्य में पकुघकात्यायन द्वारा सम्मत सात कार्यों का उल्लेख मिलता है । 'ये सात काय (पदार्थ) अकृत, अकृतविघ, अनिमित्त, अनिर्मापित, वन्ध्य, कूटस्थ तथा खभे के समान अचल हैं । वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, आपस में कष्टदायक नहीं होते और एक-दूसरे को मुख-दुःख देने में असमर्थ हैं । पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा जीव—ये ही सात पदार्थ हैं । इनमें मारने वाला, मरने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला, कोई नहीं । जो भी तीक्ष्ण शस्त्र से सिर का छेदन करता है, वह किसी जीव का व्यपरोपण नहीं करता । वह शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश (रिक्त स्थान) में घुसता है ।"^५

१. वृत्ति, पत्र २४, २५ : उभयतः इति निर्हेतुकविनाशद्वयेन न विनश्यन्ति.....यदि वा—बुद्ध्योऽपि द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चेतना-चेतनरूपास्त विनश्यन्तीति ।

२. चूर्ण, पृष्ठ २८ : सद्येधिमहादयो विकाराः । नियतिर्नाम प्रधानम् तामागताः ।

३. वृत्ति, पत्र २५ : सर्वोपि भावाः—पृथिव्यादय आत्मवृद्धाः नियतिभावा नित्यत्वमागताः ।

४. सूयगडो १।२५, २६ : तेषि च णं एगइए सङ्गी भवति । कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिसु गमणाए । तत्थ अण्णतरेणं धम्मेषणं पण्णत्तारो, वयं इमेण धम्मेषणं पण्णवइसामो । से एवमायाणह भयंतारो ! जहा मे एस धम्मो सुयक्खाते सुपण्णत्ते भवति—इह खलु पचमहम्मूया जेहि णो कज्जइ किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुकडे इ वा बुक्कडे इ वा कल्याणे इ वा पावए इ वा साहू इ वा असाहू इ वा सिद्धी इ वा असिद्धी इ वा णिए इ वा अणिए इ वा, अवि अंतसो तणमायमवि ।

तं च पदोद्देशेणं पुढोभूतसमवायं जाणेज्जा, तं जहा—पुढो एगे महम्मूते, आऊ बुक्खे महम्मूते, तेऊ तच्चे महम्मूते, वाऊ खउत्थे महम्मूते, आगासे पंचमे महम्मूते । इच्चेते पंच महम्मूया अणिम्मिया अणिम्मिया अकडा णो किल्हिमा णो कडगा अणा-विया अणिघणा अवभा अपुरोहिता सत्ता सासया ।

५. दीर्घनिकाय १।२।४।२५ : एवं वुत्ते, भन्ते, पकुघो कच्चायनो मं एतद्वोच—'सत्तिमे, महाराज, काया अकटा अकटविधा अनिम्मिता अनिम्माता वच्चा कूट्ठा एसिकट्टायिट्ठिता । ते न इज्जन्ति, न विपरिणामेन्ति, न अज्जमज्जं व्याबाधेन्ति, नाल अज्जमज्जस्स सुखाय वा दुक्खाय वा सुखदुक्खाय वा । कस्समे सत्त ? पडविकायो, आपोकायो, तेजोकायो, वायोकायो, सुखे, दुक्खे, जोखे सत्तमे—इमे सत्त काया अकटा अकटविधा अनिम्मिता अनिम्माता वच्चा कूट्ठा एसिकट्टायिट्ठिता । ते न इज्जन्ति, न विपरिणामेन्ति, न अज्जमज्जं व्याबाधेन्ति, नालं अज्जमज्जस्स सुखाय वा दुक्खाय वा सुखदुक्खाय वा । तत्थ नत्थि हत्ता वा घातेता वा सोता वा सावेता वा विज्जाता वा विज्जापेता वा । यो पि तिण्हेन सत्थेन सोस खिन्वति, न कोवि किञ्चि जीविता वोरोपेति, सत्तमं स्वेव कायावसत्तरेण सत्थं विवरमनुपत्तती' ति ।

अकृत, अनिर्मित और अवन्ध्य—नित्यवाद की सूचना देने वाले ये तीनों शब्द जैन और बौद्ध—दोनों की साहित्य परंपराओं में समान हैं। पंचमहाभूत और सात काय—ये दोनों भिन्न पक्ष हैं। इस भेद का कारण पकुघकात्यायन की दो विचार-शाखाएं हो सकती हैं और यह भी संभव है कि जैन और बौद्ध लेखकों को दो भिन्न अनुभूतियां उपलब्ध हुई हों।

आत्म-षष्ठवाद पकुघकात्यायन के दार्शनिक पक्ष की दूसरी शाखा है। इसकी संभावना की जा सकती है कि पकुघकात्यायन के कुछ अनुयायी केवल पंचमहाभूतवादी थे। वे आत्मा को स्वीकार नहीं करते थे। उसके कुछ अनुयायी पांच भूतों के साथ-साथ आत्मा को भी स्वीकार करते थे। वह स्वयं आत्मा को स्वीकार करता था। सूत्रकार ने उसकी दोनों शाखाओं को एक ही प्रवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी आधार पर उक्त संभावना की जा सकती है।

पकुघकात्यायन भूतों की भांति आत्मा को भी कूटस्थनित्य मानता था। इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध (१।२७, २८) में उपलब्ध है। आत्मषष्ठवादी मानते हैं—

‘.....सत् का नाश नहीं होता, असत् का उत्पाद नहीं होता। इतना (पांच महाभूत या प्रकृति) ही जीवकाय है। इतना ही अस्तिकाय है। इतना ही समूचा लोक है। यही लोक का कारण है और यही सभी कार्यों में कारणरूप से व्यापृत होता है। अन्ततः तृणमात्र कार्य भी उन्हीं से होता है।’ (उक्त सिद्धांत को मानने वाला) स्वयं क्रय करता है, दूसरों से करवाता है, स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है, स्वयं पकाता है, दूसरों से पकावाता है और अन्ततः मनुष्य को भी बेचकर या मारकर कहता है—‘इसमें भी दोष नहीं है’—ऐसा जानो।’

इलोक १७-१८ :

५२. इलोक १७-१८ :

बौद्ध पिटकों में पांच स्कंध प्रतिपादित हैं—रूपस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध, संस्कारस्कंध और विज्ञानस्कंध^१। ये सब क्षणिक हैं। बौद्ध केवल विशेष को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में सामान्य यथार्थ नहीं होता। अतीत का क्षण बीत जाता है और अनागत का क्षण प्राप्त नहीं होता, केवल वर्तमान का क्षण ही यथार्थ होता है। इन क्रमवर्ती क्षणों में उत्तरवर्ती क्षण वर्तमान क्षण से न अन्य होता है और न अनन्य होता है। वे प्रतीत्यसमुत्पाद को मानते हैं, इसलिए वर्तमान क्षण न सहेतुक होता है और न अहेतुक होता है।

चूणिकार के अनुसार बौद्ध आत्मा को पांच स्कंधों से भिन्न या अभिन्न—दोनों नहीं मानते।^२ उस समय दो दृष्टियां प्रचलित थीं। कुछ दार्शनिक आत्मा को शरीर से भिन्न मानते थे और कुछ दार्शनिक आत्मा और शरीर को एक मानते थे। बौद्ध इन दोनों दृष्टियों से सहमत नहीं थे। आत्मा के विषय में उनका अभिमत था कि वही जीव है और वही शरीर है—ऐसा नहीं कहना चाहिए। जीव अन्य है और शरीर अन्य है—ऐसा भी नहीं कहना चाहिए।^३

बौद्ध का दृष्टिकोण यह है कि स्कंधों का भेदन होने पर यदि पुद्गल (आत्मा) का भेदन होता है तो उच्छेदवाद प्राप्त हो जाता है। बुद्ध ने इस उच्छेदवादी दृष्टि का वर्जन किया है। स्कंधों का भेदन होने पर यदि पुद्गल (आत्मा) का भेदन नहीं होता है तो पुद्गल शाश्वत हो जाता है। वह निर्वाण जैसा बन जाता है।^४ उक्त दोनों—उच्छेदवाद और शाश्वतवाद सम्मत नहीं हैं, इसलिए

१. सूयगडो २।१।२७, २८ : आयछट्ठा पुण एगे एवमाहु—सतो जत्थि बिणासो, असतो जत्थि संभवो। एताव ताव जीवकाए, एताव ताव अस्थिकाए, एताव ताव सब्बलोए, एतं मुहं लोगस्स करणयाए, अवि अंतसो तणमायमवि।

से किणं किणावेमाणे, हणं घाषमाणे, पयं पयावेमाणे, अवि अतसो पुरिसमवि विक्किजिस्ता घायइस्ता, एत्थं पि जाणाहि जत्थित्थ दोसो।

२. वीघनिकाय १०।३।२० : पञ्चकल्लंघो—रूपकल्लंघो वेदनाकल्लंघो, संज्ञाकल्लंघो, संस्कारकल्लंघो, विज्ञानकल्लंघो।

३. चूणि, पृष्ठ २६ : न चैतेव्वारमाऽस्तर्गतो (भिन्नो) वा विद्यते, संबेद्यस्मरणप्रसङ्गादित्यादि तेषामुत्तरम्।

४. कथावत्थुपासि १।१।६१, ६२ : ...तं जीवं तं सरीरं ति ? न हेवं वत्तब्बे...।

अकणं जीवं अकणं सरीरं ? न हेवं वत्तब्बे...॥

५. वही, १।१।६४ : अग्घेसु भिज्जमानेसु, सो चे भिज्जति पुगलो।

उच्छेदा भवति विट्ठि, या बुद्धेन विवज्जिता॥

अग्घेसु भिज्जमानेसु, नो चे भिज्जति पुगलो।

पुगलो सस्सतो होति, निब्बानेन समसमो ति॥

यह नहीं कहना चाहिए कि स्कंधों से पुद्गल भिन्न है और यह भी नहीं कहना चाहिए कि स्कंधों से पुद्गल अभिन्न है।

चूर्णिकार के अनुसार स्कंधमात्रिक बौद्ध आत्मा को हेतुमात्र मानते थे और शून्यवादी उसे अहेतुक मानते थे।^१ किन्तु मूल सूत्र में सहेतुक और अहेतुक—दोनों का अस्वीकार किया गया है। चूर्णिकार की व्याख्या उत्तरवर्ती परंपराओं के आधार पर की हुई है। पिटको के आधार पर बौद्ध हेतु और अहेतु—दोनों को अस्वीकार करते हैं। इसके अस्वीकार से ही प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त विकसित किया गया है।

बौद्धों का अभिमत यह है—

१. यदि आत्मा और जगत् को सहेतुक माना जाए तो शाश्वतवाद की स्थिति बनती है।
२. सत्त्वों के क्लेश का हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं है, बिना हेतु और बिना प्रत्यय के ही सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है, माना जाए तो अहेतुवाद की स्थिति बनती है।
३. प्रकृति, अणु, काल आदि के अनुसार लोक प्रवर्तित है—ऐसा मानने पर विषम हेतुवाद की स्थिति बनती है।
४. लोक ईश्वर, पुरुष, प्रजापति के वशवर्ती है—ऐसा मानना वशवर्तीवाद की स्थिति बनती है।

ये चारों विकल्प अमान्य हैं।

बौद्ध इसीलिए प्रतीत्य समुत्पादवाद को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि 'प्रतीत्य' शब्द से शाश्वत आदि वादों का अस्वीकार और 'समुत्पाद' से उच्छेद आदि का प्रहाण किया गया है।^२

इलोक १६ :

५३. आरण्यक (आरण्या)

अरण्य में रहने वाले तापस आदि।^३

५४. प्रव्रजित (पव्वया)

वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा शाक्य आदि भिक्षुओं का^४ और चूर्णिकार ने उदक शीघ्रवादी का ग्रहण किया है।^५

५५. इस दर्शन में आ जाता है (इमं वरिसमावण्णा)

इसका अर्थ है—इस दर्शन को प्राप्त। चूर्णिकार ने 'इस दर्शन' से शाक्य दर्शन अथवा सभी भोजवादी दर्शनों का ग्रहण किया है।^६

वृत्तिकार ने पञ्चभूतवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी तथा सांख्य आदि भोजवादियों का ग्रहण किया है।^७ किन्तु प्रकरण के अनुसार इस वाक्य का संबंध शाक्य दर्शन से ही होना चाहिए।

१. चूर्णि, पृष्ठ २६ : तथा स्कन्धमातृका हेतुमात्रमात्रमानमिच्छन्ति बीजाङ्कुरवत् । अहेतुकं शून्यवादिना—

हेतु - प्रत्यय - सामग्रीपृथग्भावेष्वासम्भवात् ।

तेन तेनाभिलाप्या हि, भावाः सर्वे स्वभावाः ॥

२. विसुद्धिमग्न, भाग ३ पृ ११८५ : पुरिमेन सस्सताहीनमभाओ पच्छिमेन च पदेन ।

उच्छेदाविधिघातो द्वयेन परिबीयितो आयो ।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ २६ : अरण्ये वा तापसावयः ।

(ख) वृत्ति, पत्र २८ : आरण्या वा तापसावयः ।

४. वृत्ति, पत्र २८ : प्रव्रजिताश्च शाक्यावयः ।

५. चूर्णि, पृष्ठ २६ : पव्वया नाम अथइत्ता (पव्वइत्ता) वगसोअवरियावयो ।

६. चूर्णि, पृष्ठ २६ : एयं वरिसणमिति एयं सक्कवरिसणं वा जाणि य भोजवाविवरिसणाणि वृत्ताइं ताइं ।

७. वृत्ति, पत्र २८, २९ ।

सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है (सम्बुद्धत्वा विमुक्त्यति)

पंचभूतवादी तथा तज्जीवतच्छरीरवादी मानते हैं कि जो हमारे मत का आश्रय लेते हैं, वे गृहस्थ शिर और मुंह के मुंडन, शर्म, जटा, काषाय चीवर आदि के धारण करने, केतनोच्च, नग्नता, तपश्चरण आदि कायक्लेश रूप कष्टों से मुक्त हो जाते हैं। के लिए आवश्यक नहीं होते, क्योंकि कहा भी है—

‘तपोसि यातनाश्चित्राः’ संयमो भोगवञ्चनम् ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥’

तप, विभिन्न प्रकार की यातनाएँ, संयम, भोग से वंचित रहना तथा अग्निहोत्र आदि सारे अनुष्ठान बालक्रीडा की भांति हैं।

सांख्य आदि मोक्षदर्शनवादी कहते हैं कि जो हमारे दर्शन को स्वीकार कर प्रव्रजित होते हैं वे जन्म, मरण, बुढ़ापा, गर्भ- तथा अनेक प्रकार के तीव्रतम शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। वे समस्त वृद्धों से मुक्त हो मोक्ष पा लेते

ब्रूणिकार ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है—बौद्ध उपासक भी सिद्ध हो जाते हैं तथा आरोग्य देव भी देवयोनि से हो जाते हैं। सांख्य मतानुयायी गृहस्थ भी अपवर्ग को प्राप्त कर लेते हैं।^१

इस श्लोक की व्याख्या बौद्ध दर्शन से संबंधित है इसलिए ‘इमं दरिद्रणं’ का अर्थ बौद्ध दर्शन ही होना चाहिए।

तेषाविमं

ब्रूणिकार ने ‘तेण’ शब्द उपासको की संज्ञा है—ऐसा सूचित किया है।^१ किन्तु बौद्ध साहित्य में इसकी कोई जानकारी नहीं है। हमने इसका संस्कृत रूप—‘तेनापीद’ किया है। यहां ‘तेन’ शब्द पूर्व श्लोक में आए हुए गृहस्थ, आरम्भिक और प्रव्रजित का सम है।

त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से (तिणञ्जा)

ब्रूणिकार ने त्रि शब्द को त्रिपिटक का सूचक बतलाया है।^१ वृत्ति में ‘तेषाविमं तिणञ्जाणं’ पाठ के स्थान पर ‘तेषाविणञ्जाणं’ पाठ मिलता है। उसमें त्रिपिटक का उल्लेख नहीं है।^१

दुःख के प्रवाह का पार नहीं पा सकते (ओहंतराहिया)

यहां दो पदों में संघि है—ओहंतरा+आहिया। ‘ओहतरा’ का अर्थ है—कर्म के प्रवाह को तरने वाला। ओध दो प्रकार का है—द्रव्य और भाव। द्रव्योष अर्थात् समुद्र और भावोष अर्थात् आठ प्रकार के कर्म, संसार।^१

श्लोक २८ :

श्लोक २८ :

प्रस्तुत श्लोक में आए हुए अनेक शब्दों से पूर्वोक्त कुछ दर्शनों का निरसन होना है। यह ब्रूणिकार का अभिमत है।

उपवर्णना—इसका अर्थ है कि जीव युक्तियों से सिद्ध है। इस पद के द्वारा पंचभूतवादी तथा तज्जीवतच्छरीरवादी मतों का करण किया है।

तृप्ति, पत्र २८; २९।

तृप्ति, पृष्ठ २९ : तच्छब्धिणयाणं उवासगा वि सिउञ्जति, आरोग्यगा वि अणागमणधम्मिणो य देवा ततो केव निव्वन्ति । साङ्ख्याना-पि गृहस्थाः अपवर्गमाप्नुवन्ति ।

तृप्ति, पृष्ठ ३० : तेण त्ति उपासकानामाकया ।

तृप्ति, पृ० ३० : त्रिपिटकज्ञानेन ।

तृप्ति, पत्र २९।

तृप्ति, पृ० ३० : ओहो द्रव्ये भावे च, द्रव्योषः समुद्रः, भावोषस्तु अष्टप्रकारं कर्म यतः संसारो भवति ।

पुढो—जीव शरीर की दृष्टि से या नरक आदि भवों की उत्पत्ति की दृष्टि से पृथक्-पृथक् है। इससे आत्माद्वैतवाद का निरसन होता है।

जिया—जीव। इससे पंच स्कन्ध से अतिरिक्त जीव का अभाव मानने वाले बौद्धों का निरसन किया गया है।

वेदयन्ति सुहं दुःखं—प्रत्येक जीव सुख-दुःख का अनुभव करता है। इससे आत्मा के अकर्तृत्व का निरसन किया गया है। अकर्ता और अधिकारी आत्मा में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता।

अबुवा सुप्पन्ति ठाणओ—इस पद के द्वारा जीवों का एक भव से दूसरे भव में जाने की स्वीकृति है।^१

चूर्णिकार ने इस प्रकार की कोई चर्चा नहीं की है।

श्लोक २६ :

६१. सैद्धिक—निर्वाण का सुख हो अथवा असैद्धिक—सांसारिक सुख-दुःख हो (सेहियं वा असेहियं)

चूर्णिकार ने सैद्धिक का अर्थ 'निर्वाण' किया है।^२ वृत्तिकार ने सैद्धिक-सुख का अर्थ 'अपवर्गसुख' और असैद्धिक-दुःख का अर्थ सांसारिक दुःख किया है। यह मुख्य अर्थ है। विरूप रूप में इन्होंने सैद्धिक और असैद्धिक—दोनों शब्दों को सुख और दुःख—इन दोनों के साथ जोड़कर भी अर्थ प्रस्तुत किया है। वह इस प्रकार है—

सैद्धिक सुख—माला, चन्दन, अगना आदि के उपभोग से प्राप्त सुख।

सैद्धिक दुःख—चाबुक मारने, ताड़ना देने, तप्त शलाका द्वारा हागने से उत्पन्न दुःख।

असैद्धिक सुख—बाह्य निमित्त के बिना आन्तरिक आनन्द रूप सुख जो आकस्मिक रूप से उत्पन्न होता है।

असैद्धिक दुःख—शरीर में उत्पन्न ज्वर, मस्तक पीडा, शिरःशूल आदि।^३

श्लोक ३० :

६२. नियतिजनित (संगइयं)

चूर्णिकार ने इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है—संगते इदं—सागतिकं, अथवा संगते वा हितं—मागतिक। इसके दो अर्थ किए हैं—सहगत अर्थात् समुक्त अथवा जो आत्मा के साथ नित्य संगत रहते हैं।^४

वृत्तिकार ने संगति का अर्थ नियति किया है। संगति में होने वाला 'सागतिक' कहा जाता है। इसका अर्थ है—नियतिजनित।^५

श्लोक ३१ :

६३. कुछ सुख-दुःख नियत होता है और कुछ अनियत (णिययाणिययं संतं)

चूर्णिकार के अनुसार नियत का अर्थ है—जो कर्म जैसे किए गए हैं उनका उसी प्रकार वेदन करना। जैसे देव और नारको का आयु निरूपक्रम (निमित्तों से अपरिवर्तनीय) होता है। अनियत का अर्थ है—जो कर्म जैसे किए गए हैं उनका उसी प्रकार से वेदन न करना। जैसे—मनुष्य और तिर्यञ्च का आयु सामान्यतः सारूपक्रम (निमित्तों से परिवर्तनीय) होता है।^६

१ वृत्ति, पत्र ३०, ३१।

२ चूर्ण, पृ० ३१ : सेधन सिद्धिः निर्वाणमित्यर्थः।

३ वृत्ति, पत्र ३१।

४ चूर्ण, पृ० ३१ : संगतेरिव सगतियं भवति, संगतेर्वा हितं संगतिकं भवति।

५ वृत्ति, पत्र ३२ : संगइयं ति सम्यक् स्वपरिणामेन गतिः—यस्य यदा यत्र यस्सुखदुःखानुभवं सा संगतिः—नियतिस्तस्यां भवं सांगतिकम्।

६ चूर्ण, पृ० ३२ : णियता-अणियत सत जे जघा कडा कम्मा से तथा चेव णियमेण वेदिजंति ति एवं नियतं। तं जघा—णियवक्कमायू देव-जेरतिय ति, अणियतं सोवक्कमायू ति।

वृत्तिकार ने भी सुख आदि के नियतिकृत और अनियतिकृत दोनों प्रकार बतलाए हैं ।'

वृत्तिकार ने 'संत' का अर्थ 'सद्भूत' (यथार्थ) और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—'इतना होने पर भी'—किया है ।'

श्लोक ३२ :

६४. पार्श्वस्थ (नियति का एकांगो आपहृ रत्नने वाले नियतिवादी) (पासस्था)

'पासस्थ' जैन आगमों का प्रचलित शब्द है । इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—पार्श्वस्थ और पाशस्थ । इन दोनों के आधार पर इसकी व्याख्या की गई है । जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पार्श्व—तट पर ठहरता है, वह पार्श्वस्थ होता है ।' मिथ्यात्व आदि के पास से जो बछ होता है, वह पाशस्थ कहलाता है ।' किन्तु 'पासस्थ' का मूलस्पर्शी संस्कृत रूप केवल पार्श्वस्थ ही होना चाहिए । पाशस्थ कोरा बौद्धिक है, मूलस्पर्शी नहीं । पार्श्वस्थ का जो अर्थ किया गया है वह भी मौलिक नहीं लगता । इसका मूलस्पर्शी अर्थ होना चाहिए—भगवान् पार्श्व की परम्परा में स्थित ।

भगवान् पार्श्व भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्ववर्ती हैं । भगवान् पार्श्व के अनेक शिष्य भगवान् महावीर के तीर्थ में प्रव्रजित हो गए । अनेक साधु प्रव्रजित नहीं भी हुए । हमारा अनुमान है कि भगवान् पार्श्व के जो शिष्य भगवान् महावीर के शासन में सम्मिलित नहीं हुए, उन्हीं के लिए 'पासस्थ' [पार्श्वस्थ] शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के आचार की अपेक्षा भगवान् पार्श्व का आचार मृदु था । जब तक भगवान् महावीर या सुधर्मा आदि शक्तिशाली आचार्य थे तब तक दोनों परम्पराओं में सामंजस्य बना रहा । किन्तु समय के प्रवाह में जब सामंजस्य स्थापित करने वाले शक्तिशाली आचार्य नहीं रहे तब पार्श्वनाथ के शिष्यों के प्रति महावीर के शिष्यों में हीन भावना इतनी बढ़ी कि पार्श्वस्थ शब्द शिथिल आचारी के अर्थ में रूढ हो गया ।

पार्श्वस्थ दो प्रकार के हैं—

१. सर्वतः पार्श्वस्थ—जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पार्श्व—तट पर स्थित होता है ।

२. देशतः पार्श्वस्थ—जो शय्यातटपिण्ड, अभिहृतपिण्ड, राजपिण्ड, नित्यपिण्ड, अग्रपिण्ड का विशेष आलम्बन के बिना सेवन करता है ।

पार्श्वस्थ की पहली व्याख्या का संबंध शायद नियतिवादी आजीवक सम्प्रदाय से है और दूसरी स्वयूथिक जैन निग्रन्थों से । पार्श्वस्थों को स्वयूथिक भी कहा गया है ।

वृत्तिकार ने पार्श्वस्थ के दो अर्थ बतलाए हैं—

१. युक्तियों से बाहर ठहरने वाला—अधौक्तिक बात को मानने वाला ।

२. परलोक की क्रिया की व्यर्थता मानने वाला ।

१. वृत्ति, पत्र ३२ : सुखादिकं किञ्चिन्नियतिकृतम्—अवश्यंभाविपुत्रप्रापितं तथा अनियतम्—आत्मपुरुषकारेश्वरादिप्रापितम् ।

२. (क) वृत्ति, पृ० ३२ : संतं सद्भूतं ।

(ख) वृत्ति, पत्र ३२ : संतं सत् ।

३. ४. प्रवचनसारोद्धार, गाथा १०४, वृत्ति, पत्र २५ : पार्श्व—तटे ज्ञानादीना यस्तिष्ठति स पार्श्वस्थः । अथवा मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः पाशा इव पाशास्तेषु तिष्ठतीति पाशस्थः ।

५. वही, गाथा १०४, १०५ :

सो पासस्थो बुद्धिहो सखे देसे य होइ नायव्वो ।

सखमि नाणवंसनखरणणं जो उ पासमि ॥

देसमि य पासस्थो सेज्जायरडभिह्वरायपिण्डं च ।

नीयं च अगपिण्ड भुज्झ निव्वकारणे चेव ॥

वृत्ति, पत्र २५ : स च द्विभेदः—सर्वतो देशतश्च, तत्र सर्वतो यः केवलवेष्टधारी सम्पन्नज्ञानवर्शनचारित्र्यैः पृथक् तिष्ठति, देशतः पुनः पार्श्वस्थः स यः कारणं तथाविधमन्तरेण शय्यातराभ्याहृतं नृपतिपिण्डं नित्यिकमग्रपिण्डं वा भुङ्क्ते ।

६. वृत्ति, पत्र ३३ : युक्तिकवम्बकाद् बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः परलोकक्रियापार्श्वस्था वा नियतिपक्षसमाधायणात् परलोकक्रिया-वैयर्थ्यम् ।

उनके अनुसार एकात्मवादी तथा कालवादी और ईश्वरकारणिक पार्श्वस्थ हैं।^१

चूर्णिकार ने इस शब्द की कोई व्याख्या नहीं की है।

प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ—नियति का एकांगी आग्रह रखने वाले नियतिवादी ही उपयुक्त लगता है। नियतिवादी आजीवकों का संबंध भगवान् पार्श्व की परम्परा से था, अतः उनके लिए 'पार्श्वस्थ' शब्द का उपयोग बहुत अर्थ-सूचक है।

६५ एबंपुवद्विया

यहां तीन पदों में संघि है—एबं + अपि + उवद्विया।

इसका अर्थ है—साधना मार्ग में प्रवृत्त होने पर भी।

श्लोक ३३ :

६६. मृग (मृगा)

मृग के दो अर्थ होते हैं—हिरण और आरण्यक पशु। चूर्णिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ—'वातमृग' किया है। यह हिरणों की एक जाति है जो तीव्र-गमन के लिए प्रसिद्ध है।^२

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—आरण्यक पशु किया है।^३

६७ मृगजाल से (परिताणेण)

चूर्णिकार और वृत्तिकार इसका सर्वथा भिन्न अर्थ करते हैं। चूर्णिकार ने इसका अर्थ वागुरा—मृगजाल किया है और वृत्तिकार ने इसका अर्थ परित्राण—रक्षा का साधन माना है।^४

इस अर्थ-भेद का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि चूर्णिकार ने 'परिताणेण तज्जिया' मान कर यह अर्थ किया है और वृत्तिकार ने 'परिताणेण वज्जिया' मानकर अर्थ किया है। 'तज्जिया' और 'वज्जिया' के कारण ही यह अर्थ-भेद हुआ है।^५

वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप से चूर्णिकार के अर्थ को मान्य किया है।^६

६८. भयभीत (तज्जिया)

मृग उस मृगजाल में फस कर बाहर नहीं निकल पाते। एक ओर वह मृगजाल होता है और दूसरी ओर हाथी, अश्व और पैदल सेना होती है। एक ओर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पाशकूट आदि होते हैं। इस स्थिति में वे मरण-भय से उद्विग्न हो जाते हैं।^७

६९. भ्रान्त (विगमूढ) होकर (संता)

चूर्णिकार ने इस शब्द के द्वारा मृग की यौवन अवस्था का ग्रहण किया है। वह मृग अनुपहत शरीर, वय और अवस्था वाला तथा शक्तिसंपन्न होता है।^८

१. वृत्ति, पत्र ३३ : एकान्तवाचिनः कालेश्वरादिकारणिकाः पार्श्वस्थाः ।

२. चूर्ण, पृ० ३२ : मृगाः तत्रापि वातमृगाः परिगृह्यन्ते ।

३. वृत्ति, पत्र ३३ : मृगा आरण्याः पशवः ।

४. (क) चूर्ण, पृ० ३२ : परितानं वागुरेत्यर्थः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ३३ : परि—समन्तात् त्रायते—रक्षतीति परित्राणम् ।

५. (क) चूर्ण, पृ० ३२ : परिताणेण तज्जिता—तज्जिता चारिता ग्रहता इत्यर्थः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ३३ : परित्राणं तेन वज्जिता—रहिताः ।

६. वृत्ति, पत्र ३३ : यद्वि वा—परितानं—वागुराविबन्धनम् ।

७. चूर्ण, पृ० ३२ : न शक्यमेतत् परितानं निस्तर्तुम् । सा च एगतो वागुरा, एकतो हस्तपश्वपदातिव्रतो यथाविभवतो सेना, एकतः पाश—कूटोपगा यथाविभागशः । नित्यत्रस्ताः तत्र ते मृगाः स्वजात्यादिभिः परितुष्टमाना मरणभयोद्विग्नाः ।

८. वही, पृ० ३२ : संतग्रहणान्निवृत्तशरीर-वयो-वस्था अक्षीणपराक्रमाः ।

वृत्तिकार ने इसको शतृ प्रत्यय का बहुवचन मात्र माना है ।^१ हमने इसका अर्थ श्रान्त किया है ।

श्लोक ३५ :

७०. बाध को (वर्धं)

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—वर्ध और 'बन्ध' ।^१ इसका अर्थ है—बन्धन के आकार में व्यवस्थित बागुरा आदि । बन्धन बांधने के कारण बंध कहलाते हैं ।

इसका संस्कृत रूप 'वर्ध' ही होना चाहिए ।

७१. पदपाश से (पदपाशाओ)

वृत्तिकार ने 'पदपाश' का अर्थ 'कूट' किया है ।^१

वृत्तिकार ने पदपाश के दो अर्थ किए हैं । 'पदपाश' को एक शब्द मानकर उसका अर्थ बागुरा आदि बन्धन किया है और 'पद' तथा 'पाश' को भिन्न-भिन्न मानकर पद का अर्थ कूट और पाश का अर्थ बन्धन किया है ।^१

श्लोक ३६ :

७२. विषमान्त—संकरे द्वार वाले (विसमंते...)

वृत्तिकार ने 'विसमंतेणुवागते' इस पद की दो प्रकार से व्याख्या की है । (१) विषमान्तकूट, पाश आदि से युक्त प्रदेश से उपागत (२) विषम अन्त वाले कूटपाश आदि में स्वयं को फंसाने वाला ।^१

वृत्तिकार ने 'विसमंतेणुवागये'—इन्को तीन पद मानकर 'विसम' को बागुरा-द्वार का विशेषण माना है ।^१

श्लोक ३७ :

७३. अनार्य (अणारिया)

अनार्य तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञान अनार्य, दर्शन अनार्य और चरित्र अनार्य ।^१

वृत्तिकार ने असद् प्रवृत्ति करने वाले को अनार्य माना है ।^१ प्रज्ञापना में आर्य और श्लेच्छ (अनार्य) के अनेक प्रकार निर्दिष्ट हैं ।^१

७४. अशंकनीय के प्रति.....शंका नहीं करते (असंकियाइं.....असंकियो)

वे मिथ्यादृष्टि अनार्य ज्ञान, दर्शन, और चरित्र तथा जो अशंकनीय हैं उनके प्रति शंका करते हैं और कहते हैं कि ससार जीव-बहुल है, अतः यहां अहिंसा का पालन नहीं किया जा सकता । जिन कुदृश्यों के प्रति संकित रहना चाहिए उनके प्रति वे श्रद्धा व्यक्त करते हैं और उन पर विश्वास करते हैं ।^१

१. वृत्ति, पत्र ३३ : (वेगबन्तः) सन्तः ।

२. वृत्ति, पत्र ३३ : वर्धंति वर्धंति वा बन्धनाकारेण व्यवस्थितं बागुरादिकं वा बन्धनं बन्धकत्वाद् बन्धमुच्यते ।

३. वृत्ति, पृ० ३३ : पदं पासयतीति पदपाशः कूटः उपको वा ।

४. वृत्ति, पत्र ३४ : पदे पाशः पदपाशो—बागुरादिबन्धनं तस्मान्मुच्येत, यदि वा पदं—कूटं पाशः—प्रतीतः ।

५. वृत्ति, पत्र ३४ : विषमान्तेन कूटपाशाद्विद्युतेन प्रदेशेनोपागतः, यदि वा—विषमान्ते—कूटपाशादिके ।

६. वृत्ति, पृ० ३३ ।

७. अही, पृ० ३३ : अणारियंति ज्ञान-वंसज-चरित-अणारिया ।

८. वृत्ति, पत्र ३४ : अनार्या अज्ञानावृत्त्यावसन्नमुच्छासिनः ।

९. प्रज्ञापना, पद १, सूत्र ८८-१२९ ।

१०. वृत्ति, पृष्ठ ३३ : ते असंकित्याइं संकित्यो, ज्ञान-वंसज-चरिताइं (असंकित्याइं) ताइं तयोभीक्ष्ण्ये अन्येष्व जीवबहुत्वादिभिः पदेर्नात्र शक्यते अहिंसा निष्पादयितुमिति संकति ज सहृति, संकित्याइं कुवंसजाइं ताइं असंकियो सहृति पत्तिरिति ।

श्लोक ३८ :

७५. अव्यक्त (अवियता)

अव्यक्त का अर्थ है—अपरिपक्व बुद्धि वाले । जो हिंसा और अहिंसा में भेद करना नहीं जानते उन्हें यहां अव्यक्त कहा गया है ।'

अव्यक्त की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है । जिसके कोंख आदि में केश नहीं आ जाते तब तक वह अव्यक्त होता है । सोलह वर्ष की आयु के नीचे वाला व्यक्ति अव्यक्त होता है ।'

७६. मोहमूढ (मूढगा)

मूढ दो प्रकार के होते हैं—अज्ञानमूढ और दर्शनमूढ ।'

वृत्तिकार ने सहज सद्बिबेक से विकल व्यक्ति को मूढ माना है ।'

७७. शंका करते हैं (संकंति)

धर्म-प्रज्ञापना के विषय में उनका मत है कि इसकी आराधना कठिन है । अथवा वे उन पर श्रद्धा ही नहीं करते । अथवा यह ऐसा ही है या नहीं, ऐसी शंका करते हैं—जैसे पृथ्वी आदि प्राणियों में जीवत्व है या नहीं ?'

श्लोक ३९ :

७८. श्लोक ३९ :

प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त सर्वात्मक, व्युत्कर्ष, नूत और अप्रीतिक—ये चारों शब्द चार कषाय के वाचक हैं ।

लोभ सब कषायों में व्याप्त रहता है अथवा सब कषाय लोभ में व्याप्त रहते हैं, इसलिए उसका नाम 'सर्वात्मक' है । अभिमान में अपने उत्कर्ष का अनुभव होता है, इसलिए उसका नाम 'व्युत्कर्ष' है । 'नूत' देशी शब्द है । उसका अर्थ है—गहन । गहन का अर्थ है—दुर्ग या अप्रकाश । माया में छिपाव या गहनता होती है, इसलिए उसका नाम 'नूत' है । क्रोध प्रीति का विनाश करता है, इसलिए उसका नाम अप्रीतिक है ।'

७९. अकर्मण (सिद्ध) (अकर्मसे)

जहां कर्म का अंशमात्र भी शेष न हो उस अवस्था को अकर्मण अवस्था कहते हैं । यह सिद्ध अवस्था है । कषाय के नष्ट होने पर मोहनीय कर्म का नाश हो जाता है । उसके नष्ट होने पर साधक आगे बढ़ता हुआ विशिष्ट ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त होता है और अन्त में भवोपग्राही कर्मों को नष्ट कर, अकर्मण होकर, सिद्ध हो जाता है ।'

१. जूणि, पृष्ठ ३२ : अवियता नाम अव्यक्ताः नाऽऽरंभाविमु बोसेसु विसेसितबुद्धयः ।

२. निशोयभाष्य, भाषा ६२३७, जूणि : जाव कवलाविमु रोमसंभवो न भवति ताव अव्यक्तो ,..... अथवा जाव सोलसवरिसो ताव अव्यक्तो ।

३. जूणि, पृष्ठ ३३ : मूढा अज्ञानेन दर्शनमोहेन ।

४. वृत्ति, पत्र ३४ : मुग्धाः—सहजसद्बिबेकविकलाः ।

५. जूणि, पृष्ठ ३३ : धम्मपण्णवणा—तीसे संकंति बेमेन्ति बुक्खं कउजति अधवा ण सहहंति । अधवा किमेवं ण व त्ति वा संकंति, पृथिव्याविजोवरं ।

६. जूणि, पृष्ठ ३४ : सर्वत्राऽऽत्मा यस्य स भवति सर्वात्मकः, अथवा जे भावकषायदोसा ते वि सव्वे लोमे संभवंतोति सव्वप्पगं । । विविधं जात्याविभिर्भस्वानेरात्मानं उक्कस्सति विउक्कस्सति । नूत गहनमित्थं । दव्वण्णमं दुग्गं अप्पगासं वा, भावण्णमं भाया । । किंवि अप्पत्तियं नाम कसियम्भं, तदपि अप्पत्तियं ।

७. जूणि, पृष्ठ ३४ ।

८०. मृग की भांति अज्ञानी (मिने)

जैसे मृग पाश के प्रति जाता हुआ प्रचुर तृण और जल वाले स्थान से तथा स्वतन्त्रता से घूमने फिरने तथा वन में रहने के सुख से रहित होकर मृत्यु के मुंह में जा गिरता है, वैसे ही ये नियतिवादी भी अकर्मण्य होने की स्थिति से भ्रष्ट हो जाते हैं।^१

८१. श्लोक २८-४० :

नियतिवादी क्रियावाद और अक्रियावाद दोनों में विश्वास नहीं करते। उनका दर्शन यह है—कुछ लोग क्रिया का प्रतिपादन करते हैं और कुछ अक्रिया का प्रतिपादन करते हैं। ये दोनों समान हैं। 'मैं करता हूँ'—यह मानने वाला भी कुछ नहीं करता और 'मैं नहीं करता हूँ'—यह मानने वाला भी कुछ नहीं करता। सब कुछ नियति करती है। यह सारा चराचर जगत् नियति के अधीन है। अज्ञानी पुरुष कारण को मानकर इस प्रकार जानता है। मैं दुःखी हो रहा हूँ, शोक कर रहा हूँ, खिन्न हो रहा हूँ, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा हूँ, पीड़ित हो रहा हूँ, परितप्त हो रहा हूँ, यह सब मैंने किया है। दूसरा पुरुष जो दुःखी हो रहा है, शोक कर रहा है, खिन्न हो रहा है, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा है, पीड़ित हो रहा है, परितप्त हो रहा है, यह सब उसने किया है। इस प्रकार वह अज्ञानी पुरुष कारण को मानकर स्वयं के दुःख को स्वकृत और पर के दुःख को परकृत मानता है।

मेधावी पुरुष कारण को मानकर इस प्रकार जानता है। मैं दुःखी हो रहा हूँ, शोक कर रहा हूँ, खिन्न हो रहा हूँ, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा हूँ, पीड़ित हो रहा हूँ, परितप्त हो रहा हूँ। यह सब मेरे द्वारा कृत नहीं है। दूसरा पुरुष जो दुःखी हो रहा है, शोक कर रहा है, खिन्न हो रहा है, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा है, पीड़ित हो रहा है, परितप्त हो रहा है। यह सब उसके द्वारा कृत नहीं है। इस प्रकार वह मेधावी पुरुष कारण (नियति) को मानकर स्वयं के और पर के दुःख को नियतिकृत मानता है।

मैं (नियतिवादी) कहता हूँ—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं वे सब नियति के कारण ही शरीरात्मक संघात, विविध पर्यायो (बाल्य, कौमार आदि अवस्थाओं), विवेक (शरीर से पृथक् भाव) और विघान (विधि विपाक) को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे सब सांगतिक (नियतिकृत) हैं इस उत्प्रेक्षा से।

वे ऐसा नहीं जानते, जैसे—क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग हैं। इस प्रकार वे नाना प्रकार के कर्म-समारम्भों के द्वारा भोग के लिए नाना प्रकार के कामभोगों का समारम्भ करते हैं। (सूयगडो २।१।४२-४५)

भगवती (शतक १५) में नियतिवादी गोशालक के सिद्धान्तों का बिस्तृत वर्णन मिलता है।

भगवान् महावीर सद्दालपुत्र के कुंभकारापण में विहार कर रहे थे। उस समय सद्दालपुत्र घड़ों को घूप में सुखा रहा था। भगवान् महावीर ने पूछा—'सद्दालपुत्र ! ये घड़े कैसे किये जाते हैं ?' सद्दालपुत्र ने कहा—'भते ! पहले मिट्टी लाते हैं, फिर उसमें जल मिलाकर रोदते हैं, फिर उसमें राख मिलाते हैं, फिर मिट्टी का पिंड बना उसे चाक पर चढ़ाते हैं। इस प्रकार ये घड़े तैयार किये जाते हैं। भगवान् महावीर ने कहा—'सद्दालपुत्र ! ये घड़े उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम से किए जाते हैं ? या अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम से किए जाते हैं ?' सद्दालपुत्र ने कहा—'भते ! ये सब अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम से किए जाते हैं। उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषकार और पराक्रम का कोई अर्थ नहीं है। सब भाव नियत है।'^२

सूत्रकृतांग के जूणिंकार ने नियतिवादियों के एक तर्क का उल्लेख किया है। नियतिवादी मानते हैं कि अकृत का फल नहीं होता। मनुष्य जो फलभोग करता है उसके पीछे कर्तृत्व अवश्य है, किन्तु वह कर्तृत्व मनुष्य का नहीं है। यदि मनुष्य का कर्तृत्व हो, वह क्रिया करने में स्वतन्त्र हो तो वह सब कुछ मन चाहा करेगा। उसे जो दृष्ट नहीं है, वह फिर क्यों करेगा ? किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। मनुष्य बहुत सारे अतीप्सित कार्य भी करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सब कुछ नियति करती है।^३

१. जूणिं, पृष्ठ ३४ : यथा मृगः पाशं प्रति अभिसर्पन् प्रचुरतृणोवकगोचरात् स्वैरप्रचाराद् वनमुखाद् भ्रष्टः मृत्युमुखमेति एवं ते वि नियतिबाहिणो ।

२. उवाचगडसाओ ७।१६-२४ ।

३. जूणिं, पृ. ३२३ : न चाकृतं फलमस्तीत्यतः नियतो करोति, जति पुरितो करोज तेन सर्वमोप्सितं कुर्यात्, न चेदमस्तीति ततो नियतो करोइ, नियतिः कारिका ।

बौद्ध साहित्य में नियतिवाद के सिद्धान्त का निरूपण इस प्रकार मिलता है—‘प्राणियों के संक्लेश का कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है। बिना किसी हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी संक्लेश पाते हैं। प्राणियों की विशुद्धि का कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है। बिना किसी हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी विशुद्ध होते हैं। आत्मशक्ति नहीं है, परशक्ति नहीं है, पुरुषकार नहीं है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष-सामर्थ्य नहीं है, पुरुष-पराक्रम नहीं है। सभी सत्त्व, प्राणी, भूत और जीव अवश, अबल, अवीर्य हैं। वे नियति के बश में हैं। वे छह अभिजातियों में सुख-दुःख का अनुभव करते हैं।’

चौदह सौ हजार प्रमुख योनियां हैं। साठ सौ भी हैं, पांच सौ भी हैं। पांच सौ कर्म, पांच कर्म, तीन कर्म, एक कर्म, आधा कर्म है। बासठ प्रतिपद (मार्ग), बासठ अन्त कल्प, छह अभिजातियां, आठ पुरुषभूमियां, उनचास सौ आजीवक, उनचास सौ परिपक्व, उनचास सौ नागावास, बीस सौ इन्द्रियां, तीस सौ नरक, छत्तीस रजोघात, सात संजी-गर्भ, सात असंजी-गर्भ, सात निगंठी-गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात स्वर, सात सौ सात पवुट, सात सौ सात प्रपात, सात सौ सात स्वप्न तथा अस्सी लाख छोटे-बड़े कल्प हैं। इन्हें मूर्ख और पण्डित पुरुष जानकर इनका अनुगमन कर दुःखों का अन्त कर सकते हैं। वहां यह नहीं है कि इस शील से, इस व्रत से अथवा तप से या ब्रह्मचर्य से अरिपक्व कर्म को परिपक्व करूंगा, परिपक्व कर्म को भोगकर उसका अंत करूंगा। इस पर्यन्तकृत संसार में सुख और दुःख श्रोग (नाप) से नपे हुए हैं। घटना-बढ़ना नहीं होता। उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं होता। जैसे सूत की गोली फँकने पर खुन्ती हुई गिर पड़ती है वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर, आवागमन में पड़कर, दुःख का अन्त करेंगे।^१

इलोक ४१ :

८२. इलोक ४१ :

अज्ञानवादी दार्शनिकों के विचारों का निरूपण प्रस्तुत आगम के १२।२,३ में मिलता है। उस समय अज्ञानवाद की विभिन्न शाखाएं थीं। उनमें सजयबेलट्टिपुत्त के अज्ञानवाद या सशयवाद का भी समावेश होता है। सूत्रकृतांग के चूणिकार ने अज्ञानवाद की प्रतिपादन-पद्धति के सात और प्रकारान्तर से चार भागों का उल्लेख किया है—

१. जीव सत् है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?
२. जीव असत् है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?
३. जीव सत्-असत् है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?
४. जीव अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?
५. जीव सत् और अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?
६. जीव असत् और अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?
७. जीव सत्, असत् और अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

प्रकारान्तर से चार भंग—

१. पदार्थ की उत्पत्ति सत् से होती है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?
२. पदार्थ की उत्पत्ति असत् से होती है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?
३. पदार्थ की उत्पत्ति सत्-असत् से होती है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?
४. पदार्थ की उत्पत्ति अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

अज्ञानवादी आत्मा, परलोक आदि सभी विषयों की जिज्ञासा का समाधान इसी पद्धति से करते थे।^१

१. बोधनिकाय १।२।४।१६।

२. चूणि पृष्ठ २०६; २०७ : इमे विट्ठिविधाणा—सन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेण णातेण ? असन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेण णातेण ? सवसन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेण णातेण ? अवचनीयो जीव को वेत्ति ? किं वा तेण णातेण ? एक, एवं सववचनीयः असववचनीयः, सवसववचनीय ... असती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? असती भावोत्पत्ति को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? सवसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? अवचनीया भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ?

बीजनिर्वाय में संजयवेलट्टिपुत्त के अनिश्चयवाद (या संशयवाद या अज्ञानवाद) का निरूपण इन शब्दों में मिलता है—

..... तुम पूछो कि क्या परलोक है तो यदि मुझे ज्ञात हो कि वह है तो मैं तुम्हें बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, अन्यथा भी मैं नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।

..... तुम पूछो कि क्या देवता है तो यदि मुझे ज्ञात हो कि वे हैं तो मैं तुम्हें बतलाऊँ कि देवता है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, अन्यथा भी मैं नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वे नहीं हैं। मैं यह भी नहीं कहता कि वे नहीं नहीं हैं। देवता नहीं हैं, देवता नहीं नहीं हैं। देवता हैं भी और नहीं भी हैं। देवता न हैं और न नहीं हैं।

..... तुम पूछो कि क्या अच्छे-बुरे कर्म का फल है तो यदि मुझे ज्ञात हो कि वह है तो मैं तुम्हें बतलाऊँ कि अच्छे-बुरे कर्म का फल है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, अन्यथा भी मैं नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं हैं। अच्छे-बुरे कर्म का फल है। अच्छे-बुरे कर्म का फल नहीं नहीं है। अच्छे-बुरे कर्म का फल है भी और नहीं भी है। अच्छे-बुरे कर्म का फल न है और न नहीं है।

..... तुम पूछो कि तयागत मरने के बाद होते हैं या नहीं होते तो यदि मुझे ज्ञात हो कि तयागत मरने के बाद होते हैं तो मैं तुम्हें बतलाऊँ कि वे होते हैं और यदि मुझे ज्ञात हो कि तयागत मरने के बाद नहीं होते तो मैं बतलाऊँ कि वे नहीं होते। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, अन्यथा भी मैं नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वे नहीं होते। मैं यह भी नहीं कहता कि वे नहीं नहीं होते। तयागत मरने के बाद नहीं होते, वे नहीं नहीं होते, तयागत मरने के बाद होते भी हैं और नहीं भी होते। तयागत मरने के बाद न होते हैं और न नहीं होते हैं।

पंडित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है—

‘आधुनिक जैन दर्शन का आधार ‘स्याद्वाद’ है, जो मालूम होता है कि संजयवेलट्टिपुत्त के चार अंग वाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंग वाला किया गया है। संजय ने तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारे में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इंकार करते हुए उस इन्कार को चार प्रकार कहा है—

- (१) है ?—नहीं कह सकता।
- (२) नहीं है—नहीं कह सकता।
- (३) है भी और नहीं भी—नहीं कह सकता।
- (४) न है और न नहीं है—नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनों के सात प्रकार के स्याद्वाद से—

- (१) है ?—हो सकता है। (स्याद अस्ति)
 - (२) नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है। (स्याद नास्ति)
 - (३) है भी और नहीं भी ?—है भी और नहीं भी हो सकता है। (स्यादस्ति च नास्ति च)।
- उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं ? इसका उत्तर जैन ‘नहीं’ में देते हैं—

- (४) ‘स्याद’—(हो सकता है)—क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है ? नहीं, स्याद अवक्तव्य है।
- (५) ‘स्याद अस्ति’—क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, स्याद अस्ति अवक्तव्य है।
- (६) ‘स्याद नास्ति’—क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, स्याद नास्ति अवक्तव्य है।
- (७) स्याद अस्ति च नास्ति च—क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, स्याद अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य है।

दोनों को मिलाने से मालूम होगा कि जैनों ने संजय के पहले वाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य ‘न है और न नहीं है’—को छोड़कर, ‘स्याद’ भी अवक्तव्य है—यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।

उपलब्ध सामग्री से मालूम होता है कि संजय अपने अनेकान्तवाद का प्रयोग परलोक, देवता, कर्मफल, मुक्तपुरुष जैसे परोक्ष विषयों पर करता था। जैन संजय की युक्ति को प्रत्यक्ष वस्तुओं पर भी लागू करते हैं। उदाहरणार्थ सामने मौजूद घट की सत्ता के बारे में यदि जैन दर्शन से प्रश्न पूछा जाए तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

- (१) घट यहाँ है ?—हो सकता है (स्याद् अस्ति) ।
- (२) घट यहाँ नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है (स्याद् नास्ति) ।
- (३) क्या घट यहाँ है भी और नहीं भी है ?—है भी और नहीं भी हो सकता है। (स्याद् अस्ति च नास्ति च) ।
- (४) 'हो सकता है' (स्याद्)—क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, स्याद् यह अवक्तव्य है।
- (५) घट यहाँ हो सकता है (स्यादस्ति)—क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, घट यहाँ हो सकता है—यह नहीं कहा जा सकता ।
- (६) घट यहाँ नहीं हो सकता है (स्यान्नास्ति)—क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, घट यहाँ नहीं हो सकता—यह नहीं कहा जा सकता ।
- (७) घट यहाँ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है—क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, घट यहाँ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता ।

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (वाद) की स्थापना न करना, जो कि संजय का वाद था। उसी को संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर, जैनो ने अपना लिया और उसके चतुर्भंगी न्याय को सप्तभंगी में परिणत कर दिया।^१

पंडित राहुल सांकृत्यायन ने काल्पनिक तथ्यों के आधार पर स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं—

- (१) संजयवेलट्टिपुत्त के चार अंग वाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंग वाला किया गया है।
- (२) एक भी सिद्धान्त की स्थापना न करना, जो कि संजय का वाद था, उसी को संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनो ने अपना लिया।

ये दोनों स्थापनाएं बहुत ही भ्रामक और वास्तविकता से परे हैं। संजयवेलट्टिपुत्त का दृष्टिकोण अज्ञानवादी या सशयवादी था। इसलिए वे किसी प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर नहीं देते थे। भगवान् महावीर का दृष्टिकोण अनेकान्तवादी था। वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर निश्चयात्मक भाषा में देते थे। भगवती तथा अन्य आगमों में भी भगवान् महावीर के साथ हुए प्रश्नोत्तरो का विशाल संकलन है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि भगवान् महावीर द्रव्याधिक और पर्यायाधिक—इन दो नयदृष्टियों से प्रश्नों का समाधान देते थे। ये ही दो नय अनेकान्तवाद के मूल आधार हैं। स्याद्वाद के तीन भग मौलिक हैं—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात् अवक्तव्य। भगवान् महावीर ने प्रश्नों के समाधान में और तत्त्व के निरूपण में बार-बार इनका प्रयोग किया है। संजयवेलट्टिपुत्त की अपनी चतुर्भंगात्मक प्रतिपादन शैली और भगवान् महावीर की प्रतिपादन शैली त्रिभंगात्मक थी। फिर इस कल्पना का कोई आधार नहीं है कि संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने से जैनो ने उसके सिद्धान्त को अपना लिया। सत्, असत्, सत्-असत् और अनुभय (अवक्तव्य)—ये चार भग उपनिषद् काल से चले आ रहे हैं। उस समय के सभी प्रायः दार्शनिकों ने इन भगों का किसी न किसी रूप में प्रयोग किया है। फिर यह मानने का कोई अर्थ नहीं है कि जैनो ने संजयवेलट्टिपुत्त के भंगों के आधार पर स्याद्वाद की सप्तभंगी विकसित की।

'स्यात् अस्ति' का अर्थ 'हो सकता है'—यह भी काल्पनिक है। जैन परम्परा में यह अर्थ कभी मान्य नहीं रहा है। भगवान् महावीर से पूछा गया—

भते ! द्विप्रदेशी स्कंध आत्मा है ? अनात्मा है ? या अवक्तव्य है ?

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—द्विप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नहीं है, स्यात् अवक्तव्य है।

'भते ! यह कैसे ?

‘गौतम ! द्विप्रदेशी स्कंध स्व की अपेक्षा से आत्मा है, पर की अपेक्षा से आत्मा नहीं है और उभय की अपेक्षा से अवस्तव्य है ।’

यह संशयवाद या अज्ञानवाद नहीं है । इसमें सत्त्व का निश्चयात्मक प्रतिपादन है । यह प्रतिपादन सापेक्ष दृष्टिकोण से है, इसलिए यह अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है । भगवती में आए हुए पुद्गल-स्कंधों की खर्चा के प्रसंग में स्याद्वाद के सातो ही भंग फलित होते हैं । भगवती सूत्र दर्शनयुग में लिखा हुआ कोई दार्शनिक ग्रंथ नहीं है । वह महावीरकालीन आगम सूत्र है । इससे यह ज्ञात होता है कि स्याद्वाद को संजयवेलट्टिपुत्त के सिद्धान्त से उधार लेने की बात सर्वथा आधार शून्य है ।

अज्ञानवादी कहते हैं—अनेक दर्शन हैं और अनेक दार्शनिक । वे सब सत्य को जानने का दावा करते हैं, किन्तु उन सब का जानना परस्पर विरोधी है । सत्य परस्पर विरोधी नहीं होता । यदि उन दार्शनिकों का ज्ञान सत्य का ज्ञान होता तो वह परस्पर विरोधी नहीं होता । वह परस्पर विरोधी है, इसलिए सत्य नहीं है । जैसे म्लेच्छ अम्लेच्छ की भाषा के आशय को समझे बिना केवल उसे दोहरा देता है, वैसे ही सब अज्ञानी (सम्यग्ज्ञानशून्य दार्शनिक) अपने-अपने ज्ञान को प्रमाण मानते हुए भी निश्चयार्थ (वास्तविक सत्य) को नहीं जानते । यदि वे निश्चयार्थ को जानते होते तो परस्पर विरोधी अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते । वे अपने मत-प्रवर्तक को सर्वज्ञ मानते हैं, पर वे स्वयं सर्वज्ञ नहीं हैं तब सर्वज्ञ की बात कैसे समझ सकेंगे ? असर्वज्ञ सर्वज्ञ को नहीं जानता । कोई व्यक्ति सर्वज्ञ है और उस समय के लोग उसकी सर्वज्ञता को जानना चाहते हैं, किन्तु सर्वज्ञ के द्वारा जो ज्ञेय है उसे वे समग्रता से नहीं जान पाते, इसलिए वे कैसे जान सकते हैं कि वह व्यक्ति सर्वज्ञ है ? दूसरों की चित्तवृत्ति को जानना सरल नहीं है । उपदेष्टा ने किस विवक्षा से क्या कहा है, उसे पकड़ा नहीं जा सकता, इसलिए कोई भी दार्शनिक, भले फिर वह किसी भी दर्शन का अनुयायी हो, निश्चयार्थ को नहीं जानता । वह अपने दर्शन के हार्द को समझे बिना उस म्लेच्छ की भाति वाणी को दोहरा रहा है, शास्त्र की रट लगा रहा है, इसलिए अज्ञान ही श्रेय है ।’

यह प्रस्तुत सूत्र के वृत्तिकार श्रीलांकसूरी की व्याख्या है । उनके अनुसार इन तीनों श्लोकों (४१, ४२, ४३) में अज्ञानवाद का समर्थन है और चर्वालीसवें श्लोक से उसका प्रतिपादन शुरू होता है ।

देखें—१२/१ का टिप्पण ।

८३. श्रमण (समणा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ श्रमण और वृत्तिकार ने ‘परिव्राजक विशेष’ किया है । श्रमणों के अन्तर्गत परिव्राजकों का समावेश

१. भगवई १२/२१८, २१९ :

आया भंते ! बुपएसिए खंधे ? अण्णे बुपएसिए खंधे ?

गोयमा ! बुपएसिए खंधे सिय आया, सिय नो आया, सिय अवस्तव्वं..... ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं..... ?

गोयमा ! अप्पणो आबिट्ठे आया, परस्स आबिट्ठे नो आया, तबुभयस्स आबिट्ठे अवस्तव्वं..... ।

२. वृत्ति, पत्र ३५ : एके केचन ब्राह्मणविशेषाः तथा श्रमणाः परिव्राजकविशेषाः सर्वेऽप्येते ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं—हेयोपादेयार्थाऽऽविर्भावकं परस्परविरोधेन व्यवस्थितं स्वकं आत्मीयं ब्रह्मन्, न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात् सत्यानि,..... ।

... यथा म्लेच्छः अम्लेच्छस्य परमार्थमजानानः केवलं तद् भाषितमनुभाषते, तथा अज्ञानिकाः सम्यग्ज्ञानरहिताः श्रमणा ब्राह्मणा वदन्तोऽपि स्वीयं स्वीयं ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरोधार्थभाषणात् निश्चयार्थं न जानन्ति, तथाहि—ते स्वकीयं तीर्थकरं सर्वज्ञत्वेन निर्धार्य तदुपदेशेन क्रियासु प्रवर्तन्ते, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्थावगतिना ग्रहीतुं शक्यते, नासर्वज्ञः सर्वज्ञं जानातीति न्यायात्, तथा चोक्तम्—‘सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत् तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविकानेरहितैर्गम्यते कथम् ?’ एवं परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वाद् उपवेष्टुरपि यथावस्थितविवक्षया ग्रहणासंभवाद् निश्चयार्थमजानानां म्लेच्छवदपरोक्तमनुभाषन्त एव । अतोऽज्ञानमेव श्रेय इति ।

३. (क) चूर्ण, पृष्ठ ३४ : समणा समणा एव ।

(ख) वृत्ति, पृष्ठ ३५ : श्रमणाः परिव्राजकविशेषाः ।

भी होता था, ऐसा प्राचीन उत्प्रेक्ष प्राप्त होता है।' अतः वृत्तिकार का अर्थ भी संगत है।

इलोक ४३ :

८४. अज्ञानी (पूर्ण ज्ञान से शून्य) (अज्ञानिया)

अज्ञानिक का अर्थ है—पूर्ण ज्ञान से शून्य।'

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सम्यग् ज्ञान से रहित किया है।'

इलोक ४४ :

८५. विमर्श (बीमंसा)

वृत्तिकार ने संशय, सन्देह, वितर्क, ऊह और विमर्श को पर्यायवाची माना है।'

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—पर्यालोचन तथा बीमंसा।'

इलोक ४५ :

८६. इलोक ४५ :

प्रस्तुत श्लोक में दिग्मूढ पथदर्शक के द्वारा होने वाले अपाय का निर्देश किया गया है। किसी गहन वन में एक पथिक पथ-भ्रष्ट हो गया। वह दिग्भ्रान्त होता हुआ पथ की टोह में घूम रहा था। इतने में ही उसे दूसरा पथिक दिखाई दिया। उसने पूछा—'भाई! पाटलीपुत्र नगर किस दिशा की ओर है? उस पथिक ने कहा—'चलो, मैं तुम्हें वहाँ ले चलता हूँ।' दोनों साथ हो गए। वह भी पाटलीपुत्र का मार्ग नहीं जानता था। दोनों जंगल में ही भटकते रहे। रास्ते में पर्वत, पत्थर, नदिया, गुफाएँ, वृक्ष, गुल्म, लता, बितान, जंगल आदि भयंकर स्थान आए। वहाँ वे दोनों कष्ट पाते हुए भी गन्तव्य तक नहीं पहुँच पाए।

किसी सार्यवाह ने स्कंधाचार से एक मार्गदर्शक साथ ले लिया। वह स्वयं दिग्भ्रान्त था। वह दूसरी ही दिशा में चल पड़ा। उसके पीछे-पीछे सारा सार्य चलता गया। सार्य के बीच में चलने वाले मनुष्य तथा अन्त में चलने वाले मनुष्य मार्ग के ज्ञाता थे। परन्तु आगे-आगे चलने वाला मार्ग से अज्ञान था। वे सब उस दिग्भ्रान्त नेता का अनुगमन कर कष्ट पाते रहे।'

१. (क) निशीथसाध्य गाथा, ४४२० : निगंधं सक्कं तावस, गेक्य आजीव पंचहा समणा ।।

वृत्ति—निगंधा साधू क्षमणा वा सक्का रत्तपडा, तावसा वणधारिओ, गेरआ परिवायया, आजीवगा गोसालसिस्सा पंडर-भिरुआ वि भण्णंति ।

(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७३१-३३ :

निगंधं सक्कं तावस, गेक्य आजीव पंचहा समणा ।

सम्मि निगंधा ते जे, जिणसासण भवा मुणियो ।।

सक्का य सुगय सोसा, जे जडिला ते उ तावसा गोया ।

जे घाउरवरया तिबडिणो गेक्या ते उ ।।

जे गोसालगमयमणसरंति, भण्णंति ते उ आजीवा ।

समणसणेण भुवणे, पंचवि पत्ता पसिद्धिभिमे ।।

२. वृत्ति, पृष्ठ ३५ : अत्रिकालाभिज्ञा इव न सञ्जावतो बहन्ति ।

३. वृत्ति, पत्र ३५ : अज्ञानिकाः सम्यग्ज्ञानरहिताः ।

४. वृत्ति, पृष्ठ ३५ : संशयः संदेहो वितर्कः ऊहा बीमंसेत्यनर्थान्तरम् ।

५. वृत्ति, पत्र ३६ : विमर्शः पर्यालोचनात्मको बीमंसा वा—मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा ।

६. वृत्ति, पृष्ठ ३५ ।

८७. झोर (तिष्ठं)

तीव्र के दो अर्थ हैं—अत्यन्त, असह्य ।

८८. जंगल में (सोद्यं)

इसके तीन अर्थ हैं—श्रोत (भयद्वार), जंगल, शोक । पर्वत, चट्टानें, नदियाँ, कन्दरा, तथा वृक्ष, गुरुम और सताओं के झुरमुट तथा जंगल—ये भय पैदा करने वाले होते हैं । अतः ये श्रोत हैं ।

इलोक ४६ :

८९. दूर मार्ग में चला जाता है (दूरमन्त्राण गच्छई)

इसका तात्पर्य है—विवक्षित मार्ग से दूर चला जाता है । एक अंधा मनुष्य दूसरे अंधे के पास जाकर बोला—‘बसो, मैं तुम्हें उस गांव या नगर में ले चलता हूँ जहाँ तुम जाना चाहते हो ।’ वह अंधा उसके साथ चल पड़ा । ले जाने वाला भी अंधा और जाने वाला भी अंधा । ले जाने वाला नहीं जानता कि उसे कहाँ ठहरना है, कहाँ चलना है । मार्ग का यह अपरिमाण ही मार्ग से दूर भटकना है ।

९०. उत्पथ में चला जाता है (आवृजे उत्पथं जंतु)

इस प्रकार दोनों अंधे अपने पादस्पर्श से मार्ग को पहचानते हुए क्षण भर सही मार्ग पर चलते हैं, फिर उत्पथ में चले जाते हैं । उस उत्पथ पर चलते हुए प्रपात, कांटे, सर्प, हिरण्य पशुओं से वे विनाश को प्राप्त हो जाते हैं ।

इलोक ४७ :

९१. मोक्षार्थी (नियामट्टी)

चूणिकार ने ‘नियामट्टी’ का संस्कृत प्रतिरूप ‘नियार्थ’ किया है । तात्पर्यार्थ में इसके दो अर्थ किए हैं—नियत—मोक्ष और नियत—नित्य ।

वृत्तिकार ने ‘नियाम’ का अर्थ मोक्ष या लक्ष्य किया है ।

नियाम का नियत शब्द से सीधा संबंध नहीं है । इसका संबंध ‘नि’ उपसर्ग पूर्वक ‘यज्’ धातु से संगत लगता है ।

९२. अधर्म के मार्ग पर चलते हैं (अहम्ममावृजे)

कुछ लोग धर्म की आराधना के लिए दीक्षा स्वीकार करते हैं । तथाकथित माय्यता अथवा जीवन-वाचा की कठिनाइयों के कारण वे आरंभ में प्रयत्न करते हैं । इस प्रकार वे धर्म के लिए जीवन-यापन करते हुए भी अधर्म में चले जाते हैं । चूणिकार ने एक महत्वपूर्ण बात का उल्लेख किया है कि आजीवन भ्रमण बहुत कठोर तपश्चर्या करते थे, किन्तु वे भी अधर्मानुबंधी धर्म का आचरण करने के कारण धर्म से अधर्म की ओर चले जाते थे ।

१. (क) चूणि, पृष्ठ ३५ : तीव्रं नाम अत्यर्थम् ।

(ख) वृत्ति, पत्र ३६ : तीव्रम् असह्यम् ।

२. चूणि, पृष्ठ ३५ : पर्वता-श्रम-सरित्-कन्दरा-वृक्ष-गुरुम-सता-बितान-गहनं अवन्ति तेनेति श्रोतं जयद्वारमित्यर्थः ।

३. वही, पृष्ठ ३५ : अंधा कोई अंधो अन्धाणे अन्धान्धाने वा किञ्चि अन्धमेव समेत्य वधीति—अहं ते अविवक्षितं नाम जगरं वा जेमि ति तेन सध पठितो । नासौ जानाति यत्र वस्तव्यं यातव्यं वा इत्यतस्तस्य तवपरिमाणमेव अज्ञानमित्यतो दूराध्वानम् ।

४. वही, पृष्ठ ३५ : स एवं पथेनं पस्थितो वि अजागतरं पादस्पर्शेन गत्वा उत्पथमापद्यते यत्र विनाशं प्राप्नुते प्रपात-कण्डका-ऽहि-श्वापदादिभ्यः ।

५. वही, पृष्ठ ३६ : निवृत्तो नाम मोक्षः, नियतो नित्य इत्यर्थः, निवाकेन अस्माकं स अवति नियार्थः ।

६. वृत्ति, पत्र ३६ : नियामो—मोक्षः लक्ष्यं वा ।

७. चूणि, पृष्ठ ३६ : अधर्ममावृजते, यथाशक्त्या आरम्भप्रवृत्ता धर्माधोत्थिता अधर्ममेव आपद्यन्ते । येषां च कष्टतपः प्रवृत्ता आजीविकादयः तेषां धर्मं अधर्मानुबन्धिनं प्राप्य पुनरपि मोक्षालब्धत्वं संसारादीव अवन्ति ।

६३ सबसे सीधे मार्ग (संयम) पर (सम्बन्धित)

इसका अर्थ है—संयम ।^१ संयम सब ओर से ऋजु होता है ।

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं— संयम, सद्धर्म और सत्य ।^२ दशवैकालिक सूत्र में ऋजुदर्शी का अर्थ संयमदर्शी मिलता है ।^३

इसलोक ४८ :

६४. कुछ अज्ञानवादी (एते)

वृत्तिकार ने 'एते' का अर्थ परतन्त्र-तीर्थंकर किया है ।^४ जैन आगमों में तीर्थंकर शब्द का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है । बौद्ध साहित्य में छह तीर्थंकरों का उल्लेख उपलब्ध है ।^५ तीर्थंकर का अर्थ होता है—प्रवचनकार । शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कपिल, कणाद आदि को तीर्थंकर कहा है ।^६ इन सारे संदर्भों में वृत्तिकार का 'परतन्त्र-तीर्थंकर' यह प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

६५. दूसरे (विशिष्टज्ञानी) की (अणु)

यहां 'अन्य' से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी का ग्रहण किया गया है ।^७

६६. वे अपने बितकों के द्वारा (अप्यणो य वियक्काहि)

इसका अर्थ है—अपने बितकों के द्वारा । वे अज्ञानवादी मन ही मन बितर्कणा करते हैं कि व्यास ने अमुक ऋषि के द्वारा कथित इतिहास का प्रणयन किया था । कणाद ऋषि ने महेश्वर की आराधना कर, उनकी कृपा से वैशेषिक मत का प्रवर्तन किया था । इस प्रकार आत्म-वितर्क और परोपदेश के द्वारा वे बतलाते हैं—यह मार्ग ऋजु है, अथवा यह मार्ग ऋजु नहीं है ।^८ बितर्क और मोमांसा एकार्थक हैं ।^९

६७. ऋजु (अंजु)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ ऋजु किया है ।^{१०} वृत्तिकार ने इसका प्रधान अर्थ व्यक्त या स्पष्ट तथा वैकल्पिक अर्थ ऋजु या अकु-

१. वृत्ति, पृष्ठ ३६ : सम्बुज्जगो नाम संजमो ।

२. वृत्ति, पत्र ३७ : सर्वे प्रकारेऽऋजुः—प्रगुणो विवक्षितमोक्षगमनं प्रत्यकुटिलः सर्वर्जुः—संयमः सद्धर्मो वा.....यदि वा—सर्वर्जुः—सत्यम् ।

३. इससेआलियं ३/११, वृत्ति पत्र ११६ ऋजुवर्गिन इति ऋजुमोक्ष प्रति ऋजुत्वात् संयमस्तं पश्यन्त्युपावेयतेति ऋजुवर्गिनः ।

४. वृत्ति, पृष्ठ ३६ : एते इति ये उक्ता परतन्त्रतीर्थंकराः ।

५. बीधनिकाय I, २/१/२-७; पृ० ४१, ४२ :

१. पुराण कस्तपो.....तिथ्यकरो.....।

२. मन्त्रालिगोसालो.....तिथ्यकरो.....।

३. अजितो केसकम्बलो.....तिथ्यकरो.....।

४. पकुघो कञ्जायनो.....तिथ्यकरो.....।

५. सञ्जयो बेलहपुत्तो.....तिथ्यकरो.....।

६. निमब्धो नाडपुत्तो.....तिथ्यकरो.....।

६. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, अ० २, पाद १, सूत्र ११, भाष्य, पृ० ३८८ : प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थंकराणां कपिल-कणभुक्प्रभृतीनां.....।

७. वृत्ति, पृष्ठ ३६ : अन्ये नाम ये छयस्सलोकानुत्तीर्णा सर्वज्ञाः सर्ववर्गिनः ।

८. वही, पृष्ठ ३६ : यथा व्यासः अमुकेन ऋषिणा एवमुक्तमितिहासमानयति, यथा कणादोऽपि महेश्वरं किंसाऽऽराध्य तत्प्रसादपूतमनाः वैशेषिक [मत] मकरोत् । एतैरात्मवितर्कः परोपवेशोरथ यथास्वं अयमस्मिन् मार्गः ऋजुः अऋजुर्वा ।

९. वही, पृष्ठ ३६ : बितर्का मोमांसेत्यनर्थात्तरम् ।

१०. वही, पृष्ठ ३६ : ऋजुः ।

टिल किया है।^१

श्लोक ४६ :

६८. धर्म और अधर्म को (धर्माधर्मे)

ब्रूणिकार ने धर्म और अधर्म के दो-दो अर्थ किए हैं—

धर्म—१. द्रव्य और पर्याय का स्वभाव में अवस्थान ।

२. जिससे अभ्युदय और निःश्वेस सद्यता है तथा जो सुख का कारण है ।

अधर्म—१. द्रव्य और पर्याय का स्वभाव में अनवस्थान ।

२. जो दुःख का कारण बनता है ।

वृत्तिकार ने उदाहरण के द्वारा इसकी व्याख्या की है । ज्ञान्ति आदि धर्म और हिंसा आदि पाप—अधर्म ।^२

६९. जैसे पक्षी पिंजरे से (सज्जी पंजरं जहा)

जैसे शुक, कोकिल, मैना आदि पक्षी पिंजरे को तोड़ने में सफल नहीं होते अर्थात् पिंजरे से अपने आपको मुक्त नहीं कर सकते ।^३

१००. दुःख से (दुःखं)

ब्रूणिकार ने दुःख का अर्थ संसार किया है । कारण मे कार्य का उपचार कर दुःख का वैकल्पिक अर्थ अधर्म किया है ।^४

वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—असाता का उदय अथवा मिथ्यात्व के द्वारा उपचित कर्म-बंधन ।^५

श्लोक ५० :

१०१. श्लोक ५० :

अपने सिद्धांत की प्रशंसा और दूसरे सिद्धांत की गद्दी करना वर्तमान की मनोवृत्ति ही नहीं है, यह बहुत पुरानी मनोवृत्ति है । 'यही सत्य है, दूसरा सिद्धान्त सत्य नहीं है'—इसी आग्रह ने संघर्ष को जन्म दिया है । 'इदमेवैकं सत्यं, मम सत्यं'—इस आग्रह से जो असत्य जन्म लेता है, उससे बचने के लिए अनेकान्त को समझना आवश्यक है । अनेकान्तदृष्टि वाला दूसरे सिद्धान्त के विरोध में या प्रतिपक्ष में खड़ा नहीं होता, किन्तु सत्य को सापेक्षदृष्टि से स्वीकार करता है । नियतिवादी नियति के सिद्धान्त को ही परम सत्य मानकर दूसरे सिद्धान्तों का खंडन करते थे तब भगवान् महावीर ने कहा—नियतिवाद ही तत्त्व है, इस प्रकार का गर्व दुःख के पार पहुँचाने वाला नहीं, दुःख के जाल में फँसाने वाला है । प्रस्तुत श्लोक को अनेकान्तदृष्टि की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है ।

ब्रूणिकार ने 'विउस्संति'—इस क्रिया पद का अर्थ—विशेष गर्व करना किया है ।^६ इस अर्थ के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'व्युत्सयन्ति' होता है । वृत्तिकार ने 'विउस्संति' का अर्थ—विद्वानों की भांति आचरण करते हैं अथवा अपने शास्त्र के विषय में विशिष्ट युक्ति का कथन करते हैं—किया है ।^७

१. वृत्ति, पत्र ३७ : 'अंजु' रिति निर्दोषत्वाद् व्यक्तः—स्पष्टः, परेस्तिरस्कर्तुमसक्यः, ऋजुर्वा—अनुजोऽनुदितः ।

२. ब्रूणि, पृष्ठ ३६ : धर्मो नाम यथाद्रव्यपर्यायस्वभावावस्थानम्, विपरीतोऽधर्म इति । अथवा धर्मोऽभ्युदय-निःश्वेसिकः सुखकारणमिति, दुःखकारणमधर्मः ।

३. वृत्ति, पत्र ३७ ।

४. ब्रूणि, पृष्ठ ३६ : यथा शुकः कोकिला मदनशिलाका द्रव्यपञ्जरं नातिजर्त्तते ।

५. वही, पृष्ठ ३६ : दुःखं संसारो । अथवा कारणे कार्यबहुपचारं कृत्वाऽपविश्यते संसारदुःखकारणमधर्मः ।

६. वृत्ति, पत्र ३७ : 'दुःखम्' असातोदयलक्षणं तद्धेतुं वा मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धनम् ।

७. ब्रूणि, पृष्ठ ३७ : विउस्संति, विधीयेण उस्संति इदमेवैकं तत्त्वमिति विशेषेण उच्यतेति गण्येण उस्संतीति ।

८. वृत्ति, पत्र ३८ : 'विउस्संति' विद्वांस इवाऽऽचरन्ति, तेषु वा विशेषेणोद्यन्ति—एवमात्मविषये विशिष्टं युक्तिमात्रं वदन्ति ।

इन अर्थों के मूल में इनके दो संस्कृत रूप हैं—विद्वस्यंते और विशेषेणोपसृति। चूणि में 'विउत्सिया' पाठ उपलब्ध नहीं है। वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—'व्युत्सिताः' और 'व्युत्सिताः'।

श्लोक ५१ :

१०२. क्रियावादी दर्शन (किरियावाद्दर्शनं)

चूणिकार ने 'कर्म' को क्रिया का पर्यायवाची मानकर इसका अर्थ—कर्मवादी दर्शन किया है।

१०३. जो प्राचीनकाल से निरूपित है (पुरास्मृत्यै)

'पुरास्मृत्यै' शब्द के अनेक अर्थ हैं—

१. जितने दर्शन प्रचलित हैं, उनसे पूर्व कहा हुआ। जैसे गंगा के बालु कणों की गिनती नहीं की जा सकती उसी प्रकार अनगिनत हुए हैं, उनके द्वारा कहा हुआ।
२. प्राचीन काल के मिथ्या दर्शनों में आख्यात।
३. प्रख्यात।

१०४. कर्म-विषयक चिन्तन सम्यक् दृष्ट नहीं है (कर्मविज्ञतापणद्वयं)

कर्म जैसे, जिससे, जिसके और जिन हेतुओं में प्रवर्तमान व्यक्ति के बंधता है, उस चिन्ता से रहित। कर्म-बन्ध या अबन्ध के विषय में अगले श्लोक के टिप्पण में स्पष्ट कथन किया गया है।

१०५. दुःख-संकथ को बढ़ाने वाला है (दुःखसंकथविबद्धं)

चूणिकार ने इसका अर्थ—कर्म समूह को बढ़ानेवाला और वृत्तिकार ने दुःख-परम्परा को बढ़ाने वाला किया है।

श्लोक ५१-५५ :

१०६. श्लोक ५१-५५ :

अहिंसा के विषय में चिन्तन की अनेक कोटियां रही हैं। प्रस्तुत प्रकरण में बौद्धों का अहिंसक विषयक चिन्तन प्रस्तुत है।

क्या जीव का वध होने पर हिंसा होती है ?

क्या जीव का वध न होने पर हिंसा होती है ?

क्या जीव का वध होने पर भी हिंसा नहीं होती ?

अहिंसा के चिन्तन में ये तीन महत्वपूर्ण प्रश्न रहे हैं। इन प्रश्नों का सभी धर्माचार्यों ने अपनी-अपनी शैली से समाधान दिया है। बौद्धों ने इन प्रश्नों का उत्तर इस भाषा में दिया—(१) सत्त्व है (२) सत्त्व-संज्ञा है (३) मारने का चिन्तन है और (४) प्राणी मर जाता है—इन चारों का योग होने पर हिंसा होती है, हिंसा से होने वाला कर्म का उपपन्न होता है। जिन परिस्थितियों में हिंसा नहीं होती उसका उल्लेख सूत्रकार ने किया है। निर्युक्तिकार के अनुसार वे चार हैं—

१. वृत्ति, पत्र ३८ : विविधम्—अनेकप्रकारम् उत्—प्राप्त्येन भिताः—संबद्धाः, तत्र वा संसारे उचिताः।

२. चूणि, पृष्ठ ३७ : क्रिया कर्मोत्पन्नवर्तितम्, कर्मवादिदर्शनमित्यर्थः।

३. वही, पृष्ठ ३७ : त एवं ब्रूयते—'गंगाबालिकासमा हि ब्रूयाः, तेः पूर्वमेवेवमाख्यातम्'। अथवा पुरास्मृत्यैमिति पूर्वेषु मिथ्यादर्शन-प्रकृत्याख्यातम्। अथवा प्रख्यातं पुरास्मृत्यैमिति।

४. वही, पृष्ठ ३७ : कर्मविज्ञता नाम यथा येन यस्य येषु च हेतुषु प्रवर्तमानस्य कर्म अभ्यते ततो कर्मविज्ञताः प्रवृत्ताः।

५. वही, पृष्ठ ३७ : दुःखसंकथविबद्धं, कर्मसमूहबद्धमित्यर्थः।

६. वृत्ति, पत्र ३८ : 'दुःखसंकथस्य' असातोदयपरम्परया विबर्धनं भवति।

७. चूणि, पृष्ठ ३७ : कर्म पुनरुपचीयते ? उच्यते, यदि सत्त्वश्च भवति सत्त्वसंज्ञा च सज्जितस्य जीवित्वाद् व्यपरापणं प्राप्तातिपातः।

८. सूत्रकृतागनिर्युक्ति, गाथा २८ : कर्मं अयं न गच्छति अनुविधं निवृत्तसमयम्।

१. परिश्रोपचित—केवल मन से पर्यालोचन करने से किसी प्राणी का वध नहीं होता इसलिए उससे हिंसा-जनित कर्म का चयन नहीं होता ।
२. अभिश्रोपचित—अनजान में प्राणी का वध हो जाने पर भी हिंसा-जनित कर्म का चयन नहीं होता ।
३. ईर्ष्यापथ—बलते समय कोई जीव मर जाता है, उससे भी हिंसा-जनित कर्म का चयन नहीं होता, क्योंकि उसकी मारने की अभि-संधि नहीं होती ।
४. स्वप्नान्तिक—स्वप्न में जीव-वध हो जाने पर भी हिंसा-जनित कर्म का चयन नहीं होता ।

इन कारणों से मात्र कर्म का स्पर्श होता है जो सूक्ष्म तन्तु के बन्धन की भांति तत्काल छिन्न हो जाता है अथवा सूखी भीत पर गिरने वाली धूली की भांति तत्काल नीचे गिर जाता है । उसका विपाक नहीं होता ।

पाराजिक में हिंसा विषयक बौद्ध दृष्टिकोण प्रतिपादित है—

जो मनुष्य जानकर मनुष्य को प्राण से मारे, या शस्त्र लोच लाए या मरने को अनुमोदन करे, मरने के लिए प्रेरित करे—
बड़े पुरुष ! तुम्हें क्या है इस पापी दुर्जीवन से ? तेरे लिए जीने से मरना श्रेय है—इस प्रकार के चित्त-विचार तथा चित्त-विकल्प से अनेक प्रकार से मरने की जो अनुमोदना करे या मरने के लिए प्रेरित करे तो वह भिक्षु पाराजिक होता है । वह भिक्षुओं के साथ सहवास के अयोग्य होता है ।^१

सूत्रकार ने उक्त प्रकरण के संदर्भ में तीन आदानों का प्रतिपादन किया है—

१. अभिक्कम्य
२. प्रेम्भ
३. अनुमोदन

जीव वध के प्रति कृत, कारित और अनुमति—इन तीनों का प्रयोग होने पर कर्म का चयन होता है । इनमें से किसी एक या सब का प्रयोग होने पर हिंसा-जनित कर्म का चयन होता है ।

परिश्रोपचित और अनुमोदन एक नहीं है । परिश्रोपचित में केवल मानसिक चित्तन होता है और अनुमोदन में दूसरे द्वारा किए जाने वाले जीव-वध का समर्थन होता है ।^२

बौद्धदृष्टि के अनुसार जहां कृत, कारित और अनुमोदन नहीं होता वहां जीव वध होने पर भी कर्म का चयन नहीं होता । इस तथ्य की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने मांस-भोजन का दृष्टान्त उपस्थित किया है । आर्द्रकुमार और बौद्धभिक्षुओं के वार्तालाप के प्रसंग में भी इस विषय की चर्चा उपलब्ध है । वहां बौद्ध दृष्टिकोण इस रूप में प्रस्तुत है—

‘कोई पुरुष खल की पिंडी को पुरुष जानकर पकाता है, तुम्हें को कुमार जानकर पकाता है, फिर भी वह जीव-वध से लिप्त होता है । इसके विपरीत कोई म्लेच्छ मनुष्य को खल की पिंडी समझकर शूल में पिरोता है, कुमार को तुम्हें समझकर पकाता है, फिर भी वह जीव-वध से लिप्त नहीं होता । खल-पिंडी की स्मृति से पकाया गया मनुष्य का मांस बुद्धों के लिए अप्राप्त नहीं होता ।’

इस प्रसंग से भी यह फलित होता है कि मन से असंकल्पित जीव-वध होने पर कर्म का चयन नहीं होता ।

१. जिनयपटिक १।३ राहुल साङ्गिस्पायन सन् १९३५ ।

२. बुत्ति, पत्र ३६ : परिश्रोपचिततादस्यायं शेषः—तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिह त्वपरेण व्यापाद्यमाने प्राक्खिन्नुमोदनमिति ।

३. सूयगङ्गो २।६।२६-२८ : पिण्णागपिंडीमणि विद्धं सुले केई पएक्खा पुरिते इमे सि ।

अलाउयं वा वि ‘कुमारण सि’ स लिप्पई पाणिबहेण अग्गं ॥

अहंवावि विद्धं मित्तक्खु सुले पिण्णागङ्गुदीए पए पएक्खा ।

कुमारणं वा वि अलाउए सि न लिप्पई पाणिबहेण अग्गं ॥

पुरिसं वा विद्धं कुमारणं वा सुत्तमि केइ पए जायतेए ।

पिण्णागपिंडि सइमाध्वेसा बुद्धाणं तं कप्पइ पारजाए ॥

वसुबन्धु ने प्राणातिपात की व्याख्या में बताया है—'इसको मांसा—ऐसा जानकर उसे मारता है और वह उसी को मारता है किसी दूसरे को नहीं मारता तब प्राणान्तिपात होता है। संकल्प के बिना किसी को मारता है, अथवा जिसे मारना चाहता है उसे नहीं मारता किन्तु किसी दूसरे को मारता है, वही प्राणातिपात नहीं होता।'

प्रस्तुत सूत्र में बौद्धों के इस अहिंसा विषयक दृष्टिकोण को आलोच्य बताया गया है। इसे आलोच्य बतलाने के पीछे हिंसा का एक मानदंड है। वह है—प्रमाद। हिंसा का मुख्य हेतु है—प्रमाद, फिर हिंसा करने का संकल्प हो या न हो। अप्रमत्त और वीतराग के मन में हिंसा का संकल्प उत्पन्न ही नहीं होता। उनके द्वारा कोई जीव-वध हो जाता है तो उनके हिंसा-जनित कर्म-बंध नहीं होता। जो वीतराग नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, उसके द्वारा किसी जीव का वध होता है तो उसके हिंसा-जनित कर्म-बंध अवश्य होता है। कोई बच्चा हो अथवा कोई समझदार मनुष्य भी नींद में हो अथवा कोई जानबूझ कर हिंसा न कर रहा हो, फिर भी इन सब अवस्थाओं में यदि प्राणातिपात होता है तो वे हिंसा के दोष से मुक्त नहीं हो सकते। संकल्पकृत हिंसा और असंकल्प-जनित हिंसा से होने वाले कर्म-बंध में तारतम्य हो सकता है, किन्तु एक में कर्म का बंध और दूसरी में कर्म का अबध—ऐसा नहीं हो सकता। संकल्प व्यक्त मन का एक परिणाम है। प्रमाद अव्यक्त चेतना (अध्यवसाय, अन्तर्मन या सूक्ष्म मन) का कार्य है। यदि वह विरत नहीं है तो स्थूल मन का संकल्प न होने पर भी जीव-वध होने पर हिंसा होगी और यदि प्रमाद नहीं है तो जीव-वध होने पर भी द्रव्यतः हिंसा होगी, किन्तु उससे कर्म-बंध नहीं होगा। बौद्ध दृष्टिकोण में हिंसा और अहिंसा के बीच संकल्प और असंकल्प की भेदरेखा खींची गई है। जैन दृष्टिकोण में उनके बीच प्रमाद और अप्रमाद की भेदरेखा खींची गई है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर बौद्ध दृष्टि की आलोचना की गई है।

१०७. श्लोक ५५ :

भिक्षु त्रिकोटि शुद्ध मांस को खाता हुआ पाप से लिप्त नहीं होता। इस विषय में चूर्णिकार ने एक उदाहरण दिया है—एक भिक्षु उपामिका के घर गया। उसने बटेर को मार, उसे पका भिक्षु को दिया। गृहस्वामी ने आश्चर्य के साथ कहा—देखो, यह कैसा निर्दय है।^१ इससे ज्ञात होता है कि भिक्षु मांस लेने थे। उद्दिष्ट मांस का बुद्ध ने भिक्षु के लिए निषेध किया था। 'भिक्षुओ ! जान-बूझकर अपने उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाए उसे दुष्कर दोष है। भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ (अपने लिए मारे को) देखें, सुनें, सदेहयुक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस के खाने की।'

चूर्णिकार ने त्रिकोटि मांस का उल्लेख किया है। वे तीन कोटिया उक्त उद्धरण में स्पष्ट हैं—अदृष्ट, अभुत, अशंकित।

सूत्रकार ने पुत्र को मारने का उल्लेख किया है। यह भी निराधार नहीं है। चूर्णिकार ने पुत्र के तीन अर्थ किए हैं—नरपुत्र, सूरार या बकरा।^२ निग्रन्थों ने बौद्धों के मांसाहार के विषय में कोई बातचीत की और वह बातचीत बुद्ध के पास पहुंची। तब बुद्ध ने पूर्वजन्म की घटना बताते हुए कहा—

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मरत्न के राज्य काल में बोधिसत्व उत्पन्न हुए वे प्रव्रजित होकर हिमालय में चले गए। एक बार वे भिक्षा के लिए वाराणसी में आए। एक गृहस्थ तग करने के लिए, उनको अपने घर ले गया। भोजन परोसा। तपस्वी ने भोजन किया। अन्त में गृहस्थ ने कहा—'मैंने तुम्हारे लिए ही प्राणियों का वध कर मांस का यह भोजन तैयार किया था। इसका पाप केवल हमें ही न लगे, तुमको भी लगे। गृहस्थ ने यह गाथा कही—हृत्वा भत्वा बीघत्वा च देति दान असञ्जतो।

एदिसं भत्त मुञ्जमानो स पापेन उपलिप्यति ॥

—असयमी व्यक्ति प्राणियों को मारकर परित्यागित कर, वध कर दान देता है। इस प्रकार का भोजन खाने वाला पाप से लिप्त होता है।

१. अभिधर्मकोश ४।७३ : प्राणातिपातः सञ्जिबन्ध परस्याभ्रान्तिमारणम्।

अवसाधानमन्यस्य स्वोक्त्वा बलचौर्यतः ॥

२. चूर्ण, पृष्ठ ३८ : भिक्षुः त्रिकोटिशुद्धं भुञ्जानोऽपि मेधावी कम्पुणा गोबलिपते। तत्रोदाहरणं उपामिकाया भिक्षुः पाहुणो गतो।

ताए लावगो मारेऊण ओवक्खडेत्ता तस्स विण्णो। घरसामिपुच्छा। अहो ! निविघ्नं स्ति।

३. विनयपिटक ६।४।६, राहुल सांक्रुत्यायन पृष्ठ २४५।

४. चूर्ण, पृष्ठ ३८ : किमंग नरपुत्र शूकरं वा छायासं वा।

उत्तर में बोधिसत्त्व ने कहा—

पुत्तवारम्मि वे हत्त्वा देति दानं असम्भसो ।
भुञ्जमानोपि सप्पब्बो न पापेन उपलिप्पति ॥

—यदि कोई व्यक्ति अपने पुत्र या स्त्री को मारकर भी उनके मांस का दान करता है तो प्रज्ञावान भिक्षु उसे खाता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता ।^१

श्लोक ५६ :

१०८. जो मन से.....कुशल चित्त नहीं होता (मनसा जे पडस्संति, चित्तं तेसि ण विज्जइ)

सूत्रिकार के अनुसार इन दो शरणों की व्याख्या इस प्रकार है—

सबसे पहले व्यक्ति के मन में प्राणियों के प्रति निर्दयता उत्पन्न होती है। फिर यह प्रतिपादन होता है कि जो हमारे भोजन के लिए दूसरा व्यक्ति जीवों का वध करता है, उसमें कोई दोष नहीं है। जो व्यक्ति उद्दिष्ट भोजन का आहार करते हैं वे अप्रदुष्ट होने पर भी उनका मन द्वेषयुक्त ही होता है। वे निरंतर संघर्षरत तथा मत्स्य-मांस का भोजन करने में मूर्च्छित होते हैं तथा इन्द्रियों के व्यापार में नित्य अभिनिविष्ट होते हैं, अतः उनके चित्त नहीं होता। सूत्रकार ने 'चित्त नहीं होता' ऐसा प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है कि उनके कुशल चित्त नहीं होता। अशुभ चित्त या व्याकुल चित्त को अ-चित्त ही कहा जाता है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि जो व्याकुल चित्त होता है वह कहता है—मेरे चित्त है या नहीं।^२

(अजबज्जं अतहं)

जो हिंसा आदि आरंभ में प्रवृत्त होते हैं, उनके अनवद्य योग (कर्मोपचय का अभाव) नहीं होता। जो लोग आरंभ में प्रवृत्त व्यक्ति के अनवद्य योग मानते हैं, वह अतर्क्य है।

कर्म बंध के हेतुओं से निवृत्त (संवृत्तचारिणो)

संवृत का अर्थ है—संयम का उपक्रम। जो संयम का उपक्रम करता है वह संवृतचारी होता है।^३

असंवृतचारी प्रद्वेष, निहृव, मात्सर्य आदि आश्रयों से वर्तमान रहने के कारण तद् अनुरूप कर्म बाधते हैं।^४

श्लोक ५७ :

१०९. इन दृष्टियों को स्वीकार कर (इच्छेयाहि विट्ठीहि)

आगम युग में दर्शन के अर्थ में 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग प्रमुक्तता से होता था। पूर्ववर्ती श्लोको में नाना सिद्धान्त निरूपित हैं। उन्हीं के लिए यहाँ दृष्टि शब्द का प्रयोग किया गया है। दृष्टि का अर्थ नय होता है। जो दार्शनिक एक ही दृष्टि या नय का आग्रह करते थे, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहा जाता था। ४१ और ५९ वें श्लोक में मिथ्यादृष्टि शब्द का प्रयोग मिलता है।

सूत्रिकार ने इस पद के द्वारा पूर्वोक्त नियतिवादी आदि की दृष्टियों को स्वीकार किया है।^५

१. जातक अट्ठकथा, स० २४६, तेलीवाव जातक ।

२. जूनि, पृष्ठ ३८ : पूर्व हि सस्सेषु निर्वृजतोत्पद्यते, परञ्चावपविरयते—यः परः जीवबहं करोति न तत्र दोषोऽस्तीति । ते हि पुण्य-कामकाः मातुरपि स्तनं क्षिप्वा लेभ्यो वदति । अप्रदुष्टा अपि मनसा दुष्टा एव मन्तव्याः य उद्देशककृत भुञ्जते । एवं तेषां सङ्गमस्कादपि मत्स्याद्यशनेषु च मूर्च्छितानां प्राणादिव्यापारेषु च मिथ्याभिनिविष्टानां कुशलचित्तं न विद्यते, अशोभनं चित्तं व्याकुल वा तद्विषयेषु, यथा अशीलवती । लोकेऽपि हृष्टम्—व्याकुलचित्ता जवति (जगति) अविचित्तो हं ।

३. वही, पृष्ठ ३८ : संवृतचारिणो नाम संवृतः संयमोपक्रमः तत्तत्करणशीलः संवृतचारी ।

४. वही, पृष्ठ ३८ : मित्तमेव हि ते असंवृतचारिणो बन्धहेतुषु वर्तन्ते, असंवृतत्वात् ते हि तत्प्रदोषनिहृव—मात्सर्यादिव्याधवहारेषु यथास्वं वर्तमानास्तदनुकम्पमेव च यथापरिणामं कर्म जन्वन्ति ।

५. जूनि, पृष्ठ ३९ : एताहि ति इहस्प्याये वा अवविष्टा नियतिकायाः ।

वृत्तिकार ने केवल 'चार प्रकार का कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होता'—इस बौद्ध दृष्टि को स्वीकार किया है।'

शारीरिक सुखों में आसक्त (सातागारवनिस्सिवा)

भूणिकार ने इसका अर्थ शरीर-सुख के प्रति आसक्त किया है।'

गौरव के तीन प्रकार हैं—ऋद्धि गौरव, रस गौरव, और साता गौरव। प्रस्तुत प्रसंग में साता गौरव का कथन है। इसका अर्थ है—सुखशीलता में आसक्त।'

इलोक ५८ :

११०. सच्छिद्र नौका (आसाविणि नावं)

ऐसी नौका जिसके कोष्ठ (चहारदिवारी)' नहीं किया गया है या जिसका कोष्ठ भग्न हो गया है, उसे आसाविणी नौका कहते हैं।'

जम्मागध (जाइअंधो)

इसका अर्थ है—जम्मागध। भूणिकार के अनुसार जात्यंध का ग्रहण इसलिए किया गया है, कि वह न नौका के मुख—अग्रभाग को जानता है और न उसके पृष्ठभाग को जानता है और न वह नाव खेने के उपकरणों का उपयोग जानता है। वह निश्च्छिद्र नौका को भी नहीं चला सकता, फिर खेद वाली नौका को कैसे चला सकता है ?'

इलोक ६० :

१११. अट्टालु गृहस्थ (सङ्घी)

यह विभक्ति रहित पद है। यहां 'सङ्घीहि'—तृतीया विभक्ति होनी चाहिए। भूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अट्टालान् अथवा एक साथ रहने वाले।'

११२. पूतिकर्म (पूइकडं)

पूतिकृत—आधाकर्म से मिश्रित आहार आदि।

देखें—दसवेआलियं ५।१।५५ का टिप्पण न० १५४।

११३ फिर भी वह द्विपक्ष का सेवन करता है (वुपक्खं खेव सेवई)

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

(१) गृहस्थ पक्ष और प्रव्रजित पक्ष।

(२) ईर्ष्यापथ और सांपरायिक।

(३) पूर्वबद्ध कर्म-प्रकृतियों को गाढ़ करना तथा नये कर्मों को बाधना।

१. वृत्ति, पत्र ४१ : 'इत्येताभिः' पूर्वोक्ताभिरुचतुर्विधं कर्म नोपचय यातीति 'दृष्टिभिः' अभ्युपगमेः।

२. भूणि, पृष्ठ ३६ : सातागारवो नाम शरीरसुखं तत्र निःसृताः (निःश्रिताः) अज्झोववणा इत्यर्थः।

३. वृत्ति, पत्र ४१ : 'सातगौरवनिःश्रिताः' सुखशीलतायामासक्ताः।

४. आष्टे संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी—कोष्ठम् A Surrounding Wall, चागवत ४।२८।५६।

५. भूणि, पृष्ठ ३६ : आश्रयतीति आश्रयिणी अकतकोट्टा भुण्णकोट्टा वा।

६. वही, पृष्ठ ३६ : जात्यन्धग्रहणं नासौ नावापुलं पृष्ठं वा जानीते, यो वा अवलकपत्रादेरुपकरणस्य यथोपयोगः। सो हि णिच्छिङ्गुं पि ण सबकेइ वट्ठावेतु, किमंग पुण सपच्छिङ्गुं ?

७. भूणि, पृष्ठ ४० : अट्टा अस्यास्तीति आट्टी अथवा सङ्घी ति जे एगतो वसंति।

८. वृत्ति, पत्र ४२ : 'द्विपक्ष' गृहस्थपक्ष प्रव्रजितपक्ष यद्विवा—'द्विपक्ष' मिति ईर्ष्यापथः सांपरायिकं च, अथवा—पूर्वबद्धा निकाचितान्यवस्थाः कर्मप्रकृतीर्नयत्यपूर्ववशादसे।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—गृहस्थ पक्ष और प्रव्रज्या पक्ष । वह व्यक्ति वेद की दृष्टि से संयमी और आचरण में असंयमी होता है, इसलिए वह गृहस्थ और साधु—दोनों पक्षों का सेवन करता है ।^१

इलोक ६१ :

११४. कर्मबन्ध के प्रकारों को (विसमंसि)

वृत्तिकार का कथन है कि कर्म-बंध विषम होता है । उसे तोड़ना सरल नहीं होता । आठ कर्मों में प्रत्येक कर्म अनेक प्रकार का है और इसका बंध अनेक कारणों से होता है । प्रत्येक कर्म की अनेक प्रकृतियां हैं, अतः कर्म-बंधन से मुक्त होना विषम कार्य है ।^२

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—सर्व कर्म-बंध अथवा चतुर्गति संसार ।^३

११५. नहीं जानते (अकोबिया)

जो मनुष्य प्रत्युत्पन्न में आसक्त होते हैं और भविष्य में होने वाले दोषों को नहीं जानते वे अकोबिद होते हैं । वैसे व्यक्ति दुःख को प्राप्त होते हैं ।^४

११६. विशालकाय मत्स्य (मच्छा बेसालिया)

वृत्तिकार ने 'बेसालिय' के तीन अर्थ किए हैं—

(१) विशाल का अर्थ है—समुद्र, उसमें होने वाले मत्स्य ।

(२) विशालकाय मत्स्य ।

(३) 'विशाल'—नामक विशिष्ट मत्स्य जाति में उत्पन्न मत्स्य ।

वृत्तिकार ने भी ये ही तीन अर्थ किये हैं ।^५

ज्वार के साथ नदी के मुहाने पर आते हैं (उदगस्सऽभियागमे)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—पानी का समुद्र से बाहर फेंका जाना किया है । मतांतर में इसका अर्थ ज्वार का आना और जाना भी किया है ।^६

११७. कम हो जाता है (अपभावेण)

अल्पभाव का अर्थ है—मोड़ा ।^७

वृत्तिकार ने इसको 'प्रभाव' शब्द मानकर व्याख्या की है । उनका कहना है कि ज्वार के पानी के प्रभाव से वे विशालकाय मत्स्य नदी के मुहाने पर आ जाते हैं ।^८

वृत्तिकार का यह अर्थ उचित नहीं लगता, क्योंकि यह 'उदगस्सऽभियागमे' में आ गया है । अतः यहाँ 'अल्पभाव' वाला अर्थ ही उचित है ।

१. वृत्ति, पृष्ठ ४० : दुपक्ख णाम पञ्चो द्वी सेवते, तद्यथा—गृहस्थं प्रव्रज्यां च । बन्धतो लिंगं जायतो अतंबतो । एवं ते प्रव्रजिता अपि भूत्वा आघाकर्मविमोक्षने गृहस्था एव सम्पद्यन्ते ।

२. वही, पृष्ठ ४० : विसमो णाम बंध-मोक्षो, कम्मबंधो वि विसमो, अतो एवकेकं कम्मजोग्गयतारं अजेतेहि च पगारेहि वचन्ते.....

३. वृत्ति, पत्र ४२, विषयः अष्टप्रकारकर्मबंधो मज्झकोटिभिरपि दुर्गोसः चतुर्गतिसंसारो वा ।

४. वृत्ति, पृष्ठ ४० : ते अयाणगा प्रत्युत्पन्नगृहाः अनागतदोष (वा)—इतिनाह आघाकर्मविमोक्षोऽर्थः कर्मबद्धाः संसारे दुःखमाप्नुवन्ति ।

५. वही, पृष्ठ ४० : विशाल समुद्रः विशाले भवाः वैशालिकाः, गृहप्रमाणाः अथवा विशालकाः वैशालिकाः ।

६. वृत्ति, पत्र ४२ ।

७. वृत्ति, पृष्ठ ४० : उदगस्य अप्पागमो नाम समुद्राग्निस्तरणम्, केचित्तु पुनः प्रवेशः ।

८. वृत्ति पृष्ठ ४० : अप्पागमो णाम उदगस्स अप्पाभावः ।

९. वृत्ति, पत्र ४२ : उदगस्स प्रभावेन नदीमुखमागताः ।

११८. नदी की बालू सूख जाती है तब (सुक्कन्मि)

पानी का प्रवाह आता है और तत्काल चला जाता है तब वहा कुछ पानी शेष रह जाता है या कीचड़ बन जाता है । ये सारी अवस्थाएं 'शुष्क' शब्द से ग्रहीत हैं ।'

११९. मांसार्थी (आमिसत्थेहि)

हमने इसको ढक और कंक पक्षियों का विशेषण माना है ।

चूणिकार और वृत्तिकार ने इसे विशेषण न मान कर स्वतन्त्र माना है । मांसार्थी अर्थात् शृंगाल, पक्षि, मनुष्य, मार्जार आदि । यह चूणिकार का अर्थ है ।'

वृत्तिकार के अनुसार वे मनुष्य जो मांस और चर्बी पाने के इच्छुक हैं तथा वे जो मत्स्य आदि को बेचकर अपनी आजीविका चलाते हैं वे मांसार्थी कहलाते हैं ।'

दुःखी (दुही)

कुछ मत्स्य जो उबार के साथ तट पर आ जाते हैं, वे भाटा के आने पर पानी के साथ पुनः समुद्र में चले जाते हैं और कुछ मत्स्य थोड़े से पानी में फंस जाते हैं । मांसार्थी पशु-पक्षी अपने तीक्ष्ण दातो और चोचो से उनका मांस नोच-नोच कर खाते हैं तब वे मत्स्य बहुत दुःखी होते हैं ।'

१२०. ढंक और कंक पक्षियों के द्वारा (ढंकेहि य कंकेहि य)

प्रस्तुत आगम में ये शब्द तीन स्थानों पर आए हैं । दो स्थानों पर ढंक और कंक तथा एक स्थान पर ढंक आदि ।

१. ढंकेहि य कंकेहि य (१।१।६२)

२. जघा ढंका य कका य (१।१।२७)

३. ढंकादि (१।१।४२)

चूणिकार ने प्रथम निर्दिष्ट स्थान में इनका कोई अर्थ नहीं किया है । तत्पर्याय में ये मांसभक्षी पक्षी हैं । दूसरे स्थल पर इनका अर्थ जलचर पक्षी, जो तृण नहीं खाते, केवल उदक का आहार करते हैं—पानी के जीवों का भोजन करते हैं, किया है । तीसरे स्थल पर इन्हें केवल पक्षी माना है ।'

वृत्तिकार ने तीन स्थानों पर इनके अर्थ इस प्रकार किए हैं—

१. मांस में आसक्त रहने वाले पक्षी विशेष ।

२. मांसाहारी पक्षी विशेष जो जलाशयों पर रहते हैं और मछलियों को पाने में तत्पर रहते हैं ।

३. मांसभक्षी क्षुद्रजीव ।

बौद्ध शब्दकोष में ढक का अर्थ काक (crow) किया है ।'

१. चूणि पृ० ४० : प्रस्थावृत्ते उदगे शुष्का एव बालुका सवृत्ता पङ्क्तौ वा ।

२. चूणि, पृ० ४० : आमिषाशिनः शृंगाल-पक्षि-मनुष्य-मार्जारादयः ।

३. वृत्ति, पत्र ४२ : मांसवसापिभिरमस्यबन्धादिभिर्जीवन्त एव ।

४. चूणि, पृ० ४० : यदृच्छया च केचित् पुनः बीचीमासाद्य वर्द्धमाने च उदके समुद्रमेव विशन्ति । दुहि ति तैस्तीक्ष्णतुण्डैः पिशिता-
भिभिरयममानास्तीव्रं दुःखमनुभवन्तो अट्टदुहृद्वसट्टा मरन्ति ।

५. (क) चूणि पृ० ४० एतेनान्ये आमिषाशिनः ।

(ख) बही, पृ० २०१ जलचरपक्षिजातिरेव एते हि न तृणाहाराः केवलोदकाहारा वा ।

(ग) बही, पृ० २२८ ढङ्कु. पंत्ती ।

६. (क) वृत्ति पत्र ४२. आमिषप्रपुन्यमिर्दङ्कुः कङ्कुश्च पक्षिविशेषः ।

(ख) बही, पृ० २०७ : ढङ्कुः अयः—पक्षिविशेषो जलाशयाश्रया आमिषजीविनो मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्ति ।

(ग) बही पृ० २४९ 'ढङ्कुः अयः'—भुङ्क्षुस्त्वा. पिशिताशिनः ।

७. पालि इंगलिश डिक्शनरी (P.T.S.)

राजस्थानी में 'कंक' को 'डीकड़ा' (बड़ा काग) कहते हैं।

पिप्पल ने 'कंक' का संस्कृत रूप 'कंकाक्ष' किया है।

महाराष्ट्री में इसे 'कंस' कहा जाता है।^१

प्रत्ययकरण में अनेक पक्षियों के नाम आए हैं—उनमें एक पक्षी का नाम है 'कंक'।^२ यह भी 'कंक' का ही वाचक है।

कंक शब्द के दस अर्थ हैं। उनमें चार अर्थ—गृध्र, काक, कोक (चक्रवाक) और पिक (कोयल) ये पक्षीवाची हैं।

कंकस्तरंगे गुप्ते च, गृध्रे काके युधिष्ठिरे।

कूले मधुरिपी कोके, पिके वैकस्वतेऽप्यथ ॥^३

हिन्दी शब्दसागर में कंक के तीन अर्थ किए हैं—

१. मासाहारी पक्षी जिसके पंख बाणों में लगाए जाते हैं।

२. सफेद चील—इसका पृष्ठभाग बहुत मजबूत और लोहवर्ण का होता है।

३. बगुला, बतख।

१२१. मृत्यु को प्राप्त होते हैं (घातमेति)

समुद्र के विशालकाय मत्स्य उबार-भाटे के पानी के साथ बहकर चर पर आ जाते हैं। पानी का प्रवाह बेग से लौट जाता है। मत्स्य विशालकाय होने के कारण उस थोड़े से पानी में तैर नहीं सकते और मुड़ते समय वहीं फंस जाते हैं।^४

चूणिकार ने 'घत' पाठ मान कर इसके दो अर्थ किए हैं—१. घात से होने वाला अंत। २. मृत्यु।^५

वृत्तिकार ने 'घात' का अर्थ विनाश किया है।^६

श्लोक ६३ :

१२२. वर्तमान सुख की एषणा करने वाले कुछ भ्रमण (समया एगे बट्टमानसुहेतिषो)

चूणिकार ने अन्यतीर्थिक और पार्श्वस्य (स्वतीर्थिक शिथिलाचारी मुनि) की भ्रमण माना है।^७ वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा शाक्य, पाशुपत, और जैन मुनियों का सूचन किया है।^८

वर्तमान सुख की एषणा करने वाले व्यक्ति परिणाम पर ध्यान नहीं देते। वे केवल वर्तमान क्षण का ही विचार करते हैं। प्रस्तुत श्लोक में उन मुनियों को वर्तमान सुख की एषणा करने वाला माना है जो आध्यात्मिक आदि अशुद्ध आहार की प्राप्ति में ही सुख का अनुभव करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि आध्यात्मिक के उपभोग से क्या-क्या कटु परिणाम उन्हें भोगने होंगे।^९

१२३. अनंत बार.....प्राप्त होते हैं (एसंतनंतसो)

यहां दो शब्द हैं—एष्यन्ति और अनन्तशः।

१. पिप्पल, पेर २१५ पृ० ३३३।

२. पण्डितारण्य १।६।

३. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी 'कंकः', पृ० ५१६।

४. चूणि पृ० ४० : स च महाकायत्वात् तत्र शक्नोति तर्तुम्, परिवर्तमानो वा नदीमुखे लप्यते।

५. चूणि, पृ० ४०।

६. वृत्ति, पत्र ४२।

७. चूणि, पृ० ४० : भ्रमणउत्थिता पासतथावयो वा।

८. वृत्ति, पत्र ४२ : भ्रमणाः... शाक्यपाशुपतादयः स्वपूथ्या वा।

९. वृत्ति, पत्र ४२ : वर्तमानसुखेतिषः... तत्कालाप्राप्तसुखलबासकथेतसोऽनालोचिताध्यात्मोपभोगजनितानि कटुकदुःखीबाधुनवाः।

मत्स्य केवल उसी भव में मारे जाते हैं, किन्तु जो भ्रमण वर्तमान सुखी होते हैं वे जनस्त जन्म-मरण करते हैं।^१
वृत्तिकार ने 'एष्यन्ति' का अर्थ 'अनुभव करेंगे'—किया है।^२ इसका धात्वर्थ है—प्राप्त होंगे।

श्लोक ६४ :

१२४. देव द्वारा उत्पन्न है (देवउत्पत्ते)

जैसे कृषक बीजों का बपन कर फसल उगाता है वैसे ही देवताओं ने बीज बपन कर इस संसार का सर्जन किया है।
'उत्पत्ति' शब्द के संस्कृत रूप तीन हो सकते हैं—उत्पत्ति, गुप्त और पुत्र। इनके आधार पर 'देवउत्पत्ति' शब्द के तीन अर्थ किए जा सकते हैं—

१. देवउत्पत्ति—देव द्वारा बीज बपन किया हुआ।
२. देवगुप्त—देव द्वारा पालित।
३. देवपुत्र—देव द्वारा उत्पादित।

१२५. ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न है (ब्रह्मउत्पत्ते)

इसका अर्थ है—ब्रह्मा द्वारा बीज-बपन किया हुआ। कुछ प्रावादक मानते हैं कि ब्रह्मा जगत् का पितामह है। जगत् सृष्टि के आदि में वह अकेला था। उसने प्रजापतियों की सृष्टि की। उन्होंने फिर क्रमशः समस्त संसार को बनाया।^३

इनके भी तीन अर्थ होते हैं—

१. ब्रह्मउत्पत्ति—ब्रह्मा द्वारा बीज-बपन किया हुआ।
२. ब्रह्मगुप्त—ब्रह्मा द्वारा पालित।
३. ब्रह्मपुत्र—ब्रह्मा द्वारा उत्पादित।

श्लोक ६५ :

१२६. कुछ कहते हैं—यह (लोक) प्रधान—प्रकृति द्वारा कृत है (पहानाह पहानए)

प्रधान का अर्थ है—साक्ष्य सम्मत प्रकृति।

इसका अपर नाम अव्यक्त भी है। सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा जाता है। वह पुरुष (आत्मा) के प्रति प्रवृत्त होती है।

इस शब्द में प्रयुक्त आदि शब्द से वृत्तिकार ने प्रकृति से सृष्टि के सर्जन का क्रम उल्लिखित किया है—प्रकृति से महान् (बुद्धि), महान् से अहकार, अहकार से षोडशक गण (पांच बुद्धिन्द्रिया, पांच कर्मेन्द्रिया, पांच तन्मात्र और मन), फिर पांच तन्मात्र से पांच भूतों की सृष्टि होती है। अथवा आदि शब्द से स्वभाव आदि का ग्रहण किया है। कुछ प्रावादक कहते हैं—जैसे कांटो की तीक्ष्णता स्वभाव से ही होती है, वैसे ही यह लोक भी स्वभाव से ही बना है।

१. ब्रूणि, पृष्ठ ४० . मच्छा एगमविय मरण पावेति एवमणेगाणि जाइतवमरितव्याणि पावेति।

२. वृत्ति, पत्र ४२ : एष्यन्ति अनुभवयन्ति।

३. (क) ब्रूणि, पृष्ठ ४१ . देवउत्पत्ते देवेहि अयं लोगो कतो, उत्पत्ति बीजवद् वपित आदिसर्गे देवगुप्तो देवः पालित इत्यर्थः। देवपुत्रो वा देवजनित इत्यर्थः।

(ख) वृत्ति, ४३ : देवेनोत्पत्तो देवोत्पत्तः, कर्षकेणैव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः देवेर्वा गुप्तो—रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वा।

४. ब्रूणि, पत्र ४३ : तथाहि तेषामयमनुपपन्नः—ब्रह्मा जगत्पितामहः, स लोक एव जगदाद्यासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टाः तैश्च कर्मेणैतत्सकलं जगदिति।

५. ब्रूणि, पृष्ठ ४१ : एवं ब्रह्मउत्पत्ते च त्रिणि विकल्पा भाजितव्या—ब्रह्मउत्पत्तिः ब्रह्मगुप्तः ब्रह्मपुत्र इति वा।

कुछ प्राबाहुक कहते हैं—मयूर की पांखों की तरह यह लोक भी नियति द्वारा कृत है।'

'पहाणाइ'—इस शब्द में 'कडे' शब्द शेष रहता है। 'पहाणाइ कडे'—ऐसा होना चाहिए।

इस विज्ञान जगत् का मूल कारण क्या है, इस विषय में सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से चिन्तन प्रस्तुत किया है। सांख्य दर्शन के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं—चेतन और अचेतन। ये दोनों अनादि और सर्वथा स्वतंत्र हैं। चेतन अचेतन का अथवा अचेतन चेतन का कार्य या कारण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन सृष्टिवादी नहीं है। वह सत्कार्यवादी है। अचेतन जगत् का विस्तार 'प्रधान' से होता है, इस अपेक्षा से सूत्रकार ने सांख्य दर्शन को सृष्टिवाद की कोटि में परिगणित किया है।

प्रधान का एक नाम प्रकृति है। वह त्रिगुणात्मिका होती है। सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण हैं। इनकी दो अवस्थाएं होती हैं—साम्य और वैषम्य। साम्यावस्था में केवल गुण ही रहते हैं। यही प्रलयावस्था है। वैषम्यावस्था में वे तीनों गुण विभिन्न अनुपातों में परस्पर मिश्रित होकर सृष्टि के रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार अचेतन जगत् का मुख्य कारण यह 'प्रधान' या 'प्रकृति' ही है।

प्रकृति की विकाररहित अवस्था मूल प्रकृति है। उससे महत्—बुद्धि नामक तत्त्व उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार, अहंकार से मन, दस इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां) और पांच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) उत्पन्न होती हैं। इन पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं—शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। शब्द तन्मात्रा सहित स्पर्श तन्मात्रा से वायु उत्पन्न होता है। शब्द और स्पर्श तन्मात्राओं से युक्त रूप तन्मात्रा से तेज उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओं से युक्त रस तन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राओं से युक्त गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है।'

इन बीबीस तत्त्वों में प्रकृति किसी से उत्पन्न नहीं होती। वह अनादि है। उसका कोई मूल नहीं है। इसलिए उसे मूल कहा जाता है। मूल प्रकृति अविकृति होती है। महत् अहंकार और पांच तन्मात्राएं—ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों में होते हैं। इनसे अन्य तत्त्व उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये प्रकृति हैं और ये किसी न किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिए विकृति भी हैं। सोलह तत्त्व (दस इन्द्रियां, पांच महाभूत और मन) केवल विकृति हैं। पुरुष किसी को उत्पन्न नहीं करता इसलिए वह प्रकृति नहीं है और वह किसी से उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह विकृति भी नहीं है।' मूल प्रकृति पुरुष—दोनों अनादि हैं।' शेष तेईस तत्त्व प्रकृति के विकार हैं। यही प्रधानकृत सांख्य-सृष्टि का स्वरूप है।

सृष्टिवाद के विविध पक्षों का निरूपण वैदिक और श्रमण साहित्य में मिलता है। सूत्रकार ने सृष्टि विषयक जिन मतों का संकलन किया है उनका आधार इस साहित्य में खोजा जा सकता है। सृष्टि के संबंध में कुछ अभिमत यहां प्रस्तुत हैं—

१. ऋग्वेद के दसवें मंडल में सृष्टि के विषय की अनेक ऋचाएं हैं। ८१, ८२ वीं ऋचा में कहा गया है कि विश्वकर्मा ने संसार की सृष्टि की। ८१वीं ऋचा में पूछा गया—सृष्टि का आधार क्या है? सृष्टि की सामग्री क्या थी? आकाश और पृथ्वी का निर्माण कैसे हुआ? इनके उत्तर में कहा गया है—एक ईश्वर था। वह चारों ओर देखता था। उसका मुह सभी दिशाओं में था। उसके हाथ-पैर सर्वत्र थे। आकाश-पृथ्वी के निर्माण के समय उसने उन सबका प्रयोग किया। सारी सृष्टि बन गई।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में पुरुष (आदिपुरुष) को सृष्टि का कर्ता माना है। उसके हजार सिर, हजार आंखें और हजार पैर थे। सारी सृष्टि उसकी है। उस पुरुष से 'विराज' उत्पन्न हुआ और उससे दूसरा पुरुष 'हिरण्यगर्भ' पैदा हुआ।

कुछेक सूक्तों में कहा गया है कि पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, जो स्वर्ण-अंड के रूप में था। वही प्रजापति है।

१. बुद्धि, पत्र ४३।

२. सांख्यकारिका, श्लोक २२ : प्रकृतेर्नर्हास्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणयन् बोद्धव्यः।

तस्मादपि बोद्धव्यात् पञ्चभूतानि पञ्चभूतानि ॥

३. सांख्य सूत्र १/६७ : मूले मूलाभावाद्भूतं मूलम्।

४. सांख्यकारिका, श्लोक ३ : मूलप्रकृतिरविकृतिर्नर्हाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

बोद्धव्यस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

५. गीता १३/१६ : प्रकृतिं पुरुषं चैव बिभ्रद्यमादी उच्यते ॥

२. अथर्ववेद में सृष्टि के विषय में अनेक उल्लेख हैं। वे सब ऋग्वेद के ही उपजीवी कहे जा सकते हैं।

इस वेद के १६ वें कांड के ५६, ५४ में काल को सृष्टि का सर्जक माना है। काल ने ही प्रजापति, स्वयंसू, काम्यप आदि को उत्पन्न किया। उससे ही सारी सृष्टि पैदा हुई।

विभिन्न ब्राह्मण ग्रंथों में भी सृष्टि विषयक चर्चा उपलब्ध होती है—

१. सत्पथ ब्राह्मण ६/१/१ में—

पहले असत् (अव्यक्त) था। वह ऋषि और प्राणरूप था। सात प्राणों से प्रजापति की उत्पत्ति हुई। प्रजापति के मन में यह विकल्प उठा—‘मैं एक से अधिक होऊँ।’ उन्होंने तपस्या की। तपस्या में थक जाने के कारण उन्होंने पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया। उसने पानी को उत्पन्न किया। उससे अंडा पैदा हुआ। प्रजापति ने उसे छूआ। उससे पृथ्वी आदि अस्तित्व में आए।

२. इसी ब्राह्मण ग्रंथ के ११/१/६/१ में इस प्रकार का वर्णन है—

पहले केवल पानी था। पानी के मन में उत्पन्न करने की बात उठी। पानी तपस्या करने गया। एक अंडा जन्मा जो एक वर्ष तक पानी पर तैरता रहा। एक वर्ष बाद पुरुष, प्रजापति का जन्म हुआ। उसने अंडे को तोड़ा। उसने अपने श्वास से देवताओं को जन्म दिया। फिर अग्नि, इन्द्र, सोम आदि पैदा हुए।

३. तैत्तरीय ब्राह्मण II २/६/१ :

पहले कुछ नहीं था। न स्वर्ग था। न पृथ्वी थी। न आकाश था। उस असत् ने ‘होने’ की बात से मन को पैदा किया। वही सृष्टि। (इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्। न द्यौरासीत्। न पृथिवी। न चान्तरिक्षम्। तदसदेव सन् मनो अकुर्वत् स्यामिति।)

उपनिषदों में सृष्टि-निर्माण की विभिन्न कल्पनाएँ हैं—

१. बृहदारण्यक उपनिषद् I ४/३, ४, ७ :

पहले एक ही आत्मा पुरुष के रूप में था। उसे अकेले में आनन्द नहीं आया। उसमें एक से दो होने की भावना जागी। उसने अपनी आत्मा को दो भागों में बांटा। एक भाग स्त्री और दूसरा भाग पुरुष बना। दोनों पति-पत्नी के रूप में रहे। उससे सारी मानव-सृष्टि का अस्तित्व आया। फिर प्राणी जगत् बना। फिर नाम-रूप में आत्मा का प्रवेश हुआ।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ६/२३-४; ६/३/२-३ :

पहले केवल सत् था। एक से अनेक होने की चाह जगी। उसने तेज उत्पन्न किया। तेज से पानी उत्पन्न हुआ। पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई। दिव्य शक्ति ने तीनों—तेज, पानी और पृथ्वी में प्रवेश कर उन्हें नाम-रूप दिया।

३. ऐतरेय उपनिषद् III ३ :

पहले केवल आत्मा था। कुछ भी सचेतन नहीं। उसने सोचा—‘मैं सृष्टि की रचना करूँ।’ पहले अंभस् को उत्पन्न किया। उसके बाद मरीचि—आकाश, मृत्यु और पानी को उत्पन्न किया। फिर विश्व का अर्त्ता आदि-आदि।

४. तैत्तरीय उपनिषद् II ६ :

आत्मा था। उसने सोचा—अकेला हूँ, बहुत होऊँ। तपस्या कर विश्व की सृष्टि की। सर्जन के पश्चात् उसमें प्रवेश कर दिया।

पहले केवल असत् था, फिर सत् उत्पन्न हुआ। दूसरे शब्दों में पहले अव्यक्त था, फिर व्यक्त हुआ। ब्रह्मा स्वयं जगत् के स्रष्टा हैं और सर्जित हैं।

५. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३/२-३

वद्र सृष्टि का स्रष्टा है। ईश्वर ‘मायी’ है। उसमें असीम शक्ति है। वह माया के द्वारा विश्व की सृष्टि करता है। माया ईश्वरीय शक्ति है।^१

१. बी प्रिन्सिपल उपनिषद्भाष्य, भूमिका पृ० ८२-८३ डा० राधाकृष्णन।

मुंडक उपनिषद् २/१ में कहा गया है कि ब्रह्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई। आकाश का एक गुण है शब्द। वायु में दो गुण हैं—शब्द और स्पर्श। अग्नि में तीन गुण हैं—शब्द, स्पर्श और वर्ण। पानी में चार गुण हैं—शब्द, स्पर्श, वर्ण और स्वाद। पृथ्वी में पांच गुण हैं—शब्द, स्पर्श, वर्ण, स्वाद और गंध। इनके विभिन्न मात्रा के मिश्रण से सृष्टि की रचना हुई।

सुबाला उपनिषद् १/१ में उल्लेख है कि ऋषि सुबाला ने ब्रह्मा से सृष्टि विषयक प्रश्न पूछा। ब्रह्मा ने कहा—पहले अस्तित्व था—ऐसा भी नहीं है, पहले अस्तित्व नहीं था—ऐसा भी नहीं है, पहले अस्तित्व था भी और नहीं भी—ऐसा भी नहीं है। सबसे पहले तमस् पैदा हुआ। उससे भूत उत्पन्न हुए। उनसे आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप् और अप् से पृथ्वी उत्पन्न हुई। उसके बाद अंडा उत्पन्न हुआ। एक वर्ष की परिपक्वता के बाद वह अंडा फूटा। ऊपर का भाग आकाश, नीचे का पृथ्वी और मध्य में दिव्य पुरुष। उसने मृत्यु को उत्पन्न किया। वह तीन आंखों, तीन सिर और तीन पैरों से युक्त खंड परशु था। ब्रह्मा उससे भयभीत हो गया। मृत्यु उसी में प्रविष्ट हो गई। ब्रह्मा ने सात मानस-पुत्रों को जन्म दिया। उन्होंने सात पुत्रों को जन्म दिया। वे प्रजापति कहलाए।

स्मृतियों में सृष्टि की रचना विषयक चर्चा—

१. मनुस्मृति I, ५-१६—

पहले केवल तमस् व्याप्त था। वह अभिमुष्य, अतर्क्य और अज्ञात था। ईश्वरीय शक्ति ने तमस् का नाश किया। उसने अपने ही शरीर से विविध प्रकार के प्राणियों की रचना करने के लिए सबसे पहले पानी की सृष्टि की। उसमें अपना बीज बोया। वह बीज स्वर्ण-अंडे के रूप में विकसित हुआ। वह सूर्य जैसा तेजस्वी था। उस अंडे में स्वयं वह उत्पन्न हुआ। वह ब्रह्मा कहलाया। वही नारायण नाम से अभिहित हुआ, क्योंकि पानी को 'नारा' (नारा के अपत्य) कहा गया है और वह पानी ब्रह्मा का प्रथम विधाम-स्थल था। सृष्टि का प्रथम कारण न सत् था, न असत् था। उससे जो उत्पन्न हुआ वह ब्रह्मा कहलाया। स्वर्ण-अंडे में वह दिव्य शक्ति एक वर्ष तक रही। अंडे के दो भाग हुए। एक भाग स्वर्ग बना और एक भाग पृथ्वी। इन दो के मध्य मध्यलोक, आठ दिशाएं और समुद्र बना। उस दिव्य शक्ति ने अपने से मन निकाला। मन से अहंकार और महत्—आत्मा उत्पन्न हुए। सारी सृष्टि तीन गुणों का मिश्रण मात्र है।

२. मनुस्मृति I, ३२-४१—

ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागों में बांटा—एक पुरुष, दूसरा स्त्री। स्त्री ने 'विराज' को उत्पन्न किया। उसने तपस्या कर एक पुरुष को जन्म दिया। वही मनु कहलाया। मनु ने पहले दस प्रजापतियों को जन्म दिया। उनसे सात मनु, ईश्वर, देवता, ऋषि, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सराएं, सर्प, पक्षी तथा अन्यान्य सभी जीव और नक्षत्र उत्पन्न हुए।

३. मनुस्मृति I, ७४-७८—

ब्रह्मा गाढ़ निद्रा से जागृत हुए। सृष्टि का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने पहले आकाश को उत्पन्न किया। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी और पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई। यह समूची सृष्टि का आदि-क्रम है।

इसी प्रकार महाभारत के अध्याय १७५-१८० के अनेक स्थलों में सृष्टि की चर्चा प्राप्त है।

विभिन्न पुराणों में भी सृष्टि की चर्चा मिलती है। इन सारी उत्तरवर्ती चर्चा का मूल स्रोत ब्राह्मण ग्रंथ और उपनिषद् हैं।

सृष्टि की रचना अंडे से हुई, यह सिद्धान्त बहुमान्य रहा है। छांदोग्य आदि उपनिषदों में भी इसकी चर्चा है।

ऋषिभाषित में भी अंडे से उत्पन्न सृष्टि की संक्षिप्त चर्चा प्राप्त है। श्रीगिरि अहंत् के अनुसार पहले केवल जल था। उसमें एक अंडा उत्पन्न हुआ। वह फूटा और लोक निर्मित हो गया। उसने श्वास लेना प्रारंभ किया। यह वरुण-विधान है। जल का देवता वरुण है। इसलिए यह सृष्टि वरुण की सृष्टि है।^१

१२७. स्वयंभू ने इस लोक को बनाया (सयंभूना कडे लोए)

सृष्टि स्वयंभू कृत है। ब्रह्मा का अपर नाम स्वयंभू है, क्योंकि वे अपने आप उस अंडे से उत्पन्न हुए थे। चौदह मनुओं में पहले मनु का नाम 'स्वयंभू' है।

१. इतिहासियाई, अध्ययन ३७ ; पृ० २३७ : एत्थ अंडे संतसे एत्थ लोए संभूते । एत्थ सासासे । इयं जे वरुणविधाने..... ।

१२८. मृत्यु से युक्त माया की रचना की (मारेण संयुया माया)

प्रस्तुत चरण में वैदिक साहित्य में उल्लिखित मृत्यु की उत्पत्ति की कथा का संकेत है—

ब्रह्मा ने जीवाकुल सृष्टि की रचना की। पृथ्वी जीवों के भार से आक्रान्त हो गई। वह और अधिक भार वहन करने में असमर्थ थी। वह दीड़ी-दीड़ी ब्रह्मा के पास आकर बोली—‘प्रभो ! यदि सृष्टि का यही क्रम रहा तो मैं भार कैसे वहन कर सकूंगी ? यदि सब जीवित ही रहेंगे तो भार कैसे कम होगा ? उस समय परिषद् में नारद और रुद्र भी थे। ब्रह्मा ने कहा— मैं अपनी सृष्टि का विनाश कैसे कर सकता हूँ ? उन्होंने विश्व प्रकाश से एक स्त्री का निर्माण किया। वह दक्षिण दिशा से उत्पन्न हुई, इसलिए उसका नाम मृत्यु रखा। उसे कहा—तुम प्राणियों का विनाश करो। यह सुनते ही मृत्यु कांप उठी। वह रोने लगी। अरे, मुझे ऐसा अचानक कार्य करना होगा। उसकी आँखों से आँसू पड़ने लगे। ब्रह्मा ने सारे आँसू इकट्ठे कर लिए। मृत्यु ने पुनः तपस्या की। ब्रह्मा ने कहा—ये तो तुम्हारे आँसू। जितने आँसू हैं उतनी ही व्याधियाँ—रोग हो जाएँगे। इनसे प्राणियों का स्वतः विनाश होगा। वह धर्म के विपरीत नहीं होगा। मृत्यु ने बात मान ली।’

भूणिकार ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है—विष्णु ने सृष्टि की रचना की। अजरामर होने के कारण सारी पृथ्वी जीवाकुल हो गई। भार से आक्रान्त होकर पृथ्वी प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुई। प्रजापति ने प्रलय की बात सोची। सब प्रलय हो जाएगा—यह देखकर पृथ्वी भयभीत होकर कांपने लगी। प्रजापति ने उस पर अनुकंपा कर व्याधियों के साथ मृत्यु का सर्जन किया। उसके पश्चात् धार्मिक तथा सहज-सरल प्रकृति वाले सभी मनुष्य देवलोक में उत्पन्न होने लगे। सारा स्वर्ग उनके अत्यधिक भार से आक्रान्त हो गया। स्वर्ग प्रजापति के पास उपस्थित हुआ। तब प्रजापति ने मृत्यु के साथ माया का सर्जन किया। लोग माया प्रद्वान होने लगे। वे नरक में उत्पन्न होने लगे। प्रजापति ने स्वर्ग से कहा—‘लोग शास्त्रों को जानते हुए तथा अपने संस्कारों को नष्ट करते हुए भी, शास्त्रानुसार प्रवृत्ति नहीं करेंगे। (इसके अभाव में वे स्वर्ग में उत्पन्न नहीं होंगे।) इसलिए स्वर्ग ! तुम जाओ। अब तुम्हें कोई भय नहीं है।’

सूत्रकृतांग के प्रस्तुत श्लोक (१।६६) के अन्तिम दो चरण इस प्रकार हैं—‘मारेण संयुया माया, तेण लोए असासए।’ यह वाक्य उक्त कथानक का पूरा द्योतक नहीं है। आचार्य नागार्जुन ने इस स्थान पर जो श्लोक मान्य किया है वह अक्षरशः इस कथानक का द्योतक है। वह श्लोक इस प्रकार है—

“अतिवद्विय जीवा णं, मही विण्णवते पभुं।

ततो से माया संजुत्ते, करे लोमस्समिद्धवा ॥”

भूणिकार ने यह श्लोक ‘नागार्जुनीयास्तु पठन्ति’ कह कर उद्धृत किया है। वास्तव में यही श्लोक यहां होना चाहिए था।

भूणिकार ने ‘मार’ का अर्थ विष्णु किया है। विष्णु को सृष्टि का कर्त्ता मानने वाले कहते हैं कि विष्णु ने स्वयं स्वर्गलोक से एक अंश में अवतीर्ण होकर इन सभी लोकों की सृष्टि की। वह सब सृष्टि का विनाशकर्त्ता है इसलिए ‘विष्णु’ को ही ‘मार’

१. महाभारत, द्रोणपर्व अध्याय ५३।

२. भूणि, पृष्ठ ४१ : यथा विण्णुना सृष्टा लोकास्तथा अजरामरत्वात् ते सर्वा एवेयं मही निरण्तरमाकीर्णा, पश्चादसावतीवभाराक्राता मही प्रजापतिमुपस्थिता।.....

..... ततस्तेन परिजा (जा) य स्वयं ब्रह्मा विश्वेन ‘मा भूल्लोकः सर्व एव प्रसयं यास्यति इति, भूमेरभावात्’ तां च अयविह्वलाङ्गी अनुकम्पता व्याधिपुरस्सरो मृत्युः सृष्टः। ततस्ते धर्मभूयिष्ठाः प्रकृत्याजैबयुक्ता मनुष्याः सर्व एव देवेषूपपद्यन्ते स्म। ततः स्वर्गोऽपि अतिगुरुभाराक्रान्तः प्रजापतिमुपतस्थौ, ततस्तेन मारेण संस्तुता माया, मारो नाम मृत्युः, संस्तवो नाम साङ्गनयम्, उक्तं हि—मातृपुत्रसंभवः, मृत्युसहगता इत्यर्थः। ततस्ते मायाबहुला मनुष्याः केचिदेकमृत्युधर्ममनुभूय नरकाविषु यथाक्रमत उपपद्यन्ते स्म। उक्तं च—

जानन्तः सर्वंशाल्पानि क्षिप्रन्तः सर्वसंशयान्।

न ते तथा करिष्यन्ति गच्छ स्वर्गं न ते भयम् ॥

३. मही, पृष्ठ ४१।

कहा है।' वे 'मार' का अर्थ मृत्यु भी करते हैं।'

वृत्तिकार का कथन है कि स्वयंभू ने लोक की सृष्टि की। वह अतिभार से आक्रान्त न हो जाए, इस भय से उसने 'यम' नामक 'मार' (मृत्यु) की सृष्टि की। उस 'मार' ने माया को जन्म दिया। उस माया से लोक मरने लगे।'

श्लोक ६७ :

१२६. यह जगत् अंडे से उत्पन्न हुआ है (अंडकांडे)

वृत्तिकार का कथन है कि ब्रह्मा ने अण्डे का सर्जन किया। वह जब फूटा तब सारी सृष्टि प्रकट हुई।'

वृत्तिकार ने माना है कि ब्रह्मा ने पानी में अंडे की सृष्टि की। वह बड़ा हुआ। जब वह दो भागों में विभक्त हुआ तब एक भाग ऊर्ध्व लोक, दूसरा भाग अधोलोक और उनके मध्य में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश, समुद्र, नदी, पर्वत आदि आदि की संस्थिति हुई।

वृत्तिकार ने एक श्लोक उद्धृत करते हुए यह बताया है कि सृष्टि के आवि-काल में तमस ही था।'

श्लोक ६८ :

१३०. श्लोक ६८ :

पूर्ववर्ती चार श्लोको (६४-६७) में सृष्टिवाद का मत उल्लिखित कर प्रस्तुत श्लोक में सूत्रकार अपना अभिमत प्रदर्शित करते हैं। जगत् के विषय में दो नयों से विचार किया गया है। इस जगत् को सृष्टि माना भी जा सकता है और नहीं भी माना जा सकता। द्रव्याधिक नय की दृष्टि से यह जगत् शाश्वत है। जिसने द्रव्य है उसने ही रहेंगे। एक अणु भी नष्ट नहीं होता और एक अणु भी नया उत्पन्न नहीं होता। पर्यायाधिक नय की दृष्टि से इस जगत् को सृष्टि कहा जा सकता है, किन्तु यह है कर्त्ता-विहीन सृष्टि। यह किसी एक मूल तत्त्व के द्वारा निष्पन्न सृष्टि नहीं है। मूल तत्त्व दो हैं—चेतन और अचेतन। ये दोनों ही अपने अपने पर्यायों द्वारा बदलते रहते हैं। सृष्टि का विकास और ह्रास होता रहता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि भगवान् महावीर के एक संवाद से होती है। एक प्रश्न के उत्तर में महावीर ने कहा—द्रव्य की दृष्टि से लोक नित्य है। पर्याय उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, इस दृष्टि से वह अनित्य है।'

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने 'स्व-पर्याय का अर्थ आत्माभिप्राय किया है।' किन्तु दोनों नयों की दृष्टि से विचार करने पर स्वपर्याय का अर्थ द्रव्यगत पर्याय ही उचित प्रतीत होता है।

१. वृत्ति, पृष्ठ ४१ : तत्र तावद् विष्णुकारणिका कुबते—विष्णुः स्वर्लोकादेकांशेनावतीर्य इमान् लोकानसृजत्, स एव मारयतीति कुरुषा मारोऽपविश्यते ।

२. वही, पृष्ठ ४१ : मारो नाम मृत्युः ।

३. वृत्ति, पत्र ४३ : स्वयंभुवा लोकं निष्पाद्यातिभारमवाहमाख्यो मारयतीति मारो व्यघ्रायि, तेन मारेण 'संस्तुता' कृता प्रसाधिता माया, तथा च मायया लोका स्त्रियन्ते ।

४. वृत्ति, पृष्ठ ४२ : ब्रह्मा किलाण्डमसृजत्, ततो विद्यमानात् सकुनवत्लोकाः प्रादुर्भूताः ।

५. वृत्ति, पत्र ४३, ४४ : ब्रह्माऽऽस्वपन्नमसृजत्, तस्माच्च कमेण बुद्ध्यात्परचाङ्क्षिणानाञ्जुपगताऽऽर्वाञ्छोविचारोऽकूत्, तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभूवन्, पूर्वं वृषिभ्यस्तेजोवाय्वाकासमुद्रसरित्पर्वतमकराकरनिवेशादिसंस्तिरिद्धवृत्तिः, तथा बोद्धम्—
आसीदिवं ततोऽसृजतमप्रजातमनन्तकचम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

६. अंगसुत्ताणि (भाग २) अगवर्द्ध, ७।५६ : ब्रह्मदुषाए सासया, नावदुषाए असासया ।

७. (क) वृत्ति, पृष्ठ ४२ : स्वपर्यायो नाम आत्माभिप्रायः अप्यनिकञ्चो यमकः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ४४ : 'स्वकैः' स्वकीयैः 'पर्यायैः' अभिप्रायेयुक्तिवितेयैः ।

श्लोक ६३ :

१३१. श्लोक ६३ :

दुःख, दुःख-हेतु, दुःख-संवर और दुःख-संवर के हेतु—ये चार प्रश्न सभी दार्शनिकों में चर्चित रहे हैं। दुःख के स्वरूप और दुःख उत्पत्ति के विषय में भिन्न-भिन्न मत और व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं।

कुछेक लोग दुःख की उत्पत्ति के कारणों को नहीं जानते। वे दुःख-निरोध कैसे जान पाएंगे ? निरोध से पूर्व उत्पत्ति का ज्ञान आवश्यक है। वे मानते हैं—इस संसार में जो सुखरूप माना जाता है, वह भी वास्तव में दुःख ही है। चलना दुःख है, ठहरना दुःख है, बैठना दुःख है, सोना दुःख है, भूख भी दुःख है, तृप्ति भी दुःख है। ये सब सृष्टि से पूर्व नहीं थे। बाद में इनकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए ये सब दुःख हैं और ये सारे ईश्वर-कृत हैं, हमारे द्वारा कृत नहीं हैं।

इस प्रकार का अभिमत रखने वाले लोग दुःख की उत्पत्ति को भी सम्यक्तया नहीं जानते तब वे उसके निरोध को कैसे जान पाएंगे ? ब्रूणिकार ने इस भावना को स्पष्ट करते हुए लिखा है—दुःख स्वयं के द्वारा ही कृत है और उसका स्वयं में ही फल-भोग होता है, जैसे—कृषि आदि मनुष्य स्वयं करता है और उसका फल-भोग करता है तब वह कहता है—यह सब ईश्वर का प्रसाद है।^१

इस प्रकार दुःख के कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व के बारे में धारणा स्पष्ट न हो तब दुःख-निरोध का प्रयत्न कैसे हो सकता है ? उसका दायित्व किस पर होगा ? दुःख का निरोध व्यक्ति स्वयं करेगा या यह ईश्वर-कृत होगा ? इस चिन्तन में दुःख-निरोध के लिए किया जाने वाला पुस्यार्थ प्रज्वलित नहीं होता।

श्लोक ७०-७१ :

१३२. श्लोक ७०, ७१ :

प्रस्तुत दो श्लोकों में अवतारवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित है। ब्रूणिकार के अनुसार यह त्रैराशिक संप्रदाय का अभिमत है।^२ ब्रूतिकार ने इसे गोशालक का मत बतलाया है।^३ आचार्य हरिभद्र ने त्रैराशिक का अर्थ आजीवक संप्रदाय किया है।^४ गोशालक उसके आचार्य थे। इस दृष्टि से ब्रूणि और ब्रूति परस्पर सवादी हैं।

ब्रूणिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में त्रैराशिक मत की मान्यता को इस प्रकार व्याख्यायित किया है—

कोई जीव मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी अपने धर्म-शासन की पूजा और अन्यान्य धर्म-शासनो की अपूजा देखकर मन ही मन प्रसन्न होता है। अपने शासन की अपूजा देखकर वह अप्रसन्न भी होता है। इस प्रकार वह सूक्ष्म और आन्तरिक राग-द्वेष के बशीभूत होकर पुनः मनुष्य-भव में जन्म लेता है। जैसे स्वच्छ वस्त्र काम में आते-आते मैला होता है, वैसे ही वह राग-द्वेष की रजो के द्वारा मैला होकर संसार में अवतरित होता है। यहां मनुष्य भव में प्रवृत्त गृहण कर, संवृतात्मा भ्रमण होकर मुक्त हो जाता है और फिर संसार में अवतरित होता है। काल की लम्बी अवधि में यह क्रम चलता ही रहता है।

प्रस्तुत प्रसंग में क्रीडा का अर्थ मानसिक प्रसन्नता या राग तथा प्रदोष का अर्थ द्वेष है। ब्रूतिकार का मत भी ब्रूणि से

१. (क) ब्रूणि, पृष्ठ ४२, ४३। जं पि किञ्चि सुखसंनिप्तं तं पि दुःखमेव, अवकम्मितं दुःखं, एषं तिति आसितं सयं दुःखं, पृथ्वा वि धातगसयं पि दुःखं। एवमादीनि पुत्रं जासी पश्चाज्जायन्त इति दुःखाणि, तानि खेश्वरकृतानि नास्मान्निरिति। का तहि भावना ? तद्वि तेरात्मनेव पूर्वं पापं कृतम्, पश्चाद् हेतुन्तरतः तेभ्यपि विपक्वं, तद्यथानाम कृष्यादीनि कर्माणि स्वयं कृत्वा तत्फलमुपभुञ्जाना ब्रूयते—यदस्माकु किञ्चित् कर्म विपश्यते तत् सर्वमेश्वरकृतमिति।

(ख) ब्रूति, पत्र ४६।

२. ब्रूणि, पृ० ४३ : तेरातिइया इवाणि—ते वि कडवाविणो खेव।

३. ब्रूति, पत्र ४६ : त्रैराशिका गोशालकमतानुसारिणः।

४. नवीवृत्ति, हरिभद्रसूरी, पृ० ८७ : त्रैराशिकाश्चाजीविका एवोच्यन्ते।

मिन्न नहीं है।'

बीठ साहित्य में 'लिङ्गापयोसिका' नामक शैलों का उल्लेख मिलता है। वहाँ उनके शाश्वत और अशाश्वत—दोनों स्वरूप प्रतिपादित हैं। यह अनिमित्त मिथ्यादृष्टि स्थानों में उल्लिखित है, किन्तु यह किस सम्प्रदाय का है, इसका स्पष्ट उल्लेख वहाँ प्राप्त नहीं है।'

इलोक ७२ :

१३३. गुरुकुल में (बंभचेर)

जैन आमनों में यह शब्द 'गुरुकुलवास' के लिए प्रयुक्त होता है।'

ब्रूणिकार ने इसका अर्थ द्रव्य-ब्रह्मचर्य किया है।

जहाँ चरित्र सम्पूर्ण नहीं होता वह गुरुकुलवास वास्तविक नहीं होता, इसलिए वह द्रव्य ब्रह्मचर्य कहलाता है। ब्रूणिकार ने बताया है कि मुनि ऐसे गुरुकुलवास में न रहे। उसके साथ सम्पर्क भी न रहे।'

इलोक ७३ :

१३४. सिद्धि (मोक्ष) से पूर्व इस जन्म में भी (अधोऽधि)

ब्रूणिकार ने 'अधोहि' पाठ मानकर उसका अर्थ अवधिज्ञान किया है।'

वृत्तिकार ने अधोऽधि' पाठ का अर्थ 'सिद्धेरारात्' सिद्धि से पहले किया है।'

पाठ-शोधन में प्रयुक्त 'ख' संकेत की प्रति में 'अधोधि' पाठ मिला। हमने पाद-टिप्पण में उसे दिया है और टिप्पणी करते हुए लिखा है कि लिपिदोष के कारण 'वि' के स्थान में 'धि' हो गया है। किन्तु 'सिद्धि' और 'सिद्ध' शब्द पर हमने जिस अर्थ पर विचार किया है, उसके अनुसार ब्रूणि-सम्मत 'अधोहि' या 'अधोधि' पाठ संगत लगता है। अवधिज्ञान सिद्धि का एक अंग है। उसे उपलब्ध कर पुरुष सिद्ध बनता है।

१३५. सब कामनाएं समर्पित हो जाती हैं (सर्वकामसमर्पण)

साधक के प्रति सभी कामनाएं समर्पित होती हैं, इसलिए सिद्ध-साधक सर्वकाम समर्पित होता है। कामनाओं की पूर्ति सिद्धि के द्वारा होती है। सिद्धियों के अनेक प्रकार हैं—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, कामकपित्व, आदि-आदि।'

१. (क) ब्रूणि, पृष्ठ ४३। तस्य हि स्वशासनं पूज्यमानं बृष्ट्वा अन्यशासनाभ्यपूज्यमानानि (ख) कीडा भवति, मानसः प्रमोद इत्यर्थः, अपूज्यमाने वा प्रमोदः ततोऽसौ सूक्ष्मे रामे द्वेवे वाऽनुगतान्तरात्मा शनैः शनैः निर्मलपटवदुपपूज्यमानः कृष्णानि कर्माभ्युपजित्य स्वगौरवात्सेन रजसाऽवतार्यते।

(ख) वृत्ति, पत्र ४६।

२. बीचनिकाय १।३ पृ० ४५, ४६।

३. सुयमगदो १।१४।१ : सुबंभचेरं बसेज्जा।

४. ब्रूणि पृ० ४३ : नैते निर्वाजायेति द्रव्यब्रह्मचेरं न तं जसे सि ण तं रोएज्जा आत्यरेज्जा वा, ज वा तेहिं समं बसेज्जा संसर्गि वा कुर्यात् तेहिं ति।

५. वही, पृ० ४४ : अधोहि नाम अवधिज्ञानम्।

६. वृत्ति, पत्र ४७।

७. वही, पत्र ४७।

श्लोक ७४ :

१३६. श्लोक ७३-७४ :

चूणिकार और वृत्तिकार ने सिद्धि का अर्थ निर्वाण किया है।^१ अगले श्लोक (७५) में प्रयुक्त 'सिद्ध' शब्द के संबंध में 'सिद्धि' शब्द का अर्थ 'विशेष अनुष्ठान की सिद्धि' प्रतीत होता है। सिद्धि प्राप्त पुरुष ही सिद्ध होता है। सिद्धपुरुष सिद्धि को सामने रखकर ही साधना करता है, यह 'सिद्धमेव पुरोकाउ' (श्लोक ७५) पद से स्पष्ट है। सिद्ध का अर्थ मुक्त नहीं है, किन्तु सिद्धपुरुष है। चूणिकार ने लिखा है—सिद्धपुरुष शरीरी होकर भी नीरोग होता है। वह वात आदि दोषजनित रोगों तथा आगन्तुक रोगों से पीड़ित नहीं होता और वह इच्छा-मरण से शरीर को छोड़कर निर्वाण में चला जाता है।^२ प्रस्तुत श्लोक (७४) में 'अरोमा य' इस शब्द से सिद्धपुरुष को प्राप्त होने वाली कामसिद्धि की ओर संकेत किया गया है।

तंत्रशास्त्र का अभिमत है कि योगी को जब आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तब उसे देहसिद्धि की भी उपलब्धि सहज हो जाती है। देहसिद्धि का तात्पर्य यह है कि उसका शरीर आकर्षक, मोहक, रोगों से अनाक्रान्त और वज्र की तरह दृढ़ बन जाता है। देहसिद्धि के दो प्रकार हैं—सापेक्ष देहसिद्धि और निरपेक्ष देहसिद्धि। सापेक्ष देहसिद्धि असम्यक् होती है और निरपेक्ष देहसिद्धि सम्यक् होती है। इनको समझने के लिए गोरक्षनाथ के जीवन की एक घटना प्रस्तुत की जाती है।

गुरु गोरक्षनाथ को कायसिद्धि प्राप्त थी। उनका शरीर वज्रमय बन गया था। किसी प्रकार के आघात का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता था। एक बार उनके मन में अपनी सिद्धियों का जमत्कार दिखाने की भावना जागी। वे उस समय के महासिद्ध 'अस्लाम प्रभुदेव' के पास आए और बोले—मुझे कायसिद्धि प्राप्त है। आप परीक्षा कर देखें। मेरे शरीर पर तलवार का प्रहार करें। कहीं घाब नहीं होगा। प्रभुदेव ने उस बात को टालना चाहा। गोरक्षनाथ ने अपना हठ नहीं छोड़ा और प्रभुदेव को परीक्षा करने का बार-बार आग्रह किया। प्रभुदेव ने तलवार से गोरक्षनाथ के शरीर पर प्रहार किया। एक रौंदा भी नहीं कटा। तलवार का आघात लगते ही ऐसा टंकार हुआ जैसे पर्वत पर वज्र का प्रहार करने से होता है। गोरक्षनाथ का मन अहं से भर गया। उस अहं को तोड़ने के लिए प्रभुदेव बोले—तुम्हारी कायसिद्धि सम्यक् नहीं है। सम्यक् कायसिद्धि वह है जो मृत्यु को पार कर जाए, जिस पर प्रहार करने से कोई शब्द न हो। गोरक्षनाथ प्रभुदेव की परीक्षा करने के लिए उत्सुक हुए। तलवार से उन पर गहरे प्रहार किए। तलवार शून्य आकाश में जैसे चलती रही। न शब्द और न आघात। प्रभुदेव का शरीर आकाश की भांति आघातविहीन और निर्विकार रहा। गोरक्षनाथ ने प्रभुदेव के रोम-रोम में तलवार चुभाने का प्रयास किया पर व्यर्थ। वह शरीर आकाशमय बन गया था।^३

श्लोक ७५ :

१३७. कल्प-परिमित काल तक (कल्पकालं)

'कल्प' शब्द दीर्घ काल का सूचक है। वैदिक काल-गणना में इसका परिमाण इस प्रकार मिलता है—ब्रह्मा का एक दिन अथवा हजार युग का काल अथवा ४३२००००००० वर्षों का कालमान।

१३८. आसुर और किल्बिषिक (आसुरकिल्बिसिय)

चूणिकार ने आसुर और किल्बिषिक को भिन्न-भिन्न माना है।^४

वृत्तिकार ने दोनों को एक शब्द मान कर इसका अर्थ—नागकुमार आदि असुर जाति के देवों में किल्बिषिक देव के रूप में (उत्पन्न होते हैं) किया है।

१. (क) चूणि, पृ० ४४ : सिद्धिरिति निर्वाणम्।

(ख) वृत्ति, पृ० ४७ : सिद्धिम् अशेषसासारिकप्रपञ्चरहितस्वभावम्।

२. चूणि, पृ० ४४ : ते हि रिद्धिमस्तः शरीरिणोऽपि भूत्वा सिद्धा एव भवन्ति नीरोगाश्च। नीरोगा नाम वातादिरोगैरागन्तुकैश्च न पीड्यन्ते, ततः स्वच्छातः शरीराणि हिंसा निर्वाणानि।

३. तंत्र सिद्धान्त और साधना पृष्ठ १५५-१५८।

४. चूणि, पृ० ४४ : आसुरेकूपयन्ते किल्बिषिकेषु च।

ये देव अन्नम जाति वाले और देवक स्थानीय होते हैं। इनकी शक्ति भी अल्प होती है और भोग-सामग्री भी अल्प होती है। इनका आयुष्य-काल भी कम और शक्ति भी कम होती है।^१

उत्तराध्ययन सूत्र में भी आसुरी भावना और किल्बिषिक भावना का पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है।^१ ये दो भिन्न स्थान हैं, अतः भूणिकार की व्याख्या संगत प्रतीत होती है।

इलोक ७६ :

१३९. वे प्राचावुक (एते)

भूणिकार ने इस शब्द से कुलीयिक और लिंगस्थ—इन दोनों का ग्रहण किया है।^१

वृत्तिकार ने पंचभूतवादी, एकात्मवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, सृष्टिकर्तृत्ववादी तथा गोशालक के मत को मानने वाले त्रैराशिकवादियों का ग्रहण किया है।^१

१४०. गृहस्थोचित कार्यों का उपदेश देते हैं (सितकृष्योपदेशगा)

‘सित’ शब्द के दो अर्थ हैं—बद्ध और गृहस्थ।^१

इस पद का अर्थ है—गृहस्थोचित कार्यों का उपदेश देने वाले।

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप देकर भिन्न अर्थ किया है—^१

१. सितकृत्योपदेशगाः—गृहस्थों की पचन-पाचन आदि हिंसाकारी प्रवृत्ति करने वाले।

२. सितकृत्योपदेशकाः—गृहस्थोचित कार्यों का उपदेश देने वाले।

वृत्तिकार ने इसके अर्थ की एक और कल्पना की है। उसके अनुसार ‘सिया’ को क्रियापद के रूप में प्रयोग मान कर उसका संस्कृत रूप ‘स्युः’ दिया है। ‘कृत्य’ का अर्थ गृहस्थ किया है। इस सदर्थ में पूरे पद का अर्थ होगा—वे गृहस्थोचित हिंसा का उपदेश देने वाले होते हैं।^१

इलोक ७७ :

१४१. वह मुनि अपना उत्कर्ष मापन करे (अनुवकते जावए)

उत्कर्ष का अर्थ है—मद या अहंकार। मद के आठ स्थान हैं—जाति, कुल, रूप, बल आदि। जो इन मद-स्थानों का सेवन नहीं करता वह अनुत्कर्ष होता है।^१

अध्यायसौत्रे—

‘अपनलीन’ उत्कर्ष का विरोधी भाव है। उस युग में जातिवाद उच्चता और हीनता का एक मुख्य मानदंड था, इसलिए

१. वृत्ति, पत्र ४८ : आसुराः—असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादयः तत्रापि न प्रधानाः किं तर्हि ? ‘किल्बिषिकाः’ अधमाः प्रेक्ष्यभूता अल्पधर्मोऽल्पभोगाः स्वस्वायुः सामर्थ्याद्युपेतारश्च भवन्तीति।

२. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।२६५, २६६।

३. भूषि, पृ० ४५ : एते.....कुलित्वा लिंगत्वा च।

४. वृत्ति, पत्र ४६ : एत इति पञ्चभूतेकात्मतज्जीवतच्छरीरादिवाचिनः कृतवाचिनश्च गोशालकमतानुसारिणश्चैराशिकारश्च।

५. भूषि, पृ० ४५ : सितः बद्धा इत्यर्थःसितः गृहस्थाः।

६. वृत्ति, पत्र ४६ : सितकृत्योपदेशगाः कृत्योपदेशका वा।

७. वही, पत्र ४६ : मदिवा—सिया इति आर्यत्वाद्बहुवचनेन व्याकथयामहे स्युः अथेयुः कृत्यं—कर्तव्यं सावधानुष्ठानं तत्प्रधानाः कृत्या—गृहस्थास्तेषामुपदेशः—संरक्षणतमारम्भारम्भक्यः स विद्यते येषां ते कृत्योपदेशिकाः।

८. भूषि, पृ० ४५ : अनुवकतो नाम न जात्यादिभिर्मदस्थानोत्कर्षं गच्छति।

उच्छ्र मानी जाने वाली जातियों में जन्म लेने वाला व्यक्ति उत्कर्ष का और तुच्छ मानी जाने वाली जातियों में जन्म लेने वाला व्यक्ति हीनता का अनुभव करता था। भगवान् महावीर ने सामायिक धर्म का प्रतिपादन कर दोनों प्रकार की मनोवृत्ति वाले भिक्षुओं के सामने यह शिक्षापत्र प्रस्तुत किया कि आत्म-विकास का मार्ग उत्कर्ष और अपकर्ष—दोनों से परे है, इसलिए सामायिक की साधना करने वाले व्यक्ति को मध्यम मार्ग से चलना चाहिए। ब्रूणिकार ने इसी आशय की व्याख्या की है। उन्होंने एक वैकल्पिक अर्थ भी किया है कि राग और द्वेष—दोनों से बचकर मध्य-मार्ग से चलना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक का यह भाव आचाराग के इस सूत्र की सहज ही स्मृति करा देता है—‘णो हीणे णो अहरित्ते’ (आचारो, १/४६)

वृत्तिकार ने ‘अप्पलीणे’ पाठ मान कर उसका अर्थ—अग्रतीर्थिक, गृहस्थ या पार्श्वस्थों के साथ परिचय या संश्लेष न करना—किया है।

श्लोक ७८ :

१४२. परिग्रही (सपरिग्रहा...)

कुछ धार्मिक पुरुष यह घोषणा करते हैं कि निर्वाण के लिए आरंभ और परिग्रह को छोड़ना कोई तात्त्विक बात नहीं है। जैन भ्रमण का आचार ठीक इससे विपरीत है। उसके लिए अपरिग्रही और अनारभी (अहिंसक) होना अनिवार्य है। इसलिए ज्ञानी भिक्षु को परिग्रह और आरंभ के आकर्षण से बचकर चलना चाहिए। सहज ही प्रश्न होता है कि अपरिग्रही और अनारंभी मनुष्य शरीर-यापन कैसे कर सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर अगले श्लोक में स्वयं सूत्रकार देते हैं।

१४३. ज्ञानी (ज्ञाणं)

इसका अर्थ है—ज्ञानवान् ।

वृत्तिकार ने इसके स्थान पर ‘ताणं’ पाठ मान कर ‘शरण’ अर्थ किया है।

श्लोक ७९ :

१४४. गृहस्थों द्वारा अपने लिए कृत (कडेसु)

पूर्व श्लोक में कहा गया है कि मुनि अहिंसक और अपरिग्रही होकर जीवन यापन करे। पचन-पाचन आदि हिसाबयुक्त क्रियाओं को किए बिना तथा परिग्रह का आदान-प्रदान किए बिना व्यक्ति अपना जीवन कैसे चला सकता है ? भोजन के बिना शरीर नहीं चलता और हिसा तथा परिग्रह (धन) के बिना भोजन की उत्पत्ति और प्राप्ति नहीं हो सकती। शरीर धर्म का साधन है। अतः इसके निर्वाह के लिए हिसा और परिग्रह आवश्यक हैं।

इसका समाधान प्रस्तुत श्लोक में इस प्रकार मिलता है—(१) गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए उसकी एषणा या याचना करे। (२) गृहस्थ के द्वारा प्रदत्त भोजन की एषणा करे। (३) प्राप्त भोजन को अनासक्त भाव से खाए। (४) विप्रमुक्त रहे—आहार के प्रति मूर्च्छा न करे। जहां इष्ट आहार मिले उस कुल या ग्राम से प्रतिबद्ध न बने। (५) भोजन कम हो अर्थात् भोजन लेने पर दूसरों को कठिनाई का अनुभव हो, वैसे भोजन का परिवर्जन करे।

१४५. प्रदत्त आहार का भोजन करे (दत्तेसणं चरे)

तुलना—दाणभत्तेसणे रया (दसवे १४)

१ वृत्ति, पत्र ४६ : अप्पलीने असंभट्ठस्तीयिकेषु गृहस्थेषु पार्श्वस्थादिषु वा संश्लेषमकुर्वन् ।

२ ब्रूणि, पृ० ४७ : यदेषामारम्भ-परिग्रहावाक्याती निर्वाणाय अतस्त्वम् ।

३ बहो, पृ० ४७ : ज्ञानवान् ज्ञानी ।

४ वृत्ति, पत्र ५० : त्राणं शरणम् ।

१४६. आहार में अनासक्त (अगिद्धे)

प्रस्तुत चरण में प्रयुक्त दो शब्द 'अगुद्ध' और 'विप्रमुक्त' मुनि की एषणा से संबंधित हैं। एषणा के तीन प्रकार हैं— गवेषणा, ग्रहण-एषणा, और प्राप्तेषणा। 'अगुद्ध' शब्द के द्वारा प्राप्तेषणा की सूचना दी गई है। 'विप्रमुक्त' शब्द से गवेषणा और ग्रहण एषणा के ४२ दोषों का सूचन होता है। यह चूणिकार की व्याख्या है।

वृत्तिकार की व्याख्या इससे भिन्न है। वे पूर्व चरण में प्रयुक्त 'कडेसु' शब्द से सोलह अवगम दोषों का निवारण, 'दत्त' शब्द से उत्पादन के सोलह दोषों का निवारण, 'एषणा' शब्द से दस एषणा के दोषों का निवारण और 'अगुद्ध' तथा 'विप्रमुक्त' शब्द से प्राप्तेषणा के पांच दोषों का निवारण मानते हैं। इस प्रकार यह पूरा श्लोक भोजन से संबंधित ४२+५ दोषों के निवारण का स्रोतक है।

विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं, अध्ययन ५।

१४७. अवमान संज्ञा (विशेष प्रकार का भोज) (ओमाणं)

यह शब्द विशेष जीमनवार का स्रोतक है। इसका अर्थ है—ऐसा भोज जिसमें निमंत्रित व्यक्तियों की संख्या नियत हो। मुनि यदि वहां जाता है तो भोज्य-सामग्री की न्यूनता हो सकती है। अतः निमंत्रित व्यक्तियों के व्याघात होता है। इसलिए इस प्रकार के भोज में जाने का वर्जन किया गया है।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—मुनि अपने तपोमद, ज्ञानमद आदि का प्रदर्शन कर दूसरे की अवमानना न करे। यह अर्थ प्रसंग से दूर प्रतीत होता है।

देखें—दसवेआलियं, चूलिका २/६

श्लोक ८० :

१४८. लोकवाद को (लोकवायं)

प्रस्तुत श्लोक में सूत्रकार ने 'लोकवाद' को सुनने और जानने का निर्देश दिया है। लोकवाद के दो अर्थ हैं—

१. अन्यतीर्थिकों तथा पौराणिक लोगों के 'लोक' संबंधी विचार।

२. लोक-मान्यता—अन्यतीर्थिकों की धार्मिक मान्यता।

लोक शब्द के तीन अर्थ किए जा सकते हैं—जगत्, पापण्ड और गृहस्थ। यहां इसका प्रथम अर्थ प्रासंगिक प्रतीत होता है। चूणिकार ने इसके पापण्ड और गृहस्थ—ये दो अर्थ मान्य किए हैं। वृत्तिकार ने इसके पापण्ड और पौराणिक ये दो अर्थ बतलाए हैं। चूणिकार ने लौकिकमत को कुछ उदाहरणों द्वारा समझाया है—“सन्तानहीन का लोक नहीं होता। गाय को मारने वाले का लोक

१. चूणि, पृ० ४६ : बायालीसवोसविप्पमुक्कं एत्तणं जरेवित्ति गवेषणा ग्रहणेसणा य गहिताओ। अगिद्धे स्ति प्राप्तेसणा।

२. वृत्ति, पत्र ५० : कुतेषु—अनेन च षोडशोद्गमवोषपरिहारः सूचितः, इत्तमिति अनेन षोडशोत्पादनवोषाः परिगृहीता ब्रष्टव्याः, अगुद्धं.....विप्रमुक्तः, अनेनापि च प्राप्तेषणावोषाः पञ्च निरस्ता अवसेयाः।

३. वही, पत्र ५० : परेषामपमानं—पराजमर्दशिवम्।

४. (क) वही पत्र ५० : लोकानां—पाक्षिडानां पौराणिकानां वा वादो लोकवादः।

(ख) चूणि पृ० ४६।

५. चूणि, पृ० ४६ : लोका नाम पापण्डा गृहिणश्च।

६. वृत्ति, पत्र ५० : लोकानां—पाक्षिडानां पौराणिकानां वा।

७. चूणि पृ० ४६ : लोकवादस्तावत्—अनपत्यस्य लोका न सन्ति, गावाप्ताः नरकाः तथा गोविर्हृतस्य गोधनस्य नास्ति लोकः। तथा—
'असिं सुजया जक्का, विप्पा वेवा पितामहा काया।

ते लोकावुच्चियन्ता, पुक्कं भोक्का विबोधितुं ॥'

तथा पुक्कः पुक्क एव, स्त्री स्त्रीत्येव। तथा पापण्डलोकस्यापि पृथक् तयोरिव प्रसूताः—केवाञ्चित् सर्वगतः असर्वगतः निस्वोऽनित्यः अस्ति नास्ति आत्मा, तथा केचित् सुखेन धर्मनिष्कृति, केचित् दुःखेन, केचित् ज्ञानेन, केचिदाभ्युदयिकधर्मपराः नैव मोक्षनिष्कृतिः।

नहीं होता। इस मत के अनुसार कुत्तों को यक्ष, ब्राह्मणों को देव और कीओं को पितामह माना जाता है। यह भी लौकिक मान्यता रही है कि पुरुष पुरुष ही रहता है और स्त्री स्त्री ही रहती है। पाषण्डवाद के उदाहरण ये हैं—कुछ दार्शनिक आत्मा को सर्वगत मानते हैं और कुछ असर्वगत मानते हैं। कुछ उसे नित्य मानते हैं और कुछ अनित्य। कुछ उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और कुछ उसके नास्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। मोक्ष के बारे में चार मान्यताएं हैं—

१. सुखवादी—सुख से मोक्ष प्राप्त होना।
२. दुःखवादी—दुःख से मोक्ष प्राप्त होना।
३. ज्ञानवादी—ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होना।
४. आभ्युदयिकधर्मवादी—मोक्ष को अस्वीकार करते हैं।

१४६ जो दूसरे की कही हुई बात का अनुगमन मात्र है (अण्वुत्त-तयाणुगं)

चूणिकार ने बताया है कि अन्यतीर्थिकों के शास्त्र एक-दूसरे के वचन को प्रमाण मानते हैं। व्यास ऋषि भी दूसरे के वचन को प्रमाण मानते हुए लिखते हैं—‘अनुकप’ नामक ऋषि ने इस प्रकार साक्षात् किया, देखा तथा अमुक ऋषि ने ऐसा देखा आदि-आदि। वे दूसरों के वचनों का अतिवर्तन नहीं करते।’

वृत्तिकार का अर्थ सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—अविवेकी व्यक्तियों द्वारा कथित का अनुगमन करने वाला सिद्धान्त।’

विवरीयपणसंभूयं.....

‘विवरीयपणसंभूयं, अण्वुत्त-तयाणुगं’—ये दोनों चरण लोकवाद के विशेषण हैं। सूत्रकार का प्रतिपाद्य यह है कि लोकवाद विपरीत प्रज्ञा से उत्पन्न है तथा वचन प्रामाण्य पर आधारित है। इसलिए यह आस्थाबन्ध के योग्य नहीं है। प्रस्तुत श्लोक में सत्य की खोज का एक महत्वपूर्ण सूत्र उद्घाटित हुआ है। वह यह है कि जो सत्य वचन के प्रामाण्य पर आधारित होता है, उसमें विरोधी प्रज्ञाओं के दर्शन होते हैं। एक दार्शनिक एक बात कहता है तो दूसरा दूसरी बात कहता है। पराक्ष ज्ञान में इन समस्याओं को कभी नहीं सुलझाया जा सकता। अनुभव ज्ञान अपनी साधना से उपलब्ध होता है। उसमें विरोधी प्रज्ञा उपस्थित नहीं होती। सम्यक्दर्शों या प्रत्यक्षदर्शों जितने होते हैं उन सबका अनुभव एक ही जैसा होता है। सूत्रकार स्वयं पराक्षदर्शियों द्वारा प्रतिपादित कुछ विरोधी वादों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं।

श्लोक ८१-८२ :

१५०. श्लोक ८१-८२ :

प्राचीन काल में लोक सान्त है या अनन्त, यह बहुचर्चित प्रश्न था। पिगलक निर्ग्रन्थ ने स्कन्धक से यह पूछा—मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ? स्कन्धक इसका समाधान नहीं दे सका। वह भगवान् महावीर के पास पहुंचा। उसने उस प्रश्न का समाधान चाहा। भगवान् महावीर ने प्रश्न के उत्तर में कहा—स्कन्धक ! मैंने लोक को चार दृष्टियों से प्रामाण्य किया है। द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है, काल और भाव की दृष्टि से वह अनन्त है। द्रव्य की दृष्टि से लोक एक है, इसलिए वह सान्त है और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सपरिमाण है, इसलिए वह सान्त है।’

१. सूत्र, पृष्ठ ४६ : अन्योन्यस्य ... तत् कथं (कथम् ?), व्यासोऽपि हि इतिहास्यमानयनम् (? यन्त)न्यस्य वचः प्रमाणी-करोति, तथा—अनुकपेन ऋषिणा एवं दृष्टम्, अन्येनैवम् इति, नाग्योन्यस्य वचनमतिवर्तते, प्रायेण हि वार्तानुवातिको लोकः।

२. वृत्ति, पत्र ५० : अन्यैः—अविवेकिसिद्धिबुद्धत्वं तदनुगमम्।

३. अंगसूत्राणि (भाग २), भगवई २।४५ : एवं जलु मए खंवया ! खउब्बिहे लोए पणत्ते, तं जहा—वब्बओ, जेतओ, कासओ, भावओ।

वब्बओ णं एगे लोए सअंते।

जेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आधाम-विक्खंसेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेयेणं पणत्ते, अस्मि पुण वे अंते। सेत्तं संवगा ! वब्बओ लोए सअंते, जेतओ लोए सअंते, कासओ लोए भणत्ते, भावओ लोए भणत्ते।

भगवान् महावीर ने एक दूसरे प्रसंग में कहा—‘जमाली ! लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है ।’ इस प्रसंग में द्रव्याधिक और पर्यायाधिक—इन दो नयों की दृष्टि से यह निरूपण किया गया है । प्रस्तुत दोनों श्लोकों की व्याख्या द्रव्य, क्षेत्र आवि चार दृष्टियों तथा द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नयों की दृष्टि से की जा सकती है । केवल अनन्तवाली दृष्टि के सामने यह दृष्टि प्रस्तुत की गई कि लोक अनन्त ही नहीं, सान्त भी है । अपरिमाणवाली दृष्टि के सामने सपरिमाण दृष्टि प्रस्तुत की गई है । उसका हार्थ यह है कि कोई भी अवस्था असीम नहीं है । प्रत्येक अवस्था सीमा है । इस लोकवाद का जीववाद से संबंध प्रतीत होता है । अगले श्लोक के संदर्भ में यहाँ ‘लोक’ का अर्थ जीव या आत्मा अधिक संगत लगता है । हिंसा और अहिंसा की चर्चा में आत्मा के नित्यत्व का दृष्टिकोण उपस्थित होता था । कहा जाता था—आत्मा शाश्वत है फिर हिंसा किसकी होगी ? दूसरी बात—आत्मा सर्वव्यापी है, फिर हिंसा किसकी होगी ?

इस दृष्टिकोण के उत्तर में सूत्रकार ने सान्त और परिमित का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है । चूर्णिकार ने अनन्तवाद का तात्पर्य यह समझाया है कि त्रस त्रस ही रहता है और स्थावर स्थावर ही । त्रस कभी स्थावर नहीं होता और स्थावर कभी त्रस नहीं होता । इस प्रकार पुरुष सदा पुरुष, स्त्री सदा स्त्री और नपुंसक सदा नपुंसक ही रहता है । प्रत्येक जन्म में उन्हें यही अवस्था उपलब्ध होती है । पुरुष मृत्यु के पश्चात् स्त्री नहीं होता और स्त्री मृत्यु के पश्चात् कभी पुरुष नहीं होती । उक्त शाश्वतवाद का प्रतिवाद अयसे श्लोक में किया गया है ।

चूर्ण और दृष्टि में प्रस्तुत दोनों श्लोकों की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है ।

चूर्णिकार के अनुसार सांख्य मतावलंबी लोक को अनन्त और नित्य मानते हैं । क्योंकि उनके द्वारा सम्मत ‘पुरुष’ तत्त्व सर्वव्यापी और कूटस्थ है, अपरिणमनशील है ।’

उन्होंने वैशेषिकों की मान्यता का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे परमाणु को शाश्वत मानते हुए भी क्रियाशील मानते हैं । वे न कभी नष्ट होते हैं और न कभी उत्पन्न ।’

अतः णितिए लोए—यह पौराणिकों की मान्यता है । पौराणिक मानते हैं कि क्षेत्र की दृष्टि से लोक सात द्वीप और सप्त समुद्र परिमाण वाला है । वह काल की दृष्टि से नित्य है । यह चूर्णिकार का उल्लेख है ।’

सांख्य सत्कार्यवादी हैं । वे पदार्थ को कूटस्थ-नित्य मानते हैं । वे मानते हैं कि कारण रूप में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व विद्यमान है । कोई भी नया पदार्थ न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है । केवल उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता है ।’

दृष्टिकार ने अनन्त के दो अर्थ किए हैं । अनन्त वह होता है जिसका निरन्वय नाश नहीं होता । जिस भव में जो जिस रूप में रहता है, अगले भव में भी वह उसी रूप में जन्म लेता है । पुरुष पुरुष ही रहता है और स्त्री स्त्री ही ।’

अनन्त का दूसरा अर्थ है—अपरिमित, अवधि से शून्य ।’

उन्होंने किसी भी मत का उल्लेख न करते हुए लिखा है—लोक शाश्वत है, क्योंकि द्रव्यणुक आदि कार्यद्रव्य की अपेक्षा से वह अशाश्वत होते हुए भी उसका जो मूल कारण परमाणु है, उसका कभी परित्याग नहीं होता तथा विगू, आत्मा और आकाश आदि का कभी विनाश नहीं होता ।’ यह सांख्यमत का हा उल्लेख है ।

१. अंगसुत्ताणि (भाग २), सर्गवर्ष ६।२३३ : सातए लोए जमाली । असासए लोए जमाली ।

२. चूर्णि, पृ० ४७ : सांख्य्याः तेषां सर्वगतः क्षेत्रज्ञः कूटस्थः प्रहृणम् ।

३. वही, पृ० ४७ : वैशेषिकाणां परमाणवः शाश्वतत्वेऽपि सति क्रियावन्तः न तेषां कश्चिद् भावो विनश्यति उत्पद्यते वा ।

४. वही, पृ० ४७ : यथा पौराणिकानां सप्त द्वीपाः सप्त समुद्राः क्षेत्रलोकपरिमाणम्, कालतस्तु नित्यः ।

५. सांख्यकारिका श्लोक ६ ।

६. वृत्ति, पत्र ५० : नास्थान्तोऽस्तीत्यनन्तः, न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं अवतीति, तथाहि—अो यादृगिहृषवे स तादृगेव परमवे-
ज्ज्मुत्पद्यते, पुरुषः पुरुष एवाङ्गना अङ्गनेवेत्यादि ।

७. वही, पत्र ५० : यदिवा अनन्तः अपरिमितो निरवधिक इति यावत् ।

८. वही, पत्र ५० : तथा शश्वद्भूयतीति शाश्वतो द्रव्यणुकादिकार्यद्रव्यापेक्षयाऽतएव द्रव्यमपि न कारणद्रव्यं परमाणुत्वे परित्यज्यतीति
तथा न विनश्यतीति विनाशभावासाक्षपेक्षया ।

श्लोक ८२ :

चूणिकार ने प्रस्तुत श्लोक को सर्वज्ञतावादिओं के मत का निरूपण करने वाला माना है। उनका कथन है कि सर्वज्ञवादी दो प्रकार का अभिमत प्रस्तुत करते हैं—

१ कुछ सर्वज्ञवादी कहते हैं कि सर्वज्ञ अनन्त ज्ञान का धारक होता है। वह सब कुछ जानता है। उसका ज्ञान सर्वत्र अप्रति-
हत होता है।

२ कुछ सर्वज्ञवादी मानते हैं कि सर्वज्ञ त्रियगु, ऊर्ध्व और अधोलोक को क्षेत्र और काल की दृष्टि से परिमित रूप में ही जानता है।^१

वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक में दो मतों का निर्देश है। कुछ मतबलम्बी मानते हैं कि कोई सर्वज्ञ नहीं होता। हमारे अतीन्द्रियद्रष्टा ऋषि क्षेत्र की दृष्टि से अपरिमित क्षेत्र को जानते हैं और काल की दृष्टि से अपरिमित काल को जानते हैं। किन्तु वे सर्वज्ञ नहीं हैं। 'अपरिमित' शब्द का यह एक तात्पर्य है। इसका दूसरा अर्थ यह है—हमारे ऋषि आवश्यक तत्त्व को जानने वाले अतीन्द्रियद्रष्टा हैं। यह प्रसिद्ध श्लोक है—

सर्वं पश्यतु वा मा वा ईष्टमर्थं तु पश्यतु ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥

कोई सब कुछ देखने वाला (सर्वज्ञ) हो या न हो, कोई बात नहीं है। जो इष्ट अर्थ है उसको देखना आवश्यक है। कीड़ों की संख्या का ज्ञान निरर्थक है। उस ज्ञान से किसी का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

दूसरा मत यह है—कुछ दार्शनिक मानते हैं कि सर्वज्ञ कोई होता ही नहीं। क्षेत्र और काल की दृष्टि से परिमित को ही जाना जा सकता है। ब्रह्मा हजार दिव्य वर्ष तक सोता रहता है। उस अवस्था में वह कुछ भी नहीं देखता। फिर जागृत होता है और हजार दिव्य वर्ष तक जागता रहता है। उस अवस्था में वह देखता है।^२

श्लोक ८३ :

१५१. श्लोक ८३ :

इस श्लोक में पूर्ववर्ती दोनों श्लोकों का प्रत्युत्तर है। उसमें यह कहा गया था कि कुछेक दार्शनिक लोक को नित्य मानते हुए कहते हैं कि त्रस प्राणी सदा त्रस ही रहते है और स्थावर प्राणी सदा स्थावर ही रहते हैं। त्रस कभी स्थावर नहीं होते और स्थावर कभी त्रस नहीं होते।

प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि त्रस निर्वर्तक नामकर्म का उपचय कर प्राणी त्रस होता है और स्थावर निर्वर्तक नामकर्म का उपचय कर प्राणी स्थावर होता है। स्थावर त्रस हो सकते हैं और त्रस स्थावर हो सकते हैं। जिस जन्म में जो पर्याय व्यक्त होता है उसी के आधार पर हम उसको त्रस या स्थावर कहते हैं। कोई भी पर्याय अनन्त और असीम नहीं होता। जो इस जन्म में पुरुष होता है वह अगले जन्म में स्त्री हो सकता है और जो स्त्री होता है वह पुरुष हो सकता है।

श्लोक ८४ :

१५२. जीव दुःख नहीं चाहता (अकंतदुःखज्ञा)

चूणिकार ने अकान्त का अर्थ अप्रिय किया है।^३

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—आक्रान्त और अकान्त। आक्रान्त का अर्थ है—अभिभूत और अकान्त का अर्थ

१. चूणि, पृ० ४६ : केवाञ्चित् सर्वज्ञवादिना अनन्तं ज्ञान सर्वत्र चाप्रतिहतमिति सर्वत्रेति त्रियगुर्ध्वमधश्चेति
जेमतः कालतः ।

२. वृत्ति, पृ० ५१ ।

३. चूणि, पृ० ४७ : कान्तं प्रियमित्यर्थः, न कान्तमकान्तम् ।

है—अनभिमत । उनके अनुसार 'सर्वे अर्कतदुक्खा य'—इस पद का अर्थ होगा—सभी प्राणियों को दुःख अनभिमत है, अप्रिय है ।'

१५३. श्लोक ८४ :

अनस्तवाद और अपरिमाणवाद के आधार पर हिंसा का समर्थन करने वाले दृष्टिकोण का प्रतिवाद प्रस्तुत श्लोक में मिलता है । आत्मा नहीं मरती और वह सर्व व्यापक है—ये दोनों हिंसा के समर्थन-सूत्र नहीं बन सकते । हिंसा और अहिंसा का विचार आत्मा की अमरता या शाश्वतता के आधार पर नहीं किया गया है किन्तु वह उसके परिवर्तनशील पर्यायों के आधार पर किया गया है । वर्तमान पर्याय की वास्तविकता यह है कि सब प्राणी मृत्यु को दुःख मानते हैं और दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है, इसलिए सब प्राणी अहिंस्य हैं । कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, यह अहिंसा का एक आधार बनता है ।

श्लोक ८५ :

१५४. श्लोक ८५ :

ज्ञान का सार क्या है ? यह प्रश्न चिर अतीत से पूछा जाता रहा है । सूत्रकार ने ज्ञान का सार अहिंसा बतलाया है । आचाराग निर्युक्ति में उल्लेख मिलता है—अंग (ज्ञान) का सार आचार है ।' अहिंसा परम आचार है । यह समता के आधार पर विकसित होती है । जैसे मुझे दुःख अप्रिय है वैसे ही सब जीवों को दुःख अप्रिय है—इस समता का अनुभव जितना विकसित होता है उतनी ही अहिंसा विकसित होती है । सूत्रकार ने इस समता पर बल देते हुए लिखा है—ज्ञान का विषय यही है ।' इससे आगे जानना क्या शेष बचता है ?

श्लोक ८६ :

१५५. संयमी धर्म में स्थित रहे (वृत्ति)

चूणिकार ने इसका अर्थ—धर्म में स्थित किया है ।' वृत्तिकार ने इसका अर्थ—दश प्रकार की चक्रवाल समाचारी में स्थित किया है ।' चक्रवाल की विशद जानकारी के लिए देखें—उत्तराध्ययन का २६ वां अध्यायन ।

१५६. किसी भी इन्द्रिय-विषय में आसक्त न बने (विगयगिद्धि)

चूणिकार ने 'गिद्धि' के स्थान पर पाठान्तर 'गेही' पाठ माना है और उसका संस्कृत रूप 'वेधि' किया है ।' पियेल ने गूढ़ी से गेही का विकास-क्रम इस प्रकार माना है—गूढ़ी—गिद्धी—गेद्धि—गेहि ।'

१५७. आत्मा का संरक्षण करे (आयाणं सारक्खणं)

'आयाणं' के संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—आत्मान और आदानम् । आत्मा की असंयम से रक्षा करना आत्म-संरक्षण है । ज्ञान आदि का संरक्षण आदान है ।'

चरिया.....

चूणिकार ने चर्या से ईर्यासमिति, आसन और शयन से आदान-निक्षेप समिति और भक्त-पान से एषणा समिति की सूचना

१. वृत्ति, पृ० ५२ : आकाप्ता—अभिभूता.....अकान्तम् अनभिमतम् ।

२. (क) आचारागनिर्युक्ति, पाया १६ : अंगानं किं सारो ? आचारो..... ।

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति गा० ६३ : सामाद्वयमाईयं सुयनाणं जाव बिहुसाराओ ।
तस्स बि सारो चरणं, सारो चरणस्त निम्मानं ॥

३. चूणि, पृ० ४८ : वृत्तिं ति स्थितः, कस्मिन् ? धर्म ।

४. वृत्ति, पृ० ५३ : बिबिधम्—अनेकप्रकारमुचितः स्थितो दशविधचक्रवालसमाचार्या व्युचितः ।

५. चूणि, पृ० ४८ : पठ्यते (च) अकषायी सदाऽप्रियतगेही.....वेधिः लोणः ।

६. पियेल, प्राकृत व्याकरण, पृ० १२८ ।

७. चूणि, पृ० ४८ : आयाणं सारक्खणं ति आत्मानं सारक्खति असंजयातो, आदीयत इति आदानं ज्ञानादि, तं सारक्खति मोक्खहेतुं ।

की है। वैकल्पिक रूप में चर्या से पाँचों समितिओं तथा आसन-शयन से तीनों गुप्तियों का ग्रहण किया है।^१

श्लोक ८७ :

१५८. मान, क्रोध, माया (उत्कर्षं जलणं जूमं)

जिसके द्वारा आत्मा वर्ष से भर जाती है, उसको उत्कर्ष कहा जाता है। यह मान का वाचक है।

जो आत्मगुणों को या चरित्र को जलाता है वह है ज्वसन अर्थात् क्रोध।

‘जूम’ यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—गहन। यह माया का वाचक है। माया गहन होती है। उसका मध्य उपलब्ध नहीं होता।^२

१५९. लोभ (अजम्भस्थं)

चूणिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अभिप्रेत। लोभ सबके द्वारा अभिप्रेत है, इसलिए यह शब्द लोभ का वाचक है।^३

प्रस्तुत श्लोक में शिष्य ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि आगमों में कषायों का एक क्रम है। उसमें क्रोध पहला कषाय है। प्रस्तुत श्लोक में मान को पहला स्थान प्राप्त है। यह आगम प्रसिद्ध क्रम का उत्संभन है। क्यों ?

इसका समाधान यह है कि मान में क्रोध की नियमा है और क्रोध में मान की भजना है। इसको उपदर्शित करने के लिए ही इसमें व्यतिक्रम किया है।^४

श्लोक ८८ :

१६०. पाँच संवरों से संवृत भिक्षु (पंचसंवरसंवृते)

पाँच संवर ये हैं—

१. प्राजातिपात विरमण

७. मृषावाद विरमण

३. अदत्तादान विरमण

४. मैथुन विरमण

५. परिग्रह विरमण।

१६१. बंधे हुए लोगों के बंधन में (सितोहि)

बंधन अनेक प्रकार के होते हैं। गृहवास, पुत्र, कलत्र आदि के प्रति जो आसक्ति है, वह भी बंधन है।^५ इसी प्रकार अपनी माम्यता, मतवाद भी एक बंधन है। भिक्षु सभी प्रकार की आसक्तियों और पूर्वाग्रहों से बंधे।

१. चूणि, पृ० ४८, ४९ : चरिणं सि हरियासमिती गहिता अथवा चरियागहणेन समितीओ गहिताओ, आसन-सयनगहणेन कायगुत्ती, एकगहणेन गहनं ति काऊण मण-वइगुत्तीओ वि गहिताओ। अस्त-पाणगहणेन एसणासमिहं, एव आदान-परिग्राहणियाई सुइयाओ।

२. वही, पृ० ४९ : उत्कर्षयतेऽनेनेति उत्कर्षतो मानः। उवलस्यनेनेति उवलसः क्रोधः। जूमं जामं अग्रकाशं माया।

३. वही, पृ० ४९ : अजम्भस्थो नाम अभिप्रेतः, स च लोभः।

४. वृत्ति, पत्र ५२ : ननु आत्मत्रागमे क्रोध आद्यावृत्त्यस्यते, तथा अपकर्षेण्यमाचडो भगवान् क्रोधादोनेव संवृतनान् अपयति, तत् किमर्थमागमप्रसिद्धं कममुरुलङ्घ्यादौ मानस्योपन्यास इति ?, अत्रोच्यते, याने सत्यवर्यमाभी क्रोधः, क्रोधे तु मानः स्थाया न वेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायाम्ययाकमकरणमिति।

५. चूणि, पृ० ४९ : सित्वा बद्धा इत्यर्थः, गृहि—गृहावच्छादितगृह-कलत्र-वित्रादिभिः सङ्गे। सितः।

बीचं अज्झयणं
बेयालिए

3

दूसरा अध्ययन
वेतालीय

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'वैतालीय' या 'वैतालिक' है। निर्युक्तिकार के अनुसार इसका निरुक्तगत नाम 'वैदारिक' तथा छंदगत नाम 'वैतालीय' है। यह वैतालीय छंद विशेष में रचित है। कृतिकार ने छन्द-रचना की प्रामाणिक जानकारी देते हुए उसका लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

‘वैतालीयं तंगनेधनाः बडयुक् पावेऽष्टौ समे च ल।।

न समोऽत्र परेण युज्यते नेतः बड् च निरन्तरा युजोः ।’ (छंदोनुशासनं ३/५३)

वाचस्पत्यं में वैतालीय छन्द के लक्षण का यह श्लोक है—

‘बड् विषमेऽष्टौ समे कलास्तावच्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।

न समाऽत्र पराधिता कला वैतालीयेऽप्ये रली गुः ॥’ (४६७२)

वैतालीय छन्द में प्रथम और तृतीय चरण में छह-छह मात्राएं तथा द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में आठ-आठ मात्राएं होती हैं। द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में वे मात्राएं निरन्तर एक समान नहीं होतीं, निरन्तर गुरु या निरन्तर लघु नहीं होतीं। वे कहीं गुरु और कहीं लघु होती हैं। प्रथम तथा तृतीय चरण के लिए यह नियम नहीं है। पूर्वाखं तथा उत्तराखं में जो मात्राएं बतसाई गई हैं, उनमें दूसरी, चौथी तथा छठी मात्राएं गुरु न हों। चारों चरणों के लिए जो मात्राएं निर्दिष्ट हैं उनके बागे एक-एक रचण, एक-एक लघु और एक-एक गुरु होना चाहिए।

बौद्ध साहित्य में भी 'वैतालीय'—वैतालीय छन्द में निबद्ध अध्ययनों का अस्तित्व प्राप्त है।

कर्म-विदारण के आधार पर इसको वैदारिक मानना केवल काल्पनिक हो सकता है, क्योंकि अन्य अध्ययन भी कर्म-विदारण के हेतुभूत बनते हैं। इस दृष्टि से इस अध्ययन का नाम "वैतालीय" ही उपयुक्त लगता है।

इस अध्ययन की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं—

‘कामं तु सासतमिधं कथितं अद्वावयमि उत्तमेणं ।

अद्वाणजति सुताणं सोज्जय ते वि पण्यइता ॥’ (२।६)

भगवान् ऋषभ प्रव्रजित हुए और कैवल्य प्राप्त कर विहरण करने लगे। उनका ज्येष्ठ पुत्र भरत भारतवर्ष (छह खंडों) पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती हुआ। उसने अपने इष्टानर्षे भाईयों से कहा—तुम सब मेरा अनुशासन स्वीकार करो या अपने-अपने राज्य का आधिपत्य छोड़ दो। वे सारे भाई असमंजस में पड़ गए। भरत की बात उन्हें अप्रिय लगी। राज्य का विभाग महाराज ऋषभ ने किया था, अतः वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे।

उस समय भगवान् ऋषभ अष्टापद पर्वत पर विहार कर रहे थे। वे सारे भाई वहां गए। भगवान् को बंदना कर उन्होंने पूछा—भगवन् ! भरत हम सबको अपने अधीन करना चाहता है। उसने हम सबको उसका स्वामित्व स्वीकार करने के लिए कहा है। अब आप बताएं, हम क्या करें? क्या हम उसकी अनुशासना में चले जाएं? क्या हम अपनी प्रभुसत्ता को छोड़ दें? आप हमारा मार्ग-दर्शन करें।’ तब भगवान् ऋषभ ने दृष्टान्त देकर समझाते हुए इस अध्ययन का कथन किया।

ऋषभ के पुत्रों ने इस अध्ययन को सुनकर जान लिया कि संसार बसार है। विषयों के बिपाक कटु और निःसार होते हैं। आयुष्य मदनमत्त हाथी के कानों की भांति खंचल है, पर्वतीय नदी के वेग के समान जीवन अस्थिर है। भगवान् की आज्ञा या मार्ग-दर्शन ही श्रेयस्कर है। यह जानकर इष्टानर्षे भाई भगवान् के पास प्रव्रजित हो गए।

यह तथ्य चूषिकार और कृतिकार दोनों द्वारा मान्य है।’

१. (क) कृति, पृ० ३१।

(ख) कृति, पृ० ५५।

इस तथ्य की पुष्टि प्रस्तुत अध्ययन के अन्तिम श्लोक (७६) में प्रयुक्त 'एवं से उदाह' से होती है। वृत्तिकार और वृत्तिकार ने 'स' से भगवान् ऋषभ को ग्रहण किया है और कहा है कि भगवान् ऋषभ ने अपने पुत्रों को उद्दिष्ट कर इस अध्ययन का प्रतिपादन किया है।

परिचाय और प्रतिपाद्य

प्रस्तुत अध्ययन में तीन उद्देशक और ७६ श्लोक हैं—पहले उद्देशक में २२, दूसरे में ३२ और तीसरे में २२ श्लोक हैं।

निर्युक्तिकार के अनुसार इन तीन उद्देशकों का प्रतिपाद्य (अर्थाधिकार) इस प्रकार है—

पहला उद्देशक—हित-अहित, उपादेय और हेय का बोध तथा अनित्यता की अनुभूति।

दूसरा उद्देशक—अहंकार-वर्जन के उपायों का निर्देश तथा इन्द्रिय-विषयो की अनित्यता का प्रतिपादन।

तीसरा उद्देशक—अज्ञान द्वारा उपचित कर्मों के नाश के उपायों का प्रतिपादन।

बस्तुतः यह अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि प्राणी की मोगेच्छा अनन्त है और उसे पदार्थों के उपभोग से कभी उपशान्त नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपादित कुछ विचार-बिन्दु

- जागना कुर्लष है। जो वर्तमान क्षण में नहीं जागता और जागने की प्रतीक्षा करता रहता है, वह कभी जाग नहीं पाता।
- वर्तमान क्षण ही जागृति का क्षण है, क्योंकि मृत्यु के लिए कोई अवस्था निश्चित नहीं है।
- जागृति का अर्थ है—अहिंसा और अपरिग्रह की चेतना का निर्माण।
- हिंसा और परिग्रह साथ-साथ चलते हैं।
- अनित्यता का बोध संबोधि की ओर ले जाता है।
- मनुष्य को जागरण की विधा में प्रमत्त नहीं होना चाहिए।
- सही अर्थ में प्रयत्नित बहु होता है जो विषय और वासना—दोनों से मुक्त होता है।
- अकिंचनता (नग्नत्व) और तपस्या (कृशत्व) मुक्ति के हेतु हैं, साधन नहीं। मुक्ति का साधन है—कषाय-मुक्ति।
- अहंकार न करने के तीन कारण—
 - अहंकारी का वर्तमान, अतीत और भविष्य—तीनों काल दुःखपूर्ण होते हैं।
 - ऊँची-नीची अवस्था अवश्यभावी है, फिर अहंकार कैसे?
 - अहंकारी को मोक्ष, बोधि और श्रेय प्राप्त नहीं होते।
- धर्मकथा करने का अधिकारी वह होता है जो संवृतात्मा हो, विषयो के प्रति अनासक्त हो और स्वच्छ हृदयवाला हो।
- अकेला वह है जो राग-द्वेष तथा संकल्प-विकल्प से मुक्त है।
- असमाधि का मूल कारण है—मूर्च्छा।
- दुःख का स्पर्श अज्ञान से होता है और उसका क्षय समय से होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में 'अनुधर्मचारिणो' (श्लोक ४७) और 'कस्सव' (श्लोक ४७) शब्द महत्त्वपूर्ण हैं।

अनुधर्मचारी का अर्थ अनुचरणशील होता है। अनुधर्म में विद्यमान 'अनु' शब्द को चार अर्थों में व्युत्पन्न किया है—अनुगत, अनुकूल, अनुलोम और अनुरूप।

अनुगत + धर्म = अनुधर्म

अनुकूल + धर्म = अनुधर्म

अनुलोम + धर्म = अनुधर्म

अनुरूप + धर्म = अनुधर्म

१. (क) वृत्ति, पृ० ७६ : से इति सो उसमसामी अडावते पञ्चते अडाणउतोए सुताणं आह कथितवान्।

(ख) वृत्ति, पृ० ७८ : स ऋषभस्वामी स्वपुत्रानुद्दिश्य उदाहृतवान् प्रतिपादितवान्।

काश्यप

मुनि सुव्रत और अर्हन्त अरिष्टनेमि के अतिरिक्त शेष सभी तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंश के हैं। उनका गोत्र काश्यप है। भगवान् ऋषभ का एक नाम काश्यप है। शेष सभी तीर्थंकर इनके अनुवर्ती हैं, इसलिए वे सभी 'काश्यप' कहलाते हैं। काश्यप के द्वारा भगवान् ऋषभ और महावीर का ग्रहण भी होता है। इसका एक कारण यह भी है कि दोनों की साधना-पद्धति समान थी। दोनों ने पाँच महाव्रतों की साधना-पद्धति का विधान किया था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

इसी अध्ययन के पचासवें श्लोक में प्रयुक्त पाँच शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और वे तत्कालीन समाज-व्यवस्था और मुनि की आचार-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। वे शब्द ये हैं—

१. कायिक, २. प्राशनिक, ३. संप्रसारक, ४. कुतक्रिय ५. मामक।

प्रस्तुत अध्ययन के द्वावनवें श्लोक में चार कषायों के वाचक चार नए शब्द प्रयुक्त हुए हैं—

१. छद्म—माया

२. प्रशंसा—लोभ

३. उत्कर्ष—मान

४. प्रकाश—क्रोध

इसी प्रकार प्रस्तुत आगम के ६/११ में इन चार कषायों के लिए निम्न चार नाम प्रयुक्त हैं—

१. माया—पनिउंचण (परिकुंचन)

२. लोभ—भजन

३. क्रोध—स्यंडिल

४. मान—उच्छयण

द्वावनवें श्लोक में प्रयुक्त 'सहि' (सहित) शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसकी अर्थ-परम्परा पर ध्यान देने से कुछेक योग प्रक्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है। देखें—टिप्पण।

सत्तावनवें श्लोक की व्याख्या में जूणिकार ने ऐतिहासिक जानकारी देते हुए पूर्वदिशा निवासी आचार्यों और पश्चिमी दिशा निवासी आचार्यों के अर्थभेद का उल्लेख किया है।

चौसठवें और पैंसठवें श्लोक में सूत्रकार ने एक चिरंतन प्रश्न की चर्चा की है। वह प्रश्न है—वर्तमान प्रत्यक्ष है। किसने देखा है परलोक। इस चिंतन के गुण-दोष की चर्चा बहा की गई है।

धर्म की आराधना गृहवास में भी हो सकती है। इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन सड़सठवें श्लोक में प्राप्त है।

इसी प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में एकत्व भावना, अशरण भावना, अनित्य भावना आदि का सुन्दर विवेचन प्राप्त है। इसमें ब्रह्मवर्ष, कर्म-विपाक, शिक्षा, अनुकूलपरीषद, मान-विसर्जन, कर्म-अचय, सत्योपक्रम, धर्म की त्रैकालिकता, आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का भी सुन्दर समावेश है।

एक शब्द में कहा जा सकता है कि यह अध्ययन वैराग्य को वृद्धिगत करने और संबोधि को प्राप्त कर समाधिस्थ होने के सुन्दर उपायों को निदिष्ट करता है।

पहला अध्ययन तात्त्विक है और यह अध्ययन पूर्णतः आध्यात्मिक तथ्यों का प्रतिपादक है।

बीचं अउभयणं : दूसरा अध्ययन
बेयालिए : बैतालीय
पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

१. संबुज्झह किण्ण बुज्झहा
संबोही खलु पेक्ख बुल्लहा ।
णो हूबणमंति राइओ
णो सुलभं पुनरावि जीवियं ।१।

संबुध्यध्वं किं न बुध्यध्व,
संबोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा ।
नो खलु उपनमस्ति रात्रयः,
नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ॥

१. (भगवान् ऋषभ ने अपने पुत्रों से कहा—) 'संबोधि को प्राप्त करो । बोधि को क्यों नहीं प्राप्त होते हो ? जो वर्तमान में संबोधि को प्राप्त नहीं होता, उसे अगले जन्म में भी वह सुलभ नहीं होती । बीती हुई रातें लौट कर नहीं आती । जीवन-सूत्र के टूट जाने पर उसे पुनः साधना सुलभ नहीं है ।'

२. डहरा बुद्धा य पासहा
गम्भत्था वि चयति माणवा ।
सेणे जह वट्ठयं हरे
एवं आडखयंमि तुट्ठई ।२।

दहरा वृद्धाश्च पश्यत,
गर्भस्था अपि च्यवन्ते मानवाः ।
श्येनो यथा वर्सकं हरेत्,
एवं आयुःक्षये ऋट्यति ॥

२. 'पुन देखो—बालक, बूढ़े और गर्भस्थ मनुष्य भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । जिस प्रकार बाज बटेर' का हरण करता है, उसी प्रकार आयु के क्षीण होने पर मृत्यु जीवन का हरण करती है, जीवन-सूत्र टूट जाता है ।

३. मायाहि पियाहि लुप्पई
णो सुलहा सुगई य पेक्खओ ।
एयाह मयाह बेहिया
आरंभा विरमेज्ज सुब्बए ।३।

मातृभिः पितृभिः लुप्यते,
नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य ।
एतानि भयानि दृष्ट्वा,
आरम्भात् विरमेत् सुव्रतः ॥

३. 'मनुष्य कदाचित् माता-पिता से पहले ही मर जाता है । अगले जन्म में सुगति' (सुकुल में जन्म) सुलभ नहीं है । इन भय-स्थानों को देखकर सुव्रत (श्रेष्ठ संकल्प वाला) मनुष्य हिंसा (और परिग्रह) से विरत हो जाए ।

४. जमिणं जगई पुढो जगा
कम्मोहि लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहि गाहई
णो तस्स मुचचे अपुट्ठवं ।४।

यदिदं जगति पृथग् जन्तवः,
कर्मभिः लुप्यन्ते प्राणिनः ।
स्वयमेव कृतैः गाहते,
नो तस्य मुच्यते अस्पृष्टवत् ॥

४. इस जगत् में प्राणी अपने-अपने कर्मों के द्वारा लुप्त होते हैं—' सुख-स्थानों से अग्रत होते हैं । वे स्वयं की क्रियाओं के द्वारा कर्म का उपचय करते हैं । वे उसके बिपाक से अस्पृष्ट होकर उससे मुक्त नहीं हो सकते ।'

५. देवा गंधर्वराक्षसा
असुरा भूमिचरा सिरीसिपा ।
राया जरसेट्ठिमाहणा
हाणा ते वि अयंति बुद्धिया ।५।

देवा गन्धर्वराक्षसाः,
असुराः भूमिचराः सरीसृपाः ।
राजानः नरश्रेष्ठिबाह्वणाः,
स्यानात् तेऽपि च्यवन्ते दुःखिताः ॥

५. देव', गन्धर्व, राक्षस, असुर, पाताल-वासी नागकुमार, राजा, जनसाधारण, श्रेष्ठी और ब्राह्मण—ये सभी दुःखपूर्वक अपने-अपने स्थान से अग्रत हो जाते हैं ।'

६. कामेहि य संयवेहि य
कम्मसहा कालेण जंतवो ।
ताले जह बंधनञ्जुए
एवं आउल्लयम्मि तुहई ।६।

कामेश्व संस्तवैश्च,
कर्मसहाः कालेन जन्तवः ।
तालो यथा बन्धनच्युतः,
एवं आयुःक्षये भ्रुट्यति ॥

६. मृत्यु के आने पर मनुष्य कामनाओं और भोग्य-वस्तुओं से संबंध तोड़कर अपने अर्जित कर्मों के साथ (अज्ञात लोक में) चले जाते हैं । जैसे (स्व-भावतः या किसी निमित्त से) ताड़ का फल द्रुत से टूटता है वैसे ही (स्व-भावतः या किसी निमित्त से) आयु के क्षीण होने पर मनुष्य का जीवन-सूत्र टूट जाता है ।

७. जे यावि बहुसुए सिया
धम्मिए माहणे भिक्खुए सिया ।
अभिणूमकडेहि मुच्छिए
तिष्ठं से कम्मोहि किञ्चतो ।७।

यश्चापि बहुश्रुतः स्यात्,
धार्मिकः ब्राह्मणः भिक्षुकः स्यात् ।
अभिणूमकृतैः मूर्च्छितः,
तीव्र स कर्मभिः कृत्यते ॥

७. जो कोई बहुश्रुत" (शास्त्र-पारगामी) या धार्मिक" (न्यायवेत्ता) अथवा ब्राह्मण या भिक्षु भी यदि मायाकृत असत् आचरण में" मूर्च्छित होता है" तो वह कर्मों के द्वारा तीव्र रूप में क्षिप्त होता है ।

८. अह पास विवेगमुट्टिए
अवितिण्णे इह भासई धुतं ।
णाहिति आरं कओ परं ?
वेहासे कम्मोहि किञ्चई ।८।

अथ पश्य विवेकं उत्थितः,
अवितोर्णः इह भाषते धृतम् ।
ज्ञास्यसि आरं कुतः परं,
विहायसि कर्मभिः कृत्यते ॥

८. हे शिष्य ! तू देख, कोई भिक्षु (परि-ग्रह और स्वजन-वर्ग का परिस्थान कर) संयम के लिए उत्थित हुआ है, किन्तु (वित्तवृष्णा और सुतेपणा के सागर को) तर नहीं पाया है, वह धृत की कथा" करता है । तू उसका अनुसरण कर गृहस्थी को ही जानेगा, प्रव्रज्या को नहीं जान पाएगा ।" जो गृहस्थी और प्रव्रज्या के अन्तराल में रहता है वह कर्मों (या कामनाओं) से क्षिप्त होता है ।"

९. अह वि य णिगिणे किते चरे
अह वि य भुंजिय मासमंतसो ।
जे इह मायावि मिज्जई
आगंता गग्गभावजंतसो ।९।

यद्यपि च नग्नः कृषाश्चरेत्,
यद्यपि च भुञ्जीत मासमन्तशः ।
य इह मायादिना मीयते,
आगन्ता गर्भादनन्तशः ॥

९. यद्यपि कोई भिक्षु नग्न रहता है, देह को कृश करता है" और मास-मास के अन्त में एक बार खाता है, फिर भी माया आदि से परिपूर्ण होने के कारण वह अनन्त बार जन्म-मरण करता है ।

१०. पुरिसोरम पावकम्मुणा
पल्लियंतं मनुयाण जीवियं ।
सण्णा इह काममुच्छिया
मोहं जंति जरा असंवुडा ।१०।

पुरुष ! उपरम पापकर्मणा,
पर्यन्तं मनुजानां जीवितम् ।
सन्ना इह काममूर्च्छिताः,
मोहं यान्ति नराः असंवृताः ॥

१०. हे पुरुष ! (जिससे तू उपलक्षित हुआ है) उस पाप-कर्म से उपरमण कर, (क्योंकि) मनुष्य-जीवन का अन्त अवश्यभावी है । जो स्त्री आदि में निमग्न होकर इन्द्रिय-विषयों में मूर्च्छित हैं वे असंवृत पुरुष मोह को प्राप्त होते हैं ।

११. अयं विहराहि योगं
अणुप्राणा पंचा दुस्तरा ।
अनुशासनमेव पक्वमे
वीर्यं सम्मं पवेदयं । ११।

यतमानः विहर योगवान् !,
अणुप्राणाः पन्थानः दुस्तराः ।
अनुशासनमेव प्रक्रामेत्,
वीर्यं सम्यक् प्रवेदितम् ॥

११. हे योगवान् ! "तू यतनापूर्वक विहरण कर । मार्ग सूक्ष्म प्राणियों से संकुल हैं ।" (अतः अयतनापूर्वक चलने वाला जीव-वध किए बिना) उन पर नहीं चल सकता । तू अहंतों के द्वारा सम्यक् प्रवेदित अनुशासन का" अनुसरण कर ।

१२. विरया बीरा समुत्थिता
कोहाकायरियाइपोसणा ।
पाणे न हर्षन्ति सख्यसो
पाबाओ विरयाऽभिनिवृत्ता । १२।

विरताः बीराः समुत्थिताः,
क्रोधकातरिकादिपेषणाः ।
प्राणान् न घ्नन्ति सर्वशः,
पापात् विरता अभिनिवृत्ताः ॥

१२. बीर वे हैं जो विरत हैं, संयम में उत्थित हैं, क्रोध, माया आदि कषायों का चूर्ण करने वाले हैं, जो सर्वशः प्राणियों की हिंसा नहीं करते, जो पाप से विरत हैं और उपशान्त हैं ।

१३. न वि ता अहमेव लुप्ये
लुप्यन्ती लोगंसि पाणिणो ।
एवं सहिएऽहिपासए
अणिहे से पुट्टेऽहियासए । १३।

नापि तावत् अहमेव लुप्ये,
लुप्यन्ते लोके प्राणिनः ।
एवं सहितोभिपश्यति,
अनिहः सः स्पृष्टोऽधिसहेत ॥

१३. 'इस संसार में मैं ही केवल दुःखों से पीड़ित नहीं होता, परन्तु लोक में दूसरे प्राणी भी पीड़ित होते हैं'—इस प्रकार ज्ञान-संपन्न पुरुष अन्तर्दृष्टि से देखे और वह परिषद् से स्पृष्ट होने पर उनसे आहत न हो, किन्तु उन्हें सहन करे ।

१४. धुणिया कुलियं व लेखं
कसए बेहमणसणादिहि ।
अविहिंसामेव पक्वए
अणुधम्मो मुणिणा पवेदो । १४।

धृत्वा कुड्यं लेपवत्,
कर्शयेत् देहमनशनादिभिः ॥
अविहिंसामेव प्रव्रजेत्,
अनुधर्मः मुनिना प्रवेदितः ॥

१४. "कर्म-शरीर को प्रकंपित कर । जैसे गोबर आदि से लीपी हुई भीत को धक्का देने पर उसका लेप टूट जाता है और वह कुश हो जाती है, वैसे ही अनशन आदि के द्वारा (मांस और शोणित से उपचित) देह को कुश कर । अहिंसा में प्रव्रजन कर । महावीर के द्वारा प्रवेदित अहिंसा धर्म अनुधर्म है—" पूर्ववर्ती ऋषभ आदि सभी तीर्थंकरों द्वारा प्रवेदित है ।

१५. सउणी अह पंसुगुण्डिया
विहृणिय धंसयई सियं रयं ।
एवं वविओवहाणवं
कम्मं खवइ तवस्सि माहणे । १५।

शकुनिः यथा पांसुगुण्डितो,
विधूय ध्वंसयति सितं रजः ।
एवं द्रव्यः उपधानवान्,
कर्म क्षपयति तपस्वी ब्राह्मणः ॥

१५. जैसे पक्षिणी (घूल-स्नान के कारण) घूल से अवगुण्ठित होने पर अपने शरीर को कपित कर, लगे हुए रजकणों को दूर कर देती है, वैसे ही राग-द्वेष रहित तपस्वी श्रमण" तपस्या के द्वारा कर्मों को क्षीण कर देता है ।

१६. उट्ठियमणगारमेसणं
समणं ठाण्ठियं तवस्सिणं ।
अहरा बुद्धा य पक्वए
अवि सुत्ते अयं तं सभे अणा । १६।

उत्थितमनगारमेषणां,
श्रमणं स्थानस्थितं तपस्विनम् ।
दहरा बुद्धाश्च प्रार्थयेयुः,
अपि श्रुष्येयुः न च तं लभेरन् जनाः ॥

१६. जो अनगारत्व (अनिकेतचर्या) या मोक्ष की एषणा के लिए उत्थित है, जो श्रमणोचित स्थान (ज्ञान आराधना, चरित्र आराधना आदि) में स्थित है,

जो तपस्वी है, उस श्रमण को बच्चे या बूढ़े पुनः घर में आने की प्रार्थना करते हैं। वे प्रार्थना करते-करते थक जाते हैं किन्तु उस श्रमण को संयम-मार्ग से श्रुत नहीं कर सकते।

१७. अहं कालुषियाणि कासिया
अहं रोषंति य पुत्रकारणा ।
द्वियं भिक्षुं समुत्थितं
नो लभन्ति नं सण्णवेत्तए । १७।

यदि कारुणिकानि अकार्षुः,
यदि रुदन्ति च पुत्रकारणम् ।
द्रव्यं भिक्षुं समुत्थितं,
नो लप्स्यन्ते एनं संज्ञापयितुम् ॥

१७. यद्यपि वे कौटुम्बिक उस श्रमण के पास आकर कष्ट विलाप करते हैं, पुत्र-प्राप्ति के लिए^{१७} रुदन करते हैं (एक पुत्र को उत्पन्न कर तुम प्रव्रजित हो जाना—ऐसा कहते हैं), फिर भी वे राग-द्वेष रहित उस श्रमण को समझा-बुझाकर पुनः गृहस्थी में नहीं ले जा सकते :

१८. अहं तं कामेहि लाबिया
अहं आणेज्ज तं बंधिता घरं ।
तं जीवितं नावकाक्षिणं
नो लभन्ति तं सण्णवेत्तए । १८।

यदि तं कामैः निमग्न्य,
यदि आनयेत् तं बध्वा गृहम् ।
तं जीवितस्य नावकाक्षिणं,
नो लप्स्यन्ते एनं संज्ञापयितुम् ॥

१८. यद्यपि वे कौटुम्बिक उस श्रमण को कामभोग के लिए निमग्नित करते हैं^{१८} अथवा उसे बांध कर घर ले आते हैं, परन्तु जो असंयम जीवन की आकांक्षा नहीं करता उसे वे समझा-बुझाकर पुनः गृहस्थी में नहीं ले जा सकते।

१९. सेहंति य नं ममाइणो
माय पिपा य सुया य भारिया ।
पोसाहि ने पासओ तुमं
लोग परं पि जहासि पोस ने । १९।

सेधन्ति च एनं ममायिनः,
माता पिता च सुता च भार्या ।
पोषय नः पश्यकस्त्वं,
लोकं परमपि जहासि पोषय नः ॥

१९. अपनापन दिखाने वाले माता, पिता, पुत्री और पत्नी—ये सभी उस श्रमण को सीख देते हैं—“तू हमारा पोषण कर। तू पश्यक (दीर्घदर्शी) है। (हमारी सेवा से वञ्चित रहकर) तू परलोक को सफल नहीं कर पायेगा, इसलिए तू हमारा पोषण कर।

२०. अण्णे अण्णेहि मुक्खिया
मोहं जंति नरा असंबुद्धा ।
बिसमं बिसमेहि गाहिया
ते पावेहि पुणो पगब्भिया । २०।

अन्ये अन्येः मूर्च्छिताः,
मोहं यान्ति नराः असंवृताः ।
विषमं विषमेः ग्राहिताः,
ते पापैः पुनः प्रगल्भिताः ॥

२०. कुछ मुनि (उनकी बातें सुनकर माता, पिता, पत्नी या पुत्री में) मूर्च्छित होकर मोह को प्राप्त होते हैं तथा इन्द्रिय और मन के संवर से रहित हो जाते हैं—पुनः गृहस्थी में लौट आते हैं। असंयमी से द्वारा असंयम में लाए हुए वे मनुष्य पुनः पाप करने के लिए लज्जा रहित हो जाते हैं।

२१. तम्हा दधि इक्ख पंडिए
पावाओ धिरएभिनिव्वुडे ।
पणए बीरे महावीरिह
सिद्धिपहं नेयाउयं धुवं । २१।

तस्मात् द्रव्यः ईक्षस्व पंडितः,
पापात् विरतः अभिनिवृत्तः ।
प्रणतः वीरः महावीरिह,
सिद्धिपथं नैर्यात्रिकं ध्रुवम् ॥

२१. इसलिए राग-द्वेष रहित पंडित मुनि (विरत और अविरत मनुष्यों के गुण-दोषों को) देखकर पाप से विरत और (कषाय से) उपशान्त हो जाए। वीर पुरुष लक्ष्य तक ले जाने वाले^{१९} उस शाश्वत महापथ के प्रति^{२०} प्रणत होते हैं जो सिद्धि का पथ है।

२२. वेतालियमगमगतो
मनवयसा काएण संवुडो ।
विज्जा वित्तं च जायओ
आरंभं च सुसंबुडे चरे । २२।

—त्ति वेमि ॥

वेतालीयमार्गमागतः,
मनसा वचसा कायेन संवृतः ।
त्यक्त्वा वित्तं च जातोः,
आरंभं च सुसंबृतश्चरेत् ॥

—इति ब्रवोमि ॥

२२. वेतालीय मार्ग को प्राप्त कर मुनि
मन, वचन और काया से संवृत होकर,
धन, स्वजन और हिंसा का त्याग कर
संयम में विचरण करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ॥

बोधो उद्देशो : दूसरा उद्देशक

२३. तय सं व जहाइ से रयं
इह संसाय मुणी ण मज्जई ।
गोयण्णतरेण माहणे
अहुस्सेयकरी अण्णेसि इत्थिणी । २३।

त्वच्चं स्वामिव जहाति स रजः,
इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ।
गोत्रान्यतरेण ब्राह्मणः,
अथ अश्रेयस्करी अन्येषां 'इत्थिणी' ॥

२३. जिस^{१०} प्रकार (सर्प) अपनी केंचुनी
को छोड़ देता है, वैसे ही मुनि रज को^{११}
छोड़ देता है । (अकषाय अवस्था में
रज क्षीण होता है) यह जानकर मुनि
मद न करे । गोत्र और अन्यतर (कुल,
बल, रूप, श्रुत आदि)^{१२} तथा अपनी
बिमिश्रता का बोध—ये सब मद के
हेतु हैं । (मद से मत्त होकर) दूसरों
की अवहेलना करना श्रेयस्कर नहीं है ।

२४. जो परिभवई परं जणं
संसारे परिवत्तई महं ।
अहु इत्थिण्या उ पाविया
इह संसाय मुणी ण मज्जई । २४।

यः परिभवति परं जनं,
संसारे परिवर्तते महत् ।
अथ 'इत्थिणिका' तु पातिका,
इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ॥

२४. जो गोत्र आदि की हीनता के कारण
दूसरे की अवहेलना करता है वह दीर्घ-
काल तक संसार^{१३} (एकैन्द्रिय, द्वीन्द्रिय
आदि हीन जातियों) में उत्पन्न होता
रहता है । इसलिए यह अवहेलना पाप
को उत्पन्न करने वाली या पतन की
ओर ले जाने वाली^{१४} है—यह जान-
कर मुनि मद न करे ।

२५. जे यावि अणायगे सिया
जे वि य पेसगपेसगे सिया
इह मोणपयं उवट्टिए
णो लज्जे समयं सया चरे । २५।

यश्चापि अनायकः स्यात्
योऽपि च प्रोष्यकप्रोष्यकः स्यात् ।
इदं मीनपदं उपस्थितः,
नो लज्जेत समतां सदा चरेत् ॥

२५. एक सर्वोच्च अधिपति हो और दूसरा
उसके नौकर का नौकर हो । वह सर्वोच्च
अधिपति मुनिपद की प्रव्रज्या स्वीकार
कर (पहले से प्रव्रजित अपने नौकर के
नौकर को वन्दना करने में) लज्जा
का अनुभव न करे, सदा समता का
आचरण करे ।^{१५}

२६. सम अण्णयरम्मि संजमे
संसुडे समणे परिव्वए ।
आ आवकहा समाहिए
इविए कासमकासि पंडिए । २६।

समे अन्यतरस्मिन् सयमे,
सशुद्धः समनाः परिव्रजेत् ।
यावत् यावत्कथा समाहितः,
द्रव्यः कालमकार्षीत पंडितः ॥

२६. जो मुनि सम संयमस्थान या अधिक
संयमस्थान में स्थित^{१६} (पूर्व प्रव्रजित
मुनि को वंदना करता है), वह अह-
कार शून्य है और सम्यक् मन
वाला^{१७} होकर परिव्रजन करता है ।
वह पंडित मुनि जीवन पर्यन्त, मोत
आए सब तक, समाधियुक्त और राग-
द्वेष रहित होकर मद नहीं करता ।

२७. दूरं अणुपस्तिता मुणी
तीर्थं धम्ममणागयं तथा ।
पुट्ठे कप्पेहि माहणे
अवि हण्णु समयंति रीयइ । ५।

दूरं अनुदृश्य मुनिः,
अतीतं धर्ममनागतं तथा ।
स्पृष्टः परुषैः ब्राह्मणः,
अपि हन्तुः समये रीयते ॥

२७. मुनि अतीत और अनागत धर्म की दीर्घकालीन परम्परा^{१५} (कभी उच्छ्वता और कभी हीनता की अवस्थाओं) को देखकर (मद नहीं करता) । अहिंसा का अनुशीलन करने वाला कठोर व्यक्ति से तजित तथा हत-प्रहृत होने पर भी समता में रहता है ।^{१६}

२८. पण्णसमत्ते सया जए
समताधम्ममुदाहरे मुणी ।
सुहमे उ सया अलूसए
णो कुञ्जे णो माणि माहणे । ६।

समाप्तप्रज्ञः सदा यतः,
समताधर्ममुदाहरेद् मुनिः ।
सूक्ष्मे तु सदा अलूषकः,
नो कुञ्चे नो मानी ब्राह्मणः ॥

२८. कुशल प्रज्ञा वाला और सदा अप्रमत्त मुनि समता धर्म का निरूपण करे । वह सूक्ष्मदर्शी मुनि (धर्म कथा में) सदा अहिंसक रहे—किसी को बाधा न पहुंचाए ।^{१७} वह न क्रोध करे और न अभिमान करे ।^{१८}

२९. बहुजणमणम्मि संबुडे
सच्चट्ठेहि णरे अणिस्सिए ।
हरए व सया अणाविले
धम्मं पादुरकासि कासवं । ७।

बहुजननमने संवृतः,
सर्वार्थेषु नरः अनिश्रितः ।
हृद इव सदा अनाविलः,
धर्मं प्रादुरकार्षीत् काश्यपम् ॥

२९. जो मनुष्य धर्म में संवृत, सब विषयों के प्रति अनासक्त और हृद की भांति सदा स्वच्छ है, उसने काश्यप (भगवान् महावीर) के धर्म को प्रगट किया ।^{१९}

३०. बहवे पाणा पुढो सिया
पत्तेयं समयं समीहिया ।
जे मोणपयं उवट्टिए
विरहं तत्थ अकासि पंडिए । ८।

बहवः प्राणाः पृथग् श्रिताः ।
प्रत्येकं समतां समीहिताः ।
यो मौनपदं उपस्थितः,
विरतिं तत्र अकार्षीत् पंडितः ॥

३०. संसार में अनन्त प्राणी हैं । उनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है । प्रत्येक प्राणी में समता है—सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय । यह देखकर जो मुनिपद में उपस्थित है, वह पंडित विरति करे—किसी प्राणी का उपघात न करे ।

३१. धम्मस्स य पारगे मुणी
आरंभस्स य अंतए ठिए ।
सोयंति य णं ममाहणो
णो य लभंती णियं परिग्रह । ९।

धर्मस्य च पारगो मुनिः,
आरंभस्य च अन्तके स्थितः ।
शोचन्ति च ममायिनः,
नो च लभन्ते निज परिग्रहम् ॥

३१. धर्म का पारगामी मुनि आरंभ (हिंसा) के अन्त में स्थित होता है । परिग्रह के प्रति ममत्व रखने वाला शोक करता है । वह अपने विनष्ट परिग्रह को प्राप्त नहीं करता ।

३२. इहलोगे दुहावहं बिऊ
परलोगे य दुहं दुहावहं ।
विद्धंसणधम्ममेव तं
इइ बिउजं को गारमावसे ? । १०।

इहलोके दुःखावह विद्वान्,
परलोके च दुःख दुःखावहम् ।
विध्वंसनधर्ममेव तद्,
इति विद्वान् कः अगारमावसेत् ॥

३२. परिग्रह इस लोक में भी दुःखावह होता है और परलोक में भी अत्यन्त दुःखावह होता है । वह विध्वंसधर्मा है—ऐसा जानकर कौन घर में रहेगा ?

३३. महया पलिगोव जाणिया
जा वि य वंदणपूयणा इह ।
सुहमे सत्ते दुखदरे
विउमंता पयहिज्ज संयवं । ११।

महान्तं परिगोपं ज्ञात्वा,
यापि च वन्दनपूजना इह ।
सूक्ष्मं शल्यं दुखदरं,
विद्वान् मत्वा प्रजह्यात् संस्तवम् ॥

३३. जो यह बंदना-पूजा है^{२०} वह महा कीचड़ है । वह ऐसा सूक्ष्म शल्य है जो सरलता से नहीं निकाला जा सकता । यह जानकर विद्वान् पुरुष को संस्तव (वंदना-पूजा) का परित्याग करना चाहिए ।

३४. एमे चरे ठाणमासणे
सयणे एमे समाहिण सिया ।
भिक्षू उबहाणवोरिए
वइगुले अउभत्थसंबुडे । १२।

३५. जो पोहे न यावणुणे
वारं सुण्णघरस्स संजए ।
पुठ्ठे न जवाहरे वइ
न समुच्छे जो संचरे तणं । १३।

३६. जत्थरथमिए अण्णउले
समविसर्माणि मुणी हियासए ।
चरगा अबुवा वि भेरवा
अबुवा तत्थ तिरोसिवा सिया । १४।

३७. तिरिया मणुया य विव्वणा
उबसगा तिविहा धियासए ।
लोमावीयं पि न हरिसे
सुण्णगारगए महामुणी । १५।

३८. जो अभिकंखेज्ज जीवियं
जो वि य पूयणपत्थए सिया ।
अउभत्थमुबेति भेरवा
सुण्णगारगयस्स भिक्षुणो । १६।

३९. उबणीयतरस्स ताइणो
भयमाणस्स विविक्कमासणं ।
सामाइयमाहु तस्स जं
जो अप्पाण भए न दंसए । १७।

४०. उसिणोवणतत्तमोइजो
धम्मठियस्स मुणिस्स होमतो ।
संसग्गि असाहु राइहि
असमाही उ तहमायस्स वि । १८।

एकचरेत् स्थानासने,
सबने एकः समाहितः स्वात् ।
भिक्षुः उपधानवीर्यः,
वाग्गुप्तः अध्यात्मसंवृतः ॥

नो पिदम्मात् न च अपवृणुयात्,
द्वारं शून्यगृहस्य संयतः ।
पृष्टः नोदाहरेत् वाचं,
न समुच्छिन्वात् नो संस्तृणुयात्
तृणम् ॥

यत्रास्तमितः अनाकुलः,
समविषमाणि मुनिः अध्यासीत ।
चरकाः अथवाऽपि भैरवाः,
अथवा तत्र सरोसृपाः स्युः ॥

तैरपवान् मानुषान् च दिव्यकान्,
उपसर्गान् त्रिविधान् अध्यासीत ।
लोमादिकमपि न हृष्येत,
शून्यागारगतो महामुनिः ॥

नो अभिकाक्षेत् जीवितं,
नो अपि च पूजनप्रार्थकः स्यात् ।
अभ्यस्तमुपयन्ति भैरवाः,
शून्यागारगतस्य भिक्षोः ॥

उपनीततरस्य त्रायिणः,
भजमानस्य विविक्तमासनम् ।
सामायिकमाहुः तस्य यत्,
यः आत्मानं भये न दर्शयेत् ॥

उष्णोदकतप्तमोजिनः,
धर्मस्थितस्य मुनेः ह्योमतः ।
संसर्गः असाधुः राजभिः,
असमाधिस्तु तथागतस्याऽपि ॥

३४. वचन का संयम, मन का संवर और
तपस्या में शक्ति को लगाने वाला भिक्षु
अकेला^१ चले और कायोत्सर्ग करे,
अकेला बैठे और सोए तथा अकेला
ध्यान करे ।

३५. "एकलविहारी मुनि शून्यगृह का"^२ द्वार
न बंद करे और न खोले । पूछने पर
न बोले,^३ न घर का प्रमार्जन करे और
न घास बिछाए ।

३६. (चलते-चलते) जहाँ सूर्य अस्त हो
(वहीं) ठहर जाए) । सम या विषम—
जैसा भी स्थान मिले उसे अनाकुलमान
से सहन करे, चाहे वहाँ बीटी, लटमल
आदि^४ अथवा भैरव (पिशाच, हिंस्र-
पशु) आदि, अथवा साँप आदि हों ।

३७. शून्यगृह में ठहरा हुआ महामुनि
तिर्यञ्चकृत, मनुष्यकृत और देवकृत—
इन तीनों प्रकार के उपसर्गों को सहन
करे तथा भय से रोमाञ्चित न हो ।

३८. वह भिक्षु न जीवन की आकांक्षा करे
और न पूजा का प्रार्थी बने । शून्यगृह
में ठहरे हुए मुनि के लिए भैरव
(पिशाच, श्वापद आदि कृत उपसर्ग)
अभ्यस्त हो जाते हैं ।

३९. आत्मा के अत्यन्त निकट पहुँचे हुए,
त्रायी^५, एकान्त आसन का^६ सेवन
करने वाले और जो (परीषद् तथा उप-
सर्ग आने पर) भय से विचलित नहीं
होता, उस साधक के सामायिक होता
है ।

४०. गर्म और तप्त जल को पीने वाले,^७
धर्म में स्थित और लज्जा-सहित मुनि
के लिए राजा का संसर्ग अच्छा नहीं
होता, क्योंकि उससे तथागत (अप्रमत्त)
के^८ भी असमाधि होती है ।^९

४१. अहिगरणकरस्स भिक्खुणो
वयमानस्स पसण्णं वारुणं ।
अट्ठे परिहायई बहू
अहिगरणं न करेज्ज पंडिए । १६।

४२. सीओइण पडिबुगंछिणो
अपडिणस्स लबावसक्किणो ।
सामाइयमाहु तस्स जं
जो गिहिमसेऽसणं न भुंजई । २०।

४३. न य संखयमाहु जीवियं
तह बि य बालज्जो पगम्भई ।
बाले पावेहि मिज्जई
इइ संखाय मुणो न भज्जई । २१।

४४. छंडेण पलेतिमा पया
बहुमाया मोहेण पाउडा ।
बियडेण पलेति माहणे
सीउण्हं वयसा हियासए । २२।

४५. कुअए अपराजिए जहा
अक्खेहि कुसलेहि वीवयं ।
कउमेव गहाय णो कलि
णो तेयं णो चेव बावरं । २३।

४६. एवं लोणम्म ताइणा
बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्हं हियं ति उत्तमं
कडमिब सेसवहाय पंडिए । २४।

४७. उत्तर मणुयान आहिया
गामधम्म इति मे अणुत्सुयं ।
जंसी बिरया समुट्ठिया
कासबस्स अनुधम्मचारिणो । २५।

अधिकरणकरस्य भिक्षोः,
वदतः प्रसह्य दारुणम् ।
अर्थः परिहोयते बहुः,
अधिकरणं न कुर्यात् पंडितः ॥

शीतोदकस्य प्रतिजुगुप्सिनः,
अप्रतिज्ञस्य लबावध्वक्किनः ।
सामायिकमाहुः तस्य यद्,
यो गृह्यमन्त्रे अशनं न भुङ्क्ते ॥

न च संस्कृतमाहुः जीवितं,
तथाऽपि च बालजनः प्रगल्भते ।
बालः पापैर्मयिते,
इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ॥

छन्देन प्रलीयते इयं प्रजा,
बहुमाया मोहेन प्रावृता ।
विकटेन प्रलीयते ब्राह्मणः,
शीतोष्णं वचसा अध्यासीत ॥

कुजयोऽपराजितो यथा,
अक्षैः कुशलैः दीव्यन् ।
कृतमेव गृहीत्वा नो कलिं,
नो त्रेतं नो चैव द्वापरम् ॥

एवं लोके त्रायिणा,
उक्तो यो धर्मः अनुत्तरः ।
तं गृहाण हितं इति उत्तमं,
कृतमिव शेषमपहाय पंडितः ॥

उत्तराः मनुष्याणां आख्याताः,
ग्राम्यधर्माः इति मया अनुश्रुतम् ।
यस्मिन् विरताः समुत्थिताः,
काश्यपस्य अनुधर्मचारिणः ॥

४१. कलह करने वाले, तिरस्कारपूर्ण और
कठोर वचन बोलने वाले भिक्षु का
परम^{१६} अर्थ नष्ट हो जाता है, इसलिए
पण्डित भिक्षु को कलह नहीं करना
चाहिए ।

४२. शीतोदक (सजीव जल)^{१७} न पीने
वाले,^{१८} निष्काम^{१९}, प्रवृत्ति से दूर रहने
वाले^{२०} और जो गृहस्थ के पात्र में
भोजन नहीं करता^{२१}, उस साधक के
सामायिक होता है ।

४३. (टूटे हुए) जीवन-धून को जोड़ा नहीं
जा सकता । फिर भी अज्ञ मनुष्य (हिंसा
आदि करने में) घृष्ट होता है । वह
अज्ञ (अपने हिंसा आदि आचरणों द्वारा
जनित) पाप-कर्मों से भरता जाता है—
यह जानकर मुनि मद नहीं करता ।

४४. बहुत माया वाली, मोह से ढकी हुई
यह जनता स्वेच्छा से विभिन्न गतियों
में पर्यटन करती है । मुनि सरल भाव
से संयम में लीन रहता है और वचन
(मन और काया) से शीत और उष्ण
को सहन करता है ।

४५-४६. जैसे अपराजित द्यूतकार कुशल
द्यूतकारों के साथ खेलता हुआ कृत
दाव को ही लेता है, कलि, त्रेता या
द्वापर को नहीं लेता । इसी प्रकार इस
लोक में त्रायी (महावीर) के द्वारा
कथित जो अनुत्तर धर्म है उसको कृत
दाव की भांति हितकर और उत्तम
समझकर स्वीकार करे । जैसे सफल
द्यूतकर शेष सभी दावों को छोड़कर
केवल कृत को ही लेता है, उसी प्रकार
पंडित मुनि, सब कुछ छोड़कर, धर्म
को ही ग्रहण करे ।

४७. मैंने परंपरा से यह सुना है^{२२}—ग्राम्य-
धर्म (मैथुन) मनुष्यों के लिए सब
विषयों में प्रधान^{२३} कहा गया है । किंतु
काश्यप (महावीर या ऋषभ)^{२४} के
द्वारा आचरित धर्म का अनुचरण करने
वाले मुनि^{२५} उत्थित होकर उससे
विरत रहते हैं ।

४८. ओ एय चरन्ति आह्वयं
आएण महया महेसिणा ।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया
अण्णोणं सारंति धम्मओ । २६।

४९. आ पेह पुरा पणामए
अभिकंखे उव्वहि धुणित्तए ।
ओ वूवण ण ते हि णो जया
ते जाणंति समाहिमाह्वयं । २७।

५०. णो काहिए होज्ज संजए
पासणिए ण य संपसारए ।
णत्था धम्मं अणुत्तरं
कयकिरिए य ण पाबि मामए । २८।

५१. छणं च पसंस णो करे
ण य उक्कोस पगास माहणे ।
तेसि सुविवेगमाहिए
पणया जेहि सुक्कोसियं धुयं । २९।

५२. अणिहे सहिए सुसंवुडे
धम्मट्ठी उव्वहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहित्विए
आसहितं कुव्वेण सम्भते । ३०।

५३. ण हि णूण पुरा अणुत्सुयं
अवुवा तं तह णो अणुट्ठियं ।
मुणिणा सामाहिमाह्वयं
आतएण अणसम्भवंसिणा । ३१।

ये एनं चरन्ति आह्वतं,
ज्ञातेन महता महर्षिणा ।
ते उत्थिताः ते समुत्थिताः,
अन्योन्यं सारयन्ति धर्मतः ॥

मा प्रेक्षस्व पुरा प्रणामकान्,
अभिकांक्षेद् उपधि धूनयितुम् ।
ये दुरुपनता न ते हि नो नताः,
ते जानन्ति समाधिमाहृतम् ॥

नो काथिको भवेत् संयतः,
प्राश्निकः न च संप्रसारकः ।
ज्ञात्वा धर्मं अनुत्तरं,
कृतक्रियः च न चापि मामकः ॥

छन्नं च प्रशंसां नो कुर्यात्,
न च उत्कर्षं प्रकाशं ब्राह्मणः ।
तेषां सुविवेक आहृतः,
प्रणताः यैः सुजुष्टं धृतम् ॥

अस्निहः सस्वहितः सुसंवृतः,
धर्मार्थी उपघानवीर्यः ।
विहरेत् समाहितेन्द्रियः,
आत्महितं दुःखेन लभ्यते ॥

न हि नूनं पुरा अनुश्रुतं,
अथवा तत् तथा नो अनुष्ठितम् ।
मुनिना सामाधिकं आहृतं,
ज्ञातकेन अणत्सर्वदशिना ॥

४८. जो महान् महर्षि ज्ञातपुत्र द्वारा कथित
धर्म का आचरण करते हैं वे उत्थित
हैं, समुत्थित हैं । वे एक दूसरे को धर्म
में (धार्मिक प्रेरणा से) प्रेरित करते
हैं ।

४९. पूर्वकाल में भुक्त भोगों की ओर न
देखें । उपधि (मान या कर्म) को दूर
करने की अभिलाषा करें । जो विषयो
के प्रति नत होते हैं वे स्वास्थ्यात
समाधि को नहीं जान पाते और जो
उनके प्रति नत नहीं होते वे ही
स्वास्थ्यात समाधि को जान पाते हैं ।

५०. संयमी भोजन आदि की कथा न करे,
साक्षी (मध्यस्थ या पंच) न बने, लाभ-
अलाभ, मुहूर्त आदि न बताए, अनु-
त्तर धर्म को जानकर गृहस्थ के द्वारा
किए गए आरम्भ की प्रशंसा न करे
और 'यह मेरा है, मैं इसका हूँ'—इस
प्रकार ममत्व न करे ।

५१. मुनि माया और लोभ का आचरण न
करे । मान और क्रोध न करे ।
जिन्होंने धृत का सम्यक् अभ्यास
किया है और जो (धर्म के प्रति) प्रणत
हैं उन्हें सम्यक् विवेक उपलब्ध हो
गया है ।

५२. मुनि स्नेह रहित, आत्महित में रत,
सुसंवृत, धर्मार्थी, तप में पराक्रमी और
ज्ञात इन्द्रिय वाला होकर विहार करे ।
आत्महित की साधना बहुत दुर्लभ
है ।

५३. विश्व में सर्वदर्शी ज्ञातपुत्र मुनि ने जो
सामाधिक का आख्यान किया है वह
निश्चित ही पहले अनुश्रुत—परंपरा-
प्राप्त नहीं है अथवा वह जैसे होना
चाहिए वैसे अनुष्ठित नहीं है ।

५४. एवं मत्ता महन्तरं
धम्ममिणं सहिया बहू जणा ।
गुणो छंदाणुबसगा
विरया तिण्ण महोधमाहियं ।३२।

—ति वेमि ॥

एवं मत्वा महदन्तरं,
धर्ममिमं सहिताः बहवो जनाः ।
गुरोः छन्दानुवर्तकाः,
विरताः तीर्णाः महौघमाहृतम् ॥

—इति ब्रवीमि ।

५४. इस प्रकार (समाधिक की पूर्व परंपरा और वर्तमान परंपरा के) महान् अन्तर को जानकर, धर्म को समझकर, आत्महित में रत, गुरु के अभिप्रायानुसार चलने वाले, विरत बहुत सारे मनुष्य इस संसार समुद्र का पार पा गए हैं ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

तइमो उद्देशो : तीसरा उद्देशक

५५. संबुडकम्मस्स भिक्खुणो
जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए ।
तं संजमओऽवचिज्जई
मरणं हेव्व वयंति पंडिया ।१।

५६. जे विण्णवणाहिऽओसिया
संतिण्णेहि समं वियाहिया ।
तम्हा उड्डं ति पासहा
अदक्खू कामाई रोगवं ।२।

५७. अगं वणिएहि आहियं
धारंती रायावया इहं ।
एवं परमा महब्बया
अक्खाया उ सराइभोयणा ।३।

५८. जे इह सायानुगा नरा
अक्खोववण्णा कामेहि मुच्छिया ।
क्खिण्णेण समं पगभिभया
न वि जायंति समाहिमाहियं ।४।

५९. बाहेण जहा व विच्छए
अबले होइ गवं पखोइए ।
से अंतसो अप्पयामए
पार्द्व चए अबले विसयेइ ।५।

संवृतकर्मणः भिक्षोः,
यत् दुःखं स्पृष्टं अबोध्या ।
तत् समयतः अपचीयते,
मरणं हित्वा व्रजन्ति पंडिताः ॥

ये विज्ञापनाभिः अजुष्टाः,
सन्तीर्णैः समं व्याहृताः ।
तस्मात् ऊर्ध्वमिति पश्यत,
अद्राक्षुः कामान् रोगवत् ॥

अग्रं वणिग्भिराहितं,
धारयन्ति राजकाः इह ।
एवं परमाणि महाव्रतानि,
आख्यातानि तु सरात्रिभोजनानि ॥

ये इह सातानुगाः नराः,
अध्युपपन्नाः कामेषु मूर्च्छिताः ।
कृपणेन समं प्रगल्भिताः,
नापि जानन्ति समाधिमाहृतम् ॥

व्याघ्रेण यथा वा विक्षतः,
अबलो भवति गौः प्रचोदितः ।
स अन्तशः अल्पस्थामा,
नातीव शक्नोति अबलो विषीदति ॥

५५. संवृत कर्म वाले^१ भिक्षु के जो अज्ञान के द्वारा^२ दुःख (कर्म)^३ स्पृष्ट होता है^४ वह समय के द्वारा विनष्ट हो जाता है । (उसके विनष्ट होने पर) पंडित मनुष्य मरण (कर्म या संसार) को छोड़कर (मोक्ष) चले जाते हैं ।

५६. जो स्त्रियों के प्रति^१ अनासक्त हैं,^२ वे (संसार को) तरे हुए के समान कहे गए हैं । इसलिए तुम ऊर्ध्व (मोक्ष) की ओर^३ देखो, कामभोगों को रोग के समान देखो ।

५७. व्यापारियों द्वारा लाए गए श्रेष्ठ (रत्न, आभूषण आदि) को^१ राजा लोग धारण करते हैं, वैसे ही रात्रि-भोजन-विरमण सहित पांच महाव्रत परम बतलाए गए हैं ।^२ (उन्हें संयमी मनुष्य धारण करते हैं ।)

५८. जो सुख के पीछे दौड़ने वाले हैं^१, आसक्त हैं^२, कामभोगों में मूर्च्छित हैं, कृपण के समान ढीठ हैं^३, वे महावीर द्वारा कथित समाधि को नहीं जान सकते ।

५९-६०. जैसे गाड़ीवान् द्वारा^१ प्रताड़ित और प्रेरित बैल अन्त में अल्प-प्राण हो जाता है (तथा) वह दुर्बल होकर गाड़ी को विषम मार्ग में नहीं खींच पाता,

६०. एवं कामेसणाविद्धं
अञ्ज सुए पयहेज्ज संखवं ।
कामी कामे ण कामए
सद्धे वा वि असद्ध कण्ठुइ । ६।

एवं कामेसणाविद्धान्,
अथ श्वः प्रजह्यात् संस्तवम् ।
कामी कामान् न कामयेत्,
लब्धान् वापि अलब्धान् कुतश्चित् ॥

कीचड में फंस जाता है—

इसी प्रकार कामेसणा को जानने वाला (काम के संत्रास से पीड़ित होकर सोचता है कि) मुझे आज या कल यह संस्तव (काम-भोग)^{६०} छोड़ देना चाहिए । (यह उस संस्तव को छोड़ना चाहते हुए भी कुटुम्बपोषण आदि के दुरुष्ों से प्रताड़ित और प्रेरित होकर उन्हें छोड़ नहीं पाता । प्रत्युत् उस बेल की भांति अल्प-प्राण होकर उनमें निमग्न हो जाता है ।) इसलिए मनुष्य कामी होकर कहीं भी प्राप्त या अप्राप्त कामों की कामना न करे ।

६१. मा पच्छ असाधुता भवे
अप्पेही अणुसास अप्पणं ।
अहियं च असाधु सोयई
से षणई परिदेवई बहं । ७।

मा पश्चाद् असाधुता भवेत्,
अत्येहि अनुशाधि आत्मकम् ।
अधिकं च असाधुः शोचति,
स स्तनति परिदेवते बहु ॥

६१. मरणकाल में असाधुता (लोक या अनुताप) न हो इसलिए तू कामभोगों का अतिक्रमण कर अपने को अनुशासित कर । (जितना अधिक) जो असाधु होता है वह उतना ही अधिक शोक करता है, क्रन्दन करता है और बहुत विलाप करता है ।^{६१}

६२. इह जीवियमेव पासहा
तरुण एव वाससयस्स तुट्ठई ।
इत्तरवासं च बुद्धहा
गिद्ध जरा कामेसु मुच्छिय्या । ८।

इह जीवितमेव पश्यत,
तरुण एव वर्षशतस्य त्रुट्यति ।
इत्तरवासं वा बुध्यध्वं,
गृद्धाः नराः कामेषु मूर्च्छिताः ॥

६२. यहीं जीवन को देखो । सी बचं जीने वाला मनुष्य तारुण्य में ही मर जाता है । यह जीवन अल्पकालिक-वास है^{६२}, इसे तुम जानो । (फिर भी) आसक्त मनुष्य कामभोगों में मूर्च्छित रहते हैं ।

६३. जे इह आरंभणिस्सिया
आयवंड एगंतसुसगा ।
गंता ते पावलोगयं
चिररायं आसुरियं विसं । ९।

ये इह आरंभनिश्चिताः,
आत्मदण्डाः एकान्तलूषकाः ।
गन्तारस्ते पापलोकक,
चिररात्रं आसुरीया दिशम् ॥

६३. जो हिंसा-परायण, आत्मवादी^{६३} और विजन में लूटने वाले हैं^{६३} वे नरक में जायेंगे और उस आसुरी दिशा में^{६३} चिरकाल तक रहेंगे ।

६४. ण व संसयमाहु जीवियं
तह वि य बालजणो पगम्भई ।
पणुप्पण्णेण कारियं
के वट्ठं परलोगमागए ? । १०।

न च संस्कृतमाहुः जीवितं,
तथापि च बालजनः प्रगल्भते ।
प्रत्युत्पन्नेन कार्यं,
कः दृष्ट्वा परलोकमागतः ?

६४. (द्रुटे हुए) जीवन को संशय नहीं जा सकता । फिर भी अज्ञानी मनुष्य घृष्टता करता है—हिंसा आदि में प्रवृत्त होता है । (यह सोचता है) मुझे वर्तमान से प्रयोजन है । परलोक को देखकर कौन लौटा है ?

६५. अवक्खुव ! वक्खुवाहियं
सहस्रं अवक्खुवंसणा ! ।
हंवि ! हु मुणिसद्वसंसे
मोहणीयेण कडेव कण्ठुका । ११।

अद्रष्टवत् ! द्रष्टव्याहृतं,
अदृष्टव्यं अद्रष्टवर्षेणः !
हन्त ! ससु सुनिद्वर्षेणः,
मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥

६५. हे अन्धतुल्य ! हे द्रष्टा के दर्शन से मूर्ख ! (हे अवर्णदर्शी !) तुम द्रष्टा के वचन पर श्रद्धा करो । अपने किए हुए मोहनीय कर्म के द्वारा तुम्हारा वसन निश्च है, इसे तुम जानो ।^{६५}

६६. दुःखी मोहे पुणो पुणो
निर्विचयेज्ज सिसोणपुयणं ।
एवं सहिएऽहिपासए
आयतुलं पाणेहि संजए । १२।

६७. गारं पि य आवसे जरे
अणुपुणं पाणेहि संजए ।
समया सव्वत्थ सुव्वए
देवानं गच्छे सजोगयं । १३।

६८. सोज्जा भगवानुसासनं
सज्जे तत्थ करेज्जुव्वकमं ।
सव्वत्थ विणीयमच्छरे
उंछं भिक्षु विमुद्धमाहरे । १४।

६९. सव्वं गज्जा अहिट्टए
धम्मट्ठी उव्वहाणवीरिए ।
गुत्ते जुत्ते सया जए
आयपरे परमायतट्टिए । १५।

७०. वित्तं पसवो य जाइओ
तं बाले सरणं ति मण्णई ।
एए मम तेसि वा अहं
ओ ताणं सरणं ण विज्जई । १६।

७१. अभ्यागमियम्मि वा दुहे
अहवोवक्कमिए भवन्तिए ।
एगस्स गई य आगई
बिहु संता सरणं ण मण्णई । १७।

७२. सज्जे सयकम्मकप्पिया
अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंवंति भयाडला सडा
आइअरामरणेरहिंभिवुया । १८।

दुःखी मोहे पुनः पुनः,
निर्विद्यात् श्लोकपूजनम् ।
एवं सहितः अधिपश्येद्,
आत्मतुलां प्राणैः संयतः ॥

अगारमपि च आवसन् नरः,
अनुपूर्वं प्राणेषु संयतः ।
समता सर्वत्र सुव्रतः,
देवानां गच्छेत् सलोकताम् ॥

श्रुत्वा भगवदनुशासनं,
सत्ये तत्र कुर्यादुपक्रमम् ।
सर्वत्र विनीतमत्सरः,
उच्छं भिक्षुः विशुद्धमाहरेत् ॥

सर्वं ज्ञात्वा अधितिष्ठेत्,
धर्मार्थी उपधानवीर्यः ।
गुप्तः युक्तः सदा यतः,
आत्मपरः परमायताधिकः ॥

वित्तं पशवश्च ज्ञातयः,
तद् बालः शरणं इति मन्यते ।
एते मम तेषां वा अहं,
नो त्राण शरणं न विद्यते ॥

अभ्यागमिके वा दुःखे,
अथवा औपक्रमिके भवान्तिके ।
एकस्य गतिश्च आगतिः,
विद्वान् मत्वा शरणं न मन्यते ॥

सर्वे स्वककर्मकल्पिता,
अव्यक्तेन दुःखेन प्राणिनः ।
हिण्डन्ते भयाकुलाः शठाः,
जातिअरामरणेरभिद्रताः ॥

६६. दुःखी मनुष्य पुनः पुनः मोह को प्राप्त होता है । तुम श्लाघा और पूजा से विरक्त रहो । इस प्रकार सहिष्णु^{११}, और संयमी सब जीवों में आत्मतुला को देखे—उन्हें अपने समान समझे ।

६७. मनुष्य गृहवास में रहता हुआ भी क्रमशः प्राणियों के प्रति संयत होता है । वह सर्वत्र समभाव और श्रेष्ठ-व्रतों को स्वीकार कर देवों की सलोकता (देवगति) को प्राप्त होता है ।^{१२}

६८. भगवान् के अनुशासन को^{१३} सुनकर सत्य को पाने का प्रयत्न करना चाहिए । भिक्षु सबके प्रति मात्सर्य^{१४} रहित होकर विशुद्ध उच्छ (माधुकरी भिक्षा)^{१५} लाए ।

६९. धर्मार्थी, तप में पराक्रम करने वाला, मन-वचन और शरीर से गुप्त, समाधिरु^{१६}, स्व और पर के प्रति सदा संयत, मोक्षार्थी^{१७} पुरुष सब (हेय और उपादेय) को जानकर आचरण करे ।

७०. अज्ञानी मनुष्य धन^{१८}, पशु, और जाति-जनों को शरण मानता है । वह मानता है कि ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ । पर ये धन आदि त्राण और शरण नहीं होते ।

७१. अभ्यागमिक (असाता वेदनीय के उदय से होने वाले) दुःख को (अकेला ही भोगता है ।) अथवा औपक्रमिक^{१९} (किसी निमित्त से होने वाली) मृत्यु के आने पर अकेला ही जाता-आता है—यह जानकर विद्वान् पुरुष किसी को शरण नहीं मानता ।

७२. सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों से विभक्त हैं ।^{२०} वे अव्यक्त दुःख से दुःखी, भया-कुल, (तपश्चरण) में आलसी^{२१}, जन्म, अरु और मरण से^{२२} उत्तीक्षित होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं ।

७३. इममेव ज्ञं विद्याजिघा
नो सुलभं बोहि च आह्रियं ।
एवं सहिएऽहिपासए
आह जिने इममेव सेसगा । १६।

इममेव ज्ञं विजानीयात्,
नो सुलभा बोधिश्च आहृता ।
एवं सहितः अधिपश्यति,
आह जिनः इदमेव शेषकाः ॥

७३. 'इसी ज्ञ को' जानो ।' यह आख्यात बोधि' सुलभ नहीं है—यह जानकर ज्ञानी मनुष्य (उस सत्य को) देखे । यह बात ऋषभ ने (अपने पुत्रों से) कही । शेष तीर्थकरों ने भी (जनता से) यही कहा ।

७४. अर्धबिसु पुरा वि निक्खवो
आएसा वि भबिसु सुब्बया ।
एयाहं गुणाहं आहु ते
कासवस्स अणुधम्मचारिणो । २०।

अर्धवन् पुराऽपि भिक्षवः !,
आगमिष्या अपि भविष्यन्ति सुव्रताः ।
एतान् गुणान् आहुस्ते,
काम्यपस्य अनुधर्मचारिणः ॥

७४. हे श्रेष्ठव्रती भिक्षुओ ! अतीत में भी जिन हुए हैं और भविष्य में भी होंगे । उन्होंने इन (बहिंसा आदि) गुणों का निरूपण किया है । उन्होंने काश्यप (भगवान् ऋषभ) के द्वारा' प्रतिपादित धर्म का ही प्रतिपादन किया है ।

७५. तिविहेण वि पाण मा हणे
आयहिए अणियाण संबुडे ।
एवं सिद्धा अनंतगा
संपह जे य अणागयावरे । २१।

त्रिविधेन अपि प्राणान् मा हन्यात्,
आत्महितः अनिदानः संवृतः ।
एवं सिद्धा अनन्तकाः,
संप्रति ये च अनागता अपरे ॥

७५. साधक मन, वचन और काया, कृत, कारित और अनुमति—इन तीनों प्रकारों से किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, आत्मा में लीन रहे, सुखों की अभिलाषा न करे, इन्द्रिय और मन का संयम करे । इन गुणों का अनुसरण कर अनन्त मनुष्य (अतीत में) सिद्ध हुए हैं, कुछ (वर्तमान में) हो रहे हैं और (भविष्य में) होंगे ।

७६. एवं से उदाहु अणुत्तरणाणी
अणुत्तरवंसी अणुत्तरणावसणधरे ।
अरहा णायपुत्ते
भगवं वेसालिए विमाहिए । २२।

एवं स उदाह अनुत्तरजानी,
अनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रः,
भगवान् वेशालिकः व्याहृतः ।

७६. अनुत्तरजानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर-ज्ञान-दर्शनधारी, अर्हन्, ज्ञातपुत्र, वेशालिक और व्याख्याता भगवान् ने ऐसा कहा है ।

—ति वेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन २

श्लोक १ :

१. श्लोक १ :

जागना दुर्लभ है—यही प्रस्तुत श्लोक का हार्द है। जो वर्तमान क्षण में जागृत नहीं होता, समय की प्रतीक्षा में रहता है, वह जाग नहीं पाता। कोई भी व्यक्ति युवा होकर पुनः शिशु नहीं होता और बूढ़ होकर पुनः युवा नहीं होता। शैशव और यौवन की जो रात्रियाँ बीत जाती हैं वे फिर लौटकर नहीं आती। जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता, इसलिए जागृति के लिए वर्तमान क्षण ही सबसे उपयुक्त है। जो मनुष्य भविष्य में जागृत होने की बात सोचते हैं वे अपने आपको आत्म-प्रवर्चना में डाल देते हैं।

श्लोक २ :

२. श्लोक २ :

आचारांग सूत्र में बताया गया है कि मृत्यु के लिए कोई अनागम नहीं है—वह किसी भी अवस्था में आ सकती है।^१ प्रस्तुत श्लोक का हृदय यह है कि जो वर्तमान अवस्था में जागृत नहीं होता वह भावी अवस्था में जागने की आशा कैसे कर सकता है? मृत्यु के लिए कोई अवस्था निश्चित नहीं है, इस स्थिति में वर्तमान क्षण ही जागृति का क्षण हो सकता है।

३. बटेर (बट्टयं)

बटेर तीतर की जाति का एक पक्षी है जो तीतर से कुछ बड़ा होता है।^२

श्लोक ३ :

४. श्लोक ३ :

कुछ मनुष्य माता-पिता आदि स्वजन वर्ग के स्नेह से बंधकर जागृत नहीं होते। वे सोचते हैं कि माता-पिता आदि की मृत्यु हो जाने पर हम जागृत बनेंगे। किन्तु यह कौन जानता है कि माता-पिता की मृत्यु पहले होगी या सन्तान की? इस अनिश्चित अवस्था में जागृति के प्रश्न को भविष्य के लिए नहीं छोड़ा जा सकता।

जागृति का अर्थ है—अहिंसा और अपरिग्रह की चेतना का निर्माण। जो हिंसा और परिग्रह की चेतना निमित्त करता है, वह सदा सुप्त रहता है।

परिग्रह हिंसापूर्वक होता है। अहिंसक के परिग्रह नहीं होता। परिग्रह के लिए हिंसा होती है, इसलिए हिंसा और परिग्रह—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। जो परिग्रह का निर्देश हो वहाँ हिंसा का और जहाँ हिंसा का निर्देश हो वहाँ परिग्रह का निर्वेश स्वयं गम्य है।^३

५. सुगति (सुकुल में जन्म) (सुगई)

चूणिकार ने इसका अर्थ सुकुल किया है।^४ वृत्तिकार इसका अर्थ सुगति (अच्छी गति) करते हैं।^५

१. आपारो ४।१६ : नापगमो मच्छुमुहस्त अस्ति ।

२. (क) चूणि, पृ० ५२ : बट्टया नाम तिसिरजातिरेव ईषदधिकप्रमाणा उक्ता वार्तकाः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ५६ : बल्लकं तिसिरजातीयम् ।

३. चूणि, पृ० ५२ : आरम्भो नाम असंयमः अनुक्तमपि शायते परिग्रहाच्च । कथम् ? आरम्भपूर्वको परिग्रहः स च निरारम्भस्य न भवतीत्यत आरम्भग्रहणम् ।

४. बही, पृ० ५२ : सुगतिर्नाम सुकुलम् ।

५. वृत्ति पत्र ५६ ।

श्लोक ४ :

६. सुप्त होते हैं (सुप्यन्ति)

नरक आदि गतियों में प्राणी विविध दुःखों से पीड़ित होते हैं। वे सारे सुख-सुविधा के स्थानों से द्युत हो जाते हैं।^१

७. श्लोक ४ :

प्रस्तुत श्लोक में तीन सिद्धास्त प्रतिपादित हैं—

१. जीवों के कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं।
२. कर्म स्वयं द्वारा कृत होता है, किसी अन्य के द्वारा नहीं।
३. कृत-कर्म का फल भुगते बिना उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

श्लोक ५-६ :

८. देव (देवा)

श्रृणिकार ने 'देव' शब्द से वानव्यन्तर देवों का^१ और वृत्तिकार ने ज्योतिष्क तथा सौधर्म आदि देवों का ग्रहण किया है।^२

९. श्लोक ५ :

मनुष्य अपने मोह के कारण अनित्य को नित्य मानकर उसमें आसक्त हो जाता है। उसकी आसक्ति जागृति में बाधा बनती है। अनित्यता का बोध उस बाधा के व्यूह को तोड़ता है। देव और मनुष्य के भोग अनित्य हैं। उनका जीवन ही अनित्य है तब उनके भोग नित्य कैसे हो सकते हैं? इस सत्य का बोध हो जाने पर मनुष्य जागृति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है।

श्लोक ६ :

संकल्प से काम और काम से संस्तव (गाह परिचय) उत्पन्न होता है। उससे कर्म का बन्ध होता है। मनुष्य जब मरता है तब कामनाएँ और परिचित भोग उसके साथ नहीं जाते। वह उनके द्वारा अजित कर्म-बन्धनों के साथ परलोक में जाता है। स्वभावतः या किसी निमित्त से मृत्यु के आने पर मनुष्य का जीवन-सूत्र टूट जाता है। काम और परिचित भोग-सामग्री यहाँ रह जाती है और वह कहीं अन्यत्र चला जाता है। संयोग का अन्त वियोग में और जीवन का अन्त मरण में होता है, इसलिए मनुष्य को जागरण की दिशा में प्रयत्न नहीं होना चाहिए।

श्लोक ७ :

१०. बहुभुत (शास्त्र-पारगामी) (बहुस्तुए)

श्रृणिकार ने इसका कोई अर्थ नहीं किया है।

वृत्तिकार ने आगम और उसके अर्थ के पारगामी को बहुभुत माना है।^३

११. धार्मिक (न्यायवेत्ता) (धम्मिए)

श्रृणिकार ने धार्मिक का अर्थ 'न्यायवेत्ता'^४ और वृत्तिकार ने धर्मशील किया है।^५

१२. मायाकृत अस्त आचरण में (अभिज्जमकडोहि)

नम के दो अर्थ हैं—माया और कर्म। प्राणी विषयों के द्वारा उन (माया और कर्म) के अभिमुख होते हैं। इसलिए श्रृणिकार

१. जूनि, पृ० ५२ : नरकादिषु विविधैर्दुःखैर्मुप्यन्ते सर्वसुखस्थानेभ्यश्च व्यच्यन्ते।

२. बही, पृ० ५३ : देवग्रहणाद् भागमंतरदेवाः।

३. वृत्ति, पत्र ५७ : देवा ज्योतिष्कसौधर्मज्ञाः।

४. बही, पत्र ५७ : बहुभुताः शास्त्रार्थपारगाः।

५. जूनि, पृ० ५३ : धर्मे नियुक्ता धार्मिकः।

६. वृत्ति, पत्र ५७ : धार्मिका धर्मचरणशीलाः।

ने 'अभिनूयकर' का अर्थ विषय किया है। वृत्तिकार ने 'अभिनूयकृत' पाठ के अनुसार उसका अर्थ माया या कर्म के द्वारा कृत असद् अनुष्ठान किया है।

१३. मूर्च्छित होता है (मुच्छिद्य)

मूर्च्छा जागृति में बाधक है। विषयो में मूर्च्छित होने वाला गृहस्थ ही कर्मों से बाधित नहीं होता, किन्तु ब्राह्मण और भिक्षु भी विषयों में मूर्च्छित होकर कर्मों से बाधित होता है।

श्लोक ८ :

१४. धृत की कथा (धृतं)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ वैराग्य दिया है। मतान्तर के अनुसार इसका अर्थ है—चारित्र्य।

१५. गृहस्थी को ही.....प्रव्रज्या को नहीं (आरं.....परं)

'आरं' के तीन अर्थ प्राप्त हैं—

१. गृहस्थी।
२. इहलोक।
३. संसार।

'परं' के भी तीन अर्थ हैं—

१. प्रव्रज्या।
२. परलोक।
३. मोक्ष।

१६. (जाहिंसी.....किञ्चिद्)

सही अर्थ में प्रव्रजित वह होता है जो विषय और वासना—दोनों से मुक्त होता है। जो विषय से मुक्त होकर भी वासना से मुक्त नहीं होता वह प्रव्रजित के वेष में गृहस्थ होता है। जिसके अन्तःकरण में वैराग्य का बीज अंकुरित नहीं होता फिर भी जो वैराग्य का उपदेश देता है परंतु स्वयं उसका आचरण नहीं करता, उसके साथ रहकर कोई व्यक्ति प्रव्रजित और गृहस्थ का अन्तर कैसे जान सकता है? संसार और मोक्ष का भेद कैसे जान सकता है? इस भेद को नहीं जानने वाला अधर में होता है—न पूरा गृहस्थ होता है और न पूरा प्रव्रजित। यह कर्म (कामनाजनित प्रवृत्ति) को छिन्न करने का नहीं किन्तु उससे छिन्न होने का मार्ग है। यह जागृति का विघ्न है, इसलिए आचार्य ने शिष्य को सावधान किया है।

विवेक, यतना, समय, जागरूकता और अप्रमाद—ये सब एकार्यक हैं।

श्लोक ९ :

१७. नग्न रहता है, बेह को कृश करता है (णिगिणे किसे)

नग्नत्व अकिञ्चनता का सूचक है। कृशत्व तपस्या का सूचक है। अकिञ्चनता और तपस्या—ये दोनों निर्वाण के हेतु हैं,

१. जूणि, पृ० ५३ : नृमं नाम कर्म माया वा, अभिमुखं नृमीकुर्वन्तीति अभिनूयकराः विषयाः।
२. वृत्ति, पत्र ५७ : तेष्याभिमुख्येन नृमं न्ति कर्म माया वा तत्कृतं असदनुष्ठानैः।
३. जूणि, पृ० ५३ : धृतं नाम येन कर्माणि विधूयन्ते, वैराग्य इत्यर्थः। चारित्र्यमपि केचिद् अणगतिः।
४. (क) जूणि, पृ० ५४ : आरं गृहस्थत्वम्, परं प्रव्रज्या।.....आरमिति अयं लोकः परस्तु परलोकः। अयं सोत्रोऽर्थः—आरः संसारः, परः मोक्षः।
- (ख) वृत्ति, पत्र ५७, ५८।
५. जूणि, पृ० ५४ : णिगिणो नाम नग्नः। कृशस्तपोनिष्ठत्वाद् आतापमाविभिः।

किन्तु साधन नहीं हैं। उसका साधन है—कषायमुक्ति। आन्तरिक कषायों से मुक्ति मिले बिना नग्नता और तपःजनित कुशला होने पर भी निर्वाण उपलब्ध नहीं होता। इसलिए इस वास्तविकता की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि निर्वाण-प्राप्ति का साधन (साधकतम उपाय) कषायमुक्ति ही है।

श्लोक ११ :

१८. हे योगवान् (योगवान्)

चूणिकार ने योगवान् का अर्थ विस्तार से किया है। उनके अनुसार योग का अर्थ है—संयम। योगवान् अर्थात् संयमी। ज्ञानयोग, दर्शनयोग और चारित्र्ययोग—इन पर जिनका अधिकार हो जाता है, वह योगवान् होता है। यह चूणि सम्मत दूसरा अर्थ है। जो समितियों और गुणितियों (मन, वचन और काया) के प्रति सतत उपयुक्त, निरन्तर जागृत होता है वह योगवान् होता है। जो काम कोई दूसरा करता है और चित्त किसी दूसरे काम में लगता है, वह उस क्रिया के प्रति योगवान् नहीं होता। लोकप्रवाद में भी कहा जाता है कि मेरा मन किसी दूसरे काम में लगा हुआ था इसलिए मैं उसे नहीं पहचान सका। शारीरिक क्रिया और मानसिक क्रिया—दोनों एक साथ चले, यह स्वाधीन योग है। स्वाधीन योग वाला व्यक्ति ही योगवान् होता है। चूणिकार ने भावक्रिया के सूत्र को बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति दी है। शरीर की क्रिया और मन का योग नहीं होता उसे द्रव्य-क्रिया कहा जाता है। शरीर और मन की क्रिया का योग भाव-क्रिया है। यह साधना और सफलता का महत्वपूर्ण सूत्र है।

जैन परंपरा में योग, संयम, संवर—ये एकार्थक शब्द हैं। महर्षि पतंजलि ने अपनी साधना पद्धति में 'योग' शब्द को प्रधानता दी है। जैन साधना-पद्धति में संयम और संवर शब्द की प्रधानता है। फिर भी आगमकारों ने अनेक स्थानों पर योग और योगवान् का प्रयोग किया है।

दिगंबर परंपरा में कायक्लेश के छह भेद निर्दिष्ट हैं—अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योग। योग के अनेक प्रकार हैं—आतापनायोग, वृक्षमूलयोग, शीतयोग आदि। देखें—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अन्तर्गत 'कायक्लेश' शब्द।

१९ सूक्ष्म प्राणियों से संकुल हैं (अणुपाणा)

इस पद का अर्थ 'अनुपातरका'—जूते न पहनने वाले—किया जाए तो संभावना से दूर नहीं होगा।

२०. अनुशासन का (अणुसासनं)

हमारी पृथ्वी जीवों से भरी हुई है। यात्रा के मार्ग भी जीवों से खाली नहीं होते। इस स्थिति में अहिंसापूर्वक चलना कैसे संभव हो सकता है? इस विषय में आचार्य ने मार्ग-दर्शन दिया है। यतना (सयम या अप्रमत्तभाव) पूर्वक चलने वाला ही अहिंसक हो सकता है।

इस विषय की समग्र जानकारी के लिये देखें—दसवेआलियं, अध्ययन पात्र और आचार्यबुला अध्ययन तीन।

श्लोक १४ :

२१. श्लोक १४ :

'कर्म शरीर को प्रकंपित कर'—यह इस श्लोक का मुख्य प्रतिपाद्य है। चूणिकार ने कर्म को प्रकंपित कर—यह लिखा है। इसकी स्पष्टता आचार्य (५/५६) के 'धुणे कम्मसरीरगं' इस सूत्र से होती है। शेष श्लोक में प्रकंपन की प्रक्रिया बतलाई गई है। प्रज्ञापना के अनुसार मनुष्य में काम-संज्ञा प्रधान होती है। स्थानांग सूत्र में काम-संज्ञा की उत्तेजना के चार कारण बतलाए हैं।

१. चूणि, पृ० ५४, ५५ : योगो नाम संयम एव, योगो यस्यास्तोति स भवति योगवान्। योगा वा जस्स वसे वट्टति स भवति योगवान् जाणादीया। अथवा योगवानिति समिति-गुणित्वा निरूपयुक्तः, स्वाधीनयोग इत्यर्थः, यो हि अग्र्यत् करोति अग्र्यत् अप्युक्तः स हि तत्प्रवृत्तयोगं प्रति अयोगवानिब भवति। लोकेऽपि च वक्तारो भवन्ति—विमना अहं, तेन मया नोपलक्षितमिति। अतः स्वाधीन-योग एव योगवान्।

२. सूयगडो १।१५।५ आचणाजोगसुद्धया.....। १।८।२७ : आणजोगं समाहद्दु। उत्तरअध्ययणाणि ११।२४ : जोगवं उवहाणवं।

३. चूणि, पृष्ठ ५५ : धुणिया नाम धुणेज्जा कम्मं।

४. प्रज्ञापना ८।८ : मग्गसा.....ओसणकारणं पडुण्ण भेदुणसण्णोवगया....।

उनमें एक कारण है—रक्त और मांस का उपचय ।^१ उपचित रक्त और मांस काम-केन्द्र को उत्तेजित करते हैं। मनुष्य का ऊर्जा-केन्द्र (प्राणशक्ति या कुण्डलिनी शक्ति) काम-केन्द्र के पास अवस्थित है। जिनका काम-केन्द्र उत्तेजित रहता है उसकी ऊर्जा का प्रवाह उर्ध्वगामी नहीं होता। वह कर्मशरीर को प्रकंपित नहीं कर सकता और उसे प्रकंपित किए बिना प्रज्ञा, सहज प्रसन्नता आदि विशिष्ट शक्तियों का विकास नहीं हो सकता। इस दृष्टि से अनशन आदि के द्वारा स्थूल शरीर को कृश करना आवश्यक है। वह कृश होता है, इसका अर्थ है कि कर्मशरीर भी कृश हो रहा है। कर्मशरीर के कृश होने का अर्थ है—राग-द्वेष और मोह कृश हो रहा है। इनके कृश होने का अर्थ है—ज्ञान और दर्शन की शक्ति का विकास।

राग, द्वेष और मोह के कृश होने पर मनुष्य में अहिंसा या विराट् प्रेम का स्रोत प्रवाहित हो जाता है। यह महावीर का अनुभव-वचन है। केवल महावीर का ही नहीं, पूर्ववर्ती सभी तीर्थंकरों का यही अनुभव है। राग, द्वेष और मोह का विलय होने पर सभी ने अहिंसा धर्म का उद्घोष किया। आचारांग सूत्र में इस तथ्य को विस्तार से समझाया गया है।^२

२२. अनुधर्म है (अणुधर्मो)

चूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—^३

१. ऋषभ आदि तीर्थंकरों ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है उसी का प्रतिपादन महावीर ने किया है।
२. सूक्ष्म धर्म।

वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ ये हैं—^४

१. मोक्ष के प्रति अनुकूल धर्म, अहिंसा।
२. परीषद्, उपसर्ग आदि को सहन करने की तितिक्षा।

श्लोक १५ :

२३. अमण (माहणे)

चूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अमण और ब्राह्मण ।^५ वृत्तिकार ने इसका अर्थ अहिंसक किया है ।^६

श्लोक १७ :

२४. पुत्र-प्राप्ति के लिए (पुत्तकारणा)

चूणिकार ने पुत्र की वांछा के तीन हेतु माने हैं—^७

१. कुल-परंपरा को चलाने के लिए।
२. पितृ-पिंडदान के लिए।
३. संपत्ति की सुरक्षा के लिए।

१. ठाणं ४।५८१ : अडहिं ठाणोहि वेहणसण्णा समुप्पज्जति, तं जहा—

चित्तमंससोजिययाए, मोहणज्जस्स कम्मस्स जडएणं, मतीए, तवट्ठोवओणेणं ।

२ आयारो ४।१,२ : से वेमि—जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सब्बे एवमाइक्खंति, एव भासंति, एवं पणवेति, एव परुवेति—सब्बे पाणा सब्बे भूता सब्बे जीवा सब्बे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उह्वेयव्वा । एस धम्मो सुद्धे णिइए सासए समिच्च सोयं ज्ञेयणोहि पवेइए ।

३. चूणि, पृ० ५६ : अनुधर्मो अनु परच्चाव्वावे यथाऽन्येस्तीर्थंकरेस्तथा वर्द्धमानेनापि मुनिना प्रवेदितम् । अणुधर्मः सूक्ष्मो वा धर्मः ।

४. वृत्ति, पत्र ५६ : अनुगतो—मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽणुधर्मः असावहिंसासक्षणः परीषद्दोषसर्गसहनसक्षणश्च धर्मः ।

५. चूणि, पृ० ५६ : समणे त्ति वा माहणे त्ति वा ।

६. वृत्ति, पत्र ५६ : माहणं त्ति वधीरिति प्रवृत्तिर्यस्य स प्राकृतशोभ्या माहणेत्युच्यते इति ।

७. चूणि, पृ० ५६ : पुत्रकारणाद् एकमपि तावत् कुलतत्पुत्रार्थं पितृपिण्डार्थं धनगोप्यार्थं च पुत्रं जनयस्व ।

श्लोक १८ :

२५. निमन्त्रित करते हैं (लाबिया)

चूणिकार ने इसका अर्थ—धन आदि का प्रलोभन देकर अनेक प्रकार से निमन्त्रण देना—किया है।^१

वृत्तिकार से 'लाबयन्ति' के दो अर्थ किए हैं—निमन्त्रित करना, उपसुब्ध करना।^२

श्लोक २१ :

२६. लक्ष्य तक ले जाने वाले (नेयाउयं)

इसका संस्कृत रूप 'नैयायिक' होता है। इसका अर्थ है—ले जाने वाला। चूणि^३ और वृत्ति^४ में यही अर्थ सम्मत है।

कुछ व्याख्या ग्रन्थों में 'नेयाउयं' का अर्थ न्याययुक्त और उसका संस्कृतरूप 'नैयायिक' किया गया है।^५ यह शब्दशास्त्रीय दृष्टि से चिन्तनीय है। नैयायिक शब्द का प्राकृतरूप 'नेयाउय' नहीं बनता। ऋकार को उकार का आदेश होने के कारण 'नैयायिक' का 'नेयाउय' रूप बनता है।

विशेष विवरण के लिए देखें—

उत्तराध्ययनाणि ३।६ का टिप्पण, पृष्ठ २७।

२७. महापथ के प्रति (महाविहि)

चूणिकार ने महावीधि का अर्थ संबोधि-मार्ग, सिद्धिमार्ग किया है।^६ प्रस्तुत अध्ययन का प्रारंभ संबोधि से ही होता है। इसमें उसके विभिन्न उपायों और विघ्नो का उल्लेख किया है।

'महाविहि' शब्द में 'वि' दीर्घ होना चाहिए किन्तु छन्द की दृष्टि से उसे ह्रस्व किया गया है।

श्लोक २३ :

२८. श्लोक २३ :

चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। मनुष्य जब चैतन्य के अनुभव में रहता है तब उसके रज का बंध नहीं होता। जब वह कषाय के अनुभव में रहता है तब उसके रज का बंध होता है। कषाय की अवस्था में होने का अर्थ है—चैतन्य के प्रति जागृत न होना। यह रज के बंध का हेतु है। अकषाय की अवस्था में होना चैतन्य के प्रति जागृत होना है। यह रज को क्षीण करने का हेतु है। इस अवस्था में रज या कर्म परमाणु अपने आप क्षीण होते हैं।^७

मद कषाय का एक प्रकार है। इससे अभिभूत व्यक्ति गोत्र आदि के उत्कर्ष का अनुभव करता है। उत्कर्ष के अनुभव का अर्थ है दूसरों की हीनता का अनुभव करना। समता धर्म की आराधना करने वाले के लिए यह सर्वथा अवाञ्छनीय है। चूणिकार ने 'माहण' शब्द की व्याख्या में बताया है कि अहिंसक सुन्दर होता है और अन्य व्यक्ति अशोभन होते हैं।^८ इस भावना को भी मद का रूप नहीं देना चाहिए।

१. चूणि, पृ० ५७ : लाबिय ति निमन्त्रणा । जइ कामेहि छगेज वा बहुप्यगारं उवाणिमंतेज्ज ।

२. वृत्ति, पत्र ६० : लाबयन्ति उवनिमन्त्रयेयुसवल्लोभयेयुरित्यर्थः ।

३. चूणि, पृ० ५८ : नयतीति नैयायिकः ।

४. वृत्ति, पत्र ६१ : नेतारम् ।

५. (क) उत्तराध्ययन ३।६, चूणि, पृ० ६८, १६२ : नयनतीलो नैयायिकः ।

(ख) वही, वृत्ति पत्र १८५ : नैयायिकः न्यायोपपन्न इत्यर्थः ।

६. चूणि, पृ० ५७ : महाविधिजो हेतु संबोहणमगो भणितोतत्र ब्रह्मचीयो नगर-ग्रामाविपथाः भाववीधो तु सिद्धिपन्थाः ।

७. वही, पृ० ५६ : अकषायत्वेनेति वाक्यशेषः अकषायस्य हि सर्वस्वमिवावहीयते रजः ।

८. वही, पृ० ५६ : माहणो साधू अहिंसगो सुन्दरो अर्णे असोभना ।

२६. रज को (रयं)

रज का शाब्दिक अर्थ है—चिपकने वाला द्रव्य ।'

३०. गोत्र और अन्यतर (कुल, बल, रूप, भुत आदि) (गोमण्णतरेण)

मद के आठ प्रकार हैं—जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, भुतमद, लाभमद और ऐश्वर्यमद ।'

प्रस्तुत शब्द में 'गोत्र' शब्द के द्वारा जाति और कुल का ग्रहण किया गया है। शेष छह मद 'अन्यतर' शब्द के द्वारा गृहीत हैं ।'

श्लोक २४ :

३१. संसार (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि होन जातियों) में (संसारे)

जन्म के आधार पर जातियां पांच हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। इनमें जन्मगत क्षमता की दृष्टि से पञ्चेन्द्रिय जाति श्रेष्ठ है। गोत्र या जाति का अभिमान कर दूसरों की अवज्ञा करने वाला एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि हीन जातियों में जन्म लेता है ।' इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—किसी के प्रति घृणा मत करो, किसी को हीन मत समझो ।'

३२. पाप को उत्पन्न करने वाली या पतन की ओर ले जाने वाली (पाविया)

चूर्णिकार ने 'पातिका' शब्द की व्याख्या की है ।' वृत्तिकार ने पापिका और पातिका—दोनों अर्थ किए हैं। अवज्ञा सदोष है, इसलिए वह पापिका है। वह स्व-स्थान से नीचे की ओर ले जाती है, इसलिए वह पातिका है ।'

श्लोक २५ :

३३. श्लोक २५ :

अनायक का अर्थ है—जिसका कोई नायक—नेता न हो, जो सर्वथा स्वतंत्र हो। जो अनायक होता है वह सर्वोच्च अधिपति होता है।

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि निग्रन्थ परंपरा में व्यक्ति विशेष की पूजा नहीं होती, सयम-पर्याय की पूजा होती है। जो सयम-पर्याय में ज्येष्ठ होता है, वह पश्चात् प्रव्रजित व्यक्तियों द्वारा वन्दनीय होता है। यह बदना की परंपरा सयम-पर्याय की काल-अवधि के आधार पर निर्धारित है।

मनुष्यों में चक्रवर्ती सर्वोच्च अधिपति होता है। इसी प्रकार बलदेव, वासुदेव तथा महामाडलिक राजा भी अपनी-अपनी स्थिति में सर्वोच्च होते हैं। ऐसी स्थिति भी बनती है कि उनके दास का दास पूर्व प्रव्रजित हो जाता है और वे पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। ऐसी स्थिति में वह दास का दास उनके द्वारा वन्दनीय होता है, क्योंकि वह सयम-पर्याय में ज्येष्ठ है।

प्रस्तुत श्लोक में यह निर्देश दिया गया है कि चक्रवर्ती आदि उच्च व्यक्ति भी प्रव्रज्या-ज्येष्ठ अपने दासानुदास को बदना करने में कभी लज्जा का अनुभव न करें। वे ऐसा न सोचें—मुझे अपने दास के दास को बदना करनी पड़ेगी। साथ ही साथ वह पूर्व

१. चूर्णि, पृ० ५६ : रज्यत इति रजः ।

२. ठाण ८।२१ : अट्ठ मयट्ठाणा पण्णत्ता तं जहा—जातिमए, कुलमए, बलमए, रूपमए, तपमए, भुतमए, लाभमए, इस्सरियमए ।

३. चूर्णि, पृ० ५६ : गोत्रं नाम जातिः कुलं च गृह्यते, अन्यतरग्रहणात् क्षत्रियः ब्राह्मण इत्यादि, अथवा अन्यतरग्रहणात् शेषाण्यपि मवस्थानानि गृहीतानि भवन्ति ।

४. चूर्णि, पृ० ५६ : संसारे ... बिसेसेण सुकुच्छितासु जातोसु एगेंबिय-वेइविद्यासि सु ।

५. आयारो, २।४६ : ... ओ हीणे, ओ अहरित्ते ... ।

६. चूर्णि, पृ० ५६ : पातिका ... प्रागुक्ता पातयति नीचगोत्राविषु संसारे व त्ति ।

७. वृत्ति, पत्र ६२ : पापिकं व बोववत्येव अथवा स्वस्यानादधमस्याने पातिका ।

प्रव्रजित दास भी अहंकार न करे कि अब मेरे सर्वोच्च स्वामी मेरी पूजा करेंगे, बंदना करेंगे। लज्जा और अहं का विसर्जन ही मोक्ष का साधक हो सकता है।

वासुदेव निदानकृत होते हैं, अतः वे प्रव्रज्या के अधिकारी नहीं होते।'

श्लोक २६ :

३४. सम संयम स्थान या अधिक संयम स्थान में स्थित (अण्णयरम्मि संजमे)

अन्यतर का अर्थ है—विषम या अधिक। सबका संयम समान नहीं होता, परिणामों की निर्मलता भी समान नहीं होती, फिर भी यह संधीय व्यवस्था है कि जो पहले प्रव्रजित होता है वह पूज्य होता है।'

३५. सम्यक् मन बाला (समणे)

'समण' शब्द का एक निरुक्त है—सम्यक् मनबाला। वृत्तिकार ने प्रस्तुत 'समण' शब्द का वही निरुक्त किया है।' अनुयोग-द्वार सूत्र में भी 'समण' शब्द का यह निरुक्त उपलब्ध है।'

श्लोक २७ :

३६. दीर्घकालीन परम्परा (दूरं)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ दीर्घ किया है।' वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—मोक्ष और दीर्घ।'

३७. श्लोक २७ :

वृत्तिकार ने अहंकार-मुक्ति के आलम्बन की तीन व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं—

१. अहंकार करने वाले व्यक्ति का अतीत और भविष्य दुःखपूर्ण होते हैं, इसलिए अहंकार नहीं करना चाहिए।

२. यह जीव अतीतकाल में कभी उच्च अवस्था में और कभी हीन अवस्था में रहता आया है। कोई भी जीव एक जैसी अवस्था में नहीं रहता, इसलिए अहंकार नहीं करना चाहिए।

३. अहंकारी मनुष्य से मोक्ष, बोधि और श्रेय दूर रहते हैं, इसलिए उसे अहंकार नहीं करना चाहिए।

१. वृत्ति, पृ० ५६।

२. (क) वृत्ति, पृ० ६० : अण्णये व त्ति विसमे वा छट्ठाणपडितस्स तेसु सम्यक्खावपि पूज्यः संयम इति कृत्वा अन्यतरे अधिके वर्त्तमाना पूज्यः संयतत्वादेव।

(ख) वृत्ति, पत्र ६३।

३. वृत्ति, पृ० ६० : समणे त्ति सम्यग् मणे समणे वा समणे।

४ अनुयोगद्वार, सूत्र ७०८, श्लोक ६ : तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो।

सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु ॥

५. वृत्ति, पृ० ६० : दूरं नाम दीर्घम्।

६. वृत्ति, पत्र ६३ : दूरो—मोक्षस्तमनु—परत्वात् तं दृष्ट्वा यद्विषा दूरमिति दीर्घकालम्।

७. वृत्ति, पृ० ६० : दूरं नाम दीर्घमनुपश्य। तीतं धम्ममणागत तथा, धमं स्वभाव इत्यर्थं। वर्त्तमानो धर्मो हि कालानावित्वाद् दूरः वर्त्तमानः स तु अविरतत्वात्मानाविमवमत्तस्य दुःखं भूयिष्ठोऽतिक्रान्तः। किञ्च—'इमेण खलु जीवेण अतीतद्वारे उच्च-नीय-मज्झि-मासु गतीसु असति उच्चगोते असति नीयगोते होत्था (अग० १२) तथा च अतीतकाले प्राप्तानि सर्वं ह्यस्मान्नेकश एवमनागतधर्ममपि। अथवा दूरमनुपस्सिअ त्ति वडं पस्सिय, अथवा मोक्षं दूरं श्रेय पस्सिय दुर्लभबोधितां पस्सिय, जात्याविमवमत्तस्य च दूरतः श्रेयः एवम-अपस्सिय इत्येवमाद्यतीताऽनागतान् धर्मान् अनुपस्सित्वा।

श्लोक २८ :

३८. (जए.....सुहुमे.....अलूसए)

चूणिकार ने 'जए' को मुनि का विशेषण मानकर उसका अर्थ ज्ञानवान् या अप्रमत्त किया है। वृत्तिकार ने 'जए' को क्रिया-पद मानकर उसका संस्कृतरूप 'जयेत्' (जीतना) किया है।

चूणिकार ने 'सुहुमे' के दो अर्थ किए हैं—संयम और सूक्ष्म बुद्धिवाला। वृत्तिकार ने इसका अर्थ संयम किया है।

चूणिकार के अनुसार 'अलूसए' का अर्थ है—अनाशसी और वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अविराधक। हमने इसका अर्थ अहिंसक किया है।

आचारांग के सदर्भ में चूणिकार के अर्थ सूत्रकार की भावना के अधिक निकट हैं।

३९. न क्रोध करे और न अभिमान करे (जो कुछे जो माणि साहणे)

जिसकी प्रज्ञा कुशल होती है और जो सूक्ष्मदर्शी होता है उसी साधक को वैराग्यपूर्ण और तात्त्विक दोनों प्रकार की धर्मकथा करने का अधिकार है। इसीलिए धर्मकथी को प्रज्ञा-सम्पन्न और सूक्ष्मदर्शी होना चाहिए। जो स्वयं प्रमत्त होता है वह दूसरे को अप्रमाद का उपदेश नहीं दे सकता, इसलिए उसे सदा अप्रमत्त होना चाहिए। समता धर्म की व्याख्या करने वाला किसी को बाधा नहीं पहुंचा सकता, इसलिए उसे अलूसक या अहिंसक होना चाहिए।

धर्मकथा के किसी प्रसंग से रुष्ट होकर कोई व्यक्ति तर्जना या ताड़ना करे तो धर्मकथी की क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। धर्मकथा की विशिष्टता पर अभिमान नहीं होना चाहिए।

'माणी' के स्थान पर 'माणि' विभक्ति रहित पद का प्रयोग है।

श्लोक २९ :

४०. श्लोक २९ :

उपलब्ध अंग साहित्य आर्य सुधर्मा द्वारा रचित है। उन्होंने अंग सूत्रों में भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म की व्याख्या की है। उनका अभिमत है कि जिन लोगों ने धर्म की व्याख्या की है, कर रहे हैं या करेंगे, वे इन लक्षणों से युक्त होने चाहिए—

१. संवृतात्मा
२. विषयों के प्रति अनासक्त
३. स्वच्छ हृदय।

प्रायः सभी लोग धर्म के प्रति प्रणत होते हैं, इसलिए चूणिकार ने 'बहुजणमण' पद का अर्थ धर्म किया है। वृत्तिकार का

१. चूणि, पृ० ६० : जते त्ति ज्ञानवान् अप्रमत्तश्च।
२. वृत्ति, पत्र, ६३ : जयेत्।
३. चूणि, पृ० ६० : सुहुमो नाम संयम.....अहवा सुहुमे त्ति सूक्ष्मबुद्धिः।
४. वृत्ति पत्र ६३ : सूक्ष्मे तु संयमे।
५. चूणि, पृ० ६०, ६१ : अलूसकस्तु स एवमनाशसी न च मार्गविराधनां करोति।
६. वृत्ति, पत्र ६३ : अलूसक. अविराधकः।
७. वेर्ले—जए—आयारो ३।३८, ४।४१
सुहुम—आयारो ८।८।२३
अलूसए—आयारो ६।६५, ६६
८. वेर्ले—आयारो २।१७४-१७८; ६।१००-१०५।
९. चूणि, पृ० ६१ : बहुजनं नामयतीति बहुजननामनः, बहुजनेन वा नम्यते, स्तुवत इत्यर्थः, स धर्म एव।

भी यही अभिमत है।^१ अध्यात्मिक मनुष्य भी यह नहीं कहता कि मैं अधर्म करता हूँ। यह तत्त्व एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है—

महाराज श्रेष्ठिक राज्य सभा में बैठे थे। धर्म की चर्चा चल पड़ी। प्रश्न उपस्थित हुआ कि धार्मिक कौन है? पार्षदों ने कहा—धार्मिक कहां मिलता है? प्रायः सभी लोग अध्यात्मिक हैं। अभयकुमार ने इसके विपरीत कहा। इस संसार में अध्यात्मिक कोई नहीं है। पार्षदों ने इसे मान्य नहीं किया। तब परीक्षा की स्थिति उत्पन्न हो गई। अभयकुमार ने दो भवन निर्मित करवाए—एक धवल और एक काला। नगर में घोषणा करवाई गई—जो धार्मिक हैं वे धवल भवन में चले जाएं और जो अध्यात्मिक हैं वे काले भवन में चले जाएं। सभी नागरिक धवल गृह में चले गए। अधिकारियों ने एक व्यक्ति से पूछा—क्या तुम धार्मिक हो? उसने कहा—मैं किसान हूँ। हजारों पक्षी मेरे धान्य-कणों को चुगकर जीते हैं, इसलिए मैं धार्मिक हूँ। दूसरे ने कहा—मैं बणिक हूँ। मैं प्रतिदिन ब्राह्मण को भोजन कराता हूँ, इसलिए मैं धार्मिक हूँ। तीसरे ने कहा—मैं अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करता हूँ, कितने कष्ट का काम है यह! फिर मैं धार्मिक कैसे नहीं हूँ? चौथे ने कहा—मैं कसाई हूँ। मैं अपने कुलधर्म का पालन करता हूँ। मेरे धन्वे से हजारों मांसभोजी लोग पलते हैं। इसलिए मैं भी धार्मिक हूँ। इस प्रकार सभी लोगों ने अपने आपको धार्मिक बतलाया। अभयकुमार विजयी हो गया।

दो व्यक्ति काले भवन में गए। पूछने पर बताया—हम श्रावक हैं। धार्मिक मनुष्य सदा अप्रमत्त रहते हैं। हमने एक बार मद्यपान कर लिया। हमारा अप्रमाद का व्रत भंग हो गया। हम अध्यात्मिक हैं, इसलिए हम धवल भवन में नहीं गए।^२

अधिकांश लोग अपने आपको धार्मिक मानते हैं और प्रत्येक आचरण या कुलक्रमागत कार्य को धर्म का ही रूप देते हैं। अधर्म नाम किसी को प्रिय नहीं है। इसी लोक-भावना को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने धर्म के लिए 'बहुजननमन' शब्द का प्रयोग किया है।^३

कुछ व्याख्याकारों ने 'बहुजननमन' का अर्थ लोभ भी किया है। प्रायः सभी लोग लोभ के प्रति प्रणत होते हैं।^४ इस आधार पर यह अर्थ असंगत भी नहीं है। धर्मोपदेष्टा को लोभ का सवरण करने वाला होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से भी यह असंगत नहीं है।

श्लोक ३३ :

४१. वन्दना-पूजा (वंदणपूयणा)

आक्रोश, ताड़ना आदि को सहन करना सरल है, किन्तु वन्दना और पूजा के समय अनासक्त रहना बहुत कठिन है।^५ इस-लिए वन्दना और पूजा को सूक्ष्म शल्य कहा गया है। यह ऐसा हृदय-शल्य है जिसे हर कोई सहज ही नहीं निकाल पाता।^६

श्लोक ३४ :

४२. अकेला (एने)

'एक' शब्द की व्याख्या द्रव्य और भाव—दो दृष्टिकोणों से की गई है। द्रव्य की दृष्टि से एकलविहारी भिक्षु अकेला होता है और भाव की दृष्टि से राग-द्वेष रहित होना अकेला होना है। एकलविहारी भिक्षु को पवनयुक्त या पवन रहित, सम या विषम जैसा

१. वृत्ति, पत्र ६३।

२. (क) चूर्णि, पृ० ६१।

(ख) वृत्ति, पत्र ६३-६४।

३. चूर्णि, पृ० ६१ : सर्वलोको हि धर्ममेव प्रणतः न हि कश्चित् परमाध्यात्मिकोऽपि ब्रवीति—अधर्मं करोमि।

४. वही पृ० ६१ : अन्ये त्वाहुः—बहुजननमनः लोभः सर्वो हि लोकस्तस्मिन् प्रणतः।

५. (क) चूर्णि, पृ० ६३ : शब्दमाक्रोशताडनादि तितिक्षितुम्, दुःखतरं तु बन्धमाने पूज्यमाने वा विषयेर्वा विलोभ्यमाने निःसङ्कर्षाभावयितुमिति एवं सूक्ष्मं भावशल्यं दुःखमुद्धतं हृत्वाविति।

(ख) वृत्ति, पत्र ६५।

भी शयन-आसन मिलें उसमें वह अकेला होने का अनुभव करे—राग-द्वेष न करे ।^१

जन-संपर्क का माध्यम है—वचन । जो उसका प्रयोग नहीं करता, वह अपने आप अकेला हो जाता है । मन के विकल्प व्यक्ति को द्वैत में ले जाते हैं । उसका संवरण करने वाला अपने आप अकेला हो जाता है । भाव की दृष्टि से प्रत्येक भिक्षु को अकेला होना चाहिए । द्रव्य की दृष्टि से अकेले रहने का निर्देश उस भिक्षु के लिए है जो साधना के लिए संघ से मुक्त होकर एकलविहारी हो गया है ।^२

श्लोक ३५ :

४३. श्लोक ३५ :

प्रस्तुत श्लोक में एकलविहारी मुनि की चर्या प्रतिपादित है । एकलविहारी मुनि पूछने पर भी नहीं बोलता । कुछेक वचन बोलता है । कोई संबोधि प्राप्त करने वाला हो तो उसके लिए एक, दो, तीन या चार उदाहरणों का प्रतिपादन कर सकता है । वह अपने बैठने के स्थान का प्रमांजन करता है, किन्तु शेष घर का प्रमांजन नहीं करता ।^३

४४. शून्यगृह का (शुण्यघरस्स)

चूणिंकार ने शून्य शब्द के दो निरुक्त किए हैं—^४

१. शूनं हितं शून्यं—जो कुत्तों के लिए हितकर हो ।
२. शून्यं वा यत्रान्यो न भवति—जिसमें दूसरा कोई न हो ।

४५. (वहं)

चूणिंकार के अनुसार एकलविहारी मुनि पूछने पर चार भाषाएं बोल सकता है ।^५ वे चार भाषाएं हैं :—

याचनी—याचना से सम्बन्ध रखने वाली भाषा ।

प्रच्छन्नी—मार्ग आदि तथा सूत्रार्थ के प्रश्न से सम्बन्धित भाषा ।

अनुज्ञापनी—स्थान आदि की आज्ञा लेने से सम्बन्धित भाषा ।

पृष्टध्याकरणी—पूछे हुए प्रश्नों का प्रतिपादन करने वाली भाषा ।

वृत्तिंकार ने सावध वचन बोलने का निषेध किया है और जो अभिग्रहवान् तथा जिनकल्पिक है, उसे निरवध भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए, ऐसा मत प्रगट किया है ।^६

श्लोक ३६ :

४६. चींटी, खटमल आदि (चरगा)

इसका शाब्दिक अर्थ है—चलने-फिरने वाले प्राणी । चूणिंकार ने चींटी, खटमल आदि को इसके अन्तर्गत माना है ।^७ वृत्तिंकार ने चरक शब्द से दश, मशक का ग्रहण किया है ।^८ शब्द की दृष्टि से चूणिंकार का मत उपयुक्त लगता है । दश, मशक उड़ने वाले प्राणी हैं, न कि चलने वाले ।

१. चूणि, पृ० ६३ : ब्रह्मे एगलविहारवान्, भावे राग-द्वेषरहितो वीतरागः ... एगो राग-द्वेषरहितो, सम्बत्थपवाव-जिवाव-सम-विसमेसु ठाण-णितीयण-सयणेसु एगभावेण अवितच्छं ।

२. वही, पृ० ६३ ।

३. वही, पृष्ठ ६३ : अवस्सं सवुज्झितुकामस्स वा एगनायं एवावागरणं वा जाव जत्तारि । णिसीयणट्ठाणे मोत्तूण सेसं वसधि ण समुच्छति ति ण पमज्जति ।

४. वही, पृष्ठ ६३ : शुनां हितं शून्यं, शून्यं वा यत्रान्यो न भवति ।

५. वही, पृ० ६३ : एगलविहारी जत्तारि भासाओ मोत्तूण ण उदाहरति वयि ।

६. ठाण ४।२२ : पडिमापडिबणस्स णं अणगरस्स कप्पंति जत्तारि भासाओ भासित्तए, तंजहा—जायणी, पुच्छणी, अपुण्णवणी पुट्टस्स वागरणी ।

७. वृत्ति, पत्र ६६ : सावधं वाचं न ब्रूयात्, आभिग्रहिको जिनकल्पिकादिनिरवधामपि न ब्रूयात् ।

८. चूणि, पृष्ठ ६४ : चरस्तीति चरका. पिपोलिका-मत्कुण-वृत्तपायिकावयः ।

९. वृत्ति, पत्र ६६ : चरस्तीति चरका—दशमशकावयः ।

इलोक ३६ :

४७. त्रायी (ताइयो)

त्राता तीन प्रकार के होते हैं—

१. आत्मत्राता—जिनकल्पिक मुनि ।
२. परत्राता—अहंत् ।
३. उभयत्राता—गच्छवासी मुनि ।

४८. ...आसन का (...आसनं)

पीठ, फलक आदि आसन हैं । चूणिकार ने इस शब्द के द्वारा उपाश्रय का ग्रहण किया है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ बसति माना है ।

इलोक ४० :

४९. गर्म और तप्त जल को पीने वाले (उसिणोदकतप्तभोजी)

उष्ण और तप्त—ये दोनों शब्द समानार्थक हैं । चूणिकार ने बताया है कि घूप से गरम बना हुआ पानी मुनि को नहीं लेना चाहिए । यह तप्त शब्द द्वारा सूचित किया है ।

वृत्तिकार ने 'उष्णोदकतप्तभोजी'—इस शब्द का अर्थ अत्यन्त उबले हुए पानी को पीने वाला किया है । उन्होंने वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ इस प्रकार किया है—गर्म पानी को ठंडा किए बिना पीने वाला ।

५०. तथागत (अप्रमत्त) के (तहागयस्स)

चूणिकार ने 'तथागत' का अर्थ—वैराग्यवान्, वीतराग या अप्रमत्त किया है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'जहाबाई तहाकारी' अर्थात् वीतराग किया है ।

५१. असमाधि होती है (असमाही)

असमाधि का मूल कारण है—मूर्च्छा । राजाओं की ऋद्धि देखकर मूर्च्छा उत्पन्न न हो, इस दृष्टि से उनके संसर्ग का निषेध प्रस्तुत श्लोक में किया गया है । यह चूणिकार का अभिमत है ।

वृत्तिकार ने बतलाया है कि राजाओं का संसर्ग अनर्थ का हेतु है । उस संसर्ग में स्वाध्याय आदि में बाधा उपस्थित होती है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि जैन मुनि धर्म को राज्याश्रित बनाने के पक्ष में नहीं थे । राजा की इच्छा का पालन करने पर अपनी समाचारी का भंग होता है और उसकी इच्छा का अतिक्रमण करने पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसलिए राजाओं के संसर्ग को हितकर नहीं माना ।

१. चूणि, पृष्ठ ६४ : त्रायसीति त्राता, स च त्रिविधः—आत्म० पर० उभयत्राता जिनकल्पिका-ऽहं-गच्छवासिनः ।

२. वही, पृ० ६४ : आसनग्रहणादुपाश्रयोऽपि गृहीतः ।

३. वृत्ति, पत्र ६७ : आस्यते—स्थीयते यस्मिन्निति तदासनं—बसस्थादि ।

४. चूणि, पृ० ६४ : उसिणग्रहणात् फासुगोवग-सोवीरग-उण्होवगादीणि, तप्तग्रहणात् स्वाभाविकस्याऽऽतपोवकावे. प्रतिषेधार्थः ।

५. वृत्ति, पत्र ६७ : उष्णोदकतप्तभोजिनः त्रिबण्डोद्वृत्तोष्णोदकभोजिनः यदि वा उष्णं सन्न शीतीकुर्यादिति तप्तग्रहणम् ।

६. चूणि, पृ० ६४ : तथागतस्सवि त्ति वैराग्यगतस्यापि । अथवा यथाऽप्ये, यथा ज (जि) नावयो गता वीतरागा तथा सो वि अप्रमादं प्रति गतः ।

७. वृत्ति, पत्र ६७ : तथागतस्य यथोक्तानुष्ठायिनः ।

८. चूणि, पृ० ६४ : रिद्धि दृष्ट्वा तां मा मूर्च्छां कुर्यात् मूर्च्छंस्तत्र असमाधी भवति ।

९. वृत्ति, पत्र ६७ : राजादिभिः साद्धं यः संसर्गः सम्बन्धोऽलावसाधुः अनर्थोदयहेतुत्वात्.....राजादिसंसर्गवशाद् असमाधिरेव अपञ्चानमेव स्यात् न कदाचित् स्वाध्यायादिकं भवेदिति ।

इसलोक ४१ :

५२. अर्थ (अदृष्टे)

चूणिकार ने इसका अर्थ मोक्ष और उसके कारणभूत ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप आदि किया है।^१ वृत्तिकार ने इसके द्वारा मोक्ष और उसके कारणभूत संयम को ग्रहण किया है।^२

इसलोक ४२ :

५३. शीतोदक (सजीव जल) (सीओबग)

इसका शाब्दिक अर्थ है—ठंडा पानी। आगमिक परिभाषा में इसका अर्थ है—सजीव पानी।^३ गर्म जल या शस्त्रभूत पदार्थों से उपहत जल निर्जीव हो जाता है।

५४. न पीने वाले (पडिबुगंछिणो)

प्रतिजुगुप्सी का अनुवाद 'न पीने वाले' किया गया है। जो जिसका सेवन नहीं करता, वह उसके प्रति जुगुप्सा करता है। यह चूणिकार की व्याख्या है। उन्होंने बताया है कि ब्राह्मण गोमांस, मद्य, लहसुन और प्याज से जुगुप्सा करते हैं, इसलिए उन्हें नहीं खाते। वे गोमांस आदि खाने वालों से भी जुगुप्सा करते हैं।^४

५५. निष्काम (अपडिण्यस्स)

कामनापूर्ति के लिए संकल्प नहीं करने वाला अप्रतिज्ञ कहलाता है। 'इस तपस्या से मुझे यह फल मिलेगा'—इस आशा से तप नहीं करना चाहिए। स्थान, आहार, उपधि और पूजा के लिए भी कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए। मुनि को सर्वथा निष्काम होना चाहिए।^५

५६. प्रवृत्ति से दूर रहने वाले (लव-अववक्की)

इसमें दो शब्द हैं—लव और अववक्की। लव का अर्थ है—कर्म। जिस प्रवृत्ति से कर्म का बंध होता है उससे दूर रहने वाला 'लव-अववक्की' कहलाता है।^६

५७. गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं करता (गिहिमत्तेऽसणं ण भुज्झी)

गृहस्थ के पात्र में भोजन करने से पश्चात्-कर्म दोष होता है। भिक्षु शीतोदक से जुगुप्सा करता है और गृहस्थ भोजनपात्र को साफ करने लिए शीतोदक का प्रयोग करता है, इसलिए सयमभाव की सुरक्षा के लिये यह निर्देश दिया गया है कि भिक्षु गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे।^७

वेर्ले—वसवेखालियं ६।५१ का टिप्पण।

१. चूणि, पृ० ६५ : अर्थो नाम मोक्षार्थं. तत्कारणादीनि च ज्ञानादीनि।

२. वृत्ति, पत्र ६७ : अर्थो मोक्षः तत्कारणभूतो वा संयमः।

३. (क) चूणि, पृ० ६५ : शीतोदकं नाम अविगतजीवं अफासुग।

(ख) वृत्ति, पत्र ६७ : सीओबग इत्यादि शीतोदकम्—अप्रासुकोदकम्।

४. चूणि, पृ० ६५ : प्रतिजुगुप्सति नाम ण पिबति यो हि यन्ताऽऽसेवति स तद् जुगुप्सत्येव, जथा धीयारा गोमांस-मद्य-लसुन-पलण्डं बुगुप्सति, न केवलं धीयारा गोमांसं बुगुप्सति तवाशिमोऽपि जुगुप्सति।

५. (क) चूणि पृ० ६५ : अपडिण्यो नाम अप्रतिज्ञः नास्य प्रतिज्ञा भवति यथा मम अनेन तपसा इत्थं नाम भविष्यतीति.....आहार-उपधि-पूपाणिमित्तं वा अप्रतिज्ञः।

(ख) वृत्ति पत्र ६७ : न विद्यते प्रतिज्ञा—निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञोऽनिदान इत्यर्थः।

६. (क) चूणि पृ० ६५ : लव कर्म येन तत् कर्म भवति तत् आश्रयात् स्तोकादपि अवसवकति।

(ख) वृत्ति, पत्र ६७ : लव कर्म तस्मात् अवसपिणो ति—अवसपिण. यवनुष्ठानं कर्मबन्धोपादानभूतं तत्परिहारिण इत्यर्थः।

७. चूणि, पृ० ६५ : आ भूत् पण्ड्याकम्मदोषो भविस्सति। णदृठे हिते बीसरिते स एव शीतोदकवधः स्थाविति।

इलोक ४७ :

५८. मैंने परम्परा से यह सुना है (अणुस्सुयं)

यह परंपरा का सूचक शब्द है। सूत्रकार कहते हैं—मैंने स्थविरों से सुना और उन्होंने अपने पूर्ववर्ती स्थविरों से सुना। इस प्रकार यह परंपरा से श्रुत है।^१

५९. सब विषयों में प्रधान (उत्तर)

मैथुन स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है। श्रुणिकार के अनुसार शब्द आदि इन्द्रिय-विषयो मे यह सबसे दुर्जय है, इसलिए यह सबसे बड़ा या प्रधान है।^२

‘उत्तरा’ के स्थान पर यह विभक्तिरहित पद है।

६०. काश्यप (महावीर या ऋषभ) के (काश्यवत्स)

मुनि सुव्रत और अर्हत् अरिष्टनेमि के अतिरिक्त शेष सब तीर्थंकर ईश्वराकुलवंश के हैं। इन सबका गोत्र काश्यप है। भगवान् ऋषभ का एक नाम काश्यप है। शेष सभी तीर्थंकर उनके अनुवर्ती हैं, इसलिए वे सभी काश्यप कहलाते हैं।

श्रुणिकार और वृत्तिकार ने काश्यप के दो अर्थ किए हैं—भगवान् महावीर और भगवान् ऋषभ।^३

भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर की साधना-पद्धति में सर्वाधिक साम्य है। दोनों की साधना-पद्धति में पांच महाव्रतों का विधान है, इसलिए काश्यप शब्द के द्वारा ऋषभ और महावीर का सूचन देना ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत मूल्यवान् है।

देखें—२।७४ का टिप्पण।

६१. आचरित धर्म का अनुचरण करने वाले मुनि (अनुधम्मचारिणो)

अनुधर्मचारी का अर्थ अनुचरणशील होता है। गुरु ने जैसा आचरण किया वैसा आचरण करने वाला शिष्य अनुधर्मचारी होता है।^४

अनुधर्म शब्द में विद्यमान ‘अनु’ शब्द को चार अर्थों में व्युत्पन्न किया गया है—अनुगत, अनुकूल, अनुलोम, अनुरूप।^५

अनुगत + धर्म = अनुधर्म

अनुकूल + धर्म = अनुधर्म

अनुलोम + धर्म = अनुधर्म

अनुरूप + धर्म = अनुधर्म।

आचारंग का—‘से ज च आरभे, जं च गारभे, अगारद्धं च गारभे’—यह सूत्र ‘अनुधर्म’ की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसका तात्पर्य है—वह (कुशल) किसी प्रवृत्ति का आचरण करता है और किसी का आचरण नहीं करता; मुनि उसके द्वारा अनाचीर्ण प्रवृत्ति

१. (क) जूणि, पृष्ठ ६६ : अनुभूतं स्थविरेभ्यः तैः पूर्वं भूतम् पश्चात् तेभ्यो भयाऽनुभूतम्।

(ख) वृत्ति, पत्र ६६ : मयैतवनु—पश्चाद् भूतं एतच्छ सर्वमेव प्रागुक्तं यच्छ वक्ष्यमाणं तन्नामेयेनाऽऽवितोर्यङ्कता पुत्रानुद्दिश्यामिहितं सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयन्ति अतो मयैतवनुभूतमित्यनवच्छम्।

२. जूणि, पृष्ठ ६६-६७ : उत्तरा नाम शेषविषयेभ्यः ग्रामधर्मा एव गरीयातः।.....अथवा उत्तरा. शब्दादयो ग्रामधर्मा मनुष्याणां चकवर्ति-वत्तदेव-वासुदेव-मण्डलिकानाम्।

३. (क) जूणि, पृ० ६७ : काश्यपः वर्द्धमानस्वामी..... अथवा ऋषभ एव काश्यपः।

(ख) वृत्ति, पत्र ६६ : काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा।

४. जूणि, पृष्ठ ६७ : अनुधम्मचारिणो..... तेन कीर्णमनुचरन्ति यथोद्दिष्टम्।

५. वही, पृष्ठ ७६ : अनुगतो वा अनुकूलो वा अनुलोमो वा अनुरूपो वा धर्मः अनुधर्मः।

का आचरण न करे ।'

निशीथ भाष्य में लोकोत्तर धर्मों को 'अनुगुरु' बतलाया गया है ।' चूणिकार ने लिखा है—वे प्रलंब सब तीर्थंकरों, भीतम आदि गणधरों तथा जम्बू आदि आचार्यों द्वारा अनाचीर्ण हैं । वर्तमान आचार्यों द्वारा भी अनाचीर्ण हैं, इसलिए वर्जनीय हैं । इस प्रतिपादन पर शिष्य ने प्रश्न उपस्थित किया—जो तीर्थंकरों द्वारा अनाचीर्ण है, वह हम सबके लिए अनाचीर्ण है । क्या यह सही है ? गुरु ने उत्तर दिया—यह सही है । और इसलिए सही है कि लोकोत्तर धर्म 'अनुधर्म' होते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि आचार्यों के द्वारा जो चीर्ण, चरित, आचेष्टित है वह उत्तरकालीन शिष्यों द्वारा भी अनुचरणीय है । इसका अर्थ है—अनुधर्मता ।'

तीर्थंकर या गुरु का कोई अतिशय है, उसमें अनुधर्मचारिता नहीं होती । अन्य साधुओं में जो सामान्य धर्मता है वहां अनुधर्म का विचार किया जाता है ।'

इलोक ४६ :

६२. जो विषयों के प्रति नत होते हैं (दूषण)

यह शब्द 'दूम' धातु से निष्पन्न है । इसका अर्थ है—संताप करने वाला । मंथुन मनुष्य को संतप्त करता है इसलिए इसे 'दूषण' कहा गया है । प्राकृत में 'मकार' के स्थान पर 'वकार' होता है ।

चूणिकार ने इसका अर्थ—विषयों के प्रति अत्यन्त आसक्त किया है ।' वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—दुष्ट धर्म के प्रति उपनत, मन को दुःखी करने वाला या उपतापकारी शब्द आदि विषय ।'

इलोक ५० :

६३. इलोक ५० :

प्रस्तुत श्लोक में चाहिए, पासणिए, संपसारए, कयकिरिए और ममाए—ये पांच शब्द विशेष विमर्श योग्य हैं । प्रस्तुत आगम के नीचे अध्ययन के सोलहवें श्लोक में संपसारी, कयकिरिए और पसिणायतणाणि—ये तीन शब्द मिलते हैं । वहां 'संपसारए' के स्थान पर 'संपसारी' तथा 'पासणिए' के स्थान पर 'पसिणायतणाणि' का प्रयोग किया गया है । चूणिकार ने भी वहां 'पासणियायतनानि' पाठ स्वीकार किया है ।

आयारो ५।८७ में ये पांच शब्द प्राप्त हैं—काहिए, पासणिए, संपसारए, ममाए, कयकिरिए । वहां इनका अर्थ इस प्रकार है—

- ० कायिक—काम-कथा, शृंगार-कथा करने वाला ।
- ० पश्यक—स्त्रियों को वासनापूर्ण दृष्टि से देखने वाला ।
- ० संपसारक—एकान्त में स्त्रियों के साथ बातचीत करने वाला ।

१. आयारो २।१८३, पृ० १०७ ।

२. निशीथभाष्य गाथा ४८५५ : अवि य हु सम्बपलंबा, जिणगणहरमाइएहिइणाइणा ।

लोउत्तरिया धम्मा, अणुगुरुणो तेण तव्वज्जा ॥

३. वही, गाथा ४८५५, चूर्ण पृ० ५२२ : ते य सम्बोहि तित्थकरेहि गोयमादिहि य गणधरेहि, आविसद्दातो जंबूणाममादिहि आयरिएहि जाव संपवमवि अणाइणा, तेणं कारणेणं ते वज्जजिज्जा : आह 'तो किं जं जिणेहि अणाइणा तो एयाए चेव आणाए वज्जजिज्जा ?' ओमित्युच्यते, लोउत्तरे जे धम्मा ते अणुधम्मा ।

किमुक्तं भवति ? ज तेहि गुरुहि जिणं चरितं आचेष्टियं त पच्छिमेहि वि अणुचरियव्वं, अम्हा य एवं तम्हा तेहि पलब्धा ण सेजिया, पच्छिमेहि वि ण सेवियव्वा । अतो ते वज्जजिज्जा । एवं अणुधम्मया भवति ।

४. वही, गाथा ४८५६, चूर्ण भाग ३, पृ० ५२२ : कह ? उच्यते गुरु तीर्थंकर । अतिशयास्तस्यैव भवति नान्यस्य । अत्रानुधर्मता न स्मर्यते ।

५. चूर्ण, पृष्ठ ६७ : दूषणताः शाक्यादयः ते हि मोक्षाय प्रपन्ना अपि विषयेषु प्रणता रसादिव ।

६. वृत्ति, पत्र ६६ : दुष्टधर्मं प्रत्युपनताः कुमार्गानुष्ठायिनस्तोयिकाः यवि वा—दूमण स्ति दुष्टमनःकारिण उपतापकारिणो वा शब्दादयो विषयास्तेषु ।

- सामक—ममत्व करने वाला ।
- कृतक्रिय—स्त्रियों को वश में करने के लिए साज-शृंगार करने वाला ।^१
ये सत्रे अर्थ स्त्री से संबंधित हैं ।
निशीथ भाष्य, चूर्णि आदि में इनके अर्थ भिन्न हैं ।

काहिए

इसका अर्थ है—कथा से आजीविका करने वाला ।^१ आख्यानक, गीत, शृंगारकाव्य, दंतकथा तथा धर्म, अर्थ और काममिश्रित संकीर्ण कथा करता है वह काथिक कहलाता है ।

निशीथ चूर्णि के अनुसार जो देशकथा, भक्तकथा आदि कथा करता है वह काथिक है ।^१

जो धर्मकथा भी आहार, वस्त्र, पात्र आदि की प्राप्ति के लिए करता है, जो यश को चाहने वाला है, पूजा और वन्दना का अर्थ है, जो सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी का पूरा पालन नहीं करता, जो रात-दिन धर्मकथा पढ़ने और कहने में लगा रहता है, जिसका कर्म केवल धर्मकथा करना ही है, वह काथिक कहलाता है । आज के शब्दों में उसे कथावाचक या कथाभट्ट कहा जा सकता है ।

उक्त व्याख्याओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि संयमी मुनि को धर्मकथा के अतिरिक्त सभी प्रकार की कथाओं का वर्जन करना चाहिए । धर्मकथा स्वाध्याय का पांचवां प्रकार है । उससे मनुष्य संबोधि को प्राप्त होता है, तीर्थ की अभ्युत्थिति होती है, शासन की प्रभावना होती है । उसके फलस्वरूप कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए वह की जा सकती है । किन्तु वह भी हर समय नहीं, उस सीमा में ही करनी चाहिए जिससे अवश्यकरणीय कार्य—अध्ययन, सेवा आदि में विघ्न उपस्थित न हो ।^१

पासणि

यह देशी शब्द है । इसका अर्थ है—साक्षी । देशी नाममाला में साक्षी के अर्थ में 'पासणिअ' और 'पासाणिअ,—ये दो शब्द प्राप्त हैं ।^१

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'पासणि' शब्द की व्याख्या प्राश्निक शब्द के आधार पर की है । चूर्णिकार ने प्राश्निक का अर्थ—गृहस्थ के व्यवसाय और व्यवहार के संबंध में निर्णय देने वाला—किया है ।^१ इसी सूत्र की ६/१६ की चूर्णि में इसका अर्थ इस प्रकार है—प्रश्न का निर्णय देने वाला, लौकिक शास्त्रों के भावार्थ का प्रतिपादन करने वाला ।^१

वृत्तिकार ने राजा आदि के इतिहास-स्थापन तथा दर्पण, अंगुष्ठप्रश्न आदि विद्या के द्वारा आजीविका करने वाले को प्राश्निक

१. आचारंगवृत्ति, पत्र १६६ ।

२. वृत्ति पत्र, ७० : कथया चरति काथिकः ।

३. निशीथ १३/५६ : चूर्णि पृ० ३६८ : सञ्जायाविकरणिज्जे जोगे मोत्तुं ओ देसकहादि कहातो कवेति सो काहितो ।

४. निशीथभाष्य, गाथा ४३५३-५५ चूर्णि, पृष्ठ १६८, ३६६ : आहारावीणश्रुता, जसहेउं अहव पूयणनिमित्तं ।

तक्कम्मो जो धम्मं, कहेंति सो काहिजो होति ॥

कामं जलु धम्मकहा, सञ्जायस्सेव पंचमं अंगं ।

अब्बोच्छित्तीइ ततो, तित्थस्स पभावणा जेव ॥

तह वि य ण सव्वकालं, धम्मकहा जीइ सव्वपरिहाणी ।

माउं व सेत्तकालं, पुरिसं च पवेदते धम्मं ॥

...धम्मकहं पि ओ करेति आहाराविणिमित्तं, वत्थपाताविणिमित्तं, जसत्थी वा, बंदणाविपूयाणिमित्तं वा सुत्तत्थपोरिसिमुक्क-
वावारेअहो य रातो य धम्मकहाविपणकहणबुद्धो, तदेवास्य केवलं कम्मं तक्कम्म एव विधो काहितो भवति ।

बोवण आह—“अणु सञ्जाओ पंचविधो बायणाविणो । तस्स पंचमो जेवो धम्मकहा । तेण भववसत्ता पडिबुद्धंति, तित्थे य
अब्बोच्छित्ती पभावणाय भवति, अतो ताओ णिज्जरा जेव भवति, कह काहियत्तं पडिसिद्धंति ? सव्वकालं धम्मो ण
कहेयम्भो जतो पडिलेहणादि संजमजोगाण सुत्तत्थपोरिसीण य आयरियमित्ताणमावीकिञ्चाण य परिहाणी भवति, अतो न काहियत्तं
कायम्भं ।

५. देशीनाममाला ६/४१ : पासणिओ पासाणिओ अ सक्खम्मि ॥

६. चूर्णि, पृ० ६७ : पासणिओ आम मिहीणं व्यवहारेण प्रस्तुतेण पणियगादिणु वा प्राश्निको न भवति ।

७. वही, पृ० १७८ : पासणियो आम यः प्रश्नं ज्ञप्ति, तच्च वा—व्यवहारेण (शास्त्रेण) वा ।

कहा है ।' इसी सूत्र की ६/१६ की वृत्ति में वृत्तिकार ने चूणिकार का अनुसरण किया है ।'

निशीथ भाष्य और चूणि में इसका अर्थ कुछ विस्तार से मिलता है । एक जैसी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का विभाजन करना, दो प्रतियोगियों या प्रतिस्पर्धियों के विवाद का निपटारा करना, लौकिक शास्त्रों के सूत्र और अर्थ का प्रतिपादन करना, अर्थशास्त्र की व्याख्या करना, सेतुबंध आदि का तथा स्त्रीवेद, शृंगारकथा आदि ग्रन्थों का विवेचन करना—इन सबको करने वाला 'पासणिअ' होता है ।'

आटे के 'संस्कृत-इंग्लिश कोष' में प्राश्निक शब्द के ये अर्थ मिलते हैं—(१) An examiner (परीक्षक), An arbitrator (मध्यस्थ) A judge (न्यायाधीश), An umpire (निर्णायक), अहो प्रयोगाभ्यंतर प्राश्निकाः । तद् भगवत्या प्राश्निकपदमभ्य-सितव्यम् ।

संप्रसारण

जो मुनि वर्षा आदि के संबंध में तथा पदार्थों के मूल्य बढ़ने-घटने संबंधी बात बताता है वह संप्रसारक होता है । यह चूणि की व्याख्या है ।' प्रस्तुत सूत्र के ८/१६ में चूणिकार ने गृहस्थों के असंयममय कार्यों का समर्थन करने वाले तथा उनका उपदेश देने वाले को संप्रसारी माना है ।'

वृत्तिकार ने संप्रसारक का अर्थ वृष्टि, अर्थकाण्ड आदि की सूचक कथा का विस्तार करने वाला किया है ।' प्रस्तुत सूत्र के ८/१६ की वृत्ति में संप्रसारण का अर्थ है—पर्यालोचन या उपदेश-दान । मुनि गृहस्थों के साथ सासारिक पर्यालोचन न करे और उन्हें असंयमप्रवृत्ति का उपदेश न दे ।'

असंयममय कार्य का विवरण निशीथभाष्य और चूणि में मिलता है । गृहस्थ को निष्क्रमण और प्रवेश का मुहूर्त देना, सगाइ कराना, 'विवाहपटल' आदि ज्योतिष ग्रन्थों के आधार पर विवाह का मुहूर्त देना, 'अर्थकांड' आदि ग्रन्थों के आधार पर द्रव्य के क्रय-विक्रय का निर्देश देना—ये सब असंयममय कार्य हैं । इन्हें करने वाला संप्रसारी होता है ।'

१. वृत्ति, पत्र ७० : प्रश्नेन राजादिकवृत्तरूपेण वर्पणादिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निकः ।

२. वृत्ति, पत्र १८१ : प्रश्नस्य—आदर्शप्रश्नादेः आयतनम् आबिष्करणं कथनं यथा विवक्षितप्रश्ननिर्णयनानि यदि वा प्रश्नायतनानि लौकिकानां परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथावस्थितार्थकथनद्वारेणायतनानि—निर्णयनानीति ।

३. निशीथ भाष्य, गाथा ४३५६-४३५८, चूणि, पृष्ठ ३६६ : लोइयववहारेसू लोए सत्थादिएसु कज्जेसु ।

पासणिअत्त कुणती, पासणिओ सो य णायव्वो ॥

साधारणे विरेगं, साहति पुत्तपडए य आहरणं ।

डोणह य एगो पुत्तो, डोणि महिलाओ एगस्स ॥

छंविणत्तं सहं अत्थं वा लोइयाण सत्थारणं ।

भावत्थए य साहति, छलियादी उत्तरे सउणे ॥

.....छंवाविधानं लोगसत्थारणं सुत्तं कहेति अत्थं वा, अहवा अत्थं व त्ति अत्थसत्थं सेतुमाविधानं वा बहूणं कम्माणं, कोहस्स-याण य, वेसियमाविधानं य भावत्थं एसाहति । छलिय सिंगारकहा त्थीवणगादी ।

४. चूणि, पृ० ६७ : संप्रसारको नाम सम्प्रसारकः, तच्छब्दा—इयं वरिसं किं देवो वासिस्सति न व त्ति ? किं भंडं अत्थहिति वा न वा ?

५. वही, पृ० १७८ : संप्रसारणो नाम असंजयाणं असंजयकज्जेसु सारं उवेति उववेसं वा ।

६. वृत्ति, पत्र ७० : संप्रसारकः देववृष्ट्यर्पकाण्डादिसूचककथाविस्तारकः ।

७. वृत्ति, पत्र १८१ : सम्प्रसारण—पर्यालोचन परिहरेदिति वाक्यशेषः एवमसंयमानुष्ठानं प्रत्युपदेशवानम् ।

८. निशीथ भाष्य, गाथा ४३६१-४३६२ : असंजयाणं मिषल्लं, कज्जे असंजमप्पवत्तंसु ।

जो वेत्ती सामत्थं, संप्रसारओ सो य णायव्वो ॥

गिहिणिल्लमणपवेसे, आवाह विवाह विवकय कए वा ।

गुहसाधवं कहेंते, गिहिणो लसु संप्रसारीओ ॥

चूणि, पृष्ठ ४०० :

..... गिहीणं असंजयाणं गिहाओ विसि जत्तए वा जिग्गमय देति । गिहि (स्स) जत्ताओ वा आणयस्स पावेसं देति । आवाहो विट्ठियालमयणं सुहं विवसं कहेति, मा वा एयस्स देहि, इमस्स वा देहि । विवाहपडलादिएहि जोतिसंगेहि विवाहवेलेदेति । अत्थकंडसादिएहि गंवेहि इमं वत्थं विविकणाहि, इमं वा किणाहि । एवमादिएसु कज्जेसु गिहीणं गुहसाधवं कहेंतो संप्रसारसं पावति ।

कथकिरिए

गृहस्थ कोई आरंभ करता है, प्रवृत्ति या निर्माण करता है, संयमी को उसमें तटस्थ रहना चाहिए—गृहस्थ के आरंभ की प्रशंसा या अनुमोदना नहीं करती चाहिए। जो ऐसा करता है उसे 'कृतक्रिय' कहा जाता है।'

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—संयमपूर्ण क्रिया करने वाला किया है।'

मामक

मेरा देश, मेरा गांव, मेरा कुल, मेरा पुरुष—इस प्रकार ममत्व करने वाला 'मामक' कहलाता है।' दशवैकालिक सूत्र की वृत्तिका में यह निर्देश है कि मुनि ग्राम आदि में ममत्व न करे।'

निशीथभाष्य चूर्णि में 'मामक' की विषय परिभाषा प्राप्त होती है। जो व्यक्ति ऐसा कहता है—मेरे उपकरणों का कोई दूसरा व्यक्ति उपयोग न करे। मेरी स्थंडिलभूमि में कोई दूसरा न जाए। मेरे आहार, पानी आदि का कोई उपभोग न करे—वह मामक होता है। उसका अपने समस्त भोगोपभोग के प्रति ममत्व है, इसीलिए प्रतिषेध करता है।

जो यह कहता है—'यह कितना सुन्दर देश है। यह वृक्ष, कुएँ, सरोवर, तालाब आदि से युक्त है। ऐसा देश दूसरा नहीं है। यहां सुखपूर्वक रहा जा सकता है। यहां स्थान, भक्त-पान, उपकरण आदि की उपलब्धि सुलभ है। यहां अनेक प्रकार के धान्य निष्पन्न होते हैं। यहां दूध की प्रचुरता है। यहां के लोगों का वेश और शरीर सुंदर है। यहां के लोग अभिजात्य और नवीन हैं। वे साधुओं के भक्त हैं, उपद्रवकारी नहीं हैं।' इस प्रकार की भावना अभिव्यक्त करने वाला भी 'मामक' होता है।'

प्रस्तुत आगम के ४।१२ में "कुशील" शब्द की व्याख्या में चूर्णिकार ने कायिक, प्राशनिक, संप्रसारक और मामक को कुशील माना है।'

श्लोक ५१ :

६४. (छण्णं च.....पगास माहणे)

चूर्णिकार ने छन्न का अर्थ माया, प्रशंसा का अर्थ प्रार्थना या लोभ, उत्कर्ष का अर्थ मान और प्रकाश का अर्थ क्रोध किया

१. चूर्णि, पृ० ६७ : कतकिरिओ नाम कृतं परं: कर्म पुट्टो अपुट्टो वा भणति शोभनमशोभनं वा एवं कलंब्यमासिब् न वेति वा।

२. वृत्ति, पत्र ७० : कृता—स्वभ्यस्ता क्रिया—संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः।

३. चूर्णि, पृ० ६५ : मामको नाम ममोकारं करोति देशे ग्रामे कुले वा एगपुरिसे वा।

(ल) वृत्ति, पत्र ७० : मामको ममेवमहमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाप्रही।

४. दशवैकालिक वृत्तिका २।८ : गामे कुले वा नगरे व देशे।

ममस्तभावं न कीहिं चि कुज्जा ॥

५. निशीथ भाष्य गाथा ४३५६, ४३६० : आहार उवहिं देहे, वीयार विहार वसहि कुल गामे।

पडिसेहं च ममत्तं, जो कुणति मामतो सो उ ॥

अहं जारिसओ देसो, जे य गुणा एत्थ सत्सगोषादी।

सुंदरअभिजातजणो, ममाइ निक्कारणोवयति ॥

निशीथ चूर्णि, पृ० ४०० :

..... उवकरणाविसु जहासंभवं पडिसेहं करेति, मा मम उवकरणं कोइ गेण्हउ। एवं अण्णेषु वि विचारभूमिमाविएसु पडिसेहं सगच्छपरगच्छयाणं वा करेति। आहाराविएसु खेव सव्वेषु ममत्तं करेति। भावपडिबंधं एवं करेत्तो मामओ भवति।

अहं सि अयं जारिसो देसो वक्ख-वावि-सर-तडागोवसोमितो एरिसो अण्णो णत्थि। सुहविहारो। सुलभवसहिभत्तोवकरणा-विया य बहं गुणा। सालिक्खुमाविया य बहं सत्ता जिप्फज्जंति य। गो-महिस-पडरुत्ततो य पडरगोरसं। सरीरेण वत्थादिएहिं सुंदरो जणो, अभिजायत्तणतो य कुलीणो, ज साहुसुवद्वकारी, एवमाविएहिं गुणेहिं भावपडिबद्धो निक्कारणोवयति—प्रशंसतोत्यर्थः।

६. चूर्णि, पृ० १०७ : कुत्तिसत्तोला कुशीला पासत्थावयः पंच णव वा। एते य पंच, इमे य वत्तारि—काधिय-पासणिय-संपसारस-मामगा।

है। उन्होंने बताया है कि अन्तर्गत क्रोध नेत्र, मुख आदि के विकार से प्रगट हो जाता है इसलिए क्रोध के लिए प्रकाश शब्द का प्रयोग किया गया है।^१

वृत्तिकार ने प्रत्येक शब्द का हार्द समझाया है। माया के द्वारा अपने अभिप्राय को छिपाया जाता है, इसलिए उसका नाम 'छन्न' है। 'पसंस' पद का संस्कृत रूप प्रशंस्य मानकर वृत्तिकार ने लिखा है कि लोभ सबके द्वारा प्रशंस्य माना जाता है, इसलिए उसका नाम प्रशंस्य है। मान उत्कर्ष की भावना उत्पन्न करता है, इसलिए उसका नाम उत्कर्ष है। क्रोध अन्तर् में रहता हुआ भी मुख, दृष्टि और भौंहें आदि के विकार से प्रगट होता है, इसलिए उसका नाम प्रकाश है।^२

प्रस्तुत सूत्र के १।३६ में भी लोभ आदि के लिए इनसे भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र के १।११ में क्रोध, मान, माया और लोभ के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है। भगवती १२।१०३-१०६ में क्रोध, मान, माया और लोभ के पर्यायवाची शब्द संकलित हैं। वहां उत्कर्ष शब्द मान के पर्यायवाची शब्दों में उल्लिखित है। शेष शब्द वहां उपलब्ध नहीं हैं।

६५. धृत का (धृत्यं)

इसका अर्थ है—प्रकंपित करना। कर्मबंध को प्रकंपित करने वाला आचरण धृत कहलाता है।

६६. सम्यक् विवेक (सुविवेकं)

विवेक का अर्थ है—विवेचन या पृथक्करण। घर, परिवार आदि को छोड़ना बाह्य विवेक है और आन्तरिक दोषों—कषाय आदि को छोड़ना आन्तरिक विवेक या कषाय-विवेक है। जूणिकार ने सुविवेक, सुनिष्कान्त और सुप्रव्रज्या को पर्यायवाची माना है।^३

श्लोक ५२ :

६७. स्नेह रहित (अणिहे)

जूणिकार ने इसका संस्कृतरूप 'अनिहतः' किया है। उनके अनुसार मुनि परिषद्‌ओं से निहत नहीं होता, उपस्था करने में शक्तिहीनता का परिचय नहीं देता, इसीलिए वह अनिहत कहलाता है।^४

वृत्तिकार ने 'अनिह' का मूल अर्थ अस्निह और वैकल्पिक अर्थ उपसर्गों से अपराजित किया है।^५

६८. आत्महित में रत (सहिए)

जूणि^६ और वृत्ति^७ दोनों में 'सहिए' पद के 'सहित' और 'स्वहित'—दोनों अर्थ किए गए हैं। जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् प्रकार से स्थापित होता है वह 'सहित' और जो आत्मा में स्थापित होता है वह 'स्वहित' कहलाता है।

आचार्यो (३।३८, ६७, ६९) में 'सहिए' शब्द का प्रयोग मिलता है। उसके जूणिकार ने वही अर्थ किया है जो सूत्रकृतांग की

१. जूणि, पृ० ६८ : इव्यच्छन्नं निघानादि, जावच्छन्नं माया। भृशं शंसा प्रार्थना लोभः। उक्कसो मानः। प्रकाशः क्रोधः। स हि अन्तर्गतोऽपि नेत्र-वक्त्रादिभिविकारैरुपलक्ष्यते।

२. वृत्ति, पत्र ७० : छन्नंति ति माया तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात् तां न कुर्यात्, अशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः। तथा प्रशंस्यते—सर्वैरप्यविगानेनाप्रियत इति प्रशंस्यो—लोभस्तं न न कुर्यात्, तथा जात्यादिभिर्मवस्थानैर्लघुप्रकृति पुरुषमुत्कर्षयतीत्युत्कर्षको मानस्तमपि न कुर्यादिति सम्बन्धः, तथाऽन्तर्गव्यस्थितोऽपि मुखदृष्टिभू भङ्गविकारैः प्रकाशोभवतीति प्रकाशः—क्रोधः।

३. जूणि, पृ० ६८ : गृहवारादिभ्यो विवेको बाह्यः, आत्म्यस्तरस्तु कषायविवेकः,सुविवेकोति वा सुनिष्कान्तं ति वा सुप्रव्रज्यं ति वा एगद्वं।

४. जूणि, पृ० ६८ : अनिहो नाम अनिहतः परीवहैः तपः कर्मसु वा नात्मानं निघयति।

५. वृत्ति, पत्र ६७ : अणिहे इत्यादि स्निह्यत इति स्निहः, न स्निहः अस्निहः, सर्वत्र समस्वरहित इत्यर्थः, यद्विवा परीवहोपसर्गनिहन्यते इति निहः, न निहोऽनिहः, उपसर्गोपपराजित इत्यर्थः।

६. जूणि, पृ० ६८ : ज्ञानविषु सम्यग् हितः सहितः जाणादीहि ३, आत्मनि वा हितः स्वहितः।

७. वृत्ति पत्र ७० : सह हितेन वर्तते इति सहितः, सहितो—युक्तो वा ज्ञानादिभिः, स्वहितः—आत्महितो वा सबन्धुष्ठानप्रवृत्तेः।

चूर्ण में प्राप्त है ।'

योग ग्रंथों में 'सहित' का प्रयोग कुंभक-प्राणायाम के संदर्भ में भी मिलता है । 'सहितकुंभक' सगर्भ और निर्गर्भ—दोनों प्रकार का होता है । जो मंत्र-जप, संख्या और परिणाम के साथ किया जाता है वह सगर्भ और जो मंत्र-जप आदि के बिना किया जाता है वह निर्गर्भ होता है ।'

'सहितकुंभक' करने वाला आत्मस्थ हो जाता है, इसलिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से युक्त होना तथा कुंभक की अवस्था में होना—इन दोनों के फलितार्थ में कोई भेद नहीं प्रतीत नहीं होता । हो सकता है, 'सहित' का अर्थ श्वास निरोध या श्वास को शान्त करना रहा हो और व्याख्या-काल में उसकी विस्मृति हो गई हो । युक्त शब्द का अर्थ जो गीता में है वह आगम सूत्रों के व्याख्या ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है । इसी प्रकार 'सहित' शब्द का अर्थ भी व्याख्या ग्रन्थों में उपलब्ध न रहा हो । जिस परंपरा में महाप्राणायाम की साधना का उल्लेख प्राप्त है वहाँ 'सहित' का कुंभक अर्थ ही रहा हो—इसमें कोई संदेह नहीं है ।

६६. (आत्महित.....)

मुनि को समाहित इन्द्रिय वाला क्यों होना चाहिए ? उसे इन्द्रिय-विषयों के प्रति रुष्ट और तुष्ट क्यों नहीं होना चाहिए ? समभाव की साधना बहुत कठिन है, उसके लिए प्रयत्नशील क्यों होना चाहिए ? इन प्रश्नों के उत्तर में सूत्रकार ने बताया कि यह दुर्लभ अवसर है । यह जो प्राप्त है वह बार-बार नहीं मिलता । इस अवसर में आत्महित साधा जा सकता है । चूर्णिकार और इक्षिकार ने इस दुर्लभता का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—त्रस होना, पाँच इन्द्रियों की प्राप्ति, मनुष्य जन्म, आर्यदेश, प्रधान कुल, अच्छी जाति, रूप आदि की संपन्नता, पराक्रम, दीर्घ आयुष्य, ज्ञान, सम्यक्त्व और शील की संप्राप्ति—ये सब दुर्लभ हैं । आत्महित की साधना के लिए इन सबकी अपेक्षा है । इसलिए आत्महित साधना सहज सुलभ नहीं है ।'

इसोक्त ५५ :

७०. संवृत कर्म वाले (संबुद्धकम्मस्स)

संवर महावीर की साधना-पद्धति का मौलिक तत्त्व है । अपाय का निरोध किए बिना मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता । संवर का अर्थ है—अपाय का निरोध । संवर की साधना करने वाला संवृत होता है । हिंसा आदि आसव, इन्द्रियाँ, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा मन, वचन और शरीर की चंचलता—इन सभी अपायों का निरोध करने वाला संबुद्धकर्मा कहलाता है ।'

७१. अज्ञान के द्वारा (अबोहिण)

दुःख का स्पर्श अज्ञान से होता है और उसका क्षय संयम से होता है । प्रश्न होता है कि दुःख का स्पर्श अज्ञान से कैसे हो सकता है ? प्रज्ञापना सूत्र (२३।६, १०) में बतलाया गया है कि कर्म का बंध राग और द्वेष—इन दो कारणों से होता है । राग और द्वेष का प्रयोग असंयम है । असंयम से स्पृष्ट दुःख संयम से क्षीण होता है—क्या यह प्रतिपादन अधिक संगत नहीं होता ?

कर्मबंध का विचार दो दृष्टिकोणों में किया जाता है—

१. कर्म का बंध किन कारणों से होता है ?
२. कर्म का बंध कैसे होता है ?

१. आचारंग चूर्ण, पृ० ११४ ।

२. घेरण्ड संहिता ५।४६ : सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत् ।

सगर्भो बीजमुज्जायं, निर्गर्भो बीजवर्जितः ॥

३. (क) चूर्ण पृ० ६८ ।

(ख) वृत्ति पत्र ७० ।

४. चूर्ण, पृ० ६९ : संबुद्धाणि यस्य प्राणवज्रादीनि कर्माणि स भवति संबुद्धकम्मा । इन्द्रियाणि वा यस्य संबुद्धाणि स भवति संबुद्धा, निरुद्धादीत्यर्थः । यस्य वा यस्मिन्तः कर्मणादीनि कम्माणि संबुद्धाणि, अथवा मिथ्यादर्शना—ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा यस्य संबुद्धा भवन्ति स संबुद्धकर्मा ।

प्रस्तुत स्थल में कर्म का बंध कैसे होता है—इसका निर्देश मिलता है। इसकी स्पष्ट व्याख्या प्रज्ञापना सूत्र में मिलती है। ज्ञानावरण कर्म का अनुभव (वेदन) करने वाला जीव दर्शनावरणीय कर्म का अनुभव करता है। दर्शनावरणीय कर्म का अनुभव करने वाला दर्शन-मोहनीय कर्म का अनुभव करता है। दर्शन-मोहनीय कर्म का अनुभव करने वाला मिथ्यात्व का अनुभव करता है—अतएव मे तएव का अध्यवसाय करता है। मिथ्यात्व के अनुभव से आठ कर्मों का बंध होता है।^१ कर्मबंध की इस प्रक्रिया में कर्मबंध का प्रथम अंग ज्ञानावरण का उदय या अज्ञान है। इस आधार पर अज्ञान से दुःख का स्पृण होता है, यह कहना संगत है।

तालाब के नाले बन्द कर दिए जाते हैं तब उसमें रहा हुआ जल हवा और सूर्य के ताप से सूख जाता है। इसी प्रकार कर्म के आसब-द्वारों का निरोध कर देने पर, इन्द्रियों का संयम होने पर, स्पृष्ट दुःख अपने आप विलुप्त हो जाता है।^२

७२. दुःख (कर्म) (दुःखं)

आगम साहित्य में दुःख का प्रयोग कर्म और दुःख—इन दो अर्थों में होता है। कर्म दुःख का हेतु है, इसलिए उसे भी दुःख कहा जाता है। चूणिकार ने यहां दुःख का अर्थ कर्म किया है।^३

७३. स्पृष्ट होता है (पुटं)

कर्म की तीन प्रारम्भिक अवस्थाएं ये हैं—

१. बद्ध—राग-द्वेष के परिणाम से कर्म-योग्य पुद्गलों का कर्मरूप में परिणत होना।
२. स्पृष्ट—कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लेष होना।
३. बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट—कर्म पुद्गलों का प्रगाढ़ बंध होना।^४

चूणिकार ने कर्म की चार अवस्थाएं निर्दिष्ट की हैं—

१. बद्ध, २. स्पृष्ट, ३. निघत्त, ४. निकाचित।^५

श्लोक ५६ :

७४. स्त्रियों के प्रति (विज्ञापना)

स्त्रियां रति—काम का विज्ञापन करती हैं अथवा मोहातुर पुरुषों के द्वारा स्त्रियों के समक्ष रति—काम का विज्ञापन किया जाता है, इसलिए 'विज्ञापना' शब्द का प्रयोग स्त्री के अर्थ में किया गया है।^६

७५. अनासक्त हैं (अजोसिया)

चूणिकार ने 'जुषी प्रीति-सेवनयोः' इस धातु से इसको निष्पन्न कर इसका अर्थ—अनादर करते हुए—किया है।^७ इन्द्रियों के पाँचों विषय स्वाधीन होते हैं। चूणिकार ने एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है—

पुष्प-फलानां च रसं सुराण मंसस्स महिलियाणं च ।

जाणंतां जे विरतां ते दुक्करकारेण बंदे ॥

पुष्प, फल, मदिरा, मांस और स्त्री के रस को जानते हुए जो उनसे विरत होते हैं वे दुष्कर तप करने वाले हैं। उनको मैं

१. पम्नवणा २३।३।

२. चूणि, पृष्ठ ६६ : तं पंचणालिविहाडिततडागहृष्टाग्नेन निश्चेसु च तालिकामुलेषु वाता-ऽऽतपेनापि शुष्यते, ओसिच्चमाणं सिग्धतरं सुखमिति, एवं संयमेन निरुद्धाध्वस्य पूर्वोपचितं कर्म क्षीयते ।

३. वही, पत्र ६६ : दुक्कमिति कम्मं ।

४. प्रज्ञापना २३।१५, वृत्ति, पत्र ४५६ ।

५. चूणि, पृ० ६६ : पुटं नाम बद्ध-पुटं-निघत्त-निकाचितं ।

६. (क) चूणि, पृष्ठ ७० : विज्ञापयन्ति रतिकामाः विज्ञापयन्ते वा मोहातुरे विज्ञापनाः स्त्रियः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ७२ : कामार्थिभिर्विज्ञापयन्ते यास्तद्वियम्यो वा कामिनं विज्ञापयन्ति ता विज्ञापनाः स्त्रियः ।

७. चूणि पृ० ७० : 'जुषी प्रीति-सेवनयोः' अङ्गुलिता नाम अनाग्रियमाणा इत्यर्थः ।

बंदन करता हूँ ।'

वृत्तिकार ने 'अजुष्टा' संस्कृत रूप देकर इसका अर्थ असेवित किया है ।'

७६. ऊर्ध्व (मोक्ष) की ओर (उड़हटं)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—मोक्ष और मोक्षमुख ।' वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल मोक्ष किया है ।' उत्तराध्ययन सूत्र (६/१३) में 'बहियाउडुमादाय' में भी 'उडु' शब्द का यही अर्थ है । ऊर्ध्व का शाब्दिक अर्थ है—ऊपर । जैन मत के अनुसार लोक के अत्यन्त ऊर्ध्वभाग में मुक्तिशिला है । वही मोक्ष है, इसीलिए ऊर्ध्व शब्द मोक्ष का वाचक बन गया । अन्य दर्शनों में जो 'पर' शब्द का अर्थ है, वही अर्थ जैनदर्शन में 'ऊर्ध्व' का है ।

श्लोक ५७ :

७७. श्रेष्ठ (रत्न, आभूषण आदि) को (अगं)

इसका अर्थ है उत्तम । जो वर्ण, प्रभा और प्रभाव से उत्तम होता है उसे अग (अग्र) या श्रेष्ठ कहा जाता है । वह वस्त्र, आभूषण, हाथी, घोड़ा, स्त्री या पुरुष—कुछ भी हो सकता है । जिस क्षेत्र में जो द्रव्य प्रधान होता है, वह श्रेष्ठ कहलाता है ।'

७८. श्लोक ५७ :

प्रस्तुत श्लोक में महाव्रतों के साथ रात्रीभोजन-विरमण का भी उल्लेख है । स्थानांग (५/१) और उत्तराध्ययन (२३/२३) के अनुसार भगवान् महावीर ने पांच महाव्रतों का प्रतिपादन किया था । वहां रात्रीभोजन-विरमण का उल्लेख नहीं है । स्थानांग (१/६२) में रात्रीभोजन विरमण का उल्लेख भी नहीं मिलता । प्रस्तुत श्लोक से ज्ञात होता है कि रात्रीभोजन-विरमण की व्यवस्था भी पांच महाव्रतों की व्यवस्था के साथ जुड़ी हुई है । छठे अध्ययन के अठाइसवें श्लोक से भी यह तथ्य पुष्ट होता है । वहां बताया गया कि भगवान् महावीर ने स्त्री और रात्रीभोजन का वर्जन किया—'से वारिय हत्थी सराइमत्ते' ।

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में वृत्तिकार ने पूर्व दिशा निवासी और पश्चिम दिशा निवासी आचार्यों के अर्थभेद का उल्लेख किया है । जो अनुवाद किया गया है वह पूर्व दिशावासी आचार्यों की परम्परा के अनुसार है । पश्चिम दिशावासी आचार्यों के अनुसार प्रस्तुत श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है—व्यापारियों द्वारा लाये गए रत्नों को राजा या उनके समकक्ष लोग ही धारण करते हैं । किन्तु इस संसार में रत्नों के व्यापारी और खरीददार कितने हैं ? इसी प्रकार परम महाव्रत (रत्नों की भांति) अत्यन्त दुर्लभ है । उनके उपदेष्टा और धारण करने वाले कितने लोग हैं ? बहुत कम हैं ।'

भगवान् महावीर के समय में जैन मुनियों का बिहार-क्षेत्र प्रायः पूर्व में ही था । वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में आचार्य भद्रबाहु के समय द्वादशवर्षीय दुष्काल पड़ा । उस समय साधुओं के कुछ गण दक्षिण भारत में चले गए और कुछ गण मालव प्रदेश में । उज्जैनी जैन धर्म का मुख्य केन्द्र बन गया । वीर निर्वाण की तीसरी शताब्दी में महाराज सप्रति ने सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया । उनकी प्रेरणा से उन प्रदेशों में जैन मुनि बिहार करने लगे और वे प्रदेश जैन धर्म के मुख्य केन्द्र बन गए । वहां बिहार करने वाले आचार्य ही पश्चिम दिशा निवासी हैं ।

१. वृत्ति, पृ० ७० : ।

२. वृत्ति, पत्र ७२ : अजुष्टाः—असेवितः ।

३. वृत्ति, पृ० ७० : ऊर्ध्वमिति मोक्षः तत्सुखं वा ।

४. वृत्ति, पत्र ७२ : ऊर्ध्वमिति मोक्षम् ।

५. (क) वृत्ति, पृष्ठ ७० : यत्सुखं किञ्चित् तदग्न, तद्यथा वर्णतः प्रकाशतः प्रभावतश्चेत्यादि, तच्च रत्नादि, तत्सु द्रव्यं बणिग्भिरानीतं राजानो धारयन्ति तत्प्रतिमा वा तत्सु वस्त्रवाभरणानि वा, तदेव चाश्वो हस्ती स्त्री पुरुषो वा, यो वा यस्मिन् क्षेत्रे प्रधानं स तत्र तत् प्रधानं द्रव्यं धारयति ।

(ख) वृत्ति, पत्र ७२ : ।

६. वृत्ति, पृष्ठ ७० : पूर्वदिग्निवासिनामाचार्याणामर्थः । प्रतीक्यापरदिग्निवासिनस्त्वेवं कथयन्ति.....धारयन्ति शतसाहस्राभ्युद्येनयाणि वा राजान एव धारयन्ति, तत्सु ह्य तत्प्रतिमा वा । किमन्तो लोके हस्तिवर्जिनः कायिका वा ? एवं परमाणि महत्त्वानि रत्नभूताभ्यतिदुर्लभानि, तेषामस्या एवोपदेष्टारो धारयितराश्च ।

इसलोक ५८ :

७६. सुख के पीछे दौड़ने वाले (सायानुगा)

जो ऐहिक और पारलौकिक अपायों से निरपेक्ष होकर केवल सुख के पीछे दौड़ते हैं, वे 'सायानुग' कहलाते हैं ।'

८०. आसक्त हैं (अज्झोववण्णा)

जो ऋद्धि, रस और साता—इन तीन गौरवों में अत्यन्त आसक्त होते हैं वे अज्झुपपन्न कहलाते हैं ।'

८१. कृपण के समान ढोठ हैं (किमणेण समं पगभिभया)

चूर्णिकार ने 'किमणेण' पाठ मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

कोई व्यक्ति अतिचारो का सेवन करता है । दूसरा उसे अतिचार-निवृत्ति की प्रेरणा देता है तब वह कहता है—इस छोटे से दोष-सेवन से क्या होना-जाना है ? वह प्रत्येक अतिचार की उपेक्षा करता रहता है । धीरे-धीरे उसकी पापाचरण की वृत्ति बढ़ती जाती है और फिर वह बड़ा पाप करने में भी नहीं हिचकता । एक संस्कृत कवि ने कहा है—'करोत्यादौ तावत् सघृणहृदयः किञ्चिदशुभं ।' चूर्णिकार ने इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—'एक व्यक्ति सफेद कपड़े पहने हुए था । उस पर कुछ कीचड़ लग गया । व्यक्ति ने सोचा—इस छोटे से धब्बे से क्या अन्तर आएगा ? उसने उसकी उपेक्षा कर दी । उसे उसी समय धोकर साफ नहीं किया । फिर कभी उसी वस्त्र पर स्याही, श्लेष्म, बिकनाई आदि लग गई । उसने उसकी भी उपेक्षा कर दी । धीरे-धीरे वस्त्र अत्यन्त मलिन हो गया ।

कमरे के फर्श पर किसी बच्चे ने मल-मूल विसर्जित किए । उसे वही घिस डाला । इसी प्रकार श्लेष्म, नाक का मेल आदि भी वहीं डालते गए और घिसते गए । धीरे-धीरे गंदगी बढ़ती गई । एक दिन ऐसा आया कि सारा कमरा गन्दगीमय हो गया और उससे अत्यन्त दुर्गन्ध फूटने लगी ।

इसी प्रकार जो मुनि अपने चारित्र पटल पर लगने वाले छोटे से धब्बे की उपेक्षा करता है वह अपने संपूर्ण चारित्र को गंवा देता है । चूर्णिकार ने दो शब्दान्तों की सूचना दी है—(१) भद्रक महिष और (२) आश्रमक्षी राजा (उत्तराध्यायन ७/११) ।'

१. (क) चूर्ण, पृ० ७० : सायं अणुगच्छन्तीति सायानुगा इहलोगपरलोगनिरवेक्षणा ।

(ख) वृत्ति, पत्र ७२ : सातं—सुखमनुगच्छन्तीति सायानुगाः—सुखशीला ऐहिकामुष्मिकापायभीरवः ।

२. (क) चूर्ण, पृ० ७० : एव इङ्गि-रस-सायागारवेसु अज्झोववण्णा अधिकं उपपण्णा अज्झोववण्णा ।

(ख) वृत्ति, पत्र ७२ : समृद्धिरससातागोरवेसु अज्झुपपन्ना गृह्णाः ।

३. चूर्ण, पृ० ७० : ते पि अइयारेषु पसज्जमाणा पवा परेश्चोद्यन्ते तदा कुवन्ते—किमनेन स्वल्पेन दोषेण भविष्यति ? वितथं वा कुप्पडिलेहित—कुम्भासित—अणाउत्तगमणादि ? एवं थोक्थोक् पावमायरंता पदे पदे विसीवमाणा सुबहृग्यपि पापान्याचरन्ति ।

४. चूर्ण, पृ० ७० : चूर्णिकार ने श्लोक का यह एक चरण मात्र दिया है । यह पूरा श्लोक इस प्रकार उपलब्ध होता है—

'करोत्यादौ किञ्चत् सघृणहृदयस्तावदशुभं,
द्वितीय सापेक्षो विमृशति च कार्यं प्रकुरुते ।
तृतीयं निःशंको विगतघृणमन्यच्च कुरुते,
ततः पापाभ्यासात् सततमशुभेषु प्ररमते ॥

(बृहत्कल्पभाष्य गाथा ६६४, वृत्ति पृ० ३१३ में उद्धृत)

५. चूर्ण, पृ० ७१ : विट्ठंतो जघा—एगस्स सुद्ध वत्थे पंको लग्गो । सो वित्तेति—किमेत्थिं करिस्सति ? ति तत्थेव हसितं, एवं वित्थिं मसि-खेल-सिघाणग-सिणेहावोहि सव्वं मइलोभूतं ।

अथवा मणिकोट्टिमे खेडरूवेण सण्णा वोसिरिता, सा तत्थेव घट्टा । एवं खेल-सिघाणावोणि वि 'किमेताणि करिस्सति ?' ति तत्थेव तत्थेव घट्टाणि । जाव तं मणिकोट्टिमं सव्वं लेक्खावोहि-श्लेष्मादिभिः मलिनोभूतं दुग्गंघिगं च जात । भद्गमहिसो वि एत्थ विट्ठंतो भाणितव्वो । अंबमक्खी राया विट्ठंतो य ।

एवं पदे पदे विसीवंतो किमणेण कुम्भासितेण वा स्तोकरावस्य चरितपडस्स मलिनीभविससति ? जाव सव्वो चरितपडो मइलियो अविरेण कालेण, चरितमणिकोट्टिमं वा ।

श्लोक ५९ :

८२. गाडीवान् द्वारा (वाहेण)

चूणिकार और वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ व्याघ्र और वंक्लिपक अर्थ गाडीवान् किया है ।'

श्लोक ६० :

८३. संस्तव (कामभोग का परिचय) (संयव)

चूणिकार ने इसका अर्थ—पूर्वापर संबंध और वृत्तिकार ने काम संबंधी परिचय किया है ।'

८४. (सोयई, यणई, परिदेवई)

चूणिकार ने 'सोयई' का अर्थ मनस्ताप, 'यणई' का अर्थ वाचिक क्रन्दन और 'परिदेवई' के स्थान पर 'परितप्पई' पाठ मानकर उसका अर्थ आन्तरिक और बाह्य शारीरिक दुःख का वेदन करना किया है ।'

वृत्तिकार ने शोचति का अर्थ—शोक करना, स्तनति का अर्थ सशब्द निःश्वास लेना और 'परिदेवते' का अर्थ बहुत विलाप या क्रन्दन करना किया है ।'

श्लोक ६२ :

८५. यह जीवन अल्पकालिकवास है (इत्तरवास)

सौ वर्ष की परम आयुष्य वाला मनुष्य अल्पवय में भी मर जाता है, इसलिए इस जीवन को 'इत्तरवास'—अल्पकालिक कहा गया है ।'

मनुष्य का परम आयुष्य सौ वर्ष का माना जाता है । यह भी हजारों वर्ष की आयुष्य की अपेक्षा से कतिपय निमेषमात्र का ही होता है । अतः इसे अल्पकालिक कहा गया है ।'

श्लोक ६३ :

८६. आत्मघातो (आयवंड)

दंड का अर्थ है—हिंसा । दूसरे प्राणियों की हिंसा करने वाला अपनी हिंसा भी करता है । दूसरो को दंडित करने वाला

१. (क) चूणि, पृ० ७१ : बाहो नाम लुट्गो.....बाहोतीति बाहः शाकटिकोज्ज्यो वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र ७२ : व्याघ्रेण लुब्धकेन.....यद्विवा—वाह्यतीति बाहः—शाकटिकस्तेन ।

२. चूणि, पृ० ७१ : संयवो नाम पुष्पा-ऽवरसंबंधो ।

३. वृत्ति, पत्र ७३ : परिचयं कामसम्बन्धम् ।

४. चूणि, पृ० ७२ : शोचनं मानसस्ताप, निस्वननं तु वाचिकं किञ्चित् कायिकं च । सर्वतस्तप्यते परितप्यते बहिरन्तश्च काय-वाङ्-मनोभिर्वा ।

५. वृत्ति, पत्र ७३ : शोचति, स च परमाधार्मिकः कदर्थ्यमानस्तिर्यक्षु वा अध्यादिवेदनाप्रस्तोऽत्यर्थं स्तनति सशब्दं निःश्वासति, तथा परिदेवते विलापत्याकम्बति सुबल्लिति—

हा मातर्नियत इति ज्ञाता नैवास्ति साम्प्रतं करिष्यत् ।

किं शरणं मे स्याद्विह बुष्कृतचरितस्य पापस्य ? ॥

६. चूणि, पृ० ७२ : इत्तरमिति अल्पकालमित्यर्थः ।

७. वृत्ति, पत्र ७४ : साम्प्रतं सुबल्लप्यायुर्बर्षशतं तच्च तस्य तदन्ते त्रुटयति, तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेषप्रायत्वात् इत्तरवास-कल्पं वर्तते—स्तोकनिवासकल्पम् ।

अपने आपको भी दंडित करता है, इसलिए हिंसक आत्मदंड कहलाता है, हिंसक का न इहलोक होता है और न परलोक होता है—न वर्तमान का जीवन अच्छा होता है और न भविष्य का जीवन अच्छा होता है। इस दृष्टि से भी उसे आत्मदंड कहा गया है।^१

८७. विजन में लूटने वाले (एगंतलूसगा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—एकान्त हिंसक किया है।^१ वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१. एकान्ततः प्राणियों की हिंसा करने वाले, २. सद् अनुष्ठान के ध्वंसक।^२

चूर्णिकार और टीकाकार के अर्थ स्पष्ट भावना को प्रस्तुत नहीं करते। इसका अर्थ—‘विजन में लूटने वाले’ उपयुक्त लगता है। हिंसा की बात ‘आरंभनिस्सिया’ में आ चुकी है। अतः यहाँ हिंसा का अर्थ समीचीन नहीं लगता। ‘लूषक’ के दो अर्थ हैं—अवयवों का छेदन करने वाला और लूट-खसोट करने वाला।^३

८८. नरक में (पावलोगयं)

चूर्ण और वृत्ति में पापलोक का अर्थ नरक किया है।^४

८९. आसुरी दिशा में (आसुरियं)

असुर शब्द का संबंध क्रोध और रौद्र कर्म से है। जिसके क्रोध की परंपरा लम्बी होती है, उसकी भावना को आसुरिका भावना कहा जाता है।^५ देवों के चार निकाय हैं—भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। इनमें भवनपति और व्यंतर—इन दोनों को असुर कहा गया है। असुर भवनपति देवों की एक जाति है, किन्तु सुर और असुर के विभाग में असुर का अर्थ व्यापक हो जाता है। इसी आधार पर अभयदेवसूरि ने असुर का अर्थ भवनपति और व्यंतर दोनों किया है।^६ भवनपति और व्यंतर देवों से संबंधित दिशा को भी आसुरी या आसुरिका दिशा कहा जाता है। यहाँ आसुरिका दिशा का तात्पर्य नारकीय दिशा है। क्रोधी और रौद्रकर्मकारी मनुष्य असुर होते हैं और वे अपनी आसुरी वृत्ति के कारण उस दिशा में जाते हैं जहाँ क्रोध और रौद्र कर्म के परिणाम भुगतने की परिस्थितियाँ होती हैं। उत्तराध्यायनसूत्र (७/५-१०) में हिंसा करने वाले, झूठ बोलने वाले, लूटपाट करने वाले, मास खाने वाले आदि-आदि क्रूर कर्म करने वाले को आसुरी दिशा में जाने वाला बताया है।

चूर्णिकार ने आसुरिका के दो प्रकार किए हैं—

१. द्रव्यतः असूर्या—जहाँ सूर्य न हो—नरक आदि।

२. भावतः असूर्या—जिन जीवों के चक्षु न हो—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीव।

वृत्तिकार के अनुसार अज्ञान-तप आदि के कारण उस प्रकार के वेवत्त्व की प्राप्ति होती है तो भी वे आसुरी दिशा की ओर ही जाते हैं।^७

इसका तात्पर्य है कि वैसे लोग देव बनकर भी दूसरे देवों के कर्मकर और कित्वधिक देव—अधमदेव होते हैं।

१. चूर्ण, पृष्ठ ७२ : परवण्डप्रयुत्ता आत्मानमपि वण्डयन्ति, अथवा ण तेसि इमो लोगो न परलोगो तेनाऽऽत्मानं वण्डयन्ति।

२. चूर्ण, पृष्ठ ७२ : एगंतलूसगा एगंतहिंसगा इत्यर्थः।

३. वृत्ति, पत्र ७४ : एकान्तेनेव जन्तूनां लूषका.—हिंसका सवनुष्ठानस्य वा ध्वंसका।

४. आष्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी : To hurt, to plunder.

५. (क) चूर्ण, पृष्ठ ७२ : पापानि पापो वा लोकः नरकः।

(ख) वृत्ति, पत्र ७४ : पापं लोकं पापकर्मकारिणां यो लोको नरकाविः।

६. उत्तरजम्भणाणि ३६/२६६।

७. स्थानांगवृत्ति, पत्र २० : असुराः भवनपतिव्यन्तराः।

८. चूर्ण, पृष्ठ ७२, ७१ : आसुरिका वग्वे भावे यः। आसुरियाणि न तत्थ सूरौ विद्यते, अथवा एगिदियाणं सूरौ णत्थि जाव तेइविया असुरा वा भवन्ति।

९. वृत्ति, पत्र ७४ : तथा बासतपश्चरणादिना यद्यपि तथाविधवेवत्वावाप्तिस्तथाऽप्यसुराणामियमासुरी तां विशं यन्ति।

श्लोक ६५ :

६०. श्लोक ६४-६५ :

इन दो श्लोकों में सूत्रकार ने एक चिरंतन प्रश्न की चर्चा की है। मनुष्य दो प्रकार की दृष्टि वाले होते हैं। कुछ मनुष्य श्लोक के साथ-साथ परलोक को भी स्वीकार करते हैं—वर्तमान और भावी—दोनों जन्मों के प्रति आस्थावान् होते हैं। कुछ मनुष्य अपने अस्तित्व को वर्तमान जीवन तक ही सीमित मानते हैं। जिनमें पारलौकिक जीवन की आस्था होती है वे वर्तमान जीवन के प्रति जागरूक होते हैं। वे जीवन की नश्वरता को समझते हैं और वर्तमान जीवन में किए गए असद् आचरणों का परिणाम अगले जन्म में भी भुगतना होता है, इसलिए हिंसा आदि के आचरण में ठीठ नहीं बनते। आगामी जीवन में आस्था न रखने वाले निश्चित भाव से हिंसा आदि के आचरणों में प्रवृत्त हो सकते हैं। इसलिए उनमें ठीठता आ जाती है। उनका स्पष्ट तर्क होता है—हमें वर्तमान से मतलब है, परलोक की कोई चिंता नहीं है। किसने देखा है परलोक !

परलोक साक्षात् दृश्यमान नहीं है। फिर उसे कैसे माना जाए ? यह प्रश्नचिह्न परलोक में आस्था रखने वालों के सामने भी है। इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार ने ६५ वें श्लोक में दिया है। कोई अंधा आदमी सूर्य के प्रकाश को नहीं देख पाता। इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रकाश नहीं है। इसी प्रकार मोह से अंध मनुष्य आत्मा के पारलौकिक अस्तित्व को नहीं देख पाता, इसका अर्थ यह नहीं होता है कि वह नहीं है। सूत्रकार अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि जैसे अंधा मनुष्य प्रकाश के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वैसे ही अवाक्ष्य पदार्थों को साक्षात् देखने वाले अन्तर्दर्शी और अन्तर्ज्ञानी पुरुषों ने जो कहा है, उस पर तुम भरोसा करो।

श्लोक ६६ :

६१. सहिष्णु (सहिणु)

चूणिकार ने 'सहित' का अर्थ—ज्ञान आदि से युक्त किया है। वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—हित सहित तथा ज्ञान आदि से युक्त। ज्ञान आदि से युक्त के लिए केवल 'सहित' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं लगता। केवल 'सहित' शब्द का प्रयोग किए गए अर्थों से भिन्न अर्थ की सूचना देता है। सहित शब्द का एक अर्थ है—सहनशील, सहिष्णु। यह अर्थ समुचित प्रतीत होता है।

देखें—२।५१, ५२ के टिप्पण।

श्लोक ६७ :

६२. श्लोक ६७ :

धर्म की आराधना के लिए गृहवास और गृहत्याग—दोनों अवस्थाएं मान्य हैं। गृहवास में रहने वाला व्यक्ति भी धर्म का क्रमिक विकास कर सकता है। सबसे पहले धर्म का श्रवण, फिर ज्ञान, विज्ञान और सयमासंयम (आवक के बारह व्रत) को स्वीकार किया जाता है। यह गृहस्थ के लिए धर्म की आराधना का क्रम है। सामायिक व्रत के द्वारा सर्वत्र समता का अनुशीलन करने वाला गृहस्थ दिव्य उत्कर्ष को उपलब्ध होता है।

उत्तराध्ययन के ५।२३, २४ वें श्लोक में यह विषय कुछ विस्तार से चर्चित है। प्रस्तुत सूत्र में 'बेवाणं गच्छे सलोगयं'—यह पद है। उत्तराध्ययन में 'गच्छे ज्वल सलोगयं'—यह पद मिलता है। प्राचीन काल में 'यल' शब्द देव के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

देखें—उत्तराध्ययन ५।२४ का टिप्पण।

१. (क) चूणि, पृ० ७३।

(ख) वृत्ति, पत्र ७४।

२. चूणि, पृ० ७३ : सहितो नाम ज्ञानाविभिः।

३. वृत्ति, पत्र ७५ : सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानाविभुक्तो वा।

४. आप्ते संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी : सहित—Borne, endured.

इसोफ ६८ :

६३. अनुशासन को (अनुशासनं)

चूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—श्रुतज्ञान अथवा श्रावक धर्म ।^१ वृत्तिकार ने इसका अर्थ—आज्ञा, आगम या संयम किया है ।^२ अनुयोगद्वारा सूत्र में शासन को आगम का पर्यायवाची बताया गया है ।^३

६४. मात्सर्य..... (मच्छरे.....)

चूणिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अभिमान पूर्वक किया जाने वाला रोष । इसकी उत्पत्ति के चार कारण हैं—(१) क्षेत्र (२) वस्तु (३) उपधि (४) शरीर । जो जाति, लाभ, तप, ज्ञान आदि से सम्पन्न है उसके प्रति भी मात्सर्य न रखे । यह अनुभव न करे कि यह इन गुणों से युक्त है, मैं नहीं हूँ अथवा गुणों की समानता में भी मात्सर्य न करे ।^४

वृत्तिकार के अनुसार क्षेत्र, वस्तु, उपधि और शरीर के प्रति राग-द्वेष रखना मात्सर्य है । इनके प्रति निष्पिपासित होना अमात्सर्य है ।^५

६५. उच्छ (भाषुकरो) (उच्छं)

चूणिकार ने इसके दो प्रकार किए हैं—

(१) द्रव्य उच्छ—नीरस पदार्थ ।

(२) भाव उच्छ—अज्ञात चर्या । भिक्षु अपनी जाति, कुल वंश आदि के आधार पर भिक्षा प्राप्ति का प्रयत्न न करे । वह अज्ञात रूप से भिक्षा ले ।^६

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—भिक्षा से प्राप्त वस्तु किया है ।^७

देखें—दसवेआलिय ८।२३ का टिप्पण ।

६६. समाधिस्थ (जुस्तो)

इसका अर्थ है—समाधिस्थ । चूणिकार ने इसका अर्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र सहित अथवा तप, संयम में प्रवृत्त किया है ।^८ वृत्ति में भी यही अर्थ है ।^९ ज्ञान, दर्शन और चारित्र—यह समाधिस्थ है । इससे मनुष्य समाधिस्थ या समाहित होता है । गीता के अनुसार 'युक्त' चित्त की एक विशेष अवस्था का नाम है । जब एकाग्रताप्राप्तचित्त बाह्य चित्तन को छोड़कर केवल आत्मा में ही स्थित होता है, दृष्ट और अदृष्ट सभी कामभोगों के प्रति निस्पृह हो जाता है, तब वह 'युक्त' कहलाता है ।^{१०}

१. चूणि, पृ० ७४ . अनुशास्यते येन तदनुशासनम्, श्रुतज्ञानमित्यर्थः । अथवा अनुशासनस्य श्रावकधर्मस्य ।

२. वृत्ति, पत्र ७५ . शासनम्—आज्ञामागमं वा तदुक्ते सयमे वा ।

३. अनुयोगद्वाराइ, सूत्र ५१, गाथा १; बृहत्कल्पभाष्य गाथा १७४, पीठिका पृ० ५८ :

सुय-सुत-गंध-सिद्धंत, सासणे आण-वयण-उबएसे ।

पण्णवण-आगमे य, एगट्टा पण्णवण सुत्ते ॥

४. चूणि, पृ० ७४ : मत्सरो नाम अभिमानपुरस्सरो रोषः । स जुत्तुर्वा भवति, तं जघा—क्षेतं पडुक्ख, वत्थु पडुक्ख, उर्वधि पडुक्ख, सरीरं पडुक्ख । एतेसु सग्घेसु उप्पत्तिकारणेसु विनीतमत्सरेण भवितव्वं । तथा जाति-लाभ-तपो-विज्ञानादिसम्पन्ने च परे न मत्सराः कार्यः—यथाऽयमेभिर्गुणैर्युक्तोऽहं नेति, तद्गुणसमाणे वा ।

५. वृत्ति, पत्र ७५ : विणोयमच्छरे..... . सर्वत्रापनीतो मत्सरो येन स तथा सोऽरक्तद्विष्टः क्षेत्रव (वा) स्तूपधिशरीरनिष्पिपासः ।

६. चूणि, पृ० ७४ : दग्धं उक्खलि-खलगादि, भाषुच्छं अज्ञातचर्या ।

७. वृत्ति, पत्र ७४ : उच्छंति भैर्यम् ।

८. चूणि पृ० ७४ : जुस्तो नाम जाणादीहि तव-सज्जमेसु वा ।

९. वृत्ति, पत्र ७६ : युक्तो ज्ञानाविभिः ।

१०. गीता ६।१८ : यदा चिन्तयत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निष्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तथा ॥

६७. मोक्षार्थी (आयतद्विए)

दशवेकालिक सूत्र में दो स्थानों (५।२।३४, ६।४।सू ४) में 'आयतद्विए' पाठ का प्रयोग मिलता है। चूणिकार अगस्त्यसिंह स्वविर ने इसका अर्थ—अविष्य मे हित चाहने वाला किया है। उनके अनुसार आयति+अधिक शब्द बनता है।^१ चूणिकार जिनदास ने आयत अर्थी शब्द मानकर 'आयत' का अर्थ मोक्ष किया है। आयतार्थी—मोक्ष चाहने वाला।^२

प्रस्तुत सूत्र की चूणि मे आयत का अर्थ—दृढ़ ग्रहण किया है।^३ इसकी व्याख्या आयति+अधिक और आयत+अधिक—दोनों के आधार पर की जा सकती है। आयति-अधिक—अविष्य का हित चाहने वाला और आयत-अधिक—दूर का हित चाहने वाला।

इलोक ७० :

६८. धन (वित्त)

वित्त का अर्थ है धन, धान्य और हिरण्य—सोना चादी आदि।^४

इलोक ७१ :

६९. अभ्यागमिक ... औपक्रमिक (अभ्यागमियन्मि ... औपक्रमिण्)

चूणिकार ने अभ्यागमिक का मुख्य अर्थ धातुओम से होने वाला व्याधि-विकार और वैकल्पिक अर्थ—आगन्तुक रोग (चोट आदि) किया है।^५

वृत्तिकार के अनुसार पूर्वजित असातवेदनीय कर्म के उदय से होने वाला दुःख अभ्यागमिक कहलाता है।^६

चूणिकार और वृत्तिकार के अनुसार औपक्रमिक का अर्थ अनानुपूर्वी से होने वाला कर्मोदय है—जो कर्मोदय विपक्व नहीं है किन्तु प्रयत्न के द्वारा उसका विपाक किया गया है।^७

प्रज्ञापना मे आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी—दो प्रकार की वेदना बतलाई गई है। मलयगिरी ने आभ्युपगमिकी वेदना का अर्थ—अपनी इच्छा से स्वीकृत पीडा किया है। सूर्य का आतप सहन करने से जो शारीरिक पीडा होती है वह आभ्युपगमिकी वेदना है। स्वत. या प्रयत्न के द्वारा उदयप्राप्त वेदनीय कर्म के विपाक से होने वाला कष्ट का अनुभव औपक्रमिकी वेदना है।^८

इलोक ७२ :

१००. प्राणी अपने-अपने कर्मों से विभक्त हैं (सयकम्मकप्पिया)

जैन दर्शन मे ईश्वरकर्तृत्व मान्य नहीं है। ऐसी कोई परम सत्ता नहीं है जो हमारे भाग्य का नियमन करती हो। प्रत्येक

१. दशवेकालिक, ५।२।३४ अगस्त्यचूणि पृ० १३३ : आयतद्वी आगामिणि काले हितमायतीहितं, आततिहितेण अत्थो आयत्थामिलासी।

२. दशवेकालिक, ५।२।३४ जितहासचूणि पृ० २०२ : आयतो—मोक्षो भण्ह, तं आययं अत्थयतीति आययद्वी।

३. चूणि, पृ० ७४ : आयतार्थिकत्वम्, अत्थो णाम णाणादि, आयतो णाम दृढग्राहः, आयतविहारकमित्यर्थः।

४. (क) चूणि, पृ० ७४ : वित्तं हिरण्णादि।

(ख) वृत्ति पत्र ७६ : वित्तं धनधाम्यहिरण्यादि।

५. चूणि, पृ० ७५ : अभिमुखं आगमिकं अभ्यागमिकं व्याधिविकारः, स तु धातुओमाआगन्तुको वा।

६. वृत्ति, पत्र ७६ : पूर्वोपासासातवेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे।

७. (क) चूणि, पृ० ७५ : उपक्रमाज्जातमिति औपक्रमिकम्, अनानुपूर्व्या इत्यर्थः, निरुपक्रमायुःकरणम्।

(ख) वृत्ति, पत्र ७६ : उपक्रमकारणैरुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितियेण वा।

८. प्रज्ञापना पत्र ३५, वृत्ति पत्र ५५७ : तत्राभ्युपगमिकी नाम या स्वयमभ्युपगम्यते, तथा साधुभिः केशोत्तुञ्चनतापनादिभिः शरीर-पीडा, अभ्युपगमेन—स्वयमङ्गीकारेण निर्वृत्ता आभ्युपगमिकीति व्युत्पत्तेः, उपक्रमणमुपक्रमः—स्वयमेव समीपे भवनमुदीरणाकरणेन वा समीपानयनं तेन निर्वृत्ता औपक्रमिकी, स्वयमुदीर्णस्य उदीरणाकरणेन वा उदयमुपनीतस्य वेदनीयकमणो विपाकानुभवनेन निर्वृत्ता इत्यर्थः।

मनुष्य अपने कृतकर्म के अनुसार नाना अवस्थाओं को प्राप्त होता है। पृथ्वी, पानी आदि जीवों का विभाग भी अपने किए हुए कर्मों के कारण ही है। सत्तर से बहत्तरवें प्रलोक तक 'अशरण भावना' प्रतिपादित है। ईश्वरवादी किसी को शरण मान सकता है किन्तु कर्मवादी किसी को शरण नहीं मानता। प्रत्येक कार्य और उसके परिणामों के प्रति अपने दायित्व का अनुभव करता है। उस दायित्व के अनुभव का एक महत्वपूर्ण सूत्र है—अशरण अनुपेक्षा। इसका प्रतिपादन 'आयारो' में भी हुआ है। देखें आयारो २।४-२६।

१०१. (तपश्चरण) में आलसी (सठ)

चूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. तपश्चरण में उद्यम नहीं करने वाला।

२. तपस्या में माया करने वाला।

उन्होंने तात्पर्याय में पापकर्मों से ओतप्रोत को सठ माना है।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ मायावी किया है।^१

१०२. जग्म, जरा और मरण से (जाइजरामरणेहि)

चूणिकार ने 'जाइ' के स्थान पर 'वाहि' (व्याधि) पाठ मानकर व्याख्या की है। उन्होंने सूचित किया है कि नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य—इन तीन गतियों के जीव व्याधि का अनुभव करते हैं। जरा—बुढ़ापा केवल तिर्यञ्च और मनुष्य गति में ही होता है और मरण—चारों गतियों में होता है।^२

श्लोक ७३ :

१०३. क्षण को (क्षणं)

क्षण का अर्थ होता है—उपलब्धि का क्षण। चूणिकार ने क्षण का मूल्यांकन करते हुए चार प्रकार के क्षणों की चर्चा की है—सम्यक्त्व सामायिक क्षण, श्रुत सामायिक क्षण, गृहस्थ सामायिक क्षण और मुनि सामायिक क्षण।^३ इनमें सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक के क्षण दुर्लभ हैं। चारित्र सामायिक (गृहस्थ सामायिक और मुनि सामायिक) के क्षण दुर्लभतर हैं। इसीलिए सूत्रकार ने कहा है—'वर्तमान में उपलब्ध मुनि-सामायिक के क्षण का मूल्यांकन करो। इस बोधि—चारित्र के क्षण का मिलना सुलभ नहीं है।

वृत्तिकार ने क्षण का अर्थ अवसर किया है। उन्होंने क्षण के चार प्रकारों की चर्चा की है—द्रव्यक्षण, क्षेत्रक्षण, कालक्षण और भावक्षण।^४

१०४. बोधि (बोधि)

बोधि तीन प्रकार की होती है—ज्ञान बोधि, दर्शन बोधि और चारित्र बोधि।^५ वृत्तिकार के अनुसार बोधि का अर्थ है—सम्यक् दर्शन की प्राप्ति।^६ जो धर्म का आचरण नहीं करते उन्हें बोधि प्राप्त नहीं होती। किन्तु यहाँ बोधि चारित्र के अर्थ में विवक्षित है। चूणिकार ने चारित्रबोधि की दुर्लभता प्रतिपादित की है।^७ आवश्यक निर्युक्ति में कहा है—जो बोधि को प्राप्त कर उसके अनुसार

१. चूणि, पृ० ७५ : सठा नाम तपश्चरणे निदधमा। सठीमूता वा पापकर्मभिः ओतप्रोता इत्यर्थः।

२. वृत्ति, पत्र ७६ : शठकर्मकारिण्यत् शठा।

३. चूणि, पृ० ७५ : वाधि-जरा-मरणेहऽभिदुता, नारक-तिर्यग् मनुष्येषु व्याधिः, जरा—तिर्यग्-मनुष्येषु, मरणं अनुसृष्टव्य गतिषु।

४. चूणि, पृ० ७५ : क्षीयत इति क्षणः, स तु सम्मत्सामाह्यादि अतुर्विधस्यापि एकैककस्स अतुर्विधो क्षणो भवति, तं जघा—क्षेत्सक्षणो कालक्षणो कम्मक्षणो रिक्ख (वक्) क्षणो।

५. वृत्ति, पत्र ७७ : द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं क्षणम् अवसरम्।

६. ठाणं ३/१७६ : तिबिहा बोधी पण्णत्ता, तं जहा—ज्ञानबोधी, दर्शनबोधी, चरित्तबोधी।

७. वृत्ति, पत्र ७७ : बोधिं च सम्मग्दर्शनावाप्तिक्षणाम्।

८. चूणि, पृ० ७५।

आचरण नहीं करता और अनागत बोधि की आकांक्षा करता है, उसे भला किस मूल्य पर बोधि प्राप्त होगी ? किसी मूल्य पर नहीं ।
इसलिए साधक को प्राप्त बोधि का उपयोग करना चाहिए । जो व्यक्ति आमण्य से व्युत्त हो गया है, उसे बोधि की प्राप्ति सुदुर्लभ है ।
वह अष्टपुद्गल परावर्त तक (उत्कृष्ट रूप से) संसार में परिभ्रमण करता रहता है ।^१

१०५. काश्यप (भगवान् ऋषभ) के द्वारा (कासबस्स)

चूर्णिकार^२ और वृत्तिकार^३—दोनों ने काश्यप शब्द से भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर का ग्रहण किया है । भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर—दोनों कश्यपगोत्रीय हैं । भगवान् ऋषभ आद्य-काश्यप और भगवान् महावीर अन्त्य-काश्यप कहलाते हैं ।

किन्तु संदर्भ की दृष्टि से यहां काश्यप का अर्थ केवल भगवान् ऋषभ ही होना चाहिए, क्योंकि अगला शब्द 'अणुघम्मचारिणो' यही व्योक्त करता है ।

देखें—२/४७ में 'कासबस्स' का टिप्पण ।

श्लोक ७३-७४ :

१०६. श्लोक ७३-७४ :

भगवान् ऋषभ अष्टापद (हिमालय की एक शाखा) पर्वत पर विहार कर रहे थे । वह उनकी तपोभूमि थी । वहां ऋषभ के अठानवें पुत्र आए । भगवान् ने उन्हें संबोधि का उपदेश दिया^४ और अन्त में कहा—वर्तमान क्षण ही संबोधि को प्राप्त करने का क्षण है । भगवान् का उपदेश सुन उनके सभी पुत्र संबुद्ध हो गए ।

सूत्रकार का मत है कि भगवान् ऋषभ ने जिस संबोधि का प्रतिपादन किया, सभी तीर्थंकर उसी संबोधि का प्रतिपादन करते हैं । इससे यह ज्ञात होता है कि संबोधि एक ही है ।^५ वस्तुतः सत्य एक ही है, वह दो हो नहीं सकता । प्रतिपादन की पद्धति और संदर्भ देश-काल के अनुसार बदल जाते हैं, किन्तु सत्य नहीं बदलता । प्रस्तुत आगम के एक श्लोक में इसी सत्य का प्रतिपादन हुआ है—अतीत में जो बुद्ध (बोधिप्राप्त) हुए हैं और जो होंगे उन सबका आधार है शांति । उन सबने शांति को आधार मानकर धर्म का प्रतिपादन किया ।^६

आचारांग के अहिंसा-सूत्र से भी यह मत समर्थित होता है—'जो अर्हत् भगवान् अतीत में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे—वे सब ऐसा आख्यान करते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापना करते हैं और ऐसा प्ररूपण करते हैं—किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परित्याग नहीं देना चाहिए, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए । यह (अहिंसा) धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है ।'^७

१ आवश्यक निर्युक्ति, गाय्या १११० : लब्धेस्त्वियं च बोधिं अकरंते अनागतं च पत्थितो ।

अणं वाइं बोधिं लब्धिमसि कयरेण मोत्सेणं ? ॥

२. चूर्णि, पृ० ७५ : विराहित सामण्यस्स हि कुल्लभा बोधी भवति, अवद्धं पोगलपरियट्ठं उक्कोसेणं हिडति ।

३. चूर्णि, पृ० ७६ : काश्यपः उससस्वामी वद्धमानस्वामी वा ।

४. वृत्ति, पत्र ७७ : काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा ।

५. (क) चूर्णि, पृ० ७५ : रिसससामी भगवं अट्ठावए पुत्तसंबोधणत्थ एवमाह ।

(ख) वृत्ति, पत्र ७७ : नाभेयोऽष्टापदे स्वान् सुतानुद्दिश्य ।

६. वृत्ति, पत्र ७७ : अनेनेदमुक्तं भवति—तेषामपि जिनत्वं सुव्रतत्वादेवायातमिति, ते सर्वेऽत्येतान्—अमन्तरोवितान् गुणान् 'आहुः' अभिहितवन्तः, नात्र सर्वज्ञानां कश्चिन्मतमेव इत्युक्तं भवति, ते च 'कश्यपस्य' ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा सर्वेऽप्यनुचोर्ण-धर्मचारिण इति, अनेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एक एव मोक्षमार्ग इत्यादेवित भवतीति ।

७. सूयगडो—१/११/३६ जे य बुद्धा अतिककंता, जे य बुद्धा अनागया ।

संती तेसि पइठ्ठाणं भूयाण जगई जहा ॥

न. आयारो ४/१ : से बेमि—जे अईया, जे य पइप्पणा, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सब्बे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पणवेति, एव पक्खंति—सब्बे पाणा सब्बे भूता सब्बे जीवा सब्बे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण पारितावेयव्वा, ण उइवेयव्वा ।

यद्यपि संबोधि के अहिंसा, संवर आदि गुणों का सभी तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है, फिर भी उनके प्रतिपादन में जितनी समानता ऋषभ और महावीर में है, उतनी अन्य तीर्थंकरों में नहीं है। बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्थांश धर्म का प्रतिपादन किया, उस स्थिति में ऋषभ और महावीर ने पांच महाव्रतों का प्रतिपादन किया। सभी तीर्थंकर धर्म की व्याख्या स्वतंत्र भाव से करते हैं। वे किसी पूर्व परंपरा से प्रतिबद्ध होकर उसकी व्याख्या नहीं करते, किसी परंपरा का अनुसरण नहीं करते। इसलिए सभी तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित धर्म में समानता खोजने का प्रयत्न सार्थक नहीं है। किन्तु धर्म का मूल तत्त्व सबके प्रतिपादन में समान होता है। यही प्रस्तुत दो श्लोकों का प्रतिपाद्य है।

श्लोक ७६ :

१०७. श्लोक ७६ :

मिलाएं—उत्तरजम्भयणाणि ६/१७।

तइयं अज्झयणं
उवसगपरिणा

तीसरा अध्यायन
उपसगंपरिणा

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'उपसर्गपरिज्ञा' है।^१ जब मुनि अपनी संयम-यात्रा प्रारम्भ करता है तब उसके समक्ष अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित होने हैं। उन उपसर्गों को समतापूर्वक सहने की क्षमता वाला मुनि अपने लक्ष्य को पा लेता है और उनसे पराजित हो जाने वाला मुनि लक्ष्यच्युत होकर विनष्ट हो जाता है। इसलिये मुनि को उपसर्गों के प्रकारों, उनकी उत्पत्ति के सामान्य-विशेष निमित्तों तथा उपसर्ग-विजय के उपायों का ज्ञान होना चाहिए।

इस अध्ययन में उपसर्ग और परीसह—दोनों का निरूपण है। चूर्णिकार ने बताया है उपसर्ग और परीसह की एकत्व की विवक्षा कर, दोनों के लिये 'उपसर्ग' शब्द व्यवहृत किया है।^२ उपसर्ग का अर्थ है—उपद्रव। स्वीकृत मार्ग पर अविचल रहने तथा निर्जरा के लिये कष्ट सहना परीसह है।

उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन में बावीस परीसहों (उपसर्गों) का उल्लेख है। प्रस्तुत अध्ययन में इस सख्या का उल्लेख नहीं है, किन्तु अनेक उपसर्गों का विस्तार से वर्णन प्राप्त है—

- | | |
|---------------------|----------------------------------|
| ◦ शीत (श्लोक ४) | ◦ आक्रोश (श्लोक ९-११) |
| ◦ उष्ण (श्लोक ५) | ◦ स्पर्श (श्लोक १२) |
| ◦ याचना (श्लोक ६,७) | ◦ केशलुचन-ब्रह्मचर्यं (श्लोक १३) |
| ◦ वध (श्लोक ८) | ◦ वध-बंध (श्लोक १४-१६) |

इत शारीरिक उपसर्गों के अतिरिक्त सूत्रकार ने मानसिक उपसर्गों के प्रसंग में इस तथ्य का सागोपाग निरूपण किया है कि मयम में आरूढ मुनि को उसके ज्ञातिजन या अन्य व्यक्ति किम प्रकार भोग भोगने के लिये निमन्त्रित करते हैं और किस प्रकार उसे मयच्युत कर पुनः गृहवास में आने के लिये प्रेरित करते हैं।^३ जो मुनि उन ज्ञातिजनों के इस भोगनिमन्त्रण रूप अनुकूल उपसर्ग के जाल में फस जाते हैं, वे कामनाओं के वशवर्ती होकर ससार की वृद्धि करते हैं।

बौद्ध साहित्य में भी परीसहों के वर्जन का उल्लेख है। सारिपुत्र ने भगवान् बुद्ध से भिक्षु-जीवन का मार्ग-दर्शन मांगा। बुद्ध ने उस प्रसंग में अनेक परीसहों (पालि० परिस्सया) का उल्लेख किया है। उनमें रोग, भुद्धा, शीत, उष्ण, अरति, परिदेवन, अलाभ, याचना, शय्या, चर्या आदि मुख्य हैं।^४

प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक तथा बयासी श्लोक हैं। उनकी विषयगत मार्गणा इस प्रकार है—

- पहला उद्देशक—प्रतिलोम उपसर्गों का निरूपण। (श्लोक ४-१६)
- दूसरा उद्देशक—अनुलोम उपसर्गों का निरूपण। (श्लोक १८-३९)
- तीसरा उद्देशक—अध्यात्म में होने वाले विषाद के कारण और मिथारण का निरूपण तथा परतीर्थिकों की कुछेक मान्यताओं का प्रतिपादन। (श्लोक ४३ आदि)

१. (क) चूर्णि, पृ० ७७ : इवाणि उवसर्गपरिण्णत्ति अरभ्भयणं।

(ख) वृत्ति, पत्र १०२ : उपसर्गपरिज्ञायाः.....।

२. चूर्णि, पृ० ७९ : तत्थोवसग्गा परीसहा य एगं चेव काठं उवविस्संति।

३. सूयगडो, अध्ययन २, उद्देशक २।

४. सुत्तनिपात ५४, सारिपुत्त सुत्त, ६-१८। प्रस्तुत प्रसंग में बाबा—विष्णु के अर्थ में 'परिस्सय' शब्द प्रयुक्त हुआ है—कति परिस्सया (६)। विषयान्ये तानि परिस्सयानि (१५)।

• **चौथा उद्देशक**—कुतूषिको के कुतूषी से पथच्युत होने वाले व्यक्तियों की यथार्थ अवस्था का निरूपण ।' (श्लोक ४७-६०)

सूत्रकृतांग की निर्युक्ति में उपसर्गों के छह प्रकार निर्दिष्ट हैं—

- | | |
|-------------------|-------------------|
| १. नाम उपसर्ग | ४. क्षेत्र उपसर्ग |
| २. स्थापना उपसर्ग | ५. काल उपसर्ग |
| ३. द्रव्य उपसर्ग | ६. भाव उपसर्ग । |

द्रव्य उपसर्ग

चेतन द्रव्य उपसर्ग—तिर्यञ्च और मनुष्य द्वारा अपने अवयवों से चोट लगाना ।

अचेतन द्रव्य उपसर्ग—मनुष्य द्वारा किसी को लाठी आदि से पीटना ।

द्रव्य उपसर्ग के दो वैकल्पिक प्रकार ये हैं— आगन्तुक और पीडाकर ।'

चूणिकार के अनुसार तिर्यञ्चों और मनुष्यों द्वारा उत्पादित उपसर्ग आगन्तुक कहलाते हैं और बात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न उपसर्ग पीडाकर कहलाते हैं ।'

चूणिकार ने 'आगन्तुको च पीडाकरो' की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है । उन्होंने 'पीडाकर' शब्द को 'आगन्तुक' का विशेषण मानकर इसका अर्थ—देव आदि से उत्पन्न उपसर्ग जो शरीर और मयम के लिये पीडाकर होता है—किया है ।' किन्तु यह विमर्शनीय है ।

क्षेत्र उपसर्ग

क्षेत्र से होने वाला उपसर्ग । जैसे किसी क्षेत्र में क्षेत्र सम्बन्धी भय उत्पन्न होता है । चूणिकार ने लिखा है कि जब भगवान् महावीर छप्पस्य अवस्था में 'लाट' (लाड) क्षेत्र में गये तब वहा कुत्तों के अनेक उपसर्ग हुए ।' यह उदाहरण चेतन द्रव्य उपसर्ग के अन्तर्गत भी आ सकता है ।

काल उपसर्ग

काल से संबन्धित अनेक प्रकार के उपसर्ग उत्पन्न होते हैं । जैसे काल-चक्र के छठे अर—एकांत दुष्पमा में सदा दुःख प्रवर्तमान रहता है । इस अर में उत्पन्न होने वाले प्राणी अस्थान दुःख का अनुभव करते हैं । अथवा शीतकाल में अत्यधिक सर्दों का और ग्रीष्मकाल में अत्यधिक गर्मी का उपसर्ग सदा बना रहता है ।'

भाव उपसर्ग

इसके दो प्रकार हैं—

१. निर्युक्ति गाथा, ४१-४२ : पडमस्मि य पडिलोमा मायादि अणुलोपगा य बितियम्मि ।

ततिए अउत्तयुवदंसणा य परबादिवयणं च ॥

हेउसरिसेहि अहेउएहि ससमयपडितेहि निउणेहि ।

सोसललितपण्णवणा कया अउत्तयम्मि उहेसे ॥

२. निर्युक्ति गाथा, ४३-४४ ।

३. निर्युक्ति गाथा, ४३ : आगन्तुको य पीलाकरो य जो सो उवत्सगो ।

४. चूणि, पृ० ७७ : आगन्तुको अतुप्पबलउडावीहि । पीलाकरो चातिम-पेत्तियादि ।

५. चूणि, पत्र ७८ : अपरस्माद् विव्यादे. आगरुत्तरीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति, स च वेहस्य संयमस्य वा पीडाकारीति ।

६. चूणि, पृ० ७७-७८ : अथा बहूपसर्गो लाडाविषयो अहि अट्टारगो पविट्ठो आसि अतुमरुपकाले, सुणगादिहि तरथ निद्वम्मा भावेति ।

७. चूणि, पृ० ७८ : कालोवसगो एगंतइसमा । सीतकाले वा सीतपरिसहो वा निदायकाले उत्तिणपरीसहो वा, एवमादि कालोवसगो भवति ।

(क) औषिक भाव उपसर्ग—ज्ञानावरणीय, दर्शनमोहनीय, अशुभनामकर्म, नीचगोन, अन्तराय कर्म के उदय से होने वाला उपसर्ग ।

(ख) औपक्रमिक भाव उपसर्ग—दंड, शस्त्र आदि से उदीरित वेदनीय कर्म द्वारा उत्पन्न उपसर्ग ।

स्थानांग सूत्र में उपसर्गों के चार मुख्य भेद माने हैं—

(१) दैविक (२) मानुषिक (३) तैरिचिक (४) आत्मसंवेदनीय ।

इन चारों के अवान्तर भेद चाद-चार हैं ।

उपसर्ग का यह अन्तिम विभाग 'आत्म-संवेदनीय' बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के दुःखों का हेतु बाहर ही नहीं है, वह उसके भीतर भी है। कर्मों के उदय में उसके कर्मशरीर में अनेक प्रकार के रासायनिक परिवर्तन होते हैं और वे वात, पित्त और कफ को प्रभावित करते हैं। उनसे ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं। उस प्रभावित अवस्था में होने वाले ग्रन्थियों के स्राव मनुष्य में विविध प्रकार की अवस्थाएं पैदा करते हैं। उनसे मनुष्य का सारा व्यवहार प्रभावित होता है।

आत्म-संवेदनीय उपसर्ग के वैकल्पिक रूप में वातिक, पैत्तिक, श्लेष्मिक और सान्निपातिक—ये चार प्रकार बन जाते हैं ।

इस अध्ययन में अनुकूल परीसहो का सुन्दर चित्रण हुआ है। कोई व्यक्ति प्रव्रजित होने के लिये उद्यत है अथवा कोई पहले ही प्रव्रजित हो चुका है, उसके समक्ष माता-पिता, बन्धु या स्नेहिल व्यक्ति इस प्रकार स्नेह और अनुराग प्रदर्शित करते हैं कि उसके मन में करुणा का भाव जाग जाता है और वह उनके स्नेहसूत्र में बंध जाता है। इस प्रसंग में सूत्रकार ने 'सुहृमा संग' शब्दों का प्रयोग किया है। संग, विघ्न और व्याक्षेप—तीनों एक है। ये सूक्ष्म होते हैं, प्राणीवध की भांति स्पष्ट नहीं होते। यहाँ सूक्ष्म का अर्थ है—निपुण। ये अनुलोम उपसर्ग व्यक्ति को धर्म-च्युत करते हैं। पूजा, प्रतिष्ठा स्नेह—इन उपसर्गों से बच पाना अत्यन्त कठिन होता है। चूणिकार ने इन्हें "पाताला व दुरुत्तरा"—पानाल की भांति दुरुत्तर माना है।

अनुकूल उपसर्ग मानसिक विकृति पैदा करते हैं और प्रतिकूल उपसर्ग शरीर-विकार के कारण बनते हैं। अनुकूल उपसर्ग सूक्ष्म होते हैं और प्रतिकूल उपसर्ग स्पष्ट होते हैं ।

प्रस्तुत अध्ययन में आजीवक, बौद्ध तथा वैदिक परंपरा की अनेक मान्यताओं का उल्लेख है। चूणिकार और वृत्तिकार ने उन मान्यताओं का वर्णन किया है। हमने उनको तुलनात्मक टिप्पणियों के माध्यम से विस्तार दिया है।

श्लोक इक्कीस में "एव लोगो भविस्सई" से लौकिक मान्यता का उल्लेख हुआ है।

श्लोक ५१-५५ में आजीवक परंपराभिमत कुछ तथ्य हैं—आजीवक भिक्षु गृहस्थों की घालियों में और कांस्य के बर्तनों में भोजन करते थे। वे अपने पात्रों के प्रति आसक्त रहते थे। जो आजीवक भिक्षु रुग्ण हो जाते, भिक्षा लाने में असमर्थ होते, उन्हें अन्य भिक्षु भिक्षा लाकर नहीं देते थे। वे गृहस्थों द्वारा भोजन मगवाते थे।

श्लोक ६१-६४ में अनेक ऋषि-परंपराओं का उल्लेख है। इनमें सात ऋषिओं के नाम हैं—वैदेही नमि, रामगुप्त, बाहुक, तारागण, आसिल-देविल, द्वैपायन और पाराशर ।

१. चूणि, पृ० ७८ : भावोवसगो कम्मोदयो । सो पुण बुविधो—ओहतो उवक्कमतो वा । ओहतो अघा ज्ञानावरणं वसजमोहणीयं असुभनामं निपागोतं अंतरायिकं कम्मोदयति । उवक्कमियं अं वेदजिज्जं कम्मं उविज्जति । दंड-कस-सत्थ-रज्जू

२. (क) ठाण ४/५६७-६०१ ।

(ख) सूत्रकृतांगचूणि, पृ० ७८ ।

३. चूणि, पृ० ७८ : आयसंवेतणीया अउज्जिघा, अथवा वातिता पेत्तिता संभिया सज्जिवाइया ।

४. बही, पृ० ८३ : सुहृमा जाम जिउणा, न प्राणव्यपरोपणवत् स्थूरयूसंयः, उपायेन धर्मात् व्यावयन्ति ।अनुलोमा पुण पूजा-सत्कारावयः.....दुरुत्तरा सवांत । वक्ष्यति हि—'पाताला व दुरुत्तरा ।'.....संगो त्ति वा वग्घो त्ति वा वक्कोडो त्ति वा एगदंठं ।

५. वत्ति, पत्र ८५ : ते अ सूक्ष्माः प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनागतरा; न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारकारित्वेन प्रकटतया आचरा इति ।

‘इह संमया’—इस वाक्य द्वारा सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि ये महापुरुष जैन ग्रन्थों में वर्णित हैं तथा ‘अणुसुमं’ पद के द्वारा यह सूचित होता है कि इनका वर्णन प्राचीन परंपरा में भी प्राप्त है।

चूणिकार ने इन सबको राजपि माना है और प्रत्येक बुद्ध की श्रेणी में गिना है। उन्होंने लिखा है कि वैदेही नमि का वर्णन उत्तराध्ययन (नौवें अध्ययन) में प्राप्त है और शेष ऋषियों का वर्णन जैन ग्रन्थ ‘ऋषिभाषित’ में है।

किन्तु वर्तमान में प्राप्त ऋषिभाषित ग्रन्थ में ‘पाराशर’ ऋषि का नाम नहीं है।

औपगतिक (६६-११४) आगम में आठ ब्राह्मण परिव्राजको तथा आठ क्षत्रिय परिव्राजको का उल्लेख मिलता है। उसमें पराशर और द्वीपायन को ब्राह्मण परिव्राजक में गिनाया है।

७०-७२ वें श्लोक में स्त्री-परिभोग का समर्थन करने वालों का दृष्टिकोण तथा उसका निरसन मुन्दर उदाहरणों द्वारा किया गया है।

७६ वें श्लोक में मृषावाद और अदत्तादान को त्यागने का उल्लेख है - ‘मुसावाय विवज्जेजा आदण्णादाणं च वोसिरे’—चूणिकार ने यहाँ एक प्रश्न उपस्थित किया है कि मूलगुण की व्यवस्था में अहिंसा, सत्य, अचीर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का क्रम उपलब्ध है, फिर यहाँ प्रारम्भ में हिंसा का वर्जन न कर मृषावाद के वर्जन की बात क्यों कही गई? उन्होंने इसका समाधान इस प्रकार किया है—सत्यनिष्ठ व्यक्ति के ही व्रत होते हैं, महाव्रत होते हैं, असत्यनिष्ठ व्यक्ति के नहीं होते। असत्यनिष्ठ व्यक्ति अन्य व्रतों का लोप करके भी कह देता है कि वह व्रतों का पालन कर रहा है। उसके मृषा बोलने का त्याग नहीं है। इस प्रकार उसके कोई व्रत बचता नहीं।

एक व्यक्ति ने मृषावाद को छोड़कर शेष व्रत ग्रहण किये। कालान्तर में मानसिक कमजोरी आई और वह एक-एक का सभी व्रतों का लोप करने लगा। सत्य का व्रत न होने के कारण पूछने पर कहता मैंने व्रतों का लोप कहाँ किया है। इस प्रकार वह संपूर्ण व्रतों का लोप कर बैठा। इसलिये मृषावाद का त्याग करना अन्यान्य व्रतों का कारण बन सकता है।

आचार्य विनोबा भावे का अभिमत था कि जैन धर्म में अहिंसा का स्थान मुख्य है, सत्य का स्थान गौण है, किन्तु प्रस्तुत उल्लेख से उसका समर्थन नहीं होता। जैन धर्म में अहिंसा और सत्य दोनों का सापेक्ष स्थान है, कहीं अहिंसा की मुख्यता प्रतिपादित है तो कहीं सत्य की मुख्यता प्रतिपादित है। प्रस्तुत प्रसंग में यह स्पष्ट है।

छासठवें श्लोक में बौद्धों का एक बहुमान्य सिद्धान्त—‘सात सानेण विज्जई’—मुख से मुख प्राप्त होना है—का प्रतिपादन कर आगे के दो श्लोकों में उसका निरसन किया गया है।

बौद्ध कहते हैं—हम यहाँ (वर्तमान में) मुखपूर्वक जी रहे हैं, भोज कर रहे हैं। यहाँ से भगकर हम मोक्षमुख को प्राप्त करेंगे। मुख से ही मुख प्राप्त होता है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है—

मुद्री शय्या प्रातस्तथाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे ।

ब्राह्मण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण वृष्टः ॥

बुद्ध ने इस प्रसंग पर निर्ग्रन्थों पर आक्षेप करते हुए कहा—निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र तपस्या आदि कायकलेश से मोक्ष की प्राप्ति मुख की प्राप्ति बनलाते हैं। इसका तात्पर्य है कि दुःख से मुख मिलता है। यह मिथ्यावचन है। मुख से ही मुख मिल सकता है।

निर्ग्रन्थ परंपरा न मुख से मुख प्राप्ति को स्वीकार करती है और न दुःख से मुख प्राप्ति की बात कहती है।

यदि मुख से मुख प्राप्त हो तो फिर राजा, अमीर आदि पुरुष मदा सुखी ही होंगे। यदि दुःख से मुख मिलता है तो फिर अनेक प्रकार के दुःख भोगने वाले लोग अगले जन्मों में सुखी होंगे। किन्तु ऐसा होता नहीं है।

इसलिये मुख से मुख प्राप्त होता है या दुःख से मुख प्राप्त होता है—ये दोनों मिथ्या सिद्धान्त हैं। मुख की प्राप्ति कर्म निर्जरा से होती है। भगवान् महावीर ने कहा है—‘जे निज्जिण्णे से सुहे ।’

१. चूणि, पृ० ६४-६६ : राजानो भूत्वा बनवासं गताः .. एतेसि पत्तेयबुद्धाण ।

२. चूणि, पृ० ६६ : इह सम्मतं ति इहापि ते इसिमासितेसु पडिज्जंति । गमि ताव नमिपव्वज्जाए सेसा सव्वे अण्णे इसिमासितेसु ..

३. वही, पृ० १०० : कस्मान्मृषावाच पूर्वमुपविष्टः ? न प्राणातिपातः ? इति, उच्यते, सत्यव्रतो हि व्रतानि भवन्ति, नासत्यवतः

अनृतिको हि प्रतिज्ञालोपमपि कुर्यात्, प्रतिज्ञालोपे च सति किं व्रतानामवशिष्टम् ?

४. भगवती, ७/१६० ।

कुछेक व्यक्ति (अन्य यूथिक या स्वयूथिक) कष्टों से घबराकर कहते हैं—

‘सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दुःखाक्य समुद्विजन्ते ।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि ॥’

सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं। इसलिये सुखेच्छु व्यक्ति सदा सुख देने का प्रयत्न करे, क्योंकि जो सुख देता है, वह सुख पाता है।

‘मणुष्ण भोजनं भोक्ष्या, मणुष्णं भ्रायए सयणासनं ।
मणुष्णंसि अगारंसि, मणुष्णं भ्रायए मुणी ॥’

मनोज भोजन, मनोज शयनासन और घर-मकान से चित्त प्रसन्न होता है, उससे समाधि मिलती है और समाधि से मुक्ति प्राप्त होती है। इसलिये स्वतः सिद्ध है कि सुख से सुख मिलता है।^१

इसका निरसन करते हुये वृत्तिकार ने अनेक सुन्दर श्लोक उद्धृत किये हैं।^२

‘सातं सातेण विज्जई’—इस प्रसंग में भगवान् बुद्ध द्वारा धर्म समादान के चार विभागों का वर्णन द्रष्टव्य है। एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती नगरी के जेतवन में अनाथ पिण्डक के आराम में विहरण कर रहे थे। उन्होंने भिक्षुओं को आमन्त्रित कर कहा—धर्म समादान चार प्रकार का है—

१. वर्तमान में सुख, भविष्य में दुःख।
२. वर्तमान में दुःख, भविष्य में दुःख।
३. वर्तमान में दुःख, भविष्य में सुख।
४. वर्तमान में सुख, भविष्य में सुख।

उक्त विभागों में चौथे विभाग को ‘सातं सातेण विज्जई’ का आधार बनाया जा सकता है, किन्तु भावना की दृष्टि से और बौद्ध मान्यता की दृष्टि से यह सही नहीं है। यहाँ चौथे विभाग की भावना यह है—जो भिक्षु वर्तमान जीवन में तीव्र राग, तीव्र द्वेष, तीव्र मोह वाला नहीं होता, वह उनमें होने वाले दुःख और दोर्मनस्य का प्रतिसंवेदन नहीं करता। वह अनुकूल धर्मों से निवृत्त होकर अध्यात्म में लीन रहता है। वह यहाँ भी सुख पाता है और मरकर भी सुगति और स्वर्ग लोक में उत्पन्न होता है।^३

इसलिये ‘सातं सातेण विज्जई’ उन्हीं बौद्धों की मान्यता हो सकती है जो वर्तमान में इन्द्रिय विषयों के भोगों को भोगते हुए साधना करते हैं और मरने के पश्चात् मोक्षगमन का विश्वास रखते हैं।

१. बुद्धि, पत्र १७।

२. वेस्—बुद्धि, पत्र १७।

३. मज्झिमनिकाय ४५/१-६ : चत्वारिमाणि भिक्खवे धम्मसमादानानि—

अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पञ्चुप्पन्नसुखं आर्याति दुक्खविपाकं ।

अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पञ्चुप्पन्नदुक्खं आर्याति दुक्खविपाकं ।

अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पञ्चुप्पन्नदुक्खं आर्याति सुखविपाकं ।

अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पञ्चुप्पन्नसुखं आर्याति सुखविपाकं ॥

४. मज्झिमनिकाय ४५/५/६।

तद्वयं अजभयणं : तीसरा अध्यायः
उवसगपरिण्णा : उपसर्गपरिज्ञा
पठमो उद्देशो : पहला उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. सूरं मण्णइ अप्पाणं जाव जेयं ण पस्सई। जुज्झंतं दडधम्मं [न्ता ?] णं सिसुपालो व महारहं ।१।	सूरं मन्यते आत्मानं, यावज्जेतार न पश्यति । युध्यमानं दृढधर्माणं (धन्वानं), शिशुपाल इव महारथम् ॥	१. जब तक जूझने हुए दृढ़ सामर्थ्य (धनुष्य) वाले विजेता को नहीं देखता तब तक (कायर मनुष्य भी) अपने आपको शूर मानता है, जैसे कि कृष्ण को देखने से पूर्व शिशुपाल ^१ ।
२. पयाया सूरा रणसीसे संगामम्मि उवट्टिए । माया पुत्तं ण जाणाइ जेएण परिविच्छए ।२।	प्रयाताः शूराः रणशोर्षे, सग्रामे उपस्थिते । माता पुत्रं न जानाति, जेत्रा परिविक्षितः ॥	२. अपने आपको शूर मानने वाले वे युद्ध के उपस्थित होने पर उसकी अग्रिम पंक्ति में जाते हैं । (जिमके भ्रातृक से भयभीत) माता अपने पुत्र को नहीं जान पाती, ^२ (ऐसे भयंकर युद्ध में) विजेता के द्वारा क्षत-विक्षत होने पर (वे दीन हो जाते हैं) ।
३. एवं सेहे वि अप्पुट्ठे भिक्षुचरिया - अकोविए । सूरं मण्णइ अप्पाणं जाव लूहं ण सेवए ।३।	एवं सेधोऽपि अपुष्टः, भिक्षुचर्या-अकोविदः । सूरं मन्यते आत्मानं, यावत् रूक्षं न सेवते ॥	३. इसी प्रकार अपुष्टधर्मा, ^३ भिक्षु की चर्या में अनिपुण शैक्ष (नव दीक्षित) भी तब तक अपने आपको शूर मानता है जब तक वह रूक्ष (सयम) का ^४ सेवन नहीं करता ।
४. जया हेमंतमासम्मि सीयं फुसइ सवायगं । तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व लसिया ।४।	यथा हेमन्तमासे, शोत स्पृशन्ति सवातकम् । तत्र मन्दाः विषीदन्ति, राज्यहीना इव क्षत्रियाः ॥	४. जब जाड़े के महीने में ^५ बर्फ़ीली हवा और सर्दी लगती है तब मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे राज्य से च्युत राजा ^६ ।
५. पुट्ठे गिम्हाहितावेणं विमणे सुपिवासिए । तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा अप्पोदए जहा ।५।	स्पृष्टो ग्रीष्माभितापेन, विमनाः सुपिवासितः । तत्र मन्दाः विषीदन्ति, मत्स्याः अल्पोदके यथा ॥	५. जब गर्मी में धूप से स्पृष्ट होकर विमनस्क और बहुत प्यासे हो जाते हैं तब वे मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे थोड़े पानी में मछली ।
६. सया दत्तेसणा दुक्खं जायणा दुप्पणोल्लिया । कम्मंता दुग्गगा खेव इच्चाहुं पुढोअणा ।६।	सदा दत्तेषणा दुःखं, याचना दुष्प्रणाद्या । कर्मन्ता दुर्भागश्चैव, इत्याहुः पृथग्जनाः ॥	६. निरंतर दत्त भोजन की एषणा करना कष्टकर है। याचना दुष्कर है। साधारण जन भी यह कहते हैं—ये अभागे कर्म से पलायन किए हुए हैं । ^७
७. एए सहे अचायंता गामेसु नगरेसु वा । तत्थ मंदा विसीयंति संगामम्मि व भोरणो ।७।	एतान् शब्दान् अशक्नुवन्तः, ग्रामेषु नगरेषु वा । तत्र मन्दाः विषीदन्ति, सग्रामे इव भोरवः ॥	७. गावों और नगरों में इन (जन साधारण द्वारा कहे गये) शब्दों को सहन न करते हुये मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे संग्राम में भीरु ।

८. अप्येगे लुज्झिभ्यं भिक्षुं
सुणी उंसइ लूसए ।
तत्थ मंदा विसीयंति
तेउपुट्ठा व पाणिणो । ८।

९. अप्येगे पडिभासंति
पाडिपंथियमागया ।
पडियारगया एए
जे एए एव-जीविणो । ९।

१०. अप्येगे वइं जुंजंति
णिगिणा पिडोलगाहमा ।
मुंडा कंडू-विणट्ठंगा
उज्जल्ला असमाहिता । १०।

११. एवं विप्पडिवण्णे
अप्पणा उ अजाणया ।
तमाओ ते तमं जंति
मंदा मोहेण पाउडा । ११।

१२. पुट्ठो य वंसमसगेहि
तणफासमचाइया ।
ण मे विट्ठे परे लोए
कि परं मरणं सिया ? । १२।

१३. संतप्ता केशलोएणं
बंमखेरपराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंति
मच्छा पविट्ठा व केयणे । १३।

१४. आपवंडसमायारा
मिच्छासंठियभावणा ।
हरिसप्पओसमावण्णा
केई लूसंतिऽणारिया । १४।

१५. अप्येगे पलियंतंति
चारो चोरो ति सुव्वयं ।
बंघंति भिक्षुयं बाला
कसायवसणेहि य । १५।

१६. तत्थ दंडेण संवीते
मुट्ठिणा अडु फलेण वा ।
णार्इणं सरई बाले
इत्थी वा कुड्डगामिणी । १६।

अप्येकः क्षुधित भिक्षु,
इवा दशति लूषकः ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति,
तेजःस्पृष्टा इव प्राणिनः ॥

अप्येके प्रतिभाषन्ते,
प्रातिपथिकत्वमागताः ।
प्रतिकारगता एते,
ये एते एव-जीविनः ॥

अप्येके वाच युज्जन्ति,
नग्ना पिण्डोलकाधमा ।
मुण्डाः कण्डूविणष्टाङ्गा,
उज्जल्लाः असमाहिताः ॥

एवं विप्रतिपन्ना एके,
आत्मना तु अज्ञाः ।
तमसस्तं तमां यन्ति,
मन्दा मोहेण प्रावृताः ॥

स्पृष्टश्च दशमशकं,
तृणस्पर्शमशक्नुवन् ।
न मया दृष्टः परां लोकं,
किं परं मरणं स्यात् ? ॥

सन्तप्ताः केशलोचन,
ब्रह्मचर्यपराजिताः ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति,
मत्स्याः प्रविष्टा इव केतने ॥

आत्मदण्डसमाचारा,
मिथ्यासंस्थितभावनाः ।
हर्षप्रदाप आपन्नाः,
केचिद् लूषयन्ति अनार्याः ॥

अप्येके पर्यन्ते,
चारः चोर इति सुव्रतम् ।
बध्नन्ति भिक्षुक बाला,
कषायवसनश्च ॥

तत्र दण्डेन संवीतः,
मुष्टिना अथवा फलेन इव ।
ज्ञातीना स्मरति बालः,
स्त्री वा कुड्डगामिनी ॥

८. कोई क्रूर कुत्ता क्षुधित (भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए) भिक्षु को काट खाता है, उस समय मंद व्यक्ति वैसे ही विषाद को प्राप्त होता है जैसे अग्नि के छू जाने पर प्राणी ।

९ (माधु-चर्या से) प्रतिकूल पथ पर चलने वाले" कुछ लोग कहते हैं—इस प्रकार का जीवन जीने वाले ये कृन का प्रतिकार कर रहे हैं" । (अपने किये हुये कर्मों का फल भोग रहे हैं ।)

१०. कुछ लोग कहते हैं—ये नग्न, पिंड माग कर खाने वाले," अधम, मुंड, खुजनी के कारण विकृत शरीर वाले," मैले," और दुखी हैं ।"

११. कुछ भिक्षु स्वयं अज्ञान होने के कारण उक्त वचनों से मिथ्या धारणा बना लेते हैं । वे मद मनुष्य मोह से" आच्छन्न होकर अन्धकार से (और भी घने) अन्धकार में जाते हैं ।"

१२. मुनि डाम और मच्छरो के" काटने पर तथा तृण-स्पर्श (घास के बिछोने) को न सह सकने के कारण (सोचने लगता है)—परलोक मैंने नहीं देखा, (तो फिर इस कष्टमय जीवन का) मृत्यु के अतिरिक्त और क्या (फल) होगा ?

१३. केशलोच" से संतप्त और ब्रह्मचर्य में पराजित मद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे जाल में" फंसी हुई मछलिया ।

१४. आत्मघाती चेष्टा करने वाले", मिथ्यात्व से ग्रस्त भावना वाले, हर्ष (क्रीडाभाव)" और द्वेष से युक्त कुछ अनार्य मनुष्य मुनियों को कष्ट देते हैं ।

१५. सीमान्त प्रदेश में रहने वाले" कुछ अज्ञानी मनुष्य सुव्रती भिक्षु को 'यह गुप्तचर है, यह चोर है'—ऐसा कहकर लाल बश्ती से" बांधते हैं ।

१६. वहां डंडे, धूसे या थप्पड़ से" पीटे जाने पर अज्ञानी भिक्षु वैसे ही अपने ज्ञातिजनों को याद करता है" जैसे रूठ कर घर से भाग जाने वाली स्त्री ।"

१७. एए भो कसिणा कासा
कससा दुरहियासया ।
हस्थी वा सरसंवीता
कीवा वसगा गया गिहं । १७।

—सि वेमि ॥

एते भोः! कृत्स्नाः स्पर्शाः,
परुषाः दुरध्यासकाः ।
हस्तिनः इव शरसंवीताः,
क्लीवाः वशकाः गताः गृहम् ॥

इति ब्रवीमि ॥

१७. हे वत्स ! ये सारे स्पर्श (परिवह) कठोर और दुःसह
हैं । इनसे विवश होकर पौरुषहीन भिक्षु वैसे ही घर
लौट आता है जैसे (सशम में) बाणों से बीधा हुआ
हाथी ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

१८. अहिमे सुहृमा संग
भिक्षूणं जे दुरुत्तरा ।
जत्थ एगे विसीर्यति
ण जयंति जवित्तए । १८।

१९. अप्पेगे नायओ विस्स
रोयंति परिवारिया ।
पोस ने तात ! पुट्ठो सि
कस्स तात ! जहासि ने । १९।

२०. पिया ते धेरओ तात !
ससा ते खुड्डिया इमा ।
भायरो ते सवा तात !
सोयरा कि जहासि ने ? । २०।

२१. मायरं पियरं पोस
एवं लोगो भविस्सइ ।
एवं खु लोइयं तात !
जे पालेति उ मायरं । २१।

२२. उत्तरा महुल्लावा
पुत्ता ते तात ! खुड्डिया ।
भारिया ते नवा तात !
मा सा अण्णं जणं गमे । २२।

२३. एहि तात ! धरं जामो
मा तं कम्म सहा वयं ।
बीयं पि ताव पासामो
जामु ताव सयं गिहं । २३।

२४. मंतु तात ! पुणाऽगच्छे
ण तेणाऽसमणो सिया ।
अकामगं परक्कमंतं
को तं वारेउमरहइ ? । २४।

अथ इमे सूक्ष्माः सगाः,
भिक्षूणा ये दुरुत्तराः ।
यत्र एके विषीदन्ति,
न शक्नुवन्ति यापयितुम् ॥

अप्येके ज्ञातीः दृष्ट्वा,
रुदन्ति परिवार्य ।
पोषय नः तात ! पुष्टोऽसि,
कस्मै तात ! जहासि नः ॥

पिता ते स्थविरकस्तात !,
स्वसा ते क्षुद्रिका इयम् ।
भ्रातरस्ते श्रवास्तात !,
सोदराः किं जहासि नः ॥

मातरं पितरं पोषय,
एव लोको भविष्यति ।
एव खलु लौकिकं तात !,
ये पालयन्ति तु मातरम् ॥

उत्तरा मधुरोल्लापाः,
पुत्रास्ते तात ! क्षुद्रकाः ।
भार्या ते नवा तात !,
मा सा अन्यं जनं गच्छेत् ॥

एहि तात ! गृहं यामः,
मा त्वं कर्मसहा वयम् ।
द्वितीयमपि तावत् पश्यामः,
यामः तावत् स्वकं गृहम् ॥

गत्वा तात ! पुनरागच्छे,
न तेन अश्रमणः स्यात् ।
अकामकं पराक्रमन्तं,
कस्त्वां वारयितुमर्हति ? ॥

१८. ये सूक्ष्म संग (ज्ञाति-संबन्ध) भिक्षुओं के लिये दुस्तर
होते हैं । वहाँ कुछ विषाद को प्राप्त होते हैं, इन्द्रिय
और मन का संयम करने में समर्थ नहीं होते ।

१९. कुछ ज्ञातिजन (प्रव्रजित होने वाले या पूर्व-प्रव्रजित
को) देखकर उसे घेर लेते हैं और रोते हुये कहते
हैं—हे तात ! हमने तुम्हारा पोषण किया है, अब
तुम हमारा पोषण करो ।" फिर तात ! तुम हमें
क्यों छोड़ रहे हो ?

२०. 'तात ! तुम्हारा पिता स्थविर' है । तुम्हारी यह
बहिन छोटी है । तात ! तुम्हारे वे सगे भाई आज्ञा-
कारी' है, फिर तुम हमें क्यों छोड़ रहे हो ?'

२१. 'तात ! तुम माता-पिता का पोषण करो, इस प्रकार
तुम्हारा लोक (यह और पर सफल) हो जायेगा ।'
तात ! लौकिक आचार' भी यही है—माता-
पिता का पालन करना ।'

२२. 'तात ! तुम्हारे उत्तम' और मधुरभाषी ये छोटे-
छोटे' पुत्र हैं । तात ! तुम्हारी पत्नी नवयौवना'
है । वह दूसरे मनुष्य के पास न चली जाये ।''

२३. 'आओ तात ! घर चलो । तुम काम मत करना ।
हम काम करने में समर्थ हैं ।' हम पुनः तुम्हें घर
में देखना चाहते हैं । आओ, अपने घर चलो ।'

२४. 'तात ! घर जाकर तुम पुनः आ जाना । इतने
मात्र से तुम अश्रमण नहीं हो जाओगे । निष्काम
पराक्रम करने वाले तुमको कौन रोक सकेगा ?'

२५. जं किञ्चि अणं तात !
तं पि सखं समीकृतं ।
हिरण्यं व्यवहाराद्
तं पि बाहामु ते वयं ॥८॥

२६. इच्छेव णं सुसेहंति
कालुणीयउवट्टिया ।
विबद्धो णाइसंगेहि
तओऽगारं पहावइ ॥९॥

२७. जहा रुक्खं वणे जायं
मालुया पडिबंघइ ।
एवं णं पडिबंघंति
णायओ असमाहिण् ॥१०॥

२८. विबद्धो णाइसंगेहि
हत्थी वा वि णवगगहे ।
पिट्ठओ परिसर्पंति
सूती गो व्व अदूरगा ॥११॥

२९. एए संगो मणुस्साणं
पायाला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य किस्संति
णाइसंगेहि मुच्छिंया ॥१२॥

३०. तं च भिक्षू परिणाय
सव्वे संगो महासवा ।
जीवियं णावकं खज्जा
सोच्छा धम्ममणुत्तरं ॥१३॥

३१. अहिमे संति आवट्टा
कासवेण पवेइया ।
बुद्धा जत्थावसप्पंति
सीयंति अबुधा जहि ॥१४॥

३२. रायाणो रायऽमच्चा य
माहणा अबुव खत्तिया ।
णिमंतयंति भोगेहि
भिक्षुयं साधुजीविणं ॥१५॥

३३. हत्थस्स-रह-जार्णेहि
विहारगमणेहि य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे
महरिती ! पूजयामु तं ॥१६॥

यत् किञ्चिद् मृणकं तात !,
तदपि सर्वं समीकृतम् ।
हिरण्यं व्यवहाराय,
तदपि दास्यामः ते वयम् ॥

इत्येव तं सुमेधन्ति,
कारुण्यमुपस्थिताः ।
विबद्धो ज्ञातिसर्गः,
ततः अगारं प्रधावति ॥

यथा रुक्खं वने जातं,
मालुका प्रतिबध्नाति ।
एवं तं प्रतिबध्नन्ति,
ज्ञातयः असमाधिना ॥

विबद्धो ज्ञातिसर्गः,
हस्तो वापि नवग्रहे ।
पृष्ठतः परिसर्पन्ति,
सूतिका गोरिव अदूरगा ॥

एते संगो मनुष्याणां,
पाताला इव अतारिमाः ।
कनीवा यत्र च क्लिश्यन्ति,
ज्ञातिसर्गः मूर्च्छिताः ॥

तं च भिक्षुं परिज्जाय,
सर्वे संगो महाश्रवाः ।
जीवितं नावकाक्षेत्,
श्रुत्वा धर्ममनुत्तरम् ॥

अथ इमे संति आवर्ताः,
काश्यपेन प्रवेदिताः ।
बुद्धाः यत्र अपसर्पन्ति,
सीदन्ति अबुधा यत्र ॥

राजानो राजामात्याश्च,
ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः ।
निमन्त्रयन्ति भोगेः,
भिक्षुकं साधुजीविनम् ॥

हस्त्यश्वरथयानैः,
विहारगमनेश्च ।
भुङ्क्स्व भोगान् इमान् श्लाघ्यान्,
महर्षे ! पूजयामस्त्वाम् ॥

२५. 'तात ! तुम्हारा जो कुछ मृण था उस सबको हमने चुका दिया है ।' व्यापार आदि के लिये तुम्हें जो धन की आवश्यकता होगी, वह भी हम तुम्हें देंगे ।

२६. इस प्रकार वे करुण क्रन्दन करते हुये उसे विपरीत शिक्षा देते हैं ।^१ ज्ञातिजनों के सम्बन्धों से बंधा हुआ वह घर लौट आता है ।

२७. जिस प्रकार वन में उत्पन्न वृक्ष को मालुका लता^२ वेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार ज्ञातिजन उसको असमाधि में^३ जकड़ देते हैं ।

२८. जैसे नया पकड़ा हुआ हाथी (उचित उपायो से) बाधा जाता है वैसे ही वह ज्ञानियों के सग से बंध जाता है ।^४ ज्ञातिजन उसके पीछे वैसे ही चलते हैं जैसे नई ब्याई हुई गाय अपने बछड़े के पीछे ।^५

२९. मनुष्यों के लिये ये ज्ञाति-मबध पाताल (समुद्र^६) की भांति दुस्तर हैं । ज्ञाति-सबधों में मूर्च्छित पौरुषहीन व्यक्ति वहां क्लेश पाते हैं ।

३०. सभी सग महान् आश्रव (कर्म-बंध के हेतु) है—इसे जानकर तथा अनुत्तर धर्म को सुनकर भिक्षु गृहवासी-जीवन की आकांक्षा न करे ।

३१. ये (वक्ष्यमाण) आवर्त है—ऐसा काश्यप (भगवान् महावीर) ने कहा है । बुद्ध उनसे दूर रहते हैं और अ-बुद्ध उनमें फस जाते हैं ।

३२. राजा, राजमंत्री,^७ ब्राह्मण^८ अथवा क्षत्रिय^९ समयजीवी भिक्षु को भोगों के लिये निमन्त्रित करते हैं —^{१०}

३३. तुम हाथी, घोड़े, रथ और यान^{११} तथा उद्यानक्रीडा के द्वारा^{१२} इन श्लाघनीय भोगों को भोगो । महर्षे ! हम (इन वस्तुओं का उपहार देकर) तुम्हारी पूजा करते हैं ।

३४. वस्त्रगंधमलंकारं
इत्थीओ सयगाणि य ।
भुंजाहिमाइं भोगाईं
आउसो ! पूजायामु तं । १७।

वस्त्रगंधालंकारं,
स्त्रियः शयनानि च ।
भुङ्क्ष्व इमान् भोगान्,
आयुष्मन् ! पूजयामस्त्वाम् ॥

३४. वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रिया और पलंग — इन भोगों को भोगो । आयुष्मन् ! हम (इन वस्तुओं का उपहार देकर) तुम्हारी पूजा करते हैं ।

३५. जो तुमे नियमो ब्रिणो
भिक्षुभावमि सुवयया ! ।
अगारमावसंतस्स
सव्वो संबिज्जए तहा । १८।

यस्त्वया नियमं चाणं,
भिक्षुभावे सुव्रत ! ।
अगारमावसतः,
सर्वः संविद्यते तथा ॥

३५. हे सुव्रत ! तुमने भिक्षु-जीवन में जिस नियम का आचरण किया है, वह सब घर में बस जाने पर भी वैसे ही विद्यमान रहेगा ।^{१५}

३६. चिरं ब्रूइज्जमाणस्स
दोसो दाणि कुओ तव ? ।
इच्छेव णं णिमंतंति
णीवारेण व सूयरं । १९।

चिरं द्रवतः,
दोष इदानो कुतस्तव ? ।
इत्येव त निमन्त्रयन्ति,
नीवारेण इव सूकरम् ॥

३६. तुम चिरकाल से (मुनिचर्या में) विहार कर रहे हो, अब तुममें दोष कहा से आयेगा ? वे भिक्षु को इस प्रकार निमंत्रित करते हैं जैसे चारा^{१६} डालकर सूअर को ।^{१६}

३७. चोइया भिक्षुचरियाए
अचयंता जजित्तए ।
तत्थ मंदा विसीयंति
उज्जाणंसि व दुब्बला । २०।

चोदिताः भिक्षुचर्या,
अशक्नुवन्तः यापयितुम् ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति,
उद्याने इव दुर्बलाः ॥

३७. भिक्षुचर्या में चलने वाले किन्तु उसका निर्वाह करने में असमर्थ मद पुरुष वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे ऊँची चढ़ाई में^{१७} दुर्बल (बैल) ।

३८. अचयंता व लूहेण
उवहाणेण तज्जिया ।
तत्थ मंदा विसीयंति
पंकंसि व जरगवा । २१।

अशक्नुवन्तः वा लूशेण,
उपधानेन तजिताः ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति,
पके इव जरद्गवाः ॥

३८. समय-पालन में असमर्थ तथा तपस्या से^{१८} तजित मंद पुरुष वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे कीचड़ में बूढ़ा बैल ।

३९. एवं णिमंतणं लब्धु
मुच्छिया गिद्ध इत्थिसु ।
अज्झोववण्णा कामेहि
ओइज्जंता गिहं गय । २२।

एव निमन्त्रणं लब्ध्वा,
मुच्छिताः गृद्धाः स्त्रीषु ।
अध्युपपन्नाः कामेषु,
चोद्यमानाः गृहं गताः ॥

३९. विषयो में मूर्च्छित, स्त्रियों में गृद्ध और कामों में आसक्त भिक्षु इस प्रकार का निमन्त्रण पाकर, समझाने-बुझाने पर भी घर चले जाते हैं ।

—सि बेमि ॥

इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हू ।

तइमो उद्देसो : तोसरा उद्देशक

४०. जहा संगमकालमि
पिट्ठओ भोरु वेहइ ।
वलयं गहनं णूमं
को जानाइ पराजयं ? । १।

यथा संग्रामकाले,
पृष्ठतः भोरुः प्रेक्षते ।
वलयं गहनं 'णूमं',
को जानाति पराजयम् ? ॥

४०. जैसे युद्ध के समय डरपोक सैनिक पीछे की ओर गढ़े, "खाई" और गुफा को देखता है, कीन जाने पराजय हो जाये ?

४१. मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स
मुहुत्तो होइ तारिसो ।
पराजियाज्वसप्पामो
इति भोरु उवेहई । २।

मुहूर्तानां मुहूर्तस्य,
मुहूर्तो भवति तादृशः ।
पराजिता अवसर्पिमः,
इति भोरु उपेक्षते ॥

४१. घड़ी और घड़ियों में कोई एक घड़ी ऐसी होती है (जिसमें जय या पराजय होती है) । पराजित होने पर हम पीछे भागेगे, इसलिए वह डरपोक सैनिक (पीछे की ओर छिपने के स्थान को) देखता है ।

४२. एवं तु समणा एगे
अबलं णञ्चाण अप्पगं ।
अणागयं भयं बिस्स
अवकप्पन्तिमं सुयं ।३।

४३. को जानइ वियोवातं
इत्थीओ उदगाओ वा ? ।
चोइज्जंता पवक्खामो
ण जे अत्थि पकप्पियं ।४।

४४. इच्छेवं पडिलेहंति
वलययाइ पडिलेहिणो ।
वित्तिगिछसमावण्णा
पंथाणं व अकोविया ।५।

४५. जे उ संगमकालम्मि
णाया सूरपुरंगमा ।
ण ते पिट्ठमुवेहिंति
किं परं मरणं सिया ? ।६।

४६. एवं समुट्ठिए भिक्षु
वोसिज्जा गारबंधणं ।
आरंभं तिरियं कट्ठु
अत्तत्ताए परिव्वए ।७।

४७. तमेगे परिभासंति
भिक्षुयं साहुजीविणं ।
जे एवं परिभासंति
अंतए ते समाहिए ।८।

४८. संबद्धसमकप्पा हु
अण्णमण्णेषु मुच्छिया ।
पिडवायं गिलाणस्स
अं सारेह दलाह य ।९।

४९. एवं तुब्भे सरागत्था
अण्णमण्णमण्व्वसा ।
णट्ठ-सप्पह-सग्भावा
संसारस्स अपारगा ।१०।

५०. अह ते पडिभासेज्जा
भिक्षु मोक्खविसारए ।
एवं तुब्भे पभासंता
दुपक्कं वेव सेवहा ।११।

एव तु श्रमणा एके,
अबलं ज्ञात्वा आत्मकम् ।
अनागतं भयं दृष्ट्वा,
अवकल्पयन्ति इदं श्रुतम् ॥

को जानाति व्यवपात,
स्त्रीतः उदकाद् वा ।
चोद्यमाना प्रवक्ष्यामः,
न नः अस्ति प्रकल्पितम् ॥

इत्येव प्रतिलिखन्ति,
वलययादिप्रतिलेखिनः ।
विचिकित्सावमापन्नाः,
पन्थान इव अकोविदाः ॥

ये तु संगमकाले,
ज्ञाताः शूरपुरङ्गमाः ।
न ते पृष्ठ उपेक्षन्ते,
किं परं मरणं स्यात् ॥

एव समुत्थितः भिक्षुः,
वृत्सृज्य अगारबन्धनम् ।
आरम्भं तिर्यक् कृत्वा,
आत्मत्वाय परिव्रजेत् ॥

तमेके परिभाषन्ते,
भिक्षुकं सायुजीविनम् ।
ये एव परिभाषन्ते,
अन्तके ते समाधेः ॥

सम्बद्धसमकल्पाः खलु,
अन्योन्यं मूर्च्छिताः ।
पिण्डपातं ग्लानस्य,
यद् सारयतं दन्तं च ॥

एव यूयं सरागस्थाः,
अन्योन्यं अनुवशाः ।
नष्टसत्पथसद्भावाः,
ससारस्य अपारगाः ॥

अथ तां प्रतिभाषेत,
भिक्षुः मोक्षविशारदः ।
एव यूयं प्रभाषमाणाः,
द्विपक्षं चैव सेवध्वे ॥

४२. इसी प्रकार कुछ श्रमण अपने को दुर्बल जानकर,
भविष्य के भय को देखकर इस श्रुत (निमित्त,
ज्योतिष आदि) का अध्ययन करते हैं ।"

४३. 'कौन जाने स्त्री या जल के (परीसह न सह सकने
के) कारण सयम से पतन हो जाये !' हमारे पास
धन अर्जित नहीं है इसलिए प्रश्न पूछने पर हम
(निमित्त आदि विद्या का) प्रयोग करेंगे ।"

४४. गडो को देखने वाले इसी प्रकार सोचा करते हैं ।
पथ को नहीं जानने वाले जैसे पथ के प्रति संदिग्ध
होते हैं, वैसे ही वे श्रमण (अपने श्रामण्य के प्रति)
संदिग्ध रहते हैं ।

४५. जो लोग प्रसिद्ध, शूरो में अग्रणी हैं वे संगम-काल
में पीछे मुड़कर नहीं देखते । (वे यह सोचते हैं)
मरने से अधिक क्या होगा ?"

४६. इस प्रकार घर के बन्धन को छोड़कर (सयम में)
उपस्थित भिक्षु आरम्भ (हिमा) को छोड़कर"
आत्म-हित के लिये" परिव्रजन करे ।

४७. कुछ अन्यतीथिक साधु-वृत्ति से जीने वाले उस
भिक्षु की निंदा करते हैं । जो इस प्रकार निंदा
करते हैं वे समाधि से दूर हैं ।

४८. (वे कहते हैं —) आप एक-दूसरे में मूर्च्छित होकर
गृहस्थों" के समान आचरण करते हैं । आप
रोगी के लिये पिण्डपात (आहार) लाकर उन्हें देते
हैं ।"

४९. इस प्रकार आप रागी, एक-दूसरे के वशवर्ती, सत्पथ
की उपलब्धि से दूर तथा संसार का पार नहीं पाने
वाले हैं ।

५०. मोक्ष-विशारद" भिक्षु उन तीथिकों से कहे—'इस
प्रकार आप (हम पर) आरोप लगाते हैं, (और
स्वयं) द्विपक्ष" का सेवन करते हैं ।

५१. तुम्हे भुंजह पाएसु
गिलाणाभिहं ति य ।
तं च बीजोदगं भोक्त्वा
तमुद्देशादि जं कडं । १२।

यूयं भुङ्गध्वे पात्रेषु,
ग्लानाभिहतं इति च ।
तच्च बीजोदकं भुक्त्वा,
तदुद्देशकादि यत्कृतम् ॥

५१. आप घातुपात्रों में^१ खाते हैं और रोगी के लिये भोजन मंगवाते हैं । आप कन्द-मूल खाते हैं, कच्चा जल^२ पीते हैं और मुनि के निमित्त बना भोजन लेते हैं ।

५२. लिप्ता लिम्बाभितावेण
उज्झिया असमाहिया ।
णाहकंडूयं सेयं
अरुयस्सावरज्जहं । १३।

लिप्ताः तीव्राभितापेन,
उज्झिताः असमाहिताः ।
नातिकण्डूयित श्रेयः,
अरुषः अपराध्यति ॥

५२. आप तीव्र कषाय से^३ लिप्त, (विवेक) शून्य^४ और असमाहित हैं ।^५ व्रण को अधिक खुजलाना ठीक नहीं है (क्योंकि उससे) कठिनाई पैदा होती है ।

५३. तत्त्वेण अनुसिद्धा ते
अपडिण्णेण जाणया ।
ण एस णियए भग्गे
असमीक्ष्या वई किई । १४।

तत्त्वेन अनुशिष्टाः ते,
अप्रतिज्ञेन जानता ।
न एष नियतो मार्गः,
असमीक्ष्या वाग् कृतिः ॥

५३. अप्रतिज्ञ (विषय के संकल्प से अतीत^६) और ज्ञानी भिक्षु उन्हें तत्त्व से अनुशासित करते हुये कहते हैं—‘आपका यह मार्ग युक्तिसंगत’^७ नहीं है । आपकी कथनी और करनी भी सुचिन्तित नहीं है ।

५४. एरिसा जा वई एसा
अग्गे वेणु व्व करिसिया ।
गिहिणं अभिहं सेयं
भुजिउं ण उ भिक्खुणं । १५।

ईदृशी या वाग् एषा,
अग्रे वेणुरिव कर्षिता ।
गृहिणा अभिहत श्रेयः,
भोक्तुं न तु भिक्षूणाम् ॥

५४. ‘गृहस्थ द्वारा लाया हुआ भोजन खाना ठीक है, भिक्षु द्वारा लाया हुआ भोजन ठीक नहीं है’—आपका इस प्रकार कहना बास की फुनगी की तरह^८ कृण है—निश्चय तक पहुँचाने वाला नहीं है ।

५५. धम्मपण्णवणा जा सा
सारम्भाण विसोहिया ।
ण उ एयाहि विट्ठीहि
पुव्वमासि पगप्पियं । १६।

धर्मप्रज्ञापना या सा,
सारम्भाणां विशोधिका ।
न तु एताभिः दृष्टिभिः,
पूर्वमासीत् प्रकल्पितम् ॥

५५. यह धर्म-प्रज्ञापना (ग्लान मुनि के लिये आहार लाकर देने से) गृहस्थों के पाप की विशुद्धि होती है । (सूत्रकार पूर्वपक्ष के प्रति कहते हैं) तुम्हारी पूर्व परम्परा में इन दृष्टियों की प्रकल्पना नहीं है ।^९

५६. सब्बाहि अनुजुत्तीहि
अच्चयंता जवित्तए ।
तओ वायं णिराकिच्चा
ते मुज्जो बि पगप्पिया । १७।

सर्वाभिः अनुयुक्तिभिः,
अशक्नुवन्त यापयितुम् ।
ततः वाद निराकृत्य,
ते भूयोऽपि प्रगल्भताः ॥

५६. वे जब सभी अनुयुक्तियों के द्वारा^{१०} अपने पक्ष की स्थापना करने में असमर्थ हो जाते हैं तब वाद को^{११} छोड़कर फिर धृष्ट हो जाते हैं ।

५७. रागदोसाभिभूयप्पा
मिच्छत्तेण अभिव्वुया ।
अक्कोसे सरणं जति
टंकणा इव पव्वयं । १८।

रागदोषाभिभूतात्मानः,
मिध्यात्वेन अभिद्रुताः ।
आक्रोशान् शरण यान्ति,
तङ्गणा इव पर्वतम् ॥

५७. राग-द्वेष से अभिभूत और मिथ्या धारणाओं से भरे हुए वे गाली-गलौज की^{१२} शरण में चले जाते हैं, जैसे तगण^{१३} पर्वत की शरण में ।

५८. बहुगुणप्पकप्पाहं
कुज्जा अत्तसमाहिए ।
जेण्णे ण विरुज्जेज्जा
तेणं तं तं समायरे । २०।

बहुगुणप्रकल्पानि,
कुर्यात् आत्मसमाहितः ।
येनान्यः न विरुध्येत,
तेन तत् तत् समाचरेत् ॥

५८. आत्म-समाहित मुनि^{१४} (वादकाल में) बहुगुण-उत्पादक चर्चा करे । वैसा आचरण (हेतु आदि का प्रयोग) करे जिससे कोई विरोधी न बने ।

५९. इमं च धम्ममादाय
काश्यपेण प्रवेदितम् ।
कुज्जा भिक्खु गिलाणस्स
अगिलाए समाहिए । २१।

इमं च धर्ममादाय,
काश्यपेन प्रवेदितम् ।
कुर्याद् भिक्षुः ग्लानस्य,
अगिलाया समाहितः ॥

५९. काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा बताये गये इस धर्म को स्वीकार कर शास्त्रचिन्तित भिक्षु अग्लानभाव से^{१५} कृण भिक्षु की सेवा करे ।

६०. संख्याय पेशलं धर्मं
दृष्टिमं परिनिर्वृतं ।
उपसर्गो गियामित्ता
अस्योपस्थाए परिष्वाएजासि । २२।

—सि बेमि ॥

सख्याय पेशल धर्म,
दृष्टिमान् परिनिर्वृतः ।
उपसर्गान् नियम्य,
आमोक्षाय परिब्रजेत् ।

इति ब्रवीमि ॥

६०. दृष्टिसंपन्न और प्रशान्त भिक्षु पवित्र^{१०} धर्म को जान, मोक्ष-प्राप्ति तक उपसर्गों को सहता हुआ परिब्रजन करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ॥

चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

६१. आहंसु महापुरिसा
पुंस्व तत्ततपोधना ।
उदएण सिद्धिमावण्णा
तत्थ मंदो विसीयइ । १।

आहुः महापुरुषाः,
पूर्वं तप्ततपोधना ।
उदकेन सिद्धिमावन्नाः,
तत्र मन्दो विषीदति ॥

६१. कहा जाता है कि अतीत काल में^{११} तप्त तपोधन महापुरुष^{१२} सचित्त जल से स्नान आदि करते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए हैं ।^{१३} यह सोचकर मंद भिक्षु (अस्नान आदि व्रतों में) विषण्ण (मदिग्ध) हो जाता है ।

६२. अभुजिया णमी वेवेही
रामउत्ते य भुजिया ।
बाहुए उवगं भोक्खा
तहा तारागणे रिसी । २।

अभुक्त्वा नमि. वंदेही,
रामपुत्रश्च भुक्त्वा ।
बाहुकः उदक भुक्त्वा,
तथा तारागण ऋपि. ॥

६२. विदेह जनपद के राजा नमि ने भोजन छोड़कर, (राजपि) रामपुत्र ने भोजन करते हुए तथा बाहुक और तारागण ऋषि ने केवल जल पीते हुए (सिद्धि प्राप्त की ।)

६३. आसिले देविले च्व
बीवायण महारिसी ।
पारासरे दगं भोक्खा
बीयाणि हरियाणि य । ३।

आसिल देविलश्चैव,
द्वीपायनो महर्षि. ।
पाराशरः दक भुक्त्वा,
बीजानि हरितानि च ॥

६३ तथा आसिल-देविल, द्वीपायन और पाराशर महर्षियों ने सचित्त जल, बीज और हरित का सेवन करते हुए (सिद्धि प्राप्त की ।)^{१४}

६४. एए पुंस्व महापुरिसा
आहिया इह संमया ।
भोक्खा बीयोदगं सिद्धा
इह मेयमणुस्सुयं । ४।

एने पूर्व महापुरुषा,
आहूता. इह सम्मता ।
भुक्त्वा बीजोदक सिद्धा,
इति ममैतद् अनुश्रुतम् ॥

६४. अतीत में हुए ये महापुरुष (भारत आदि पुराणों में) आग्यात है और यहा (ऋषिभाषित आदि जैन ग्रन्थों में) भी सम्मत है । इन्होंने सचित्त बीज और जल का सेवन कर सिद्धि प्राप्त की—यह मैंने परम्परा से सुना है ।

६५. तत्थ मंदा विसीयंति
वाहच्छिण्णा व गद्दभा ।
पिट्ठो परिसर्पन्ति
पीठसप्पीव संममे । ५।

तत्र मन्दा विषीदन्ति,
वाहच्छिन्ना इव गर्दभा ।
पृष्ठतः परिसर्पन्ति
पीठसर्पिण. इव सम्भ्रमे ॥

६५. (यह सोचकर) मंद भिक्षु विषाद को प्राप्त होते हैं । भार को बीच में ही डाल देने वाले^{१५} गधे की भांति वे (अस्नान आदि व्रतों को) बीच में ही छोड़ देते हैं । वे कठिनाई के समय^{१६} मोक्ष की ओर प्रस्थान करने वाले मुमुक्षुओं से पगु^{१७} की भांति पीछे रह जाते हैं ।

६६. इहमेगे उ भासंति
सातं सातेण बिज्जई ।
जे तत्थ आरियं मग्गं
परमं च समाहिंयं । ६।

इह एके तु भाषन्ते,
सान सातेण विज्जने ।
यस्तत्र आर्यो मार्गः,
परमश्च समाधिकः ॥

६६. कुछ दार्शनिक कहते हैं—‘सुख से सुख प्राप्त होता है’^{१८} । जो आर्य मार्ग है^{१९} (वह सुखकर है) उससे परम समाधि (प्राप्त होती है ।)^{२०}

६७. मा एयं अवसण्णता
अप्पेणं लुपहा बहुं ।
एयस्स अमोक्खाए
अयोहारि इव जूरहा । ७।

६८. पाणाइवाए वट्ठंता
मुसावाए असंजया ।
अविण्णावाणे वट्ठंता
मेहुणे य परिग्रहे । ८।

६९. एवमेगे उ पासत्था
पण्णवैति अणारिया ।
इत्थीवसं गया बाला
जिणसासनपरंमुहा । ९।

७०. जहा गंडं पिलागं वा
परिपीलेत्ता मुहुत्तगं ।
एवं विण्णवणित्थीसु
दोसो तत्थ कओ सिया? । १०।

७१. जहा मंधादए णाम
थिमियं पियति दगं ।
एवं विण्णवणित्थीसु
दोसो तत्थ कओ सिया? । ११।

७२. जहा विहंगमा पिगा
थिमियं पियति दगं ।
एवं विण्णवणित्थीसु
दोसो तत्थ कओ सिया? । १२।

७३. एवमेगे उ पासत्था
मिच्छाविट्ठी अणारिया ।
अज्झोववण्णा कामेहि
पूयणा इव तरुणए । १३।

७४. अणागयमपस्संता
पञ्चुप्पण्णगवेसगा ।
ते पञ्छा परितप्पंति
भीणे आउम्मि जोव्वणे । १४।

७५. जेहि काले परक्कंतं
ण पञ्छा परितप्पए ।
ते धीरा बंधणुम्मुक्का
णावक्कंति जीवियं । १५।

मा एतं अपमन्यमानाः,
अल्पेन लुम्पथ बहुम् ।
एतस्य अमोक्षे,
अयोहारी इव खिद्यध्वे ॥

प्राणातिपाते वर्तमानाः,
मृषावादे असंयताः ।
अदत्तादाने वर्तमानाः,
मैथुने च परिग्रहे ॥

एवमेके तु पार्श्वस्थाः,
प्रज्ञापयन्ति अनार्याः ।
स्त्रीवशं गताः बालाः,
जिनशासनपराङ्मुखाः ॥

यथा गण्ड पिटक वा,
परिपीड्य मुहूर्तकम् ।
एव विज्ञापना स्त्रीषु,
दोषस्तत्र कुतः स्यात् ? ॥

यथा 'मन्धादकः' नाम,
स्तिमित पिबति दकम् ।
एवं विज्ञापना स्त्रीषु,
दोषस्तत्र कुतः स्यात् ? ॥

यथा विहंगमा पिगा,
तिमित पिबति दकम् ।
एव विज्ञापना स्त्रीषु,
दोषस्तत्र कुतः स्यात् ? ॥

एवमेके तु पार्श्वस्थाः,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः ।
अध्युपपन्नाः कामेषु,
पूतना इव तरुणके ॥

अनागतं अपश्यन्तः,
प्रत्युत्पन्नगवेषकाः ।
ते पश्चात् परितप्यन्ते,
क्षीणे आयुषि यौवने ॥

यैः काले पराक्रान्त,
न पश्चान् परितप्यन्ते ।
ते धीराः बन्धनोन्मुक्ताः,
नावकांक्षंति जीवितम् ॥

६७. इस अप-सिद्धात को मानते हुने आप थोड़े के लिये
बहुत को न गवाएं । इस अप-सिद्धान्त को न
छोड़ने के कारण कही आप लोहवणिक की भांति^{६६}
खेद को प्राप्त न हों ।^{६७}

६८. [इस अप-सिद्धान्त के कारण ही आप] हिंसा करते
हैं, मृषावाद के प्रति संयत नहीं हैं, अदत्तादान,
मैथुन और परिग्रह में भी प्रवृत्त हैं ।^{६८}

६९. कुछ अनार्य^{६९}, स्त्री के वशवर्ती, अज्ञानी और जिन
शासन के पराङ्मुख पार्श्वस्थ^{७०} इस प्रकार कहते
हैं—

७०. जैसे कोई गाठ या फोड़े को दबाकर कुछ समय के
लिये (मवाद को निकाल देता है) वैसे ही स्त्री के
साथ भोग कर^{७१} (कोई वीर्य का विसर्जन करता
है) उसमें दोष कैसा ?

७१. जैसे मेंढा जल को गुदला किये बिना^{७२} धीमे से
उसे पी लेता है, वैसे ही (चित्त को कलुषित किये
बिना) स्त्री के साथ कोई भोग करता है, उसमें
दोष कैसा ?

७२. जैसे पिग^{७३} नामक पक्षिणी आकाश में तैरती हुई
(जल को क्षुब्ध किये बिना) धीमे से चोच से जल
पी लेती है, वैसे ही (राग से अलिप्त रह कर) स्त्री
के साथ कोई भोग करता है, उसमें दोष कैसा ?^{७४}

७३. इस प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि, अनार्य, पार्श्वस्थ काम-
भोगी में वैसे ही आसक्त होते हैं जैसे भेड़^{७५} अपने
बच्चे में ।

७४. भविष्य में होने वाले दुःख को दृष्टि से ओझल कर
वर्तमान सुख को खोजने वाले वे आयुष्य और
यौवन के क्षीण होने पर परिताप करते हैं ।^{७६}

७५. जिन्होंने ठीक समय पर^{७७} पराक्रम किया है वे बाद
में परिताप नहीं करते ।^{७८} वे धीर पुरुष (कामा-
सक्ति के) बंधन से मुक्त होकर (काम-भोगमय)
जीवन की^{७९} आकांक्षा नहीं करते ।

सुखबोधो १

१४४

अ० ३ : उपसर्गपरिज्ञा : श्लो० ७६-८२

७६. अहा नदी वैतरणी
दुस्तरा इह सम्मता ।
एवं लोके नारीषो
दुस्तरा अमईमया । १६।

७७. जेहि नारीष संयोगा
पूयणा पिट्टो कया ।
सम्बमेयं निराकृत्या
ते ठिया सुसमाहीए । १७।

७८. एए ओधं तरिस्संति
समुद्धं च बबहारिणो ।
अस्थ पाणा विसण्णासी
किच्छंती सयकम्मुणा । १८।

७९. तं च भिक्षु परिणाय
सुखए समिए चरे ।
मुत्तावायं विवज्जेजा
ऽदिग्गवाणं च बोसिरे । १९।

८०. उद्धमहे तिरियं वा
जे केई तसथावरा ।
सम्बस्थ विरति कुज्जा
संति निग्गवाणमाहियं । २०।

८१. इमं च धम्ममायाय
कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्षु गिलाणस्स
अगिलाए समाहिए । २१।

८२. संख्याय पेसलं धम्मं
विट्ठिसं परिणिबुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि । २२।

—सि बेमि ॥

यथा नदी वैतरणी,
दुस्तरा इह सम्मता ।
एवं लोके नार्यः,
दुस्तरा। अमतिमता ।।

यैः नारीणां संयोगाः,
पूतनाः पृष्ठतः कृताः ।
सर्वमेतत् निराकृत्य,
ते स्थिताः सुसमाधौ ॥

एते ओषं तरिष्यन्ति,
समुद्र इव व्यवहारिणः ।
यत्र प्राणाः विषण्णासीनाः,
कृत्यन्ते स्वककर्मणा ॥

तच्च भिक्षुः परिज्ञाय,
सुव्रतः समितस्चरेत् ।
मृषावादं विवर्जयेत्,
अदत्तादानं च व्युत्सृजेत् ॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् वा,
ये केचित् त्रसस्थावराः ।
सर्वत्र विरतिं कुर्यात्,
शान्तिः निर्वाणमाहृतम् ॥

इमं च धर्ममादाय,
काश्यपेन प्रवेदितम् ।
कुर्यात् भिक्षुः ग्लानस्य,
अगिलया समाहितः ॥

संख्याय पेशलं धर्मं,
दृष्टिमान् परिनिर्वृतः ।
उपसर्गान् नियम्य,
आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥

—इति ब्रवीमि ॥

७६. जैसे वैतरणी नदी^{११} (तेज प्रवाह और विषम तट-
बंध के कारण) दुस्तर मानी गई है, वैसे ही अबुद्धि-
मान् पुरुष के लिये इस लोक में स्त्रियां दुस्तर होती
हैं ।

७७. जिन्होंने विकृति पैदा करने वाले^{१२} स्त्रियों के
मयोगों को पीठ दिखा दी है और जिन्होंने इस समय
(अमुकूल परीसह) को निरस्त कर दिया है, वे
समाधि में स्थित हैं ।

७८. ये (काम-वासना को जीतने वाले) संसार-समुद्र का
पार पा जायेंगे, जैसे व्यापारी समुद्र का पार पा
जाता है, जिस (संसार-समुद्र) में प्राणी विषण्ण
होकर रहते हैं और अपने कर्मों के कारण छिन्न
होते हैं ।

७९. इसे जानकर भिक्षु सुव्रत और समित होकर विहरण
करे । वह झूठ बोलना छोड़े^{१३} और चोरी को
त्यागे ।

८०. ^{१४} ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो कोई
त्रस और स्थावर प्राणी हैं, सब अवस्थाओं में^{१५}
उनकी हिंसा से विरत रहे । (विरति ही) शान्ति
है^{१६} और शान्ति ही निर्वाण है ।

८१. काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा बताये गये
इस धर्म को स्वीकार कर शातचित्त भिक्षु अग्लान-
भाव में रहण भिक्षु की सेवा करे ।

८२. दृष्टि-संपन्न और प्रशान्त भिक्षु पवित्र धर्म को
जान, मोक्ष-प्राप्ति तक उपसर्गों को सहता हुआ
परिव्रजन करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

द्विपथः अध्ययन ३

पल्लोका १ :

१. बृहत्समर्ष्यवाले (बृहत्समर्ष्यवाणं)

इसका संस्कृत रूप होगा 'बृहत्समर्ष्यम्'। वृत्तिकार ने इसका अर्थ—समर्ष्य स्वभाव वाला अर्थात् बृद्ध को बृद्धता से लड़ने के स्वभाव वाला किया है।^१ वृत्तिकार ने 'बृहत्समर्ष्य' पाठ मानकर उसका अर्थ बृद्ध धनुष्यवाला किया है।^२ इसका संस्कृत रूप होगा 'बृहत्समर्ष्यम्'। यह महारथ का विशेषण है।

२. कृष्णको (महारथं)

वृत्तिकार और टीकाकार—दोनों ने इसका अर्थ कृष्ण किया है।^३

३. शिशुपाल (सिसुपालो)

एक नगर में दम्बोध नाम का राजा था। उसकी रानी का नाम माद्री था। वह कृष्ण की बहिन थीं। उसके पुत्र का जन्म हुआ। उसके चार भुजाएँ थीं। वह बहुत बल-संपन्न था। चतुर्भुज पुत्र को देख माता को बहुत आश्चर्य हुआ। एक ओर उसके मन में पुत्र-प्राप्ति का हर्ष था तो दूसरी ओर पुत्र के चतुर्भुज होने के कारण भय। उसने नैमित्तिकों को बुला भेजा। नैमित्तिक आये, पुत्र को देखकर बोले—यह शिशु पहान् पराक्रमी और संग्राम में दुर्जेय होगा। जिसको देखकर इसकी दो अतिरिक्त भुजाएँ नष्ट हो जायेंगी, उसी व्यक्ति से इसको भय होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।^४ यह सुनकर माता का मन भय से भर गया। माद्री को पुत्र-जन्म की बधाई देने के लिये अनेक लोग आये। माद्री सबको अपना पुत्र दिलाती और वधायोग्य सबके चरणों में उसे झुटाती। कृष्ण भी वहा आये। माद्री ने उनके चरणों में पुत्र को झुटाया। कृष्ण के देखते ही शिशु की दो अतिरिक्त भुजाएँ विलीन हो गईं। यह देख माद्री कृष्ण के पास गई और पुत्र को अभय देने की प्रार्थना की। कृष्ण ने कहा—यों इसके ती अपराधों को क्षमा कर दिया। आगे नहीं।^५ दिन बीते। शिशुपाल युवा हुआ। वह अपने जीवन के मय से अन्धा होकर कृष्ण की असभ्य वचनों से अवहेलना करने लगा। समर्ष्य होते हुए भी कृष्ण उसे सहते रहे। शिशुपाल वैसे ही करता रहा। जब ती बार अपराध हो चुके तब कृष्ण ने उसे सावधान किया। किन्तु शिशुपाल नहीं माना। अन्त में कृष्ण ने अपने चक्र से उसका शिर काट डाला।^६

पल्लोका २ :

४. माता अपने पुत्र को नहीं जान पाती (माया पुत्रं न जानात्)

इस चरण के द्वारा संग्राम की भीषणता प्रदर्शित की गई है। जब योद्धाओं द्वारा आयुधों का परस्पर प्रहार होता है और उनके द्वारा नागरिक भी क्षत-विक्षत होते हैं तब माताएं भी भयभ्रांत होकर अपने नन्हें-नन्हें बच्चों को छोड़कर भाग जाती हैं अथवा उनके हाथ या कटि से बच्चों के गिर जाने पर भी उन्हें पता नहीं चलता। इस प्रकार का आतंकपूर्ण संग्राम 'माता-पुत्रीय-

१. वृत्ति, पत्र ८० : इहः—समर्ष्यो धर्मः—स्वभावः लक्ष्मणानामर्ष्यो बलं स लक्ष्मणम् ।

२. वृत्ति, पृ० ७१ : इहं धनुषं स भवति बृहत्समर्ष्यं तं बृहत्समर्ष्यम् ।

३. (क) वृत्ति, पृ० ७१ : महारथो केसरी ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८० : महारथं रथोद्धेतुं महारथः, स च प्रकमाद्यन् नारायणः ।

४. (क) वृत्ति, पृ० ७५, ७६ ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८२ ।

संग्राम' कहलाता है ।^१

इसलोक ३ :

५. अपुष्टधर्मा (अपुष्टे)

वृणिकार ने इसका मुख्य अर्थ—अपुष्टधर्मा और विकल्प में परीषहों से अस्पृष्ट या अदृष्टधर्मा किया है ।^१ वृत्तिकार केवल 'अस्पृष्ट' अर्थ ही करते हैं ।^२ प्रसंगवश वृणिकार द्वारा स्वीकृत पहला अर्थ ही संगत लगता है ।

वेत्ते १/१४/३ का टिप्पण ।

६. अपने आपको शूर मानता है (सूरं मण्णइ अप्पाणं)

वह प्रव्रजित होते समय सोचता है—प्रव्रज्या में दुष्कर है ही क्या ? जिम्मे निश्चय कर लिया है उसके लिए कौन-सा कार्य दुष्कर होता है । आदमी सिंह, बाघ आदि के साथ भी लड़ सकता है, संग्राम में जा सकता है, आग में कूद सकता है—इस प्रकार संयम के कष्टों को न जानने वाला व्यक्ति अपने आपको शूर मानता है ।^३

७. रूक्ष (संयम) का (लूहं)

संयम रूक्ष होता है, क्योंकि उसमें कर्म-बंध नहीं होता । जैसे रूक्ष पट पर रजे नहीं चिपकती, वैसे ही संयम में कर्मों का श्लेष नहीं होता । अतः रूक्ष शब्द का अर्थ है—संयम ।^४

संयम का पालन कष्टकर होता है । कुछ अधीर व्यक्ति साधुओं को मीले-कुचैले देखकर संयम से घ्युत हो जाते हैं । कुछ आग्ने केशलुंबन में और कुछ केशलुंबन की समाप्ति पर, उससे थकड़ा कर भाग खड़े होते हैं । कुछ व्यक्ति केशों के परिष्ठापन के लिए जाते हैं और वही से बर बले जाते हैं । इस प्रकार संयम का पालन कष्टकर होता है ।^५

इसलोक ४ :

८. जाड़े के महीनों में (हेमंतमासम्मि)

इस शब्द के द्वारा पौष और माघ—ये दो महीने गृहीत हैं । वृणिकार के अनुसार इन महीनों में भयंकर ठंड पड़ती है, आकाश में वर्षा के बादल उमड़ आते हैं और वायु भी तीव्र हो जाती है ।^६

१ (क) वृत्ति, पृ० ७६ : माता पुत्रं न याचति, अमाता-पुत्रो यदा सङ्ग्रामो भवति । का याचना ? तस्यानवस्थायी माता पुत्रं मुक्तं उत्तानशयं क्षीराहारमज्ज्ज्वं मयोद्भ्रान्तलोचना अप्पा (अप्पा) इण्णा न याचति, नो (ना) पेक्षते, न याचामोचमते हस्तात् कटीतो वा भ्रश्यमानं भ्रष्टं वा न जानीते ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८० : ततः सङ्ग्रामे समुपस्थिते पतत्परानीकसुनटमुक्तहेतिसङ्गते सति तत्र च सर्वस्याकुलीभूतत्वात् 'माता पुत्रं न जानाति' कटीतो भ्रश्यन्ते स्तनमध्यमपि न सम्यक् प्रतिजागर्त्तस्येवं मातापुत्रीये सङ्ग्रामे ।

२ वृत्ति पृ० ७६ : अपुष्टो नाम अपुष्टधम्मो, अपुष्टो वा परीषहः, अदृष्टधर्मा इत्यर्थः ।

३ वृत्ति पत्र ८१ : परीषहः 'अस्पृष्टः' अञ्जुप्तः ।

४ वृत्ति, पृ० ७६ : सो पण्णयंतो जितेह भवति य—किं पण्णयाए दुक्करं कातुं ति ? किं निच्छियस्स दुक्करं ? जणु सीहवग्गेहि बि सत्तं दुक्किञ्जति, संगामे च पबिसिञ्जति, अग्गिपड्ढं च कीरइ ।

५ (क) वृत्ति, पृ० ७६ : रूक्षः संयम एव, कञ्जत्वात् तत्र कर्माणि न शिल्लयन्ति रजोवत् ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८१ : रूक्ष संयमं कर्मसंश्लेषकारणाच्चात् ।

६ वृत्ति, पृ० ७६ : तत्र केचिद्दुहट्टं साधून् जल्लादीहि लिप्ताङ्गान् केचिद्वड्ढते लोभे केचित् परिसमाप्ते केशान् जम्हं गत्ताः, तत एव जन्ति ।

७ वृत्ति, पृ० ७६ : यथासीव सीतं भवति, यथं-वर्दमानयो वा तीव्रवाता भवति, वातग्रहणात् सीह-वग्ग-विद्वानोवाक्कानं, यथा पोसे वा माहे वा ।

६. राजा (कस्तिवा)

इसके अनेक अर्थ हैं—सामन्त, अच्छी (ग्राम-शासक) राजा आदि ।^१

यहां इसका अर्थ 'राजा' किया है ।^२

श्लोक ५ :

१०. कर्म से पलायन किए हुए हैं (कम्मन्ता)

कम्मन्त का अर्थ है—कृषि, पशुपालन आदि ।^३

वृत्तिकार ने 'कम्मन्ता' पाठ मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

(१) अपने पूर्वकर्मों का फल भोगने वाले ।

(२) कृषि, पशुपालन आदि कार्यों से अभिभूत ।

श्लोक ६ :

११. (साधुचर्या से) प्रतिकूल पथ पर चलने वाले (पाडिपंचियमागया)

जो जिसके प्रतिकूल है वह उसके लिये प्रातिपथिक होता है ।^४ वृत्तिकार ने इसका अर्थ—साधुओं के विद्वेषी किया है ।^५

१२. ये कृत का प्रतिकार कर रहे हैं (पडियारगया एए)

मुनि अहिंसा और अपरिग्रह की दृष्टि से जो साधना स्वीकार करता है उसे प्रातिपथिक व्यक्ति पूर्वकृत कर्मों का परिणाम बतलाते हैं । वे कहते हैं— इन मुनियों ने अन्य जन्मों में मार्ग त्याग दिया था, इसलिये ये नग्न ब्रूम रहे हैं । इन्होंने दान नहीं दिया था, इसलिये इन्हे आहार नहीं मिल रहा है और यदि मिल रहा है तो ये ले नहीं पा रहे हैं । इन्होंने किसी को पानी नहीं पिलाया था, इसलिये ये निर्मल पानी भी नहीं पी रहे हैं ।^६

श्लोक १० :

१३. पिण्ड मांगकर खानेवाले (पिंडोलग)

इसका अर्थ है—भिक्षा से निर्वाह करने वाला । पिंड का अर्थ है—भोजन और ओलग (ओलग) का अर्थ है—पीछे लगा

१ देखें—इसवेअलियं ६/२ में 'कस्तिव' शब्द का टिप्पण ।

२ (क) जूजि, पृ० ७६ : कस्तिवो नाम राजा ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८१ : कस्तिवो राजानः ।

३. जूजि, पृ० ८० : कृषी-पशुपालमादिभिः कम्मन्तैः ।

४. वृत्ति, पत्र ८२ : पूर्वचरितैः कर्मभिरारतैः पूर्वद्वन्द्वकृतकर्मणः कलमपुनवन्ति, यद्विवा—कर्मणिः—कृष्यादिविरारतैः—तत्कलुप्तमन्त्रा उच्यन्ते ।

५. जूजि, पृ० ८१ : पण्डितेऽनेनेति पन्थानं प्रति बोध्यः पन्थाः स प्रतिपथः प्रतिपन्था वा, अथवा यो यस्य विरोधका स तस्य प्रातिपथिको भवति ।

६. वृत्ति, पत्र ८२ : प्रतिपथः—प्रतिकूलार्थं तेन चरन्ति प्रातिपान्थिकाः—साधुविद्वेषिनः ।

७. जूजि, पृ० ८१ : पडियारगता एते, कारणं कस्तिवो कारणः ते, कारणं प्रति बोध्यः कारणः प्रतिकारः, तं पलाः पडियारगताः पडियाई कम्मवाई वेदन्ति, एतेहि अन्त्याए कासीए पंचा उच्यन्ते तेन विमया द्विदन्ति, न न इत्ताई वाचाई तेन न सन्ति, नदं पि न न वेदन्ति, न वा उच्यन्ति इत्तानि तेन साधि न विदन्ति ।

हुआ । अर्थात् जो भिक्षा के पीछे लगा हुआ है, भिक्षा से ही जीवन यापन करता है वह 'पिडोलग' कहलाता है ।'

देखें—उत्तरजम्भयाणि ५/२२ का टिप्पण ।

१४. कुञ्जली के कारण विकृत शरीर वाले (कंठू-विणट्ठंगा)

पसीने, मेल या मांकड के काटने पर व्यक्ति शरीर को अंगुली, नख, शुक्ति या सलाका आदि से खुजलाता है । धीरे-धीरे उसका शरीर विकृत होता जाता है, विणट्ठ होता जाता है ।'

कुञ्जली करने से शरीर में कहीं घाव और कहीं रेखायें उभर आती हैं । इनसे शरीर विकृत हो जाता है । कुछ व्यक्ति अपने शरीर की सार-संभाल नहीं करते । शरीर कभी रोगग्रस्त हो जाता है और उससे कोई न कोई शरीर का अंग विकृत होकर नष्ट हो जाता है ।'

सनत्कुमार ऋषयर्त्ती थे । उन्हें संसार की असरता का बोध हुआ । वे प्रव्रजित हो गये । उन्होंने शरीर का परिकर्म छोड़ दिया । बेले-बेले की तपस्या करने लगे । एक बार पारणे में उन्हें बकरी की छाछ मिली । उससे पारणा किया । फिर बेले की तपस्या की । पारणे में प्रान्त और नीरस आहार लेने के कारण उनके शरीर में कण्डू आदि सात व्याधियाँ उत्पन्न हुईं । सात सौ वर्षों तक वे इन्हें सहते रहे । तपस्या का क्रम चलता रहा । शरीर विकृत हो गया ।

१५. मंले (उज्जल्ला)

उत् अर्थात् ऊपर आ गया है, जल्ल अर्थात् सूखा पसीना, उसे 'उज्जल्ल' कहा जाता है । तात्पर्य में इसका अर्थ होगा—मैला ।'

१६. दुःखी हैं (असमाहिया)

बुणिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—असुन्दर अथवा दुःखी ।' वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जो मनुष्य असुन्दर, बीभत्स या दुष्ट होता है वह दूसरों में असमाधि उत्पन्न करता है ।'

इलोक ११ :

१७. मोह सै (मोहेण)

बुणिकार ने मोह का अर्थ अज्ञान' और वृत्तिकार ने 'मिध्मादर्शन' किया है ।'

१८. अन्धकार से (और भी घने) अंधकार में जाते हैं (तमाओ ते तमं जंति)

तम का अर्थ है—अज्ञान । अज्ञान से घोर अज्ञान में जाते हैं अर्थात् वे मनुष्य उत्कृष्ट स्थिति वाले मोहनीय, ज्ञानावरणीय और वर्णनावरणीय कर्म का बंध करते हैं । वे एकेन्द्रिय आदि एकान्त तमोमय योनियों में जन्म लेते हैं तथा सदा अन्धकार से व्याप्त

१. (क) बुणि पृष्ठ ८१ : पिडेत्तु बीवमानेभु उत्तेति पिडोफणा ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८२ : 'पिडोलग' ति परविण्डप्रार्थकाः ।

२. बुणि, पृ० ८१ : स्वेव-मल-मत्कुचादिभिः आसमाना अङ्गुल-नखशुक्ति-सलाकादीनां कण्डुवित्तमार्थैः विणट्ठंगा ।

३. वृत्ति, पत्र ८२ : तथा—क्वचिदकण्डूवृत्तमतेः रेखाभिर्वा विणट्ठाङ्गाः—विकृतशरीराः, अग्रतिकर्मशरीरतया वा क्वचिद्रोगसम्भवे सनत्कुमारवद्विणट्ठाङ्गाः ।

४. (क) वृत्ति, पत्र ८२ : तमोवृगतो जल्लः—मुष्कावस्वेदः ।

(ख) बुणि, पृष्ठ ८१ : उज्जल्ल ति उववित्तकल्ला मलसकटाङ्गाविताङ्गाः ।

५. बुणि पृ० ८१ : असमाहित ति असोमना विमुलाङ्गत्वात् अथवा असमाहिता बुभिक्षता ।

६. वृत्ति, पृ० ८२, अ१ : अस्मत्तहिता असोमना बीभत्ता दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति ।

७. बुणि, पृ० ८१ : मोहो जम्मायं ।

८. वृत्ति, पत्र ८३ : मोहेण मिध्मादर्शनकपेण ।

नरक में उत्पन्न होते हैं ।^१

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं ।

(१) प्राणी अज्ञान करी अन्धकार से भोर अन्धकार में जाते हैं ।

(२) निम्नतम पति में जाते हैं ।^२

इसलोक १२ :

१६. दंड और मच्छरों के (दंडमसर्गेहि)

सिन्धु, ताम्रलिप्ति (ताम्रलिप्त), कोंकण आदि देशों में दंड, मशक बहुत होते थे । ये देश मुनियों के बिहार-क्षेत्र थे । इन देशों में बिहुरण करने वाले मुनियों को दंड-मशक परीषह का सामना करना पड़ता था ।^३

इसलोक १३ :

२०. केश (केस)

जिनको लींचने से मनुष्य को केश होता है, इसलिये बालों को केश कहा जाता है ।^४

२१. जाल में (केयणे)

इसका अर्थ है—मछली पकड़ने का जाल ।

वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—‘केतन’ जलनी के आकार का एक जाल होता है । ज्वार के लौटते समय पानी चला जाता है, मछलियां उस जाल (केतन) में फंस जाती हैं ।^५

इसलोक १४ :

२२. आत्मघाती चेष्टा करने वाले (आयदंडसमाधारा)

जिनका आत्मा को दंडित करने का स्वभाव है वे आत्मदंड-समाचार कहलाते हैं ।^६

२३. हर्ष (क्रीड़ा भाव) (हरिस)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—राग या क्रीड़ाभाव ।^७

१. बृजि, पृष्ठ ८५ : अज्ञानं हि तमः ते ततो अज्ञानतमातो तमंतरं कायाइ उवकासतात्पट्टीत्यं मोहविक्रमं कर्मं बंधति, एवं ज्ञानावरजिकं दंडमावरजिकं, एगिबियाबिषु वा एगंततमासु जोनीसु उववजंति, जिवबंधकारेसु वा वरएसु ।

२. वृत्ति, पत्र ८३ : तमसः अज्ञानरूपादुत्पद्यते तमो यान्ति यवज्जति, यविवा—अवस्तावप्यवस्तवी गति गच्छति ।

३. (क) बृजि, पृ० ८१ : सिन्धु-ताम्रलिप्तिगाबिसु बितएसु अतीव दंडता जवति, अज्ञावृतास्ते भूतं बाध्यमानाः सीतेन च अस्वरज-याउरजहुताए तमाइं सेवमाणा तेहि विज्जंति ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८३ : यवजिरिसिन्धु ताम्रलिप्तकोजुनाबिके वेसे अजिका दंडमसका जवति ।

४. बृजि, पृ० ८२ : जिनस्यन्त एगिराहुब्धा इति केसाः ।

५. बृजि, पृ० ८२ : केयणं नाम कवचस्तसंठितं, यच्छा पाणिए पडिजियते उत्तारिकंति इत्यर्थः ।

६. (क) बृजि पृ० ८२ : आत्मानं वज्जमितुं सीतं येवां ते जवन्ति आत्मदंडसमाधाराः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८३ : आत्मा वज्जयते हितात् अवर्तते येन स आत्मदंडः समाधाराः अनुकामम् ।

७. वृत्ति, पत्र ८३ ।

श्लोक १५ :

२४. सीमान्त प्रवेश में रहने वाले (परिवर्तित)

पर्यन्त का अर्थ है—सीमान्त प्रदेश ।^१ वृत्तिकार ने इसका अर्थ—अनार्य देश का सीमान्त प्रदेश किया है ।

२५. लाल वस्त्रों से (कषायवसनैहि)

वृत्तिकार ने 'कषाय' और 'वसन' इन दोनों पदों के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं । कुछ लोग साधुओं को देखकर स्वभाव से क्रुद्ध हो जाते हैं और कुछ लोगों का यह व्यसन होता है कि वे कार्पटिक और पाण्डुरियों को बाधित करते हैं और उन्हें नचाते हैं ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—कषायवसन—क्रोध प्रधान कटुक वचन किया है ।^२ वस्तुतः 'कषायवसन' का अर्थ लाल वस्त्र होना चाहिये । प्राचीन काल में गुप्तचरों या चोरों को लाल वस्त्र से बांधने की प्रथा थी ।

श्लोक १६ :

२६. धप्पड़ से (फलेण)

वृत्तिकार ने फल का अर्थ—खपेटा किया है ।^३ वृत्तिकार ने इसका अर्थ बिजौरे के फल या खड्ग आदि किया है ।

२७. अज्ञानी मिश्र बंसे ही अपने ज्ञातिजनों को याद करता है (माईणं सरई बाले)

पीटे जाने पर मिश्र अपने ज्ञातिजनों को याद करता है । वह सोचता है—यदि यहाँ मेरा भाई, बन्धु, मित्र या कोई संबंधी होता तो मुझे इस प्रकार की कदर्यना का सामना नहीं करना पड़ता । मेरे पर यह विपत्ति नहीं आती ।

२८. कूटकर घर से भाग जाने वाली स्त्री (इत्थी वा कुड्गामिणी)

कोई स्त्री क्रुद्ध होकर अपने घर से निकल जाती है, किन्तु उसे कहीं भी आश्रय नहीं मिलता । लोग उसके पीछे लग जाते हैं । वे उसे पीड़ित करते हैं । चोर आदि लुटेरे भी उसे सताते हैं, तब उसे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होता है और वह अपने ज्ञातिजनों का स्मरण करती है । वह सोचती है, यदि मैं अपना घर छोड़कर नहीं आती तो मुझे आज इस कष्ट का सामना नहीं करना पड़ता ।

वृत्तिकार ने यहाँ 'अचकारिय भट्टा' के उदाहरण का संकेत किया है ।^४ वह उदाहरण इस प्रकार है—

एक गांव में एक सेठ रहता था । उसके आठ पुत्र थे । बाद में एक पुत्री हुई । उसका नाम अचकारिय भट्टा रखा । वह सुवर्ती हुई तब अमात्य ने उसकी याचना की । सेठ ने कहा : मुझे पुत्री देगे में कोई बाधा नहीं है । किन्तु एक शर्त है कि इससे अपराध कर देने पर भी आप इसे उपालभ नहीं दे सकेंगे । अमात्य ने इस बात को स्वीकार कर लिया । वह अमात्य की पत्नी हो

१. वृत्ति, पृ० ८२ : परिवर्तितं समन्तादन्तं परिवर्तितं । कस्य ? देशस्य ।

२. वृत्ति, पत्र ८४ : परिवर्तिते सि ति अनार्यदेशपर्यन्ते ।

३. वृत्ति पृ० ८२ : कषाय-वसनैहि य त्ति, तत्पुरुष समासः द्वन्द्वो बाध्यम्, सभावत एव केचित् साधून् हृष्ट्वा कसाह्वजति, वसनं केति च भवति—कषयविग-पासंविद्या बाहंति पञ्चावैति वा ।

४. वृत्ति, पत्र ८४ : कषायवसनैश्च क्रोधप्रधानकटुकवचनैर्निर्भर्तयतीति ।

५. वृत्ति, पृ० ८२ : कलं खपेटाप्रहारः ।

६. वृत्ति, पत्र ८४ : फलेण वा मातुलिकगणिना कङ्गादिना वा ।

७. (क) वृत्ति, पृ० ८४ : अहं चाम ज्ञातयो केचि एव्य होरथा (होता) ज्ञाति-मित्रादयो जाहमेवविधो जावति पावैतो ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८४ : कश्चिदपरिणतः बालः अज्ञो 'ज्ञातीनां' स्वजनानां स्मरति, तद्यथा—यद्यत्र मम कश्चित् सम्बंधी स्यात् जाहमेवस्मृतां कदर्यनामवाप्नुयामिति ।

८. वृत्ति, पत्र, ८४ : यथा स्त्री कुड्गा सती स्वगृहात् गमनशीला मिराधया मांसपेशीव सर्वस्पृहणीया तत्करादिभिरभिद्रुता सती ज्ञात-पश्चात्तावा ज्ञातिनां स्मरति एवमसाधयतीति ।

९. वृत्ति, पृ० ८२ : इत्थी वा कुड्गामिणी , यथा सा अंबंकातिभट्टा कुड्गा गच्छतीति कुड्गामिणी ।

गई। अमात्य राजकार्य से निवृत्त होकर विलम्ब से घर पहुँचता था। वह प्रतिदिन उसकी प्रतीक्षा में बैठी रहती। कुछ दिन बीते। वह कुपित हो गई। एक दिन उसने दरवाजे बन्द कर दिये। अमात्य आया। उसने कहा—द्वार खोल। उसने द्वार नहीं खोला। अमात्य प्रतीक्षा में बैठा रहा। अन्त में वह बोला—केवल तू ही इस घर की स्वामिनी नहीं है। यह सुनकर उसका अहं फुफकार उठा। वह उठी, द्वार खोला और अटबी की ओर चली गई। अटबी में उसे जोर मिले। जोरों ने उसे अपने सेनापति के समक्ष उपस्थित किया। सेनापति ने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा। वह ऐसा नहीं चाहती थी। जोर-सेनापति ने उसे जलोकबंध के हाथ बंध डाला। वह भी उसे अपनी पत्नी बनाना चाहता था। वह ऐसा नहीं चाहती थी। तब बंध ने रोषवश उसके शरीर पर मक्खन चुपड़ा और फिर जलकों को छोड़ा। वे काटने लगे। शरीर लहलुहात हो गया। फिर भी उसने बंध के साथ विवाह करना नहीं चाहा। उसका रूप और लावण्य बिगड़ गया। उसका साईं बूँदते-बूँदते वहां आ पहुँचा। अपनी बहिन को पहचान कर घर ले गया। वमन-विरेचन आदि चिकित्सा पद्धति से उसकी नीरोग कर पुनः लावण्यवती और रूपवती बनाकर अमात्य को सौंपा। अब वह पूर्ण शांत हो चुकी थी। उसका अहं नष्ट हो चुका था। एक बार उसने घर पर लक्ष्मण तैल बनाया। परीक्षा करने एक देव मुनि का वेष बनाकर उसके घर आया और लक्ष्मण तैल मांगा। उसने दासी से लाने के लिये कहा। मार्ग में ही वह भांड फूट गया। दूसरा, तीसरा और चौथा भांड भी फूट गया। अचकारिय भट्टा फिर भी दृष्ट नहीं हुई। फिर पांचवीं बार वह स्वयं भांड लाने गई।

श्लोक १८ :

२६. सूक्ष्म संग (जाति-सम्बन्ध) (सुहृन्मा संग)

वृत्तिकार ने संग, विघ्न और व्याघ्रेष को एकार्षक माना है। सूक्ष्म का अर्थ है—निपुण। संग सूक्ष्म होते हैं। वे प्राणवध की भांति स्थूल नहीं होते। वे व्यक्ति को किसी उपाय के द्वारा धर्मभ्युत्तर करते हैं। ये अनुलोम उपसर्ग हैं। यह कहा जाता है कि जीवन में बाधा डालने वाले उदीर्ण उपसर्गों में भी मनुष्य मध्यस्थ रह सकता है, किन्तु पूजा, सत्कार आदि अनुलोम उपसर्गों का पार पाना बहुत कठिन है। ये पाताल की भांति दुस्तर हैं।

वृत्तिकार के अनुसार संग का अर्थ है—माता, पिता आदि जातिजनों का संबंध। ये संग प्रायः मानसिक विकृति को उत्पन्न करते हैं। ये संग आन्तरिक हैं, इसलिये इन्हें सूक्ष्म कहा है। प्रतिकूल उपसर्ग प्रायः शरीर-विकार के कारण बनते हैं, अतः वे स्थूल हैं।

श्लोक १९ :

३०. पोषण करो (पोस)

जातिजन प्रवर्जित होने वाले या पूर्व-प्रवर्जित अपने व्यक्ति को कहते हैं—हे तात! हमने इसी आशा से तुम्हारे पोषण किया है कि तुम बड़े होकर हम बूढ़ों का पोषण करोगे। अब इस अवस्था में हम काम करने में असमर्थ हैं। अब तुम हमारा पोषण करो।

१. वशाधृतस्कन्ध निर्मुक्ति गाथा १०४-१०७, वृत्ति।

२. वृत्ति, पृ० ८३ : संगो लि वा विगो लि वा वक्कोडो लि वा एगहं ।

३. वही, पृ० ८३ : सुहृन्मा नाम मिज्जा, न प्राणवधपरोषणवत् स्वरूपसंयः, उपायेन कर्माज्ज्यावयन्ति । उक्त हि—सक्यं जीवित विघ्न-करेण्युपसर्गोद्योषः माध्यस्थ्यं जावमितुम् । अनुलोमा पुण पूजा-सत्कारावय.....वयन्ति हि—पाताला व दुस्तरा (अतारिमा ३।२६) ।

४. वृत्ति, पत्र ८५ : सज्जाः मातापित्राविसम्बन्धाः ।

५. वही, पत्र ८५ : ते च सूक्ष्माः प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तराः, न प्रतिकूलोपसर्ग इव बाहुल्येन शरीरविकारित्वेन प्रकटतया बाहरा इति ।

६. (क) वृत्ति, पृ० ८३ : ज्ञातयो माता-पित्रावि पक्कवंतं पुण्यपक्कवंतं वा बहुहृणं वयन्ति । किञ्च ? किञ्च-कथमाणि—नाथ ! पिय ! कंत ! सामिय !” परिवारिया कथन्तो जावन्तो य । एवं बूढा कर्मासहिज्जवः, तविदानीं पोसाहि वे, जावन्त्यात् पुढो मावाविजिः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८५ : स्वजना मातापित्रावयः प्रवर्जितं प्रवर्जितं वा इह्वा उपसर्ग्य परिवार्य वेधयित्वा वयन्ति वयन्तो वयन्ति च वीर्यं, यथा—जावन्त्यात् प्रभुति त्वमत्माणिः कोवितो बूढानीं वासको अविव्यतीति कृत्वा, ततोऽधुना नः अस्मान्नि त्वं तात ! पुत्र ! पोषय वासय, कस्य कृते—केन कारणेन कस्य वा वलेन तातास्मान्म रूपयसि ?, नारम्भं वयन्तमन्तरि कथिक्कवाया विद्यत इति ।

श्लोक २० :

३१. स्वविर (वेरवो)

जो अन्तिम वक्ता को प्राप्त है और जो लकड़ी के सहारे चलता है, वह स्वविर है ।^१

वृत्तिकार ने स्वविर उसे माना है जिसका आयुष्य सौ वर्षों से अधिक है ।^२

३२. आज्ञाकारी (सवा)

इसका संस्कृत रूप है—अथाः । वृत्तिकार ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—श्रुण्वतीति अथाः । जो आज्ञा, वचन और निर्देश का पालन करते हैं—जो आज्ञाकारी होते हैं वे अथा कहलाते हैं ।^३

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'स्वका' और अर्थ—अपना, निजी किया है ।^४

प्रस्तुत प्रसंग में वृत्तिकार का अर्थ ही उचित लगता है, क्योंकि अन्तिम दो चरणों में 'भायरो' 'सवा' और 'सोयरा'—ये तीन शब्द आये हैं । यदि हम 'सवा' का अर्थ स्वका—निजी करते हैं तो 'सोयरा' शब्द का कोई औचित्य नहीं रहता । अतः 'सवा' का अर्थ आज्ञाकारी ही उचित लगता है । शब्दकोष में भी आज्ञाकारी के अर्थ में आ + ध्रुव. शब्द मिलता है ।^५

श्लोक २१ :

३३. इस प्रकार तुम्हारा लोक (यह और पर सफल) हो जाएगा (एवं लोगो भविस्सइ)

इसका शाब्दिक अर्थ है—इस प्रकार लोक हो जायेगा । इसका तात्पर्य है कि सेवा-योग्य माता-पिता की सेवा करने से यह लोक और परलोक दोनों सफल होते हैं । सेवा करने वाले की इस लोक में कीर्ति होती है, यश और मंगल होता है । कहा भी है—

गुरुवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंभृतम् ।

अवन्तकसहो यत्र, तत्र शान्तिः । असाध्यम् ॥

कीर्ति ने कहा—'इन्द्र ! मेरा निवास वहां होता है जहां गुरुजन पूजे जाते हैं, जहां धान्य का भंडार भरा रहता है और दांतों की कटकटाहट नहीं होती, जहां दंत-कलह नहीं होता ।

गुरुजनों की सुश्रूषा से परलोक सफल होता है । श्रमण माता-पिता की सेवा करने की प्रतिकूल स्थिति में होते हैं । इसलिये जो गुरुजन के प्रत्यनीक होते हैं उनका लोक कैसे सुधरेगा और कैसे उनके जीवन में धर्म उतरेगा ?^६

३४. लौकिक आचार (लोहयं)

इसका अर्थ है—लौकिक आचार, लौकिक मार्ग । वृद्ध माता-पिता का प्रतिपालन करना लौकिक मार्ग है ।^७

१. वृत्ति, पृ० ८४ : वेरवो वंद्यरितगहल्यो अत्यन्तवशां प्राप्तः ।

२. वृत्ति, पृ० ८५ : स्वविरो वृद्धः शतातीकः (वर्षशतमानः) ।

३. वृत्ति, पृ० ८४ : श्रुण्वतीति अथाः आज्ञा-उपदेश-वचन-निर्देशे यः चिह्नंति ।

४. वृत्ति, पृ० ८५ : स्वका निजाः ।

५. अभिषात वितामनि कोश ३।२६ : आश्रयो वचने स्थितः ।

६. (क) वृत्ति, पृ० ८४ : मातापितरौ हि सुश्रूष्यतां तावदासीं पुण्याहि । एवं लोको भविष्यतीति अयं परश्व । अस्मिन्तावद् यथाः कीर्तिरयं भवति मङ्गलं च । उक्तं हि—गुरुवो यत्र । परलोकस्य भवति पुण्यसुश्रूषया । एते हि पवीरसत्त्विका समनया भवन्ति ये माता-पितरं न सुस्मरन्ति, तेन तैस्त्वं पुण्यविनीयायं कतो लोगो अयम्वा वा भविस्सति ।

(ख) वृत्ति, पृ० ८५ : एवं च कृते अवेहलोकः परलोकस्य भविष्यति ।

७. वृत्ति, पृ० ८५ : लौकिकं लोकाधीनम् अयमेव लौकिकः पन्था यदुक्त—वृद्धयोर्मतापित्रोः प्रतिपालनमिति ।

श्लोक २२ :

३५. उत्तर (उत्तरा)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—प्रधान (उत्तरा) और उत्तरोत्तर उत्पन्न ।^१

वृत्तिकार ने प्रतिवर्ष एक के बाद एक उत्पन्न होने वाले को 'उत्तर' माना है ।^२

३६. छोटे-छोटे (कुल्लुक)

इसके दो अर्थ हैं—अप्राप्तवय वाले और कर्म करने में अयोग्य ।^३

३७. नवयौवना (नवा)

यह भार्या का विशेषण है । वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(१) नववधू, (२) जिसके प्रसव न हुआ हो, (३) गर्भिणी ।^४

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—नवयौवना, नवपरिणीता ।^५

३८. वह दूसरे मनुष्य के पास न चली जाए (मा सा अण्णं अणं गमे)

वह नवोढ़ा पत्नी परित्यक्त होने पर दूसरे के पास न चली जाये । ऐसा होने पर महान् जनपवाद होगा । तुम्हारे जीवित रहते हुये यदि वह दूसरे मनुष्य को अपना पति चुन ले या मार्ग-भ्रष्ट हो जाये तो तुम्हें अधृति होगी, हमारी कीर्ति नष्ट होगी और लोग हमारी निन्दा करेंगे ।^६

श्लोक २३ :

३९. श्लोक २३ :

वृत्तिकार ने इस श्लोक के प्रथम दो चरणों की व्याख्या इस प्रकार की है—

'तात ! हम जानते हैं कि तुमने कार्य के अधिक भार से डरकर प्रव्रज्या ग्रहण की है । अब हम काम करने में समर्थ हैं । हम तुम्हारा सहयोग करेंगे । अब कुमार ! तुम किसी काम के हाथ मत लगाना । काम की ओर आँख उठाकर भी मत देखना । एक तिनका भी हथर से उधर उठाकर मत रखना । हम सब कुछ कर लेंगे । तुम घर चलो' ।^७

श्लोक २४ :

४०. चुका दिया है (समीकतं)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—^८ (१) जो कुछ तुम्हारे पर ऋण था उसको हम सबने सम्यक् प्रकार से विभाजित

१. वृत्ति, पत्र ८५ : उत्तराः प्रधानाः उत्तरोत्तरजाताः वा ।

२. वृत्ति, पृ० ८५ : उत्तरा नाम प्रतिवर्षमुत्तरोत्तरजातकाः समववृत्तिजातकाः ।

३. वृत्ति, पृ० ८५ : कुल्लुकं त्वि अप्राप्तवयसः अकर्मयोग्या वा ।

४. वृत्ति, पृ० ८५ : नवा नाम नववधूः अप्रसूतागर्भिणी वा ।

५. वृत्ति, पत्र ८६ : नवा प्रत्यययौवना अनिनवोढा वा ।

६. (क) वृत्ति, पृ० ८५ : मा सा अण्णं अणं गमेज्ज उज्जामए वा करेज्ज, जीवंत एव तुमस्मि अण्णं पतिं गेहेज्जमा अतो तुज्ज वि अद्विती अविस्सति, अम्ह वि य जणे ज्ञायावातो अवण्णओ य अविस्सतीति ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८६ : मा अतो त्वया परित्यक्ता सती अण्णं अणं गमेज्जुम्मार्गयाविनी स्याद्, अयं च महान् जनपवाद इति ।

७. वृत्ति, पृ० ८५ : जाजामो—जसा तुमं अतिकम्मा भीतो पण्डितो, इदानीं वयं कम्मसमाप्ता कम्मसहू कम्मसहायकत्वं प्रति ज्ञातः, तद्विधानी कुमार ! (किं) अतिवर्णिएणं ? अंजगामि वि हस्येव मा ज्ञिमाहि, तव वा अविस्सवाहिस्ति दूरगतं च वं वद्धूय जणंति । आसण्णं वा गृह्ण-आयज्ज ।

८. वृत्ति, पत्र ८६ : यत्किमपि अवधीयन्नुपजातमासीत्तत्सर्वमस्मान्निः सम्प्रविशन्नुव समीकृतं समभागेन व्यवस्थापितं, यद्विचोरकं सत् समीकृतं—मुदेवत्येन अवस्थापितम् ।

कर अपने अपने हिस्से में ले लिया है। (२) जो ऋण अधिक था उसे अब सहजतया देने योग्य बना दिया है।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—ऋण चुकाना किया है। उन्होंने समीकृत, उत्तारित और विमुक्त को एकार्थक माना है।^१

श्लोक २६ :

४१. विपरीत शिक्षा देते हैं (सुसेहंति)

इसका अर्थ है—विपरीत शिक्षा देना।^२ वृत्तिकार ने इस अर्थ के साथ एक अर्थ और भी किया है—अच्छी शिक्षा देना। यह व्यंग्य है।^३

श्लोक २७ :

४२. मालुकासता (मालुया)

मालुका नाम की लता,^४ जो पेड़ों से लिपटनी है। वह शोभा के लिये बगीचों में लगाई जाती है। इसकी शाखाएं लंबी होती हैं और सैकड़ों फुट तक पहुंच जाती हैं।

४३. असमाधि में (असमाहिए)

वृत्तिकार ने इस प्रसंग में एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है—

अमित्रो मित्रबेसेजं, कंठे वसूण रोयइ।

या मिला सोयइ जाहि, बोवि गच्छामु हुगई॥

एक अमित्र मित्र के वेष में अपने मित्र को गले से लगाकर रोते हुये कहता है—मित्र! तुम सुगति में मत जाओ। हम दोनों दुर्गति में साथ-साथ चलेंगे।^५

श्लोक २८ :

४४. जैसे नया पकड़ा हुआ हाथी ... बन्ध जाता है (हृथी वा बि.....)

नये पकड़े हुये हाथी में धीरज उत्पन्न करने के लिये उसके स्वामी ईश आदि के द्वारा उसकी सेवा करते हैं और फिर अंकुश के प्रहार के द्वारा उसे पीड़ित करते हैं। इसी प्रकार जो उत्पन्नजित हो जाता है, प्रारम्भ में जातिजन भी समस्त अनुकूल उपायों से उसकी सेवा करते हैं (कुछ समय बाद वे उससे दूर हो जाते हैं)।^६

४५. (पिटुओ अदूरगा)

तत्काल उत्पन्न हुआ बछड़ा, स्तनपान कर लड़खड़ाते हुए इधर-उधर दौड़ता है तब उसकी मां गाय पृष्ठ को ऊपर उठाकर, धीमा को झुकाये हुये, रमानी हुई उमके पीछे-पीछे चलती है, उसके बैठ जाने पर वह उसे चाटती है, उसके समीप बैठकर उसे स्नेहमयी दृष्टि से देखती है, उसी प्रकार उत्पन्नजित व्यक्ति का नया जन्म मानकर वह कहीं बौड़ न जाये इस दृष्टि से वह जहा भी जाता है जातिजन उनके पीछे-पीछे जाते हैं, वह जो कुछ मागता है वह उसे देते हैं और स्नेहमयी दृष्टि से उसके

१. वृत्ति, पृष्ठ ८५ : समीकृतं ति वा उत्तारितं ति वा विमोचकृतं (ति) वा एणदं ।

२. (क) वृत्ति पृष्ठ ८५ : सुसेहंति वा ओसिकसाबेंतीत्यर्थः ।

(ख) वृत्ति पत्र ८६ : 'सुसेहंति' ति अयुद्गाह्यन्ति ।

३. वृत्ति पत्र ८६ : 'सुसेहंति' ति सुष्ठु सिद्धयन्ति ।

४. वृत्ति, पत्र ८६ : मालुया बल्मी ।

५. वृत्ति, पत्र ८६ ।

६. (क) वृत्ति, पृष्ठ ८५ : कञ्चित् कालं कासारोद्धतलङ्घाविपिरमुक्त्य परचाद् आराप्रहारेर्वाभ्यते ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८७ : वृत्तुत्पादनार्थमिमुक्तकलाविमिश्रयते, एवमसावपि सर्वानुकूलैरुपायैरव्ययते ।

आसपास रहते हैं ।'

श्लोक २९ :

४६. पाताल (समुद्र) (पायाला)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—बलयामुख^१ आदि (महापाताल) अथवा समुद्र । प्रथम अर्थ को उन्होंने सामयिक (आगमिक) और दूसरे अर्थ को लौकिक और आगमिक—दोनों माना है ।^२ वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल समुद्र किया है ।'

श्लोक ३१ :

४७. आवर्त्त (आवट्टा)

इसके दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य आवर्त्त—नदि आदि में होने वाला गोलाकार भ्रमर ।

२. भाव आवर्त्त—उत्कट मोह कर्म के उदय से व्यक्ति में काम-भोग की अभिलाषा उत्पन्न होती है । तब व्यक्ति उसकी पूर्ति के लिये साधनों को जुटाने का प्रयत्न करता है । यह भाव आवर्त्त है ।'

श्लोक ३२ :

४८. राजमन्त्री (रायऽमन्त्रा)

इसका अर्थ है—राजमन्त्री । वृत्तिकार ने ईश्वर-सामंत राजा, तलवर—कोटपाल और मंडब (ऐसा गांव जिसके चारो ओर एक योजन तक कोई गांव न हो) के अधिपति को राज-अमात्य माना है ।^३ वृत्तिकार ने इसका अर्थ मंत्री, पुरोहित आदि करते हैं ।^४ दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह स्वविरक्त वृत्ति तथा जिनदास महत्तरक्त वृत्ति से अमात्य का अर्थ दण्डनायक, सेनापति आदि किया है ।^५ टीकाकार हरिभद्र ने इसका अर्थ मंत्री किया है ।'

विशेष विवरण के लिये देखें—इसवेआलिय ६/२ का टिप्पण ।

१. वृत्ति, पृष्ठ ८५-८६ : यथा तद्विभूतिका गृष्टिः स्तनम्बकस्य धीतकीरस्य इतरचेतस्य परिधावतो ईषदुग्गतबावधि सम्मतपीवा रमायमाणा पृष्ठतोऽनुसर्पात, स्थितं चैव उत्सिक्कति, अङ्कुरतोऽप्यावस्थिता स्निग्धया हृष्ट्या निरीक्षते, एवं बध्ना अप्यस्य उदकसमीपं बाऽप्यत्र वा गच्छन्तं वा वासिस्तेहिति ति विद्रुतो परितप्पति, वेदकं वा ते मगतो वेत्ति, मयानमासीनं चैव स्नेहमिषोद्गीरस्या हृष्ट्या अङ्कुरतो निरीक्षमाणा अवतिष्ठन्ते ।

२. देखें—ठाक ४/३२९ : बहुवीरस्त नं दीवस्त..... चत्तारि महापावाला पण्णसा, तं जहा—बलयामुखे, केजय, कुबए, ईसरे ।

३. वृत्ति, पृष्ठ ८३ : पाताला नाम बलयामुखायाः, सामयिकोऽयं दृष्टान्तः । जलयाविचक्षुः पातालो समुद्र इत्यपविश्यते ।

४. वृत्ति, पत्र ८७ : पाताला इव समुद्रा इवावतिष्ठितभूमितमत्वात् ।

५. (क) वृत्ति, पत्र ८७ : आवर्त्तयन्ति—आचिन्तं आमयन्तीत्यावर्त्तः, तत्र द्रव्यावर्त्तं गच्छादेः आवावर्त्तास्तुक्तमोहोदयापातितविषया-भिलाषसंवावकसंपर्यायनाभिलेखाः ।

(ख) वृत्ति, पृ० ८६ : द्रव्यावर्त्ता महीपुरो, आवावर्त्ता यैः प्रकारैरावर्त्तन्ते संप्रमणीरवः ।

६. वृत्ति, पृ० ८६ : रायमन्त्रा इत्यर-तलवर-मंडबिणादि ।

७. वृत्ति, पत्र ८७ : राजामात्याश्च मन्त्रीपुरोहितप्रभृतयः ।

८. (क) इसवेआलिय, ६/२ : अगस्त्यसिंह वृत्ति, पृ० १३८ : रामनसा अमन्त्रकेनावतिपतितयो ।

(ख) जिनदासवृत्ति, पृ० २०८ : रायमन्त्रा अमन्त्रा मंडबायना सेनावद्वयभित्तयो ।

९. इसवेआलिय, ६/२, हरिभद्रीया वृत्ति, पत्र १६१ : राजामात्याश्च अभिषवः ।

४६. ब्राह्मण (माहना)

ब्रूणिकार ने 'माहण' शब्द का अर्थ भट्ट किया है।^१ आज भी भट्ट ब्राह्मणों की एक जाति है। प्रस्तुत प्रसंग में माहन शब्द का प्रयोग राज्य से संबंधित ब्राह्मणों के लिये किया गया है। राजा, राजामात्य, माहन और क्षत्रिय—ये सभी राज्य से सम्बन्धित हैं।

५०. क्षत्रिय (क्षत्रिया)

ब्रूणिकार के अनुसार गणपालक, गणराज्य में सम्मिलित होने के कारण जो राज्यभ्युत हो गये हैं वे अथवा जो न राजा हैं और न राजवंशीय हैं उन्हें क्षत्रिय कहा गया है।^२ वृत्तिकार ने इक्ष्वाकु आदि वंशों में उत्पन्न व्यक्ति को क्षत्रिय माना है।^३ दशवीकालिक सूत्र के व्याख्या ग्रन्थों में इसके अनेक अर्थ प्राप्त हैं।

देखें—वसवेजालियं ६/२ का टिप्पण।

५१. निमन्त्रित करते हैं (निमंतयन्ति)

राजा निमन्त्रित करते हैं—इस प्रसंग में ब्रूणिकार और वृत्तिकार ने उत्तराध्ययन सूत्रगत ब्रह्मदत्त और चित्त के कथानक की ओर संकेत दिया है।^४ चित्त और संभूत दोनों भाई थे। दोनों मुनि बने। दोनों ने अनशन किया। संभूत ने निदान किया। उसके फलस्वरूप वह मरकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ। चित्त का जीव एक सेठ के घर में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। बड़े होने पर वह दीक्षित हो गया। ब्रह्मदत्त और चित्त दोनों पूर्वभव के भाई थे। एक बार मुनि चित्त कापिल्यपुर में आये। ब्रह्मदत्त को भाई की स्मृति हो आई। वह मुनि के पास आया। उन्हें पुनः गृहवास में लौट आने के लिये निमन्त्रण देने हुये बोला—'मुने! ये विभिन्न प्रासाद हैं। पंचाल देश की विशिष्ट वस्तुओं से युक्त और प्रचुर एवं विचित्र हिरण्य आदि से पूर्ण यह घर है, इसका तुम उपभोग करो। तुम नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ नारीजनों से परिकृत होकर इन भोगों को भोगो।'

पूरे कथानक के लिये देखें—उत्तराध्ययन के तेरहवें अध्याय का आमुख।

पदोक्त ३४ :

५२. यान के द्वारा (जाणेहि)

ब्रूणिकार ने 'यान' को जल और स्थल—इन दोनों से सम्बन्धित माना है। नौका आदि जलयान है। शिविका आदि स्थलयान है।^५

५३. उद्यानकीड़ा (विहारगमणेहि)

इसका अर्थ है—उद्यानिकागमन—उद्यानकीड़ा।^६ उत्तराध्ययन में इस अर्थ में विहारयात्रा का प्रयोग मिलता है।^७

१. ब्रूणि, पृ० ८६ : माहना भट्टा।

२. ब्रूणि, पृ० ८६ : क्षत्रिया नाम गणपालका, गणभुलीए वा अष्टराज्याः, जे वा अरायाणो अरायबंसिया।

३. ब्रूणि, पत्र ८७ : क्षत्रिया इक्ष्वाकुवंशजप्रभृतयः।

४. (क) ब्रूणि पृ० ८६ : तस्य बंसवसेज चित्तो निमन्तिथो।

(ख) ब्रूणि, पत्र ८८ : यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्नौगैरिव व्रताङ्कवनिमन्त्रित इति।

५. उत्तराध्ययनाणि १३।१३, १४ : उद्योगेयं यत् कचके य बन्धे, पवेइया जावसहा अ रम्मा।

इमं गिहं चित्तवचनयं पत्ताहि पंचालगुणोबवेयं॥

मद्वेहि गीएहि य जाइएहि नारीकणाई परिवारयसो।

मुजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू! मम रोयई पणवन्ना हु बुक्कं॥

६. ब्रूणि, पृ० ८७ : जाणानि सीढा-संवमानियादीणि। तं पुण जले य, जले जावाहि, जले सीता-संवमानियादी।

७. (क) ब्रूणि, पृ० ८७ : विहारगमणा इति उद्यानिकागमणाई।

(ख) ब्रूणि, पत्र ८८ : विहारगमनैः विहरणं कीडनं विहारस्तेन गमनानि विहारगमनानि—उद्यानादी कीडया गमनानीत्यर्थः।

८. उत्तराध्ययनाणि, २०/९ विहारकसं निज्जाओ।

इसलोक ३५ :

५४. श्लोक ३५ :

भोगों के लिये बिहु को निर्मजित करते हुए कहते हैं—बिहो ! यदि तुम आज गृहवास में भी आ जाओगे तो भी प्रव्रज्या ग्रहण करते समय जो महाव्रत अंगीकार किये थे, वे वैसे ही रहेंगे । उनका फल नष्ट नहीं होगा । वह तो तुमको अवश्य ही प्राप्त होगा, क्योंकि किये हुये सुकृत या दुष्कृत का कभी नाश नहीं होता ।^१

इसलोक ३६ :

५५. चारा (जीवार)

इसका अर्थ है—चावलों की भूसी, चारा । उत्तराध्यायन १/५ में 'कणकुंडग' शब्द आया है । 'जीवार' और 'कणकुंडग' एकार्थक प्रतीत होते हैं । चूर्णिकार ने जीवार का अर्थ—कुंडग आदि किया है । उन्होंने लिखा है कि सूअर जीवार को पाकर घर में ही बैठा रहता है, वह जंगल में चरने नहीं जाता । अंत में वह मारा जाता है ।^२

वृत्तिकार ने 'जीवार' का अर्थ—विशेष प्रकार के चावल के कण किया है ।^३ यह संभव है कि चावलों कि भूसी के साथ चावलों के कुछ कण भी मिश्रित कर सूअरों को दिये जाते थे । निशीथ भाष्य गाथा १५८८ की चूर्णि में कुक्कुस मिश्रित कणिका को 'कुंडक' कहा गया है ।^४ शब्दकोष में जीवार का अर्थ वनघ्नीहि—जंगली चावल मिलता है ।^५

विशेष विवरण के लिये देखें—उत्तरजम्भयणाणि, १/५ का टिप्पण ।

५६. श्लोक ३६ :

तुम्हें प्रव्रजित हुये लंबा समय बीत चुका है । तुमने धर्म की आराधना चिरकाल तक की है । विहार करते हुये तुमने अनेक प्रकार के देश, तपोवन और तीर्थ देखे हैं । ऐसी स्थिति में अब तुममें दोष ही क्या रह गया है ? यदि कोई व्यक्ति खोरी या व्यभिचार करता तो उसके दोष बढते जाते किन्तु तुमने तो धर्म की आराधना की है, अतः तुम्हारे सारे दोष निःशेष हो गये हैं । तुमने महान् तपस्याएं की हैं, जिनके फलस्वरूप तुम्हारे सारे दोष नष्ट हो गये हैं । अब तुम यदि श्रामण्य का परित्याग कर गृहवास में लौट आते हो तो भी लोग तुम्हारी निन्दा नहीं करेंगे । देखो, जो व्यक्ति तीर्थयात्रा के लिये घर से निकलता है, वह भी उचित अवधि के बाद पुनः घर लौट आता है । अतः तुम घर चलो, किसी बात की आशंका मत करो ।^६

इसलोक ३७ :

५७. ऊंची चढाई में (उज्जापंति)

नदी, तीर्थस्थल और पर्वत की भूमि चढाई युक्त होती है, अतः उसे उद्यान कहा जाता है ।^७ वृत्तिकार ने मार्ग के उन्नत भाग को उद्यान कहा है ।^८

१. (क) चूर्णि, पु० ८७ ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८८ ।

२. चूर्णि, पु० ८७ : जीवारो नाम कुंडगादि, स तेन जीवारेण द्वितो घरसूअरगो अडवि य वज्जति वारिज्जति य ।

३. वृत्ति पत्र ८८ : जीवारेण जीहिषिवेषकणवासेन ।

४. निशीथ भाष्य, गाथा १५८८ चूर्णि : सुसमुहोक्तमिया कुक्कुसमीला कुंडग मज्जति ।

५. अभिधानचिन्तामणि, ४।२४२ : जीवारस्तु वनघ्नीहिः ।

६. चूर्णि, पृष्ठ ८७ : चिरं मुमे धम्मो कतो, इद्वज्जता य माणा वमारा वेत्ता बिहु तवोवजाणि सित्थाणि य । दोष इयानीं कृतस्तव ? किं स्वया खीरत्वं कृतं पारिवारिकत्वं वा ? अथवा वोतो पावं अकर्म इत्थयं; स कृतस्तव ? अपितस्तवया, कृतं सुवह्वं तव; य य ते उप्पव्वयंतस्स ववविज्जं यविस्तसि, किं अयं खोरो पारिवारिको वा ? ननु तीर्थयात्रा अपि कृत्वा पुनरपि गृहमागम्यते ।

७. चूर्णि पु० ८७ : ऊर्ध्वं यानं उज्जापंति, तत्र (तत्र) नदी तीर्थस्थलं निरिपञ्जारो वा ।

८. वृत्ति, पत्र ८८ । ऊर्ध्वं यानमुज्जापंति— ऊर्ध्वस्थोन्नतौ वाय उद्वृत्तिवर्धः ।

श्लोक ३८ :

५८. तपस्या से (उपवाहणेन)

वृत्तिकार ने 'उपवाहणेन' के लिये 'तपोवहाणेन' का प्रयोग किया है। उत्तराध्ययन (२/४३) में भी 'तपोवहाण' का प्रयोग मिलता है। उपधान शब्द का प्रयोग तप के साथ भी मिलता है और स्वरंतरूप में भी मिलता है। यहाँ इसका प्रयोग संयम को सहारा देने वाले तप के अर्थ में हुआ है। जैसे तकिया सिर को सहारा देता है वैसे ही तप संयम को सहारा देता है। उपधान का एक अर्थ 'तकिया' भी है। प्रस्तुत सूत्र के ११/३५ में उपधानवीर्य का अर्थ तपोवीर्य किया है।

देखें—६/२० का टिप्पण।

श्लोक ४० :

५९. गढ़ा (बलय)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—एक द्वार वाला गर्त—परिक्षेप (खाई का घेरा)। वह बलय के आकार का होता है इसलिए 'बलय' कहलाता है।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—ऐसी बलयाकार खाई जिसमें पानी भरा हो या ऐसा जलरहित गढ़ा जिसमें प्रवेश या निर्गम कठिन हो।

६०. खाई (गहन)

वृत्तिकार ने वृक्ष, लता, गुल्म आदि के झुरमुट को 'गहन' माना है। वृत्तिकार ने कटिस्थानीय ध्व आदि वृक्षों से युक्त स्थान को 'गहन' माना है।

६१. गुफा (नूम)

नूम का अर्थ है—गुफा। वृत्तिकार के अनुसार 'नूम' का अर्थ है अप्रकाश (अन्धकार)। जहाँ व्यक्ति अपने आपको छिपाता है, उस गढ़े, गुफा आदि को 'नूम' कहा जाता है। वृत्तिकार ने प्रच्छन्न पर्वतीय गुफा को 'नूम' माना है।

श्लोक ४२ :

६२. श्लोक ४२ :

अर्थोपार्जन और अर्थ-संग्रह का एक कारण है भविष्य की चिन्ता और आशवासन। मनुष्य बुढ़ापे, बीमारी आदि कठिन परिस्थितियों में अपने आपको सुरक्षित रखने के लिये अर्थ का संग्रह करता है। मुनि की आत्मा भी दुर्बल होती है तब उसे भी भविष्य का भय सताने लग जाता है और वह भविष्य की चिन्ता से सन्नस्त होकर अर्थकरी विद्य—गणित, निर्मित्त, ज्योतिष, न्यायशास्त्र और शब्दशास्त्र का अध्ययन करता है। वृत्तिकार ने श्रुत की कुछ अन्य शाखाओं का भी उल्लेख किया है। जैसे—

१. सूचक ११।३५, वृत्ति पृष्ठ २०३ : उपधानवीर्यं नाम तपोवीर्यं ।

२. वृत्ति पृष्ठ ८८ : बलयं नाम एकद्वारो यद्वापरिक्षेपो बलयतंठितो बलयं भवति ।

३. वृत्ति, पत्र ८६ : 'बलय' मिति यत्रोक्तं बलयाकारेण व्यतिथितम् उच्यते हिता वा गर्ता दुःखनिर्यमप्रवेशा ।

४. वृत्ति, पृष्ठ ८६ : गृह्यते यत् तद् गहनं वृक्षगहनं लता-गुल्म-जितानां च ।

५. वृत्ति, पत्र ८६ : गहनं यथाविबुधं, कटिस्थानीयम् ।

६. वृत्ति, पृष्ठ ८८ : नूनं नाम अप्रकाशं अल्पं भूदेति अप्पात्रं गृह्यात् वरीयं वा ।

७. वृत्ति, पत्र ८६ : 'नूम' ति प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम् ।

८. वृत्ति, पृष्ठ ८६ : इत्यासीति अर्थोपार्जनसमर्थाति गणित-भित्त-ओइत-वास-सङ्गतत्वाणि ।

वैद्यकशास्त्र, होराशास्त्र, मंत्र-विद्या आदि ।'

श्लोक ४३ :

६३. श्लोक ४३ :

मुनि-धर्म से विचलित होने वाले व्यक्ति सोचते हैं कि न तो हमने पहले धन अर्जित किया था और न पैतृक धन प्राप्त है, इसलिये घर में जाने के बाद हम प्रवृत्ता बनेंगे—जादू-टोना, विद्या-मंत्र आदि का प्रयोग करेंगे । इस दृष्टि से वे पापश्रुत का अध्ययन करने लग जाते हैं ।'

श्लोक ४४ :

६४. श्लोक ४४ :

'ज्ञात' का अर्थ है—लोक-प्रसिद्ध । जो व्यक्ति नाम, कुल, शौर्य और शिक्षा के आधार पर विश्रुत होता है उसे 'ज्ञात' कहते हैं । जैसे चक्रवर्ती, बलदेव, बासुदेव, माण्डलिक राजा आदि ।' वृत्तिकार ने अगले श्लोक में 'एवं' पद की व्याख्या में यही अर्थ किया है ।'

इस प्रकार के योद्धा एक दृढ़ संकल्प के साथ चलते हैं । उनका संकल्प होता है—शत्रु सेना को जीतेंगे अथवा मर जायेंगे, किन्तु पीछे नहीं हटेंगे । वृत्तिकार ने इस प्रसंग में आवश्यक निर्युक्ति की गाथा उद्धृत की है—

'तरितव्या व पटुणिवा, मरितव्यं वा समरे समरवएणं ।

असरिसज्जनज्जलावया, न तु सहितव्या कुसे पसुवएणं ।'

प्रतिज्ञा का निर्वाह करेंगे अथवा समरांगण में प्राण दे देंगे । कुलीन पुरुष युद्ध में पीठ दिखाकर लोगों का ताना नहीं सह सकता ।'

श्लोक ४५ :

६५. छोड़कर (तिरियं कट्टु)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—प्रतिकूल' और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—छोड़कर' किया है । आयारो (२/१३३) में

१. वृत्ति, पत्र २० : निष्किञ्चनोऽहं किं नम बुद्धावस्थायां भानावस्थायां दुर्मिले वा प्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभयमुत्प्रेक्ष्य 'अवकल्पयन्ति' परिकल्पयन्ति मग्नन्ते—इवं व्याकरणं, गणितं, ज्योतिष्कं, वैद्यकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा श्रुतमधीतं समावभास्यो प्राणाय स्यादिति ।

२. (क) वृत्ति, पृ० ८६ : परिसहजिता अमुकेण जेव सिनेण कौटल-वेटलादीहि कज्जेहि अट्टुआणेण जोविज्जंता पववज्जामो, जोविज्जंता, पुच्छिज्जंता, प्रायशः कुण्डलद्वीओ लोगो समणे पुच्छति तस्य जरेस्सामो विज्जा-मंते य पज्जिस्सामो । न जे अस्मि पक्कप्पियं ति न किञ्चि अज्जेहि पुग्गोवविज्जतं धनं वेइयं वा । एवं जज्जा पववसुतपसंगं करेति ।

(ख) वृत्ति, पत्र २० : इत्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न नः अस्माकं किञ्चन प्रकल्पितं पूर्वोपाजितद्वयजातमस्ति यस्यस्यावस्था-यामुपयोगं यास्यति, अतः 'षोडशमाणाः' परेण पृच्छ्यमाना हस्तिशिक्षाधनुर्बोधादिकं कुटिलविष्टलादिकं वा प्रवक्ष्यामः कथयिष्यामः प्रयोक्ष्यामः ।

३. वृत्ति, पृष्ठ ८६ : ज्ञाता नाम प्रत्यभिज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातः । तज्जया—चक्रवर्ती-बलदेव-बासुदेव-माण्डलीकादयः ।

४. वृत्ति, पत्र २१ : एवं इत्यादि अथा कुलटा ज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातश्च तत्र समद्वयपरिकराः करगृहीतहेतयः प्रतिमट-समितिभेदिसो न पृच्छतोऽवलोकयन्ति ।

५. आवश्यकनिर्युक्ति, पात्रा १२५६, वृत्ति, पृ० ८६ : ते तु संपहारंति—तरितव्या व पटुणिवा.....परबलं जेतव्यं वा मरितव्यं वा ।

६. वृत्ति, पृ० २० : वितिरियं काम वितिरिज्जं जोज्जेति, जज्जुतोमेहि दुक्कयन्तिक्कमन्ते नवीओतोवत् ।

७. वृत्ति, पत्र २१ : 'तिरियं कट्टु' अवहृत्य ।

'तिरिच्छ' शब्द आया है। आचार्य के भूषिकार और वृत्तिकार श्रीलोकसूरी ने उसका अर्थ प्रतिकूल किया है।^१ हमने पूर्वोक्त संबंध के आधार पर आचार्य के प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ 'मध्य' किया है।^२

६६. आत्महित के लिए (अतस्ताए)

भूषिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—

१. आत्महित के लिए।
२. मोक्ष या संयम के लिए।
३. आप्तात्मा—इष्ट या बीतराग की तरह।

वृत्तिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ ये हैं—

१. आत्मत्व—समस्त कर्म-मल से रहित आत्मत्व के लिए।
२. मोक्ष के लिए।
३. संयम के लिए।

श्लोक ४८ :

६७. गृहस्थों... (संबद्ध...)

पुत्र-स्त्री आदि के बंधन से बंधे व्यक्ति सबद्ध कहलाते हैं। यहां संबद्ध शब्द का प्रयोग गृहस्थ के अर्थ में किया गया है।^३

६८. श्लोक ४८ :

वे अन्यतीर्थक कहते हैं—आपका सारा व्यवहार गृहस्थों जैसा है। जैसे माता पुत्र से मूर्च्छित होती है और पुत्र माता से, उसी प्रकार आपकी परंपरा में आचार्य शिष्य में मूर्च्छित होते हैं और शिष्य आचार्य में। जैसे गृहस्थ रोगी की परिचर्या करता है वैसे ही आप भी आचार्य, बृद्ध और रोगी की परिचर्या करते हैं। उन्हें आहार, वस्त्र-पात्र तथा स्थान की सुविधाएं देते हैं। यह तो गृहस्थ-नीति है कि परस्पर में एक दूसरे का दान आदि से उपकार किया जाये। ये कार्य साधु के योग्य नहीं हैं।^४

श्लोक ५० :

६९. मोक्ष-विशारद (मोक्षविसारए)

मोक्ष-विशारद का अर्थ है—मोक्षमार्ग का प्ररूपक। भूषिकार ने विशारद का अर्थ 'सिद्धान्त विज्ञायक'^५ और वृत्तिकार

१. (क) आचार्य भूषि पु० ८५ : वडिकूलेन तिरिच्छेन वा।
- (ख) आचार्य वृत्ति पत्र १२५ : प्रतिकूलेन वा तिरिच्छीयेन वा।
२. आचार्य, पु० ८७ : मध्य में।
३. भूषि, पु० ८० : अतस्ताए आत्महिताय वर्धतो संयमेत्, सिद्धियमनोद्यतेन मनसा। अथवा—आतो मोक्षः सम्बन्धो वा अस्पार्धः 'आतत्वाय'। अथवा आप्तत्वाऽऽत्मा आप्तात्मा, आप्तान्नेव आत्मा आत्मा स भवति आप्तात्मा इष्टः बीतराग इव।
४. वृत्ति, पत्र ८१ : आत्मनो नाम आत्मत्वम्—अनेककर्मकलङ्कुरहितत्वं तस्मै आत्मवत्तय, यदिवा—आत्मा—मोक्षः संयमो वा तज्ज्ञा-वस्तस्मै तत्त्वम्।
५. (क) भूषि, पु० ८० : समस्तं बद्धाः संबद्धा पुत्रदाराविशिष्टं सर्वं गृहस्थाः।
- (ख) वृत्ति, पत्र ८१ : सम्—एकीकृतैव परस्परौषकार्योपकारितया च 'बद्धाः' पुत्र-कलत्रादिस्नेहपारीः सम्बद्धाः—गृहस्थाः।
६. (क) भूषि, पु० ८० : माता पुत्रे भुज्जिता पुत्रो वि मातरि, एवं जन्मन्तो ऽपि सिध्वा-ऽऽकाशीविनिः परस्परं संबद्धाः। अभ्यक्षेवं कुर्वीत—..... जैकम्, एवं पिडबायं विनाशस्त आयेता देव, यच्च परस्परतः सारेव वारेष पडिबोयेव सेवतातो उडुयेव ति, अं च विज्ञानस्त आवरिय-भुङ्ग-मानाएसु आहार-उवधि-वसधिवारिण्णि प्र उवमहं करेह।
- (ख) वृत्ति, पत्र ८१, ८२।
७. भूषि, पु० ८१ : विशारदो नाम सिद्धान्तविज्ञायकः।

ने 'प्ररूपक' किया है।'

७०. द्विपक्ष (दुष्पक्ष)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—सांपरायिक-कर्म तथा गृहस्थत्व।'

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिये हैं—'दुष्पक्षः' और 'द्विपक्षः' और उनके शिस्त-भिन्ने अर्थ किये हैं। असत् प्रतिज्ञा का स्वीकरण होने के कारण आप दुष्पक्ष हैं तथा दो पक्षों-राग और द्वेष-का सेवन करने के कारण द्विपक्ष हैं। अपने सदोष सिद्धान्त का समर्थन करने के कारण आपमें राग और हमारे निर्दोष अभ्युपगम को दूषित करने के कारण आपमें द्वेष का सद्भाव है।

अथवा संन्यास और गृहस्थ—इन दोनों पक्षों का सेवन करने के कारण आप द्विपक्षसेवी हैं। कन्द-मूल, दण्डित भोजन, कच्चा जल आदि लेने के कारण आप गृहस्थ पक्ष का सेवन करते हैं और साधुवेष को धारण करने के कारण आप संन्यासपक्ष का सेवन करते हैं।

अथवा आप स्वयं असद्-अनुष्ठान करते हैं और दूसरे के सद्-अनुष्ठान की निन्दा करते हैं—इस प्रकार द्विपक्षसेवी हैं।'

हमने द्विपक्ष से संन्यास और गृहस्थ का ग्रहण किया है।

श्लोक ५१ :

७१. धातुपात्रों में (पाएषु)

हमने इसका अर्थ—धातुपात्र किया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ कांसी का पात्र किया है।' चूर्णिकार का कथन है कि आजीवक भ्रमण गृहस्थ के कांसी के पात्रों में भोजन करते हैं।'

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक का अर्थ-विस्तार किया है। जैन भ्रमण अन्यतीर्थिकों को कहते हैं—आप जिन भिक्षा-पात्रों में भिक्षा लेते हैं, उनके प्रति आभक्त होते हैं। आहार, उपकरण और स्वाध्याय, ध्यान में मूर्च्छा करते हैं। जो रुग्ण संन्यासी भिक्षा के लिए जाने में असमर्थ होता है, उसके लिए भक्त-उपासको द्वारा, कुलक या दूसरे पात्रों में लाया हुआ भोजन आप स्वीकार करते हैं। इस प्रकार आप दूसरे के पात्र का उपभोग करते हैं। इससे बंध होता है। जो व्यक्ति भोजन लाता है, मार्ग में उससे जीवबध भी होता है। वह आपके लिए भोजन लाता है। वह आपका उपासक होते हुए भी कर्मबंध से लिप्त होता है। यदि पात्र रखना दोष है तो पाणिपात्र होना भी दोषप्रद है। वह आपको भोजन देता हुआ क्या सत्पथ का अनुगामी है या उत्पथ का? आप सब मृग की भाँति अज्ञानी हैं। जैसे मृग शकास्पद स्थानों के प्रति निःशंक और निःशंक स्थानों के प्रति शंकाशील होता है, वैसे ही आप हैं।'

१. वृत्ति, पत्र ६२ : विशारदो मोक्षमार्गस्य—सम्पत्तान्दर्शनचारित्र्यरूपस्य प्ररूपकः।

२. चूर्ण, पृ० ६१ : दुष्पक्षो नाम संपरादयं कर्म भण्णति गृहस्थत्वं वा।

३. वृत्ति, पत्र ६२ : दुष्टः पक्षी दुष्पक्षः—अतरप्रतिज्ञाभ्युपगमस्तमेव सेवध्वं यूयं, यद्विवा—रागद्वेषात्मकं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तद्यदि—सद्वेषस्याप्यास्मीत्यक्षस्य समर्थनाद्वागो, निष्कलङ्कस्याप्यस्मदभ्युपगमस्य दूषणाद्द्वेषः, अथे (यथे) वं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तद्यथा—वद्यमाननीत्या जीमोदकोद्विष्टकृतभोजिस्त्वाद्गृहस्थाः यतिविज्ञाभ्युपगमस्तिकस्य प्रवृत्तिरक्षय्येत्येवं पक्षद्वयासेवनं भवत्समिति, यद्विवा—स्वतोऽसद्वृत्त्यामन्यतरं सवमुच्छाश्रित्या निगदन्मिश्रिषावः।

४. वृत्ति, पत्र ६२ : पात्रेषु—कांस्यपात्र्यादिषु गृहस्थभाजनेषु।

५. चूर्ण, पृ० ६१ : आजीवका परातकेषु कांसपात्रेषु भुजंति।

६. चूर्ण, पृ० ६१ : तुभ्ये केहि भिक्षाभाषणेहि भिक्षां मेरुह्य तेहि आश्रयं करेध, आश्रयशोचकरण-संज्ञाया-ज्ज्ञानेषु य मुच्छं करेध, भिक्षाभक्ष्यं य पिडकातपट्टिणां गंतुमसमर्थस्य अक्षं मसोहि कुलमेव वा अण्णतरेण वा मसोहि अग्निहवं भुजय, एवं तुभ्येहि पात्रपरिणीतेहि वंवीऽनुज्वातो भवति, अन्तरा य कायबधो सो य तुय भिमिसं, आगतो भसिमंतो वि कम्मबंधेण लिप्पति, यमिवायं पि न य कायबधं जति पादे वीतो, स च किं तुय्यं वेतो अट्टसत्पथसम्भावो ? उवाहु सत्पथि बहति ?। अविज्जाणं य भिमसरिता तुभ्ये जेण अक्षंकिताई संकथं संकितावाहं य संकथं ति।

७२. कंदमूल..... कछवा अल (बीओवगं)

यहां 'बीज' से कन्दमूल का तथा 'उदग' से कछवे अल का ग्रहण किया है।

इलोक ५२ :

७३. तीक्ष्ण कषाय से (तिष्णामितावेण)

चूर्णिकार ने 'अभिताव' का अर्थ अमर्ष—दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होने वाला क्रोध, मानरूपी कषाय का उदय किया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल कर्म-बंध किया है। चूर्णिकार का अर्थ तर्क-संगत लगता है।

७४. (विवेक) शून्य (उच्छिद्य)

इसका अर्थ है—विवेक-शून्य। अन्यतीर्थिक विवेकशून्य हैं क्योंकि भिक्षापात्र न रखने के कारण उन्हें गृहस्थों के घर गृहस्थों के पात्रों में खाना पड़ता है और वहां अपने निमित्त बनाए भोजन का स्वीकरण होता है।

७५. असमाहित (असमाहिया)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—आतुरीभूत और वृत्तिकार ने शुभ अध्यवसाय से रहित किया है।

इलोक ५३ :

७६. अप्रतिज्ञ (विषय के संकल्प से अतीत) (अपच्छिणेण)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—विषय और कषाय से निवृत्त किया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ—राग-द्वेष से अतीत किया है। 'मुझे असत् का भी समर्थन करना चाहिए'—जिसके ऐसी प्रतिज्ञा नहीं होती वह अप्रतिज्ञ है।

७७. युक्तिसंगत (जियए)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ नित्य—अव्याहत किया है। वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—निश्चित और युक्तिसंगत।

इलोक ५४ :

७८. बांस की कुनगी की तरह (अग्ने वेणुज्ज)

मुनि ग्लान मुनि को आहार लाकर न दे—यह आपकी सिद्धान्त वाणी वश के अग्रभाग की भांति बहुत कृश है। वह युक्ति को केलने में सक्षम नहीं है। इस व्याख्या का आधार वृत्ति है। चूर्णिकार ने मूल पाठ 'अग्नि बेल्लव्व करिसिता' माना है। उसका अर्थ किया है—बिल्व मूल में स्थूल और अग्रभाग में कृश होता है। वैसे ही आपकी वाणी अग्रभाग में कृश होने के कारण निश्चय

१. चूर्ण, पृ० ६१ : बीओवगं.....कंदमूलाणि ताव सयं जुजध, सीतोवगं पिबध ।

२. चूर्ण, पृ० ६१ : तिष्णामितावो नाम तीव्रोऽमर्षः : इंसणमोहजिक्कम्मोदएणं कोध-माज-कसायोदएण य लिता ।

३. वृत्ति, पत्र ६२ : तीव्रोऽमितावःकर्मबंधकषयः ।

४. वृत्ति, पत्र ६२ : उच्छिद्य स्ति सविवेकशून्या भिक्षापात्रावित्यागात्परगृहभोजितयोद्देसकाविभोजित्वात् :

५. चूर्ण, पृ० ६१ : असमाहिता आतुरीभूता ।

६. वृत्ति, पत्र ६३ : असमाहिताः शुभाध्यवसायरहिताः सत्साधुप्रवृत्तिवात् ।

७. चूर्ण, पृ० ६२ : अपच्छिणेणं ति विसय-कसायजियत्तेज ।

८. वृत्ति, पत्र ६३ : अप्रतिज्ञेन नात्य सवेदमसदपि समर्थनीयमित्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इत्यप्रतिज्ञो—रागद्वेषरहितः ।

९. चूर्ण, पृ० ६२ : जित्तो नाम नाम नित्यः अव्याहतः एवः ।

१०. वृत्ति, पत्र ६३ : निश्चितो, ...निश्चितो ...युक्तिसंगतः ।

११. वृत्ति, पत्र ६३ : अतिना ग्लानस्यानीय न देयमित्येवा अग्ने वेणुवद्—बंशवत् कपिता तन्वी युक्त्यनमत्वात् दुर्बलत्वर्थः ।

तक ले जाने वाली नहीं है ।^१

चूणिकार ने 'अग्ने वेणुव' की पाठान्तर के रूप में व्याख्या की है । जैसे—बांस के कुरमुट में कोई बांस मूल से कट जाने पर भी, परस्पर संबद्ध होने के कारण उसे ऊपर से या भीचे से नहीं खींचा जा सकता । वह भूमि तक नहीं पहुँच पाता । इसी प्रकार आपकी बात निश्चय तक नहीं पहुँच पा रही है । आप गृहस्थ के द्वारा आनीत आहार को खाना श्रेय बतलाते हैं और मुनि के द्वारा आनीत आहार को खाना अश्रेय बतलाते हैं । यह सिद्धान्त युक्तिअम नहीं है ।^२

व्यवहार भाष्य में भी वंश की उपमा प्राप्त है । जैसे बांसों की कुरमुट में मूल से कटा हुआ बांस भी, परस्पर संबद्ध होने के कारण भूमि तक नहीं पहुँचता, बीच में ही स्थलित हो जाता है ।^३

श्लोक ५५ :

७६. श्लोक ५५ :

'रुण श्रमण की सेवा करने वाला गृहस्थ के समान आचार वाला होता है'—आजीवक जैन श्रमणों पर यह आरोप लगाते थे । ४७वें श्लोक में 'परिभासति' शब्द की व्याख्या में आरोप लगाने वालों के रूप में आजीवक और दिगम्बर का उल्लेख किया है ।^४ दिगम्बर का उल्लेख स्वाभाविक नहीं है । प्रस्तुत सूत्र की रचना के समय श्वेताम्बर-दिगम्बर जैसा कोई विभाग नहीं था । यह आरोप आजीवकों का हो सकता है । इस प्रकरण से ज्ञात होता है कि जैन श्रमण रुण श्रमण की परिचर्या करने थे, उसे भोजन लाकर देते थे और पात्र रखते थे । आजीवक ऐसा नहीं करते थे । वे रुण अवस्था में गृहस्थों से परिचर्या करवाते थे । उनके द्वारा लाया हुआ भोजन लेते थे । आजीवकों का आरोप था जो श्रमण है, उसे दूसरे श्रमण को दान देने का अधिकार नहीं है । श्रमण को दान देने का अधिकार गृहस्थ को है । जो श्रमण रुण श्रमण को आहार लाकर देते हैं वे गृहस्थ के समान हो जाते हैं । इस आरोप के उत्तर में जैन श्रमणों ने कहा—'ये दो विकल्प हैं—(१) श्रमण के द्वारा लाया हुआ आहार लेना (२) गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार लेना—इन दोनों में हम प्रथम विकल्प को श्रेष्ठ मानते हैं ।'^५ आजीवकों ने कहा—हम दूसरे विकल्प को श्रेष्ठ मानते हैं । जैन श्रमणों ने कहा—आपका यह वचन निश्चय तक पहुँचाने वाला नहीं है । जैसे बांस जड़ में स्थूल और अग्रभाग में पतला होता है वैसे ही आपका यह वचन संकल्प में स्थूल है किन्तु निश्चायक नहीं है । आप लोग गृहस्थों का लाया हुआ खाते हैं किन्तु भिक्षु के द्वारा लाया हुआ नहीं खाते । क्या गृहस्थ देखकर चलता है ? क्या वह चलते हुए हिसा नहीं करता ? क्या वह भिक्षु के लिये भोजन तैयार नहीं करता ? वह इन सब दोषों का सेवन करता है, फिर भी आप लोग उसके द्वारा लाया हुआ भोजन स्वीकार करते हैं और एक भिक्षु अहिंसा पूर्वक भोजन लाकर देना है, उसे आप सदोष मानते हैं, इसलिए आपका वचन अहिंसा की दृष्टि से निश्चायक नहीं है ।^६

१. चूणि, पृ० ६२ : बिल्वो हि मूले स्थिरः अग्रे कथित, एवमिय वाग् भवतां संकल्पपूर्वा, निश्चयाकृता न हि भवन्तः, न सम्बद्धकल्पाः ।

२. चूणि पृ० ६२ : अथवा—एरिसा मे वई एसा अग्ने वेणु व्व करिसिति' सि, अथा व वंसीकडिल्ले वंसी (९) मूलजिह्वणो न सपपते अग्नेम्यसम्बध्दवास्स शक्यतेऽधस्ताद् उपरिष्ठाद्वा कथितुम् । यथाऽसौ वंसी न निब्वहति एवं भवतामपि इयं वाग् न निर्वाहिका, तन्न अनिर्वाहिका गिहिणो अग्निहो संयं, भवन्तो हि सम्प्रतिपत्ता निर्मुक्तत्वात् संसारान्तं करिष्यामः तन्न निर्बहति, कथम् ? यद् भवतां ग्लायतामग्नायतां गृहस्थः कग्गदीनां मात्रेणाऽनविस्वा ववाति तत् किल भोक्तुं श्रेयः न तु यद् भिक्षुणाऽऽनीतमिति, एषा हि वाग् भवतां न निर्वाहिका ।

३. व्यवहार भाष्य २४६ . वृत्ति पत्र ४५ : वंसकडिल्ले—वंशगहने खिन्नोऽपि वेणुको वंशो नहीं न प्राप्नोति । अन्यैरग्येवंशैरपागतराले स्खलितत्वात् ।

४. (क) सूयगडो ३।४७ : परिभासति, चूणि पृ० ६० : आजीविकप्रायाः अन्यतोविकाः, सुप्तं अथागतोपासितं च काऊच बोडिगा ।

(ख) वृत्ति, पत्र ६१ : ते च गोशालकमतापुसारिण आजीविका दिगम्बरा वा.....परि—समस्ताऽप्रावन्ते ।

५. (क) चूणि, पृ० ६२ ।

(ख) वृत्ति, पत्र ६३ ।

श्लोक ५६ :

८०. अनुयुक्तियों के द्वारा (अनुयुक्तीहि)

पूजिकार ने हेतु और तर्क की युक्तियों को अनुयुक्ति माना है।^१ वृत्तिकार ने इसका अर्थ—प्रमाणभूत हेतु और दृष्टान्त—किया है।^२

८१. वाद को (वायं)

जो छल, जाति, निग्रहस्थान आदि से रहित हो^३ तथा जो सम्यग् हेतु और दृष्टान्तों से युक्त हो^४ वह वाद है।

८२. धुष्ट हो जाते हैं (पगच्छिभया)

वे तीथिक धुष्ट होकर कहते हैं—पुराण, मनुस्मृति, अंगो सहित वेद तथा चिकित्सा शास्त्र—ये चारों आशा-सिद्ध हैं। इनमें जो कहा है उसे वैसा ही मान लेना चाहिए। उसके विषय में कोई तर्क नहीं होना चाहिए। युक्ति और अनुमान—ये धर्म-परीक्षण के बहिरंग साधन हैं। इनका प्रयोजन ही क्या है? हमारे द्वारा स्वीकृत या अभिमत धर्म ही श्रेय है, दूसरा नहीं। क्योंकि हमारे इस अभिमत के प्रति बहुसंख्यक लोग नया राजा आदि विशिष्ट व्यक्ति आकृष्ट हैं। इस कथन के प्रत्युत्तर में जैन श्रमण कहते हैं—बहुसंख्यक अज्ञानियों से कौन-सा प्रयोजन मिष्ट होता है?^५

एरंडकटुरासी, जहा य गोसीसचंदनपलस्स ।
मोल्ले न होज्ज सरिसो, कित्तिमेत्तो गणिज्जंतो ॥१
तहवि गणणातिरेगो, जह रासी सो न चंदनसरिच्छो ।
तह निविज्जणामहाज्जोवि, सोज्जे विसंजयति ॥२
एक्को सच्चल्लगो जह अंछलयाणं सएहि बहुएहि ।
होइ वरं बहुज्जो, ज ह ते बहुगा अपेच्छंता ॥३
एवं बहुगावि मूढा, ज पमाणं जे गई ण मानंति ।
संसारणमणुगिलं, जिज्जणस्स य बंधमोक्खस्स ॥४

१. २. एक ओर एरंड वृक्ष के काठ का भारा है और एक ओर गोशीर्ष चन्दन का एक पल। दोनों का मूल्य समान नहीं हो सकता। गिनती में एरंड के काष्ठ के टुकड़े अधिक हो सकते हैं, पर उनका मूल्य चन्दन तक नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार अज्ञानी लोगों की संख्या अधिक हो सकती है, पर उसका मूल्य ही क्या?

३. हजारों अन्धों से एक आँख वाला अच्छा होता है। हजार अन्धे भी एकत्रित होकर कुछ भी नहीं देख पाते। अकेला आँख वाला सब कुछ देख लेता है।

४. इसी प्रकार मूढ़ व्यक्ति बहुसंख्यक होने पर भी प्रमाण नहीं होते, क्योंकि वे बंध और मोक्ष के उपायों को नहीं जानते और संसार से पार होने की गति के अज्ञान होते हैं।^६

१. पूजि, पु० ६३ : योजनं युक्तिः, अनुयुज्यत इति अनुयुक्तिः, अनुगता अनुयुक्ता वा युक्तिः अनुयुक्तिः । सर्वे हेतु-युक्तिभिः सतर्कयुक्तिभिर्वा ।

२. वृत्ति पत्र ६३ : सर्वाभिरर्थानुगताभियुक्तिभिः सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तेः प्रमाणभूतैः ।

३. पूजि, पु० ६३ : वायो जाय छल-जाति-निग्रहस्थानवर्जितः ।

४. वृत्ति, पत्र ६३, ६४ : सम्महेतुदृष्टान्तैर्वो वायो-जरूपः ।

५. वृत्ति, पत्र ६४ : प्रगल्भताः—धृष्टतां गता इवमुक्तुः, तथावा—‘पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आशासिद्धानि चत्वारि, न हस्तव्यानि हेतुभिः ॥’ अथैव किमनया बहिरङ्गया पुस्त्याऽनुमानादिकयाऽत्र धर्मपरीक्षणे विधेये कर्तव्यमस्ति, यतः प्रत्यक्ष एव बहुजनसंमतत्वेन राजाद्याभयणाच्चापमेवास्मदभिप्रेतो धर्मः श्रेयाश्च पर इत्येवं विवक्ष्यते, तेषामिदमुत्तरम्—न ह्यत्र ज्ञानादि-साररहितेन बहुनाऽपि प्रयोजनमस्तीति ।

६. पूजि, पु० ६३ । वृत्ति, पत्र ६४ ।

श्लोक ३७ :

८३. गाली गलौज की (अवकोसे)

इसका अर्थ है—गाली-गलौज, असभ्य बचन, दंड-मुष्टि आदि से मारना-पीटना ।^१

पुर्वल व्यक्ति हर बात का उत्तर क्रोध या गाली-गलौज में ही देते हैं। स्त्री और बालक जहां पराजय का अनुभव करते हैं, वहां रोना ही उनका उत्तर है। साधु प्रत्येक बात का उत्तर क्षमा से देते हैं ।^२

८४. तंगण (तंगण)

इसका अर्थ है—टंकण देश में रहने वाले म्लेच्छ जाति के लोक। ये लोग पर्वतों पर रहते थे और बहुत शक्तिशाली होते थे। जब शत्रु इन पर आक्रमण करता तब ये उसकी बड़ी से बड़ी हाथी-सेना और अश्व-सेना को पराजित कर देते थे। ये पराजित होने लगते तब आयुधों से लड़ने में असमर्थ होकर शीघ्र ही पर्वतों में जा छिपते थे ।^३

उत्तरापथ के म्लेच्छ देशों में यत्र-तत्र टंकण नाम के म्लेच्छ लोग निवास करते थे। दक्षिणपथ के व्यापारी वहां कुछ वस्तुएं बेचने को आते थे। उस समय सारा लेनदेन वस्तु-विनिमय से ही होता था। उत्तरापथ में स्वर्ण और हाथीदांत की बहुलता थी। वहां के लोग इनके बदले में और-और वस्तुएं प्राप्त करते थे। दोनों देशों के लोग एक-दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ थे। इस अनभिज्ञता के कारण परस्पर वस्तु-विनिमय कुछ कठिन होता था। वे लोग संकेतों से काम लेते थे। दक्षिणपथ के लोग अपनी वस्तुओं का एक स्थान पर ढेर कर देते और उत्तरापथ के टंकण लोग अपनी वस्तुओं (सोना, हाथीदांत आदि) का ढेर कर देते। वे दोनों पक्ष अपनी-अपनी वस्तुओं के ढेर पर हाथ रख खड़े हो जाते। जब दोनों की इच्छापूर्ति हो जाती, तब वे अपने हाथ उन वस्तुओं के ढेर से खींच लेते। जब एक पक्ष भी उस विनिमय से संतुष्ट नहीं होता तब तक वह अपना हाथ नहीं खींचता। इसका यह अर्थ समझा जाता कि अभी वह पक्ष वस्तु-विनिमय से संतुष्ट नहीं है। व्यापार तभी संपन्न होता जब दोनों पक्ष संतुष्ट होते। उनके व्यवसाय का यह प्रकार परस्पर वस्तु-विनिमय की विधि पर अवलंबित था ।^४

प्राकृत प्रोपर नेम्स के अनुसार टंकण लोग गंगा के पूर्वी किनारे पर बसे हुए थे। उनका प्रदेश रामगंगा नदी से सरयु तक फैला हुआ था। मध्य एशिया में वे कशगर में भी व्याप्त थे ।^५

विशेषावश्यक भाष्य में टंकणविणक की उपमा प्राप्त है— ० टंकण विणिओवमा समए । ० टंकण विणिओवमा जोग्गा ॥

१. (क) वृत्ति, पत्र १४ : आकोशान् अतम्यवचनकपास्तवा दंडमुष्ट्यादिभिरथ ।

(क) वृत्ति, पृ० १३ : आकोशमिति यष्टि-मुष्टिभिरबोलिष्ठमिति ।

२. वृत्ति, पृ० १३ : प्रायेण पुर्वलस्य रोषो उत्तरं भवति आकोशश्च, चवितोत्तरा हि स्त्रियः बालकाश्च, आश्रयुत्तराः साधवः ।

३. (क) वृत्ति पृ० १३ : टंकणा नाम म्लेच्छजातयः पार्वतेशः, ते हि पर्वतमाधित्य सुमहत्तमाश्च अस्सदसं वा हस्तिबलं वा प्रारभन्ते आगलित्ति, पराजिताः सुशीघ्रं पर्वतमाधयन्ति ।

(ख) वृत्ति पत्र १४ : 'टंकणा' म्लेच्छविशेषा पुर्वला यदा परेण बलिना स्वानीकादिनाऽभिद्रव्यन्ते तदा ते नानाविधैरप्यायुधैर्पुर्वल-समर्थाः सन्तः पर्वतं शरणमाधयन्ति ।

४. (क) आवश्यक वृत्ति, प्रथम भाग, पृ० १२० : उत्तराबहे टंकणा नाम म्लेच्छा, ते सुवपर्वतमादीहि दक्षिणावहगाइ बंडाई गेण्हति, ते य अबरोप्परं मासं न जानन्ति, पच्छा पुंजे करेति, हस्तेण उच्छाद्वेति, जाव इच्छा न पूरेति ताव न अधर्नेति । पुग्ने अवर्नेति, एवं तेति इच्छियपदिच्छितो व्यवहारो ।

(ख) विशेषावश्यक भाष्य, भाषा १४४४, १४४५, वृत्ति : इहोत्तरापथे म्लेच्छदेशे वदन्ति टंकणानिना म्लेच्छाः । ते च सुवर्णसदृश (प्र०...मद्वेन) दक्षिणपथायातानि नृकुलित, परं बाणिज्यकारकास्तदभावां न जानन्ति, तेऽपीतरभावां नावगच्छन्ति । ततश्च कनकस्य कषाणकामां च तावत् पुच्छः कियते, यावदुपयस्यस्यापीच्छापरिपूर्तिः यावच्चैकस्यापि यत्तस्येच्छा न पूर्यते, तावत् कनकपुच्छात् कषाणकपुच्छाच्च हस्तं नापसारयन्ति, इच्छापरिपूर्तो तु तमपसारयन्ति । एवं तेषां परस्परमीक्षितप्रतीक्षितो व्यवहारः ।

५. प्राकृत प्रोपर नेम्स, पृष्ठ १६४ ।

६. विशेषावश्यक भाष्य, भाषा १४४४, १४४५ ।

श्लोक ५८ :

८३. आत्म-समाहित मुनि (अतसमाहिए)

चूणिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—

१. अपने आपको द्रव्य, क्षेत्र और काल के अनुरूप समर्थ जानकर बाद में उतरने वाला मुनि ।
२. परिषद् में प्रवचन करते समय प्रवचन सुनने वाले कौन हैं ? वे किस मत को मानने वाले हैं ? इस प्रकार का विवेक कर आत्म-समाधि का अनुभव हो ऐसा प्रवचन करने वाला मुनि ।
३. ऐसा वर्णन करने वाला मुनि जिससे दूसरे के लिए कोई घात या बाधा उपस्थित न हो ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—चित्त की स्वस्थता किया है । इसका आशय स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—बादकाल में हेतु, दृष्टान्त आदि के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि तथा माध्यस्थ्ययुक्त वचन आदि के द्वारा पर-पक्ष का उपघात न होना आत्म-समाधि है । ऐसे प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त का प्रयोग करना चाहिए जिससे दूसरे विरोधी न बनें, किन्तु उनमें समन्वय का भाव जागे ।

श्लोक ५९ :

८४. शास्त्र चित्त भिक्षु अग्लानभाव से (अगिलाए समाहिए)

गिला का अर्थ है—ग्लानि । जो ग्लानि से रहित है, वह अगिला होता है । अगिलाए का अर्थ है—अग्लानभाव से ।

हमने समाहिए को भिक्षु का विशेषण मानकर उसका अर्थ शास्त्रचित्त किया है । चूणिकार ने 'अगिलाणेण' पाठ मानकर उसका अर्थ अपीडित, अभ्ययित किया है और 'समाहिए' का अर्थ समाधि के लिए किया है ।

वृत्तिकार ने 'अगिलाए' का अर्थ अग्लानतया^१ (यथाशक्ति) और समाहिए का अर्थ समाधि-प्राप्त^२ किया है । यह भिक्षु का विशेषण है ।

श्लोक ६० :

८७. पबित्र (पेसलं)

पेसल दो प्रकार का होता है—

१. द्रव्य पेसल—प्रीति उत्पन्न करने वाले आहार आदि पदार्थ ।
२. भाव पेसल—समस्त दोषों से रहित वस्तु । भव्य पुरुषों के लिए वह धर्म ही है ।^३

१. चूणि, पृ० ६४ : आत्मसमाधिर्नाम दम्भं खेसं कालं सामर्थ्यं चङ्गणो जियाणित्ता । इति, अघवा के अर्थ पुरिसे ? कं च जते ? त्ति, एवं तथा तथा यथाऽऽत्मनो समाधिर्भवति । उक्तं हि—पडिपक्खो णायस्वो । अघवा आत्मसमाधिर्नाम यथा परवो न घातो भवति बाधा वा ।

२ (क) वृत्ति, पत्र ६४, ६५ : आत्मनः समाधिः चित्तस्वास्थ्यं यस्य स भवत्यात्मसमाधिकः एतदुक्तं भवति—येन येनोपन्यस्तेन हेतु-दृष्टान्तादिना आत्मसमाधिः—स्वपक्षसिद्धिलक्षणो माध्यस्थ्यवचनविना वा परानुपघातलक्षणः समुत्पद्यते तत् तत् कुर्यादिति ।

(ख) चूणि, पृ० ६४ : लौकिक-परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः हेतु-प्रतिज्ञादयः ।

३. व्यवहार, विभाग ४, वृत्ति पत्र २२ : गिला-ग्लानिः गिलायाः प्रतिषेधोऽगिला ।

४. चूणि, पृ० ६४ : अगिलाणे अनार्दितेन अभ्ययितेन ।

५. चूणि, पृ० ६४ : समाहिए त्ति आत्मनः समाधिहेतोः कर्त्तव्यम् ।

६. वृत्ति, पत्र ६५ : अग्लानतया यथाशक्ति ।

७. वृत्ति, पत्र ६५ : समाहितः समाधि प्राप्त इति ।

८. चूणि, पृ० ६४ : पेसलं दम्भे भावे य, दम्भे अं दम्भं पीतिमुत्पादेति आहारादि, भावपेसलस्तु सर्ववचनीय बोधापेक्षो भव्यानां धर्म एव ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सुश्लिष्ट किया है। जो अहिंसा जाति की प्रवृत्ति के द्वारा प्राणियों में प्रीति उत्पन्न करता है वह पेशल होता है।'

श्लोक ६१ :

८८. अतीतकाल में (पुर्विम्ब)

वृत्तिकार ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए अतीतकाल से जेता और डापर युग का ग्रहण किया है।' वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल पूर्वकाल किया है।'

८९. महापुरुष (महापुरिसा)

वे प्रधान पुरुष जो राजा होकर वनवास में गए और फिर निर्वाण को प्राप्त हुए।'

वृत्तिकार ने इसका अर्थ प्रधान पुरुष किया है और उदाहरण के रूप में बलकलचीरी, तारागण आदि ऋषियों का उल्लेख किया है।'

९०. सचित्त जल से स्नान आदि करते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए हैं (उदएण सिद्धि मावण्णा)

कुछेक ऋषि सचित्त जल का व्यवहार करते हुए सिद्ध हो गए—ऐसा परंपरा से सुना जाता है। वे सचित्त जल से शौच-कार्य करते, स्नान करते तथा हाथ-पैर आदि बार-बार उसी से धोते, वे सचित्त जल पीते और जल के बीच कड़े होकर (नदी आदि में) अनुष्ठान करते।'

श्लोक ६२, ६३ :

९१. श्लोक ६२, ६३ :

प्रस्तुत दो श्लोकों में ७ ऋषियों के नाम गिनाए हैं। वे ये हैं—(१) वैदेही नमि (२) रामगुप्त (३) बाहुक (४) तारागण (५) आसिल-देविल (६) द्वैपायन और (७) पाराशर। 'इह संमया' [३/६४]—इस वाक्य के द्वारा सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि ये महापुरुष ऋषिमाषित आदि जैन-ग्रन्थों में वर्णित हैं तथा 'अणुसुय' पद के द्वारा यह सूचित किया है कि भारत आदि पुराणों में भी इनका वर्णन प्राप्त है। वृत्तिकार के अनुसार ये सब राजर्षि और प्रत्येक-बुद्ध थे। इनमें से वैदेही नमि की चर्चा उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन में प्राप्त है और शेष राजर्षियों की चर्चा ऋषिमाषित नामक ग्रन्थ में है।' किन्तु वर्तमान में उपलब्ध ऋषिमाषित ग्रन्थ में पाराशर ऋषि का नाम प्राप्त नहीं है। इस ग्रन्थ में सबके नाम से एक-एक अध्ययन है और उन अध्ययनों में उनके विशिष्ट विचार संगृहीत हैं।

१. वैदेही नमि—विदेह राज्य में दो नमि हुए हैं। दोनों अपने-अपने राज्य को छोड़कर अनगार बने। एक तीर्थंकर हुए और एक प्रत्येक बुद्ध। प्रस्तुत प्रकरण में प्रत्येक बुद्ध नमि का कथन है। ये किस के तीर्थकाल में हुए यह ज्ञात नहीं है। उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन में 'नमि-प्रव्रज्या' में अभिनिष्क्रमण के समय ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र और नमि के बीच हुए वार्तालाप

१. वृत्ति, पत्र २५ : पेशलम् इति सुश्लिष्टं प्राणिनामहिंसादिप्रवृत्त्या प्रीतिकारणम् ।

२. वृत्ति, पृ० २५ : पुर्विमिति अतीते काले केचित् जेतायां डापरे च ।

३. वृत्ति, पत्र २५ : पुर्व—पूर्वस्मिन् काले ।

४. वृत्ति, पृ० २५ : महापुरिसा महाणा पुरिसा, राजानो जूत्वा वनवासं गता पञ्चा विव्वाणं गताः ।

५. वृत्ति, पत्र २५ : महापुरुषाः—प्रधानपुरुषा बलकलचीरितारागणविप्रबुधतः ।

६. वृत्ति, पृ० २५ : सीतोद्गं नाम अवरिणत्वं, तेन तोयं जायरतां महाज-यान-हृत्वावीणि अविचक्षणं सोएत्ता तथाऽप्यर्जले वसन्तः सिद्धिं प्राप्ताः सिद्धाः ।

७. वृत्ति, पृ० २५ : जमी ताव चमिपञ्चकाए, सेता सन्ने जन्ने इतिवासितेयु ।

का सुन्दर संकलन है। इनके पिता का नाम 'गुप्तबाहु' और माता का नाम 'मदनरेखा' था।^१

२. रामपुत्र—ये पार्श्वनाथ के तीर्थकाल में होने वाले प्रत्येक-बुद्ध हैं।^१ ऋषिभाषित के तीसवें अध्ययन में रामपुत्र अर्हताधि के वचन संकलित हैं।^१ इस गद्यात्मक अध्ययन में केवल तीन गद्यांश हैं। वृत्तिकार ने 'रामउत्ते' का संस्कृत रूप 'रामगुप्तः' दिया है। प्राकृत 'उत्त' शब्द के तीन संस्कृत रूप हो सकते हैं—उत्त, गुप्त, पुत्र।

३. बाहुक—ये अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में होने वाले एक प्रत्येक-बुद्ध हैं।^१ ऋषिभाषित के चौदहवें अध्ययन में इनके सुभाषित संकलित हैं।^१ यह अध्ययन भी गद्यात्मक है। नल का एक नाम बाहुक भी है।^१

४. तारागण—ऋषिभाषित के छत्तीसवें अध्ययन में इनके विचार संकलित हैं।^१ इसमें १७ पद्य हैं। प्रारंभ में उनके नाम के आगे 'वित्तण' शब्द है।^१ ऋषिभाषित की संग्रही गाथा में इनका उल्लेख 'वित्त' नाम से किया है।^१ किन्तु 'वित्त' शब्द उनका विशेषण होना चाहिए। वित्त का अर्थ है—संपदा। मुनि की संपदा है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र। वृत्तिकार ने 'तारागण' पाठ माना है।^१

५. आसिल-देविल—ऋषिभाषित के तीसरे अध्ययन का नाम 'दबिलज्जयणा' है। प्रारंभ में 'असिएण दविलेण' अरहता इतिणा बुद्धं—ऐसा पाठ है। यहां ऋषि का नाम 'दविल' है और 'असिय' (असिन) उनका गौत्र हो सकता है, ऐसा मुनि पुण्यविजयजी ने माना है।^१ वृत्तिकार ने 'आसिल' और 'देविल' को पृथक्-पृथक् ऋषि माना है।^१ ये अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में होने वाले प्रत्येक बुद्ध हैं।^१ महाभारत के अनेक स्थलों में 'असितदेवल' नामक प्रसिद्ध ऋषि का नामोल्लेख प्राप्त है।^१ इससे संभावना की जा सकती है कि 'असितदेविल'—यह एक ऋषि का नाम था।

याज्ञवल्क्यस्मृति की अपरादित्य रचित व्याख्या^१ में देवल ऋषि का संवाद उद्धृत है। महाभारत के शान्तिपर्व में देवल-नारद संवाद का भी उल्लेख प्राप्त है। बुद्ध देवल के सम्मुख उपस्थित होकर नारद ने भूतो की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में विज्ञासा प्रगट की थी। महर्षि देवल ने उनका समाधान दिया। इसी प्रकार वायुपुराण^१ में भी देवल के उद्धरण प्राप्त होते हैं। ये सांख्य दर्शन के एक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध थे जो सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण से पहले हो चुके थे।^१

१. विशेष विवेचन के लिए देखें— उत्तरजम्भ्याणि, नौवा अध्ययन।

२. उत्तरजम्भ्याणि भाग १, पृ० १०६।

३. इतिभासियाई २३ वां अध्ययन रामपुत्तेण अरहता इतिणा बुद्धं।

४. वृत्ति, पत्र ६६ : रामगुप्तरथ।

५. उत्तरजम्भ्याणि, भाग १, पृ० १०६।

६. इतिभासियाई, १४ वां अध्ययन बाहुकेण अरहता इतिणा बुद्धं।

७. महाभारत, वनपर्व ६६।२०।

८. इतिभासियाई, अध्ययन ३६ : वित्तेण तारागणेण अरहता इतिणा बुद्धं।

९. इतिभासियाई संग्रही गाथा ५ : अहालए य वित्ते य।

१०. वृत्ति पत्र ६६ : तारागणो नम महर्षि।

११. वृत्ति, पृ० ६५, फुटनोट नं ८ : अत्र पाठे असिएणं इति गोत्रोत्तिवर्तते न पृथगुचिनाम।

१२. वृत्ति, पत्र ६६ : आसिलो नाम महर्षिस्तथा देविलः।

१३. उत्तरजम्भ्याणि, भाग १, पृ० १०६।

१४. महाभारत की नामानुक्रमिका, पृ० २६।

१५. याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, ब्रह्मलोक १०६ पर।

१६. वायुपुराण, अध्ययन ६६, श्लोक १५१, १५२।

१७. सांख्यकारिका ७१, माठरवृत्ति : कपिलाबासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानं ततः यज्जगत्त्रिंशेन तस्माद् मार्गबोद्धव्यत्वात्मीकि-हारित-देवल-प्रभृतीनामागतम्। ततस्तेष्व ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।

कुछ इनको विक्रम की तीसरी शताब्दी के मानते हैं और कुछ इनको महाभारत युद्ध-काल से भी अधिक प्राचीन मानते हैं।^१

६. द्वीपायन—ये महावीर के तीर्थकाल में होनेवाले प्रत्येक-बुद्ध थे।^२ ऋषिभाषित के चालीसवें अध्यायन में इनके वचन गाथाओं में संकलित हैं।^३ महाभारत के अनुसार यह माना गया है कि महर्षि पराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न मुनिवर वेदव्यास यमुना के द्वीप में छोड़ दिए गए, इसलिए इनका नाम द्वीपायन (द्वीपायन) पड़ा।^४

७. पराशर—ऋषिभाषित में इनका नामोल्लेख प्राप्त नहीं है। महाभारत में पराशर्य और पराशर नाम के ऋषियों का वर्णन प्राप्त है।^५

औपपातिक सूत्र में आठ ब्राह्मण परिव्राजकों और आठ क्षत्रिय परिव्राजकों का उल्लेख मिलता है—

१. कण्डू २. करकण्ट ३. अंबड ४. पराशर ५. कृष्ण ६. द्वीपायन ७. देवगुप्त और ८. नारद—ये आठ ब्राह्मण परिव्राजक हैं।

१. शीलकी २. मसिहार ३. नग्नजित् ४. भग्नजित ५. विदेह ६. राजा ७. राम और ८. बल—ये आठ क्षत्रिय परिव्राजक हैं।

वहाँ इनकी उपश्रव्या का विस्तार से निरूपण है। इन परिव्राजकों को सांख्य, योगी, कापिल, भार्गव, हंस, परमहंस, बहुउदक, कुलीव्रत और कृष्ण परिव्राजक—इन संप्रदायों के अन्तर्गत माना गया है।^६ इनमें पराशर, द्वीपायन, विदेह—ये तीन नाम प्रस्तुत चर्चा से सम्बद्ध हैं। राम रामपुत्र का संक्षिप्त रूप हो सकता है।

चूणिकार ने प्रस्तुत श्लोको की चूणि में सबको राजर्षि माना है।^७ किन्तु औपपातिक सूत्र के संदर्भ में यह मीमांसनीय है। पराशर और द्वीपायन—ये ब्राह्मण ऋषि ही प्रतीत होते हैं।

चूणिकार ने बताया है कि 'ये सब प्रत्येक-बुद्ध वनवास में रहते थे और बीज तथा हरित का भोजन करते थे। वहाँ रहते हुए उन्हें विशिष्ट प्रकार के ज्ञान प्राप्त हुए।'^८

उस समय के लोग इन ऋषियों की ज्ञानोन्नति की तुलना चक्रवर्ती भरत को आदर्शगृह में उत्पन्न ज्ञानोपलब्धि से करते थे।^९

चूणिकार ने इस तर्क के समाधान में लिखा है—भरत चक्रवर्ती को गृहस्थावस्था में ज्ञान तभी उत्पन्न हुआ था जब वे भावसाधु बन गए थे तथा उनके चार चातकर्म क्षीण हो गए थे। प्रश्नकार यह नहीं जानते कि किस अवस्था में विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है? मुक्ति किस संहनन में होती है? इसलिए वे यह कह देते हैं कि ये ऋषि कंद-मूल खाते हुए तथा अग्नि का समारंभ करते हुए सिद्ध हुए हैं।^{१०}

१. सांख्यदर्शन का इतिहास, जयवीरशास्त्रीकृत, पृ० ५०५।

२. उत्तरअध्यायि, भाग १, पृ० १०७।

३. इतिमासियाई, चालीसवाँ अध्यायन, ... श्रीवायनेन अरहता इतिमा बुद्धं।

४. महाभारत, आदिपर्व ६३।८६; महाभारत नामानुक्रमणिका पृ० १६२।

५. महाभारत, समापर्व ४।१३; ७।१३; आदिपर्व १७७।१।

६. औपपातिक, सूत्र ६६-११४।

७. चूणि, पृ० ६५ : राजानो भूत्वा वनवासं गताः पञ्चा विवर्णा गताः।

८. चूणि, पृ० ६६ : एतेसि पत्तेयबुद्धाणं वनवासे जेव वसंतानं बीयाणि हरिताणि य मुञ्जंतानं ज्ञानायुत्पन्नानि, यथा वरतस्य आर्धसगिहे जायमुत्पन्नं।

९. चूणि पृ० ६६ : तं तु तस्स भवतिगं पठिअणस्स बीजवडकम्मस्स गिहवासे उत्पन्नमिति । ते तु कुतित्था न जायन्ति—कस्मिन् भावे वसंतानस्य ज्ञानमुत्पद्यते ? कतरेण वा संघतरेण सिज्जति ? अजानानास्तु बुद्धते—ते नमी आद्या महर्षयः भोज्या सीतोन्नं सिद्धा, भोज्य ति भुज्जाना एव सीतोन्नं कम्हणुवणि न जोई न समारम्भता।

श्लोक ६५ :

६२. भार को बीच में डाल देने वाले (बाहच्छिन्ना.....)

‘बाह’ का अर्थ है—भारोद्बहन और छिन्न का अर्थ है—टूटे हुए या दबे हुए—भार से दबे हुए गधे की भांति। गधे अधिक भार को न सह सकने के कारण भार को मार्ग के बीच में ही डाल कर गिर जाते हैं, वैसे ही ये मद भिक्षु संयम-भार को छोड़कर शिथिल हो जाते हैं। यह वृत्तिकार की व्याख्या है।^१

६३. कठिनाई के समय (संभ्रमे)

संभ्रम का अर्थ है - कठिनाई के समय। वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—वह कष्ट जिसमें व्यक्ति संभ्रात हो जाता है, दिग्भ्रम हो जाता है।^२ वृत्तिकार ने अग्नि आदि के उपद्रव को संभ्रम माना है।^३

६४. पंगु (पीठसर्पिण)

इसका संस्कृत रूप ‘पीठसर्पिन्’ होगा। वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप ‘पृष्ठसर्पिन्’ किया है।^४ आष्टे की डिक्शनरी में ‘पीठसर्प’ का अर्थ पंगु किया है।^५

श्लोक ६६ :

६५. सुख से सुख प्राप्त होता है (सातं सातेण विज्जई)

सुख से सुख प्राप्त होता है—यह पक्ष चूणि और वृत्ति के अनुसार बौद्धों का है।^६ जैन विचारधारा इससे भिन्न है। सुख से सुख प्राप्त होता है या दुःख से सुख प्राप्त होता है—ये दोनों मिथ्या वास्तविक नहीं हैं। यदि सुख से सुख प्राप्त हो तो राजा आदि अमीर आदमी अगले जन्म में भी सुखी होंगे, किन्तु ऐसा होता नहीं है। दुःख से सुख प्राप्त हो तो अनेक दुःख भोगने वाले गरीब लोग अगले जन्म में सुखी होंगे, किन्तु ऐसा भी होता नहीं है।^७

बौद्ध साहित्य में निर्ग्रन्थों के मुह से यह कहलाया गया है कि सुख में सुख प्राप्य नहीं है, दुःख से सुख प्राप्य है। इसका पूरा संदर्भ इस प्रकार है—

एक समय महानाम । मे राजगृह मे गृध्रकूट पर्वत पर रहता था । उस समय बहुत से निर्ग्रन्थ ऋषिगिरि की कालशिला पर खड़े रहने का व्रत ले, आमन छोड़, तप करते हुए दुःख, कटु, तीव्र वेदना भोग रहे थे ।कारण पूछने पर निर्ग्रन्थों ने कहा—निर्ग्रन्थ तानपुत्र सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है । वे ऐसा कहते हैं—निर्ग्रन्थो ! जो तुम्हारे पहले का किया हुआ कर्म है, उसे इस कड़वी दुष्कर-क्रिया (तपस्या) से नाश करा और जो यहाँ तुम काय-वचन-मन से सम्युक्त हो, यह भविष्य के लिए पाप का

१ वृत्ति, पत्र ६६ : बहन बाहो—भारोद्बहनं तेन छिन्ना—कवितास्त्रुटिता रासना इव विषीदन्ति, यथा—रासना गमनपथ एव प्रोक्षितधारा निपतन्ति, एवं तेऽपि प्रोक्ष्य संयमभारं शीतलविहारिणो भवन्ति ।

२. वृत्ति, पृ० ६६ : सम्भ्रमसि तस्मिन्निति सम्भ्रमः ।

३. वृत्ति, पत्र ६६ : अग्न्यादिसंभ्रमे ।

४. वृत्ति, पत्र ६६ : पृष्ठसर्पिणः ।

५. आष्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृष्ठ १०२४ में उद्धृत—महानारत ३।३५।२२ : कसंघे पुखव्याघ्र किमास्ते पीठसर्पवत्, Lame, Crippled.

६. (क) वृत्ति, पृ० ६६ : इदानीं शाक्याः परासुभ्यस्ते

(ख) वृत्ति, पत्र ६७ ।

७. (क) वृत्ति पृ० ६६, ६७ : इह नेग्रन्थासने सातं साते न विद्यते । का भावना ?—न हि सुखं सुखेन लभ्यते । यदि चेतसेनं तेनेह राजादीनामपि सुखिनां परत्र सुखेन भाष्यम् । नरकाणां तु दुःखितामां पुनर्नरकेनेव भाष्यम् ।

(ख) वृत्ति पत्र ६७ : आर्यं मार्गं सज्जेनेग्रप्रवचनं व्यावर्तनज्ञानकारिणोऽसमां प्रतिपादकं सुखं सुखेनेव विद्यते इत्यादिमोहेन मोक्षिताः ।

न करना होगा। इस प्रकार तपस्या द्वारा पुराने कर्मों के अन्त होने और नए कर्मों के न करने से भविष्य में चित्त निर्मल हो जाएगा। भविष्य में भल न होने से कर्म का क्षय, कर्मक्षय से दुःखक्षय, दुःखक्षय से ज्ञान में वेदनाश और वेदनाक्षय से सभी दुःख नष्ट हो जाएंगे।'

बुद्ध ने इस प्रकार निर्ग्रन्थों से पूछा कि क्या तुम्हें अपना होना ज्ञात है? क्या तुमने उस समय पापकर्म किए थे? क्या तुम्हें मालूम है कि इतना दुःख नष्ट हो गया, इतना बाकी है? क्या तुम्हें मालूम है कि किस जन्म में पाप का नाश और पुण्य का लाभ प्राप्त करना है? इसका उत्तर निर्ग्रन्थों ने 'नहीं' में दिया। इस प्रकार बुद्ध ने कहा—'ऐसा होने से ही तो निर्ग्रन्थों! जो दुनिया में रुद्र, खून रंगे हाथों वाले, क्रूरकर्मा मनुष्यों में नीच हैं, वे निर्ग्रन्थों में साधु बनते हैं।' निर्ग्रन्थों ने फिर कहा—'गोतम! सुख से सुख प्राप्य नहीं है, दुःख से सुख प्राप्य है।'

६६. जो आर्यमार्ग है (आरियं मगं)

वृत्तिकार ने आर्यमार्ग का अर्थ—जैनेन्द्र शासन में प्रतिपादित मोक्षमार्ग किया है।' चूर्णिकार ने बौद्ध मत में सम्मत आर्यमार्ग का ग्रहण किया है।'

६७. उससे परम समाधि (प्राप्त होती है) (परमं च समाहियं)

वृत्तिकार ने 'परम च समाधि' से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य समाधि का ग्रहण किया है।' चूर्णिकार ने बौद्धों के अनुसार मन समाधि को परम माना है।'

श्लोक ६७ :

६८. लोह-वणिक् की भांति (अयोहारि ऋ)

कुछ व्यक्ति व्यापार करने के लिए देशान्तर के लिए प्रस्थित हुए। जाते-जाते एक महान् अटवी आई। वहाँ उन्हें एक लोह की खान मिली। सबने लोह लिया और आगे चल पड़े। कुछ दूर जाने पर उन्हें एक ताबे की खान मिली। सबने लोहा वहीं डालकर ताबा भर लिया, किन्तु एक व्यक्ति ने लोहे को छोड़ ताबे को लेने से इन्कार कर दिया। बहुत समझाने पर भी वह नहीं माना। सब आगे चले। कुछ ही दूरी पर चादी की खान आ गई। सबने ताबे तो छोड़कर चादी भर ली, किन्तु लोहभार वाले ने लोहा ही रखा। आगे सोने की खान आई। सबने चादी का भार वहीं छोड़कर सोने को भर लिया। आगे रत्नों की खान पर सबने रत्न भर लिए और सोना छोड़ दिया। उस लोहभार वाले ने लोहा ही रखा और अपनी दृढ़ता पर प्रसन्नता का अनुभव करने लगा।

मग अपने-अपने घर पहुँचे। रत्नों के भरने वाले जीवन भर सुखी हो गए और लोहभार वाला जीवन भर निर्धनता का जीवन बिताता हुआ दुःख और परचात्ताप करता रहा।'

६९. श्लोक ६७ :

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या पहले बौद्ध सिद्धान्तपरक और बाद में जैन सिद्धान्तपरक की है।

देखें— चूर्णि पृष्ठ ६६, ६७।

१. मज्झिम निकाय १४।२।६-८ राहुल साङ्ख्ययाण का अनुवाद, दर्शन विन्दर्शन पृ० ४२६, ४२७।

२. वृत्ति, पत्र ६७ : आर्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गः।

३. चूर्णि, पृ० ६६ : तेनास्मदीयार्थमार्गेण।

४. वृत्ति, पत्र ६५ : 'परमं च समाधि' ज्ञानदर्शनचारित्र्यात्मकम्।

५. चूर्णि, पृ० ६६ : मनःसमाधिः परमा।

६. राधयसेचइय ७४४।

श्लोक ६८ :

१००. श्लोक ६८ :

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य है कि शाक्य आदि श्रमण 'सार्त' सातेण विज्जई'—इस मिद्धान्त को मानते हुए पचन-पाचन आदि क्रियाओं में संलग्न रहते हैं। पचन-पाचन आदि सावद्य अनुष्ठानों से प्राणानिपात का सेवन करते हैं। जिन जीवों के शरीर का उपयोग किया जाता है, उनका ग्रहण उनके स्वामी की आज्ञा के बिना होता है, अतः अदत्तादान का आचरण होता है। गाय, बैस, बकरी, ऊँट आदि को रखने और उनकी वृद्धि करने के कारण मैथुन का अनुमोदन होता है। हम प्रव्रजित हैं—ऐसा कहते हुए भी गृहस्थोचित अनुष्ठान में संलग्न रहते हैं, अतः मृषावाद का सेवन होता है तथा धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि रखने के कारण परिग्रह का प्रसंग आता है।'

श्लोक ६९ :

१०१. कुछ अनार्य (एगे)

चूर्णिकार ने इसके द्वारा शाक्य तथा उन्मी प्रकार के अन्य दार्शनिकों का ग्रहण किया है।'

वृत्तिकार ने इस शब्द के माध्यम से विशेष बौद्ध तथा नीलपट धारण करने वाले और नाथवादिक मठल में प्रविष्ट शैव विशेष का ग्रहण किया है।'

१०२. पार्श्वस्थ (पासस्था)

यहां चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अहिंसा आदि गुणों तथा ज्ञान-दर्शन से दूर रहने वाला किया है।'

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. सद् अनुष्ठान से दूर रहने वाला।

२. जैन परंपरा के शिथिल साधु—पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील आदि जो स्त्री परीषह से पराजित हैं।

यह शब्द इसी अध्ययन के ७३ वें श्लोक में भी आया है। वहां वृत्तिकार ने इस पद से नाथवादिक मठलचारियों का ग्रहण किया है।'

विशेष विवरण के लिए देखें—१।३२ का टिप्पण।

श्लोक ७० :

१०३. स्त्री का परिभोग कर (विण्णवणितीयु)

इसमें दो शब्द हैं—विण्णवणा और इत्थीमु। चूर्णिकार ने विज्ञापना का अर्थ परिभोग, आसेवना किया है। पूरे पद का अर्थ होगा—स्त्री का परिभोग।'

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'स्त्रीविज्ञापनाया' किया है और इसका अर्थ 'युवती की प्रार्थना में' किया है।'

हमने चूर्णिकार का अर्थ स्वीकार किया है।

१. (क) चूर्ण, पृ० ६७।

(ख) वृत्ति, पत्र ६८।

२. चूर्ण, पृ० ६७ : एते इति एते शाक्याः अन्ये च तद्विधाः।

३. वृत्ति, पत्र ६८ : एके इति बौद्धविशेषा नीलपटावधौ नाथवादिकमठलप्रविष्टा वा शैवविशेषाः।

४. चूर्ण, पृ० ६७ : पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, केवाम् ?—अहिंसादीनां गुणानां जाणादीनां सम्महंसणस्स वा।

५. वृत्ति, पत्र ६८ : पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः स्वयूष्या वा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादयः स्त्रीपरीषहपराजिताः।

६. वृत्ति, पत्र ६९ : सवनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था नाथवादिकमठलचारिणः।

७. चूर्ण, पृ० ६७ : विज्ञापना नाम परिभोगः.....आसेवना।

८. वृत्ति, पत्र ६८ : स्त्रीविज्ञापनाया युवतिप्रार्थनायाम्।

श्लोक ७१ :

१०४. गुदला किए बिना (विमियं)

इसका अर्थ है—हिलाए बिना । मेंढा घुटने के जल पर बैठकर गोष्पद में स्थित थोड़े से जल को भी बिना हिलाए-डुलाए, बिना गुदला किए, पी लेता है ।^१

१०५. पिंग (पिंग)

इसका अर्थ है—कपिञ्जल पक्षिणी ।

पिंग पक्षिणी आकाश में उड़ते-उड़ते नीचे उड़ान भरती है और तालाब आदि से चोच में पानी भर पी लेती है । वह अपने शरीर से न पानी को छूती है और न उस पानी को हिलाती-डुलाती है ।^२

१०६. श्लोक ७०-७२ :

इन तीन श्लोको में स्त्री-परिभोग का तीन दृष्टिकोणों से समर्थन किया गया है—

१. स्त्री-परिभोग गाठ या फोड़े को दबाकर मवाद निकालने जैसा निर्दोष है ।^३
२. स्त्री-परिभोग मेंढे के जल पीने की क्रिया की तरह निर्दोष है । इसमें दूसरे को पीड़ा नहीं होती और स्वयं को भी सुख की अनुभूति होती है ।
३. स्त्री-परिभोग कपिञ्जल पक्षिणी के उदकपान की तरह है । पुरुष राग-द्वेष से मुक्त होकर, पुत्र की प्राप्ति के लिए, ऋतुकाल में शास्त्रोक्त विधि से मैथुन सेवन करता है तो उसमें दोष नहीं है । कपिञ्जल पक्षिणी आकाश से नीचे उड़ान भरकर, पानी की सतह से चोच में पानी भर प्यास मिटा लेती है । उसकी पानी पीने की इस प्रक्रिया से न पानी से उसका स्पर्श होता है और न पानी गुदला होता है ।

इस प्रकार उदासीन भाव से किए जाने वाले स्त्री मैथुन में दोष नहीं है । उपर्युक्त तीनों उदाहरणों का निरसन करते हुये निर्युक्तिकार कहते हैं—

१. जैसे कोई व्यक्ति मडलाग्र (तलवार) से किसी मनुष्य का शिर काट पराङ्मुख होकर बैठ जाए तो भी क्या वह अपराधी के रूप में पकड़ा नहीं जाएगा ?
२. कोई विष का प्याला पीकर शान्त होकर बैठ जाए और यह सोचे कि मुझे किसीने नहीं देखा, तो भी क्या वह नहीं मरेगा ?
३. कोई राजा के खजाने से रत्न चुराकर निश्चिन्त भाव से बैठ जाए, तो भी क्या वह राजपुरुषों द्वारा नहीं पकड़ा जाएगा ?

इन तीनों क्रियाओं में कोई उदासीन होकर बैठ जाए, फिर भी वह तद्-तद् विषयक परिणामों से नहीं बच सकता । सारे परिणाम उसे भुगतने ही पड़ते हैं ।

इसी प्रकार कितनी ही उदासीनता या निर्लेपता से मैथुन का सेवन क्यों न किया जाए, उसमें रागभाव अवश्यभावी है । वह निर्दोष हो ही नहीं सकता ।^४

१. (क) पूर्णि, पृ० ६८ : सो जघा उबगं अकलुसेत्तो यण्णएहि विसोद्धितुं (जिसीबितुं) गोप्पए वि जलं जघाडुआसेतो पियति ।

(ख) वृत्ति, पत्र ६८ : यथा मेघः तिमिलम् अनालोडयन्मुक्कं पिबत्यास्मान् प्रजियति, न च तथाऽप्येषां किञ्चनोपघातं विद्यते ।

२. (क) पूर्णि, पृ० ६८ : पिया पक्षिणी आगासेणऽवचरंती उबगे अभिलोपमाना अभिक्खोमयंती तज्जलं चञ्चूए पिबति ।

(ख) वृत्ति, पत्र ६६ : पिंगे ति कपिञ्जला साऽऽकाश एव वर्तमानाः तिमितं निभृतमुदकनापिबति ।

३. (क) वृत्ति, पत्र ६६ : एवमुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां हुण्डाम्बेनैव निर्युक्तिकारो गाथावयेणोत्तरदानायाह—

अहं नाम मंडलगोण शिरं सेत्तुं न कस्सइ मणुत्तो ।

अण्णेषं पराङ्मुखो किं नाम ततो न पिप्पेज्जा ? ॥५१॥

अहं वा विसमंभूतं कोईं सेत्तुं नाम तुण्णिहक्को ।

अण्णेषं अवीरसो किं नाम ततो न च मरेज्जा ! ॥५२॥

श्लोक ७३ :

१०७. भेड (पूयणा)

इसके दो अर्थ हैं—भेड़ और डाकिन ।^१ चूर्णिकार ने केवल पहला अर्थ ही स्वीकार किया है ।^२ वृत्तिकार ने डाकिन को मुख्य अर्थ माना है और वैकल्पिक अर्थ भेड़ किया है । हमने इसका अर्थ भेड़ स्वीकार किया है ।

वृत्तिकार के अनुसार 'पूयणा इव तरुण' के दो अर्थ हैं—

(१) जैसे डाकिन छोटे बच्चों में आसक्त होती है, वैसे ।

(२) जैसे गड़ुरिका अपने बच्चे में आसक्त होती है वैसे ।

चूर्णिकार ने केवल दूसरा विकल्प ही स्वीकार किया है ।^३ इस प्रसंग में एक सुन्दर कथानक चूर्ण और वृत्ति में उद्धृत है—

एक बार कुछ मनुष्यों के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि किस जाति के जीव अपने बच्चों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल होते हैं ? इसकी परीक्षा के लिए एक उपाय दूँडा गया । एक बिना पानी के कूए में सभी जाति के जीवों के बच्चे डाल दिए गए । अपने-अपने बच्चों को विरह में कुछेक पशु कूए के पास आकर बैठ गए और अपने बच्चों के शब्दों को सुन-सुनकर रोने लगे किन्तु किसी ने कूए में कूदने का साहस नहीं किया । एक भेड वहा कूए के पास आई । कूए में गिरे हुए अपने बच्चे का शब्द सुनकर वह बिना किसी उपाय की चिन्ता किए कूए में कूद पड़ी । परीक्षकों ने जान लिया कि भेड अपने बच्चे के प्रति कितनी आसक्त होती है ।

श्लोक ७४ :

१०८. परिताप करते हैं (परितप्यन्ति)

मरण-काल के प्राप्त होने पर अथवा जीवन के बीत जाने पर मनुष्य परिताप करते हैं ।^४ चूर्णिकार ने एक श्लोक के द्वारा परिताप या शोक का चित्र प्रस्तुत किया है—

‘तुलं मुष्टिभिराकाशं, तुवाणां कुट्टनं कृतम् ।
यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सर्व्वं तावत् कृतम् ।’

अहं नाम सिरिधराओ कोइ रयणाणि नाम धेनुं ।

अञ्जेल परावृत्तो किं नाम ततो न धेप्येज्जा ? ॥५३॥

(अ) चूर्ण, पृ० ६८ : चूर्णिकार ने निर्दुक्ति का उल्लेख किए बिना इन्हीं तीन गाथाओं का उल्लेख किया है ।

१. वृत्ति, पत्र ६६ : पूतना डाकिनो यविवा पूयण ति गड़ुरिका ।

२. चूर्ण, पृ० ६८ : पूयणा नाम औरणीया ।

३. वृत्ति, पत्र ६६ : यथा वा पूतना डाकिनो तरुणके स्तनगन्धेऽप्युपपन्ना ... यवि वा पूयण ति गड़ुरिका आस्मीयेऽपत्येऽप्युपपन्नाः ।

४. चूर्ण, पृ० ६८ : तस्या अतीव तण्णगे छावके स्नेहः ।

५. (क) चूर्ण, पृ० ६८ : अतो जिज्ञासुभिः कतरस्यां कतरस्यां जातो प्रियतराणि स्तन्यकानि ? सर्व्वजातीनां छावकानि अनुबन्धे कूपे प्रक्षिप्तानि । तावच्च सर्वा पशुजातयः कूपतटे स्थित्वा सञ्छावकानां शब्दं श्रुत्वा रम्भायमानास्तिष्ठन्ति, नाऽऽश्मानं कूपे मुञ्चन्ति, तत्रैकया पूतनया आत्मा मुक्तः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ६६ : यथा किल सर्व्वपशूनामपत्यादि निरवन्धे कूपेऽपत्यस्नेहवरीणां क्षिप्तानि, तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तनगन्धयः शब्दाकर्षणेऽपि कूपतटस्था वदस्यास्तिष्ठन्ति, उरसी स्वपत्यातिस्नेहेकस्मिन् अपायमनपेक्ष्य तत्रैवाश्मानं क्षिप्तवतीत्यतोऽपरपशुभ्यः स्वापत्येऽप्युपपन्नेति ।

६. वृत्ति, पत्र १०० : अने स्वापुणि जातसंवेगा पीबने नाऽपगते ‘परितप्यन्ते’ सोचन्ते पशवास्तापं विवक्षति ।

मैंने मनुष्य जन्म पाकर यदि उत्तम अर्थ के प्रति आदर प्रदर्शित नहीं किया, मेरा यह आचरण वैसा ही हुआ है जैसे मैंने मुषकों से आकाश को पीटा और तुषों का खलिहान रखने का सांग किया ।'

श्लोक ७५ :

१०६. ठीक समय पर (काले)

चूणिकार ने 'काल' का अर्थ—तारुण्य—मध्यमवय किया है। उन्होंने वैकल्पिकरूप में जिसके ध्यान, अध्ययन और तप का जो काल हो, उसका ग्रहण किया है ।'

वृत्तिकार ने 'काल' का तात्पर्य धर्माजिन करने का समय किया है। उनके अनुसार धर्माजिन करने का समय या अवस्था निश्चित नहीं होती। विवेकी व्यक्ति के लिए सभी समय और सभी अवस्थाएँ धर्माजिन के लिए उपयुक्त होती हैं। चार पुरुषार्थों में धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है और प्रधान तत्त्व का आचरण सदा उपयुक्त होता है। इसलिए अत्य, तारुण्य और बुढ़ापा—ये तीनों अवस्थाएँ इसमें गृहीत हैं ।'

११०. परिताप..... करते (परितप्यए)

यहाँ एकवचन का निर्देश छन्द की दृष्टि से हुआ है ।'

१११. जीवन की (जीवियं)

इसका अर्थ है—असंयममय जीवन। चूणिकार ने इसका अर्थ पूर्वभुक्त भोगमय असंयम जीवन किया है ।' वृत्तिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ जीवन-मरण भी किया है ।'

श्लोक ७६ :

११२. बैतरणी नदी (वेयरणी)

चूणि और वृत्ति के अनुसार इस नदी का प्रवाह अत्यन्त वेगवान् और इसके तट विषम हैं, इसीलिए इसे तरना बहुत कठिन होता है ।'

नरक की एक नदी का नाम भी बैतरणी है, किन्तु प्रस्तुत श्लोक में निर्दिष्ट यह नदी नरक की नहीं है। उड़ीसा में आज भी बैतरणी नदी उपलब्ध है। वह बाढ़ के लिए प्रसिद्ध है। उसका प्रवाह बहुत वेगवान् है और उसके तटबन्ध भी विषम हैं। अतः प्रस्तुत प्रसंग में यही बैतरणी होनी चाहिए।

आधुनिक विद्वानों ने उड़ीसा के अतिरिक्त गढ़वाल और कुश्नोत्र में भी बैतरणी नदी की खोज की है।

जातक में अनेक स्थलों पर इस नदी का उल्लेख हुआ है किन्तु बौद्ध विद्वानों ने उसको इस लोक की नदी न मानकर उसे यमलोक की नदी ही माना है ।' बौद्ध साहित्य में आठ ताप नरक माने हैं। प्रत्येक नरक के सोलह-सोलह उत्सव (यातना स्थान) हैं। चौथा उत्सव बैतरणी नदी है। इसका जल सदा उबलता रहता है। इसमें प्रज्वलित राख होती है। दोनों तीरों पर हाथ में

१. चूणि, पृ० ६८ ।

२. चूणि, पृ० ६६ : कालो नाम तारुण्यं मध्यमं वयः, यो वा यस्य कालो ध्यानस्याध्ययनस्य तपसो वा ।

३. वृत्ति, पत्र १०० : काले धर्माजिनावसरे..... धर्माजिनकालस्तु विवेकिनो प्रायशः सर्व एव, यस्मात् स एव प्रधानपुरुषार्थः, प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो घटी प्राञ्जलि, तत्तत्त्वं ये बाह्यात्प्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणाः ।

४. वृत्ति, पत्र १०० : एकवचननिर्देशस्तु सौत्रशृङ्खलान्वसत्त्वाविति ।

५. चूणि, पृ० ६६ : जीवितं पुण्यरत-पुण्यकीलितादिअसंजमजीवितं ।

६. वृत्ति, पत्र १०० : असंयमजीवितं, यद्विद्या—जीविते भरजे वा ।

७. (क) चूणि, पृष्ठ ६६ : सा हि तीक्ष्णभोतस्त्वाद् विषमतद्वराण्य बु.कमुत्तीर्यते ।

(ख) वृत्ति, पत्र १०० : बैतरणी नदीनां मध्येऽत्यन्तवेगवाहिण्यात् विषमतद्वराण्य ।

८. बुद्धकालीन भारतीय मूलोल, पृ० १३६ ।

कसि, कसि और प्राप्त किए हुए पुरुष होते हैं जो उन अपाव (नैरयिक) सत्वों को, जो उससे बाहर आना चाहते हैं, उसमें पि डकेल देते हैं। वे कभी वैतरणी के जल में मग्न होते हैं.....।

श्लोक ७७ :

११३. विकृति पैदा करने वाले (पूयणा)

पूणिकार के अनुसार अन्न, पान, वस्त्र आदि से तथा स्नान, विलेपन आदि से शरीर की पूजा करना 'पूतना' है वैकल्पिक रूप में उनका मत है कि जो धर्म से नीचे गिराए या जो चारित्र्य का हनन करे वह 'पूतना' है अर्थात् विकृति है। हमें इस वैकल्पिक अर्थ को स्वीकार किया है। वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'पूजना' कर, अर्थ काम-विभूषिता किया है।

श्लोक ७८ :

११४. झूठ बोलना छोड़े (मुसाबायं विवर्जयेज्जा)

मूलगुण की व्यवस्था में अहिंसा, सत्य, अचोयं, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह कम उपलब्ध होता है, फिर यहाँ मृषावाद के वर्जन का उपदेश क्यों दिया गया ? पूणिकार ने यह प्रश्न उपस्थित किया है और इसका उत्तर भी दिया है। उनका उत्तर बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। सत्यनिष्ठ के ही व्रत होते हैं, असत्यनिष्ठ के नहीं होते। असत्यनिष्ठ मनुष्य प्रतिज्ञा का लोप भी कर सकता है। प्रतिज्ञा का लोप होने पर कोई व्रत नहीं बचता, इसलिए सर्व प्रथम मृषावाद के वर्जन का उपदेश बहुत महत्वपूर्ण है।

श्लोक ८० :

११५. श्लोक ८० :

पूणिकार और वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर प्राणातिपात को ग्रहण किया गया है—

१. ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—इनसे क्षेत्र प्राणातिपात।

२. त्रस और स्थावर—इनसे द्रव्य प्राणातिपात।

३. सव्यव्य (सर्वत्र)—इससे काल और भाव प्राणातिपात।

प्रस्तुत श्लोक ८/१६ और ११/११ में भी है।

११६. सब अवस्थाओं में (सव्यव्य)

पूणिकार ने इसका अर्थ—सभी अवस्थाओं में^१ और वृत्तिकार ने—सर्वत्र काल में सब अवस्थाओं में—दिया है।

१. अभिन्नमंकोश, पृ० ३७४ (आचार्य नरेन्द्रदेव)

२. पूणि, पृ० १६ : पूयणा नाम वस्त्रा-ज्ज-पानादिभिः स्नाना-ज्ज-रागादिभिरथ शरीरपूजना। अथवा त एव नारीसंयोगाः पूतनाः पातयन्ति धर्मात् पातयन्ति वा चारित्र्यमिति पूतनाः, पूतीकुर्वन्मिथ्यम् ।

३. वृत्ति, पत्र १०० : पूजना कामविभूषा ।

४. पूणि, पृ० १०० : कस्मादमृषावादः पूर्वमुपदिष्टः ? न प्राणातिपातः ? इति, उच्यते, सत्यवतो हि व्रतानि भवन्ति, नासत्यवतः, अनुतिको हि प्रतिकालोपमपि कुर्यात्, प्रतिकालोपे च सति किं व्रतानामवशिष्टम् ?

५ (क) पूणि, पृ० १०० : ऊर्ध्वमवस्तिर्यगिति क्षेत्रप्राणातिपातो गृहीतः । अे केई तस्यवाचरा इति द्रव्यप्राणातिपात सर्वत्रेति प्राणातिपातवाचरथ सर्वावस्थासु ।

(ख) वृत्ति, पत्र १०१ ।

६. पूणि, पृ० १०० : सर्वत्रेति प्राणातिपातवाचरथ सर्वावस्थासु ।

७. वृत्ति, पत्र १०१ : सर्वत्र काले सर्वावस्थासु ।

११७. शान्ति है (संति)

वृत्तिकार ने शान्ति का अर्थ निर्वाण किया है। शान्ति, निर्वाण, मोक्ष और कर्मक्षय—ये एकार्थक हैं।^१ वृत्तिकार ने इसका अर्थ कर्मदाह का उपशमन किया है।^२

विरति ही शान्तिरूप निर्वाण है या विरति से शान्तिरूप निर्वाण प्राप्त होता है या जो विरत है वह स्वयं शान्तिरूप निर्वाण है।^३

यही श्लोक ८/१९ में है।

१. वृत्ति, पृ० १०० : शान्तिरेव निर्वाणम्यहवा शंतिं सि वा भोवार्थं ति वा मोक्षो ति वा कर्मक्षयो ति वा एगदृष्टं ।

२. वृत्ति, पृ० १०१ : शान्ति इति कर्मदाहोपशमः ।

३. वृत्ति, पृ० १०० विरति एव हि संतिर्बोद्धान्वाहितं, विरतीको वा विरतस्त वा संतिर्बोद्धान्वाहितं ।

चतुर्थं प्रकरणं
इत्युपरिष्ठा

चौथा अध्यायः
स्त्री-परिभाषा

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—स्त्रीपरिज्ञा । तीसरे अध्ययन में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों के प्रकार और उनको सहने के उपाय निर्दिष्ट थे । अनुकूल उपसर्गों को सहना कठिन होता है । उनमें भी स्त्रियों द्वारा उत्पादित उपसर्ग अत्यन्त दुःसह होते हैं । हर कोई व्यक्ति उनको सहने में समर्थ नहीं हो सकता । इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है—स्त्री संबंधी उपसर्गों की उत्पत्ति के कारणों का कथन और सुसमाहित मुनि द्वारा उनके निरसन के उपायों का निदर्शन ।

इसके दो उद्देशक हैं । पहले उद्देशक में ३१ और दूसरे में २२ श्लोक हैं । पहले उद्देशक में कहा गया है कि मुनि को स्त्री-सर्ग का वर्जन करना चाहिए । जो मुनि स्त्रियों के साथ परिचय करता है, उनके साथ संलाप करता है, उनके अंग-प्रत्यंग को आमक्तदृष्टि से देखता है, वह मुनि पण्डित हो जाता है, समयण्डित हो जाता है ।

दूसरे उद्देशक में कहा गया है कि जो मुनि (या गृहस्थ) स्त्रियों के बलवर्ती होते हैं वे अनेक विडम्बनाओं को प्राप्त होते हैं । किस प्रकार स्त्रियाँ उन पर अनुशासन करती हैं और दास की तरह उन्हें नानाविध कामों में व्यापृत रखती हैं—यह भी सुन्दर रूप से वर्णित है ।

वह आचार से भ्रष्ट साधु अपने वर्तमान जीवन में स्वजनो से तथा दूसरे लोगों से तिरस्कार को प्राप्त होता है और बोर कर्म-बन्धन करता है । इस कर्म-बन्धन के फल स्वरूप वह संसार-भ्रमण से छुटकारा नहीं पा सकता ।

स्त्री का विपक्ष है पुरुष । साध्वी के लिए प्रस्तुत अध्ययन को 'पुरुष परिज्ञा' के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । निर्युक्तिकार ने पुरुष के दस निक्षेप निर्दिष्ट किए हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. नाम-पुरुष—जिसकी सजा पुल्लिग हो, जैसे घट, पट आदि । अथवा जिसका नाम 'पुरुष' हो ।
२. स्थापना-पुरुष—लकड़ी या प्रस्तर से बनी प्रतिमा में किसी का आरोपण कर देना, जैसे—यह महावीर की प्रतिमा है ।
३. द्रव्य-पुरुष—धन प्रधान पुरुष, धनार्जन की अति लालसा रखने वाला पुरुष, जैसे—मम्मण सेठ ।
४. क्षेत्र-पुरुष—क्षेत्र से संबंधित होने वाला पुरुष, जैसे—सौराष्ट्रिक, मागधिक आदि ।
५. काल-पुरुष—जो जितने काल तक 'पुरुष वेद' का अनुभव करता है ।

शौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भते ! पुरुष कितने समय तक पुरुष होता है ?' भगवान् ने कहा—'शौतम ! जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः कुछ न्यून सी सागर तक ।' अथवा कोई पुरुष एक अपेक्षा से पुरुष होता है और दूसरी अपेक्षा से नपुंसक ।

६. प्रजनन-पुरुष—जिसके केवल पुरुष का विल्ल—शिशु है, किन्तु जिसमें पुस्त्व नहीं है, वह प्रजनन पुरुष है ।
७. कर्म-पुरुष—जो अत्यन्त पौरुषयुक्त कार्य करता है । वृत्तिकार ने कर्मकर-नौकर को कर्मपुरुष माना है ।
८. भोग-पुरुष—भोग प्रधान पुरुष ।

१. निर्युक्ति माथा ४६ : धामं ठवणा वविए, वेले काले य ववणणे कम्म ।

भोगे पुष्पे य जावे, वस एते पुरिसनिषेव ।

—जुलि, पृ० १०१, १०२ ।

२. जुलि, पृ० १०१ : पुरित्ते य भंते पुरित्तो लि काजतो केवचिरं होति ?

अथज्जेणं एयं समयं उवकोत्तेजं धामरसमपुहुत्तं ।

वृत्तिकार ने (वृत्ति पत्र १०३) इस प्रसंग में निम्न पाठ उद्धृत किया है—'ववा—पुरित्तेणं भंते ! पुरित्तोत्ति कालो केवचिरं होइ ? गो० अहज्जेणं एयं समयं उवकोत्तेजं ओ अम्मि काले पुरित्तो जवइ ।

३. (क) जुलि, पृ० १०२ : (अहा कोई एगम्मि पक्के पुरित्तो) एगम्मि पक्के जपुंसो ।

(ख) वृत्ति, पत्र १०३ ।

४. जुलि, पृ० १०२ : कम्मपुवत्तो नाम यो हि अतिपीडयामि कम्म्याणि करोति, ता कर्मपुरुषः ।

५. वृत्ति पत्र १०३ : कर्म—अनुष्ठानं तत्प्रधानः पुण्यः कर्मपुरुषः कर्मकरादिकः ।

६. गुण-पुरुष—पुरुष के चार गुण होते हैं—व्यायाम, विक्रम, वीर्य और सत्त्व ।^१ इन गुणों से युक्त पुरुष गुण-पुरुष कहलाता है । वृत्तिकार ने 'वीर्य' गुण के स्थान पर 'वीर्य' गुण माना है ।^२

१०. भाव-पुरुष—वर्तमान में 'पुरुष वेदनीय' कर्म को भोगने वाला ।

बल तीन प्रकार का होता है—

१. बुद्धिबल
२. शारीरिक बल
३. तपोबल

जो व्यक्ति इन बलों से युक्त होते हैं, वे भी स्त्री के वश होकर नष्ट हो जाते हैं । उनका शौर्य शून्य हो जाता है । इस प्रसंग में निर्मुक्तिकार ने तीनों बलों के तीन दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं—

- (क) अभयकुमार—बुद्धिबल का धनी ।
- (ख) चंडप्रद्योत—शारीरिक बल का धनी ।
- (ग) कूलबाल—तपोबल का धनी ।^३

अभयकुमार

महाराज चंडप्रद्योत अभयकुमार को बंदी बनाना चाहते थे । उन्होंने इस कार्य के लिए एक गणिका को चुना । गणिका ने सारी योजना बनाई और शहर की दो सुन्दर और चतुर षोडशियों को तैयार किया । वे तीनों राजगृह में आई और अपने आपको धर्मनिष्ठ श्राविकाओं के रूप में विख्यात कर दिया । प्रतिदिन मुनि-दर्शन, धर्मश्रवण तथा अन्यान्य धार्मिक क्रियाकाण्डों को करने का प्रवर्णन कर जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर दिया । अभयकुमार भी इनकी धार्मिक क्रियाओं और तत्त्वज्ञान की प्रवर्णना को देखकर आकृष्ट हुआ । एक दिन अभयकुमार ने तीनों को भोजन के लिए आमंत्रित किया । तीनों गईं । भोजन से निवृत्त होकर, धार्मिक चर्चा की और उन तीनों ने अभयकुमार को अपने निवास-स्थान पर आमंत्रित किया । उसने स्वीकार कर लिया ।

अभयकुमार ठीक समय पर उनके निवास-स्थान पर पहुँचा । तीनों ने भावभरा स्वागत किया, भोजन कराया और चन्द्रहार सुरा के मिश्रण से निष्पन्न मधुर पेय पिलाया । तत्काल अभय को नींद आने लगी । सुकोमल शय्या तैयार थी । अभय-कुमार सो गया । वह बेसुख-सा हो गया । गणिकाएँ उसे रथ में डालकर अवन्ती ले गईं । चंडप्रद्योत को सौंप गणिकाएँ अपने घर चली गईं । अभय का बुद्धिबल पराजित हो गया ।

चंडप्रद्योत

अभयकुमार चंडप्रद्योत से बचला लेना चाहता था । चंडप्रद्योत वीर था । उसको आमने-सामने लड़कर पराजित कर पाना असंभव था । अभयकुमार ने गुप्त योजना बनाई । वह बनिए का रूप बनाकर उज्जयिनी आया । दो सुन्दर गणिकाएँ साथ में थीं । बाजार में एक विशाल मकान किराए पर ले वही रहने लगा । चंडप्रद्योत उसी मार्ग से आता जाता था । उस समय वे स्त्रियाँ गवाक्ष में बैठकर हावभाव दिखाती थीं । चंडप्रद्योत उनके प्रति आकृष्ट हुआ और अपनी दासी के साथ प्रणय-प्रस्ताव भेजा । एक दो बार वह दासी निराश लौट आई । तीसरी बार गणिकाओं ने महाराज को अपने घर आने का निमन्त्रण दे दिया ।

इधर अभयकुमार ने एक व्यक्ति को अपना भाई बनाकर उसका नाम प्रद्योत रख दिया । उसे पागल का अभिनय करने का प्रशिक्षण दिया । लोगों में यह प्रचारित कर दिया कि यह पागल है और सदा कहता है कि मैं प्रद्योत राजा हूँ । मुझे जबरदस्ती पकड़ कर ले जा रहा है ।

निर्धारित दिन के अपराह्न में चंडप्रद्योत गणिका के द्वार पर आया । गणिका ने स्वागत किया । चंडप्रद्योत एक पसंग पर लेट गया । इतने में ही अभय के सुभटों ने उसे घर-दबोचा । उसे रस्ती से बांध कर चार आदमी अपने कंधों पर उठाकर बीच

१. बृति, पृ० १०२ : व्यायामो विक्रमो वीर्यं सत्त्वं च पुरुषे गुणाः ।

२. बृति, पृ० १०३ : गुणाः—व्यायामविक्रमवैर्यसत्त्वादिनाः ।

३. निरुक्ति, गाथा ५० : सुरा मो मण्वंता कइलबियाहि उवहि-नियडिप्यहानाहि ।

गहिला बु अभय-पण्डित-कूआधारादिओ बहवे ॥

४. बृति, पृ० १०३ : कबानकप्रयोपनास्तु यवाकमं अत्यन्तबुद्धिविक्रमपस्विभयापनार्थं इति ।

बाजार से ले चले। उसका मुंह ठंका हुआ था। वह चिल्ला रहा था, 'मुझे बचाओ। मैं प्रद्योत राजा हूँ। मुझे जबरबस्ती पकड़कर ले जा रहे हैं।' लोग इस चिल्लाहट को सुनने के आदी हो गए थे। किसी ने ध्यान नहीं दिया।

उसे बंदी अवस्था में लाकर अभयकुमार ने शौणिक को सौंप दिया।

कुलबाल

महाराज अजातशत्रु बैशाली के आचार्यों को खंग करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। अनेक प्रयत्नों के बावजूब भी प्रतिज्ञा सफल नहीं हो रही थी। एक व्यस्तरी ने महाराज ने कहा—राजन्। यदि मागधिका वेश्या तपस्वी कुलबाल को अपने फंदे में फंसा ले तो आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो सकती है। मागधिका वेश्या चपा मे रहती थी। महाराज अजातशत्रु ने उसे बुला भेजा और अपनी बात बताई। वेश्या ने कार्य करने की स्वीकृति दे दी।

कुलबाल तपस्वी का अता-पता किसी को ज्ञात नहीं था। गणिका ने आशिका का कपटरूप बनाया। आचार्य के पास आने जाने से उसका परिचय बढ़ा और एक दिन मधुर वाणी से आचार्य को लुभा कर तपस्वी का पता जान ही लिया।

वह तपस्वी कुलबाल अपने साप को अन्यथा करने के लिए एक नदी के किनारे कायोत्सर्ग में लीन रहता था। जब कभी आहार का संयोग होता, भोजन कर लेता, अन्यथा तपस्या करता रहता। कायोत्सर्ग और तपस्या ही उसका कर्म था।

गणिका उसी जंगल में पहुंची जहां तपस्वी तपस्या में लीन थे। उनकी सेवा-सुश्रूषा का बहाना बनाकर उसने वहीं पड़ाव डाला। मुनि को पारण के लिए निमंत्रित कर, औषधि मिश्रित गोदक बहुराए। उनको खाने से मुनि अतिसार से पीड़ित हो गए। यह देखकर मागधिका ने कहा - मुनिवर! अब मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगी। आप मेरे आहार से रोगग्रस्त हुए हैं। मैं आपको स्वस्थ करके ही यहां से हटूंगी। अब वह प्रतिदिन मुनि का वैधावृत्य, अंगमर्दन और भिन्न-भिन्न प्रकार से सेवा करने लगी। मुनि का अनुराग बढ़ता गया। दोनों का प्रेम पति-पत्नी के रूप में विकसित हुआ और मुनि अपने भार्ग से अमृत हो गए।

ये तीनों दृष्टान्त इस बात के द्योतक हैं कि स्त्री-परवशता सबको पराजित कर देती है।

वृत्तिकार ने 'सुसमत्थाऽवस्यत्था' ... [निर्युक्तिगाथा ५६] की व्याख्या के अन्तर्गत पन्द्रह श्लोकों में स्त्रियों के उन गुणों की चर्चा की है जिनके कारण वे अविश्वसनीय होती हैं।

ग्रन्थकार यहां तक कहते हैं—'गंगा के बालुकणों को गिना जा सकता है, सागर के पानी का माप हो सकता है, और हिमालय का परिमाण जाना जा सकता है, उसे तोला जा सकता है, परन्तु महिलाओं के हृदय को जान पाना विचक्षण व्यक्तियों के लिए भी असंभव है।'

निर्युक्तिकार ने अंत में यह भी प्रतिपादित किया है कि स्त्रियों के संसर्ग से जो-जो दोष पुरुषों में आपादित होते हैं, वे ही दोष पुरुषों के संसर्ग से स्त्रियों में भी आपादित होते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में उपमाओं के द्वारा समझाया गया है कि किस प्रकार स्त्रियां पुरुषों को (मुनियों को) अपने फंदे में फंसाती हैं—

१. सोहं जहा व कुणितेणं (श्लोक ८)
२. अहं तस्य पुणो जमयति, वहकारो व जेमि अशुपुष्पो (श्लोक ९)
३. बडे मि ए पासेणं (श्लोक ९)
४. जोज्जा पायसं वा विसमस्स (श्लोक १०)
५. विसलितं व कंटगं जज्जा (श्लोक ११)
६. जउकुम्भे जोइसुबगूडे (श्लोक १७)
७. जोबारमेव कुम्भेज्जा (श्लोक ३१)

प्रस्तुत अध्ययन की श्रृणि और वृत्ति में कामशास्त्र संबंधी अनेक प्राचीन श्लोक संगृहीत हैं। उनका संकलन भी बहुत

१. वृत्तिकार के अनुसार यह निर्युक्ति का उनसठवां श्लोक है और कुणिकार के अनुसार यह आठववां श्लोक है।

२. वृत्ति, पत्र १०३-१०४।

३. वृत्ति, पत्र १०४ : गंगाए बालुया सागरे जलं हिमवजो य परिमाणं।

आचंति कुञ्जिता अहिमाहिथं न आचंति ॥

४. निर्युक्ति गाथा ५६ : एते वेव व तोता पुरिषफमादे वि इस्सिणानं च।

महत्त्वपूर्ण है। उनके स्वप्न इस प्रकार हैं—

ब्रूणि, पृष्ठ : १०३, १०४-१०७, १०९, ११०, ११२, ११३, ११४, ११९-१२१ ।
वृत्ति, पत्र १०४-१२० ।

प्रस्तुत अध्ययन के दूसरे उद्देशक में प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का भी सुन्दर वर्णन हुआ है। पथच्युत मुनि से स्त्री क्या-क्या कार्य करवाती है, क्या-क्या मंगाती है और उसको पुत्र-पावन के लिए कैसे प्रेरित करती है—इनका सजीव वर्णन हुआ है। रोते बालक को शान्त करने के लिए उस मार्ग-च्युत मुनि को 'लोरी' गानी पड़ती है। ब्रूणि और वृत्तिकार ने उसका श्लोक प्रस्तुत किया है—

‘सामिधो मे अगस्त य नक्तडरस्त य,
हृत्तव्य-गिरिषट्ठ-सीहपुरस्त य ।
अणतस्त विष्णस्त य कंचिपुरस्त य,
कण्डक-आवायुह-सोरिपुरस्त य ॥’

श्लोक व्धारह में सूत्रकार ने केवल स्त्रियों में धर्मकथा करने का वर्जन किया है। ब्रूणिकार और वृत्तिकार ने इस औत्सर्गिक नियम में अपवाद का कथन भी किया है। उत्तराध्ययन सूत्र (अध्ययन १६) में भी केवल स्त्रियों में धर्मकथा करने का वर्जन मिलता है।

श्लोक भार के ‘निर्मतेति’ शब्द की व्याख्या में ब्रूणिकार और वृत्तिकार ने एक मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रगट किया है—स्त्रियाँ सधवा हों या विधवा, उनकी ऐसी मनःस्थिति है कि आसपास रहने वाले कूबड़े या अन्ध व्यक्ति से भी कामवासना की पूर्ति करने की प्रार्थना कर लेती है।^१

इसी प्रकार ‘पासाणि’ की व्याख्या में यह मनोवैज्ञानिक तथ्य उभरा है कि किसी को बांधना हो तो उसे अनुकूलता, अनुराग के पाश से बांधो। ब्रूणि और वृत्ति में इसी आशय का एक श्लोक उद्धृत हुआ है—

‘अं इच्छसि घेतुं मे पुंस्वि ते आमिसेन नेच्छाहि ।
आमिसपासनिबद्धो काही कञ्चं अकञ्चं पि ॥’

—जिसको तुम पाना चाहते हो, उसे अनुराग से जीतो, पाने का प्रयत्न करो। अनुराग—स्नेह के पाश में बंधा हुआ व्यक्ति कार्य-अकार्य कुछ भी कर सकता है।^२

इस प्रकार इस अध्ययन में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध हैं। इनसे कामवासना के परिणाम जानकर उनसे विरत होने की प्रबल प्रेरणा जागृत होती है।

१. (क) ब्रूणि पृ० ११९ ।

(ख) वृत्ति पत्र ११९ ।

२. ब्रूणि, पृ० १०४ : ता हि समिधया सधवा विधवा वा, आसन्नगतो हि निवृद्धानिः शुभ्रोऽथोऽपि च काम्यते, किमु यो लकोविधः ?

३. ब्रूणि, पृ० १०४ । वृत्ति, पत्र १०६ ।

चउत्थं अरुभयणं : चौथा अध्यायः
इत्थीपरिष्सा : स्त्रीपरिष्सा
पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

१. जे मायरं च पियरं च
 चिण्पजहाय पुण्वसंजोगं ।
 एगे सहिए चरिस्सामि
 आरतमेहुणो बिबिसेली ।१।

२. सुहुमेणं तं परक्कम्म
 छण्णपएण इत्थीओ मंदा ।
 उवायं पि ताओ जानंति
 जह लिस्संति भिक्खुणो एगे ।२।

३. पासे मिसं णिसीयंति
 अभिक्खणं पोसवत्थं परिहति ।
 कायं जहे वि दंसंति
 बाहु मुद्धट्ठ कक्खमणुव्वजे ।३।

४. सयणासणेहि ओग्गेहि
 इत्थीओ एगया णिमंतेति ।
 एयाणि चेव से जाणे
 पासाणि विरुक्खवाणि ।४।

५. णो तासु चक्खु संघेज्जा
 णो वि य साहसं समणुजामे ।
 णो सद्धियं पि विहरेज्जा
 एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ।५।

६. आमंतिय ओसवियं वा
 भिक्खुं आयसा णिमंतेति ।
 एयाणि चेव से जाणे
 सहाणि विरुक्खवाणि ।६।

यो मातरं च पितरं च,
 विप्रहाय पूर्वसंयोगम् ।
 एकः सहितः चरिष्यामि,
 आरतमंथुनो विविक्तेषी ॥

सूक्ष्मेण त पराक्रम्य,
 छन्नपदेन स्त्रियः मन्दाः ।
 उपाय अपि ताः जानन्ति,
 यथा हिलप्यन्ते भिक्षवः एके ॥

पार्श्वे भृशं निषीदन्ति,
 अभोक्षणं पोषवस्त्रं परिदधति ।
 कायं अधोऽपि दर्शयन्ति,
 बाहुमुद्धृत्य कक्षामनुवादयन्ति ॥

शयनासनेषु योग्येषु,
 स्त्रियः एकदा निमन्त्रयन्ति ।
 एतान् चेव स जानीयात्,
 पाशान् विरूपरूपान् ॥

नो तासु चक्षुः सन्दध्यात्,
 नो अपि च साहसं समनुजानीयात् ।
 नो सार्धकं अपि विहरेत्,
 एवमात्मा सुरक्षितो भवति ॥

आमन्त्र्य उपशम्य वा,
 भिक्षुं आत्मना निमन्त्रयन्ति ।
 एतां चेव स जानीयात्,
 शब्दान् विरूपरूपान् ॥

१. ओ भिक्षु माता, पिता और पूर्व-संयोग
 को छोड़कर (संकल्प करता है—) मैं
 अकेला, आत्मस्थ और मैथुन से
 विरत होकर एकान्त में विचरूंगा ।

२. मद स्त्रियां निपुण और गूढ़ काष्ण
 वाले पदों का प्रयोग करती हुई मुनि
 के पास आती हैं । वे उस उपाय को
 भी जानती हैं जिससे कोई भिक्षु
 उनके संग में फंसता है ।

३. वे उस भिक्षु के अत्यन्त निकट बैठती
 हैं, अधोवस्त्र को बार-बार ढीला कर
 उसे बांधती हैं, शरीर के अधोभाग
 को दिखाती हैं और भुजाओं को
 ऊपर उठाकर कांख को बजाती हैं ।

४. वे स्त्रियां कालोचित शयन और
 आसन के लिए कभी उसे निमन्त्रित
 करती हैं । उस मुनि को जानना
 चाहिए कि ये (निमन्त्रण आदि) नाना
 प्रकार के उपक्रम उसके लिए बंधन
 हैं ।

५. मुनि उनसे (स्त्रियों से) आंख न
 मिलाए । उनके साहस (मैथुन-
 भावना) का अनुमोदन न करे । उनके
 साथ विहार भी न करे । इस प्रकार
 आत्मा सुरक्षित रहता है ।

६. स्त्रियां भिक्षु को आमन्त्रित कर (संकेत
 देकर) तथा उसकी आसंकाओं को
 शांत कर स्वयं सहवास का निमन्त्रण
 देती हैं । उस मुनि को जानना
 चाहिए कि ये नाना प्रकार के (निमन्त्रण रूप)
 शब्द उसके लिए बंधन
 हैं ।

७. अणवंधवेहि जेगेहि
कसुणविणीयमुन्नगसिस्ताणं ।
अहु मंजुसाई भासंति
आणवयंति भिन्नकहाहि ॥७॥

८. सीहं अहा व कुणपेणं
जिभयमेगवरं पासेणं ।
एवित्थियाओ बंधंति
संबुडमेगतिमगगारं ॥८॥

९. अह तत्प पुणो नमयंति
रथकारो व जेमि अणुपुब्बीए ।
बडो मिए व पासेणं
फवंते वि न मुच्चई ताहे ॥९॥

१०. अह सेऽणुतप्पई पच्छा
भोच्छा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवर्गमायाए
संवासो न कप्पई वविए ॥१०॥

११. तस्मा उ वज्जए इत्थी
विसलितं व कंठगं गच्छा ।
ओए कुलानि वसवत्ती
आघाए न से वि गिगंगे ॥११॥

१२. जे एयं उंछं तऽणुगिद्धा
अणयरा हु ते कुशीलानं ।
सुतवत्सिए वि से भिक्खु
ओ विहरे सहजमित्थीसु ॥१२॥

१३. अबि धयरहिं सुण्हहिं
वाईहिं अहुवा दासीहिं ।
महतीहिं वा कुमारीहिं
संबवं से न कुज्जा अणगारे ॥१३॥

मनोबन्धनः अनेकः,
करुणविनीत उपकुप्य ।
अथवा मज्जुलानि भाषन्ते,
आज्ञापयन्ति भिन्नकथाभिः ॥

सिंहं यथा वा कुणपेन,
निर्भयं एगचरं पाशेन ।
एव स्त्रियः बध्नन्ति,
संवृतं एकक अनगारम् ॥

अथ तत्र पुनः नमयन्ति,
रथकारः इव नेमि अनुपूर्व्या ।
बडो मृग इव पाशेन,
स्पन्दमानोऽपि न मुच्यते तदा ॥

अथ स अनुतपति पश्चात्,
भुक्त्वा पायस इव विषमिश्रम् ।
एव विपाकं आदाय,
सवासः न कल्पते द्रव्यस्य ॥

तस्मात् तु वर्जयेत् स्त्रिय
विषलिप्तं इव कण्ठक ज्ञात्वा ।
ओजः कुलानि वशवर्ती,
आख्याति न सोऽपि निर्गन्धः ॥

ये एतद् उच्छं तदनुगृह्याः,
अन्यतराः खलु ते कुशीलानाम् ।
सुतपस्विऽपि सः भिक्षुः,
नो विहरेत् सह स्त्रीभिः ॥

अपि दुहितृभिः स्नुषाभिः,
घात्रीभिः अथवा दासीभिः ।
महतीभिः वा कुमारीभिः,
संस्त्वं स न कुर्यात् अनगारः ॥

७. वे मन को बांधने वाले अनेक (शब्द के द्वारा) दीन भाव प्रदर्शित करती हैं विनयपूर्वक भिक्षु के समीप आन मीठी बोलती हैं" और संयम विमुख करने वाली कथा के द्वारा उसे वशवर्ती बना आज्ञापित करा है ।"

८. जैसे (सिंह को पकड़ने वाले लोग निर्भय और अकेले रहने वाले सिंह का मांस का प्रलोभन दे पिंजड़े में बांध दे हैं" वैसे ही स्त्रिया संवृत और अके भिक्षु को (शब्द आदि विषयों व प्रलोभन देकर) बांध लेती हैं ।

९. फिर वे उस भिक्षु को वैसे ही मुक्त देती हैं जैसे बड़ई क्रमशः चक्के व पुट्टी को । उस समय वह पाश से ब हुए मृग की भांति स्पन्दित होता हुआ भी बध्न से छूट नहीं पाता ।

१०. वह (स्त्री के बध्न में फसा हुआ भिक्षु) पीछे वैसे ही अनुताप करत है" जैसे विषमिश्रित खीर को खाक मनुष्य पछताता है । इस प्रकार अप-आचरण का विपाक" जानकर राग द्वेष रहित भिक्षु" स्त्री के साथ सवा न करे ।"

११. भिक्षु स्त्री को विष-बुके काटे के समा-जान कर" उसका वर्जन करे । राग द्वेष रहित" और जितेन्द्रिय भिक्षु" भी घरों में जाकर केवल स्त्रियों । धर्मकथा करता है वह भी निर्गन्ध नहीं होता (तब फिर दूसरे सामान्य भिक्षु का कहना ही क्या !)"

१२. जो भिक्षु आसक्त होकर विषयों का खोज करते हैं" वे कुशील व्यक्तियों की" श्रेणी में आते हैं । सुतपस्व भिक्षु भी स्त्रियों के साथ" न रहे ।

१३. भिक्षु बेटी, बहू, दाई अथवा दासियों," फिर वे बड़ी हों या कुमारी, के साथ" भी परिचय" न करे ।"

१४. अद्भुतं वाङ्मयं वा सुहिमं वा
अप्ययं ददुर्गु एगया होइ ।
गिह्या सत्ता कामेहि
रक्षणपोषणे मणस्सोऽसि ॥१४॥

अथवा ज्ञासीनां वा सुहृदां वा,
अप्रियं दृष्ट्वा एकदा भवति ।
शृद्धाः सक्ताः कामेषु,
रक्षणपोषणे मनुष्योऽसि ॥

१४. किसी समय स्त्री के साथ परिचय
करते हुए भिक्षु को देखकर उस
आतियों" और मित्रों में अप्रियभा
उत्पन्न होता है । (वे सोचते हैं—)
भिक्षु कामभोगों में गूढ़ हैं, आस
हैं । (फिर उस भिक्षु से कहते हैं—
'तुम ही इसके पुरुष (स्वामी) हो
इसका रक्षण और पोषण तुम
करो ।"

१५. समणं वि ददुर्वासीणं
तत्थ वि ताव एगे कुप्पन्ति ।
अबु भोज्योर्हि गत्थोर्हि
इत्थीदोससंकिणो होंति ॥१५॥

श्रमण अपि दृष्ट्वा उदासीनं,
तत्रापि तावत् एके कुप्यन्ति ।
अथ भोजनेषु न्यस्तेषु,
स्त्रीदोषशक्तिः भवन्ति ॥

१५. श्रमण को स्त्रियों के समीप बै
हुआ" देखकर भी कुछ लोग कुपित
जाते हैं । श्रमण को देने के लिए
हुए भोजन को देखकर स्त्री के प्र
दोष की शंका करने लग जाते हैं ।"

१६. कुब्बन्ति संयवं ताहि
पम्भट्टा समाहिजोगेहि ।
तम्हा समणा ण समेति
आयहियाए सण्णित्तेज्जाओ ॥१६॥

कुर्वन्ति संस्तवं ताभिः,
प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः ।
तस्मात् श्रमणाः न समायन्ति,
आत्महिताय सन्निवृत्ताः ॥

१६. समाधि योग से" भ्रष्ट श्रमण स्त्रि
के साथ परिचय करते हैं । इससे
आत्महित की दृष्टि से श्रमण गृह
की शय्या पर नहीं बैठते ।

१७. बह्वे गिहाइं अबहदु
मिस्सीमावं पत्थुया एगे ।
धुवमगमेव पवयन्ति
वायावीरियं कुसीलान् ॥१७॥

बहूनि गृहाणि अपहृत्य,
मिश्रीभाव प्रस्तुता एके ।
ध्रुवमार्गमेव प्रवदन्ति,
वाग्वीर्यं कुशीलानाम् ॥

१७. कुछेक लोग अपने-अपने घरों को छो
कर गृहस्थ और साधु—दोनों ।
जीवन जीते हैं । वे इसी को ध्रुवमार्ग
बतलाते हैं । कुशील लोग केव
वाग्वीर्य होते हैं" (कर्मवीर नहीं ।)

१८. सुद्धं रवइ परिसाए
अह रहस्सम्मि दुक्कडं कुणइ ।
जानन्ति य ण तयावेदा
माइल्ले महासठेऽयं ति ॥१८॥

शुद्धं रवति पर्षदि,
अथ रहस्ये दुष्कृतं करोति ।
जानन्ति च त तयावेदाः,
मायावी महाशठोऽयं इति ॥

१८. कुशील मनुष्य परिषद् में अपने आप
शुद्ध" बतलाता है और एकान्त में प
करता है । यथार्थ को जानने वाले
जान लेते हैं —" यह मायावी
महाशठ है ।"

१९. सयं दुक्कडं ण वयइ
आइट्ठो वि पक्कथइ बाले ।
वेयाणुवीइ मा कासी
चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥१९॥

स्वयं दुष्कृतं न वदति,
आदिष्टोऽपि प्रकल्पते बालः ।
वेदानुवीचि मा कार्षीः,
चोद्यमानो ग्लायति स भूयः ॥

१९. यह स्वयं अपना दुष्कृत नहीं ब
लाता । कोई उसे (प्रसाद न करने
लिए) प्रेरित करता है" तब व
अपनी प्रशंसा करने लग जाता है ।
'मैथुन की कामना" मत करो—य
कहने पर वह बहुत खिन्न होता है ।

२०. उतिमा वि इत्थिपोसेसु
पुरिता इत्थिवेयवेसणा ।
पण्णासमणिया वेतो
पारीणं वसं उपकसन्ति ॥२०॥

उषिता अपि स्त्रीपोषेषु,
पुरुषाः स्त्रीवेदक्षेत्रज्ञाः ।
प्रज्ञासमन्विता वा एके,
नारीणां वशं उपकषन्ति ।

२०. कुछ पुरुष स्त्री का सहवास कर चु
हैं, स्त्रियों के हावभाव" जानने
निपुण हैं, प्रज्ञा से समन्वित हैं, फि
भी वे स्त्रियों के वशीभूत हो जा
हैं ।"

२१. अपि हस्तपादच्छेदाय
अनुवा यर्धमांसः उत्कृत्तः ।
अपि तेजसा अभितापमानि,
तष्ट्वा आरसेवनानि च ॥२१॥

अपि हस्तपादच्छेदाय,
अथवा यर्धमांसः उत्कृत्तः ।
अपि तेजसा अभितापमानि,
तष्ट्वा आरसेवनानि च ॥

२१. अभिचारी मनुष्यों के हाथ-पैर काटे जाते हैं, चमड़ी छीली जाती है और मांस निकाला जाता है। उन्हें आग में जलाया जाता है। उनके शरीर को काटकर नमक छिड़का जाता है।

२२. अथ कर्णनासिकाच्छेदं -
कण्ठच्छेदनं तितिक्षन्ते ।
इति अत्र पापसतप्ताः,
न च ब्रुवन्ति पुनर्न करिष्यामः ।

अथ कर्णनासिकाच्छेदं -
कण्ठच्छेदनं तितिक्षन्ते ।
इति अत्र पापसतप्ताः,
न च ब्रुवन्ति पुनर्न करिष्यामः ।

२२. अथवा उनके नाक-कान काटे जाते हैं, कंठ-छेदन किया जाता है। वे इन सब कष्टों को सहते हैं। इस प्रकार पाप (परवारगमन)^{१०} से सतप्त होने पर भी वे नहीं कहते—हम फिर ऐसा काम नहीं करेंगे।^{११}

२३. सुयमेवमेकमेवेति
इत्थीवेदे वि ह सुयश्वायं ।
एवं पि ता बहुलां
अनुवा कम्मुणा अबकर्तेति ॥२३॥

श्रुतं एतद् एवं एकेषां,
स्त्रीवेदेऽपि खलु स्वाभ्यातम् ।
एतद् अपि तावत् उक्त्वा,
अथवा कर्मणा अपकुर्वन्ति ॥

२३. (लोकधृति) में सुना गया है और स्त्री-वेद (कामशास्त्र)^{१२} में भी कहा गया है कि स्त्री किसी बात को वाणी से स्वीकार करती है किन्तु कर्म से उसका पालन नहीं करती (यह उसका स्वभाव है)।^{१३}

२४. अर्णं मनेज चिन्तेति
अर्णं वायाए कम्मुणा अर्णं ।
तस्मात् न श्रद्दधीत भिक्षुः,
बहुमायाश्चो इत्यिषो मन्त्रा ॥२४॥

अन्यद् मनसा चिन्तयन्ति,
अन्यद् वाचा कर्मणा अन्यत् ।
तस्मात् न श्रद्दधीत भिक्षुः,
बहुमायाः स्त्रियः ज्ञात्वा ॥

२४. वह मन से कुछ और ही सोचती है, वचन से कुछ और ही कहती है तथा कर्म से कुछ और ही करती है। इसलिए भिक्षु स्त्रियों की बहुमायाविनी जान, उन पर विश्वास न करे।^{१४}

२५. युवती समर्ण ब्रूया
चित्रवस्त्रालंकारविभूषिता ।
विरता चरिस्सहं रुक्मं
अम्माइक्ख ने भयंतारो ॥२५॥

युवतिः श्रमणं ब्रूयात्,
चित्रवस्त्रालंकार - विभूषिता ।
विरता चरिष्यामि रुक्मं,
धर्म आचक्ष्व नः भदन्त ! ॥

२५. विचित्र वस्त्र और आभूषण से विभूषित स्त्री श्रमण से कहती है—भदन्त ! मुझे धर्म का उपदेश दें। मैं विरत हूँ, सयम का पालन करूंगी।

२६. अथ सावित्रापवाएणं
अहं साहम्मिणी य तुभं ति ।
अउकुम्भे अहा उवज्जोई
संवासे विज्ज विसीवेज्जा ॥२६॥

अथ श्राविकाप्रवादेन,
अहं साधर्मिणी च युष्माक इति ।
अउकुम्भो यथा उपज्योतिः,
संवासे विद्वान् विषीदेत् ॥

२६. अथवा श्राविका होने के बहाने वह कहती है—मैं तुम्हारी साधर्मिकी (समान-धर्म को मानने वाली) हूँ। किन्तु मुनि इन बातों में न फसे। विद्वान् मनुष्य भी आग के पास रहे हुए लाख के घड़े की भांति स्त्री के संवास से विषाद को प्राप्त होता है।

२७. अउकुम्भे जोइसुवगूठे
आमुभितसे नासमुपयाइ ।
एवित्थियार्हं अजगारा
संवासेन नासमुपयन्ति ॥२७॥

अउकुम्भो ज्योतिषोपगूठः,
आधु अभितप्तो नासमुपयाति ।
एवं स्त्रीभिः अनगाराः,
संवासेन नासमुपयन्ति ॥

२७. आग से लिपटा हुआ लाख का घड़ा भीष्म ही तप्त होकर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार अनगार स्त्रियों के संवास से नष्ट हो जाते हैं।

२८. कुर्वन्ति पापकं कर्म
पुनः केविकमार्तुषु ।
नाहं करोमि पापं ति
अंकेसायिनी मर्मणा इति ॥

कुर्वन्ति पापकं कर्म,
पुष्टाः वा एके एवमाहुः ।
नाहं करोमि पापं इति,
अंकेसायिनी मर्मणा इति ॥

२८. कुछ भिक्षु पाप-कर्म (अब्रह्मचर्य-सेवन) करते हैं और पूछने पर कहते हैं— मैं पाप (अब्रह्मचर्य-सेवन) नहीं करता ।^{१०} यह स्त्री (ब्रह्मपन से ही) मेरी गोद में सोती रही है ।

२९. बालस्य मन्दं वीर्यं
अं च कष्टं अवधानार्थं मुञ्चो ।
कुपुणं करोह से पापं
पूयणकामो विसम्पेसी ॥२९॥

बालस्य मान्द्यं द्वितीयं,
अच्छ कृतं अपजानाति भूयः ।
द्विगुणं करोति स पापं,
पूजनकामः विषण्णधी ॥

२९. बूढ़ की यह दूसरी मंदता है^{११} कि वह किए हुए पाप को नकारता है । वह पूजा का इच्छुक^{१२} और असंयम का आकांक्षी^{१३} होकर बूना पाप करता है ।

३०. संलोकनिष्पन्नमगारं
आवगयं विमन्त्रणेनाहं सु ।
वत्स्यं वा ताव । पापं वा
अन्नं पाजगं पडिग्गाहे ॥३०॥

संलोकनीयं अनगारं,
आत्मगतं निमन्त्रणेन आहुः ।
वस्त्रं वा तायिन् ! पात्र वा,
अन्नं पानकं प्रतिगृह्णीयाः ॥

३०. (अपनी सुन्दरता के कारण) दर्शनीय और आत्मस्थ अनगार को वह निमन्त्रण की भाषा में कहती है—हे तायिन् ! आप वस्त्र, पात्र और अन्न-पान को (मेरे घर से) स्वीकार करें ।

३१. नीवारमेवं बुभुक्षेज्जा
जो इच्छे अगारमागतुं ।
बद्धे विसयपासेहि
मोहमावसज्जह पुणो मंहे ॥३१॥

नीवारमेव बुभ्येत,
नो इच्छेत् अगारमागन्तुम् ।
बद्धो विषयपाशैः,
मोहं आपद्यते पुनर्मन्यः ॥

३१. भिक्षु इसे नीवार^{१४} ही समझे । उनके घर जाने की इच्छा न करे । जो विषय-पाश से बद्ध हो जाता है वह मंद मनुष्य फिर मोह में^{१५} फँस जाता है ।

—ति वेदि ॥

—इति इवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

वीथो उद्देसो : दूसरा उद्देशक

३२. ओए सया न रज्जेज्जा
भोगकामी पुनो विरज्जेज्जा ।
भोगे सममाण सुणेहा
अहं भुञ्जति भिक्षुणो एने ॥१॥

ओजः सदा न रज्येत,
भोगकामी पुनः विरज्येत ।
भोगान् अमणानां शृणुत,
यथा भुञ्जते भिक्षवः एके ॥

३२. राग-द्वेष से मुक्त^{१६} होकर अकेला रहने वाला भिक्षु कामभोग में कभी आसक्त न बने । भोग की कामना उत्पन्न हो गई हो तो उससे फिर विरक्त हो जाए । कुछ अमण-भिक्षु जैसे भोग भोगते हैं, उनके भोगों को तुम सुनो ।

३३. अहं तं तु मेयमावणं
मुच्छिद्यं भिक्षुं काममद्वहं ।
परिनिवियाण तो पच्छा
पादुददु मुदि पहणति ॥२॥

अथ तं तु मेदमापन्नं,
मुच्छिद्यं भिक्षुं काममतिवृत्तम् ।
परिमिद्य ततः पश्चात्,
पादो उद्धृत्य मूर्ध्नि प्रहन्ति ॥

३३. चारित्र से भ्रष्ट,^{१७} मूर्छित और कामासक्त^{१८} भिक्षु को बश में^{१९} करने के बाद स्त्री उसके सिर पर पैर से प्रहार करती है ।

३४. अहं केसियाए मए भिक्षु ।
जो बिहरे सहजमिस्सीए ।
केसे बि अहं सुंविस्सं
अणत्थ मए चरेज्जासि ॥३॥

यदि केशिकया मया भिक्षो !,
नो बिहरेः सार्धं स्त्रिया ।
केशानपि अहं सुञ्चिष्यामि,
मान्यत्र मया चरेः ॥

३४- (भिक्षु को बश में करने के लिए कोई स्त्री कहती है—) मैं केश रखती हूँ । भिक्षु ! यदि तुम मेरे साथ विहार करना नहीं चाहते तो मैं केशजुनन करा लूंगी । तुम मुझे छोड़ अन्यत्र मत जाओ ।

३५. अहं च से होहं चकलडे
लो येलेति तहासुपहि ।
अमाउच्छेदं पेहेहि
वगुफलाहं आहराहि ति । ४।

३६. दाक्षिण सागपागाए
पञ्चोओ वा भविस्सई राओ ।
पायाणि च मे रयावेहि
एहि च ता मे वड्ढि उम्भहे । ५।

३७. वस्त्राणि च मे पडिसेहेहि
अन्नं पाणमाहराहि ति ।
गंधं च रओहरणं च
कासवणं च समनुजानीहि । ६।

३८. अहु अंजणि अलंकारं
कुक्कययं मे पयच्छाहि ।
ओछं च लोछकुसुमं च
वेणुपलासियं च गुलियं च । ७।

३९. कोट्ठं तगरं अगवं च
संपिट्ठं सह उशीरेणं ।
तेल्लं मुहे भिलिगाय
वेणुफलाहं सन्निहायाए । ८।

४०. गंधीचूर्णगाहं पाहराहि
छत्तोबाहणं च जानाहि ।
सत्थं च सुवच्छेयाए
आणीलं च वत्थं रावेहि । ९।

४१. सुफणि च सागपागाए
आमलगाहं वगाहरणं च ।
तिलककरणि अंजनसलागं
चिसु मे विधुवणं विजानीहि । १०।

४२. संदशकं च फणिहं च
सीहलिपासगं च आणाहि ।
आयंसगं च पयच्छाहि
दंतपवखालणं पवेसेहि । ११।

४३. पूयफलं तंबोलं च
सूई-सुत्तगं च जानाहि ।
कोसं च सोयमेहाए
सुपुक्कल-मुसल-आरगलणं च । १२।

अथ सः भवति उपलब्धः,
ततः प्रेषयन्ति तथानूतः ।
अलाकुच्छेदं प्रेषस्व,
वल्गुफलानि आहर इति ॥

दाक्षिण साकपाकाय,
प्रचोतो वा भविष्यति रात्रौ ।
पादौ च मे रञ्जय,
एहि च तावत् मे पुष्टिं उन्मर्दय ॥

वस्त्राणि च मे प्रतिलिख
अन्नं पानं आहर इति ।
गन्धं च रजोहरणं च,
काश्यपं च समनुजानीहि ॥

अथ अञ्जनीं अलंकारं,
'कुक्कयय' मे प्रयच्छ ।
लोघं च लोघकुसुमं च,
'वेणुपलासियं' च गुटिकां च ॥

कोष्ठं तगरं अगवं च,
संपुष्टं सह उशीरेण ।
तेलं मुखे 'भिलिगाय',
वेणुफलानि सन्निधानाय ॥

नन्दीचूर्णकानि प्राहर,
छत्रोपानहं च जानीहि ।
शस्त्रं च सुपच्छेदाय,
आनीलं च वस्त्रं रञ्जय ॥

'सुफणि' च शाकपाकाय,
आमलकानि दकाहरणं च ।
तिलककरणी अंजनशलाकां,
श्रीष्मे मे विधुवनं विजानीहि ॥

संदशकं च 'फणिहं' च,
'सीहलिपासगं' च आनय ।
आदर्शकं च प्रयच्छ,
दन्तप्रखालनं प्रवेशय ॥

पूयफलं ताम्बूलं च,
सूचि-सूत्रकं च जानीहि ।
कोशं च 'मोयमेहाय',
सुपोद्बलमसलकारगालनकञ्च ॥

३५. जब वह भिक्षु पकड़ में आ जाता है^१
तब उससे नोकर का^२ काम कराती
है— कद्दू काटने के लिए चाकू ला ।
अच्छे फल^३ ला ।

३६. शाकभाजी पकाने के लिए लकड़ी
ला । उससे रात को प्रकाश भी हो
जाएगा ।^४ मेरे पैर रखा ।^५ आ, मेरी
पीठ मन दे ।^६

३७. मेरे वस्त्रों को देख (ये फट गए हैं,
नए वस्त्र ला) ।^७ अन्न-पान ले आ ।
सुगंध चूर्ण और कूची ला । बाल
काटने के लिए नार्ड को बुला ।

३८. अंजनदानी,^८ आभूषण^९ और तुब-
बीणा^{१०} ला । लोघ, लोघ के फूल,
बासुरी^{११} और (औषध की) गुटिका^{१२}
ला ।

३९. कूठ,^{१३} तगर,^{१४} अगर,^{१५} खस के^{१६} साथ
पीसा हुआ चूर्ण, मुंह पर मलने के
लिए^{१७} तेल तथा वस्त्र आदि रखने
के लिए बांस की पिटारी^{१८} ला ।

४०. (होठों को मुलायम करने के लिए)
नदी चूर्ण,^{१९} छत्ता और गूने ला ।
भाजी^{२०} छीलने के लिए छुरी ला ।
वस्त्र को हल्के नीले रंग से रंगा दे ।^{२१}

४१. शाक पकाने के लिए तपेली,^{२२}
आबले,^{२३} कलश, निजककरनी,^{२४}
अंजनशलाका^{२५} तथा गरमी के लिए
पखा ला ।

४२. (नाक के केशों को उखाड़ने के लिए)
संदशक,^{२६} कषी^{२७} और केश-कंकण^{२८}
ला । दर्पण दे और दंतवन^{२९} ला ।

४३. सुपारी,^{३०} पान, सूई, घागा, सूत्र के
लिए पात्र,^{३१} सूप, ओखली, मुसल
और सज्जी चलाने का बर्तन ला ।

४४. संवासयं च करणं च
बन्धधरणं च आउसो ! जगहि ।
सरपायगं च आयाए
गोरह्यं च सामवेराए । १३।

४५. अडिगं सह डिडिमएणं
चेन्नगोलं कुमारभूयाए ।
वासं इममभिभावणं
आवसहं जायाहि भत्ता ! । १४।

४६. आसंदिगं च नवसुसं
पाउल्लाई संक्रमद्वाए ।
अहु पुत्तदोहलद्वाए
आणप्पा हवन्ति दासा वा । १५।

४७. जाए फले समुप्पणे
गेहसु वा णं अहवा जहाहि ।
अह पुत्तपोसिणो एगे
भारवहा हवन्ति उट्टा वा । १६।

४८. रामो वि उट्टिया संता
वारगं संठवेति धाई वा ।
सुहिरोमणा वि ते संता
वत्थधुवा हवन्ति हंसा वा । १७।

४९. एवं बहुहि कयपुक्खं
भोगत्थाए जेऽभियावण्णा ।
वासे मिए व पेस्से वा
पसुभूए व से ण वा केई । १८।

५०. एवं खु तासु विज्जाप्यं
संयवं संवासं च जएज्जा ।
तज्जातिथा इमे कामा
जज्जकरा व एव मवत्ताया । १९।

‘वंदासयं’ च करकं च,
वर्धेगुहं च आयुष्मन् ! ज्ञान ।
सरपातकं च जाताय,
गोरथकं च आमणेराय ॥

घटिकां सह डिण्डिमयेन,
चेन्नगोलं कुमारभूताय ।
वर्षा इयं अम्यापन्ता,
आवसथं जानीहि भर्तः ! ॥

आसन्दिकां च नवसूत्रां,
‘पाउल्लाई’ संक्रमार्थम् ।
अथ पुत्रदोहदार्थं,
आज्ञाप्याः भवन्ति दासा इव ॥

जाते फले समुत्पन्ने,
गृहाण वा अथवा जहाहि ।
अथ पुत्रपोषिणः एके,
भारवहा भवन्ति उष्ट्रा इव ॥

रात्रावपि उत्थिताः सन्तः,
दारकं सस्थापयन्ति धात्री इव ।
सुह्रीमनसोऽपि ते सन्तः,
वस्त्रधाविनो भवन्ति हंसा इव ॥

एवं बहुभिः कृतपूर्वं,
भोगार्थाय ये अभ्यापन्ताः ।
दासः मृग इव प्रेक्ष्य इव,
पशुभूत इव स न वा कश्चित् ॥

एवं खलु तासु विज्ञाप्यं,
सस्तवं संवासं च त्यजेत् ।
तज्जातिका इमे कामाः,
वर्ज्यकराश्च एवं आख्याताः ॥

४४. आयुष्माव ! पूजा-पात्र^{१३} और लघु
पात्र^{१४} ला । संडास के लिए गढा खोद
दे ।^{१५} पुत्र के लिए धनुष्य^{१६} और
आमणेर (अमण-पुत्र) के लिए^{१७} तीन
वर्ष का बैल^{१८} ले आ ।

४५. बच्चे के लिए^{१९} घंटा,^{२०} डमरू^{२१}
और कपड़े की नेंद^{२२} ला । हे भर्ता !
वर्षा शिर पर मड़रा रही है, इसलिए
घर की ठीक व्यवस्था कर ।^{२३}

४६. नई सुतली की लटिया^{२४} और चलने
के लिए काष्ठ-पादुका^{२५} ला । तथा
गर्भकाल में स्त्रियां अपने दोहद
(लालसा) की पूर्ति के लिए अपने
प्रियतम पर दास की भांति शासन
करती हैं ।^{२६}

४७. पुत्र रूपी फल के उत्पन्न होने पर^{२७}
(वह कहती है) इसे (पुत्र को) ले
अथवा छोड़ दे ।^{२८} (स्त्री के अधीन
होने वाले) कुछ पुरुष पुत्र के पोषण में
लग जाते हैं और वे ऊंट की भांति
भारवाही हो जाते हैं ।

४८. वे रात में भी उठकर (रोते हुए)
बच्चे को धाई की भांति लोरी गाकर
सुला देते हैं ।^{२९} वे लाजयुक्त मन वाले
होते हुए भी धोबी^{३०} की भांति (स्त्री
और बच्चे के) वस्त्रों को धोते हैं ।

४९. बहुओं ने पहले ऐसा किया है । जो
कामभोग के लिए भ्रष्ट हुए हैं वे दास
की भांति समर्पित, मृग की भांति
परवश, प्रेक्ष्य की भांति कार्य में
व्यापृत^{३१} और पशु की भांति भार-
वाही^{३२} होते हैं । वे अपने आप में
कुछ भी नहीं रहते ।^{३३}

५०. इस प्रकार स्त्रियों के विषय में जो
कहा गया है (उन दोषों को जानकर)
उनके साथ परिचय^{३४} और संवास
का^{३५} अस्वित्याग करे । ये काम-भोग
सेवन करने से बढ़ते हैं ।^{३६} तीर्थंकरों
ने उन्हें कर्म-बन्धन कारक^{३७} बतलाया
है ।

५१. एवं भयं न सेवय
इह से अय्ययं निरुजिस्ता ।
नो हस्तिनो पशुं भिक्षुः
नो स्वयं पाणिना निलीयेत् ॥ २० ॥

एवं भयं न श्रेयसे,
इति स आत्मकं निरुध्य ।
नो स्त्रियं नो पशुं भिक्षुः,
नो स्वयं पाणिना निलीयेत् ॥

५१. ये कामभोग भय उत्पन्न करते हैं
ये कल्याणकारी नहीं हैं । यह कामका
भिक्षु मन का निरोध करे—कामभोग
से अपने को बचाए ।" वह स्त्रियं
और पशुओं से बचे तथा अपने गुप्तांग
को हाथ से न छुए ।"

५२. सुविमुक्तसे मेधावी
परकिरियं च वर्जयेत् ज्ञानी ।
मनसा वाचा कायेण
सर्वस्पर्शसहं अनगारः ॥ २१ ॥

सुविमुक्तलेख्यः मेधावी,
परक्रियां च वर्जयेत् ज्ञानी ।
मनसा वाचा कायेण,
सर्वस्पर्शसहः अनगारः ॥

५२. शुद्ध अन्तःकरण वाला" मेधावी
ज्ञानी भिक्षु परक्रिया न करे—स्त्री के
पैर आदि न दबाए ।" वह अनिकेत
भिक्षु मन, वचन और काया से सब
स्पर्शों (कष्टों) को सहन करे ।

५३. इत्येवमाहुः से वीरे
धुतरजाः धुतमोहः स भिक्षुः ।
तस्मात् अध्यात्मविमुक्तः
सुविमुक्तः आमोक्षाय परिरज्जेत् ॥ २२ ॥

इत्येवं आहुः स वीरः,
धुतरजाः धुतमोहः स भिक्षुः ।
तस्मात् अध्यात्मविमुक्तः,
सुविमुक्तः आमोक्षाय परिरज्जेत् ॥

५३. भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—
जो राग और मोह को धुन डालता ।
वह भिक्षु होता है । इसलिए वह धुः
अन्तःकरण वाला" भिक्षु काम-बाध
से मुक्त होकर बन्धन-मुक्ति के लिए
परिरज्जन करे ।

—ति वेति ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ

टिप्पण : अध्यायन ४

श्लोक १ :

१. पूर्व संयोग को (पुत्रसंयोगं)

चूणिकार ने इसके अर्थ निम्न प्रकार से किए हैं—

१. गृहसंयोग ।
२. भार्या, श्वसुर, पुत्र, धेवते आदि से होने वाला पश्चात् संबंध ।
३. सारे संबंध—पहले के या बाद के ।
४. द्रव्य से पूर्व-संयोग—स्वजन संस्तव या नो-स्वजन संस्तव ।
५. भाव से पूर्व-संयोग—मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान आदि ।

वृत्तिकार ने माता, पिता, भाई, पुत्र आदि के संबंध को पूर्व संयोग और सास-ससुर आदि के संबंध को पश्चात् संयोग माना है । यहाँ दोनों प्रकार के संयोग गृहीत हैं ।^१

२. अकेला (एगे)

इसका अर्थ है—अकेला । अकेला वह होता है जो माता-पिता आदि स्वजनों की आसक्ति को अथवा कषायों को छोड़ देता है ।^१

३. आत्मस्थ (सहिए)

देखें—२।४२ का टिप्पण ।

४. एकान्त में विविक्षुंगा (विविक्तेसी)

चूणिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं—

१. द्रव्य से विविक्षु का अर्थ है—शून्यागार-स्त्री पशु से वर्जित स्थान ।
२. भाव से विविक्षु का अर्थ है—काम के सकल्प का वर्जन ।
३. साधुओं के मार्ग की एषणा करने वाला ।
४. कर्म से विविक्षु अर्थात् मोक्ष की एषणा करने वाला ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—ऐसा स्थान जो समयचर्या का अवरोधक न हो—किया है ।^१

१. चूजि, पृ० १०३ : पूर्वसंयोगो गृहसंयोगः, अथवा जातः सन् योः सह पश्चात् संपुण्यते स संयोगः, स तु भार्या-श्वसुर-पुत्र-बुहित्रादि, अथवा सर्व एव पूर्वापरसहसम्बन्धः पूर्वसंयोगो भवति । अथवा द्रव्य-भावतः पूर्वसंयोगः । द्रव्ये स्वजनसंस्तवो नोस्वजनसंस्तवश्च ।
..... भावेनिरुद्धता-ऽविरति-अज्ञानादि ।

२. वृत्ति, पृ० १०५ : आतुपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वभ्राश्वशुरादिकपश्चात्संयोगं च ।

३. वृत्ति, पृ० १०५ : एको मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा ।

४. चूजि, पृ० १०३ : विविक्तेसी, विविक्षुं द्रव्ये शून्यागारं स्त्री-पशुवर्जितम्, भावे तत्सङ्कल्पवर्जमता, विविक्षुगम्येतीति विविक्तेसी मार्ग-यतीत्यर्थः, विविक्षुतां—साधूनां मार्गमेवतीति विविक्तेसी । अथवा—कर्मविविक्षो मोक्षो तमेवमेवतीति विविक्तेसी ।

५. वृत्ति, पृ० १०५ : विविक्षुः—स्त्रीपशुकाविरहितं स्थानं संवसानुपरोधेहितुं शीलमस्य तथेति ।

श्लोक २ :

५. निपुण (सुहृन्नेन)

वृत्तिकार ने सूक्ष्म का अर्थ 'निपुण' किया है। उपाय का अछयाहार करने पर इसका अर्थ होता है—सूक्ष्म उपाय के द्वारा।^१

वृत्तिकार का अर्थ भिन्न है। उनके अनुसार यह 'छन्नपण' का विशेषण है और इसका अर्थ है—बहाना कर।^२

६. गूढ बाध्यवाले पदों का (छन्नपण)

वृत्तिकार ने छन्नपद के दो अर्थ किए हैं—

१. अन्यापदेश—दूसरे के मुख से अपनी बात कहना।

२. गुप्तपदों और संकेतों के द्वारा अपना आन्तरिक भाव प्रगट करना।

वृत्तिकार को भी ये दोनों अर्थ मान्य हैं।^३ वृत्ति और छन्न में इन दोनों को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है—

पियुक्त माह्विकङ्गा जसूकिङ्गा य सयजकिङ्गा य ।

एते जोष्वजकिङ्गा पञ्चस्मर्षे महिलियाणं ॥

स्त्रियां पुत्र, भाई, पौत्र या धेबता तथा स्वजन आदि संबंधी के बहाने उनके साथ प्रच्छन्न क्रीडा करती है। वे लोगो को दूसरा संबंध बताती हैं और उस पुरुष के साथ दूसरा संबंध रखती है यह अन्यापदेश का उदाहरण है।

'काले प्रसुप्तस्य जगार्दनस्य, मेघाम्बकारासु च शर्बरीषु।

निष्ठा न जावामि विशालनेत्रे ! ते प्रस्थया ये प्रथमाक्षरेषु ॥'

इस श्लोक के चारों चरणों के प्रथम अक्षरो—'कामेभि ते'—मैं तुम्हारी कामना करती हूँ के द्वारा स्त्री ने अपनी भावना व्यक्त की है।

यह गूढपद का उदाहरण है।

७. पास आती है (परक्कम्प)

इसका अर्थ है—निकट आकर।^४ वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप से इसका अर्थ इस प्रकार किया है—अपने शील को संश्लिष्ट करने की योग्यता से मुनि को अभिभूत कर।^५

श्लोक ३ :

८. अत्यस्त (मिर्स)

इसको स्पष्ट करने के लिए वृत्तिकार और वृत्तिकार ने लिखा है कि वे स्त्रियां मुनि के ऊरु से ऊरु सटाकर आधे आसन

१. वृत्ति, वृ० १०३ : सुहृन्नेनेति निपुणेन, उपायेनेति बाध्यशेषः।

२. वृत्ति, पत्र १०५ : सुहृन्नेन अपरकार्यव्यपदेशभूतेन छन्नपदेनेति।

३. वृत्ति, वृ० १०३ : छन्नपदेनेति अन्यापदेशेन.....अथवा छन्नपदेनेति छन्नतरैरभिधानैराकारंश्वनं अभिसर्पति।

४. वृत्ति, पत्र १०५ : छन्नपदेनेति छपना—कपटजालेन.....अविद्या—छन्नपदेनेति—गुप्ताभिधानेन।

५. (क) वृत्ति, वृ० १०३।

(ख) वृत्ति, पत्र १०५।

६. वृत्ति, वृ० १०३ : परक्कम्पति पराक्रम्य अभ्यासमेत्य।

७. वृत्ति, पत्र १०५ : पराक्रम्य तत्समीपमापत्वा, अविद्या—पराक्रम्येति शीलस्खलनयोग्यतापत्त्या अभिभूय।

पर आकर बैठ जाती हैं ।^१

६. अश्वोत्थ को (पोसवत्थं)

‘पोम’ का अर्थ उपस्थ (जननेन्द्रिय) है । स्वायां ६।२४ में शरीर के नीचे स्रोत बतसाए हैं— दो कान, दो आँख, दो नासाएँ, मुँह, पोष और पायुः ।^२ वृत्तिकार अश्वमेधसूरी ने भी इसका यही अर्थ किया है ।^३ इससे ‘पोसवत्थं’ का अर्थ अश्वोत्थ फलित होता है ।^४

१०. डीला कर उसे बांधती है (परिहित)

इसका अर्थ है—धारण करना या बाँधना । स्त्रियाँ अपनी काम-भावना प्रगट करने के लिए तथा साधु को ठगने के लिए कसे हुए वस्त्र को डीला कर पुनः उसे बाँधने का दिखावा करती हैं ।^५

इसलोक ४ :

११. कालोचित (जोगोहि)

जिस स्थान में उच्चारण, प्रसवण, चक्रमण, कायोत्सर्ग, ध्यान और अध्ययन की भूमियाँ हों, वह स्थान योग्य—कालोचित होता है ।^६

१२. शयन (सयण)

इसका प्रचलित अर्थ है—शयन, शय्या, बिछौना । इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जिस पर सोचा जाता है वह पलंग आदि ।^७ वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—संस्तारक और उपाश्रय ।^८

वे स्त्रियाँ भिक्षु से कहती हैं—मुने! अन्दर ठंड है, बाहर बहुत गर्मी है, उपाश्रय में चले । इस प्रकार वे उसे निमंत्रित करती हैं । वे उपाश्रय से धूल या कचरे को निकाल कर या उसे झाड़-पोछ कर साफ करती हैं । यह भी शुभाने का एक उपाय है ।^९

१३. कभी (एगया)

वृत्तिकार ने एकदा का अर्थ—जिस समय वह अकेला या सहयोगी के लिए व्याकुल होता है—किया है ।^{१०} वृत्तिकार ने इसके द्वारा एकान्त स्थान और एकान्त समय का ग्रहण किया है ।^{११}

१ (क) वृत्ति, पृ० १०४ : शृशं नाम अस्यैव प्रकर्षे, ऊवणा ऊठं अवकमिता, दूरगता, हि नातिस्नेहमुत्पादयन्ति विवर्णना तेन अज्ञास्ये निशीदन्ति सन्निपुष्टा वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र १०६ : शृशम् अस्यैवमूर्खपयोद्वमतिस्नेहमाविष्कुर्बन्त्यः ।

२. ठाणं ६।३४ : गब सोत-परिस्सवा बोंदी वण्णत्ता, तं जहा—दो सोता, दो जेता, दो धाना, मुहं, पोसए, वाऊ ।

३. स्वायां वृत्ति, पत्र ४२७ पोसेएति—उपस्था ।

४. वृत्ति, पृ० १०४ : पोसवत्थं नाम निवसणं ।

५. (क) वृत्ति, पृ० १०४ : तमभीषणमभीषणमायरबद्धमपि शिषिलीकृत्वा परिहित ।

(ख) वृत्ति, पत्र १०६ : तेन शिपिलादिष्यपदेशेन परिवर्तयति, स्वाभिलाषमादेशवन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधानं निषिलीकृत्य पुनः निवर्तयन्तीति ।

६. वृत्ति, पृ० १०४ योग्यवृत्ताह उच्चार-पासवण-चक्रमण-स्थान-उक्ताहउत्क्रमणभूमीओ जेयन्ति ।

७. वृत्ति, पत्र १०६ : शम्पतेऽस्मिन्निति शयनं—पर्यङ्कादि ।

८. वृत्ति, पृ० १०४ : सयण नाम उवस्सयंसवणाणि वा ।

९. वृत्ति, पृ० १०४ : सीतं इवापि साहं अंतो, अतीव पिन्हे वा पवाएण विवर्तन्ति, वृत्ति वा कलवरं वा उवस्सवणाह विवर्तन्ति, अन्तरं वा सम्मवृत्ता-ऽऽवर्तिनीयन्ति उवस्सवणकम्मं करेति ।

१०. वृत्ति, पृ० १०४ : एकस्मिन् काले एकदा, यदा यदा त एकाकी भवति आमुससवणो वा ।

११. वृत्ति, पत्र १०६ : एकदा इति विविधदेशकालादौ ।

१४. निमन्त्रित करती हैं (निमन्त्रेति)

प्रश्न उपस्थित हुआ कि स्त्रियों के लिए कामतंत्र को जानने वाले अथवा काम के प्रयोजन की पूर्ति करने वाले बहुत लोग हैं, फिर वे भिक्षु को क्यों निमन्त्रित करेंगी ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने एक मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन किया है । उन्होंने कहा—निवृद्ध स्त्रियाँ चाहे सधवा हो या विधवा आसपास रहने वाले व्यक्ति, फिर चाहे वह कूबड़ा हो या अन्धा, की कामना करने लग जाती हैं ।' उदाहरण की भाषा में एक गाथा प्रस्तुत है—

अंधं वा निवृं वा अन्धासगुणेन आरुह्य वल्ली ।
एवं इत्थीतोवि य न आसन्नं तमिच्छन्ति ॥

१५. बन्धन है (पासाणि)

स्त्रियाँ प्रियता के द्वारा अनुष्यों को अपने वश में करती हैं ।' यहाँ एक मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रगट हुआ है कि किसी को बाँधना हो तो उसे अनुकूलता के पास से बाँधो । पूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहाँ एक गाथा उद्धृत की है—

अं इच्छसि चेत्तुं जे पुच्छि तं आमिसेज गिण्हाहि ।
आमिसपासनिबद्धो काहिइ कज्जं अकज्जं वा ॥

श्लोक ५ :

१६. उनसे (स्त्रियों से) आँख न मिलाए (णो तासु चक्खु संघेज्जा)

इसका अर्थ है—स्त्रियों के साथ आँख न मिलाए । चक्षु-संघान का अर्थ है—दृष्टि का दृष्टि के साथ समागम ।' मुनि स्त्री के साथ चक्षु-संघान न करे । स्त्री के साथ बात करने का अवसर आए तो मुनि उसे अस्निग्ध—रुखी और अस्थिर दृष्टि से देखे तथा अवज्ञाभाव से कुछ समय तक (एकबार) देखकर निवृत्त हो जाए ।' वृत्तिकार ने इसी भाव का एक श्लोक उद्धृत किया है—

कार्येय्यीवन्मतिमान्निरीक्षते, योविदङ्गन्मस्थिरया ।
अस्निग्धया वृशाऽवज्जया, ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥

१७. साहस (सैयुन जावना) का (साहसं)

पूर्णिकार के अनुसार 'साहस' का अर्थ 'परदारगमन' है । असाहसिक व्यक्ति वैसा कर नहीं सकता । यह संघाम में उतरने जैसा है । वहाँ मृत्यु भी हो सकती है, हाथ पैर आदि कट सकते हैं, व्यक्ति बाधा जा सकता है, पीटा जा सकता है । प्रव्रजित व्यक्ति के लिए अपनी त्यक्त पत्नी के साथ समागम करना भी साहसिक कार्य है तो भला परस्त्री-गमन साहसिक कैसे नहीं होगा ?

१. पूर्णि, पृ० १०४ : स्यात्-किमासां सिङ्गुणा प्रयोजनम् ? नन्वासामभ्ये कामतन्त्रविदः तत्प्रयोजननिश्च गृहस्था बिच्छन्ते

ता हि तन्निषय्या सधवा विधवा वा, आसन्नगतो हि निवृद्धाः।मिः कुञ्जोऽन्धयोऽपि च काम्यते, किमु यो सकोविदः ?

२. (क) पूर्णि, पृ० १०४ ।

(ख) वृत्ति, पत्र १०६ ।

३. पूर्णि, पृ० १०४ : पासवन्तीति वासा, त एव हि पासा दुरच्छेद्याः, न केवलं हाव-भाव-भूविभ्रमेज्जितावयः न हि शक्यमुस्सङ्घपितुम्, न तु ये वान-मान-सत्काराः शक्यन्ते जेतुम् ।

४. (क) पूर्णि, पृ० १०४ ।

(ख) वृत्ति, पत्र १०६ ।

५. (क) पूर्णि, पृ० १०४ : चक्षुसंघं नाम विद्दीए विद्धिसमागमो ।

(ख) वृत्ति पत्र १०६ : चक्षुः नेत्रं सगृह्यात् सगृह्येष्टा, न तद्दृष्टौ स्वदृष्टि निवेशयेत् ।

६. पूर्णि, पृ० १०४ : अकुहुओ विक्कुहुओ विप तासु निक्खं जवेज्जा, कार्योऽपि सति अस्निग्धया हव्त्वा अस्थिरया अज्जया जेना-सीवन्निरीक्षेत ।

७. वृत्ति, पत्र १०६ ।

उन्होंने इसका वैकल्पिक अर्थ 'मरण' किया है। इसका तीसरा अर्थ है—स्त्री अपनी बलवत्ता के कारण साहस करे तो भी मुनि उसका अनुमोदन न करे।^१

वृत्तिकार ने इसका अर्थ अकार्यकरण किया है।^२ दशवैकालिक में साहसिक का अर्थ 'अविमृश्यकारी' मिलता है।^३

१८. साथ भी (सखियं पि)

वृत्तिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—

१. स्त्री के साथ ग्रामानुष्ठान विहार न करे।

२. जहाँ स्त्रियाँ बैठी हों वहाँ न बैठे।

३. जहाँ मुनि बैठा हो वहाँ अचानक स्त्रियाँ आ जाएँ तो मुनि वहाँ से निर्गमन कर दे, क्षण भर के लिए भी वहाँ न बैठे।

वृत्तिकार ने इसके द्वारा स्त्री के साथ ग्राम आदि में विहार करने का निषेध किया है और 'अपि' शब्द से स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने का निषेध किया है। उन्होंने एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है—

‘मात्रा स्वप्ना बुहिषा वा, न विविक्षासो भवेत्।

बलवानिन्द्रियप्राप्तः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति॥’

मुनि माँ, बहिन या पुत्री के साथ भी एक आसन पर न बैठे। इन्द्रिय-समूह बहुत बलवान् होता है। पंडित व्यक्ति भी यहाँ मूढ़ हो जाता है।^४

१९. इस प्रकार आत्मा सुरक्षित रहता है (एवमप्या सुरक्षितो होइ)

वृत्तिकार के अनुसार समस्त अपायों (दोषों) का मूल कारण है—स्त्री के साथ संबंध। जो साधक स्त्री-संग का वर्जन करता है वह समस्त अपाय-स्थानों से बच जाता है, अपनी आत्मा को दोषाविल होने से बचा लेता है। इसलिए मुनि को स्त्री-संग का दूर से ही परिहार कर देना चाहिए।^५

वृत्तिकार ने आत्मा के दो अर्थ किए हैं—शरीर और आत्मा। जो मैथुन से विरत होते हैं वे अपनी शरीर और आत्मा—दोनों की रक्षा दोनों लोकों में करते हैं।^६

श्लोक ६ :

२०. आमन्त्रित कर (संकेत देकर) (आमन्त्रिय)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—पति को पूछकर।

१. वृत्ति, पृ० १०५ : साहसमिति परवारगमनम्, न ह्यमाहसिकस्तत् करोति, सङ्ग्रामावसरणवत् तत्र हि सखी मरणमपि स्यात्, हस्तादिच्छेद-बन्ध-घातो वा, स्वदारमपि तावद् बीजितस्य साहसम्, किमु परवारगमनम् ? । अथवा साहसं मरणम्, प्राणान्तिकेऽपि न कुर्यात् । अथवा यवसौ स्त्री चापत्यात् साहसं कुर्यात् ।

२. वृत्ति, पत्र १०६ : साहसम्—अकार्यकरणम् ।

३. वेदों—ब्रह्मवेदालियं ६।२।२२ में 'साहस' शब्द का टिप्पण ।

४. वृत्ति, पृ० १०५ : सखियं ति ताहि सह गामानुष्ठानं (ज) विहरेज्ज, जत्थ वा ताजो ठाणे अञ्जति तत्थ ण चिहुलब्धं, कयाइ पुंश्चि ठितस्स रत्ति एज्ज ततो णिणगतत्थं, क्षणमात्रमपि न संबध्याः ।

५. वृत्ति, पत्र १०६ : तथा नैव स्त्रीभिः सार्धं ग्रामादी 'विहरेत्' गच्छेत्, अपिगम्बान् न तानिः सार्धं विविक्षासो भवेत्, ततो महा-पापस्त्वाममेतत् यतीनां यत् स्त्रीभिः सह साङ्गत्वमिति ।

६. वृत्ति, पत्र १०६ : एवमनेन स्त्रीसङ्गवर्जनेनात्मा समस्तापायस्थानेष्वपि रक्षितो भवति, यतः—सर्वापाधानां स्त्रीसम्बन्धः कारणम्, यतः स्वहितार्थं तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति ।

७. वृत्ति पृ० १०५ : आत्मेति शरीरमत्मा च, स इह परे च लोके अतिरक्षितो भवति ।

८. वृत्ति, पृ० १०५ : उत्तारं आमन्त्रय नाम पुंश्चिहुं उत्तरावगतावतिसं वा स्थापयित्वा ।

वृत्तिकार ने दो अर्थ किए हैं—

- (१) संकेत देकर
- (२) पूछकर ।

२१. (आर्मसिप निमंतंति)

वृत्तिकार ने इन दो चरणों का अर्थ-विस्तार इस प्रकार किया है—

कोई निकट के घर की रहने वाली अथवा सम्पातर की पत्नी अथवा पड़ोसिन भिक्षु के पास आकर कहती है—‘मुने दिन में मुझे अन्नकाश या एकांत नहीं मिलता । मैं आपके पास रात में आऊंगी ।’ वह चाहे धर्म सुनने के लिए कहे या कोई दूसर प्रयोजन बताए तो भी भिक्षु उसको स्वीकार न करे । वह आगे कहती है—‘भिक्षो ! यदि आप मेरे पति के विषय में शका करते हैं तो मैं उन्हें पूछकर अपने प्रयोजन की बात बताकर आऊंगी ।’

अथवा वह कहती है—‘मेरे पति दिन में कृषि आदि का काम निपटा कर जब घर आते हैं तब अत्यन्त श्रान्त हो जाते हैं, थक कर दूर हो जाते हैं । वे भोजन कर तत्काल सो जाते हैं । सोते ही उन्हें नींद आ जाती है और तब वे मृत की तरह पड़े रहते हैं । वे बहुत बड़ हैं । मेरे पर कभी कुपित नहीं होते । यदि वे मुझे पर-पुरुष के साथ आती-जाती देख भी लेते हैं तो मैं कभी रुष्ट नहीं होती, शंका नहीं करते ।’

भिक्षु पूछता है—‘क्या तेरा पति तेरा विरोध नहीं करता ?’ वह कहती है—‘मैं उन्हें पूछकर तथा विश्वास दिलाकर आती हूँ । आप विश्वस्त रहे ।’

भिक्षु पूछता है—‘तुम असमय में क्यों आई हो ?’

वह कहती है—‘भिक्षो ! मैं धर्म सुनने के लिए आई हूँ । आप आज्ञा दें कि मुझे क्या करना चाहिए ? क्या मैं आपको सेवा करूँ ? क्या मैं आपके चरण पलाऊँ ? क्या मैं आपका पादमर्दन करूँ ? मुने ! मेरे घर में जो कुछ है वह सब और मैं स्वर आपकी हूँ । यह शरीर आपका है । मैं तो आपके चरणों की दासी हूँ ।’

इस प्रकार मीठी बातें करती हुई वह मुनि के पैर दबाए, आलिंगन—उपगृहन करे, गले पर हाथ रखे तब साधु उनं निवारित करे तो वह शीन होकर कहती है—‘भिक्षो ! अब आपके अतिरिक्त मेरा कौन सहारा है ?’

वृत्तिकार ने इन दो चरणों का अर्थ-विस्तार इस प्रकार किया है—

स्त्रियाँ स्वभाव से ही अकर्तव्य-परायण होती हैं । वे मुनि को अपने जाने का स्थान और नमय का संकेत देती हुई उन विश्वास भरी बातों से विश्वस्त कर अकार्य करने के लिए निमंत्रण देती हैं तथा अपना उपभोग करने के लिए साधु से स्वीकृति लेती हैं । वे स्त्रियाँ मुनि की आज्ञा को दूर करने के लिए कहती हैं—‘मैं पतिदेव को पूछकर यहाँ आई हूँ । मैं उनके भोजन पद-आसन तथा शयन आदि की पूरी व्यवस्था करने के पश्चात् ही यहाँ आई हूँ, जतः आप मेरे पति से संबंधित आज्ञाओं को छोड़कर निर्भय हो जाएँ—इस प्रकार वह मुनि में विश्वास पैदाकर कहती है—‘भिक्षो ! यह शरीर मेरा नहीं है, आपका ही है । इस शरीर में जिस छोटे-बड़े कार्य की क्षमता हो, उसी में आप इसे योजित करें ।’

२२. (निमन्त्रण रूप) शब्द (सहाजि)

हन्त्रियों के पांच विषयों में ‘शब्द’ एक विषय है । मुनि केवल गीत आदि शब्दों का ही वर्जन न करे, किन्तु निमन्त्रण रूप शब्दों का भी वर्जन करे । ये शब्द दुस्तर होते हैं । ये निमन्त्रण रूप शब्द अनेक प्रकार के होते हैं ।^१ वृत्तिकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है—

१. वृत्ति, पृष्ठ १०६ : आर्मसिप संकेतं ग्राहयित्वा सतीरसामग्यापृच्छय ।

२. वृत्ति, पृष्ठ १०५ ।

३. वृत्ति, पृष्ठ १०६, १०७ ।

४. वृत्ति पृष्ठ १०५ : सञ्जा नाम वे सञ्जाविजिज्याः कञ्जिताः, न केवलं गीताऽऽतोषसञ्जा वञ्ज्याः, आत्मनिमन्त्रणादयो हि सुदुस्तर शब्दाः । अथवा यानि सीतकारादीनि सहाजि कञ्जन्ति तान्येवैतानि विद्धि निमन्त्रणादीनि शब्धानि ।

आह ! प्रिय ! कंत ! स्वामिन् ! दयित ! वसुधा ! होलगोल ! गुललेहि !
जेनं जियामि तुमं पमयसि तं मे सरीरस्स ॥

—हे नाथ ! प्रिय ! कान्त ! स्वामिन् ! दयित ! वसुधा ! होलगोल ! गुलल ! मैं आपके लिए ही जी रही हूँ । आप ही मेरे शरीर के स्वामी हैं ।

वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा शब्द आदि पाचों विषयों को स्वीकार किया है ।

श्लोक ७ :

२३. मीठी बोलती है (मंजुलाइं)

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. मन में लीन होने वाली ।

२. मनोकूल ।

३. काम-वासना पैदा करने वाली ।

वृत्तिकार ने भी कुछ भिन्नता के साथ इनके तीन अर्थ किए हैं—मुन्दर, विश्वास पैदा करने वाली, काम-वासना पैदा करने वाली ।

२४. संयम से विमुक्त करने वाली कथा के द्वारा (मिणकहाहिं)

संयम का भेद करने वाली कथा को 'मिन्नकथा' कहा जाता है । जैसे स्त्री भिक्षु के पास आकर कहती है—'क्या आपने विवाह करने के पश्चात् प्रव्रज्या ली है या अविवाहित हैं ? यदि आप विवाहित हैं और पत्नी को छोड़कर प्रव्रजित हुए हैं तो वह आपकी स्त्री आपके बिना कैसे जीवन यापन कर रही है ? यदि आप कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए हैं तो आपकी इस कुमारावस्था की प्रव्रज्या से क्या लाभ ? क्योंकि जो सन्तान उत्पन्न नहीं करता उसका जन्म निरर्थक है । देखें, आप किसी बाला के साथ विवाह कर लें अथवा मेरे साथ कामभोग भोगें । आपको वैराग्य कैसे हुआ ? क्या आप कामभोग की परम्परा के जानकार हैं ? क्या आप भुक्तभोगी हैं या कुमारक ?'

वृत्तिकार ने स्त्री के साथ की जाने वाली एकान्न बान्धन और मैथुन संबंधी बातचीत को मिन्नकथा माना है ।

१. (क) वृत्ति, पृ० १०५ ।

(ख) वृत्तिकार ने अगले श्लोक 'मणवसंजोहि जेगेहि' की व्याख्या में इसी प्रकार का एक श्लोक उद्धृत किया है । वह श्लोक इस प्रकार है—

आह प्रिय कंत स्वामिन् दयित जियामो तुमं मह पिओसि ।

जीए जीयामि अहं पमयसि तं मे सरीरस्स ॥

नाथ ! प्रिय ! कान्त ! स्वामिन् ! दयित ! जीवन से भी आप मुझे प्रिय हैं । आप जी रहे हैं, इसीलिए मैं जीवित हूँ । आप ही मेरे शरीर के स्वामी हैं । (वृत्ति पत्र १०७)

२. वृत्ति, पत्र १०७ : शब्दाशीन् विषयान् ।

३. वृत्ति, पृ० १०६ : मयसि लीयते मनोऽनुकूलं वा मञ्जुलम्, मञ्जीयं वा मञ्जुलम् ।

४. वृत्ति, पत्र १०७ : मञ्जुलानि वेशलानि विभग्गजनकानि कामोत्कोचकानि वा ।

५. वृत्ति, पृ० १०६ : मेदकरी अथा मिणकथा । तं जहा—तुमं सि कि वतवीवाहो पम्बहतो य व ? सि, वृत्तवीवाह इति चेत् कथं सा जीवसि त्वया विनेवंविधकथेन ? इति, कुमार इति चेद् अनपत्यस्य लोका न सन्ति, किं ते तद्वगस्स पम्बवताय ? वारिका वरिज्जायु, मया वा सह भुञ्जमोए, स्यात् कथं वैराग्यं वा ?

६. वृत्ति, पत्र १०७ : 'मिन्नकथासी' रहस्याऽऽतापैर्बुनसम्बद्धैर्बोधिः ।

२५. वशवर्ती बना आज्ञापित करती हूँ (भरणवर्धति)

वृणिकार ने इसका अर्थ—झुकाना किया है।^१ वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अकार्य करने के लिए प्रवर्तित करना तथा अपने वशवर्ती जानकर नीकर की भांति आज्ञा का पालन करवाना।^२

श्लोक ८ :

२६. (सोहं अहं.....पासेण)

अकेला सिंह हजारों योद्धाओं के गिबिर को नष्ट कर देता है। वह सदा अकेला रहता है। उसका कोई सहायक नहीं होता। वह अकेला घूमता है। उसका समूह नहीं होता। कहा भी है—‘न सिंहवृन्दं भुवि दृष्टपूर्वम्’—कभी किसी ने सिंह का टोला नहीं देखा।

सिंह को जीवित पकड़ने के अनेक उपाय हैं। प्रस्तुत श्लोक में एक उपाय निर्दिष्ट है। वृणिकार ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—एक दुर्ग की गुफा में एक सिंह रहता था। उसके आतंक के कारण दुर्ग का मार्ग सूना हो गया था। कोई भी मनुष्य उस मार्ग पर आने से डरता था। एक बार सिंह को पकड़ने के उपाय जानने वाले विजय पुरुषों ने एक बकरे को मारकर एक पिंजड़े में डाल दिया। सिंह आया, मासपिंड को देखकर पिंजरे में घुसा और उसे खाने लगा। लोगों ने उसे पकड़ लिया।^३

श्लोक १० :

२७. अनुताप करता है (अनुतप्पई)

वह सोचता है—

“मया परिजनस्यार्थं, कुरां कर्म सुवाचनम् ।
एकाकी तेन बहोऽहं, गतास्ते फलभोगिनः ॥”

मैंने अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए कठोर कर्म अर्जित किए हैं। अब मैं अकेला ही उन कर्मों का परिणाम भोग रहा हूँ। परिणाम भोगने के समय वे कुटुम्बी कहीं भाग गए, वे मेरा हिस्सा नहीं बंटा रहे हैं।^४

२८. विपाक (विवाग)

वृणिकार ने विपाक का अर्थ—स्त्री, पुत्र आदि के भरण-पापण से होने वाला परिकल्पित किया है।^५ वृत्तिकार ने इसका अर्थ—अपने अनुष्ठान से फलित परिणाम किया है।^६

२९. राग-द्वेष रहित भिक्षु (वविय)

इसका अर्थ है—राग-द्वेष रहित मुनि।^७ वृत्तिकार ने इस अर्थ के साथ-साथ मुक्तिगमन योग्य मुनि को भी ‘वविय’ माना है।^८

१. वृणि, पृ० १०६ :आनम्यते ।

२. वृत्ति, पत्र १०७ : आज्ञापयन्ति प्रवर्तयन्ति स्ववशं वा आज्ञा कर्मकरवशात् कारयन्तीति ।

३. वृणि, पृ० १०६ : येन प्रकारेण यथा सहस्त्रिकोऽपि स्कन्धवारः सिंहैरेकेन भज्यते, यच्चित्तं यन्था सिंहैर्दुर्गाभयेण निःसम्भारः कृतः, स च तद्वृत्तगोपायविधिः पुरुषेश्चक्षणलं मारयित्वा तद्गोचरे निक्षिप्य पाशं च बध्नात्, तेन वृणिसकेन बध्यते, एकचरो नाम एक एवासी चरति, न तस्य सहायकृत्यमस्ति । उक्तं च—न सिंहवृन्दं भुवि दृष्टपूर्वम् ।

४. वृत्ति, पत्र १०७ ।

५. वृणि, पृ० १०६ : विवागो (वि) पाकः वारभरणाविपरिकल्पेणः ।

६. वृत्ति, पत्र १०८ : विपाकं स्वानुष्ठानस्य ।

७. वृणि, पृ० १०६ : ववियो नाम राग-द्वेषरहितो ।

८. वृत्ति, पत्र १०८ : ब्रह्मभूते मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ ।

३०. स्त्री के साथ संवास न करे (संवासो न कल्पई)

चूणिकार का कथन है कि काठ^१ से बनी जड़ स्त्री के साथ भी भिक्षु को रहना उचित नहीं है तो भला सचेतन स्त्री के साथ भिक्षु का संवास कैसे उचित हो सकता है ? संवास से चार दोष उत्पन्न होते हैं—(१) परिचय बढ़ता है। (२) आलाप-संलाप होता है। (३) अकुप भाव उत्पन्न होते हैं। (४) समय से विमुख करने वाली कथाएँ होने लगती हैं।^२

दश्लोक ११ :

३१. विष-बुधे काँटे के समान जानकर (वितलितं व कंटयं णच्छा)

विष से लिप्त काँटा जब शरीर के किसी अवयव में लग जाता है तब वह अनर्थकारी होता है, किन्तु स्त्रियाँ तो स्मरण मात्र से अनर्थ उत्पन्न करने वाली होती हैं।^३ कहा भी है—

विषस्य विषयाणां च, दूरमत्पन्तमन्तरम् ।

उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ॥

विष और विषय में बहुत बड़ा अन्तर है। विष तो खाने पर ही मारता है किन्तु विषय स्मरण मात्र से मार डालते हैं।

बारि (बरं) विस लइयं न वितवसुहु इक्कसि विसिण मरंति ।

विसयामिस पुण घारिया नर णरएहि पडंति ॥

विषय सुख को भोगने के बदले विष खाना अच्छा है। विष केवल एक बार ही मारता है। विषयो से मारे जाने वाले पुरुष नरकों में पड़ते हैं।^४

३२. राग-द्वेष रहित (भिक्षु) (ओए)

ओज का अर्थ है—अकेला, असहाय।^५ चूणिकार ने इसका अर्थ—राग-द्वेष रहित किया है।^६

३३. जितेन्द्रिय भिक्षु (वसवत्ती)

चूणिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—

१. घर जिसके वश में है। पहले गृहवास में रहे हुए हानि के कारण वह जो-जो कहता है घर के सदस्य वैसा ही करते हैं। वह जो मागता है, वे देते हैं।

२. स्त्रियाँ जिसके वशवर्ती हैं।

३. इन्द्रियो जिसके वश में हैं।

४. जो मुख के वश में है।^७

चूणिकार ने 'वसवत्ती' का अर्थ—स्त्रियो का वशवर्ती किया है।^८

१. चूणि, पृ० १०६ : स्त्रीभिः सङ्गमो न कार्यः, काष्ठकर्माविस्त्रीभिरपि तावत् संवासो न कल्पते, किमु सचेतनाभिः ? एगतो वासः संवासः, तथासङ्गे वा संवसतो संयक-संलावाविदोला असुखभाववशात् न भिन्नकथा वा स्यात् ।

२. वृत्ति, पत्र १०८ : विषविषयकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्ननयमापादयेत् स्त्रियस्तु स्मरणादपि, तदुक्तम्—विषस्य विषयाणां च.....।

३. वृत्ति, पत्र १०८ ।

४. वृत्ति, पत्र १०८ : ओजः एकः असहायः ।

५. चूणि, पृ० १०७ : ओयो धाम रागद्वेषरहितो ।

६. चूणि, पृ० १०७ : वसे वसंते इति वशवर्तीति, पूर्वाभ्युषितत्वाद् यदुच्यते तत् कुर्वन्ति वदन्ति वा, स्त्रियो वा येषां वसे वसन्ते, किं पुनः स्वैरस्त्रीजनैश्च, वश्येन्द्रियो वा यः स वशवर्ती, गुरुणा वा वशे वसंते इति वशवर्ती ।

७. वृत्ति, पत्र १०८ : स्त्रीणां वशवर्तः ।

३४. श्लोक ११ :

प्रस्तुत श्लोक में केवल स्त्रियों में धर्मकथा करने का वर्जन किया गया है। चूणिकार और वृत्तिकार ने इस औत्सर्गिक नियम में अपवाद का कथन भी किया है। यदि कोई उपासिका किसी कारणवश उपाश्रय में आकर धर्म सुनने में असमर्थ हो या बूढ़ हो तो मुनि, अन्य सहायक साधु के अभाव में, अकेला ही उपासिका के घर जाए और दूसरी स्त्रियों के साथ बैठी हुई उस उपासिका को धर्म का उपदेश करे। वे स्त्रियाँ पुरुषों के साथ हो तो भी धर्म का उपदेश करे। वह वहाँ स्त्रियों के निम्न कर्म, विषय-वासना के प्रति जुगुप्सा पैदा करने वाली तथा वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा करे।^१

कदाचित् कोई स्त्री आकर कहे—भिक्षो ! यदि आप घर आकर धर्मकथा करने से असमर्थ हैं तो भिक्षाचर्या या पानक लेने या अन्य किसी कारण से मेरे घर आएँ। आपको वहाँ देख कर हम अपनी दृष्टि को तृप्त करेंगी। आपको देखे बिना हमारा हृदय सुना-सुना सा लगता है।^२

श्लोक १२ :

३५. विषयों की खोज करते हैं (उच्छं)

चूणिकार ने उच्छंति पाठ मानकर उसका अर्थ 'गवेषणा करना' किया है।^३ वृत्तिकार ने उच्छं का अर्थ 'जुगुप्सनीय', गहं किया है और प्रस्तुत प्रसंग में स्त्री से संबन्ध करना अथवा एकाकी स्त्री परिषद् में कथा करना जुगुप्सनीय माना है।^४

३६. कुशील व्यक्तियों की (कुशीलाणं)

चूणिकार और वृत्तिकार ने कुशीलों का दो प्रकार से वर्गीकरण किया है—

पांच प्रकार के कुशील—

१. पार्श्वस्थ २. अवसन्न ३. कुशील ४. संसक्त ५. यथाछंद ।

अथवा नौ प्रकार के कुशील—पांच उपरोक्त तथा १. काथिक २. प्राश्निक ३. सप्रसारक ४. मासक ।

३७. साथ (सहृणं)

चूणिकार के अनुसार यह देशी शब्द 'सह' के अर्थ में प्रयुक्त है।^५ वृत्तिकार ने 'सह' और 'णं' को अलग-अलग मानकर 'णं' को वाक्यालंकार के रूप में स्वीकृत किया है।^६

१. वृत्ति, पत्र १०८ : एकः असहायः सन् कुलानि गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां वशावर्तो तन्मिर्बिष्टवेलागमनेन तदनुकूल्यं भजमानो धर्ममाख्यातिं योऽसाधयि न निष्पद्यो न सम्पक् प्रव्रजितो निषिद्धावरणसेवनावबन्धं तत्रापयसम्भवादिति, यदा पुनः काचित् कुतश्चिन्नमिस्ताबागन्तुमसमर्था बूढ़ा वा अवेत्तवाऽपरसहायसाध्वभावे एकाक्यपि गत्वा अपरस्त्री-बन्धनमगतायाः पुरुषसमन्विताया वा स्त्रीनिन्दाविषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजननं विधिना धर्मं कथयेदपीति ।

२. वृत्ति, पृ० १०७ : आख्यातिं गत्वा गत्वा धर्मं निष्केवलानां स्त्रीणां सहितानां पुंसाम् असावपि तावन्न निष्पद्यो भवति, किमु यस्ताभिर्मिथकथां कथयति ? यदा पुनर्बुद्धा सहागता पुरुषमिवा वा वृद्धेन वाऽऽगच्छेयुः तदा स्त्रीनिन्दा विषयजुगुप्सा अन्यतरा वा वैराग्यकथा कथयति । कदाचित् ब्रूयात्—यदि वा गृहमागन्तुं न कथयति तो निष्क-पाकगाहिकारणेण एवञ्च, दृष्टिविधायकतामपि तावत् त्वां दृष्ट्वा करिष्यामः, अपरयत्स्या हि मे त्वां सुखमेव हृदयं भवति ।

३. वृत्ति, पृ० १०७ : मे वा एवंविद्याणि इच्छन्ति (? उच्छन्ति) गवेषन्तेत्यर्थः ।

४. वृत्ति, पत्र १०८ : उच्छन्ति जुगुप्सनीयं गहं तत्र स्त्रीसम्बन्धादिकं एकाकिस्त्रीधर्मकथनादिकं वा प्रष्टव्यम् ।

५. (क) वृत्ति, पृ० १०७ : कुतितसलीला कुशीला वासत्यादयः पंच नव वा । पंच ति—वासत्य-ओसण-कुशील-संसक्त-आध्यात्मिका । नव ति—एते च पंच, इमे च अन्तरि—काथिक-पाश्निक-संप्रसारक-मासक ।

(ख) वृत्ति, पत्र १०८ ।

६. वृत्ति, पृ० १०७ : सहृणं ति देसीभासा सहृण्यर्थः ।

७. वृत्ति, पत्र १०८ : सह ... भवति वाक्यालंकारे ।

श्लोक १३ :

३८. दासियों (के साथ) (दासीहि)

मुनि दासियों के सम्पर्क से भी बचे । दासियां घर के काम के क्लेश से उत्पन्न रहती हैं । सूत्रकार उनसे भी बचने का निर्देश देते हैं तो फिर स्वतंत्र और अत्यन्त सुखमय जीवन बिताने वाली स्त्रियों के सम्पर्क का तो कहना ही क्या ? वृत्तिकार ने दासी से घट-स्त्री अर्थात् पानी लाने वाली घटदासी का ग्रहण किया है और उसे अत्यन्त निन्दनीय माना है ।

३९. बड़ी हों या कुमारी के साथ (महतीहि वा कुमारीहि) —

वृत्तिकार ने इन दोनों शब्दों को भिन्न मानकर 'महती' का अर्थ बृद्धा और 'कुमारी' का अर्थ अवयस्क भद्रकन्या किया है ।

४०. परिचय (संयम)

संस्तव का अर्थ है—परिचय, घनिष्टता । प्रस्तुत प्रसंग में वृत्तिकार ने स्त्रियों के साथ किए जाने वाले ध्वनिविकार युक्त आलाप-सलाप, हास्य, कन्दर्प-क्रीड़ा आदि को संस्तव माना है ।

वृत्तिकार ने इस प्रसंग में एक श्लोक उद्धृत किया है—

मातृभिरभगिनीभिरथ, नरस्यासंबन्धो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥

'यह सच है कि माता, भगिनी आदि के साथ मनुष्य का कुसंबन्ध नहीं होता, फिर भी इन्द्रिया बलवान् होती हैं । उनके समक्ष पण्डित भी मूढ़ हो जाता है ।'

वृत्तिकार ने संस्तव का अर्थ परिचय किया है । उनका कथन है—यद्यपि पुनः, पुनर्वधू आदि के प्रति मुनि का चित्त क्लुब्धित नहीं होता फिर भी एकान्त या एक आसन पर उनके साथ रहने से देखने वाले दूसरे व्यक्तियों के मन में शका उत्पन्न हो जाती है । अतः उस प्रकार की शका उत्पन्न न हो, इसलिए मुनि को अपने स्वजनवर्गीय स्त्रियों के साथ घनिष्टता नहीं करनी चाहिए ।

४१. श्लोक १३ :

प्रस्तुत श्लोक में स्त्रियों के साथ जाने या बैठने का निषेध किया गया है । प्रश्न होता है कि भिक्षु कोनसी स्त्रियों का वर्जन करे ? वृत्तिकार कहते हैं कि जब अशकनीय स्त्रियों का भी वर्जन करना विहित है तब भला शकनीय स्त्रियों का तो कहना ही क्या ? जो भिक्षु की स्वजन स्त्रियां हैं, वे अशकनीय होती हैं, किन्तु भिक्षु को उनका भी वर्जन करना चाहिए तब फिर दूसरी स्त्रियों का वर्जन तो स्वतः प्राप्त है ।

१. वृत्ति, पृ० १०७ : दासीग्रहण व्यापारकलेषोऽवतप्ताः दास्योऽपि वर्ज्याः, किन्तु स्वतंत्राः स्त्रीरसुखापेताः ।

२. वृत्ति, पत्र १०६ : दास्यो घटयोधितः सर्वापसवाः ।

३. वृत्ति, पृ० १०७ : महती यथोक्तिकान्ताः बृद्धाः, कुमारी अप्राप्तवयसा भद्रकन्यकाः ।

४. वृत्ति पत्र १०६ : संस्तव परिचय प्रत्यासत्तिकपम् ।

५. वृत्ति, पृ० १०७ : संबन्धो उल्लास-समुल्लास-हास्य-कन्दर्प-क्रीडादि ।

६. वृत्ति, पृ० १०७ ।

७. वृत्ति, पत्र १०६ : यद्यपि तत्त्वानसारस्व तस्यां दुहितरि स्तुबाधौ वा न चित्ताण्यवास्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासनादावपरस्य सङ्कोचोपपद्यते अतस्तन्मङ्गलानिरासार्थं स्त्रीसम्पर्कः परिहृतव्य इति ।

८. वृत्ति, पृ० १०७ : एवं तास्या स्त्रीसम्बद्धा वसन्ती वर्ज्याः ... कतराः स्त्रियो वर्ज्याः ?, उच्यते, असङ्गुनीया अपि तावत् वर्ज्याः किन्तु सङ्गुनीयाः ?

श्लोक १४ :

४२. ज्ञातियों (भाइयं)

जब स्त्री अपने पीहर में रहती है तब तक माता, पिता, भाई आदि उसके ज्ञाती होते हैं। जब वह विवाहित होकर ससुराल में चली जाती है तब ससुराल वाले उसके सगोत्र होते हैं, वहा वे ही ज्ञातीजन हैं।^१

४३. श्लोक १४ :

भूतिकार ने इस श्लोक का अर्थ-विस्तार इस प्रकार किया है—स्त्री को मुनि के साथ एकान्त में बैठी देखकर उसके ज्ञातीजन कहते हैं—अहो ! हम इस स्त्री का भरण-पोषण करते हैं, इसकी रक्षा करते हैं किन्तु यह मुनिवेष में इसका परिभोग करता है। वे मुनि से कहते हैं—अपण ! तुम ही इस स्त्री का भरण-पोषण करो। तुम ही इसके स्वामी हो। यह तुम्हारे साथ दिनभर रहकर बातें करती रहती है। क्षण ! देखो, स्त्री की रक्षा और भरण-पोषण करने पर ही मनुष्य उसका स्वामी होता है, केवल बात बनाने से नहीं। तुम उसकी रक्षा करो, अन्यथा हम राजकुल में तुम्हारी शिकायत करेंगे। देखो, यह हमें छोड़कर तुम्हारे में आसक्त और गूढ़ हो रही है। यह हमें न आबर देती है और न हमारी आज्ञा ही मानती है। अब तुम ही इसके आदमी हो—स्वामी हो। इसका भरण-पोषण करो।^२

भूतिकार ने इस श्लोक को इस प्रकार समझाया है—

अकेली स्त्री के साथ अनगर को देखकर ज्ञातिजनों के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि ओह ! संयम जीवन बिताने वाला भी यह मुनि स्त्री के शरीर को देखने में आसक्त होकर, अपनी संयमानुकूल क्रियाओं को छोड़कर इस स्त्री के साथ नित्यजसापूर्वक बैठा हुआ है। नीतिकार कहते हैं—

‘मुचं सिरो बबभवेतदनिष्ठमर्धं, विजाशनेन भरणं च हृत्तोदरस्य ।

नात्र मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, बिभ्रं तथापि मनसो मबनेऽस्ति वाञ्छा ॥

‘सिर मुंदा हुआ है। मुह से दुर्गन्ध आ रही है। घर-घर में भिक्षा मागकर यह अपना पेट भरता है। सारा शरीर मेल से मलिन और कुत्थ हो रहा है। इतना होने पर भी आश्चर्य है कि इसके मन में कामभोग की अभिलाषा उठ रही है।’

इस प्रकार सोचकर वे ज्ञातिजन कुपित होकर कहते हैं—‘मुने ! इस स्त्री की रक्षा और भरण-पोषण के लिए तैयार रहो। अब तुम ही इसके स्वामी हो। देखो, इसका भरण-पोषण तो हम कर रहे हैं किन्तु तुम ही इसके स्वामी हो क्योंकि यह घर का सारा काम छोड़कर समूचे दिन तुम्हारे पास अकेली बैठी रहती है।’

श्लोक १५ :

४४. समीप बैठा हुआ (उदासीनं)

इसके दो अर्थ हैं—

१. स्वाध्याय, ध्यान, प्रत्युपेक्षण आदि संयमक्रियाओं की उपेक्षा करने वाला।^३

२. राग-द्वेष से रहित—मध्यस्थ।^४

४५. (अहु भोयर्नोहहोति)

लोग स्त्री के प्रति दोष की शका करने लग जाते हैं। वे यह सोचते हैं कि ये नाना प्रकार के भोजन इस स्त्री ने साधु के लिए ही तैयार किए हैं। यह सदा मुनि को ऐसा भोजन देती है, इसीलिए यह मुनि प्रतिदिन यहां आना है। अथवा साधु के

१. भूमि पु० १०७ : ज्ञातयो नाम कुलधरे वसंतीए पितृ-आत्रावपः, अथवा स्त्री येषां बीयते त एव तस्याः सगोत्रा भवन्ति ज्ञातकारकः ।

२. भूमि, पु० १०८ ।

३. भूमि, पत्र १०९ ।

४. भूमि, पु० १०८ : स्वाध्याय-ध्यान-प्रत्युपेक्षादिसंयमकरभोदासीनं ।

५. भूमि, पत्र १०९ : उदासीनमपि रागद्वेषविरहात्म्यस्थमपि ।

आधमन से आकुल-व्याकुल होकर वह स्त्री श्वसुर आदि को जो भोजन देना है उसके बदले दूसरा ही देने लगती है या बहुत परोस कर खली जाती है। कभी चावल परोस कर व्यंजन नहीं परोसती या केवल व्यंजन ही परोस कर रह जाती है। अति संभ्रम के कारण एक को देने की वस्तु दूसरे को दे देती है तथा करना कुछ होता है और करती कुछ है।

एक गाँव में एक बधू रहती थी। एक दिन नटमस्ती वहाँ आई। नटों ने गाँव के मध्य खेल प्रारंभ किया। बधू का मन नटों का खेल देखने के लिए आकुल हो गया। इतने में उसके श्वसुर और पति भोजन के लिए आ गए। उसने दोनों को भोजन के लिए बैठाया और जल्दी-जल्दी में तन्दुल के बदले राई को छोक कर परोस दिया। श्वसुर ने देख लिया, किन्तु वह चुप बैठा रहा। पति ने उसे पकड़ कर पीटा। इसका भित्त दूसरे पुरुष में रमा रहता है—यह सोचकर उसे घर से निकाल दिया।

श्लोक १६ :

४६. समाधियोग से (समाहिजोर्गेहि)

चूणिकार ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के योग को समाधियोग माना है।^१ वृत्तिकार ने समाधि का अर्थ धर्मध्यान और धर्मध्यान के लिए या धर्मध्यानमय मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग माना है।^२ चूणि का अर्थ स्वाभाविक है।

४७. परिचय (संयम)

स्त्री के घर बार-बार जाना, उसके साथ बातचीत करना, उसको कुछ देना-लेना, उसको आसक्तदृष्टि से देखना आदि सत्त्व है, परिचय है। चूणिकार और वृत्तिकार दोनों ने संस्तव का यही अर्थ किया है।^३

देखें—श्लोक १३ में प्रयुक्त 'संस्तव' शब्द का टिप्पण।

श्लोक १७ :

४८. गृहस्थ और साधु—दोनों का जीवन जीते हैं (मिस्तीभावं)

इसका अर्थ है—द्रव्यलिंग। ऐसे अनगार जो केवल वेश से मुनि होते हैं और भावना से गृहस्थ के समान, वे न एकान्ततः गृहस्थ होते हैं और न एकान्ततः साधु। वे गृहस्थ और साधु—दोनों का जीवन जीते हैं।^४

४९. प्रवृत्तानं (धुवमग्न)

ध्रुव शब्द के तीन अर्थ हैं—संयम, वैराग्य और मोक्ष।^५

१. (क) वृत्ति, पत्र १०६ : साध्वर्धमुपकल्पितैरतवर्धमेव संस्कृतेरियमेनमुपकरति तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति, यदि वा—जोवनैः श्वशुरादीनां न्यस्ते अर्धवत् सङ्गः सा बधूः साध्यागमनेन समाकुलीभूता सत्यास्मिन् दातव्येऽप्यहंघात्, ततस्ते स्त्रीवोपाशङ्कितो भवेद्युर्वर्धेयं दुःशीलाऽनेनैव सहास्त इति। निदर्शनमत्र यथा—कथाचिद्वृद्धा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षकगतचित्तया पतिवधुरयोर्बोधानां-मुपविष्टपोस्तपोस्तच्छुला इति कुर्यात् राइकाः संस्कृत्य इत्याः, तताऽसौ वधुरेवोपलक्षिता, निजपतिना कुर्येव ताडिता, अन्यपुरुषगत-चित्तेत्याशङ्क्य स्वगृहाभिर्घातितेति।

(ख) चूणि, पृ० १०८।

२. चूणि, पृ० १०६ : काय-बंसक-चरितजोर्गेहि।

३. वृत्ति, पत्र ११० : समाधियोगेभ्यः समाधिः—धर्मध्यानं तदर्थं तत्तत्प्रज्ञाया वा योगा—अनोवाक्यावध्यापारास्तेभ्यः।

४. (क) चूणि, पृ० १०६ : संयमो नाम धमन्याऽऽगमक-दास-सम्प्रयोग-प्रेक्षणादिवरिचयः।

(ख) वृत्ति, पत्र ११० : संस्तवं तद्गृहगमनालापकामसम्प्रेक्षणादिकथं परिचयम्।

५. (क) चूणि, पृ० १०६ : मिश्रीभावं नाम द्रव्यलिङ्गमिति, न तु भावः, अथवा धर्मध्यानाः मिहवासो वि।

(ख) वृत्ति, पत्र ११० : मिश्रीभावं इति द्रव्यलिङ्गमात्रसङ्गात् साधुवत्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवम्भूता मिश्रीभावं।

६. (क) चूणि, पृ० १०६ : धुवमग्नो नाम संयमो विरागमग्नो वा।

(ख) वृत्ति, पत्र ११० : ध्रुवो—मोक्षः संयमो वा।

५०. वाग्बीर होते हैं (वाग्बीरियं)

वृत्तिकार के अनुसार द्रव्यभिची वाग्मात्र से यह प्ररूपणा करते हैं कि हम साधु हैं। वे सातागौरव और सुख-सुविधा प्रतिबद्ध होकर शिथिल आचार वाले होते हैं अतः उनका अनुष्ठानगत कोई वीर्य नहीं होता। वे कहते हैं—‘हम जिस मार्ग पर रहे हैं वही मध्यम-मार्ग अस्कर है। इस मार्ग पर चलने से प्रव्रज्या का निर्वहन होता है।’ यह वाग्बीर्य है, अनुष्ठानगत नहीं है।

इसोक्त १८ :

५१. शुद्ध (शुद्धं)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—वैराग्य-पूर्ण अथवा विशुद्ध। वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—दोषरहित आत्मीय अनुष्ठान।

५२. यथार्थ को जाननेवाले (तथावेदा)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—कामतन्त्रविद् और प्रत्यक्षज्ञानी। वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ इंगित और आच को जानने में कुशल व्यक्ति तथा वैकल्पिक अर्थ सर्वज्ञ किया है। पाप करने वाला व्यक्ति अपने पाप को छुपाना चाहता है। वह उसके पाप को न भी जान सके किन्तु सर्वज्ञ से वह पाप छुपा नहीं रह सकता।

५३. जान लेते हैं (जानंति)

कामतन्त्र को जानने वाले मनुष्य व्यक्ति के आकार-विकारों से तथा नख, दशन आदि के घावों से जान लेते हैं कि मनुष्य अकृत्यकारी है, व्यवहारी है।

जैसे मल-मूत्र विसर्जन करने वाला अन्धा मनुष्य दूसरों के द्वारा देखा जाता हुआ भी सोचता है कि उसे कोई नहीं देखे वैसे ही राग-द्वेष से अन्धा बना हुआ मनुष्य यही सोचता है कि उसके पाप को कोई नहीं जानता, देखता। किन्तु प्रत्यक्षज्ञानी से भी छिपा नहीं रहता। वह प्रगट या एकान्त में किए हुए सभी कार्यों को जान लेता है।

५४. यह मायावी है, महासठ है (माहस्ते महासठेऽयं)

तथाविद्—यथार्थ को जानने वाले जान लेते हैं कि अमुक मायावी है और अमुक महासठ है। व्यक्ति का आचरण से उसका स्वरूप प्रगट कर देता है। उसके लिए दूसरे की साक्षी आवश्यक नहीं होती। नीतिकार कहते हैं—

१. वृत्ति, पत्र ११० : ते द्रव्यलिङ्गधारिणो बाह्यमात्रेणैव बन्धं प्रवृत्तिता इति ब्रूयते न तु तेषां सततगौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीत विहारिणां सबन्धुष्ठानकृतं बीर्यमस्तीति।

ते वृत्तारो भवन्ति यथाऽयमेवास्मद्वारब्धो मध्यमः यन्त्राः श्रेयान् तथा हि—अनेन प्रवृत्तानां प्रव्रज्यानिर्बन्धनं भवतीति तदेतत्सुखीलानां वाचा कृतम्।

२. वृत्ति, पृ० १०६ : शुद्धमिति वैरणं अथवा शुद्धमिति शुद्धमात्मानम्।

३. वृत्ति, पत्र ११० : शुद्धम् अपगतदोषमात्मानमात्मीयानुष्ठानं वा।

४. वृत्ति, पृ० १०६ : तथा वेदमस्तीति तथावेदाः, कामतन्त्रविद् इत्यर्थः। तथावेदाः प्रत्यक्षज्ञानिनः।

५. वृत्ति, पत्र ११० : तथाकथमनुष्ठानं विवर्त्ततीति तथाविद्—इङ्गिताकारकुसला निपुणास्तद्विद् इत्यर्थः यद्विवा सर्वज्ञाः। एतदुक्तं भवति—वक्ष्य्यपरः कश्चिदकर्त्तव्यं तेषां न वेति तथापि सर्वज्ञा विवर्त्तति।

६. वृत्ति, पृ० १०६ : ते हि कामयमाना आकार-विकारैर्ज्ञानिन्ति..... मल-वशान्छेदनेन सूर्यन्ते यथेतेऽकृत्यकारिणः। यथा अङ्गकाराद्युत्पन्नं हृदयमनोऽपि परमं भवेत् न मां कश्चित् पश्यति एवमसावपि राग-द्वेषान्धो जानीते न कश्चित् पश्यति साधते च परित्यजन्ममलसमुत्पत्तम्। अथवा यो यथावस्थितो भावत एतथावेदाः प्रत्यक्षज्ञानि ते हि आधीकम्पं रहोक्मं सर्वं जानन्ति।

७. (क) वृत्ति, पत्र ११० : मायावी महासठश्चायमिदं तथाविदस्तद्विदो जानन्ति, तथाहिप्रवृत्तिकायंकारी न मां कश्चिज्जानात्ये रागाद्वेषो भवत्ये, अथ च तं तद्विदो विवर्त्तति, तथा उक्तम्—न य सोऽनं.....।

(ख) वृत्ति, पृ० १०६।

न च लोभं लोभिज्जति, न च तुष्यिज्जति धनं च तेस्तं वा ।
किं सक्तो धनैः, अता अनुत्तम कल्याणो ॥^१

कसक को नसकीन नहीं बनाया जा सकता । बी और तेल को स्निग्ध नहीं किया जा सकता । जिस आत्मा ने अपने कल्याण का अनुभव कर लिया है उसे कैसे ठगा जा सकता है ?

श्लोक १६ :

५५. (प्रमाद न करने के लिए) प्रेरित करता है (आइदु)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ आदिष्ट—प्रेरित किए जाने पर किया है ।^१ जूणिकार ने 'आकुटु' शब्द देकर उसके तीन अर्थ किए हैं—प्रेरित, तृप्त और अभिशप्त ।^२

५६. प्रशंसा करने लग जाता है (पकत्पइ)

इसका अर्थ है—अपनी प्रशंसा करना । जब मुनि को प्रमाद न करने के लिए कहा जाता है तब वह कहता है—मैं अमुक कुल में जन्मा हूँ । मैं अमुक हूँ । क्या मैं ऐसा अकार्य कर सकता हूँ ? मैंने वायु से प्रेरित होने वाली कनकलता की भांति कामदेव की वक्ष्यता से कंपित होनी वाली भार्या को छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की है । क्या मैं ऐसा कर सकता हूँ ?

यदि सम्भाव्यपापोऽहमपापेनापि किं मया ।

निविषस्यापि सर्पस्य भ्रामुद्विजते जनः ॥

यदि लोग मुझे पापी के रूप में देखते हैं तो भला मैं अपापी होकर भी क्या करूँगा ! सर्प चाहे निविष ही क्यों न हो, लोग तो उससे भय खाते ही हैं ।^३

५७. मैथुन की कामना (मैथुनवीड)

वेद का अर्थ है—पुरुष वेद का उदय और अनुबीचि का अर्थ है—अनुलोम गमन । इसका तात्पर्यार्थ है—मैथुन का सेवन ।^४

श्लोक २० :

५८. स्त्रियों के हावभाव (इत्थिवेय)

स्त्रीवेद का अर्थ है—स्त्री की कामवासना ।

जूणिकार ने स्त्री की कामवासना को करीषाग्नि की भांति अतृप्त बताया है ।^१ इसको पुष्ट करने के लिए उन्होंने एक श्लोक उद्धृत किया है—

१. यह गाथा निशीथ भाष्य गाथा (१३४२ जूणि पृ० १७७) में इस प्रकार प्राप्य है—

न हि लोगं लोभिज्जति, न हि तुष्यिज्जति धनं च तेस्तं वा ।

किं नाम लोभमग ! बट्टम्मि ठविज्जते जट्टो ॥

२. वृत्ति, पत्र १११ : आदिष्टः चोचितः ।

३. जूणि प्र० ११० : आकुटो नाम चोचितः आग्रस्तः अभिशप्तो वा ।

४ (क) जूणि, पृ० ११० : कस्य इलाधायाम् पृथं कस्ययति इलाधत्पात्मानमित्यर्थः, अहं नाम अमुगकुलप्यसूतो अमुगो वा होंतओ एवं करेस्तामि ? येन मया कनकलता इव जातेरिता मदनवशादिकल्पमाना भार्या परित्यक्ता सोऽहं पुनरेवं करिष्यामि ? यदि सम्भाव्यपापोऽहमपापेनापि..... ॥

(ख) वृत्ति, पत्र १११ ।

५. (क) वृत्ति, पृ० ११० : वेदः प्रवेदः तस्य अनुबीचिः अनुलोमगमनं मैथुनगमनमित्यर्थः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १११ : वेदः पुंवेदीयस्तस्य अनुबीचिः आनुकूल्यं मैथुनाभिलाषम् ।

६. वृत्ति, पृ० ११० : इत्थिवेयो हि कुकुनमभिशप्तानो अभिशृप्ताः ।

नस्त्रिभूयति काष्ठानां, आपानां महोदधिः ।

नस्त्रिभूयति वृक्षानां, न पुंसं वामलोचनाः ॥

अग्नि सकडी से कभी तृप्त नहीं होती । समुद्र नदियों से कभी तृप्त नहीं होता । भीत प्राणियों से तृप्त नहीं होती । इसी प्रकार स्त्रियां पुरुषों से तृप्त नहीं होतीं ।

स्त्रीवेद का दूसरा अर्थ है—वैशिकतन्त्र । तेवीसवें श्लोक में चूर्णिकार ने इसका यही अर्थ किया है ।^१ यह स्त्रियों के व्यवहार सम्बन्धी जानकारी देने वाला एक प्राचीन ग्रन्थ था । इसका अनुगोपद्वार^२ और नंदी^३ में भी उल्लेख मिलता है । वैशिकतन्त्र में कहा है—

‘स्त्रियां हंसती है, रोती है धन के लिए । वे पुरुष को अपने विश्वास में लेती हैं किन्तु उन पर विश्वास नहीं करतीं । कुल और शील संपन्न पुरुष उनको वैसे ही छोड़ दे जैसे श्मशान पर ले जाई जाने वाली हडियां वही छोड़ दी जाती हैं ।’

‘स्त्रियां समुद्र की लहरों की भांति ज्वल स्वभाववाली और सन्ध्या के मेघ की तरह अल्पकालीन अनुरागवाली होती हैं । अपना काम बन जाने पर स्त्रियां निरर्थक पुरुष को वैसे ही छोड़ देती हैं जैसे बिना पिसा हुआ अलसक छोड़ दिया जाता है ।’

‘स्त्रियां सामने कुछ और कहती हैं और पीठ पीछे कुछ और ही । उनके हृदय में कुछ और ही होता है । उनको जो करना होता है, वे कर लेती हैं ।’

५६. श्लोक २० :

स्त्री के स्वभाव का परिज्ञान दुर्लभ है—इस विषय में चूर्णिकार और वृत्तिकार ने एक कथा प्रस्तुत की है । वह इस प्रकार है—

एक युवक कामशास्त्र का अध्ययन करने के लिए घर से निकला । उस समय पाटलिपुत्र में वैशिक (कामशास्त्र) का अध्ययन होता था । वह पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थित हुआ । मध्यवर्ती एक गांव में वह विश्राम के लिए ठहरा । उस नगर की एक स्त्री उससे मिली । उसने पूछा—‘युवक ! तुम आकृति से बहुत ही सुन्दर हो । तुम्हारे शरीर के अवयव बहुत कोमल हैं । कहां जा रहे हो ?’ उसने कहा—‘तृष्णी ! मैं कामशास्त्र का अध्ययन करने के लिए पाटलिपुत्र जा रहा हूँ ।’ वह बोली—‘अध्ययन पूरा कर जब तुम घर लौटो तब मुझे मन भूल जाना । इस गांव में पुनः आना ।’ उसने स्त्री की प्रार्थना स्वीकार कर ली । वह पाटलिपुत्र पहुंचा । कामशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ हुआ ।

कुछ ही वर्षों में अध्ययन पूरा कर वह पुनः उसी गांव में आया और उसी स्त्री के घर गया । वह स्त्री उसे देखते ही संध्रम से उठी और उसे ठहरने का स्थान दिया । अब वह विविध प्रकार से उसकी सेवा करने लगी । उसके लिए उचित भोजन, स्नान आदि की व्यवस्था कर उसने युवक का हृदय जीत लिया । वह उसके इच्छित और आकार के अनुसार वर्तन करने लगी । युवक ने सोचा—‘यह मुझे चाहती है । यह मेरे में अनुरक्त है ।’ उसने उस स्त्री का हाथ पकड़ा । स्त्री ने जोर से चिल्लाया । लोगो के एकत्रित होने से पूर्व ही उसने उस युवक के मस्तक पर पानी से भरा एक छोटा घड़ा फेंका । घड़ा फूट गया । घड़े का

१. चूर्णि, पृ० १११ : इत्थिवेदो नाम वैशिकम् ।

२. अनुयोगद्वाराहं, सू० ४६ : स्त्रियं भावसुदी—अं इमं... नारहं... वेसियं ।

३. नंदी, सू० ७२ : मिश्रसुप्तं अं इमं... नारहं... वेसितं ।

४. चूर्णि, पृ० ११० : वैशिकतन्त्रेऽप्युक्तम्—

एता हसन्ति च खदन्ति च अर्थहेतोः, विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति ।

तस्मान्मन्त्रेण कुल-शीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥

समुद्रवीचीव जलस्वभावाः, सन्ध्याभरेखेव सुहृत्संरागाः ।

स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निष्पीडितासक्तकवत् त्यजन्ति ॥

तथा—

अणं भगतिं पुरतो अण्यं पासे निबद्धमाणीभ्यो ।

अण्यं च तासि हिमए अं च खमे तं करेति महिमाभ्यो ॥

कंठ-भाग युवक के गले में लगा रहा। लोग आए। स्त्री ने कहा—मैंने इसकी मूर्च्छा मिटाने के लिए जल सींचा और ऐसा घटित हो गया। सारे लोग चले गए। तब वह युवक से बोली—'युवक ! क्या तुमने वैशिक (कामशास्त्र) के अध्ययन से स्त्री-स्वभाव का पूरा ज्ञान कर लिया ? स्त्री-स्वभाव को जानने में कौन समर्थ हो सकता है ? स्त्री का चरित्र दुर्विज्ञेय होता है। उसमें कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। युवक वहाँ से चला गया।'

श्लोक २२ :

६०. पाप—परदारगमन (पाप)

वृत्तिकार ने यहाँ पाप का अर्थ मैथुन या परदारगमन किया है। वृत्तिकार ने पाप का अर्थ पापकारी कर्म किया है और अठाइसवें श्लोक में पाप का अर्थ मैथुन का आसेवन किया है।

६१. श्लोक २१, २२ :

इन दोनों श्लोकों की व्याख्या में वृत्तिकार ने तीन विकल्प प्रस्तुत किए हैं। प्रथम विकल्प में व्यभिचारी स्त्री और पुरुष—दोनों को अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है, यह प्रतिपाद्य है।

दूसरी वैकल्पिक व्याख्या इस प्रकार है—

कोई पुरुष व्यभिचारिणी स्त्री से कहता है—'तूने यह काम किया।' वह कहती है—मेरे जीवन अवस्था में ही हाथ-पैर काट लो, किन्तु ऐसा आरोपात्मक वचन मत बोलो। चाहे तुम मेरी चमड़ी उधेड़ दो, मेरा मांस तोँच लो, किन्तु अयथार्थ बात मत कहो। मुझे चाहे तुम उबलते हुए तेल के कड़ाह में डाल दो, या मेरे शरीर को तप्त सडासी से दाग दो या मुझे कड़ाही में पका दो या मेरे शरीर को काटकर उस पर नमक छिड़क दो या मेरे कान, नाक या कंठ काट दो, किन्तु दूसरी बार ऐसी बात मत कहना। मेरे पर लगाया जाने वाला यह झूठा आरोप सभी वेदनाओं से बढ़कर है।

तीसरा विकल्प इस प्रकार है—

अभिशाप्त होने पर वह कहती है—चाहे मेरे हाथ-पैर काट लो, चाहे मेरी चमड़ी उधेड़ दो, मांस काट लो, मुझे कड़ाह में उबाल दो, तूणो में मुझे लपेट कर अग्नि लगा दो, शस्त्र से या अन्य प्रकार से मेरे शरीर को काटकर उसमें नमक भर दो और चाहो मेरे कान, नाक ओंठ, काट दो। मैं इस पुरुष को नहीं छोड़ूंगी। यह मेरे लिए बहुत मनोनुकूल है। मैं भी इसके लिए मनोनुकूल हूँ। मैं इसके बिना एक क्षण भी नहीं जी सकती। वह मेरे बश में है, तुम जो चाहो करो।'

श्लोक २३ :

६२. स्त्रीवेद (कामशास्त्र) (इत्थीवेदे)

इसका अर्थ है—वैशिकशास्त्र। वह शास्त्र जिसमें स्त्री के स्वभाव आदि का वर्णन हो।

देखें ४।१६ में 'इत्थीवेद' का टिप्पण।

१. (क) वृत्ति, पृ० ११०, १११।

(ख) वृत्ति, पत्र १११।

२. वृत्ति, पृ० १११ : पार्य तवेव परदारगमनं तत्राऽऽसक्ताः।

३. वृत्ति, पत्र ११२ : पापेव—पापकर्मणा।

४. वृत्ति, पत्र ११३ : मैथुनासेवनाविकम्।

५. वृत्ति, पृ० १११।

६. (क) वृत्ति, पृ० १११ : इत्थीवेदो नाम वैशिकम्।

(ख) वृत्ति, पत्र ११२ : स्त्रियं यथावस्थितस्वभावस्तत्तत्सम्बन्धविपाकतन्त्रं वेदयति—ज्ञायतीति स्त्रीवेदो—वैशिकाविकं स्त्रीस्व-
भावविशेषिकं शास्त्रमिति।

६३. कहल गया है (मुख्यधर्म)

वैशिकशास्त्र में स्त्री के विषय में कहा गया है—‘दर्पण में प्रतिबिम्बित बिम्ब जिस प्रकार दुर्गन्ध होता है, उसी प्रकार स्त्री का हृदय भी दुर्गन्ध होता है। पर्वत-मार्ग पर स्थित दुर्ग जिस प्रकार विषम होता है, वैसी ही विषम होती है स्त्री की भावना। उसका चित्त कमल पत्र पर स्थित पानी की बूँद की भाँति चंचल होता है। वह कहीं एक स्थान पर स्थिर नहीं होता। जिस प्रकार विष-लताएं विषाकुरों के साथ बढ़ती हैं, वैसे ही स्त्रियाँ दोषों के साथ बढ़ती हैं।’

‘अच्छी तरह से परिवर्तित, अच्छी तरह से प्रिय और अच्छी तरह से विस्तृत होने पर भी अटवी और महिला ने कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।’

‘समूचे संसार में ऐसा कोई भी आदमी हो जो स्त्री की कामना करते हुए दुःखी न हुआ हो, वह अपनी अंगुली ऊँची करे।’

‘स्त्रियों की यह प्रकृति है कि वे सभी में वैमनस्य पैदा कर देती हैं। जिससे इनकी कामना पूरी होती है, उसके साथ वैमनस्य नहीं करती।’

६४. (एवं पि ता.....अवकर्तति)

स्त्री बाणी से यह स्वीकार करती है कि मैं ऐसा अकार्य आगे नहीं करूँगी, किन्तु आवरण में फिर वैसा ही करती है। अथवा अनुशास्ता के सम्मुख वैसा अकार्य न करने का वादा करती है और फिर उसी अकार्य में रस लेने लगती है। यही स्त्री-स्वभाव है।

वलोक २४ :

६५. विश्वास न करे (ज सहहे)

बुद्धिकार और वृत्तिकार ने यहाँ एक कथा प्रस्तुत की है—

एक गाँव में दत्त नाम का व्यक्ति रहता था। वह कामशास्त्र का ज्ञाता था। एक गणिका ने उसे अपने कंदे में फसाना

१. (क) बुद्धि, पृ० ११२ : दुर्गन्धं हृदयं यथैव चबन यद् दर्पणागतगतं,
सत्त्वः पर्वतमार्गदुर्गन्धिविमः स्त्रीणां न विज्ञायते ।
चित्तं पुष्करपत्रतोयचपलं नैकत्र सन्तिष्ठते,
नार्यो नाम विषाकुरेरिव लता बोधैः सप्तं वद्धिताः ॥१॥
मुदटु चि चित्तानु मुदटु चि चित्तानु मुदटु चि य लक्ष्मणसरासु ।
अर्द्धसु य महिलानु य भीतिभी से न कायन्तो ॥२॥
हृत्पुच्छं अंगुलि ता पुरितो तत्त्वस्मि जीवलोअस्मि ।
कामेतेण लोए केन न पत्तं तु वेमणत्तं ॥३॥
अह एताण पणत्तिना तत्त्वस्स करेति वेमणत्ताहं ।
तत्त्व न करेण मंतुअं जस्स अलं केय कामत्तंतेण ॥४॥

(ख) बुद्धि, पृ० ११२ ।

२. (क) बुद्धि, पृ० ११२ : यथा तु प्रस्थिता निवारिया अवति—सैवं कार्षीः तदा न भूयः करिष्यामि इति एवं पि बहिस्तामं अथ पुन कम्पुजा अवकर्तति, अपकृतं नाम यद् बयोवतं यथा प्रतिपन्नं वा न कुर्वन्ति ।

(ख) बुद्धि, पृ० ११२ : अकार्यमहं न करिष्यामीत्येकमुक्त्वापि यथा ‘अबुध’ ति तत्रापि कर्मजा—क्रियया ‘अपकुर्वन्ति’ इति विकल्पमाश्रयित, यदि वा अप्रतः प्रतिपत्त्यापि शास्त्रुरेवापकुर्वन्तीति ।

३. बुद्धि, पृ० ११२ : यतो वैशिकः किल एकया गणिकया तैस्तेः प्रकारैर्निमग्नोऽप्यमात्रोऽपि मेष्टवान् तदाऽसाधुस्त्वती—स्वतःकुतेऽग्निं प्रविशामीति । तदाऽसौ यद् तद् तयोक्तं तत्र तत्रोत्तरमाह एतदप्यस्ति वैशिके । तदाऽसौ पूर्वमुक्त्वापि कष्ट-समूहं कृत्वा तं प्रवृत्तस्य तत्राभ्युदयेन सुखं स्वगृहमागतः । दत्तकोऽपि च—एतदप्यस्ति वैशिके । एवं विल-पयति धूर्त्तवर्तिर्नैवितकायां प्रविष्टः ।

(ख) बुद्धि, पृ० ११२ ।

जाहा । अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए जाने पर भी दत्त उस गणिका में आसक्त नहीं हुआ । उस गणिका ने कहा—‘मैं दुर्भागिनी हूँ । मेरे जीने का प्रयोजन ही क्या है ? तुम मुझे नहीं चाहते अतः मैं अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने आपको भस्म कर दूंगी ।’ दत्त ने कहा—‘यह साया है । यह कामतंत्र में उल्लिखित है ।’ वह जो कहती, दत्त यही कहता कि यह सारा चरित्र कामशास्त्र में उल्लिखित है । गणिका ने कहा—‘मैं अग्नि में प्रविष्ट होकर अब मरूंगी ।’ चिता तैयार की गई । गणिका उस चिता के बीच बैठ गई । चिता में आग लगा दी । सबने समझा कि गणिका जल गई । किन्तु जिस स्थान पर चिता रखी गई थी, वहाँ पहले से ही एक सुरंग खुदवा दी थी । गणिका उस सुरंग से अपने घर पहुँच गई । दत्त ने कहा—‘यह कामशास्त्र में आ चुका है । मैं पहले से ही जानता था । दत्त यह कहता रहा । धूर्तों ने उसे उठाकर चिता में डाल दिया ।

श्लोक २६ :

६६. आशिका होने के बहाने (सावियापवाएजं)

इसका अर्थ है—आशिका के मिथ से । आशिकाओं का विश्वास होता है । कुछ स्त्रियाँ भीषिका का उच्चारण कर उपाश्रय में प्रवेश करती हैं और साधु को वन्दन कर पास में बैठ जाती हैं । अथवा कोई संन्यासिनी या सिद्धपुत्री वहाँ मुनि के पास आकर कहती है—‘आप संन्यासी हैं, मैं संन्यासिनी हूँ । इस प्रकार मैं आपकी साधमिका हूँ । यह कहकर वह मुनि के निकट बैठती है और फिर मुनि का स्पर्श करने लगती है ।’

वृत्तिकार के अनुसार—कोई स्त्री आशिका के मिथ से मुनि के निकट आकर कहती है मैं आशिका हूँ इसलिए आप श्रमणों की मैं साधमिका हूँ । यह कहकर वह मुनि के अति निकट आती है और उसे संयमच्युत कर देती है । यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संग महान् अनर्थकारी होता है—

तज्ज्ञानं तच्छ विज्ञानं, तत् तपः स च संयमः ।

सर्वमेकपदे भ्रष्टं, सर्वथा किमपि स्त्रियः ॥

ज्ञान, विज्ञान, तप और संयम—ये सब स्त्री के सहवास से सहसा भ्रष्ट हो जाते हैं ।’

श्लोक २८ :

६७. (पुढा..... पावं ति)

जब आचार्य शिष्य को पाप-कर्म से उपरत रहने की प्रेरणा देते हैं तब शिष्य कहता है—‘मैं ऊँचे कुल में उत्पन्न हुआ हूँ । मैं ऐसा पापकारी कार्य नहीं कर सकता । यह स्त्री मेरी बेटी के समान है । यह मेरी बहिन या पौत्री है । मेरी प्रव्रज्या से पूर्व तक यह मेरी गोद में ही सोती थी । पूर्व अभ्यास के कारण यह पर्यंक को छोड़कर मेरे पाम से रही है । मैं संसार के स्वरूप को जानता हूँ । मैं ऐसा अकार्य कभी नहीं करूँगा, चाहे फिर मेरे प्राण ही क्यों न निकल जाए ।’

१. जूनि, पृ० ११३ : आशिकासु विध्यम्न उत्पद्यते, नीक्षिकवाऽनुप्रविश्य बन्धित्वा विधामणालक्षेण सम्बाधनादि कूपकारकवत् । काह तु त्विगणितया सिद्धपुत्री वा जगति—अद्यं साधमिणी तुभ्यं ति, स एवमासम्भतिनोभिः शिलष्यते ।

२. जूनि, पत्र ११३ : साविया — अनेन प्रवादेन व्याजेन साधमिकं योविबुधसपेत् तथाऽहं आशिकेतिहृत्वा युष्माकं धमणानां साधमिणीत्येव प्रपञ्चेन मेदीयसी भूत्वा कलबालुकमिव साधुं धर्मात् अशयति, एतदुक्तं जगति—योषित्साभिष्यं ब्रह्मचारिणां महतेऽनर्थाय, तथा बोक्तम्—तज्ज्ञानं तच्छ विज्ञानं

३. (क) जूनि, पृ० ११३ : एवा हि मम दुहिता गमिनी लप्ता वा । अह्मे शेत इति अङ्गुमायिनी, पूर्वाभ्यासादेवैषा मम अह्मे शेत निवार्धमाया पर्यङ्के वा ।

(ख) जूनि, पत्र ११३ : आचार्यादिना बोधमाना एवमाह ब्रह्ममात्रमुत्कृष्टतः तद्वया - नाहमेवभूतकुलप्रसूतः एतवकार्यं पापोपाशमभूतं करिष्यामि, ममेवा दुहितुकम्पा पुत्रं अह्मेतायिनी आसीत् तदेवा पूर्वाभ्यासेनैव सम्येधमाधरति न पुनरहं विधित्संसारस्वभावः प्राप्तास्येवेति अतमङ्गं विद्यास्य इति ।

इसलोक २६ :

६८. झूठ की यह दूसरी मंदता है (बालस्स मंदयं बीयं)

झूठ व्यक्ति की यह दूसरी मंदता है। मंदता का अर्थ है—अल्पबौद्धिकता। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का भंग करता है—यह उसकी पहली मंदता है और वह उस पाप को नकारता है—यह उसकी दूसरी मंदता है।^१

६९. पूजा का इच्छुक (पूयणकामो)

इसका अर्थ है—सत्कार-पुरस्कार का अभिलाषी। यह अकार्य के अपलाप का एक मुख्य कारण है। वह सोचता है कि मेरा अकार्य प्रगट हो जाने से लोगों में मेरी निन्दा होगी, अतः इसका अपलाप करना ही अच्छा है। वह अपने अकार्य पर पर्दा डाल देता है।^२

७०. असंयम का आकांक्षी (विसण्णो)

विवण्ण का अर्थ है—असंयम। जो असंयम की एषणा करता है, वह 'विसण्णो' कहलाता है।^३

इसलोक ३१ :

७१. नीवार (नीवार)

चूणिकार ने यहाँ 'निकिर' शब्द को स्वीकार कर उसका अर्थ प्रलोभन में डालने वाली वस्तु किया है। जैसे—गाय के लिए वास, सूअर के लिए कणमिश्रित भूसा और मछली के लिए खाद्य-युक्त काटा प्रलोभन का हेतु होता है, वैसे ही मनुष्य के लिए वस्त्र आदि पदार्थ प्रलोभनकारी होते हैं।^४

देखें—३।३६ का टिप्पण।

७२. मोह में (मोहं)

चूणिकार ने इसका अर्थ—संसार किया है।^५ वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—चित्त की व्याकुलता, किकर्तव्यमूढ़ता।^६

१. (क) वृत्ति, पत्र ११३ : बालस्य—अज्ञस्य रागद्वेषाकुलितस्यापरमार्थदृष्ट एतद्द्वितीयं मान्द्यं अज्ञत्वम् एक तावदकार्यकरणेन चतुर्थ-व्रतमङ्गो द्वितीयं तद्वचनपलेन मृषाबाधः।

(ख) वृत्ति, पृ० ११३ : द्वाभ्यामाकलितो बालो। मंदो बन्धे य भावे य, बन्धे शरीरेण उपचयाऽपचये, भावमन्धो मन्धबुद्धौ अल्प-बुद्धिरित्यर्थः। मन्दता नाम अवलतम्। कोऽर्थः? तस्य बालस्य वितिया बालता यवसौ कृत्वाऽवबानाति नाहमेवंकारीति, न वा एवं जायामि।

२. वृत्ति, पत्र ११३ : पूजर्ज—सत्कारपुरस्कारस्तत्कामः—तदभिलाषी मा मे लोके अवर्णबाधः स्यादित्यकार्यं प्रण्णावयति।

३. (क) वृत्ति, पृ० ११३ : विसण्णो असंयमो तमसेति विसण्णोसी।

(ख) वृत्ति, पत्र ११४ : विवण्णः—असंयमस्तमेचितुं शीलमस्येति विवण्णोसी।

४. (क) वृत्ति, पृष्ठ ११४ : निकरणं निकीर्यते वा निकिर, यदुक्तं भवति निकीर्यते गोरिव चारी, तथा वा सूकरस्त घृणकुण्डं कूवादि पिमिरिभवति पुष्टो य बहिष्भवति, गतो वा अस्त्यस्य यथा क्रियते, एवमसावपि मनुष्यसूकरक-वस्त्रादिनिकिरणेन निमतिव्यवति।

(ख) वृत्ति, पत्र ११४ : नीवार इत्यादि, एतद्योचिता वस्त्रादिकमामन्त्रं नीवारकल्पं बुध्येत जानीयात् यथा हि नीवारेण केनचिद्-अव्यविशेषेण सूकरादिवंशमानीयते एवमसावपि तेनामन्त्रेण अज्ञमानीयते।

५. वृत्ति, पृष्ठ ११४ : मोहः संसारः।

६. वृत्ति, पत्र ११४ : मोहं चित्तव्याकुलत्वमागच्छति—किकर्तव्यतामूढो भवति।

श्लोक ३२ :

७३. राग-द्वेष से मुक्त (ओज)

ओज दो प्रकार का है—द्रव्य ओज और भाव ओज । परमाणु असहाय या अकेला होने के कारण द्रव्य ओज कहलाता है । बिम्बु राग-द्वेष से रहित और अकेला होने के कारण भाव ओज कहलाता है । 'ओज' पद का शाब्दिक अर्थ 'विषम' है । प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ अकेला है ।

श्लोक ३३ :

७४. चारित्र्य से अष्ट (मेयमावर्णं)

भेद चार प्रकार का होता है—१. चारित्र्य-भेद २. जीवित-भेद ३. शरीर-भेद और ४. लिंग-भेद ।

प्रस्तुत प्रकरण में चारित्र्य-भेद गृहीत है ।

७५. कामासक्त (काममद्वन्द्वं)

वृत्तिकार के अनुसार इसमें तीन शब्द हैं—काम, मति और वर्त । काम का अर्थ है—इच्छारूप काम या मदनरूप काम । मति का अर्थ है—बुद्धि या मन । वर्त का अर्थ है—वर्तन करना, प्रवृत्ति करना । पूरे पद का अर्थ है—कामाभिलाषुक । किन्तु हमने 'अद्वन्द्वं' पद की व्याख्या की है । वृत्तिकार ने 'अतिवद्वं' का अर्थ—अविगत अथवा अति वर्तमान किया है ।

७६. वश में (परिनिविद्याण)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—याद दिनाकर । वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ—ज्ञानकर और बैकल्पिक अर्थ—याद दिलाकर किया है । वृत्तिकार का कारण है कि वह स्त्री यह जान लेती है कि यह पुरुष मेरा वशवर्ती हो गया है । मैं काला कहूँगी तो यह भी काला कहेगा और मैं श्वेत कहूँगी तो यह भी श्वेत कहेगा ।

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने अपने अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है—वह स्त्री उस पुरुष से कहती है—देखो, मैंने अपना सर्वस्व तुम्हें दे डाला । अपने आपको भी समर्पित कर दिया । मैंने तुम्हारे लिए स्वजन वर्ग की अवहेलना की । अब मैं न उधर की रही और न अधर की । मेरा इहलोक भी बिगड़ा और परलोक भी बिगड़ा । तुम भी कोरे ठूठ जैसे हो । तुम अपनी मर्यादा और जाति को भी ध्यान में नहीं रखते । अपने आपको स्वयं जानो । मैंने तुम्हें छोड़कर क्या कभी किसी दूसरे का कोई काम किया है ?

तुम लुचित गिर हो । तुम्हारा शरीर पसीने और मल से भरा हुआ है । वह दुर्गन्धमय है । तुम्हारे काल, छाती और वस्तिस्थान में जूओं का निवास है । मैंने कुल, शील, मर्यादा और लज्जा को छोड़कर तुम्हें अपना शरीर अर्पित किया, फिर भी तुम मेरी उपेक्षा करते हो । यह सुनकर उस स्त्री को कुपित जानकर वह विषयासक्त मनुष्य उसको विश्वास दिलाने के लिए उसके पैरों में गिर पड़ता है । तब वह कुछ दूर हटनी हुई—दूर हटो, मेरा स्पर्श मत करो—ऐसा कहती हुई अपने बाँए पैर से उसके सिर पर प्रहार करती है ।

१. (क) वृत्ति, पृष्ठ ११४ : द्रव्योऽजो हि असहायत्वात् परमाणुः । भावोऽजो राग-दोसरहितो ।

(ख) वृत्ति, पृष्ठ ११४ : एको रागद्वेषविमुक्तः ।

२. वृत्ति, पृष्ठ ११४ : ओजो विषमः ।

३. वृत्ति, पृष्ठ ११४ : भावभेदं चारित्र्यभेदमावर्णं, न तु जीवितभेदं शरीरभेदं लिंगभेदं वा ।

४. वृत्ति, पृष्ठ ११४ : कामेषु—इच्छामदनकामेषु मते—दुष्टेन वसते वा वर्तते—वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्तः—कामाभिलाषुक इत्यर्थः ।

५. वृत्ति, पृष्ठ ११४ : अतिवद्वं—अतिवर्त—अतिवर्तमानं ।

६. वृत्ति, पृष्ठ ११४ : परिनिविद्याण परिनिविद्याण परिनिविद्याण ।

७. वृत्ति पृष्ठ ११४ : परिनिविद्या मदनमयः—वदि वा—परिनिविद्या परिसर्यं ।

नीतिकार ने कहा है—

व्यामिन्नकेसरगृह्णित्सर्वसिद्धाः,
भागाश्च दानमद्वराजिकृतेः कपोलैः ।
मेघाविमलपुष्पाः सनरे च सुराः,
स्त्रीसन्निधौ वचनं कापुष्पाः सवन्ति ॥'

इलोक ३५ :

७७. पकड़ में आ जाता है (उपलब्ध)

इसका अर्थ है—पकड़ में आ जाना । जब स्त्री यह जान लेती है कि यह पुरुष मेरे में अनुरक्त है और मेरे द्वारा निर्भरिर्भूत किए जाने पर भी भाग नहीं जाएगा—तब वह निश्चित हो जाती है । वह पुरुष के आकार, इंगित और चेष्टाओं से उसे बशवर्ती मानकर फिर मनचाहा काम कराने लगती है । यह उपलब्ध का तात्पर्य है ।

७८. नौकर का (तहामूर्ति)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१. नौकर और २. लिंगस्थ के अनुरूप कार्य (माधुलिंग के योग्य कार्य) । वृत्तिकार ने 'तच्छा रूवेहि' पाठ मानकर उसका यही अर्थ किया है । वह स्त्री अपने बशवर्ती मुनि से गृहस्थ योग्य कृषि आदि नहीं करवाती, मुनि वेष में जो कार्य किया जा सकता है, वही करवाती है । सूत्रकार ने उन कार्यों का उल्लेख आगे किया है ।

७९. अच्छे फल (वग्गुफलाहं)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—धर्मकथा रूप वाणी से प्राप्त फल, वस्त्र आदि किया है ।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. अच्छे फल—तारियल, अलाबु आदि ।

२. धर्मकथारूप वाणी से प्राप्त फल—वस्त्र आदि ।

स्त्री आसक्त भिक्षु से कहती है—तुम दिन भर गला फाड़कर, बोल-बोल कर लोगों को धर्म का उपदेश देते हो, क्या तुम उनसे कुछ मांग नहीं सकते ? अथवा तुम ज्योतिष, जादू-टोना आदि करते हो, उसके फलस्वरूप प्राप्त वस्त्र आदि क्यों नहीं लाते ?

इस प्रकार वृत्तिकार ने 'वग्गु' का अर्थ वाणी किया है और वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ—अच्छा या सुन्दर तथा गौण अर्थ—वाणी किया है ।

१. (क) वृत्ति, पृष्ठ ११५ ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११५ ।

२. (क) वृत्ति, पृष्ठ ११५ : उपलब्धो नाम ययंभो मामनुरक्तो निजकुसुमो वि न गन्तु इति ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११५ : उपलब्धो भवति—आकारैरिङ्गितैश्चेष्टया वा मद्वश इत्येवं परिज्ञातो भवति तानिः कपटमादकनायिकाभिः स्त्रीभिः ।

३. वृत्ति, पत्र ११५ : तथाभूतेः कर्मकरव्यापारैः यदि वा—तथाभूतैरिति लिङ्गस्थयोग्यव्यापारैः ।

४. वृत्ति, पृष्ठ ११५ : तथाकदाहं नाम जाहं लिंगरयागुक्काहं, न तु कृष्यादिकर्माणि गृहस्थानुक्तानि ।

५. वृत्ति, पृ० ११५ : वग्गु नाम आद्या तस्याः फलाणि वग्गुफलाणि, धर्मकथाफलानीत्यर्थः ।

६. वृत्ति, पत्र ११५ : अलगूनि—शोभनानि फलानि नालिकेरादीनि अलाबुकाणि वा एवम् आह्वय आनयेति, यदि वा—वाक्फलाणि च धर्मकथाकथाया व्याकरणविद्याकथानुक्तानि वा वाक्योपानि फलानि वस्त्रादिसामकथानि ।

७. वृत्ति, पृ० ११५ : तुम दिवसं योग्यं बोल्लेण गलएण धम्मं कहेसि, जेसि च कहेसि ते न तरसि भगिनुजं ? अथवा ओइस-कोइस-बागरणफलाणि वा ।

श्लोक ३६ :

८०. (वाक्पणिमविस्सईराओ)

स्त्री उस कामात्मक भिक्षु से कहती है—तुम जंगल में जाकर लकड़ी ले आओ। बाजार में जाकर उसे बेचो। कुछ लकड़ी बचा लो। उससे भोजन तथा नाशता पकालेंगे तथा जो रसोई ठंडी हो गई है, उसे पुनः गरम कर लेंगे। घर में तेल भी नहीं है, अतः दीपक नहीं जलेंगे। लकड़ियों के उस प्रकाश में हम सुख से रहेंगे।^१

८१. मेरे पैर रखा (पायाणि य मे रयावेहि)

इसके दो अर्थ हैं—

१. पात्रों को रंग दो।

२. पैरों को महावर से रंग दो।

८२. पीठ मल दे (पट्टि उम्महे)

अधिक बैठे रहने के कारण मेरा शरीर टूट रहा है। बहुत पीड़ित कर रहा है। अतः तुम जोर-जोर से पीठ का मर्दन कर दो।^१ छाती आदि का तो मैं स्वयं मर्दन कर लूंगी। पीठ तक मेरा हाथ नहीं पहुँचता, अतः तुम उसका मर्दन कर दो।^२

श्लोक ३७ :

८३. (वत्थाणि य मे पडिलेहेहि)

वृत्तिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—

१. तुम इन वस्त्रों को देखो, ये फट गए हैं, मैं नग्न सी हो गई हूँ।

२. क्या तुम नहीं देखते, ये वस्त्र कितने मैले हो गए हैं? मैं इन्हें स्वयं धोऊँगी या तुम इनको धोबी के पास ले जाओ और धुलाकर ले आओ।

३. तुम इन वस्त्रों को ठीक से देख लो, ताकि मुझे दूसरे मिल सकें।

४. गठरी में बड़े हुए इन वस्त्रों का तुम निरोक्षण करो, जिससे कि उन्हें चूहे न काट खाएं। अथवा इन कपड़ों को गठरी में बांध लो, ताकि इन्हें चूहे न काट सके।

वृत्तिकार ने भी इसी प्रकार के विकल्प प्रस्तुत किए हैं।^१

श्लोक ३८ :

८४. अंजनवानी (अंजनि)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ काजल को रखने की तलिका किया है। संभव है उस जमाने में काजल छोटी-छोटी तलिकाओं में

१. वृत्ति, पृ० ११५ : वाक्पणि आणय, आनीय विक्कीणीहि अण्णपागाय पडमालिया वा उबक्कडिज्जिह्ति, दोक्कयं वा प्ररिताविज्जिह्ति सीतलीभूतं, तेहि पण्णोतो वा मविस्सति रातो भृगमुद्योतः, बोवतेत्वं पि पत्थि, तेहि उण्णोते सुहं हत्थी-
(व्ही)हामो विद्यावेहामो वा।

२. वृत्ति, पत्र ११६ : पात्राणि पतद्ग्रहावीनि 'रञ्जय' लेवय, येन सुजेनेव सिञ्चादनमहं करोमि, यदि वा —वाक्पणल्लकादिमा रञ्जयेति।

३. वृत्ति, पत्र ११६ : मम पृच्छिम् उत्—आवस्वेत सर्वय बाधते मयाकुपुपविष्ठाया अतः संकाश्रय, पुनरपरं कार्येणैव करिष्यसीति।

४. वृत्ति, पृ० ११६ : पट्टि उम्महे, पुरित्सं कायं अहं सक्केमि उव (म्म) हेतुं पित्ठं पुण्णं तरामि।

५. वृत्ति पृष्ठ ११६ : वत्थाणि वैक्कं सुसवरिद्वय गवाणि, पणियया हं जाया। अहवा किण्णं पस्सति मइलोभूताणि तेणं ओवेमि ? रक्कास्स वा नं वेहि। अहवा वत्थाणि मे पेहाहि ति कतो लमेक्क। अहवा एयाई वत्थाई वेडियाए पडिलेहेहि, मा से पुणारियाहं सज्जेक्क।

६. वृत्ति, पत्र ११६।

रखा जाता रहा हो ।'

८५. आभूषण (अलंकार)

हार तथा केश के कुछ अलंकरण ।' वृत्तिकार ने अलंकार के अन्तर्गत कंकण, बाजूबंद आदि का ग्रहण किया है ।'

८६. तुंबवीणा (कुक्कयय)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ तुंबवीणा किया है ।' वृत्तिकार ने इस शब्द के समकक्ष 'खुखुणय' शब्द का प्रयोग किया है ।' देशी नाममाला में 'खुखुणय' का अर्थ 'नाक का अग्रभाग' (नाक का छेद—पाइयसहमहणय) किया है ।' इसके अनुसार यह कोई नाक का आभूषण प्रतीत होता है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ-विस्तार इस प्रकार दिया है—'

वह स्त्री कहती है—तुम मुझे 'खुखुणय' दो, जिससे कि मैं सभी प्रकार के अलंकारों से विभूषित होकर बीणा बजाकर तुम्हारा मनोविनोद कर सकूँ । संभव है यह एक प्रकार की बीणा भी रही हो । वृत्तिकार ने इसका अर्थ बीणा ही किया है ।

८७. बांसुरी (बेषुपलासिय)

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने इसको इस प्रकार समझाया है—बास की कोमल छाल से बनी हुई बांसुरी जिसे दांतों में बाएं हाथ से पकड़कर दाएं हाथ से बीणा की भांति बजाया जाता है । वृत्तिकार ने इसका दूसरा नाम 'पिच्छोला' बताया है ।'

८८. गुटिका (गुलिय)

वृत्तिकार ने तीन प्रकार की गुटिकाओं का उल्लेख किया है—

- (१) औषधगुटिका—यौवन को स्थिर रखने वाली गुटिका ।
- (२) अर्धगुटिका—स्वर्ण आदि का निर्माण करने वाली गुटिका ।
- (३) अगदगुटिका—रोग को मिटाने वाली गुटिका ।

प्राचीन-काल में यौवन को यथावत् बनाए रखने के लिए औषधियों से गुटिकाओं का निर्माण किया जाता था । तदनुरूप इन गुटिकाओं का सेवन करते थे ।

वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में केवल औषधगुटिका का ही उल्लेख किया है ।''

इसलोक ३६ :

८९. कूठ (कोट्ठं)

इसका अर्थ है—कूठ । वृत्तिकार के अनुसार यह गंधद्रव्य उत्पल से बनाया जाता है ।''

१. वृत्ति, पत्र ११६ : अञ्जलिमि ति अञ्जलिका कञ्जलाधारभूता नलिकाम् ।

२. वृत्ति, पृ० ११६ : अलंकारे हार-नृकेशाद्यलङ्कारं वा सकेसियाण ।

३. वृत्ति, पत्र ११६ : कटककेपूराधिकमलङ्कारं वा ।

४. वृत्ति, पृ० ११६ : कुक्कुहगो नाम तुंबवीणा ।

५. वृत्ति, पत्र ११६ : कुक्कययं ति खुखुणयम् ।

६. देशी नाममाला, २।७६ : खुखुणयः खुखुणयः.....।

खुखुणयो प्राणसिरा ।

७. वृत्ति, पत्र ११६ : खुखुणयः मे मम प्रयच्छ येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता बीणाविनोदनेन भवन्तं विनोदयामि ।

८. (क) वृत्ति, पृ० ११६ : बेषुपलासी नाम बेषुमयी सङ्गिका कङ्किणा, सा वंतेहि य वामहस्तेन य घेतूनं बाहिणहस्तेन य बीणा इव बाह्यजड, पिच्छोला इत्यर्थः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११६ : बेषुपलासियं ति वंशारिम्बिका श्लक्ष्णत्वक् काष्ठिका, सा वन्तेवामहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन बीणावद्वाद्यते ।

९. वृत्ति, पृ० ११६ : गुलिया नाम एका ताव ओसहगुलिया अरुणगुलिया अगतगुलिया वा ।

१०. वृत्ति, पत्र ११६ : तथोषधगुटिका तथाभूतामानय येनाहमविमण्डयौवना भवामीति ।

११. वृत्ति, पत्र ११६ : कुठम्—कुठं इत्यादि उत्पलकुठम् ।

६०. तगर (तगरं)

यह वृक्ष कोंकण, अफगानिस्तान आदि में होता है। इसकी लड़ मण्ड-द्रव्य के रूप में काम आती है। इसे मदनवृक्ष भी कहते हैं।^१

६१. अगर (अगरं)

अगर नाम का वृक्ष जिसकी लकड़ी सुगंधयुक्त होती है।

६२. खस के (साथ) (उत्तीरेण)

चूर्णिकार और वृत्तिकार— दोनों ने कुष्ठ, तगर और अगर को खस के साथ पीसने की बात कही है। इनको खस के साथ पीसने से सुगन्ध होती है।^२

६३. मलने के लिए (भिलिगाय)

चूर्णिकार ने चुपड़ने के अर्थ में इसे वेशी शब्द माना है।^३

६४. तेल (तेल्लं)

वृत्तिकार ने लोध, कुकुम आदि से संस्कारित तेल को मुख की कांति बढ़ाने वाला माना है।^४

६५. बांस की पिटारी (बेणुफलाई)

चूर्णिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं—बांस की बनी हुई संबलिका (छावडी), संकोशक, पेटी, करंडक।^५

वृत्तिकार ने दो अर्थ दिए हैं—बांस से बनी पेटी, करंडक।^६

श्लोक ४० :

६६. नंदीचूर्ण (नंदीचुण्ण)

होठों को मुलायम करने के लिए अनेक द्रव्यों के मिश्रण से बनाया गया चूर्ण।^७ तुल के वृक्ष को नदी वृक्ष कहा जाता है।^८ संभव है इस वृक्ष की छाल से यह चूर्ण निष्पादित होता है।

६७. माषी (सूय)

पत्रशाक को सूय कहा जाता है।^९

१. बृहत् हिंभी कोष ।

२. (क) चूर्ण, पृ० ११६ : एतानि हि प्रत्येकशः पांश्याणि भवन्ति ।

(ख) वृत्ति, पृ० ११६ : एतत्कुष्ठाधिकम् उत्तीरेण वीरणीमूलेन सन्निपद्यं सुगन्धि भवति ।

३. चूर्ण, पृ० ११६ : भिलिगाय त्ति वेशीजासाए मक्कणमेव ।

४. वृत्ति, पत्र ११६ : तेलं लोधककुमादिना संस्कृतं मुखमाश्रित्य ।

५. चूर्ण, पृ० ११६ : बेणुफलाई त्ति बेणुमयी संबलिका संकोशको पेसिया करण्डको वा ।

६. वृत्ति, पत्र ११६ : बेणुफलाई त्ति बेणुकार्याणि करण्डकपेटकादीनि ।

७. (क) चूर्ण, पृ० ११६ : नंदीचुण्णं नाम जं संजोड्यं ओट्टुवन्नमयं ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११६ : नन्दीचुण्णगाई त्ति द्रव्यसंयोगमिन्द्रावितोषकककनचूर्णोऽभिधीयते ।

८. बृहत् हिंभी कोष ।

९. (क) चूर्ण, पृ० ११७ : सूयं नाम पत्रशाकम् ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : सूयकौशलाय पत्रशाकश्चैवनायम् ।

६८. वस्त्र को हल्के नीले रंग से रंगा दे (आनीलं च वस्त्रं रावेहि)

वृत्तिकार कहते हैं—आनील गुटिका से माटक, सूत अथवा केंचुली रंगा दे। नीले रंग से इस वस्त्र को रंग। मैं कुसुमे से वस्त्रों को रंगना जानती हूँ, तुम रंग ला दो। मैं अपने वस्त्र भी रंग लूंगी तथा मूल्य लेकर दूसरों के वस्त्र भी रंग दूंगी।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पहनने के कपड़े गुटिका आदि से ऐसे रंग दो जिससे वे हल्के नीले या पूरे नीले हो जाएं।

इसलोक ४१ :

६९. तपेली (सुफणि)

वृत्तिकार के अनुसार 'फणित' का अर्थ है—पकाना, रांधना। जिस बर्तन में सरलरूप से पकाया या रांधा जा सके, उस बर्तन को 'सुफणि' कहा जाता है। लाट देशवासियों के अनुसार कढ़ाई सुफणि कहलाती है।

बराडब (?), पत्तुल्लब (?) स्थाली, पिठर आदि को सुफणि माना गया है। इन बर्तनों में थोड़े इन्धन से भी ठंडे को गरम किया जा सकता है।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—तपेली, बटलोर, बहुगुना (भगोना) आदि ऐसे बर्तन जिनमें छाछ आदि पदार्थ सुख-पूर्वक पकाए (उबाले) जाते हैं। ये बर्तन ऊबे होते हैं, अतः तरल पदार्थ के उबलकर बाहर आने का भय नहीं रहता।

१००. आंबले (आमलगाई)

वृत्तिकार ने आंबले के दो प्रयोजन बतलाए हैं—शिर के बाल छोने के लिए तथा खाने के लिए।

वृत्तिकार ने आंबले के तीन प्रयोजन दिए हैं—१. स्नान के लिए, २. पित्त को शान्त करने के लिए तथा ३. खाने के लिए।

१०१. तिलककरणी (तिलगकरणी)

वृत्तिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं—

१. हाथीदांत या सोने की बनी हुई शलाका जिससे गोरोचन आदि का तिलक किया जाता है।
२. गोरोचन आदि पदार्थ चिनसे तिलक किया जाता है।
३. ऐसा ठप्पा (Block) जिसको गोरोचन आदि में डालकर ललाट पर लगाने से तिलक उठ जाता है।
४. जहां तिल तैयार किए जाते हैं या पीसे जाते हैं।

१. वृत्ति, पृ० ११७ : आनीलो नाम गुलिया साबलिया, एतेन साडिगा सुलं कंचुगं वा रावेहि नीलीराने वा इमं वस्त्रं सुहाहि। अथवा सा तयमेव कसुमगादिरागेण जावति वस्त्राणि रावेतु तेन अप्यजो वा कञ्जे वस्त्ररागं मगाति, जेति वा रइस्तति मोल्लेण।

२. वृत्ति, पृ० ११७ : वस्त्रम् अम्बर परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा आनीलम्—ईषर्त्तोलं सामस्त्येन वा नीलं भवति, उप-लक्षणाव्यवहस्तं वा यथा भवतीति।

३. वृत्ति, पृ० ११७ : फणित नाम पक्कं रसं वा, सुखं फणितवति अथ सा भवति सुफणी, लाडायं अहि कड्डसि तं सुफणि सि बुचति, सुफणी बराडबो पत्तुल्लबो वाली पिठुडगो वा। तत्प अप्येण वि इधयेणं सुहं सीतकुसुणं उक्कवेहामो।

४. वृत्ति, पृ० ११७ : सुफणि च इत्यादि सुष्ठु सुखेन वा फण्यते—कवाप्यते तकादिकं यत्र तसुफणि—स्थालीपिठरादिकं जावन-मभिधीयते।

५. वृत्ति, पृ० ११७ : आमलगा तिरौछोवणाबी—अक्कणार्थं वा।

६. वृत्ति, पृ० ११७ : आमलकानि छात्रीफलानि स्नानार्थं विलोपक्षमनायाभ्यवहारार्थं वा।

७. वृत्ति, पृ० ११७ : तिलकरणी नाम वंतवहया सुबन्धगादिमहया वा, सा रोयणाए अण्णतरेण वा जोएणं तिलयो कीरइ, तत्प छोहं अनुगासंतगस्स उव्वरि ठविव्वति तत्प तिलगो उट्ठेति, अथवा रोचनया तिलकः क्रियते, स एव तिलक-करणी भवति, तिला वा अल्प कीरति पित्तंति वा।

वृत्तिकार ने तीन अर्थ (१, २, ४) किए हैं ।

१०२. अञ्जनशलाका (अञ्जनशलागं)

इसका अर्थ है—आँख में अंजन आँखने की शलाका । वृत्तिकार ने अंजन के तीन अर्थ किए हैं—ओतांजन, जात्यंजन और काजल । वृत्तिकार ने अंजन का अर्थ सीवीरक अंजन किया है ।

इसोक्त ४२ :

१०३. संवशक (संवासरं)

वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ इस प्रकार किया है—जिस व्यक्ति की जितनी संपत्ति होती है, वह उसके अनुसार मान-दंड के रूप में सोने का कल्पवृक्ष बनाता है, उसे संवशक कहा जाता है । इसका वैकल्पिक अर्थ है—नाक के केश उखाड़ने का उपकरण—संडसी, चिमटी ।

वृत्तिकार ने यह वैकल्पिक अर्थ ही स्वीकार किया है ।

१०४. कंधी (फणिहं)

वृत्तिकार ने कंधी के तीन प्रयोजन बताए हैं—बालों को जमाना, बालों को मुलकाना और बालों में पड़ी हुई जूओं को निकालना ।

१०५. केश-कंकण (सीहलीपासगं)

वृत्तिकार के अनुसार 'सीहली' का अर्थ है—चोटी । यह देशी शब्द है । उसको बांधने के उपकरण को 'सीहलीपासग' कहा जाता है । यह एक प्रकार का केश-कंकण है, जो अपने-अपने वैभव के अनुसार स्वर्ण आदि से बनाया जाता था ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ चोटी को बांधने के लिए काम में आने वाला ऊन का कंकण किया है ।

१०६. दतवन (दंतपक्खालणं)

दांतों को साफ करने के लिए दतवन ।

१. वृत्ति, पृष्ठ ११७ ।

२. वृत्ति, पृष्ठ ११७ : अञ्जनं अञ्जनमेव ओताञ्जनं जात्यञ्जनं कज्जलं वा, अञ्जनशलाका तु वाए अस्मि अञ्जिज्जति ।

३. वृत्ति, पृष्ठ ११७ : अञ्जनं—सीवीरकादि शलाका—अञ्जोरञ्जनमार्थं शलाका अञ्जनशलाका ।

४. वृत्ति, पृष्ठ ११७ : संवासरं कप्पसक्खज्जो कज्जति सोवणिज्जो, जस्स वा आरिसो विमब्बो । अथवा संवासरो जेय वासारोवाणि उक्खज्जति ।

५. वृत्ति, पृष्ठ ११७ : संवासकं नासिकाकेसोत्पादकम् ।

६. वृत्ति, पृष्ठ ११७ : कणियाए वाला जमिज्जति ओसिह्लिज्जति कुपाओ वा उद्धरिज्जति ।

७. वेत्तीनाममाला ८४५ :सिह्लोमासिआसु सीह्लिजा ॥

सिह्लिजा—सिजा मज्जालिका वेत्ति इत्यर्थः ।

८. वृत्ति, पृष्ठ ११७ : सीह्लिपासगो नाम कंकणं, तं पुण्ण अथाविमकेण सोवणिज्यं पि कीरति । सिह्ली नाम सिह्लंओ, तस्स पासगो सिह्लीपासगो ।

९. वृत्ति, पृष्ठ ११७ : सीह्लिपासगं ति वेत्तीसंजमार्थमुपनिबधं कज्जुलं ।

१०. वृत्ति, पृष्ठ ११७ : दन्तप्रखालनं—दन्तकाण्डम् ।

श्लोक ४३ :

१०७. सुपारी (पुष्पफल)

इसका सामान्य अर्थ है—सुपारी । चूर्णिकार ने इससे पांच सुगंधित द्रव्यों का ग्रहण किया है । वे पांच द्रव्य हैं—

- | | |
|-----------|-----------|
| १. पात्र | ४. लोंग |
| २. सुपारी | ५. कपूर । |
| ३. इलायची | |

१०८. (कोसं च मोघमेहाए)

स्त्री कहती है—रात में मुझे मय लगता है । मैं प्रसवण करने के लिए बाहर नहीं जा सकती । इसलिए तुम मुझे प्रसवण-पात्र ला दो, जिससे कि मुझे बाहर न जाना पड़े ।

श्लोक ४४ :

१०९. पूजा-पात्र (बंदालगं)

देवताओं की पूजा करने के लिए प्रयुक्त होने वाला ताम्रमय पूजा-पात्र । चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार मधुरा में इस पूजा-पात्र को 'बंदालक' या 'बंदालक' कहा जाता है ।

११०. लघु पात्र (करकं)

चूर्णिकार ने 'करक' के तीन प्रकार बतलाए हैं—

- शौचकरक ।
- मद्यकरक ।
- व्यक्करककरक ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ पानी या मदिरा रखने का लघुपात्र किया है ।

१११. संडास के लिए गढ़ा खोद दे (वक्खवरगं च आउसो ! खणाहि)

इस चरण में 'खणाहि' शब्द का प्रयोग हुआ है । यह संडास-गृह की विशेष स्थिति की ओर निर्देश करता है । चूर्णिकार के अनुसार घर के एकान्त में एक कूई या गढ़ा खोदा जाता था और घर के सदस्य वहीं शौच-कार्य करते थे । यह आज के 'सर्वोदय' संडासों से तुलनीय है ।

वृत्तिकार ने 'खणाहि' का अर्थ 'संस्कारित कर' किया है । किन्तु यह प्रस्तुत अर्थ को स्पष्ट नहीं करता ।

१. चूर्ण, पु० ११७ : पुष्पफलपुष्पात् पुष्पसौम्यिकं गृह्यते ।

२. वृत्ति, पत्र ११७ : तत्र शौचः—प्रसवणं कायिकेक्षणं तेन मेहुः—सेवनं तदर्थं भाजनं डोक्षय, एतदुक्तं भवति—बहिर्गमनं कर्तुमहम-समर्था रात्रौ जगाम् अतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमनं न भवति तथा कुच ।

३. (क) चूर्ण, पु० ११८ : बंदालको नाम तंबलको करौडको येनाऽर्हवादि देवतानां अञ्चजियं करेहामि, सो मधुराए बंदालको गृह्यति ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : बन्धालकम् इति देवतार्चनिकाद्यर्थं ताम्रमयं भाजनं, एतच्च मधुरायाम् बन्धालकत्वेन प्रतीतमिति ।

४. चूर्ण, पु० ११८ : करकः करक एव शौचकरको मद्यकरको वा व्यक्करिककरको वा ।

५. वृत्ति, पत्र ११७ : करको जलाहारो मदिराभाजनं वा ।

६. चूर्ण, पु० ११८ : वक्खवरगं खणाहि, तं वक्खवरं पञ्चमं करेहि कूचि चअथ खणाहि ।

७. वृत्ति, पत्र ११७ : जन संकुच ।

११२. क्षुण्ण (सरपात्यग)

इसका अर्थ है—क्षुण्ण । बच्चे इसका उपयोग खेलने के लिए करते थे । वे इससे एक-दूसरे पर तीर चलाते और प्रसन्न होते थे ।

११३. आम्भेर (अम्भ-पुत्र) (साम्भेराए)

यहाँ आम्भेर का प्रयोग अम्भपुत्र के अर्थ में किया गया है ।

११४. तीन वर्ष का बेल (गोरहण)

तीन वर्ष का बेल जो रथ में जुतने योग्य हो जाता है उसे 'गोरथक' कहा जाता है ।

विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलिख ७।२४ का टिप्पण ।

कलोक ४५ :

११५. बच्चे के लिए (कुमारभूयाए)

इसके दो अर्थ हैं—छोटे बच्चे के लिए अथवा राजकुमार रूप मेरे बच्चे के लिए ।

वह पुरुष स्त्री से पूछता है—तू अपने बेटे के लिए इतनी चीजें मगा रही है, क्या वह राजपुत्र है? वह कहती है—राजपुत्र की मां तो मर चुकी । यह मेरा लाडला देवकुमार है । देवता की कृपा से मैंने ऐसे देवकुमार सदृश बेटे को जन्म दिया है । मुझे तुम फिर ऐसा कभी मत कहना ।

११६. घंटा (घडिग)

घुणिकार ने इसका अर्थ—बच्चे का सिलौना किया है । घुणिकार ने इसे मिट्टी की कुल्हाड़िका माना है । यह एक प्रकार का घंटा होना चाहिए जिससे बच्चे खेलते हैं ।

११७. डमरू (डिडिमएणं)

घुणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—छोटा पटह और डमरू । घुणिकार ने इसे पटह आवि बाजे का वाद्यक माना है ।

११८. कपड़े की गेंद (बेलगोलं)

इसका अर्थ है—वस्त्र या धागे से बना गेंद ।

१. (क) घुणि, पृ० ११८ : सरो जनेन पात्यत इति सरपात्यकं क्षुण्णकम् ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : सरा—इषवः पात्यन्ते—क्षिप्यन्ते येन तच्छरपात्यं—क्षुण्णः ।

२. (क) घुणि, पृ० ११८ : अम्भस्यापत्यं आम्भेरः तस्मै आम्भेराय ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : सामभेराए त्ति अम्भस्यापत्यं आम्भेरायस्मै अम्भपुत्राय ।

३. वृत्ति, पत्र ११७ : गोरहणं त्ति त्रिहायणं बलीवर्धम् ।

४. वृत्ति, पत्र ११७, ११८ : कुमारभूताय क्षुण्णकम्पाय राजकुमारभूताय वा मत्पुत्राय ।

५. घुणि, पृ० ११८ : स तेनापविश्यते—किमेसो रायपुत्रो ? । सा ज्ञप्ति—माता हुता रायपुत्रस्त, एसो अम्भ देवकुमारभूतो, देवता-पसावेण देवाहं देवकुमारसज्जहं पुत्रं पसूता, मा तु मे एवं अम्भेज्जासु ।

६. घुणि, पृ० ११८ : घडिमा आम्भं कुडिस्सगा वेडक्करमचिका ।

७. वृत्ति, पत्र ११७ : घडिकां सुन्नायकुल्लडिकाम् ।

८. घुणि, पृ० ११८ : डिडिमणो आम्भं बडहिका डमरुणो वा ।

९. वृत्ति, पत्र ११७ : डिडिमैम पटहकाविकाविप्रविसेयेण ।

१०. (क) घुणि, पृ० ११८ : बेलगोली आम्भं बेलमओ गोलली तम्भुमओ ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : बेलगोली त्ति वस्त्रावच्छादकं कम्भुकम् ।

११६. घर की ठीक व्यवस्था कर (आवसहं जानाहि भत्ता !)

स्त्री कहती है—‘भर्ता ! वर्षा ऋतु शिर पर मंडरा रही है। यह घर स्थान-स्थान पर टूटा-फूटा हुआ है। अनेक स्थानों पर पानी चू रहा है। तुझ इसको ठीक कर दो। इसे निर्वात बना दो। कहीं भी पानी न चूए, ऐसा कर दो, जिससे कि हम वर्षा-काल के चार महीने सुखपूर्वक बिता सकें।’

प्रस्तुत चरण में धूर्तिकार ने ‘भत्ता’ को संबोधन मानकर अर्थ किया है। धूर्तिकार ने ‘भत्त’ शब्द मानकर इसका अर्थ तंतुन आवि किया है। प्रथम है भित्तिकारों ने ‘भत्ता’ के स्थान पर ‘भत्त च’ पाठ लिख दिया हो।

श्लोक ४६ :

१२०. छटिया (आसंधि)

बैठने के योग्य मंथिका तीन प्रकार की होती थी—

१. सूत के धागों से मूंथी हुई।
२. कमड़े की डोरी से मूंथी हुई।
३. कमड़े से मंडी हुई।

१२१. काष्ठपादुका (पाउल्लाह)

धूर्तिकार के अनुसार स्त्री कहती है—वर्षाकाल में चारों ओर कीचड़ हो जाता है। लड़ाऊ से कीचड़ को सुखपूर्वक पार किया जा सकता है। इसे पहन कर रात या दिन में भी कीचड़ पर चला जा सकता है।

धूर्तिकार ने काठ की या मूंज की बनी पादुकाओं का उल्लेख किया है। स्त्री कहती है—पर्यटन करने के लिए मुझे आड़ाक ला दो। मैं बिना पादुकाओं के एक पैर भी नहीं चल सकती।

१२२. (अबु.....दासा वा)

उस गर्भवती स्त्री के तीसरे महीने में दोहद उत्पन्न होता है, तब वह उस पुरुष को दास की भांति आज्ञा देती है और विविध प्रकार की वस्तुएं मंगवाती है। वह कहती है—मुझे चावल दधिकर नहीं लगते, कोई और चीज ला दो। यदि अमुक चीज नहीं मिलेगी तो मैं मर जाऊंगी अथवा मेरे गर्भपात हो जाएगा। वह आसक्त पुरुष उसकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करता है।

१. धूर्ति, पृ० ११८ : तेन निषाद्य निष्यगसं च आवसहं जानाहि भत्ता ! जेन भत्तारि भासा निष्यसत्सं अन्ववमाणा सुहं अन्वमाओ.....इच्छा वा इमो आवसहो सज्जित-यजितो एतं संठवेहि सि ।

२. धूर्ति, पृ० ११८ : आवसहं गृहं प्राबुद्कालमिवासयोग्यं तथा भर्ता च तन्नुसाविकं तत्कालयोग्यं जानाहि निष्यग निष्यादय देन सुवेमैवानामतपरिकल्पितावसवाधिना प्राबुद्कालोऽतिबाह्यते इति ।

३. (क) धूर्ति, पृ० ११८ : आसंधिना आम वेसयगं । अवसुत्तगो पवएण सुत्तेज उण्हिया (उण्हिया) — पट्टेण चन्नेज वा ।

(ख) धूर्ति, पृ० ११८ : आसंधियं इत्यादि आसंधिकामुपवेशनयोग्या अम्बिकासा नवसूत्रा तान् उपलक्षणावस्थाद् वध्वममिज्जाम् ।

४. धूर्ति, पृ० ११८ : पाउल्लाहं ति कहुपाडगाओ, ताहि सुहं चिक्कल्ले संकमिज्जति, रत्तिविरत्तेसु संकमं वा करेति चिक्कल्लस्स उत्तरि ।

५. धूर्ति, पृ० ११८ : एवं च—मौञ्जे काष्ठपादुके वा संकमणार्थं पर्यटनार्थं निष्यग, यतो नाहं निरावरणपादा भूमौ पथमपि वातुं समर्थेति ।

६. धूर्ति, पृ० ११८ : जाहे सां गमिणी तद्वयमासे दोहिसणिना भवति तो जं दासमिज्ज आणवेति, आवसफत्ताणि वि मगाइ ति, भत्तं मे ज चन्नेज्ज, अमुगं मे आण्वेहि, जइ वाऽऽण्वेहि तो मरामि गव्वो वा ववेति, स चापि दासवत् सर्वं करोति आणसियं ।

इलोक ४७ :

१२३. पुत्र कभी फल के उत्पन्न होने पर (जाए फले समुपपन्ने)

फल का अर्थ है—प्रधानकार्य । मनुष्यों के कामभोगों की प्रधान निष्पत्ति है—पुत्र का जन्म । नीतिकारों का कथन है—

'पुत्र जन्म स्नेह का सर्वस्व है । यह धनवान् और दरिद्र—दोनों के लिए समान है । यह चन्दन और लस से बना हुआ न होने पर भी हृदय को शीतलता देने वाला अनुपम लेप है ।'

पुतली बोली बोलने वाले बालक ने 'शयनिका' के स्थान पर 'शर्पनिका' कह डाला । सांख्य और योग को छोड़कर वह शब्द मेरे मन में रम रहा है ।

संसार में पुत्र का मुझ अपना दूसरा मुख है । इस प्रकार पुरुषों के लिए पुत्र परम अभ्युदय का कारण है ।'

१२४. इसे (पुत्र को) ले अथवा छोड़ दे (मेणुसु वा नं अहवा जहाहि)

पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर स्त्रियाँ पुरुषों की किस प्रकार से विडम्बना करती हैं, उसका विश्वर्शन इस चरण में हुआ है । वे कहती हैं—'तुम इस बालक को संभालो । मैं कार्य में व्यस्त हूँ । मुझे अण मात्र का भी अवकाश नहीं है । चाहे तुम इस बच्चे को छोड़ दो । मैं इसकी बात भी नहीं पूछूंगी ।' कभी कुपित होने पर कहती है—'मैंने इस बालक को नौ महीने तक गर्भ में रखा । तुम इसे कुछ समय तक गोद में उठाने के लिए भी उद्विग्न हो रहे हो ।'

बास अपने स्वामी के आदेश का पालन उद्विग्नता से भय के कारण करता है, किन्तु स्त्री का बशवर्ती मनुष्य स्त्री के आदेश को अनुग्रह मानता है और उसके निष्पादन में प्रसन्नता का अनुभव करता है । कहा है—

मेरी स्त्री मुझे जो रक्षिकर है, वही करती है । ऐसा वह मानता है । किन्तु वह यह नहीं जानता कि वह स्वयं वही कार्य करता है जो अपनी प्रिया को रक्षिकर हो ।

१. (क) वृत्ति, पृ० ११६ : फलं किल मनुष्यस्य कामभोगाः तेषामपि पुत्रजन्म । उच्यते च—

इवं तु स्नेहसर्वस्वं सममाह्वय-वरिष्ठिनाम् ।

अचन्दनमनौरीरं हृदयस्थानुलेपनम् ॥१॥

यत् तत् च-य-न केरुमुक्तं बासेनाव्यक्तमाश्रिता ।

हित्वा साङ्ख्यं च योगं च तन्मे मनसि वसति ॥२॥

लोके पुत्रमुक्तं नाम द्वितीयं मुक्तमात्मनः ।.....

साधव जाघे किञ्चि आनता जघति ताघे जघति—बारके बालहृत्वे पुत्रं खेव करेहि । अतिविबन्धे वा तस्त् अप्येतुं जघति—एस ते ।

(ख) वृत्ति, पत्र ११८ :

२. वृत्ति, पत्र ११८ : जाते तदुद्देशेन या विडम्बनाः पुत्रवार्ता जघति ता वसयति—अमुं बारकं गुहाय त्वम्, अहं तु कर्मक्षमिका न मे ग्रहणावसरोऽस्ति, अथ खेनं जहाहि वरित्यज्ज नारुमस्य वार्तामपि पुच्छामि, एवं कुपिता सती ब्रूते, मयाऽयं मम मासानुबरेषोऽहः एव पुनस्तस्मिन्नेनापुद्गहनं स्तोकेमपि कालमुद्विजस इति, बासहृष्टास्तत्वादेशवानेनेन साम्यं जघते, नादेशनिष्पादनेन, तथाहि—बासो जघादुद्विजजावेशं विजसते, स तु स्त्रीवशातोऽमुकहं मम्यमानो मुद्वितश्च तवावेशं विजसते, तथा चोक्तम्—

यदेव रोषते जह्यं, तदेव क्रुधते प्रिया ।

इति वेति न जानाति, तत्प्रियं यत्कारोत्यसौ ॥१॥

ब्रूति प्राशितः प्राणान्, मातरं हंति तत्क्रुते ।

किं न वच्चात् न किं कुर्मस्त्वोद्विजव्यवितो नरः ॥२॥

ब्रूति लोचनानीयं, पाथी प्रकाशयत्यपि ।

स्नेहमात्मस्य पुच्छति, क्वीयं वसयतो वरः ॥३॥

धावसा करने पर वह अपने प्राणों को भी दे देता है। प्रिया के लिए मां की हत्या भी कर डालता है। स्त्रियों के द्वारा मारने पर वह क्या नहीं देता या क्या नहीं करता ? (सब कुछ कर डालता है।)

वह प्रिया को शौच का पानी ला देता है। उसके पैर पसारता है। उसके श्लेष्म को भी हाथ में ले लेता है। (उसे हाथों में धुकाता है।)

श्लोक ४८ :

१२५. (राखे बि.....झाई बा)

जब वह स्त्री बिभ्रान्त होकर सो जाती है, या सोने का बहाना कर आंखें मूंद लेती है या अहं या मजाक में रोते हुए बच्चे को नहीं उठाती, तब वह पुरुष उठता है और अंकघात्री की भांति बच्चे को गोद में उठाकर, अनेक प्रकार के उल्लापकों के द्वारा उसे सुलाने का प्रयत्न करता है। वह लोरी गाते हुए कहता है—तुम इस नगर के, हस्तिनपुर, गिरिपत्तन, सिंहपुर, ङंके-नीचे भू साग वाले कुम्भपुर, काम्यकुब्ज और आत्ममुख सौर्यपुर के स्वामी हो।

इस प्रकार असंख्य उल्लापकों से वह बच्चे को सुलाता है।

१२६. धोबी (हंसा)

इसका अर्थ है—धोबी। गृहस्थाश्रम में वह पुरुष शौचवादी था। प्रव्रज्या लेने के बाद वह आत्मस्थित हुआ। किन्तु प्रव्रज्या से व्युत्त होकर वह स्वयं अपनी प्रेयसी और बच्चे के मृतकवस्त्र धोने में लज्जा का अनुभव नहीं करता। वह धोबी की तरह उसके कपड़े धोता है।

श्लोक ४९ :

१२७. (दासे लिए ब वेस्से बा)

कृषिकार की व्याख्या इस प्रकार है—

कामभोग के लिए प्रव्रज्या को छोड़कर जो भ्रष्ट हो गए हैं, उन पुरुषों के साथ स्त्रियाँ दास की भांति व्यवहार करती हैं, पालतू पशु की भांति मारती-पीटती हैं तथा प्रेयसी की भांति उसे अनेक प्रकार के कार्यों में नियोजित करती हैं।

वृत्तिकार की व्याख्या इस प्रकार है—

१. (क) कृषि, पृ० ११६ : यदा सा रतिमरन्ध्रान्ता वा प्रमुप्ता भवति, इतरथा वा पशुतलक्लेषेण वा अश्वति, वेष्टित्या वा गन्धेन शोभाए वा दारमं बभूव पि जगति (य गेहति) ताद्ये सो तां दारमं अंकघात्री बिब जानाबिद्येहि उल्ला-
पयहि परियंभन्तो ओसोवेति—
तामिओ मे जगरस्त य, हस्तिनपुर-गिरिपट्टण-सीहपुरस्त य।
अश्वतस्त मिश्रस्त य कंभिपुरस्त य, कण्डवज्ज-आयामुह-सौरिपुरस्त य ॥

(ख) वृत्ति, पत्र ११६।

२. (क) कृषि, पृ० ११६ : हंसो नामा रजकः।

(ख) वृत्ति, पत्र ११६ : हंसा इव रजका इव।

३. कृषि, पृ० ११६ : शौचवादिका यहवासे प्रव्रज्यायां वा सुदृढं वि आतट्टिया होऊण एगंतसीखा वा सूर्यगवस्थानि धोवमाणा वत्थासुवा भवति।

४. कृषि, पृ० ११६ : दासवद् भुज्यते, मृगवच्च भवति, यथा मृगो बभमानोत्त पच्यते मार्यते वा मुच्यते वा, प्रेयवच्च प्रेय्यते वाचाबिद्येसु कम्मेषु।

५. वृत्ति, पत्र ११६ : तथा यो रागाग्धः स्त्रीभिर्वशीकृतः स दासवदशङ्कितान्निस्तामिः प्रत्यपरेऽपि कर्मणि नियोज्यते, तथा वापुस्तपितः परवशो मृग इव मार्यते, वात्मवशो भोजमाहिकिया अपि कर्तुं लभते, तथा प्रेय इव कर्मकर इव कर्म्यते इव वर्थः-
शोचमादावपि नियोज्यते।

जो पुरुष स्त्रीवशवर्ती है उसे स्त्रियाँ निःशंक होकर बाल की भाँति अनेक कार्यों में नियोजित करती हैं। जैसे जाल में फँसा हुआ मृग परबश होता है, वैसे ही वह पुरुष स्त्री के जाल में फँसकर परबश हो जाता है। वह भोजन आदि करने में भी स्वतंत्र नहीं होता। स्त्रियाँ उससे कीतवास की भाँति लीचासय साफ करना आदि अनेक काम करवाती हैं।

१२८. पशु की भाँति चारबाही (पशुसूय)

वह पशु की भाँति हो जाता है। पशु कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य होता है। उसमें हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने का विवेक नहीं होता। वैसे ही स्त्रीवशवर्ती मनुष्य भी विवेकशून्य होता है। जैसे पशु आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की संज्ञा में ही रत रहता है, वैसे ही वह पुरुष भी कामभोग में ही रत रहता है, इसलिए वह पशुसूय होता है।^१

१२९. अपने आपमें कुछ भी नहीं रहते (न वा केई)

वह पुरुष अपने आप में कुछ भी नहीं रहता। वृत्तिकार ने इसके अनेक विकल्प प्रस्तुत किए हैं—

१. वह स्त्रीवशवर्ती मनुष्य दास, मृग, प्रेय्य और पशुओं से भी अधम होता है, इसलिए वह कुछ भी नहीं होता। वह सब में अधम होता है, कोई उसकी तुलना नहीं कर सकता, अतः वह अनुपमेय होता है।
२. दोनों ओर से भ्रष्ट होने के कारण वह कुछ भी नहीं होता। वह सदा आचरण से शून्य होने के कारण न साधु रहता है और तांबूल आदि का परिभोग न करने तथा जोच आदि करने के कारण न गृहस्थ ही रहता है।
३. इहलोक या परलोक के लिए अनुष्ठान करने वालों में से वह कोई भी नहीं है।^२

इलोक ५० :

१३०. परिचय का (संबंध)

इसका अर्थ है—परिचय। स्त्रियों के साथ उल्लाप, समुल्लाप करना, उन्हें कुछ देना, उनसे कुछ लेना आदि संस्तव के ही प्रकार हैं।^३

१३१. संवास का (संवास)

स्त्रियों के साथ एक घर में या स्त्रियों के निकट रहना 'संवास' है।^४

१३२. वे कामभोग सेवन करने से बढ़ते हैं (तच्छासित्या इमे कामा)

वृत्तिकार ने इसका एक अर्थ यह किया है—उस जाति के। उनके अनुसार काम चार प्रकार के हैं—भृगार, करुण, रौद्र और बीभत्स।

इसका दूसरा अर्थ है—वे काम जिनका सेवन उसी प्रकार के कामों को पैदा करता है, जैसे—मैथुन का सेवन करने से पुनः पुनः मैथुन-सेवन की कामना उत्पन्न होती है। कहा भी है—

१ वृत्ति, पत्र ११९ : कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यत्वात् पशुभूत इव, यथा हि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहा-
भिन्न एव केवलम्, एवमसावपि सबनुष्ठानरहितत्वात् पशुकल्पः।

२ (क) वृत्ति, पत्र ११९ : स स्त्रीवशागो दासमृगप्रेय्यपशुसूयोऽन्यसम्भवात् न कश्चित्, एतद्वृत्तं भवति—सर्वाग्रमत्वाप्तस्य तत्सुखं
नास्त्येव देमासावुपमीयते, अथवा—न स कश्चिद्विदित्, उभयभ्रष्टत्वात्, तथाहि—न तावत्प्रवृत्तितोऽसौ
सबनुष्ठानरहितत्वात्, नापि गृहस्थः ताम्भुवादिपरिभोगरहितत्वाल्लोभिकामात्रधारित्वाच्च, यदि वा
ऐहिकामुष्मिकामुष्ठादिनां मध्ये न कश्चिद्विदित्।

(क) वृत्ति, पृ० १२०।

३. वृत्ति, पृ० १२० : संबन्धो नाम उल्लाप-समुल्लाप-उल्लाप-उल्लाप-संबन्धोवादि।

४. वृत्ति, पृ० १२० : संवासो एवमपि तदासम्भे वा।

‘आलस्यं मैथुनं निद्रा, सेवमानस्य वर्तते ।’

—आलस्य, मैथुन और निद्रा—ये सेवन करने से बढ़ते रहते हैं ।’

वृत्तिकार ने इसका अर्थ रमणियों के संघर्ष से उत्पन्न कामभोग किया है ।’

१३३. कर्मव्यवहारकारका (वज्रकरा)

वृत्तिकार ने ‘वज्र’ के चार अर्थ किए हैं—कर्म, वज्र, पाप और घोर ।’ वृत्तिकार ने इस शब्द के संस्कृतरूप दो दिए हैं—‘अवद्यकराः’ और ‘वज्रकराः’ । अवद्य का अर्थ पाप है और वज्र का अर्थ है—भारी भरकम वज्र ।’

इसलोक ५१ :

१३४. यह जानकर भिक्षु मन का निरोध करे—कामभोग से अपने को बचाए (इह से अप्पमं निवमिस्सा)

कामभोगों से अपने आपको बचाना ही श्रेयस्करो है । इहलोक ने भी वही व्यक्ति सुखी होता है जो अपनी कामेच्छा का निरोध करता है, फिर परलोक की तो बात ही क्या ? कहा भी है—

‘जो मुनि लौकिक व्यापार से मुक्त है, उसके जो सुख होता है वह सुख चक्रवर्ती या इन्द्र के भी नहीं होता ।’

‘तृण-संस्कार पर निविष्ट मुनि राग-द्वेष रहित क्षण में जिस मुक्ति-सुख का अनुभव करता है वह चक्रवर्ती को भी उपलब्ध नहीं होता ।’

१३५. (यो इत्थि... निजिज्जेज्जा)

वृत्तिकार ने ‘निजिज्जेज्जा’ क्रिया को दोनो चरणों में प्रयुक्त कर अर्थ किया है । उनके अनुसार तीसरे चरण का अर्थ होगा—मुनि स्त्री और पशु का आश्रय न ले अर्थात् स्त्री और पशु के संवास का परित्याग करे । चौथे चरण का अर्थ होगा—मुनि अपने हाथ से गुप्तांगो का सबाधन न करे । उन्होंने दोनों चरणों का समुक्त अर्थ इस प्रकार किया है—‘मुनि स्त्री या पशु आदि को अपने हाथ से न छूए ।’

वृत्तिकार ने चौथे चरण का अर्थ—हस्तकर्म न करना किया है । उन्होंने ‘निजिज्जेज्जा’ का अर्थ ‘करना’ किया है । उनके अनुसार—मुनि अपने हाथ से उस प्रदेश का स्पर्श भी न करे । हस्त-स्पर्श से होने वाली सुखानुभूति के निषेध कर देने से उस

१. जूणि, पृ० १२० : तज्जातिपा नामा तन्निघज्जातिगा । चतुर्विधा कामा, तं जया सिगारा १ कलुणा २ रोहा ३ बीमज्जा तिरिक्क जीणिदायं पासंभीनं च ४ । एतदुक्तं भवति—बीमज्जावेसानां तेषां बीमज्जा एव कामा, आकारीहि वि समं तं चेव, अथवा तदेव जमवलीति तज्जातिपा जेषुमं ह्रासेवते तदिज्जा एव पुनर्जायते । उक्तं हि—आलस्यं मैथुनं निद्रा सेवमानस्य वर्तते ।

२. वृत्ति, पत्र ११६ : यत्तस्माद्यो रमणीय्यो जातिः—उत्पत्तिर्येषां तेषां कामास्तज्जातिका—रमणीयसम्बन्धिनः ।

३. जूणि पृ० १२० : वज्रमिति कर्म, वज्रं ति वा पारां ति वा चोष्णं ति वा ।

४. वृत्ति, पत्र ११६ : अवद्यं पापं वज्रं वा गुणबाधः पातक्येन पापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा वज्रकरा वेत्येवम् ।

५. जूणि, पृ० १२० : इहलोकेशि तावद् निरुद्धकामेच्छस्त जेषो भवति, कृतस्तहि परलोकः ? । उक्तं हि—

नैवास्ति राजराजस्य तत् सुखं नैव देवराजस्य ।

अत् सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥

[प्रशमरति आग्निह १२८]

तत्संसारनिवर्त्तनो वि मुनिवरो जगन्नाथ-मम-बोसो ।

अं यावति मुत्तिमुहं न वज्रकवट्टी वि तं लभति ॥

[संस्कारक प्रकीर्णक गा० ४८]

६. वृत्ति, पत्र १२० : न स्त्रियं नरकबीषीप्रायां नापि पशु लीयेत आशयेत स्त्रीपशुभ्यां सह संवासं परित्यजेत्, ‘स्त्रीपशुपण्डकविभिः शब्देतिष्यमाना, तथा स्वकीयेन ‘पाणिना’ हस्तेनावाध्यस्य ‘न निजिज्जेज्जा’ ति न सम्बाधनं कुर्यात्, यतस्तदपि हस्तसम्बाधनं कारित्वं शक्योक्तरोति, यदि वा—स्त्रीपशुपण्डकं स्वेन पाणिना न स्पृशेदिति ।

क्रिया को कायिकरूप से करने की बात ही प्राप्त नहीं होती ।'

इलोक ५२ :

१३६. शुद्ध अन्तःकरण वासा (सुबिसुद्धलेस्ते)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—शुक्ललेस्या वाला मुनि किया है ।' वृत्तिकार ने लेस्या का अर्थ—अन्तःकरण की वृत्ति किया है । इसका अर्थ होगा—शुद्ध अन्तःकरण वाला भिक्षु ।'

१३७. परक्रिया न करे—स्त्री के पैर आदि न इबाए (परकिरियं)

वृत्तिकार ने 'परक्रिया' शब्द के द्वारा स्त्री के पैरों का आमांजन-प्रमांजन—इस आलापक का निर्देश किया है ।' परक्रिया का पूरा प्रकरण आमारबुला के तेरहवें अध्याय में उपलब्ध है ।

इलोक ५३ :

१३८. शुद्ध अन्तःकरण वासा (अज्जसत्थविमुद्धं)

अज्जसत्थ का अर्थ है—संकल्प । जो मुनि राग-द्वेष से विमुक्त होता है, मान और अपमान तथा सुख और दुःख में सम होता है, जो स्व और पर को तुल्य मानता है, वह अज्जसत्थ-विमुद्ध होता है ।'

वृत्तिकार ने विमुद्ध अन्तःकरण वाले को अज्जसत्थ-विमुद्ध माना है ।'

१. वृत्ति, पृ० १२० : णो सयपाणिना णिलेखं ति हत्थकम्मं न कुयात्, निर्लज्जनं नाम करणं, अथवा स्वेन पाणिना तं प्रवेकयवि न लीयते अहा पाणिसंहारिणो वि न स्यादिति, कुतस्तर्हि करणम् ।

२. वृत्ति, पृ० १२० : सुबिसुद्धलेस्ते नाम सुक्कलेस्ते ।

३. वृत्ति, पत्र १२० : सुद्धं—विशेषेण शुद्धा—स्त्रीसम्पर्कपरिहारकपतया निष्कलङ्का लेस्या—अन्तःकरणवृत्तियस्य स तथा स एवम्भूतः ।

४. वृत्ति, पृ० १२० : परकिरिया नाम नो इरबीवाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा संवाहणं ति जाव ज्जसमद्धं ति ।

५. वृत्ति, पृ० १२१ : अज्जसत्थविमुद्धं, अज्जसत्थं नाम संकप्पातो विमुद्धं, संकप्पविमुद्धं राग-द्वेषविप्रमुक्तम्, समो माना-अप्रमानेषु समदुःख-सुखं पश्यति आत्मानं च परं च मण्यते सुखम् । तथा चोक्तम्—

कस्म आता पिता पेव ? स्वज्जो वा कस्म जायते ? ॥

न तेन कत्थयिष्यामि, ततो मे न वनिष्यति ॥

६. वृत्ति, पत्र १२० : अज्जसत्थविमुद्धः सुबिसुद्धअन्तःकरणः ।

पंचमं अङ्गपरं
परयविभस्ती

पांचवां अध्यायम्
वरक-विमर्शित

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'नरक-विषयिता'—नरकवास का विभाग है। चूर्णिकार ने 'नरक' का निरुक्त इस प्रकार दिया है—

'नीयन्ते तस्मिन् पापकर्माणि इति नरकाः ।'

'न रजन्ति तस्मिन् इति नरकाः ।'

निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन का प्रतिपाद्य बतलाते हुए नरक-उत्पत्ति के अनेक कारणों में से दो कारणों—उपसर्ग-भीरता तथा स्त्री-वशावर्तिता—का उल्लेख किया है।^१ स्थानाग सूत्र में नरकगमन के चार हेतु बतलाए हैं—महा-आरंभ, महा-परिग्रह, पञ्चेन्द्रियवध और मांस-भक्षण।^२

तत्त्वार्थ सूत्र में नारकीय आयुष्य के दो कारण निर्दिष्ट हैं—

१. बहु आरंभ—महान् हिंसा ।
२. बहु परिग्रह—महान् परिग्रह ।

मूल सूत्रकार ने प्रथम दो श्लोकों में अध्ययन का प्रतिपाद्य और आगे के तीन श्लोको (३, ४, ५) में नरक गति के हेतुओं का दिग्दर्शन कराया है ।

जम्बूकुमार ने सुधर्मा से पूछा—'नरको का स्वरूप क्या है ? किन-किन कर्मों के कारण जीव नरक में जाता है ? नरको में नैरयिक किन-किन बेदनाओं का अनुभव करते हैं ?'

सुधर्मा ने कहा—'आर्य जम्बू ! जैसे तुम मुझे पूछ रहे हो, वैसे ही मैंने भगवान् महावीर से पूछा था—भंते ! मैं नहीं जानता कि जीव किन-किन कर्मों से और कैसे नरक में उत्पन्न होता है ? आप मुझे बताएं ।'

भगवान् ने तब मुझे कहा—मैं तुमको उन जीवों के पापकर्म का दिग्दर्शन कराऊंगा, जिनसे वे उन विषम और खड स्थानों में जाकर उत्पन्न होते हैं और भयकर बेदनाओं को भोगते हैं । नरक के मुख्य हेतु हैं—

१. क्रूर पापकर्मों का आचरण ।
२. महान् हिंसा का आचरण ।
३. असंयम में रति ।
४. आसनों के सेवन में व्यग्रता ।

नरक पद के छह निक्षेप प्रस्तुत करते हुए निर्युक्तिकार, चूर्णिकार और वृत्तिकार ने निश्चित नरकावासों में उत्पन्न होना ही नारकीय जीवन नहीं माना है, किन्तु वे कहते हैं कि जिस जीवन में जो प्राणी नरक सदृश बेदनाओं, पीड़ाओं और दुःखों को भोगता है, वह स्थान या जन्म भी नरक ही है ।

१. नाम-नरक—किसी का नाम 'नरक' रख दिया ।

२. स्थापना-नरक—किसी पदार्थ या स्थान में 'नरक' का आरोपण कर दिया ।

१. चूर्णिक, पृ० १२६ ।

२. निर्युक्ति वाक्य २३, चूर्णिक, पृ० १६ : अवलम्ब्यभीदयो जीवतस्त नरदसु होवन् अववाओ ।

३. शास्त्र ४।६।२४ ।

४. तत्त्वार्थ ६।१५ : बह्वारम्भपरिग्रहस्य च नरकत्वाद्युचः ।

३. द्रव्य-नरक—मनुष्य अथवा पशु जीवन में बंदीगृह, यातनास्थान आदि स्थानों का आसेवन करना, जहाँ नरकतुल्य वेदनाएं भोगनी पड़ती हैं। जैसे कालसौकरिक कसाई को मरणावस्था में अत्यन्त घोर वेदनाएं सहनी पड़ी थीं।^१

द्रव्य-नरक के दो प्रकार हैं—

१. कर्मद्रव्य-द्रव्यनरक—नरक में वेदने योग्य कर्म-बंध।

२. नोकर्मद्रव्यद्रव्य-नरक—वर्तमान जीवन में अशुभ रूप, रस, गंध, वर्ण, शब्द और स्पर्श का संयोग।

४. क्षेत्र-नरक—चौरासी लाख नरकवासियों का निर्धारित भूविभाग।

५. काल-नरक—नारकों की कालस्थिति।

६. भाव-नरक—नरक आयुष्य का अनुभव, नरकयोग्य कर्मों का उदय।

वृत्तिकार ने वर्तमान जीवन में नरकतुल्य कष्टों के अनुभव को भाव-नरक माना है। जैसे—कालसौकरिक ने अपने जीवन-काल में ही नरक का अनुभव कर लिया था।^२

इसी प्रकार से 'विभक्ति' शब्द के निक्षेपों का वृत्तिकार और वृत्तिकार से विस्तार से वर्णन किया है।^३ वृत्तिकार ने क्षेत्र-विभक्ति के अन्तर्गत आर्यक्षेत्रों को विस्तार से समझाया है। उन्होंने छह प्राचीन श्लोकों को उद्धृत कर साठे पच्चीस आर्य देशों तथा उनकी राजधानियों का नामोल्लेख किया है।^४

इसी प्रकार उन्होंने अनार्य देशों के नाम तथा अनार्य देशवासी लोगों के स्वभाव का सुन्दर चित्रण किया है।^५

वृत्तिकार ने उनका केवल नामोल्लेख किया है।

सात नरक माने जाते हैं। स्थानांग में उनके सात नाम और गोत्रों का उल्लेख है।^६ वे नरक गोत्रों के नाम से ही पहचाने जाते हैं।

नरकों के नाम—

१. धर्मा २. वशा ३. शौला ४. अंजना ५. रिष्टा ६. मषा ७. माषवती।

नरकों के गोत्र—

१. रत्नप्रभा २. मर्कराप्रभा ३. बालुकाप्रभा ४. पंकप्रभा ५. धूमप्रभा ६. तमा ७. तमस्तमा।

अधोलोक में सात पृथिवियां (नरक) हैं। इन पृथिवियों के एक दूसरे के अन्तराल में सात तनुवात (पतली वायु) और सात अवकाशान्तर हैं। इन अवकाशान्तरों पर तनुवात, तनुवातों पर अनवात, अनवातों पर जनोदधि और इन सात जनोदधियों पर फूल की टोकरी की भांति चौड़े संस्थान वाली पृथिवियां (नरक) हैं।^७

प्रस्तुत आगम के २।२।६० में ममुच्चय में नरकावासियों के संस्थान—आकार-प्रकार, उनकी अशुचिता तथा भयंकर वेदना का

१. वृत्ति, पृ० १२२ : ववणिरओ तु इहेव जे तिरिय-मणुएसु असुवठाणा नारगादि लडा-कडिल्लग-कंडगा-वंसकरिल्लादीणि असुभाई ठाणाई, जाओ व नरगपडिरुबियाओ वेयणाओ बीसंति अथा सो कालसोअरिओ मरितुकामो वेदनासवन्णाओ अट्टारसकम्मकम्मकारणाओ वा वासि-रोग-परपीलणाओ वा एवमादि..... ।

२. वृत्ति, पृ० १२२ : भावणरगा ' ' ' 'अथवा (सह-) कव-रस-गंध-कासा इहेव कम्मवओ जेरइयपायोओ, अथा कालसोअरियस्स इहमे वेव ताई कम्माई नेरइयभाव-भावित्ताई भावनरकः ।

३. (क) वृत्ति, पृ० १२२-१२३ ।

(ख) वृत्ति, पृ० १२१-१२३ ।

४. वृत्ति, पृ० १२२ ।

५. वृत्ति, पृ० १२२ ।

६. टाणं ७।२३-२४ ।

७. टाणं, ७।१४-२२ ।

कथन है। वे नारकीय जीव न सोकर नींद ले सकते हैं, न बैठकर विषय कर सकते हैं, न उनमें स्मृति होती है, न रति, न धृति और न मति। वे वहाँ प्रसाद और विपुल, बन्ध और रौद्र, असह्य वेदना का अनुभव करते हुए काल-यापन करते हैं।

बौद्ध साहित्य में भी नारकीय वेदना का वही रूप है। वहाँ कहा गया है—वे अघमजीव नरक में उत्पन्न होकर अत्यन्त दुःखप्रद, तीव्र, दास्य और कटुक वेदना को भोगते हैं।^१

नारकीय जीव तीन प्रकार की वेदना का अनुभव करते हैं—

१. परमाधार्मिक देवों द्वारा उत्पादित वेदना।
२. परस्परोदीरित वेदना।
३. नरक के क्षेत्र-विशेष में स्वाभाविकरूप से उत्पन्न वेदना।

इन सात पृथ्वियों में प्रथम तीन—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा—में पनरह परमाधार्मिक देवों द्वारा उत्पादित कष्टों का अनुभव नारकजीव करते हैं। चार पृथिवियों—पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमा और तमस्तमा—में नारकीयजीव अत्यधिक वेदना का अनुभव करते हैं। यह क्षेत्रविपाकी वेदना है। उन नरकावासों का ऐसा ही अनुभाव है कि वहाँ रहने वाले प्राणी अत्यन्त दुःख कष्टों का अनुभव करते हैं।^२

उन नरकावासों में नारकीयजीव परस्पर लड़ते हैं, एक दूसरे को मारते हैं, पीटते हैं, अंगच्छेद करते हैं—यह वेदना भी वहाँ प्रचुरता से प्राप्त है।

प्रथम तीन नरकों में सीनो प्रकार की वेदनाएं प्राप्त होती हैं और शेष चार में केवल दो प्रकार की वेदनाएं—क्षेत्रविपाकी वेदना और परस्परोदीरित वेदना—प्राप्त होती हैं।^३

आयमकार के अनुसार छठी-सातवीं नरक में नैरयिक बहुत बड़े-बड़े रक्त कुंडुओं को पैदा कर परस्पर एक-दूसरे के शरीर को काटते हैं, खाते हैं।^४

स्थानांग सूत्र में नारकीय जीवों द्वारा भोगी जाने वाली दस प्रकार की वेदना का उल्लेख प्राप्त है^५—

१. शीत २. उष्ण ३. क्षुधा ४. पिपासा ५. क्षुजलाहट ६. परतंत्रता ७. भय ८. शोक ९. जरा १०. व्याधि।

छठीसवें श्लोक में प्रयुक्त 'संजीवनी' शब्द से चूर्णिकार ने नरकावासों की स्वाभाविकता का वर्णन किया है। उन नरकावासों में नारकीय जीवों को सतत कष्ट पाना होता है। वे अपनी स्थिति से पहले मरते नहीं। वे छिन्न-भिन्न, क्वथित या भूषिष्ठ होकर भी भयंकर वेदना का अनुभव करते हैं। पादे की तरह उनका सारा शरीर बिखर जाता है, पर पानी के छींटे पड़ते ही वे पुनः जीवित हो जाते हैं। इसलिए उन नरकावासों को 'संजीवन' कहा गया है।

बौद्ध परम्परा में आठ ताप नरक माने जाते हैं। आठवें नरक 'संजीव' का वर्णन भी उपरोक्त वर्णन की तरह ही है। संजीव नरक में पहले शरीर भग्न होते हैं, फिर रजःकण जितने सूक्ष्म हो जाते हैं। पश्चात् शीतलवायु से वे पुनः सचेतन हो जाते हैं।^६

प्रस्तुत अध्ययन में अग्नि के विषय में कुछ विशेष जानकारी प्राप्त होती है। नरक में बाहर अग्नि नहीं होती। वहाँ के कुछ स्थानों के पुद्गल भट्टी की भाँति से भी अधिक ताप वाले होते हैं। वे अक्षित अग्निकाय के पुद्गल हैं।

१. अग्निहोत्रिकाय ४५:२:२ : निरयं उपपन्नंति ते तस्य दुष्का सिन्धु कर कटुका वेदना वेद्यमिति।
२. जूलि, पु० १२३ : ते पुनः प्रायः तस्य पुडुमी, सेलासु जलिन। सेलासु पुनः अनुभाववेदना येन वेदेति।
३. जूलि पु० १२३ : जूलि, पथ १२३।
४. जीवतवीर्याग्निमस ३:१११।
५. छन्द १०:१०८।
६. अग्निहोत्रिकाय पु० ३७२, आचार्य नरेन्द्रदेव द्रुत।

ग्यारहवें श्लोक में काली आभा वाले अश्वि अग्निपाय का उल्लेख है।

पैतिसर्वे श्लोक में सूत्रकार ने अग्नि के साथ 'विधूम' शब्द का प्रयोग किया है। वह निर्धूम अग्नि का वाचक है। इंधन के बिना धूम नहीं होता। नरक में इंधन से प्रज्वलित अग्नि नहीं होती। निर्धूम अग्नि की तुलना आज के बिजुद से की जा सकती है। वह अग्नि वैज्य से उत्पन्न होती है। वह पाताल में उत्पन्न और अनवस्थित रहती है। उसमें संवर्धन प्रक्रिया की कोई आवश्यकता नहीं रहती।^१

एक प्रश्न होता है कि नरकावासों में उत्पन्न जीवों की वेदना का आधार क्या है? वर्तमान जीवन में वे जिस प्रकार का मापाचार करते हैं, उसी प्रकार के व्यवहार से उन्हें पीड़ित किया जाता है, अथवा दूसरे प्रकार से?

नारकीय जीव अपने-अपने कर्मों की मंदता, तीव्रता और मध्यम अवस्था के आधार पर मंद, तीव्र या मध्यम परिणाम वाली वेदना भोगते हैं। उनको पूर्व जीवन के पापाचरणों की स्मृति कराई जाती है। उनको उसी प्रकार से न छेदा जाता है, न मारा जाता है और न उनका वध किया जाता है। पुनर्जात सारे पाप-कर्मों की स्मृति कराकर उन्हें पीड़ित किया जाता है।^२

नारकीय जीवों की वेदना तीन प्रकार से उदीर्ण होती है—स्वतः, परतः और उभयतः। उभयतः उदीर्ण होने वाली वेदना के कुछेक प्रकारों की सूचना ऋषिकार ने छबीसवें श्लोक की चूर्णि में प्रस्तुत की है^३—

जो जीव पूर्वजन्म में मांस खाते थे उन्हें उन्हीं के शरीर का मांस खिलाया जाता है।

झूठ बोलने वालों की जीभ निकाल ली जाती है।

चारों के अंगोपांग काट दिए जाते हैं।

परस्त्रीयामी जीवों के वृषण छेदे जाते हैं तथा अग्नि में तपे लोहस्तम्भों से आलिंगन करने के लिए बाध्य किया जाता है।

जो क्रोधी स्वभाव के थे उनमें क्रोध उत्पन्न कर पीटते हैं।

जो भानी स्वभाव के थे उनकी अवहेलना की जाती है।

जो मायावी थे उनको नानाप्रकार से ठगा जाता है।

प्रथम तीन नरकावासों—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा—में परमाध्यात्मिक देव नारकीयजीवों को वेदना देते हैं। ये देव पनरह प्रकार के हैं। उनके नामों का और कर्मों का विवरण निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत किया है। उनके कार्यान्तरूप नाम हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. अंब—अपने निवास-स्थान से ये देव आकर अपने मनोरंजन के लिए नारकीय जीवों को इधर-उधर दौड़ाते हैं, पीटते हैं, उनको ऊपर उछालकर झूलों में पिरोते हैं। उन्हें पृथ्वी पर पटक-पटक कर पीड़ित करते हैं। उन्हें पुनः अवर—आकाश में उछालते हैं, नीचे फेंकते हैं।

२. अंबरिषी—मुद्गरों से आहत, खड्ग आदि से उपहत, मूर्च्छित उन नारकीयों को ये देव करवत आदि से खीरते हैं, उनके छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं।

३. श्याम—ये देव जीवों के अंगच्छेद करते हैं, पहाड़ से नीचे गिराते हैं, नाक को भीघते हैं, रज्जु से बांधते हैं।

४. खडल—ये देव नारकीय जीवों की आंते बाहर निकाल लेते हैं, हृदय को नष्ट कर देते हैं, कलेजे का मांस निकाल लेते हैं, चमड़ी उधेड़ कर उन्हें कष्ट देते हैं।

५. रौद्र—ये अत्यन्त क्रूरता से नारकीय जीवों को दुःख देते हैं।

६. उचरीत्र—ये देव नारकों के अंग-भंग करते हैं, हाथ-पैरों को मरोड़ देते हैं। ऐसा एक भी कूरकर्म नहीं, जो ये न करते हों।

१. चूर्णि, पृ० १३७. विष्णु काण्ड. अकाण्डा वैज्यकालवदा अमन्यः अवहित्ता पातालस्था अप्यनवस्था।

२. वही, पृ० १३१। वृत्ति, पत्र १३२।

३. वही, पृष्ठ १३३।

७. कास—ये देव नारकीयों को भिन्न-भिन्न प्रकार के कड़ाहों में पकाते हैं, उबालते हैं और उन्हें जीवित मछलियों की तरह सेंकते हैं ।

८. बहाकाज—ये देव नारकों के छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं, पीठ की चमड़ी उधेड़ते हैं और जो नारक पूर्वभ्रम में मांसाहारी थे उन्हें वह मांस खिलाते हैं ।

९. असि—ये देव नारकीय जीवों के अंग-प्रत्यंगों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं, दुःख उत्पादित करते हैं ।

१०. असिपत्र (या छत्रु)—ये देव असिपत्र नाम के वन की विकृष्टता करते हैं । नारकीय जीव छाया के लोभ से उन वृक्षों के नीचे आकर विश्राम करते हैं । तब हवा के झोंकों से असिघाता की भांति तीखे पत्ते उन पर पड़ते हैं और वे छिद जाते हैं ।

११. कुन्ति (कुम्भ)—ये देव विभिन्न प्रकार के पात्रों में नारकीय जीवों को डालकर पकाते हैं ।

१२. बालुक—ये देव गरम बालू से भरे पात्रों में नारकों को चने की तरह मुनते हैं ।

१३. वेंतरणी—ये नरकपाल वेंतरणी नदी की विकृष्टता करते हैं । वह नदी पीब, लोही, केश और हड्डियों से भरी-पूरी होती है । उसमें खारा गरम पानी बहता है । उस नदी में नारकीय जीवों को बहाया जाता है ।

१४. वरस्वर—ये नरकपाल छोटे-छोटे घावों की तरह सूक्ष्म रूप से नारकों के शरीर को चीरते हैं । फिर उनके और भी सूक्ष्म टुकड़े करते हैं । उनको पुनः जोड़कर सचेतन करते हैं । कठोर स्वर में रोते हुये नारकों को शास्त्रमयी वृक्ष पर चढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं । वह वृक्ष वर्षाभय तीखे कांटों से संकुल होता है । नारक उस पर चढ़ते हैं । नरकपाल पुनः उन्हें खींचकर नीचे ले आते हैं । यह क्रम चलता रहता है ।

१५. महाभीष—ये सभी असुरदेवों में अधम जाति के माने जाते हैं । ये नरकपाल नारकों को भीषण वेदना देकर परम मुदित होते हैं ।

यह पनरह परमाधार्मिक देवों—नरकपालों का संक्षिप्त विवरण है ।

निर्युक्तिकार ने सतरह गाथाओं में नरकपालों के नाम और उन नामों के अनुरूप काव्यों का निर्देश दिया है ।^१ धूर्तिकार ने इन गायकों की विशेष व्याख्या नहीं की है ।^२ वृत्तिकार ने इनका विस्तार से वर्णन किया है ।^३

प्रस्तुत अध्ययन के दो उद्देशक हैं । पहले उद्देशक में २७ और दूसरे में २५ श्लोक हैं । इन श्लोकों में नरकों में प्राप्त वेद-नाओं का सांगोपांग वर्णन है । पचासवें श्लोक में कहा गया है कि प्राणी अपने पूर्वभ्रम से तीव्र, मंद और मध्यम अध्यवसायों से पापकर्म करता है और उसी के अनुरूप उत्कृष्ट, अधन्य और मध्यम स्थिति वाले कर्मों का बन्ध कर उस कालस्थिति तक कर्मों का वेदन करता है ।^४ उन नरकों में 'अविच्छिन्नीतिशयेन नश्यि मुहं किञ्चि कालवशुद्धं'^५—आत्म की पलकों भ्रमके उतने समय का भी सुख नहीं है ।

वस्तुतः यह अध्ययन अठारह पापों के आचरण के प्रति विरक्ति पैदा करता है ।

सूत्रकार के अनुसार नारकीय वेदना से मुक्त होने के उपाय हैं—

१. हिंसा-निवृत्ति २. सत्य आदि का आचरण ३. असंग्रह का पालन ४. कषाय-निग्रह ५. अठारह पापों से निवृत्ति ६. चारित्र्य का अनुपालन ।^६

१. निर्युक्ति गाथा ३३-७३ ।

२. धूर्ति, पृ० १२३-१२६ ।

३. वृत्ति, पत्र १२३-१२६ ।

४. धूर्ति, पृ० १३६ । आरिस्ताणि सिद्ध-मंद-मधिभ्रम-अधवसायैर्हि अधव्यवशितानुषिक्तवृत्तिरित्यानी कर्माणि कर्ताणि तं तथा अनुभवन्ति ।

५. धूर्ति, पृ० १३० में उद्धृत ।

६. सुषयः ५।३१, ३२ ।

पंचमं अष्टकमर्थः पञ्चमं अध्यायनं
एतद्विभक्तौ : नरक-विभक्ति
पहलो उद्देशी : पहला उद्देशक

सूत्र

संस्कृत भाषा

हिन्दी अनुवाद

१. पुच्छिषुहं केवलियं महसि
 कहंमिताया नरणा पुरस्था ?
 अजानतो मे मुनि ब्रूहि ज्ञानं
 कहं नु बाला नरकं उच्यते ? ॥१॥

अप्राक्षमहं केवलिकं महर्षि
 कथममिताया नरकाः पुरस्तात् ।
 अजानतो मे मुने ! ब्रूहि ज्ञानम्,
 कथं नु बाला नरकमुपयन्ति ? ॥

१. (सुधर्मा ने जङ्ग से कहा) मैंने केवल-
 ज्ञानी महर्षि महावीर से पूछा था कि
 नरक में कैसा ताप (कष्ट) होता है ?
 हे मुने ! मैं नहीं जानता, आप जानते
 हैं इसलिए मुझे बताएं कि अज्ञानी
 जीव नरक में कैसे जाते हैं ?

२. एवं नए पुद्गे महापुसावे
 इणमग्गवी कासवे आमुप्यज्जे ।
 पवेयइस्सं बुहमदुक्खं
 आदीणियं दुक्कडिणं पुरस्था ॥२॥

एवं मया पुष्टो महानुभावः,
 इदमब्रवीत् काश्यपः आशुप्रज्ञः ।
 प्रवेदयिष्यामि दुःखार्थं सुखं,
 आदीनिकं दुष्कृतिनां पुरस्तात् ॥

२. मेरे द्वारा ऐसा पूछने पर महानुभाव,
 आशुप्रज्ञ, काश्यपकीर्षीय महावीर ने यह
 कहा—‘दुःखवायी,’ विषम,^१ अत्यन्त
 दीन^२ और जिसमें दुराचारी जीव रहते
 हैं, उस नरक के विषय में मैं तुम्हें
 बताऊंगा ।

३. जे केइ बाला इह जीवियट्ठी
 पावाइं कम्माइं करेति रहा ।
 ते घोररूपे तिमिसंघयारे
 तिग्गामितावे नरए पडंति ॥३॥

ये केचिद् बाला इह जीवितार्थिनः,
 पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रद्राणि ।
 ते घोररूपे तिमिसान्धकारे,
 तीव्रामिताये नरके पतन्ति ॥

३. कुछ अज्ञानी मनुष्य जीवन के आकांक्षी
 होकर रौद्र पापकर्म करते हैं । वे
 महावीर, सघन अंधकारमय,^३ तीव्र
 ताप वाले नरक में जाते हैं ।

४. तिग्गं तसि पाणिजो धावरे य
 जे हिसई आयसुहं पडुक्खा ।
 जे लूसए होइ अवसहारी
 न सिक्खई सेयवियस्स किञ्चि ॥४॥

तीव्रं त्रसान् प्राणिनः स्थावराश्च,
 यो हिनस्ति आत्मसुखं प्रतीत्य ।
 यो भूषको भवति अवसहारी,
 न शिक्षते सेव्यस्य किञ्चित् ॥

४. जो अपने सुख के लिए क्रूर अभ्यवसाय
 से^४ त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा
 करते हैं, अंगच्छेद करते हैं, चोरी करते
 हैं और सेवनीय (आचरणीय) का
 अभ्यास नहीं करते (वे नरक में जाते
 हैं ।)

५. पायजि पाजे बहुणं तिवाइं
 अणिग्गुडे घायमुणेइ बाले ।
 णिहो णिसं गच्छइ अन्तकाले
 अहोसिरं कट्ठ उवेइ कुम्भं ॥५॥

प्राणलभी प्राणानां बहुनां अतिपाती,
 अनिर्वृतः आत्ममुपैति बालः ।
 न्यक् निशां गच्छति अन्तकाले,
 अधः शिरः कृत्वा उपैति कुर्मम् ॥

५. जो ढीठ मनुष्य^५ अनेक प्राणियों को
 मारते हैं, अशान्त है, वे अज्ञानी
 आघात को प्राप्त होते हैं । वे जीवन
 का अन्तकाल होने पर नीचे अंधकार-
 पूर्ण रात्रि को प्राप्त होते हैं और नीचे
 शिर हो^६ कुर्म नरक में उत्पन्न होते
 हैं ।

६. हृणं विहृणं विहृणं यं बहेह
सहे सुयेसा परधम्मियाणं ।
ते नारकाः कं भयं विम्वसन्ता
कं भयं कं भयं विम्वसन्ता ? ॥६॥

७. इंगारराशिं जलितं सज्जोहं
तथोपमं भूमिजन्मकमन्ता ।
ते इङ्गारराशिं कलुषं वधन्ति
अरहत्स्वरा तस्य चिरद्विष्टया ॥७॥

८. अइ ते सुया वेयरणीमिदुग्गा
जिसिओ क्कहा कुर इव तिक्कसोया ।
तरन्ति ते वेयरणीमिदुग्गा
उसुओइया सत्तिवु हम्ममाणा ॥८॥

९. कोलेहि विज्जन्ति असाधुकम्मा
जावं उव्वेते सइविप्यहणा ।
अण्णे तु सुमाहि तिसुलियाहि
वीहाहि विवूषण अहे करेति ॥९॥

१०. केत्ति च बंधितु गले सिलाओ
उव्वन्ति बोलेत्ति महालयन्ति ।
कल्लुयाबालुयमुम्मुरे य
लोलेत्ति पण्णन्ति य तस्य अण्णे ॥१०॥

११. असूरियं नाम महाभितापं
अंघं तमं दुप्पतरं महंतं ।
उव्वं अहे यं तिरियं बिसासु
समाहिओ जत्थगणी क्रियाइ ॥११॥

१२. अंसी गुहाए जलणेऽतिवट्टे
अविजानओ उज्जइ सुत्तपण्णो ।
सया य कलुषं पुक्क धम्मठाणं
गाढोपणीयं अइदुव्वसधम्मं ॥१२॥

हृतं क्षिप्तं भिन्तं दहतं,
शब्दान् श्रुत्वा पराधार्मिकानाम् ।
ते नारकाः तु भयभ्रमसंज्ञाः,
कांक्षन्ति कां नाम दिशं श्रवणम् ? ॥

अङ्गारराशिः ज्वलितः सज्ज्योतिः,
तदुपमां भूमिं अनुक्रामन्तः ।
ते दह्यमानाः कर्षणं स्तनन्ति,
अरहत्स्वराः तत्र चिरस्थितिकाः ॥

यदि ते श्रुता वंतरणी अभिदुर्गा,
निशितो यथा कुर इव तीक्ष्णओताः ।
तरन्ति ते वंतरणीमभिदुर्गा,
इषुओदिताः शक्तिभिर्हन्यमानाः ॥

‘कोलेहि’ विध्यन्ति असाधुकमणिः,
नावमुपयतः स्मृतिविप्रहीनान् ।
अन्ये तु शूलैः त्रिशूलैः,
दीर्घैः विद्ध्वा अधः कुर्वन्ति ॥

केषाञ्च बध्वा गले शिलाः,
उदके ओडयन्ति महति ।
कलम्बुकाबालुकामुर्मुरे च,
लोलयन्ति पण्णन्ति च तत्र अन्ये ॥

असूर्यं नाम महाभितापं,
अन्धतमः दुष्प्रतरं महत् ।
ऊर्ध्वमधश्च तिर्यग्दिशासु,
समाहितो यत्राग्निः धमति ॥

यस्मिन् गुहायां ज्वलनेऽतिवृत्तः,
अविजानन् दह्यते लुप्तप्रज्ञः ।
सदा च कर्षणं पुनर्धर्मस्थानं,
गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् ॥

६. वे नैरयिक परमाधार्मिक देवों के ‘मारो,
काटो, टुकड़े करो, जलाओ’—ये शब्द
सुन कर भय से संज्ञाहीन हो जाते हैं
और यह आकांक्षा करते हैं कि हम
किस दिशा में जाएं ?”

७. वे जलती हुई ज्योति सहित अंगार-
राशि” के समान भूमि पर चलते हैं ।
उसके ताप से जलते हुए वे चिस्ला-
चिस्ला कर” कर्षण क्रन्दन करते हैं ।”
वे चिरकाल तक” उस नरक में रहते
हैं ।

८. तेज छुरे जैसी तीक्ष्ण धार वाली अति-
दुर्गम” वंतरणी नदी” के बारे में तुमने
सुना होगा । वे नैरयिक बाणों से बीधे
और आले से” मारे जाते हुए उस
वंतरणी नदी में उतरते हैं ।

९. क्रूरकर्मा परमाधार्मिक देव (वंतरणी
नदी से डर कर) नाव के पास आते
हुए उन स्मृतिभूत्य” नैरयिकों की
गरदन को” बीध डालते हैं । कुछ
परमाधार्मिक उन्हें लम्बे शूलों और
त्रिशूलों से बीध कर नीचे भूमि पर
गिरा देते हैं ।

१०. कुछ परमाधार्मिक देव किन्हीं के गले
में शिला बांधकर उन्हें अबाह पानी में
डुबो देते हैं । (वहा से निकाल कर)
तुषाग्नि की भांति (वंतरणी के) तीर
की” तपी हुई” बालुका में उन्हें लोट-
पोट करते हैं और भूनते हैं ।

११. असूर्य” नाम का महान् सतापकारी
एक नरकावास है । वहां घोर अंधकार
है” । जिसका पार पाता कठिन हो
इतना विशाल है । वहां ऊंची, नीची
और तिरछी दिशाओं में निरंतर”
आग” जलती है ।

१२. उसकी गुफा में नारकीय जीव डकेला
जाता है । वह प्रज्ञाशून्य नैरयिक”
निर्धर्म-द्वार को नहीं जानता हुआ”
उस अग्नि में जलने लग जाता है ।

नैरयिकों के रहने का वह स्थान सदा तापमय^{१३} और कष्टा उत्पन्न करने वाला है। वह कर्म के द्वारा^{१४} प्राप्त और अत्यन्त दुःखमय है।^{१५}

१३. चत्वारि अयणीषो समारम्भेता
अहि क्रूरकम्मा भित्तेति बालं ।
ते तत्थ चिट्ठतऽभितप्पमाणा
मच्छा व जीवंतुमज्जोपप्ता ॥१३॥
चतुरोष्णीन् समारम्भ, यस्मिन् क्रूरकर्मणोऽभितापयन्ति बालम् ।
ते तत्र तिष्ठन्त्यभितप्पमानाः,
मत्स्या इव जीवन्त उपज्योतिःप्राप्ताः ॥

१३. क्रूरकर्मा नरकपाल नरकावास में चारो दिशाओं में अग्नि जलाकर उन अज्ञानी नारकों को तपाते हैं।^{१३} वे ताप सहते हुए वहाँ पड़े रहते हैं, जैसे अग्नि के समीप से जाई गई जीवित मछलियाँ^{१४}।

१४. संतच्छणं नाम महामितापं
ते नारगा जत्थ असाधुकम्मा ।
हत्थेहि पाएहि य बांधिऊणं
फलमं व तच्छेति कुहाडहत्था ॥१४॥
सन्तक्षणं नाम महामितापं, तान् नारकान् यत्र असाधुकर्मणः ।
हस्तयोः पादयोश्च बद्ध्वा फलकमिव तक्षुर्वन्ति कुठारहस्ताः ॥

१४. संतक्षण^{१४} नाम का महान् संतापकारी एक नरकावास है, जहाँ हाथ में कुठार लिए हुए नरकपाल अशुभकर्म वाले उन नैरयिकों के^{१५} हाथों और पैरों को^{१६} बांध कर उन्हें फलक की भाँति छील डालते हैं।

१५. वहिरे पुणो वक्ख-समुत्तिमंगे
भिण्णुत्तिमंगे परिवत्तयन्ता ।
पयंति जं नेरइए फुरंते
सजीवमच्छे व अयो-कवत्ते ॥१५॥
रुधिरं पुनः वर्चःसमुन्मिताङ्गान्, भिन्नोलमाङ्गान् परिवर्त्तयन्तः ।
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरतः,
सजीवमत्स्यानिवायस्-‘कवत्ते’ ॥

१५. वे नरकपाल खून से सने, मल से लथपथ, सिर फूटे, तड़फते नैरयिकों को उलट-पुलट करते हुए^{१७} उन्हें जीवित मछलियों की भाँति लोहे की कड़ाही में पकाते हैं।

१६. नो चेव ते तत्थ मसीमवन्ति
ज मिज्झई तिज्जमिबेयणाए ।
तमाप्पुभाणं अणुवेययन्ता
दुक्खंति दुक्खो इह दुक्खडेणं ॥१६॥
नो चेव ते तत्र मशीमवन्ति, न म्रियन्ते तीव्राभिवेदनया ।
तमनुभागमनुवेदयन्तः,
दुःखन्ति दुःखिन इह दुष्कृतेन ॥

१६. वे वहाँ (पकाने पर भी) जल कर राख नहीं होते। तीव्र वेदना से पीड़ित होकर भी वे नहीं मरते।^{१८} वे अपने किए हुए कर्मों का फल भोगते हैं और अपने ही दुष्कृत से दुःखी बने हुए दुःख का अनुभव करते हैं।

१७. तहिं व ते लोलनसंपगाढे
गाढं सुतप्तं अगणिं वयंति ।
ज तत्थ सायं लभन्तीऽभिदुग्गे
अरहियाभितापे तह बी तवेति ॥१७॥
तस्मिन् च ते लोलनसंप्रगाढे, गाढं सुतप्तमग्निं व्रजन्ति ।
न तत्र सातं लभन्तेऽभिदुर्गे,
अरहिताभितापे तथापि तापयन्ति ॥

१७. वे शीत से व्याप्त^{१९} नरकावास में (शीत से पीड़ित होकर) धनी धधकती आग की ओर जाते हैं। किन्तु उस दुर्गम स्थान में वे सुख को प्राप्त नहीं होते। वे निरंतर ताप वाले स्थान में घसे जाते हैं, फिर नरकपाल (गरम तेल डाल कर) उन्हें जलाते हैं।^{२०}

१८. से सुब्बई नगरवहे व सहे
हुहोवणीताण पदाण तत्थ ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा
पुणो पुणो ते सरहं कुहेति ॥१८॥
अथ श्रूयते नगरवध इव शब्दः,
दुःखोपनीतानां पदानां तत्र ।
उदीर्णकर्मणां उदीर्णकर्मणः,
पुनः पुनस्ते सरभसं दुःखयन्ति ॥

१८. वहाँ दुःख से निकले हुए शब्दों का कोलाहल, नगर के सामूहिक हत्याकांड के समय होने वाले कोलाहल की भाँति सुनाई देता है। उदीर्ण कर्म वाले नरकपाल,^{२१} बड़े उत्साह के साथ, उदीर्ण कर्म वाले नैरयिकों को बार-बार सताते हैं।

१६. पापेहि च पाप विवोदयन्ति
तं मे पयवसानि महासहेचं ।
बंभेहि तत्पा सरयन्ति बाला
सन्नेहि बंभेहि पुराकथं ॥१६॥

प्राणैः पापा वियोजयन्ति,
तद् भवद्भ्यः प्रवक्ष्यामि यथातथेन ।
दण्डस्त्रस्तान् स्मारयन्ति बालाः,
सर्वैः दण्डैः पुराकृतैः ॥

१६. "दुष्ट नरकपाल नारकियों के प्राण (शरीर के अवयवों और इन्द्रियों) को वियोजन करते हैं। (वे ऐसा क्यों करा है,) उसका यथार्थ कारण मैं तुम्हें बताऊंगा। वे विवेकशून्य नरकपाल दंड से संवस्त नैरयिकों को उनके पहले कि हुए सब पापों की याद दिलाते हैं।

२०. ते हम्ममाणा नरके पठन्ति
पुण्ये दुरुवस्स महाभिताये ।
ते तत्प चिदन्ति दुरुवभवली
तुदन्ति कम्मोवगया किमीहि ॥२०॥

ते हम्ममाणा नरके पतन्ति,
पूर्णे 'दुरुवस्स' महाभिताये ।
ते तत्र तिष्ठन्ति 'दुरुव'भक्षिणः,
तुदन्त्यन्ते कर्मोपगताः कुमिभिः ॥

२०. वे नारकीय जीव नरकपालों द्वारा पीटे जाने पर, छुपने के लिए दृष्टर-उधर दौड़ते हुए, महान् संतापकारी, मल से भरे हुए, "नरकावास में जा पड़ते हैं।" वे अपने कर्म के बशीभूत होकर मल खाते हैं और कुमियों द्वारा काटे जाते हैं।"

२१. सया कसिणं पुण धम्मठाणं
गाढोवणीयं अइदुवसधम्मं ।
अंइसु पविसाप्य विहतु देहं
केहेण सीसं सेऽभितावयन्ति ॥२१॥

सदा कृत्स्नं पुनर्वर्धस्थानं,
गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् ।
अन्धेषु प्रक्षिप्य विहत्य देहं,
वेधेन शीघ्रं तस्याभितापयन्ति ॥

२१. नैरयिकों के रहने का संपूर्ण स्थान सदा तापमय^{१०} होता है। वह कर्म के द्वारा प्राप्त और अत्यन्त दुःखमय है। नरकपाल उनके शरीर को हत-प्रहत कर, बेड़ियों में डाल, सिर को बंध, उन्हें सताते हैं।

२२. छिदन्ति बालस्य क्षुरेण नक्कं
ओदठे वि छिदन्ति बुवे वि कण्णे ।
जिह्वं विणिक्कास्स विहत्थिमेत्तं
तिक्काहि सुलाहि भितावयन्ति ॥२२॥

छिन्दन्ति बालस्य क्षुरेण नक्कं,
औष्ठौ अपि छिन्दन्ति द्वावपि कणौ ।
जिह्वां विनिष्कास्य वितस्तिमात्रां,
तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति ॥

२२. वे नरकपाल उस अज्ञानी नैरयिक का क्षुरे से नाक, होठ और दोनों कान काटते हैं, और जीभ को वित्ता भर बाहर निकाल कर तीक्ष्ण शूलों से बीचते हैं।

२३. ते तिप्पमाणा तलसंपुड इव
राइंविं तत्प थणन्ति बाला ।
गलन्ति ते सोणियपूयमांसं
पज्जोइया खारपविद्धियंगा ॥२३॥

ते तिप्पमाणास्तलसंपुट इव,
रात्रिदिवं तत्र स्तनन्ति बालाः ।
गलन्ति ते शोणितपूयमांसं,
प्रक्षोतिताः खारप्रदिग्धाङ्गाः ॥

२३. ताड़पत्रों के संपुट की भांति^{११} हाथों और पैरों को संपुटित कर देने पर वे अज्ञानी नैरयिक वहां रात-दिन चिल्लाते हैं। जले हुए तथा खार छिड़के हुए शरीर से लोही, पीब और मांस गिरते रहते हैं।

२४. जइ ते सुवा लोहियपूयपाई
बालागणी तेयमुणा परेण ।
कुम्भी महंताऽहियपोरुसीया
समूसिया लोहियपूयपुण्णा ॥२४॥

यदि तव श्रुता लोहितपूयपाणिनी,
बालाग्नितेजोगुणा परेण ।
कुम्भी महत्यधिकपौरुषीया,
समुच्छ्रिता लोहितपूयपूर्णा ॥

२४. यदि तुमने सुना हो,^{१२} नरक में पुरुष से बड़ी^{१३}, ऊंची एक महान् कुम्भी^{१४} है। वह रक्त और पीब को पकाने वाली, अभिनव प्रज्वलित अग्नि से अत्यन्त तप्त और रक्त तथा पीब से भरी हुई है।

२५. पक्षिप्य तासुं पपञ्चन्ति बाले
अदुस्सरे ते कलुणं रसन्ति ।
तप्पाइया ते तउत्तमसत्तं
पञ्चिज्जमामहृयरं रसन्ति । २५।

प्रक्षिप्य तासु प्रपञ्चन्ति बालान्,
आर्त्तस्वरान् तान् करुणं रसतः ।
तृषादितास्ते त्रपुताभ्रतप्तं,
पाप्यमानाः आर्त्ततरं रसन्ति ॥

२५. नरकपाल आर्त्त और करुण स्वर से
आक्रन्दन करने वाले उन अज्ञानी नर-
यिकों को कुशी में डालकर पकाते हैं ।
प्यास से व्याकुल नैरयिकों को जब तपा
हुआ शीशा और ताँवा मिलाया जाता
है तब वे अत्यन्त आर्त्त स्वर में
बिल्लाते हैं ।

२६. अप्पेण अप्पं इह बच्चइत्ता
मवाहमे पुव्वसए सहस्से ।
चिद्धंति तत्था बहुकूरकम्मा
जहाकडे कम्म तहा से भारे । २६।

आत्मनाऽऽत्मानमिह बञ्चयित्वा,
भवाधमे पूर्वशते सहस्रे ।
तिष्ठन्ति तत्र बहुकूरकर्माणः,
यथाकृतं कर्म तथा तस्य भारः ॥

२६. पूर्ववर्ती अधम भवों में "सैंकड़ों-हजारों
बार स्वयं से" स्वयं को ठग कर "वे
कूर कर्म करने वाले प्राणी नरकावास
में पड़े रहते हैं । जैसा कर्म किया जाना
है, वैसा ही उसका भार (दुःख-परिमाण)
होता है ।"

२७. समज्जिजित्ता कलुसं अणज्जा
इद्धेहि कंतेहि य विप्पहणा ।
ते दुग्गिमग्गे कसिणे य फासे
कम्मोवगा कुणिमे आवसन्ति । २७।

समर्ज्य कलुषमनार्या,
इष्टः कान्तंश्च विप्रहीनाः ।
ते दुरभिगन्धे कृष्णे च स्पर्शे,
कर्मोपगाः कुणपे आवसन्ति ॥

२७. वे अनार्य पाप का अर्जन कर, इष्ट
और कान्त विषयो से विहीन हो, कर्म
की विवशता से दुर्गन्ध-युक्त और
अनिष्ट स्पर्श वाले अपवित्र स्थान में
आवास करते हैं ।

—सि बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

बोधो उद्देशो : दूसरा उद्देशक

२८. अहावरं सासयदुक्खधम्मं
तं मे पवक्खामि जहातहेणं ।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी
वेयन्ति कम्माइं पुरेकडाइं । २८।

अथापरं शाश्वतदुःखधर्मं,
तद् भवद्भ्यः प्रवक्ष्यामि यथातथेन ।
बाला यथा दुष्कृतकर्मकारिणो,
वेदयन्ति कर्माणि पुराकृतानि ॥

२८. अब मैं तुम्हें शाश्वत दुःख-धर्म वाले
दूसरे नरकों के विषय में यथार्थरूप
में बताऊंगा । अज्ञानी प्राणी जैसे
दुष्कृत कर्म करते हैं वैसे ही उन पूर्व-
कृत कर्मों का फल भोगते हैं ।

२९. हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं
उदरं विकत्तंति खुरासिएहि ।
नेप्पित्तु बालस्स बिहत्तु बेहं
बद्धं थिरं पिट्ठउ उद्धरन्ति । २९।

हस्तयोः पादयोश्च बद्ध्वा,
उदरं विकर्तयन्ति धुरासिकैः ।
गृहीत्वा बालस्य विहत्य देहं,
बद्धं स्थिरं पृष्ठत उद्धरन्ति ॥

२९. नरकपाल नैरयिकों के हाथ और पैर
बाधकर छुरे और तलवार से उनके पेट
फाड़ते हैं, उन्हें पकड़ शरीर को हत-
प्रहत कर पीठ की सुदृढ़ चमड़ी को
बीच में बिना सोड़े उधेड़ते हैं ।

३०. बाहू पकत्तंति य मूलओ से
मूलं वियासं मुहे आइहन्ति ।
रहंसि जुसं सरयन्ति बालं
आरुस्स चिद्धंति तुवेण पट्ठे । ३०।

बाहू प्रकर्तयन्ति च मूलतस्तस्य,
स्थूलं विकाशं मुखे आदहन्ति ।
रथे युक्तं सारयन्ति बालं
आरुप्य विध्यन्ति तोदेन पृष्ठे ॥

३०. वे नैरयिक की मुजाओं को मूल से ही
काटते हैं । उनके मुँह को फाड़ कर
बड़े-बड़े (तपे हुए लोहे के) शोलों से
उसे जलाते हैं । उम अज्ञानी को रथ
में जोन कर चलाते हैं और रुष्ट होकर
पीठ पर कोड़े मारते हैं ।

३१. अयं च तप्तं जलितं सजीर्णं
तओभवत् भूमिमनुकामन्ता ।
ते दह्यमाना कलुषं ध्वंसति
उत्सुचोद्भवा तप्तपुत्रेषु युक्ता ।४।

अयं दह्य तप्तां ज्वलितां सज्योतिषं,
तदुपमां भूमिमनुकामन्तः ।
ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति,
द्वेषोद्विगतास्तप्तपुत्रेषु युक्ताः ॥

३१. तप्त लोह की भांति जलती हुई अग्नि
जैसी^१ भूमि पर चलते हुए वे जलने
पर^२ करुण रुदन करते हैं । वे बाण
से^३ बीधे जाते हैं और तपे हुए जुए से
जुते रहते हैं ।

३२. बाला बला भूमिमनुकामन्ता
पविज्जलां लोहपथं च तप्तं ।
जंसीऽभिदुर्गं पवज्जमाणा
पेसे च बंढेहि पुरा करंति ।५।

बाला बलाद् भूमिमनुकामन्तः,
'प्रविज्जलां' लोहपथमिव तप्ताम् ।
यस्मिन् अभिदुर्गं प्रपद्यमानाः,
प्रेष्यानिव दण्डैः पुरा कुर्वन्ति ॥

३२ नरकपाल उन अज्ञानी नैरयिको को
रक्त और पीब से सनी, लोहपथ की
भाति तप्त भूमि पर बलात्^४ चलाते
हैं । उस दुर्गम स्थान में^५ चलते हुए
उन नैरयिको को प्रेष्यो^६ की भांति
डंडो से पीट-पीट कर बागे ढकेलते हैं ।

३३. ते संप्रगाढं पवज्जमाणा
शिलाभिर्हन्त्यन्तेऽभिपातिनीभिः ।
सतापनी नाम चिरस्थितिका,
सन्तप्यते यत्रासाधकर्म ॥

ते संप्रगाढे प्रपद्यमानाः,
शिलाभिर्हन्त्यन्तेऽभिपातिनीभिः ।
सतापनी नाम चिरस्थितिका,
सन्तप्यते यत्रासाधकर्म ॥

३३. वे पथरीले मार्ग पर^७ चलते हुए
सामने से गिराई जाने वाली^८ शिलाओ
से मारे जाते हैं । 'सतापनी'^९ नाम
की चिरकालीन स्थिति वाली^{१०} कुभी
में, अशुभ कर्म वाले वे संतप्त किए
जाते हैं ।

३४. कन्दुषु प्रक्षिप्य पचन्ति बाल,
ततो विदग्धाः पुनरुत्पतन्ति ।
ते 'उड्डु' कार्कः प्रखाद्यमानाः,
अपरैः खाद्यन्ते सनत्सपदैः ॥

कन्दुषु प्रक्षिप्य पचन्ति बाल,
ततो विदग्धाः पुनरुत्पतन्ति ।
ते 'उड्डु' कार्कः प्रखाद्यमानाः,
अपरैः खाद्यन्ते सनत्सपदैः ॥

३४ नरकपाल अज्ञानी नैरयिको को कड़ाही
में^{११} डाल कर पकाते हैं । वे धुन जाते
हुए ऊपर उछलते हैं तब उन्हें द्राण
(बड़े कौए)^{१२} खान लगते हैं । भूमि पर
गिरे हुए टुकड़ो को दूसरे सिंह व्याघ्र
आदि^{१३} खा जाते हैं ।^{१४}

३५. समुत्थितं नाम विधूमस्थानं ।
यत् शोकतप्ताः करुणं स्तनन्ति ।
अधः शिरः कृत्वा विकर्त्य,
अजमिव शस्त्रेषु समुच्छ्राययन्ति ॥

समुच्छ्रित नाम विधूमस्थानं ।
यत् शोकतप्ताः करुणं स्तनन्ति ।
अधः शिरः कृत्वा विकर्त्य,
अजमिव शस्त्रेषु समुच्छ्राययन्ति ॥

३५ वहाँ एक बहुत ऊँचा^{१५} विधूम अग्नि
का स्थान^{१६} है, जिसमें जाकर वे नैर-
यिक शोक से तप्त होकर करुण रुदन
करते हैं ।^{१७} नरकपाल उन्हें बकरे^{१८} की
भांति ओंछे शिर कर,^{१९} उनके शिर को
काटते हैं और शूल पर लटका देते
हैं ।

३६. समुत्थितास्तत्र विशूनिताङ्गाः,
पक्षिभिः खाद्यन्तेऽयोमुखैः ।
सजीवनी नाम चिरस्थितिका,
यस्यां प्रजाः हन्यन्ते पापचेतसः ॥

समुच्छ्रितास्तत्र विशूनिताङ्गाः,
पक्षिभिः खाद्यन्तेऽयोमुखैः ।
सजीवनी नाम चिरस्थितिका,
यस्यां प्रजाः हन्यन्ते पापचेतसः ॥

३६ शूल पर चटकते^{२०}, चमड़ी उकेले हुए
वे नैरयिक लोहे की चोख वाले पक्षियो
द्वारा खाए जाते हैं । नरकभूमी 'सजी-
वनी'^{२१} (बार-बार जिलाने वाली)
होने के कारण चिरस्थिति वाली^{२२} है ।
उसमें पापचेता^{२३} प्रजा प्रतर्पित की
जाती है ।

३७. तिवक्षाहि शूलाहि उभितावयंति
बलोपगं सावययं व लट्ठं ।
ते शूलविद्धाः करुणं स्तनन्ति,
एकान्तदुःखं द्वितः श्लानाः ॥

तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति,
वयोपगं श्वापदकमिव लट्ठवा ।
ते शूलविद्धाः करुणं स्तनन्ति,
एकान्तदुःखं द्वितः श्लानाः ॥

३७. नरकपाल हाथ में आए श्वापद की
भांति नैरयिकों को पाकर उनको तीखे
शूलों से पीड़ित करते हैं । वे शूलों से
विद्ध होकर करुण रुदन करते हैं, एकांत
दुःख तथा शारीरिक और मानसिक
श्लानि का अनुभव करते हैं ।"

३८. सयाजलं ठाण जिहं महंतं
अंसी जलंतो अगणी अकट्ठो ।
चिद्धंति तत्था बहुकूरकम्मा
अरहस्सरा केइ चिरट्ठिइया ॥११॥

सदाज्वलं स्थानं निहं महत्,
यस्मिन् ज्वलन्नग्निरकाष्ठः ।
तिष्ठन्ति तत्र बहुकूरकर्माणाः,
अरहस्वराः केऽपि चिरस्थितिकाः ॥

३८. सदा जलने वाला एक महान् बध-
स्थान है । उसमें बिना काष्ठ की
आग जलती है । वहां बहुत क्रूर कर्म
वाले नैरयिक जोर-जोर से चिल्लाते
हुए लंबे समय तक रहते हैं ।

३९. चिया महंतीउ समारभित्ता
छुम्मंति ते तं कलुणं रसंतं ।
आवट्ठई तत्थ असाधुकम्मा
सप्पी जहा छुं जोज्झमग्गे ॥१२॥

चिताः महतीः समारभ्य,
क्षिपन्ति ते तं करुणं रसन्तम् ।
आवर्तते तत्रासाधुकर्मा,
सर्पिर्यथा क्षिप्तं ज्योतिर्मध्ये ॥

३९ बड़ी चिता बना नरकपाल करुण
स्वर से रोते हुए नैरयिक को उसमें
डाल देते हैं । वहां अशुभ कर्म वाला
नैरयिक वैसे ही गल जाता है जैसे आग
में पड़ा हुआ घी ।

४०. सया कसिणं पुण घम्मठाणं
गाढोदणीयं अइदुक्खधम्मं ।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं
सत्तुं व इंदेहि समारभन्ति ॥१३॥

सदा कृत्स्नं पुनर्धर्मस्थानं,
गाढोपनीतं अतिदुःखधर्मम् ।
हस्तयोः पादयोश्च बध्वा,
शत्रुमिव दण्डैः समारभन्ते ॥

४०. नैरयिकों के रहने का संपूर्ण स्थान
सदा तापमय होता है । वह कर्म के
द्वारा प्राप्त और अत्यन्त दुःखमय है ।
वहां नरकपाल उनके हाथों और पैरों
को बांध उन्हें शत्रु की भांति दंडों से
पीटते हैं ।"

४१. भंजंति बालस्स बहेण पट्ठि
सीसं पि भिदंति अयोधणेहि ।
ते भिण्णदेहा फलगा व तट्ठा
तत्ताहि आराहि णियोजयंति ॥१४॥

भञ्जन्ति बालस्य व्ययेन पृष्ठि,
शीर्षमपि भिन्दन्ति अयोधनैः ।
ते भिन्नदेहाः फलका इव तट्टाः,
तप्ताभिः आराभिनियोज्यन्ते ॥

४१. नरकपाल लकड़ी आदि के प्रहार से
अज्ञानी नैरयिक की पीठ को तोड़ते हैं
और लोह के घनो से उनके शिर को
फोड़ते हैं । दोनों ओर से छीले हुए
फलकों की भांति भ्रमन अग-प्रत्यग
वाले नैरयिक तप्त आराओं से आगे
ढकेले जाते हैं ।"

४२. अभिजुंजिया इह असाधुकम्मा
उसंभोइया हत्थिवहं वहन्ति ।
एगं इक्कहितुं दुवे तओ वा
आरुस्स विउभंति ककाणओ से ॥१५॥

अभियुक्ताः रुद्रं असाधुकर्माणाः,
इषुचोदिता हस्तिवहं वहन्ति ।
एकमारुह्य द्वौ त्रयो वा,
आरुष्य विध्यन्ति 'ककाणओ' तस्य ॥

४२. असाधु कर्म वाले नैरयिक नरकपालों
द्वारा क्रूरतापूर्वक कार्य में व्यापृत होते
हैं और बाण से प्रेरित होकर हाथी-
योग्य भार ढोते हैं । दो-तीन नरक-
पाल उस बेचारे की पीठ पर चढ़, कुद
हो, उसकी गरदन को वीध डालते
हैं ।

४३. बाला बला भूमिमनुक्रामन्ता
पविज्जलां कण्टकान् महन्तं ।
विषद्वत्तप्येहि विषण्णचित्तान्
समीरया कोट्टबलिं कुर्वन्ति ॥१६॥

बाला बलाद् भूमिमनुक्रामन्तः,
'प्रविज्जलां' कण्टकिता महतीम् ।
विषद्वय 'तप्येहि' विषण्णचित्तान्,
समीर्य कोट्टबलिं कुर्वन्ति ॥

४३. नरकपाल आह्वानी नैरयिकों को रक्त और पीव से सनी, कटकाकीर्ण विशाल भूमी पर बलात् चलाते हैं, फिर जल में प्रबाहित कर बांस के जालों में^{१६} फंसाते हैं । जब वे मूर्च्छित हो जाते हैं तब उन्हें जल से निकाल^{१७}, खंड-खंड कर, नगरबलि की भांति चारों ओर बिखेर देते हैं ।^{१८}

४४. वेयासिए नाम महाभिताये
एगायए यच्चयन्तल्लिखे ।
हम्मन्ति तत्था बहुकूरकम्मा
परं सहस्साणि मुहुत्तगायं ॥१७॥

वैतालिको नाम महाभितापः,
एकायतः पर्वतः अन्तरिक्षे ।
हन्यन्ते तत्र बहुकूरकर्माणः,
परं सहस्राणि मुहुर्त्तकानि ॥

४४. नरक में 'वैतालिक'^{१९} नाम का बहुत ऊँचा^{२०} और अघर में झूलता हुआ^{२१} महान् मंतापकारी एक पर्वत है । (नरकपालों द्वारा उस पर्वत पर चढ़ने के लिए प्रेरित) बहुत क्रूर कर्म करने वाले नैरयिक जब उस पर्वत पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं, (तब उस पर्वत के सिकुड़ जाने पर) वे हत-प्रहत होते हैं । यह क्रम दीर्घकाल^{२२} तक चलता रहता है ।

४५. संबाहिया बुक्कडिणो धणंति
अहो य राओ परितप्पमाणा ।
एगत्तकडे गरए महन्ते
कूटेण तत्था विसमे हया उ ॥१८॥

सबाधिताः दुष्कृतिनः स्तनन्ति,
अहनि च रात्रौ परितप्यमानाः ।
एकान्तकूटे नरके महति,
कूटेन तत्र विषमे हतास्तु ॥

४५. दुष्कृतकारी नैरयिक अत्यन्त पीड़ित होकर^{२३} दिन-रात परितप्त होते हुए, आक्रन्दन करते हैं । अत्यन्त ऊबड़-खाबड़ भूमि वाले^{२४} विषम और विशाल नरक में वे नैरयिक गलपाश के द्वारा^{२५} बांधे जाते हैं ।

४६. भंजन्ति णं पुब्बमरी सरोसं
समुग्गरे ते मुसले गहेउं ।
ते भिण्णवेहा एहिं वसन्ता
ओमुद्दगा धरणीतले पडन्ति ॥१९॥

भञ्जन्ति पूर्वारयः सरोषं,
समुद्गरान् ते मुसलान् गृहीत्वा ।
ते भिन्नदेहाः रुधिर वसन्तः,
अवमूर्द्धकाः धरणीतले पतन्ति ॥

४६. "पूर्वजन्म के शत्रु"^{२६} नरकपाल हाथ में मुद्गर और मुसल लेकर, कूट हो नैरयिकों के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं । वे भग्न शरीर होकर रक्त का वमन करते हुए ओंघे शिर धरणी तल पर गिर जाते हैं ।

४७. अजासिया नाम महासियाला
पगम्मिया तत्थ सयावकोवा ।
खज्जन्ति तत्था बहुकूरकम्मा
अदूरया संकलियाहि बद्धा ॥२०॥

अनशिता नाम महाशृगालाः,
प्रगल्भतास्तत्र सदावकोपाः ।
खाद्यन्ते तत्र बहुकूरकर्माणः,
अदूरगाः शृखलाभिर्बद्धाः ॥

४७. भूखे, ठीठ और सदा क्रुपित रहने वाले^{२७} महाकाय शृगाल, एक दूसरे से सटे तथा सांकलों से बंधे हुए^{२८} बहुत क्रूर कर्म वाले^{२९} नैरयिकों को खाते हैं ।

४८. सयाज्जला नाम जईभिदुग्गा
पविज्जला लोहविलीनतप्ता ।
अंसीडभिदुग्गंति पवज्जमाणा
एगायताऽणुककमणं कुर्वन्ति ॥२१॥

सदाज्वला नाम नदी अभिदुर्गा,
'प्रविज्जला' लोहविलीनतप्ता ।
यस्यामभिदुर्गायां प्रपद्यमाना,
एककाः अनक्रमणं कुर्वन्ति ॥

४८. सदाज्वला^{३०} नाम की एक नदी है । वह अति दुर्गम, पंकिल^{३१} और अग्नि के ताप से पिघले हुए लोह के समान गरम जल वाली है ।^{३२} उस अति दुर्गम नदी में अकेले चलते हुए^{३३} नैरयिक उसे पार करते हैं ।

४६. एतान् कासाहं कुर्वन्ति बालं
निरंतरं तत्र चिरस्थितिकम् ।
न हन्यमानस्त उ होइ ताणं
एगो सयं पञ्चणुहोइ दुक्खं । २२।

एते स्पर्शाः स्पृशन्ति बालं,
निरंतरं तत्र चिरस्थितिकम् ।
न हन्यमानस्तु भवति त्राणं,
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखम् ॥

४६. ये स्पर्श (दुःख) लंबी स्थिति
वाले अशानी नैरयिक को निरंतर
पीड़ित करते हैं। मार पड़ने पर उस
कोई त्राण नहीं देता। वह स्वयं अकेला
ही दुःख का अनुभव करता है।

५०. अं जारिसं पुब्बमकासि कम्मं
तमेव आगच्छइ सम्पराए ।
एगंतदुक्खं भवमज्झिणिता
वेवेंति दुक्खी तमणंतदुक्खं । २३।

यत् यादृश पूर्वमकार्षीत् कर्म,
तदेव आगच्छति सम्पराये ।
एकान्तदुःखं भवमर्जयित्वा,
वेदयन्ति दुःखिनः तद् अनन्तदुःखम् ॥

५०. जिसने जो जैसा कर्म पहले किया है
वैसा ही परलोक में फल पाता है।
दुःखी प्राणी एकान्त दुःख वाले भव
(नरक) का अर्जन कर अनन्त दुःखों को
भोगते हैं।

५१. एयानि सोच्चा नरगाणि धीरे
ण हिसए कंचण सव्वलोए ।
एगंतद्विट्ठी अपरिगहे उ
बुद्धेज्ज लोक्कस्स वसं ण गच्छे । २४।

एतानि श्रुत्वा नारकाणि धीरः,
न हित्स्यात् कञ्चन सर्वलोके ।
एकान्तदृष्टिः अपरिग्रहस्तु,
बुध्येत लोकस्य वश न गच्छेत् ॥

५१. धीर मनुष्य इन नारकीय दुःखों को
सुनकर संपूर्ण लोकवर्ती किसी भी प्राणी
की हिंसा न करे। लक्ष्य के प्रति
निश्चित दृष्टि वाला और अपरिग्रही
होकर स्वाध्यायशील रहे। वह
कषाय का वशवर्ती न बने।

५२. एवं तिरिक्खमणुयामरेसुं
चउरंतणंतं तयणूबिवागं ।
स सव्वमेयं इइ वेयइत्ता
कंखेज्ज कालं धुयमायरते । २५।

एवं तिर्यङ्मनुजामरेसु,
चतुरन्तमनन्तं तदनुविपाकम् ।
स सर्वमेतद् इति विदित्वा,
कांक्षेत् कालं धृतमाचरन् ॥

५२. इस प्रकार तिर्यङ्को, मनुष्यों और
देवताओं (नैरयिकों) — इन चारों
गतियों में कर्म के अनुरूप अनन्त विपाक
होता है। वह धीर पुत्र 'यह चतुर्गतिक
संसार कर्म का विपाक है'—ऐसा
जानकर धृत का आचरण करता
हुआ कर्मक्षय के काल की आकांक्षा
करे।

—सि वेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पण : अध्ययन ५

इलोक १ :

१. महर्षि (महर्षि)

इसके दो संस्कृत रूप बनते हैं—महर्षि और महर्षी। इनका अर्थ है—महान् ऋषि और महान् अर्थात् मोक्ष की एषणा करने वाला। चूणिकार ने इसका अर्थ तीर्थंकर भी किया है।^१

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—उग्र तपस्वी तथा अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहने में सक्षम।^२

२. पूछा था (पुच्छिसुहं)

एक बार अंबूस्वामी ने सुधर्मा से पूछा—भते ! नरक कैसे हैं ? किन-किन कर्मों के कारण जीव नरक में जाता है ? नरक की वेदनाओं का स्वरूप क्या है ? इन प्रश्नों के उत्तर में सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! जैसे तुम मुझे ये प्रश्न पूछ रहे हो वैसे ही मैंने भी केवलज्ञानी भगवान् महावीर से ये प्रश्न पूछे थे।^३

इलोक २ :

३. महानुभाव (महानुभावे)

अनुभाव का अर्थ है—माहात्म्य। वह दो प्रकार का होता है—

१. द्रव्य अनुभाव—सूर्य आदि का प्रकाश। चक्षुष्मान् व्यक्ति प्रकाश में साँप, कटक, अग्निपान आदि से अपना बचाव कर लेता है।

२. भाव अनुभाव—केवलज्ञान, श्रुतज्ञान आदि। इनसे मनुष्य अकुशल का परिहार करना है और मोक्ष-मुख की प्राप्ति कर लेता है।

प्रस्तुत प्रकरण में भगवान् महावीर को 'महानुभाव' कहा है। उनके ज्ञान, दर्शन आदि महान् थे।^४

वृत्तिकार ने चौतीस अतिशयरूप माहात्म्य को महानुभाव माना है।^५

४. आशुप्रज्ञ (आशुपण्णे)

प्रस्तुत आगम में सात बार 'आशुप्रज्ञ' का प्रयोग मिलता है।^६ चूणि और वृत्ति में इसके मान अर्थ किए गए हैं—

१. चूणि, पृ० १२६ : महर्षिसो तित्थगरो ।

२. वृत्ति, पत्र १२६ : महर्षिम् उग्रतपश्चरणकारिणमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुम् ।

३. (क) चूणि, पृ० १२६ : सुधर्मस्वामी किल अंबु सामिणा णरगे पुच्छितो—केरिसा णरगा ? केरिसोहि वा कम्मोहि गम्मति ? केरिसाओ वा तस्य वेवणाओ ? । ततो भणति—पुच्छिसुहं पृष्ठवानहं भगवन्तं यथैव भवन्तो मां पृच्छन्ति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १२६ : अम्बुस्वामिमा सुधर्मस्वामी पृष्ठः लघाया—भगवन् ! किं भूता नरकाः ? कर्वा कर्मभिरसुमतां तेषूपायः ? कीदृशयो वा तस्य वेवणा ? इत्येव पृष्ठः सुधर्मस्वाम्याह—यदेतद्भूवताऽहं पृष्ठस्तदेतद् श्रीमग्गहा-
बोरवधंमामस्वामिन पुरस्तात् पूर्वं पृष्ठवानहमस्मि ।

४. चूणि, पृ० १२६ : आवानुभागतु केवलज्ञानं धृतं वा, तदनुभावादेव च साधवोऽकुशलानि परिहरन्ति मोक्षमुखं चानुभवन्ते ।

५. चूणि, पृ० १२६ : अनुभवन्तमनुभावः, महान्ति वा ज्ञानादीनि भजन्ति सेवन्ति इत्यर्थः ।

६. वृत्ति, पत्र १२६ : महर्षिचतुस्त्रिंशदतिशयरूपोऽनुभावो—माहात्म्यं यस्य स तथा ।

७. सूयगडो १।५।२, १।६।७, १।६।२५ १।१४।४, १।१४।२२, २।५।१, २।६।१८ ।

१. प्रश्न करने पर जिसको चिन्तन नहीं करना पड़ता, तत्काल सब कुछ समझ में आ जाता है, ऐसी सीधे प्रज्ञा से संपन्न व्यक्ति ।^१
२. जो सदा-सर्वत्र उपयोगवान् होता है ।^२
३. केवलज्ञानी ।^३
४. सर्वज्ञ ।^४
५. तीर्थंकर ।^५
६. क्षिप्रप्रज्ञ—प्रतिक्षण जागृक ।^६
७. पटुप्रज्ञ ।^७

५. दुःखवायी (बुहमदु)

‘बुहमदु’ शब्द में मकार अलाक्षणिक है। इसका संस्कृतार्थ ‘दुःखार्थ’ है। जिसका अर्थ दुःख होता है, जिसका प्रयोजन दुःख होता है अथवा जो दुःख का निमित्त होता है, वह दुःखार्थ है। यह इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इसका तात्पर्यार्थ है—नरक ।^१

इतिकार ने निम्नोक्त अर्थ भी किए हैं—

१. असद् अनुष्ठान दुःख का हेतु है, इसलिए वह दुःख है।
२. नरकावास दुःख है।
३. असातावेदनीय कर्म से तीव्र पीड़ा होनी है, इसलिए वह दुःख है ।^२

६. विषम (दुर्ग)

इसका शाब्दिक अर्थ है—दुर्ग। वह विषम होता है, अतः नरक को दुर्ग माना है ।^३

१. (क) सूयगडो १।५।२ बृजि पृ० १२६ : आसुपञ्चे ति न पुष्किलो चितेति, आसु एव प्रजावीते आसुप्रज्ञः ।
(ख) सूयगडो १।६।७ बृजि पृ० १४४ : आसुप्रज्ञः आसुरेव, प्रजानीते, न चितयित्वेत्यर्थः ।
(ग) सूयगडो १।६।२५ वृत्ति, पत्र १५१ : आसुप्रज्ञः न क्षयस्थवत् मनसा पर्यालोच्य परार्थपरिनिर्णयि विद्यते ।
२. (क) सूयगडो १।५।२ वृत्ति पत्र १२६ : आसुप्रज्ञः सर्वत्र सद्योपयोगात् ।
(ख) सूयगडो १।६।२५ वृत्ति, पत्र १५१ : आसुप्रज्ञः सर्वत्र सद्योपयोगात् ।
३. (क) सूयगडो १।६।७ बृजि, पृ० १४४ : केवलज्ञानित्वाद् आसुप्रज्ञः ।
(ख) सूयगडो २।५।१ बृजि पृ० ४०३ : आसुप्रज्ञो केवली एव ।
४. सूयगडो २।६।१० वृत्ति, पत्र १४५ : आसुप्रज्ञः सर्वज्ञः ।
५. सूयगडो २।५।१ बृजि पृ० ४०३ : आसुप्रज्ञः तीर्थंकर एव ।
६. (क) सूयगडो १।१४।४ बृजि पृ० २२६ : आसुप्रज्ञ इति क्षिप्रप्रज्ञ. क्षण-लव-पुद्गलप्रतिबुद्ध्यमानता ।
(ख) सूयगडो १।१४।४ वृत्ति पत्र २५० ।
७. सूयगडो २।५।१ वृत्ति, पत्र ११६ : आसुप्रज्ञः पटुप्रज्ञः ।
८. बृजि, पृ० १२६ : बुहमदु दुःखस्यार्थं दुःखमेवार्थः दुःखप्रयोजनी वा दुःखनिमित्तो वा अर्थः बुहमदुर्गः । तस्य दुःखस्य कोऽर्थः ? वेदना, शरीरादि सुखार्थं हि वेदलोकाः, दुःखार्थं नरकाः ।
९. वृत्ति, पत्र १२६ : दुःखम् इति नरकं दुःखहेतुत्वात् असदनुष्ठानं यदि वा—नरकावास एव दुःखयतीति दुःखं अथवा—असातावेदनी-योवयात् तीक्ष्णबीजात्मकं दुःखमिति । यदि वा—बुहमदुर्गं ति दुःखमेवार्थो यस्मिन् दुःखनिमित्तो वा दुःखप्रयोजनी वा स दुःखार्थो—नरकः ।
१०. (क) बृजि, पृ० १२६ : दुर्गं नाम विषमम् ।
(ख) वृत्ति, पत्र १२६ : स (नरकः) च दुर्गो—विषमो दुःखतरत्वात् ।

७. अत्यन्त दीन (आदीनियं)

जिसमें चारों ओर दीनता ही दीनता हो वैसा स्थान ।^१

वृत्तिकार ने 'आदीन' का अर्थ 'पाप' किया है ।^२

श्लोक ३ :

८. सघन अधकारमय (तिमिसंधयारे)

ऐसा सघन अधकार जहाँ अपनी आँखों से अपना शरीर भी न देखा जा सके । जहाँ अवधिज्ञानी भी दिन में उलूक पक्षी की भाँति केवल थोड़ा ही देख सके, ऐसा सघन अधकार ।^३

श्लोक ४ :

९. अपने सुख के लिए (आयमुहं)

आत्मसुख, अपना सुख । व्यक्ति अपने लिए तथा अपने परिवार आदि के लिए भी हिंसा करता है । दूसरे के लिए की जाने वाली हिंसा भी उसके मन को सुख देती है, अन वह भी उसका ही सुख है ।^४

वृत्तिकार ने आत्मा का अर्थ स्व-शरीर किया है ।^५

१०. क्रूर अध्यवसाय से (तिष्ठं)

तीव्र शब्द का तात्पर्य—तीव्र अध्यवसाय-पूर्वक है । जो व्यक्ति प्राणियों की हिंसा कर अनुनाप नहीं करना वह तीव्र अध्यवसाय माना जाता है ।^६

श्लोक ५ :

११. जो ठीठ मनुष्य (पागन्मि)

जो हिंसा करने का इच्छुक है या हिंसा कर डालने पर भी जिसके मन में कोई मृदुता पैदा नहीं होती, वह ठीठ होता है । जैसे—सिंह और कृष्ण मर्प ।^७

वृत्तिकार के अनुसार ठीठ वह होता है जो हिंसा करना हुआ भी डिठाई के कारण उसको अन्यान्य प्रमाणों में मिद्ध करने का प्रयत्न करता है ।^८

१. वृत्ति, पत्र १२६ : आ—समन्तादीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन् स आदीनिकः—अत्यन्तदीनसत्त्वाधयः ।

२. वृत्ति, पृ० १२६ : आदीन नाम पापम् ।

३. (क) वृत्ति, पृ० १२७ . तिमिसंधकारो नाम जस्य घोरविरुद्धि पस्सति, जं किञ्च ओहिणा पेक्खंति तं पि कागवूणियासरिसं पेक्खं पेक्खंति तेमिरिका वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र १२७ : तिमिसंधयारे सि बहलमोऽन्धकारे यत्रास्मापि नोपलभ्यते लभुवा केवलमवधिनापि मन्दं मन्दमुलूका इवाहं नि पश्यन्ति ।

४. वृत्ति, पृ० १२७ : आत्मसुखं आत्मसुखं पदुक्क, यवपि हि परायं हिंसति तत्रापि तेषां मनः सुखमेवोत्पद्यते पुत्रदारे सुखिन्यपि ।

५. वृत्ति, पत्र १२७ : आत्मसुखं प्रतीत्य स्वशरीरसुखकृते ।

६. वृत्ति, पृ० १२७ : तीव्राध्यवसाया जे तस-यावरे पाणे हिंसति न जानुत्पद्यन्ते । ये तु मत्वाध्यवसायाः तत्र स्थावरान् प्राणान् हिंसन्ति ते त्रिषु नरकेषूपपद्यन्ते । अथवा तीव्रमिति तीव्राध्यवसायाः तीव्रमिध्याभशननिनश्चातीव्रमिध्याध्यवसायाश्च ।

७. वृत्ति, पृ० १२७ : न तस्य कर्तृकामस्य कृत्वा वा किञ्चन मार्दवमुत्पद्यन्ते, यथा सिंहस्य कृष्णसर्पस्य वा ।

८. वृत्ति, पत्र १२८ : प्रागल्भ्यं धाष्ट्यं तद्विद्यते यस्य स प्रागल्भी अतिधाष्ट्याद्विद्यति यथा—वेदामिहिता हिंसा हिंसेव न भवति, तथा राजास्य धर्मो यदुत आखेटकेन विमोदकिया, यहि वा—न मांसमक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला । इत्यादि, तदेवं क्रूरसिंहकृष्णसर्पवत् प्रकृत्येव प्राणातिपातानुष्ठाप्यो ।

१६. कथन करते हैं (वर्णति)

छोटा श्वास और कुछ-कुछ शब्द हो उसे लाट देश में निस्तनि-स्तनित कहा जाता है—ऐसा चूर्णिकार ने उल्लेख किया है।

१७. चिरकाल तक (चिरद्वितीया)

नरक में जघन्य आयु दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट आयु तेनीस सागरोपम की होती है, इसलिए वहां चिरकाल तक रहना होता है।

इलोक ८ :

१८. अस्ति दुर्गम (अभिदुर्गमा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'गंभीर तट वाली' नदी किया है। कुछ इसे परमाधार्मिक देवों द्वारा गहरी की हुई नदी मानते हैं और कुछ इसे स्वाभाविक रूप से गहरी नदी मानते हैं।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ दुःख उत्पन्न करने वाली नदी किया है।

१९. चैतरणी नदी (चैयरणी)

देखें—३।७६ का टिप्पण।

२०. भाले से (सत्तिसु)

यहां तृतीया विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। शक्ति का अर्थ है—भाला।

इलोक ९ :

२१. स्मृति-शून्य (सद्विप्यहूणा)

चूर्णिकार का कथन है कि नैरयिकों की स्मृति सब छोटों में गरम पानी डालने के कारण पहले ही नष्ट हो जाती है और जब वे गले से बीचे जाते हैं तब उनकी स्मृति और अधिक नष्ट हो जाती है।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—'कर्तव्य के विवेक से शून्य' किया है।

२२. गर्हन को (कोलेहि)

'कोल' देशी शब्द है। इसका अर्थ है—गला। चूर्णिकार ने भी इसका अर्थ 'गला' किया है। उन्होंने समझाने के लिए

१. चूर्ण, पृ० १२८ : स्तमितं नाम अप्रतप्तश्वासमोषकूणितं यद् लाडानां निस्तनिस्तनितम् ।

२. (क) चूर्ण, पृ० १२८ : चिर तेषु चिद्वितीया, अहण्येनं इव वाससहस्राई उक्कोसेनं तेनीसं सागरोपमाह ।

(ख) वृत्ति, पृ० १२६ ।

३. चूर्ण, पृ० १२८ : अभिमुखं घृशं वा दुर्गा अभिदुर्गा गम्भीरतटा परमाधार्मिककृता, केचिद् ब्रूयते—स्वाभाविकमेति ।

४. वृत्ति, पृ० १२६ : अभिमुख्येन दुर्गा अभिदुर्गा—दुःखोत्पादिका ।

५. वृत्ति, पृ० १२६ : सत्तिचिरम् तृतीयार्थं सप्तमी ।

६. चूर्ण, पृ० १२८ : शक्तिभिः कुस्तैश्च ।

७. वृत्ति, पृ० १२८ : सत्ति तेन चैव पाणिपण कलकलकलभूतेषु सम्बसोसाणुपसेसया स्मृतिः पूर्वमेव नष्टा, पुनः कोलेविद्वानां घृशतरं नश्यति ।

८. वृत्ति, पृ० १२६ : स्मृत्या विप्रहीणा अपगतकर्तव्यविवेकाः ।

९. वेसीमाममाला २।४५ : कोलो गीवा कोप्ये.....

कोलो गीवा ।

इसकी तुलना 'बिल' से की है।^१

वृत्तिकार ने 'कील' शब्द मानकर उसका अर्थ 'कठ' किया है।^२ संभव है यह भी देशी शब्द हो। 'कील' एक प्रकार का अस्त्र भी होता है।^३

२३. नीचे भूमि पर गिरा देते हैं (अहे करेति)

नीचे भूमि पर गिरा देते हैं।^४ वृत्तिकार ने—'जल के नीचे या ओधे मुह कर देते हैं—यह अर्थ किया है।'^५

इलोक १० :

२४. तीर की (कलंबुया)

संस्कृत शब्दकोष में 'कलम्ब' शब्द का अर्थ—नदी का तीर है।^६

२५. तपी हुई (मुम्पुरे)

देखें—दसवेआलिय ४। सूत्र २० का टिप्पण।

इलोक ११ :

२६. असूर्य (असूरियं)

'असूर्य' नाम का नरकावास। ऐसा भी माना जाता है कि सभी नरकावास सूर्य से शून्य होते हैं, अतः उन सबको 'असूर्य' कहा जाता है।^७

२७. वहां घोर अंधकार है (अंधं तमं)

जैसे जन्माघ व्यक्ति के लिए रात और दिन—दोनों अंधकारपूर्ण होते हैं, वैसे ही उस नरक में नैरयिकों के लिए सदा अंधकार ही रहता है।^८

२८. निरन्तर (समाहिओ)

इसका अर्थ है—एकीभूत, निरन्तर।^९ वृत्तिकार ने इसका अर्थ—व्यवस्थापित किया है।^{१०}

२९. आग (अगणी)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—काली आभा वाला अग्निकाय किया है। वह अचेतन होता है।^{११}

१. वृत्ति, पृ० १२८ : कोलं नाम गलबो। उक्तं हि—कोलेमानुगतं बिलम्। भुजङ्गवद्।

२. वृत्ति, पत्र १२६ : कीलेषु कण्ठेषु।

३. पाइपसहमहम्मबो।

४. वृत्ति, पत्र १२६ : अघोभूमौ कुर्बन्तीति।

५. वृत्ति, पृ० १२८ : अघे हेतुतो जलस्त अघोमुत्ते वा।

६. आण्डे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

७. (क) वृत्ति, पृ० १२६ : यत्र सूर्यो नास्ति, अथवा सर्व एव नरकाः असूरिकाः।

(ख) वृत्ति, पत्र १३० : न बिद्यते सूर्यो यस्मिन् सः असूर्यो—नरको अहसाधकारः कुम्भिकाकृतिः सर्व एव वा नरकावासोऽसूर्य इति व्यवचिन्त्यते।

८. वृत्ति, पृ० १२६ : यथा आत्यग्रस्य अहनि रात्रौ च सर्वकालमेव तम एवं तथापि स तु अगाधगुहासदृशः।

९. वृत्ति, पृ० १२६ : समाहितो सम्बन्ध आहितः समाहितः एकीभूतः निरन्तर इत्यर्थः।

१०. वृत्ति, पत्र १३० : समाहितः सम्बन्धाहितो व्यवस्थापितः।

११. वृत्ति, पृ० १२६ : तत्र कालोभासी अचेतनो अग्निकाशो।

श्लोक १० :

३०. प्रज्ञाशून्य नैरयिक (सुप्तपण्णो)

प्रज्ञाशून्य नैरयिक नहीं जान पाता कि उस दुर्गम स्थान से निकलने का मार्ग कौनसा है। वेदना की अधिकता के कारण उसकी सारी प्रज्ञा नष्ट हो जाती है।^१

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—उस समय अवधिज्ञान का विवेक लुप्त हो जाता है।^२

३१. नहीं जानता हुआ (अविज्ञाणओ)

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. उस गुहा में प्रविष्ट नैरयिक नहीं जानता कि द्वार कहा है।

२. वह जानता है कि यहाँ मेरा उष्णता से परित्राण होगा।

३. मनुष्य-लोक में वह अज्ञानी था इसलिए उसने ऐसा कर्म किया।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ यह किया है—नैरयिक वेदना से अत्यन्त अभिभूत हो जाता है। अतः उसे अपने पूर्वकृत दुष्परित्याग नहीं रहते।^३

३२. तापमय (धम्मठाणं)

तापमय स्थान, उष्णस्थान।^४ उष्ण वेदना वाले सारे नरक धर्मस्थान ही होते हैं। नरकपाल विशेष तापमय स्थानों की विकुर्वणा करते हैं। उन स्थानों में प्रवेश और निर्गम—दोनों दुःख होते हैं।^५

देखें—टिप्पण ५०।

३३. कर्म के द्वारा (गाढ)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. ऐसे कर्म जिनसे छुटकारा पाना बहुत कठिन होता है, दुर्मुखणीय कर्म।

२. निरन्तर।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'अत्यर्थ' किया है।^६

३४. अत्यस्त दुःखमय है (अहदुक्खधम्मयं)

वह स्थान ऐसा है जहाँ एक निमेष भर के लिए भी दुःख से विश्राम नहीं मिलता।^७ कहा भी है—

अज्झिज्जिमोसणमेसं णत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं।

जिरए जेरइयानं अहोणितं पण्णमाणानं।।

१. वृत्ति, पृ० १२६ : लुप्ता प्रज्ञा यस्य स भवति सुप्तपण्णो न जानाति कुतो निर्गम्यम् ? इति वेदनाभिर्वास्य प्रज्ञा सर्वा हता।

२. वृत्ति, पत्र १३० : लुप्तप्रज्ञः अपगतावधिबिवेकः।

३. वृत्ति, पृ० १२६ : अविज्ञाणतो नाम मासो तस्यां विजानाति 'कुतो द्वारम् ? इति। अथवा ज्ञो जानाति अथ (? इव) में उत्तिष्ठ-परित्राणं भविष्यति इह ज्ञासो अविज्ञायक मासो यस्तद्विधानि कर्माण्यकरोत्।

४. वृत्ति, पत्र १३० अतिवृत्तः अतिगतो वेदनाभिभूतत्वात् स्वकृतं दुष्परित्यागजानन्।

५. वृत्ति, पत्र १३० : धर्मस्थानम् उष्णस्थानं तापस्थानमित्यर्थः।

६. वृत्ति, पृ० १२६ : धर्मैः स्थानं धर्मस्थानम्, सर्व एव हि उष्णवेदना नरकाः धर्मस्थानानि, विशेषतस्तु विकुर्वितानि स्थानानि दुःखनिष्कमणप्रवेष्टानि।

७. वृत्ति, पृ० १२६ : गाढं उष्णं दुक्खोवणितं गाढं वा दुर्मुखणीयैः कर्मभिः।अथवा गाढमिति निरन्तरमित्यर्थः।

८. वृत्ति, पत्र १३० : गाढं ति अत्यर्थम्।

९. वृत्ति, पत्र १३० : अतिदुःखको अर्थः—एवमाद्यो अतिदुःखि, इदमुक्तं भवति—अज्झिज्जिमोसणमपि कार्त्तं न तत्र दुःखस्य विश्राम इति।

नरक में नैरयिकों को निरन्तर दुःख में पकना पड़ता है। निमेषभर के लिए भी उन्हें सुख की अनुभूति नहीं होती। वे निरन्तर दुःख ही भोगते रहते हैं।^१

चूर्णिकार ने भी 'धर्म' का अर्थ स्वभाव दिया है। वे नरक स्वभाव से ही प्रतप्त होते हैं।^२

श्लोक १३ :

३५. क्रूरकर्मा नरकपालः तपाते हैं (क्रूरकम्पा भित्तवैति बालं)

चूर्णिकार ने इस शब्द को नैरयिक और नरकपाल—दोनों का विशेषण माना है। पहले जिन्होंने क्रूरकर्म किए हैं वे नैरयिक अथवा वे नरकपाल जो सदा क्रूरकर्म करते रहते हैं, नरक की भीषणतम अग्नि से तप्त नैरयिकों को और अधिक तपाते हैं। वे मंद-बुद्धि नरकपाल नरकप्रायोग्य कर्मों का उपचय करते हैं।^३

वृत्तिकार ने इस शब्द को नरकपाल से ही संबद्ध माना है।^४

३६. असे अग्नि के समीप जीवित मछलियां (मच्छा व जीवंतुवजोद्वपत्ता)

मछलियां शीत-योनिक जीव हैं। वे नहीं जानतीं कि ताप क्या होता है? वे ताप सहन नहीं कर सकतीं। गर्म हवा से भी वे तप उठतीं हैं। अग्नि के समीप तो उन्हें अत्यन्त दुःख होता है। वे तड़फ-तड़फ कर मर जाती हैं। इसीलिए यहां नैरयिकों की तुलना मछलियों से की गई है।^५

श्लोक १४ :

३७. संतक्षण (संतच्छणं)

इस नाम का एक नरकावास है, जहां नैरयिकों को खदिर काष्ठ की भांति छीला जाता है।^६ इस छीलने के कारण ही इसका नाम 'संतक्षण' पड़ा है।

३८. (ते नारका असाहुकम्पा)

वृत्तिकार ने नारक शब्द का अर्थ नरकपाल किया है और 'असाहुकम्पा' को उसका विशेषण माना है।^७ हमने 'नारक' शब्द से नैरयिक अर्थ ग्रहण किया है। 'असाहुकम्पा' उसका विशेषण है।

१. वृत्ति, पत्र १३०।

२. चूर्ण, पृ० १२६ : धर्मः स्वभाव इत्यर्थः, स्वभावप्रतप्येधैव तेषु।

३. चूर्ण, पृ० १२६ : क्रूरानि कर्मानि ये पूर्व कृतानि ते क्रूरकर्माणि नारकाः अथवा ते क्रूरकर्माणोऽपि व्यवस्थायां वे नारकभित्तवैति विपुनरवि अस्मितापयन्ति, यत एव हि मंडा नरकपाला सम्बुद्धय इत्यर्थः नरकप्रायोग्यामेव कर्माण्युच्यन्ति।

४. वृत्ति, पत्र १०३ : क्रूरकर्माणो नरकपालाः।

५. (क) चूर्ण, पृ० १२६ : जीवं नाम जीवन्त एव। ज्योतिषः समीपे उपजोति पत्ता समीपयताभितापबद् मत्स्यास्तप्यन्ते, किमंश पुन तस्ते त एव कुडा अयोकबस्ते वा, सीतयोनित्वाद्धि मत्स्यानां उज्जदुःखानभित्तवत्वाच्च असीवान्मो दुःख-मुत्पद्यते इत्यतो मत्स्यग्रहणम्।

(ख) वृत्ति, पत्र १३० : यथा जीवन्तो मत्स्या मोना उपज्योतिः अग्नेः समीपे प्राप्ताः परवशात्वावस्थाय शत्रुमसमर्थास्तत्रैव तिष्ठन्ति, एवं नारका अपि, मत्स्यानां तापासहिष्णुत्वावगावत्प्राप्तं दुःखमुत्पद्यत इत्यतस्तद्वग्रहणमिति।

६. चूर्ण, पृ० १३० : समस्त तच्छणं संतक्षणं नाम अत्य विडम्बिताणि वासि-वरसु-वट्टिसाणि, तद्वत्सिद्धो जहा जहरकटं तच्छेति एवं ते वि वासीहि तच्छिच्छन्ति अन्धे कुहाडएहि कट्टमिव तच्छिच्छन्ति।

७. वृत्ति, पत्र १३० : नारका नरकपाला यच्च नारकावसे स्वचरणावागताः असाहुकर्माणि क्रूरकर्माणो विरमुकम्पाः।

३६. हाथों और पैरों को (हत्येहि पाएहि)

वे नरपाल उन नैरयिक जीवों के हाथ-पैर रस्सी से या लोह की साकलों से बाध देते हैं, जिमसे कि वे कहीं भागकर न जा सकें, न उठ सकें और न चल सकें।^१

इलोक १५ :

४०. उसट-पुसट करते हुए (परिवसयता)

जो नैरयिक उस लोहे की कड़ाही में ओधे पड़े है, उनको सीधा कर तथा जो सीधे पड़े है उन्हें ओधे कर, वे नरकपाल उन्हें पकाते हैं।^२

इलोक १६ :

४१. तीव्र वेदना से... नहीं मरते (न भिज्जई तिब्बभिवेयणाए)

वृत्तिकार ने 'भिज्जई' के दो संस्कृतरूप दिए हैं—'मीयते' और 'भ्रियन्ते'। इनके आधार पर इस चरण के दो अर्थ हो जाते हैं—

१. आग में डाली हुई मछली की वेदना से भी नैरयिकों द्वारा अनुभूत तीव्र वेदना को उपमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह उससे तीव्रतम है।

२. तीव्र वेदना को भोगते हुए भी, कर्मों का भोग शेष रहने के कारण वे नैरयिक नहीं मरते।^३

वृत्तिकार ने 'तिब्बसतिवेयणाए' पाठ माना है और उन्होंने बताया है कि वास्तव में 'अतितिब्बवेदणाए—ऐसा पाठ चाहिए था। किन्तु छन्द-रचना की दृष्टि से 'तिब्बसतिवेयणाए' पाठ उपलब्ध है। उन्होंने 'भिज्जई' का संस्कृत रूप भ्रियन्ते किया है।^४

इलोक १७ :

४२. शीत से व्याप्त (लोलनसंपगाढे)

वृत्तिकार ने संप्रगाढ़ का अर्थ निरन्तर किया है। जहां शीत के दुःख से निरन्तर उछलकूद करने वाले नैरयिक होते हैं, उस नरकावास के लिए 'लोलनसंप्रगाढे' का प्रयोग किया गया है। वृत्ति में 'लोलुअमपगाढे' पाठ है।^५ 'लोलुअ'—यह एक नरकावास का नाम है।^६

वृत्तिकार ने संप्रगाढ़ का अर्थ—व्याप्त, भृत किया है।^७

४३. वे निरन्तर जलाते हैं (अरहियाभिस्तावे तह बी तवेति)

'अरहित' का अर्थ है निरन्तर और अभिताप का अर्थ है महादाह। वे नैरयिक निरन्तर महादाह में तपते रहते हैं फिर भी

१. वृत्ति, पृ० १३० : रब्बूहि य भियलेहि य अंबुआहि य किडकिडिगाबधेणं बंधिऊण मा पलाइस्संति उट्ठेस्संति वा चलेस्संति वा।

२. (क) वृत्ति, पृ० १३० : अयकबल्लेषु तम्मि खेव णियए वधारे उब्बत्तेमाणा परियत्तेमाणा।

(ख) वृत्ति, पत्र १३१ : कथं पचन्तीत्याह—परिवसयन्तः उत्तानानवाङ्मुखान् वा कुर्वन्तः।

३. वृत्ति, पत्र १३१ : तथा तत्तीव्रामिवेदनया नापरमग्निप्रक्षिप्तमहस्याविकम्पयस्ति यन्मोयते—उपभोयते अनम्यसदृशो तीव्रो वेदनां बाधामगोचरामनुभवन्तीत्यर्थः, यदि वा—तीव्रामिवेदनयाऽप्यननुभूतस्वकृतकर्मत्वाद्वा भ्रियन्ते इति।

४. वृत्ति, पृ० १३० : न वा भ्रियन्ते, तिब्बा अतीव वेदणा, बन्धानुलोभ्यादेवं गतम्, इतरथा तु अतितिब्बवेदणाइ सि पठ्येत।

५. वृत्ति पृ० १३० : भूरां गाढं प्रगाढं निरन्तरमित्यर्थः अथवा साभाविगअगणिणा तस सीतवेदनिज्जा वि लोलुगा तेसु वि जेरइया सीएण हिमुक्कडअणुणपक्खत्ताहं व भुजंगा सरुलक्कारेण सीतेणं लोलाविज्जति।

६. ठाक, ६।७०,७१।

७. वृत्ति, पत्र १३१ : सम्बद्धं प्रगाढो—व्याप्तो भृतः।

नरकपाल उन पर गरम तेल छिड़ककर और अधिक जलाते हैं ।^१

जूर्णिकार के अनुसार वे नारकीय जीव नरक में होने वाले स्वाभाविक दुःख से और विशेषतः नरकपालों के द्वारा उदीरित दुःखों से प्रायः वेदनामय जीवन जीते हैं ।^२

श्लोक १८ :

४४. उदीर्ण कर्मबाले नरकपाल (उविष्णुकम्माण उविष्णुकम्मा)

नारकीय जीवों के प्रायः असातावेदनीय आदि अशुभ कर्म उदय में रहते हैं और नरकपालों के मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ मिथ्यात्व, हास्य, रति उदय में रहती हैं । अतः वे नारकीय जीवों को पीड़ा पहुँचाने में रस लेते हैं ।^३

श्लोक १९ :

४५. श्लोक १९ :

प्रस्तुत श्लोक में एक प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया गया है । नरक में उत्पन्न होने वालों को कौसी वेदना दी जाती है ? क्या वे यहाँ जिस प्रकार से जो पाप-कर्म करते हैं, नरक में उसी प्रकार से उनको पीड़ित किया जाता है अथवा दूसरे प्रकार से ?

नैरयिकों को तीन प्रकार से वेदना प्राप्त होती है—

१. जिनके कर्म तीव्र हैं, वे तीव्र वेदना को भोगते हैं ।
२. जिनके कर्म मंद हैं, वे मन्द वेदना को भोगते हैं ।
३. जिनके कर्म मध्यम (परिणाम वाले) हैं, वे मध्यम वेदना को भोगते हैं ।

जिस प्राणी ने जिस रूप में या जिस अवस्था में जो पाप-कर्म किया है, उसका वैसे ही उनको स्मरण करवाते हैं । जैसे— राजा की अवस्था में उसने क्या-क्या पाप कर्म किए थे, अमात्य की अवस्था में या चारकपाल (जेलर) या कसाई की अवस्था में जो पाप कर्म किए हैं, उनका स्मरण करवाते हैं ।

उनको उसी प्रकार से न छेदा जाता है, न मारा जाता है, न उनका वध किया जाता है । केवल उनको उन-उन प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित किया जाता है ।^४

१. वृत्ति, पत्र १३१ : अरहितो निरन्तोऽभिज्ञाणो महाबाहो येषां ते अरहिताभिज्ञायाः तथापि तासांरकास्ते नरकपालास्तावन्त्यत्यर्थं तप्ततैलाग्निना बहुलीति ।

२. जूर्णि, पृ० १३१ : अयोकवत्त्वाविशु तेषां नरकाणां गण्डस्योपरि पिटका इव जातास्ते ते स्वाभाविकेन नरकबुद्धेन विशेषतश्च नरकपालोदीरितेन पुनः पुनः समोह्यमानाः प्रायं वेदनासमुद्धानैरिव कालं गमयन्ति ।

३ (क) जूर्णि, पृ० १३१ : उविष्णुकम्माण तेसि असातावेदजिक्काहिणाओ ओसण्णं असुभाओ कम्मपगढीओ उविष्णाओ, असुरकुमाराण बि तेसि मिच्छत्त-हास-रतीओ उविष्णाओ इति, अतस्ते उविष्णुकम्मा जेरइयाणं शरीराणीति यावयथेयः, उदीर्णकर्मणोऽपुराः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १३१ : उदीर्णम्— उदयप्राप्तं कटुक्रियाकं कर्म येषां ते तथा तेषां तथा उदीर्णकर्माणि नरकपाला मिथ्यात्वहास्य- (स्या) रत्यादीनामुद्भवे वर्तमानाः..... दुःखमसातवेदनीयमुत्पादयन्तीति ।

४. जूर्णि, पृ० १३१ : किमर्थं ते तेषां वेदनामुदीरयन्ति ? कीदृशीं वा ? तीक्ष्णोपधर्तस्तीक्षा वेदना भवन्ति मध्येमंश्वा मध्येमंश्वा नरकविशेषतः स्थितिविशेषतश्च । अथवा अज्ञातार्थं ति राजत्वे वा राजामात्यत्वे चारकपालत्वे लुब्धकत्वे वा लोकिक-मत्स्यकम्भत्वे वा वध-बात-मांसोपरोध-पारवारिक-याज्ञिक-संसारमोचक-महापरिग्रहेत्येवमादयो इष्टा पर्येषा कुतस्तान् तत्रैव बद्धे तत्त्व सरयन्ति जालं, तैरिव यथाकृतैर्वर्षैः स्मारयन्ति यातयमानाः सरयन्ति ति स्मारयन्ति । न तथा जिहन्ति एव मार्मन्ते अध्वन्ते विभ्वन्ते सङ्गन्ते, एवं यावन्तो यथा च इन्द्रप्रकाराः कुतास्तावन्निहन्तया च स्मारयन्ति ।

वृत्तिकार के अनुसार वे नरकपाल कहते हैं—अरे, तू प्रसन्नता से प्राणियों के मांस को काट-काट कर खाता था, उनका रस पीता था, मद्य पीता था, परस्त्री-गमन करता था। अब तू उन पाप-कर्मों का विपाक भोगते हुए क्यों रो रहा है? इस प्रकार वे उसे पूर्ववर्तित सारे पाप-कर्मों की याद दिलाते हैं।^१

४६. प्राणों (शरीर के अन्वयों और इन्द्रियों का (पाणोहि)

नरकपाल नारकीय जीवों के शरीर और इन्द्रिय-बल प्राण का वियोजन करते हैं।^२

श्लोक २० :

४७. मल से भरे हुए (दुर्गन्धस्स)

‘दुर्गन्ध’ देशी शब्द है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ—उच्चार और प्रस्रवण का कर्दम किया है।^३ वृत्तिकार ने इसका अर्थ—विष्ठा, रक्त, मांस आदि का कर्दम किया है।^४

४८. नरकावास में जा पड़ते हैं (जरगे पडंति)

नरकपालों द्वारा पीटे जाते हुए वे नैरयिक इधर-उधर दौड़ते हुए छुपने के लिए स्थान ढूँढ़ते हैं। किन्तु वे ऐसे स्थान में चले जाते हैं जहाँ उनकी वेदना और भयंकर हो जाती है।

जैसे चर-पुरुष चोर का पीछा करते हैं वैसे ही नरकपाल उनका पीछा करते हैं। जैसे चोर दौड़ने-दौड़ने किसी घने जंगल में चले जाते हैं और वहाँ उन्हें सिंह, व्याघ्र, अजगर आदि हिंस्र पशु खा जाते हैं वैसे ही वे नैरयिक पहले से भी अधिक भयंकर पीड़ा वाले स्थान में जा पड़ते हैं।^५

४९. काटे जाते हैं (तुहंति)

नरकपाल विष्ठा में होने वाले कृमियों के आकार वाले कृमियों की विकुर्वणा करते हैं। वे बड़े-बड़े कृमी उन नैरयिकों को काटते हैं। नैरयिक उनको हटाने का प्रयत्न करते हैं, पर वे बड़े कण्ट से दूर होते हैं। वे नैरयिक परिश्रान्त हो जाते हैं। कृमी उनको काटना नहीं छोड़ते।^६

आगसकार का कथन है कि छठी, सातवीं नरक में नैरयिक बहुत बड़े रक्त कुशुओं की विकुर्वणा कर परस्पर एक दूसरे के शरीर को काटते हैं, खाते हैं।^७

१. वृत्ति पत्र १३२ : तदा वृष्टस्त्व जावति समुत्कृत्योत्कृत्य प्राणिनां मांसं तथा पिबपि तत्रसं मद्यं च गच्छसि परदारान् साम्प्रतं तद्विपाकापावितेन कर्मणाऽमितप्यमानः किमेवं शरटीकोत्येवं सर्वैः पुराकृतं बण्डैः दुःखविशेषैः स्मारयन्तस्तादृश-भूतमेक दुःखविशेषमुत्पादयन्तो नरकपालाः पीडयन्तीति ।

२. वृत्ति, पृ० १३१ : प्राणाः शरीरेन्द्रिय-बलप्राणाः, विरलेष्वन्तीत्यर्थः ।

३. वृत्ति पृ० १३१ : दुर्गन्धं नाम उच्चार-पास्रवणकर्मम् ।

४. वृत्ति, पत्र १३२ : वृष्टं कर्म यस्य तद्वृष्ट्यं—विष्ठासृग्मांसविकल्मसम् ।

५. वृत्ति, पृ० १२१ : त एवं बालाः हन्यमाना इतरक्षेत्रश्च पलायमाना णिलुषकणपथं मग्नंता नरकमेवान्य भीमतरवेदनं प्रविशन्ति, अथ इह कोरेहि कोरा कारिज्जंता कडिलमनुप्रविशन्ति, तत्रापि सिंह-व्याघ्रा-जगरादिभिः खाद्यन्ते, एवं ते बाला पलायमाना नरकपालजया त नरकं पतन्ति ।

६. (क) वृत्ति, पृ० १३१ : तुह्यन्ति इति तुह्यमानाः जाह्नमाना कृमिभिः कर्मोवसगा नाम कर्मयोग्या कर्मवशगा वा, तस्य दुर्गन्धे विष्ठा-कृमिसंस्थाना विडम्बिता किमिवा तेहि लज्जमाना चिद्वन्ति, गुणमाणा य तस्य किञ्चाहि गच्छन्ति, परिस्तंता य तस्यैव लोलमाणा किमिगेहि लज्जन्ति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १३२ ।

७. श्रीबाजीवामिम ३।१११ : अहसत्तमासु नं पुडोसु नेरइया बहू महताइं लोहिक्कुण्डुवाइं वइरामयत्तुडाइं गोमयकीडसमाणाइं विडम्बन्ति, विडम्बिता अण्णमण्णस्स कायं समतुरगेमाणा-समतुरगेमाणास्सायमाणा-स्सायमाणा सयपोरागकिमिया विव बालेमाणा-बालेमाणा अतो-अंतो अणुप्पविसमाणा-अणुप्पविसमाणा बेवण उओरेंति—उज्जल जाव वरहिमासं ।

श्लोक २३ :

५०. तापमय (धम्मठानं)

नरक के कुछ स्थान उष्णता प्रधान होते हैं। वहाँ की उष्णता कुम्भीपाक से भी अत्यंतगुण अधिक होती है। वहाँ की वायु लुहार की धमनी से निकलने वाली वायु से भी अत्यंतगुण अधिक उष्ण होती है।^१

वृत्तिकार के अनुसार वहाँ वायु आवि पदार्थ प्रसक्तकाल की अग्नि से भी अधिक गरम होते हैं।^२

देखें—टिप्पण ३२।

श्लोक २३ :

५१. ताडपत्रों के संपुट की भांति (तलसंपुटं च)

इसका अर्थ है—ताडपत्रों के संपुट की भांति हाथों और पैरों को संपुटित कर देना।

वृत्तिकार के अनुसार तलसंपुटित का अर्थ है—हाथों को इस प्रकार बांधना कि दोनों करतल मिल जाएं और पैरों को भी इस प्रकार से बांधना कि दोनों पंजल मिल जाएं।^३

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सर्वथा भिन्न प्रकार से किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—ताडवृक्ष के सूखे पत्तों का समूह।^४

श्लोक २४ :

५२. यदि तुमने सुना हो (अइ ते सुया)

सुधर्मा जम्बू से कहते हैं—यदि तुमने सुना हो।^५ वृत्तिकार का कथन है कि लोकवृत्ति भी ऐसा ही कहती है कि नरक में कुमियां हैं।^६

५३. पुरुष से बड़ी (अहियपोस्सीया)

इसका अर्थ है—पुरुष से बड़ी, पुरुष की ऊँचाई से ऊँची। इसमें डाला हुआ नैरयिक बाहर देख नहीं सकता। वह इतनी बड़ी होती है कि उसके किनारों को पकड़कर नैरयिक बाहर नहीं जा सकता।^७

५४. कुम्भी (कुम्भी)

कुम्भ एक प्रकार का माप है। तीन प्रकार के मापों के लिए इसका प्रयोग होता है—२४० सेर, ३२० सेर अथवा ४०० सेर। इस प्रमाण वाले वर्तन को कुम्भी कहा जाता है।^८

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१ जो कुम्भ से बड़ी होती है वह कुम्भी। इसका दूसरा अर्थ है—उच्छिद्रा—कंठ के आकार का बड़ा बरतन।^९

१. वृत्ति, पृ० १३२ : धम्मठानं कुम्भीपाकमर्गतमुवाधिर्यं । ओ णि तत्थ वातो सो णि लोहारवमणी व अत्यंतगुणउत्तिपादिको ।

२. वृत्ति, पत्र १३२ : धर्मप्रधानं उष्णप्रधानं स्थितिः स्थानं नारकानां अचरति, तत्र हि अत्यंतगुणउत्तिपादिका वातादीना-
मत्यंतगुणउत्तिपादात् ।

३. वृत्ति, पृ० १३२ : तलसंपुटिता नाम अत्यंतबद्धता हस्तयोः कृता, यथैवा करतलं चैकत्र निरसति एवं पादयोरपि ।

४. वृत्ति, पत्र १३३ : तलसंपुटं इव पवनेरितमुष्णतामपत्रसंघा इव ।

५. वृत्ति, पत्र १३३ : पुनरपि सुधर्मस्वामी अम्बुस्वामिनमुद्दिश्य अगवहचनमाधिकाकरोति—यदि ते—स्वया, सुता—आकर्षिता ।

६. वृत्ति, पृ० १३३ : यदि त्वया कदाचित् लोकैऽपि द्रुवा भूतिः प्रतीता तत्र कुम्भीयो विवर्तते ।

७. वृत्ति, पृ० १३३ : महति-महंतीयो पुरुषप्रमानातीता अविचोचतीका, अवाग्या अतिपतो चारकः अत्यतीति, च वा अनेह कण्ठेषु
अवसज्जितं उत्तरितम् ।

८. पाइयसहसहस्रयोः ।

९. वृत्ति, पृ० १३३ : कुम्भी महंता कुम्भप्रमाणाधिकप्रमाणा कुम्भी अस्ति अत्र कुम्भी उच्यते ।

श्लोक २६ :

५५. अधम भवो मे (भवाहमे)

हमने इसको सप्तमी विभक्ति मानकर इसका अर्थ 'अधम भवो मे'—किया है।

वृत्तिकार ने भी इसे सप्तम्यत पद माना है किन्तु इसका अर्थ 'अधम मे' किया है।

वृत्तिकार ने इसे द्वितीया विभक्ति का बहुवचन मानकर यच्छीमार तथा व्याध आदि के भवों को अधम माना है।

५६. स्वयं से (अप्येन)

वृत्तिकार ने इसका संस्कृतरूप 'अत्येन' देकर इसका अर्थ—परोपधात करने से उत्पन्न थोड़े से सुख से—किया है। हमने इसका संस्कृतरूप 'आत्मना' किया है। इसका अर्थ है—स्वयं से।

५७. ठग कर (बन्धइता)

कूट तोल आदि से अपने को ठग कर अथवा परोपधात के सुख से अपने को ठग कर।

५८. जैसा कर्म..... उसका भार (दुःख परिमाण) होता है (जहाकडे कम्म तथा से भारे)

कूर कर्म करने वाले प्राणी घोर नरक में दीर्घकाल तक पड़े रहते हैं। जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही उसका भार होता है।

वृत्तिकार ने यहाँ एक शंका उपस्थित की है कि नरक में कर्मानुरूप वेदना, विपत्ति होती है। वहाँ कैसा भार? भार कहने का तात्पर्य क्या है? इसके समाधान में वे कहते हैं—भार के कथन की भावना यह है कि जिस अध्यवसाय से प्राणी कर्मों का उपबन्ध करता है वैसा ही उसकी वेदना का भार होता है। कर्मों की तीन स्थितियाँ हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। स्थिति के अनुरूप वेदना होती है। प्राणी संसार में जैसे कर्म करता है वैसी ही वेदना नरक में भोगनी पड़ती है। वह वेदना तीन प्रकार से उदीर्ण होनी है—स्वतः, परतः और उभयतः। उभयतः उदीर्ण होने वाली वेदना के ये कुछ प्रकार हैं—

मांस खाने वालों को उन्हीं के शरीर का अग्निवर्ण मांस खिलाया जाता है।

मांसरस का पान करने वालों को उन्हीं का मांसरस अथवा तपा हुआ ताँबा या शीशा पिलाया जाता है।

शिकारी तथा कसाई को उसी प्रकार छेदा जाता है, मारा जाता है।

झूठ बोलने वाले की जीभ निकाल दी जाती है या टुकड़े-टुकड़े कर दी जाती है।

चोरो के अंगोपांग काट डाले जाते हैं अथवा चोरों को एकत्रित कर, ग्रामवध की भांति उन्हें मारा जाता है।

परस्त्रीगमन करने वालों के वृषण छेदे जाते हैं, तथा अग्नि में तपे हुए लोहस्तम्भों से आलिंगन करने के लिए बाध्य किया जाता है।

महापरिव्रह और महाभारंभ करने में जिन-जिन कारों से प्राणियों को दुःखित किया है, उनका निरोध किया है, यातना दी है, उन्हें सेवा में व्यापृत किया है, उन्हीं के अनुसार वेदना प्राप्त होती है।

जो क्रोधी स्वभाव के थे, उनके लिए ऐसी क्रियाएँ की जाती हैं जिससे उनमें क्रोध उत्पन्न हो। जब वे रुष्ट हो जाते हैं तब नरकपाल कहता है—अब कुपित क्यों नहीं हो रहे हो? अब तुम क्रुद्ध होकर क्या कर सकोगे?

जो मानी थे, उनकी अवहेलना की जाती है।

१. वृत्ति, पृ० १३३ : भवानामधमः भवानामधमः भवानामधमः ।

२. वृत्ति, पृ० १३४ : भवानामधमः भवानामधमः भवानामधमः ।

३. वृत्ति, पृ० १३४ : अत्येन स्तोकेन परोपधातसुखेन ।

४. वृत्ति, पृ० १३५ : बन्धइता कूटपुलादीहि अथवा अप्याण परोपधातसुखेन ।

जो मायावी वे उन्हें ठगा जाता है, जैसे—गर्मी से संतप्त धीरयिकों को अक्षिपत्र आदि पेड़ों की ठडी छाया में ले जाया जाता है। वहाँ वृक्ष के पत्ते नीचे गिरते हैं और शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। व्यास लगने पर वे नैरमिक पानी मांगते हैं तब उन्हें परम सीसा और तांबा पिनाते हैं।

जो लोभी वे, उन्हें भी इसी प्रकार से पीड़ित किया जाता है।

इसी प्रकार अन्यान्य आश्वबद्वारों में भी यथायोग्य वेदना दी जाती है।

अतः श्लोक के इस चरण में उचित ही कहा गया है कि जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही उसका भार होता है।

वृत्तिकार भी इस वर्णन से सहमत हैं। उपरोक्त चरण में प्रयुक्त 'भार' शब्द वेदना का द्योतक है। वेदना कर्म से उत्पन्न होती है। अतः यथार्थ कर्म भार ही है।'

श्लोक २७ :

५६. पाप का (कसुसं)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'कर्म' और वृत्तिकार ने 'पाप' किया है।'

६०. अनिष्ट (कसिमे)

इसके संस्कृतरूप दो बनते हैं—कृष्ण और कृत्स्न। हमने प्रथमरूप मानकर इसका अर्थ अनिष्ट किया है।

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—'संपूर्ण' किया है।'

६१. अपवित्र स्थान में (कुणिमे)

जहाँ का सारा स्थान मांस, रक्षिरं, पीव आदि के कंदम से भरा पड़ा है, जो बीभत्स है, हाहाकर से गूज रहा है और जहाँ 'कष्ट मत दो'—ऐसे शब्दों से सारी दिशाएँ बधिर हो रही हैं, ऐसे परम अधम नरकावास में।'

१. (क) वृत्ति, पृ० १३३ : यथा चेवा कृतानि कर्माणि तथैवेवा भारो बोद्धव्य इत्यर्थः, निमित्तं भ्रियते वाऽसौ भारः। का तर्हि भावना ? —यादृशेनाध्यवसायेन कर्माण्युपचिनोति तथैवेवा वेदनाभारो भवति, उत्कृष्टस्थितिर्वा मध्यमा अथवा वा, ठितिअनुकूला चेव वेदना भवति, अथवा यादृशानीह कर्माण्युपचिनोति तथा तथापि वेदनोदीर्यते तेषां स्वयं वा परतो वा उभयतो वा। उभयकरणेन तद्यथा—मांसाद्याः स्वमांसाद्येवाग्निर्कर्माणि भक्ष्यन्ते। रसकपायिनः पुन्य-रक्षिरं कलकलीकृतं तद-तंबादीनि च इवीकृतानि। व्याघ्र-घात-लोकरीकाद्यस्तु तथैव छिद्यन्ते मायन्ते च। चारकपाला अट्टावशकर्मकारिणः कार्यन्ते च। आभूतिकानां जिह्वास्तव्यन्ते तुल्यन्ते च। चौराणां अङ्गोपाङ्गान्यपि ह्रियन्ते पिण्डीकृत्य जैनान् प्रागघातेऽपि च बधयन्ति। पारदारिकाणां वृषभारिष्ठयन्ते अग्निवर्णाश्च सोहमयः स्त्रियः अजनाहाविकर्जन्ति। महापरिग्रहारस्पर्शेन येन येन प्रकारेण जीवा बु आविता सधिवद्वा जातिता अभियुक्ताश्च तथा तथा जेयमाओ पविज्जन्ति। कोधवसोसामां तत् तत् क्रियते येन येन कोष-उत्पद्यते—अ एवं वसिज्जन्ति, एवं वसिज्जन्ति, इदानीं वा किं न कुड्यते ? किं वा कुड्यः करिष्यसि ? माणिषो होलिज्जन्ति। माणिषो अभिषत्तमादीहि शीतलज्ज्यापासरितेहि य तज्जतं बएहि प्रवचिज्जन्ति। लोभे अघा परिग्गहे। एवमग्येऽपि आश्वेव्वा-बोध्यमिति। अतः साध्वस्तं अघा कहे कम्मे तथा से भारे इति।

(ख) वृत्ति, पत्र १३४।

२. वृत्ति, पृ० १३४ : कसुसमिति कर्मव।

३. वृत्ति, पत्र १३४ : कसुसं पापम्।

४. (क) वृत्ति, पृ० १३४ : कसिमे संपुष्णे।

(ख) वृत्ति, पत्र १३४ : कृत्स्ने संपूर्णे।

५. (क) वृत्ति, पृ० १३४ : कुणिमे सि न कसिमे तत्र मेळो हेतः, सर्वे चेव मेव-वसा-मंस-रक्षिरपुष्पावृत्तेवमतला।

(ख) वृत्ति, पत्र १३४ : कुणिमे सि मांसपेसीरक्षिरपुष्पावृत्तिस्तकमसाकुते तवमिष्याधमे जीवस्तवर्गमे हाहारवाक्येन कर्णं वा हावद्विवादिस्तवद्विचित्तिकित्तस्तवर्गमे परमममे नरकावास।

श्लोक २८ :

६२. परमार्थ में (जहातहेन)

सर्वत्र परमार्थ द्रष्टा होता है। वह जैसा है वैसा ही देखता है और वैसा ही उसका प्रतिपादन करता है। उसके कथन में न उपचार होता है और न अतिशयोक्ति।^१

६३. अज्ञानी प्राणी (बाल)

वृत्तिकार ने यहां इस शब्द के चार अर्थ किए हैं—

१. परमार्थ को न जानने वाला।
२. विषय सुख का आकांक्षी।
३. वर्तमान को ही देखने वाला।
४. कर्म के विपाक की उपेक्षा न करने वाला।

श्लोक २९ :

६४. पीठ की (पिटुड)

यहां 'ऊकार' में ह्रस्वत्व छंदोदृष्टि से किया गया है।

६५. सुपुड (धिरं)

वृत्तिकार ने इस शब्द का अर्थ—'चमड़ी को बीच में बिना तोड़े'—किया है और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—बलवत्—सुपुड किया है।^२

श्लोक ३० :

६६. उसके मुंह को.....जलाते (यूलं विपासं मुहे आहृति)

नरकपाल नैरयिकों के मुंह फाड़कर चार अंगुल से बड़ी लोहे की कीलों से उसे कील देते हैं ताकि वे मुंह को बंद न कर सकें, तथा न चिल्ला सकें। फिर भी वे चिल्लाकर कहते हैं—'अरे! हमारा मुंह जलाया जा रहा है।'^३

वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। नरकपाल नैरयिकों के मुंह को फाड़कर उसमें लोहे के तपे हुए बड़े गोले डालकर चारों ओर से जलाते हैं।^४

६७. उस अज्ञानी को.....कोड़े मारते हैं (रहंसि कुत्तं.....तुदेण पट्ठे)

इन दो चरणों के अर्थ के विषय में वृत्तिकार और वृत्तिकार एकमत नहीं हैं। वृत्तिकार के अनुसार इनका अर्थ है—

वे नरकपाल बड़े-बड़े रथों की विकुर्वणा करते हैं और उन नैरयिकों को उन रथों में जोड़कर चलाते हैं। जब वे नैरयिक

१. (क) वृत्ति, पृष्ठ १३५ : याथातथ्येन यथा व्यवस्थितं तथैव कथयामि, नात्रोपचारोऽप्यवधारो वा विद्यत इत्यर्थः।

(ख) वृत्ति, पृष्ठ १३४ : यथेति येन सर्वज्ञो हि यथैवावस्थितो जायः तथैवेनं पश्यति जायते च।

२. वृत्ति, पृष्ठ १३५ : बालाः परमार्थमजानात्ता विषयसुखलिप्सवः साम्प्रत्येक्षण, कर्मविपाकमनपेक्षमाणा।

३. वृत्ति, पृष्ठ १३४ : स्थिरो नाम अबोधयन्तः।

४. वृत्ति, पृष्ठ १३५ : स्थिरं बलवत्।

५. वृत्ति, पृष्ठ १३५ : लोहकीलणं चतुरंगुलप्रमाणाधिकेन यूलं मुहं विपासतेषुणं। यूलमिति महत्, मा संवृद्धेति वा रद्धिहेति वा लि, आरसतोऽपि न तस्य परिचायमस्ति, तथाप्यातुरत्वाद्धारसति। आहृति लि बु (?) क) ऊर्जति।

६. वृत्ति, पृष्ठ १३५ : मुके विकाशं कृत्वा क्बूलं बृहत्प्रायोवोलाविकं प्रक्षिपन्त आ—समगताहृति।

चलने में स्थलित होते हैं तब उन्हें आरों से बीघते हैं या पीठ पर कोड़े मारते हैं ।

वृत्तिकार के अनुसार इनका अर्थ है—

नरकपाल नैरयिकों को एकान्त में ले जाते हैं और उनके द्वारा दी जाने वाली वेदना के अनुरूप उनके द्वारा किए गए कार्यों की स्मृति कराते हैं । वे कहते हैं—हम तुम्हें तांबा या शीशा इसीलिए पिला रहे हैं कि तू पूर्वजन्म में मद्यपायी था । हम तुम्हें तेरे शरीर का मांस इसीलिए खिलाते हैं कि तू पूर्वजन्म में मांस खाता था । इस प्रकार दुःखानुरूप अनुष्ठान का स्मरण दिलाते हुए उनकी कदर्यता करते हैं और निष्कारण ही उन पर छट होकर पीठ पर कोड़े मारते हैं ।

वृत्तिकार ने 'सरयति' के दो अर्थ किए हैं—चलना और स्मरण कराना । वृत्तिकार ने केवल एक ही अर्थ किया है—स्मरण दिलाना ।

वृत्तिकार ने 'रहसि' का अर्थ 'रण में' और वृत्तिकार ने 'एकान्त' में किया है ।^१

श्लोक ३१ :

६८. अग्नि जंसी (तमोबभं)

यह भूमि का विशेषण है । इसका संस्कृतरूप है 'तदुपमाम्' । वह भूमि केवल उष्ण ही नहीं है किन्तु अग्नि से भी अनन्त-गुण अधिक उष्ण है ।^२

बौद्ध साहित्य में नरकभूमि के विवरण में लिखा है—तेषां अयोमयी भूमिर्ज्वलिता तेजसा युता । इसकी व्याख्या देते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव ने अभिधर्म-कोश (पृ० ३७३) के फुट नोट में जे० त्रिजिनुस्की को उद्धृत किया है । उनके अनुसार ज्वलित लोहे की भूमि तप्त होने पर एक ज्वाला बन जाती है ।

६९. वे जलने पर (ते उरभ्रमाणा)

नरकपाल धधकते अगारे जंसी उष्ण भूमि पर नैरयिकों को जाने-आने के लिए विवश करते हैं । उन पर अतिभार लादकर उस भूमि पर चलाते हैं । उस समय जलते हुए वे नैरयिकों कण्ठ स्वर में चिल्लाते हैं ।^३

७०. बाण से (उसु)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—प्रवीण मुत्र जाने बाण और चाबुक ।^४ वृत्तिकार ने इसका अर्थ—चाबुक आदि किया है ।^५

१. (क) वृत्ति, पृष्ठ १३५ : सरयति सि तडङ्गति बाह्वेतीत्यर्थः पापकर्माणि च स्मारयति । त एव च बालास्तत्र युक्ता ये चेनां बाह्वयसि त्रिविधं कर्मणामपि तेयस्तद्विधो रथे सगडे वा, गुह्यं विडम्बितं रथं अबध्मंता य तत्सारिरिक आचक्ष्य विधति आचक्ष्य विधति । तुक्मसीति सुवा तुक्काः, गलिबलीबर्धन्त पृष्ठे ।

(ख) वृत्ति, पृष्ठ १३५, रहसि एकाकिनं युक्तम् उपपन्नं युक्तियुक्तं स्वकृण्वेदनानुरूपं तत्कृतजन्माश्रयानुष्ठानं तं बालम् अग्रे नारकं स्मारयति, तद्यथा - तप्तत्रयुपाजाबसरे मद्यपस्त्रमासीस्तथा स्वमांसमज्जाबसरे विशिताशी स्वमासीरित्येवं दुःखानुरूपमनुष्ठानं स्मारयत्यः कदर्ययति, तथा—निष्कारणमेव आचक्ष्य कोपं कुरवा प्रतोद्यादिना पृष्ठवेष्टे तं नारकं वरवशं विध्यमसीति ।

२. (क) वृत्ति, पृ० १३५ : सा तु भूमिः न तु केवलमेवोद्धा । उज्ज्वलितव्योतिषाऽपि अनन्तगुणं हि उष्णा सा, तदस्या जीवम्यं तद्योपमा ।

(ख) वृत्ति पृष्ठ १३५ : तदेवंकथां तदुपमां वा भूमिम् ।

३. वृत्ति, पृ० १३५ : ते तं ईपास्तुल्यं भूमिं पुनो पुनो जुंदाविज्वलति, आगत-गताणि कारविज्वला च अतिमारोक्षता उरभ्रमाणा कण्ठानि रधति ।

४. वृत्ति, पृ० १३५ : इयुभिः तुल्यैश्च प्रवीणमुत्रैः .

५. वृत्ति, पृष्ठ १३५ : इयुषा प्रतोद्यादिकल्पेन ।

श्लोक ३२ :

७१. बलात् (बला)

इसका अर्थ है—बलात्, इच्छा न होते हुए भी। श्रुणिकार ने इसका एक अर्थ और किया है—घोर बल वाले।^१

७२. दुर्गम स्थान में (अभिदुर्गमं)

श्रुणिकार ने इसका अर्थ—अति विषम स्थान किया है।^२ वृत्तिकार ने कुम्भी, शाल्मली आदि को विषम स्थान माना है।^३

७३. प्रेष्यो (पेसे)

जिन्हें बार-बार काम में नियोजित किया जाता है, वे दास, नौकर आदि कर्मकर प्रेष्य कहलाते हैं।^४

श्लोक ३३ :

७४. पथरीले मार्ग पर (संप्रगाढंमि)

श्रुणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. निरंतर वेदनामय मार्ग।

२. पथरीला मार्ग।

वृत्तिकार ने भी दो अर्थ किए हैं—

१. बहुत वेदनामय असह्य नरक।

२. बहुत पीड़ाकारक मार्ग।

७५. सामने से गिराई जाने वाली (अभिपातिणीह)

नरकपालों द्वारा सामने से गिराई जाने वाली शिलाएँ सामने ही आकर गिरती हैं, अन्यत्र नहीं।^५

७६. संतापनी (संतापणी)

श्रुणिकार ने इसका अर्थ 'संतापनी' नामक नरक किया है। सभी नरक संताप उत्पन्न करने वाले होते हैं। वंक्रियलब्धि से उत्पन्न अग्नि से नैरदिक जीव विशेष रूप से संतापित किए जाते हैं।^६ वृत्तिकार इसे 'संतापनी' नामक कुम्भी मानते हैं।^७

७७. चिरकालीन स्थितिवासी (चिरद्विष्टा)

नरक में जघन्य अवधि दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट अवधि त्रेतीस सागर की होती है। वहाँ वे जीव चिरकाल तक रहते हैं।^८

१. श्रुणि, पृ० १३५ : बलात्.....बलात्कारेण, अथवा बला घोरबला इत्यर्थः ।

२. श्रुणि, पृ० १३५ : अभिदुर्गं भृशं दुर्गं वा ।

३. वृत्ति, पत्र १३६ : अभिदुर्गं कुम्भीशाल्मल्यादौ ।

४. श्रुणि, पृ० १३५ : पुनः पुनः प्रेष्यस इति प्रेष्याः दासा भृश्या वा ।

५. श्रुणि, पृ० १३५ : नामाविधाभिर्बलानिभृशं गाढं गाढं सम्प्रगाढं निरन्तरवेदनमिति वा । अथवा सम्बाधः पथः सम्प्रगाढः
.....सर्करा-पाषाणपर्यं ।

६. वृत्ति, पत्र १३६ : सम्प्रगाढं मिति बहुवेदनमसह्यं नरकं मार्गं वा ।

७. श्रुणि, पृ० १३५ : शिलाभिर्विस्तीर्णाभिर्विक्रियाविजिरभिमुक्तं पतन्तीभिः अभिपातमाना माम्यत्र पतन्तीत्यर्थः ।

८. श्रुणि, पृ० १३५ : सर्व एव नरकाः संतापयन्ति, विशेषेण तु वंक्रियाग्निसत्ता (पिता) ।

९. वृत्ति, पत्र १३६ : संतापयतीति संतापनी कुम्भी ।

१०. श्रुणि, पृ० १३५ : चिरं तिष्ठन्ति ते हि चिरद्विष्टा, जघन्नेन दस जाससहस्राई उक्कोसेनं त्रेतीससाठरोधमाणि ।

श्लोक ३४ :

७८. कडाही में (उड्डु)

इसका अर्थ है—पकाने का पात्र ।^१

७९. ब्रौण (बड़े कीए) (उड्डुकाएहि)

वस्तुतः यह पाठ 'उड्डुकाएहि' होना चाहिए था । 'उड्डु' देशी शब्द है । इसका अर्थ है दीर्घ या बड़ा । 'उड्डुकाएहि' का अर्थ है—ब्रौणकाक या बड़ा कौआ । चूणिकार के अनुसार इनकी चोंच लोहमयी होती है । ये अपने मध्य को उड़ते-उड़ते ही पकड़कर खा डालते हैं ।^२

८०. सिंह-व्याघ्र आदि (सज्जमाणा)

इसका अर्थ है—वैसे जानवर जिनके पैरों में बड़े-बड़े तीखे नाखून हों । चूणिकार ने इस पद से सिंह, व्याघ्र, हक, शृगाल आदि का ग्रहण किया है ।^३

८१. श्लोक ३४ :

प्रस्तुत श्लोक में चूणिकार ने 'उत्पतन्ति' के स्थान में 'उत्किडन्ति' तथा 'पल्लज्जमाणा' के स्थान में 'विलुप्पमाणा' पाठ मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

नरकपाल अज्ञानी नैरयिक जीवों को पाक-भाजन में डालकर पकाते हैं । वे मुने जाते हुए ऊपर उछलते हैं । (नैरयिक पाव सौ योजन तक ऊपर उछलते हैं) तब ऊपर उड़ने वाले विभिन्न ब्रौणकाक, (जिनकी चोंच लोहे की होती है) उन्हें खाते हैं । खाने समय कुछ टुकड़े नीचे पृथ्वी पर पड़ते हैं । उन्हें सिंह, व्याघ्र, शृग, शृगाल आदि पशु खा डालते हैं ।^४

श्लोक ३५ :

८२. बहुत ऊंचा (समुत्तियं)

चूणिकार के अनुसार यह स्थान ऐसा है जहां नैरयिक जीवों को विलुप्त किया जाता है ।^५

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—चिता के आकार वाला (स्थान) किया है । चिता की रचना उच्छिन्न होती है । वह नरक का स्थान भी उच्छिन्न है, ऊंचा है ।^६

८३. विधूम अग्नि का स्थान (विधूमठाणं)

यहां अग्नि के लिए विधूम शब्द का प्रयोग किया गया है । मनुष्य लोक में अग्नि दो प्रकार की होती है—धूम सहित और निर्धूम । नरक में ईंधन से प्रज्वलित अग्नि नहीं होती । वह निरंधन ही होती है । चूणिकार ने बताया है जो अग्नि ईंधन से ही प्रज्वलित होती है, उससे धुंआ अवश्य ही निकलता है । नरक की अग्नि निरंधन होती है । चूणिकार ने इसका दूसरा अर्थ यह किया है—वहां केवल निर्धूम अंगारे हैं । निर्धूम अंगारों का ताप बहुत अधिक होता है ।^७

१. चूणि, पु० १३६ : अपकोडु-पिडु-पयणमाहीसु पयणगेधु ।

२. चूणि, पु० १३६ : उड्डुकाया जाण ब्रौणिकाकाः ते उत्किडन्ति वि सग्ता उड्डुकाएहि विविनेहि अपोमुहेहि सज्जन्ति ।

३. चूणि, पु० १३६ : सिज्जमाणा-सु (?) च ग-शुमाणावयः विविजाः ।

४. चूणि, पु० १३६ ।

५. चूणि, पु० १३६ : तस्य ते जेरइया समुत्तियज्जन्ति, ओत्तियत्ति विनाशितमिलवयः^८ ।

६. वृत्ति, पद्य १३६ : समुत्तियं नाम इत्यादि सम्यगुच्छिन्नं चित्तिकाकृतिः ।

७. चूणि, पु० १३६ : विधूमो नामाग्निदेव, विधूमकह्माद् निरिधनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः केवलस्य धूमोऽवश्यमेव धूमो जयति ।
अथवा विधूमक, विधूमना हि अक्षय्यज्जमानतीव तापी जयति ।

वृत्तिकार ने भी विषम का अर्थ अग्नि किया है।^१ इसे वर्तमान के विद्युतीय युग में सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। नरक की अग्नि विद्युत् है, जिसे इंधन की अपेक्षा नहीं है। हजार योजन से ऊपर या नीचे अग्नि नहीं होती। ऑक्सीजन के बिना अग्नि नहीं जलती। बिजली अग्नि नहीं है।

देखें—५।७, ३८ का टिप्पण।

८४. कर्षण रुदन करते हैं (कलुषं वर्णन्ति)

यहाँ कर्षण का अर्थ—अपरित्राण, निराश्रयता। वे नैरयिक कर्षण रुदन करते हैं, क्योंकि उनका परित्राण करने वाला कोई नहीं होता। वे असहाय होते हैं, अतः उनका रुदन कर्षण होता है। जिनको परित्राण प्राप्त है, वे यद्यपि रुदन करते हैं, परन्तु उनका वह रुदन अतिकर्षणाजनक नहीं होता।^२

वृत्तिकार ने कर्षण का अर्थ दीन किया है।^३

८५. बकरे (अयं)

इसके दो अर्थ हैं—अज—बकरा और अयस्—लोह। चूर्णिकार ने मूल अर्थ 'अज' और वैकल्पिक अर्थ 'लोह' किया है।^४

८६. ओंघे सिर कर (अहोसिरं कट्टु)

कुछ नरकपाल उन नैरयिक जीवों को ओघ्रा लटकाकर काटते हैं और कुछ नरकपाल उनको काटकर फिर ओघ्रा लटकाते हैं।^५

मुक्ता—एते वृत्तान्ति निरये उडवावा अहोसिरा।

इसीन अतिवत्तादो संयनानं तपस्विनं ॥

(जातक ५।२६६ तथा संयुक्तिकाय २७।५)

—जो पुरुष ऋषि, संयत और तपस्वियों का अपवाद करते हैं, वे सिर नीचे और पैर ऊपर कर नरक में पड़ते हैं।

श्लोक ३६ :

८७. मूल पर लटकते (समुच्चिया)

जैसे चाँदाल मृत शरीर को लटकाते हैं, वैसे ही नरकपाल उन नैरयिक जीवों को खम्भों पर ओघ्रा लटकाते हैं।^६

८८. संजीवनी (संजीवनी)

वह नरकभूमि बार-बार जिलाने वाली होने के कारण उसका नाम 'संजीवनी' है। वहाँ के नैरयिक जीव नरकपालों द्वारा दी गई, परस्पर उदीरित तथा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न वेदना से छिन्न-भिन्न, कथित या मूर्च्छित होकर वेदना का अनुभव कर रहे हैं, परन्तु मरते नहीं। उनका खंड-खंड कर देने पर भी वे नहीं मरते क्योंकि उनकी आयु अवशेष होती है। जैसे मूर्च्छित व्यक्ति पानी के छीटे छालने से वे सचेत हो जाते हैं, वैसे ही वे नैरयिक भी पुनः पुनः जीवित होते रहते हैं। वह स्थान संजीवनी की भाँति

१. वृत्ति, पत्र १३६। बिभ्रमस्य अग्नेः स्वानम्।

२. वृत्ति, पृ० १३६ : कलुषं वर्णन्ति, कलुषमिति अपरित्राणं निराश्रयमित्यर्थः, अपरित्राणा हि यद्यपि स्तनन्ति वा तथापि तस्मात् कर्षणम्।

३. वृत्ति, पत्र १३६ : कर्षणं दीनम्।

४. वृत्ति, पृ० १३६ : अयो ज्वलन्तो, अयेन तुल्यं अयवत्।

५. वृत्ति, पृ० १३६ : अहोसिरं काष्ठं केद्व विगिरन्ति, केद्व विगिरन्त्यत्र यज्ज्ञा अहोसिरं वर्णन्ति।

६. वृत्ति, पत्र १३७ : तत्र नरके स्तम्भादौ ऊर्ध्वबाहुवोऽऽसिरसो वा स्वकाकीर्षस्तबलम्बिताः।

जीवनदात्री होने के कारण उसे 'संजीवनी' कहा गया है।^१ यह किसी नरक विशेष का नाम नहीं है।

बौद्ध साहित्य में 'संजीव' नामक नरक का यही वर्णन मिलता है। बौद्ध परंपरा में आठ ताप-नरक माने जाते हैं। पहला नरक है अवीचि और आठवां है संजीव। दूसरे नरक से आठवें नरक तक दुःख निरंतर नहीं होता। संजीव नरक में पहले मरीर भग्न होते हैं। वे रजकण जितने सूक्ष्म हो जाते हैं। पश्चात् मीतल वायु से वे पुनः सचेतन हो जाते हैं। इसलिए इस नरक का नाम 'संजीव' है।^२

८६. चिरस्थिति वाली (चिरद्वितीया)

नरक की अधन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है। वह चिरस्थिति वाली है, अर्थात् वहां के नैरयिकों का आयुष्य तेतीस सागर का है।

चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—नरक तथा कर्म के अनुभाव से नैरयिक जीव हजारों बार पीसे जाते हैं, उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं, फिर भी वे पुनः संघ जाते हैं, पारे की भांति एकत्रित हो जाते हैं, पूर्ववत् हो जाते हैं। अतिवेदना के कारण वे नैरयिक मृत्यु की कामना करते हैं, फिर भी वे मर नहीं पाते। इसलिए उन्हें वहां चिरकाल तक रहना पड़ना है।^३

८७. पापचेता (पावचेया)

पूर्वजन्म में पाप करने के कारण प्राणी नरक में जाता है। वहां सब पापचित्त वाले ही होते हैं। कोई कुशलचेता वहां उत्पन्न नहीं होता, जिससे कि वहां के प्राणी अपापचेता हो जाए।^४

श्लोक ३७ :

८८. ग्लानि का अनुभव करते हैं (गिलाणा)

वे नैरयिक जीव सदा ग्लान रहते हैं। कहा कोई आश्वासन नहीं है। जैसे महाज्वर से अभिभूत रोगी निष्प्राण और निर्बल हो जाता है, वैसे ही वे सदा दस प्रकार की वेदना को भोगते हैं।^५ दस प्रकार की वेदना का उल्लेख स्थानांग में मिलता है।^६

१. (क) धृति, पृ० १३६ : एवं यथोद्दिष्टवैदनाप्रकारैर्मक्यमाणारब्ध स्वाभाविकनिरययालकृतेर्वा पक्काद्विभिः क्षिप्त्वा क्वचित्ता वा सन्तो वेदनासमुद्भातेन समोहता सन्तो मृत्यववतिष्ठन्ति । यथेह मूर्च्छिता उक्तेन सिद्धाः पुनश्चक्षीयता इत्यपविशन्ते एवं ते मूर्च्छिताः सन्तः पुनः पुनः समजीवन्तीति समजीविनः सर्व एव नरका संजीवणा ।

(क) धृति, पृ० १३७ ।

२. अभिसर्गकोश, पृ० ३७२, आचार्य नरेन्द्र देव ।

३. (क) धृति, पृ० १३६ : चिरद्वितीया नाम अधर्मेण बस वाससहस्राणि उक्तेर्योसेन तेतीससागरोदमाणि । अपवा चिरं मृता हि तंतीति चिरद्वितीया, नरकानुभावात् कर्मानुभावञ्च यद्यपि पिब्यन्ते सहस्रशः क्लियन्ते तथापि पुनः संहस्यन्ते, इच्छन्तोऽपि मर्तुं तथापि न क्षियन्ते ।

(क) धृति, पृ० १३७ ।

४. धृति, पृ० १३६ : पापचेतः सित पूर्व पापचेता आसीत् सा प्रजा, साग्रतमपि न तत्र किञ्चित् कुशलचेता उत्पद्यते येनापापचेता सा प्रजा स्यादिति ।

५. धृति, पृ० १३७ : जमकादहर्हि मेरुदहर्हि च न तत्र समारथासोऽस्ति । नित्यग्लाना इति महाज्वरान्निभता इव निष्प्राणा निर्बला नित्यमेव च नरका इत्यर्थं वेदनां वेदोति ।

६. भाषा, १०।१०८ : मेरुदया च बसविधिं वेदनां पञ्चगुणवमाणा चिरद्वितीया, तं जहा—सीतं, उत्तिष्ठं, क्षुधं, पिपासं, कंठं, परशकं, गर्भं, सोमं, अरं, काहि ।

१. बीत
२. उष्ण
३. लघा
४. पिपासा
५. क्षुण्णलाहट

६. परतप्तता
७. भय
८. शोक
९. जरा
१०. व्याधि

श्लोक ३८ :

३९. बधस्वान (निहं)

अहां बहुत प्राणी मारे जाते हैं उस स्थान को 'निहं' कहा गया है।'

३९. बिना काठ की आग जलती है (जलंतो भगणी अकट्टो)

वहां बिना काठ की अग्नि जलती है। वह अग्नि वैक्रिय से उत्पन्न होती है। वे नीचे पाताल में होती है, अनवस्थित होती हैं। वे बिना सवर्षण से उत्पन्न होने वाली हैं।'

देखें—५१७, ३५ का टिप्पण।

४०. बहुत क्रूर कर्म करने वाले नैरयिक (बहुक्रूरकम्मा)

क्रूर का अर्थ है—दयाहीन। बंसा हिंसा आदि का कार्य जिसको करने के पश्चात् भी कर्ता पश्चात्ताप नहीं करता, वह कर्म क्रूर कहलाता है।'

४१. जोर-जोर से चिल्लाते हुए (अरहस्तरा)

'रह' का अर्थ है एकान्त या शून्य। जो शून्य नहीं है, वह 'अरह' स्वर होता है। भावार्थ में इसका अर्थ होगा—जोर-जोर से चिल्लाना।'

श्लोक ३९ :

४२. बड़ी (महंतीउ)

छन्द की दृष्टि से यहां ओकार के स्थान पर लृस्व उकार का प्रयोग है।

इसका अर्थ है—बड़ी। नरकपाल नैरयिकों को जलाने के लिए बड़ी-बड़ी चिताएँ बनाते हैं। वे नैरयिकों के शरीर प्रमाण से बहुत विशाल होती हैं। उनमें अनेक नैरयिक एक साथ समा जाते हैं।'

श्लोक ४० :

४३. पीटते हैं (समारभंति)

भूणिकार ने इसका अर्थ—पीटना किया है।'

१. (क) वृत्ति, पत्र १३७ : निहम्यन्ते प्राणिनः कर्मवशात्ता यस्मिन् तन्निहन्—आघातस्थानम्।

(ख) वृत्ति, पृ० १३७ : भविकं तस्यां हृष्यत इति निहं अणुरोक्षुषानवस्थितम्।

२. वृत्ति, पृ० १३७।

३. वृत्ति, पृ० १३७ : क्रूर नाम निरनुकोशं हिंसादि कर्म, यत् कृत्वा कृते च नामुतप्यन्ते।

४. वृत्ति, पत्र १३७ : अरहस्तरा बृहन्नाम्बराणां।

५. वृत्ति, पृ० १३७ : महंतीओ नाम नारकशरीरप्रमाणाधिकमात्राः यत्र नामेके नारका भावन्ते।

६. वृत्ति, पृ० १३७ : समारभंति ति पिह्वेति।

श्लोक ४१ :

६८. लकड़ी आदि के प्रहार से (बहेज)

इसका संस्कृतार्थ है—'व्यथेन'। चूर्णिकार और वृत्तिकार को इस शब्द से डंडा आदि का प्रहार अभिप्रेत है।^१ डंडा आदि का प्रहार व्यथा उत्पन्न करता है, इसलिए साध्य में साधन का आरोप कर उसे व्यथा-उत्पादक माना गया है।

६९. दोनों ओर से छीले हुए फलकों की भांति (फलगा ब तट्टा)

जैसे लकड़ी के तख्ते को करवत आदि से दोनों ओर से छीलते हैं, उसी प्रकार नैरयिक भी करवत आदि से छीले जाते हैं।^१

देखें—आयारो ६:११३ : फलगावयट्टी।

१००. आराओं से (आराहि)

इसका अर्थ है—चाबुक के अन्त में लगी हुई नुकीली कील।^१ पशुओं को हाकने के लिए लकड़ी के चाबुक में एक सिरे पर तीखी कील लगी रहती है। उसे पशु के मर्म-स्थान—गुदा में चुभाया जाता है। उसे 'आरा' कहते हैं।

१०१. ढकेले जाते हैं (नियोजयन्ति)

इसका अर्थ है—कार्य में व्यापृत करना।^१ नरकपाल नैरयिकों को तपी हुई लंबी आराओं से बीघते हैं और 'उठ, उठ, चल, चल,' इस प्रकार उन्हें आगे ढकेलते हैं।^१

वृत्तिकार के अनुसार नरकपाल नैरयिकों को तपा हुआ तांबा आदि पीने के व्यापार में व्यापृत करते हैं।^१

श्लोक ४२ :

१०२. नरकपालों द्वारा कूरतापूर्वक कार्यों में व्यापृत होते हैं (अभिभुंजिया तद्)

चूर्णिकार के अनुसार वे नैरयिक दो प्रकार से रौद्र कार्य में व्यापृत होते हैं—

१. पूर्वजन्मों में भी वे रौद्र कर्मकारी थे।

२. यहाँ भी वे परस्पर रौद्र भेदना की उदीरणा करते हैं।

वृत्तिकार ने इस के दो अर्थ किए हैं—

१. दूसरे नैरयिक को मारने के रौद्र कार्य में व्यापृत होते हैं।

१ (क) चूर्ण, पृ० १३७ : बहेज.....लड्डादिधातैः।

(ख) वृत्ति, पत्र १३८ : व्यथयसीति व्यथो—लकुटादिप्रहारस्तेन।

२. (क) चूर्ण, पृ० १३७ : फलगावतट्टी त एषं भग्नाङ्ग-प्रत्यङ्ग फलका इव उन्मथया प्रकुट्टाः करकमसादीहि तन्निक्षता।

(ख) वृत्ति, पत्र १३८ : फलकनिक्षोभाभ्यां करकादिना अवतट्टाः तनुकुताः।

३. आधुनिक संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

४. वृत्ति, पत्र १३८ : निविजोयन्ते व्यापार्यन्त इति।

५. चूर्ण, पृ० १३७ : तत्ताविः दीर्घाभिराराभिनिविज्यन्ते, उत्तिष्ठोतिष्ठेति गच्छ गच्छेति।

६. वृत्ति, पत्र १३८ : तत्तत्प्रयुक्तनादिके कर्मणि निविजोयन्ते व्यापार्यन्त इति।

७. चूर्ण, पृ० १३८ : अभिभुंजिया तिबिधेन वि रौद्रादीनि कर्माणि... ..ते च रौद्राः पूर्वजन्मन्, तथापि रौद्रा एव परस्परतो वैदवा उदीरयन्तः।

८. वृत्ति, पत्र १३८ : अभिभुंजिया इत्यादि, रौद्रकर्मव्यपारकृतनादिके अभिपुण्य व्यापार्यं यदि वा—जन्मांतरकृतं रौद्रं तत्त्वोप-
गतकार्यम् अभिपुण्य व्यापार्यत्वात्।

२. पूर्वजन्म में किए जीव-हिंसा आदि रौद्र कार्यों की स्मृति दिलाते हैं।

यहां 'रुद्र' शब्द में कोई विभक्ति नहीं है। यहां द्वितीया विभक्ति होनी चाहिए।

१०३. हाथीयोग्य भार ढोते हैं (हस्तिवहं बहन्ति)

हाथीयोग्य भार ढोते हैं अर्थात् हाथी जितना भार ढोता है उतना भार वे नैरयिक ढोते हैं।

इसका वैकल्पिक अर्थ है कि नरकपाल नैरयिकों को हाथी बनाकर उनको भार ढोने के लिए प्रेरित करते हैं अथवा घोड़ा, कंट, गध्रा आदि बनाकर उनसे भार ढुलाते हैं। जिन्होंने अपने पूर्वजन्म में जिन-जिन पशुओं को अधिक भार ढोने के लिए बाध्य किया था, उनको उन-उन पशुओं के रूप में परिवर्तित कर भार ढुलाया जाता है।^१

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. जैसे हाथी सवारी के काम आता है वैसे ही नरकपाल उस पर चढ़कर सवारी करते हैं।

२. जैसे हाथी बहुत भार ढोता है, वैसे ही नरकपाल नैरयिकों से बहुत भार ढुलाते हैं।

१०४. गर्वन को (ककाणवो)

यह देखी शब्द है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ मर्म-स्थान किया है।^२

वृत्तिकार ने 'किकाणतो' पाठ मानकर इसका अर्थ—कृकाटिका (गरवन का पिछला भाग) किया है।^३

श्लोक ४३ :

१०५. बांस के जालों में (तप्पेहि)

नदी के मुहानों पर बांस की खपच्चियों से बने हुए 'तप्प' पानी के नीचे रखे जाते हैं। पानी के प्रवाह के साथ-साथ अनेक मत्स्य आते हैं। पानी का बहाव चला जाना है और वे मत्स्य वहीं फस जाते हैं। फिर उन सब मत्स्यों को एकत्रित कर लिया जाता है।^४

वृत्तिकार ने इसे नैरयिकों का विशेषण मानकर 'तर्पकाकारान्' किया है। किन्तु 'तर्पक' का कोई अर्थ नहीं दिया है।^५

१०६. जल से निकाल (समीरिया)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'संपीण्ड्य'—इकट्ठा कर दिया है।^६

वृत्तिकार ने इसका संस्कृतरूप 'समीरिता' कर इसका अर्थ 'पाप-कर्मों से प्रेरित' किया है।^७

हमने इसका संस्कृतरूप 'समीर्य' किया है। इसका अर्थ है—जल से बाहर निकालकर।

१. वृत्ति, पृ० १३८ : हस्तितुल्यं बहन्तीति हस्तितुल्यं भारं बहन्तीत्यर्थः, हस्तितुल्यं वा कृत्वा बाह्यगते, अथोद्भूताराधिक्यं वा धेयं वा बाह्यताः।

२. वृत्ति, पत्र १३८ : हस्तितुल्यं बाह्यगति नरकपालाः, यथा हस्ती बाह्यते समाकृष्टा एवं तमपि बाह्यगति, यदि वा—यथा हस्ती महाभारं बहन्तीत्यर्थं तमपि भारकं बाह्यगतिः।

३. वृत्ति पत्र १३८ : ककाणवो ति मर्मणि।

४. वृत्ति, पृ० १३८ : किकाणतो ति ति कृकाटिकाए।

५. वृत्ति, पृ० १३८ : तर्पका नदीमुखेषु विवलयया वशाकालीनया पिबवासांठिता कञ्जति, ताद्ये ओसरते उद्यते उडिष्यति हेतुगुप्ता, पञ्चा मञ्जना के तेहि अवकंता से गलिते उद्यते संपुञ्जिता धेयन्ति।

६. वृत्ति, पत्र १३८।

७. वृत्ति, पृ० १३८ : समीरिता नाम सम्यिण्ड्य।

८. वृत्ति, पत्र १३८ : समीरिताः पापेन कर्मणा जोदिताः।

१०७. खंड-खंड कर नगर-बलि.....जिधेर देते हैं (कोट्टबलि करैति)

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने प्रधानरूप से 'कोट्ट' और 'बलि' को पृथक्-पृथक् मानकर, कोट्ट का अर्थ—तलवार आदि से टुकड़े-टुकड़े कर, फूट कर और 'बलि' का अर्थ— बलि देना किया है। वैकल्पिकरूप में 'कोट्टबलि' को एक मानकर 'कोट्ट' का अर्थ नगर और 'बलि' का अर्थ बलि किया है। 'कोट्ट' शब्द वैसी है। इसका अर्थ है—नगर।

इलोक ४४ :

१०८. वेतालिक (वेतालिय)

वृत्तिकार ने इसे परमाध्यात्मिक वेदों द्वारा निष्पादित 'वैक्रिय' पर्वत माना है।

१०९. बहुत ऊंचा (एगायए)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—एकशिला से निर्मित बहुत ऊंचा पर्वत-किया है।

११०. अघर में झूलता हुआ (अंतलिक्खे)

वृत्तिकार का अभिमत है कि वह पर्वत आकाश-स्फटिक से निर्मित होने के कारण अथवा अघ्नकार की अधिकता के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। उस पर चढ़ने का केवल मार्ग ही दिखाई देता है। नैरयिक हाथ के स्पर्श से उस मार्ग की खोज करते हैं और मार्ग हाथ लगते ही वे पर्वत पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। तब पर्वत सिकुड़ने लगता है और वे नैरयिक हतप्रहत होकर नीचे गिर जाते हैं।

वृत्तिकार ने एक मतान्तर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार—वह पर्वत भूमि से सबद्ध लगता है, पर जब नैरयिक उसकी ओर जाते हैं तब वह असंबद्ध लगता है, सिकुड़ जाता है।

१११. काल (मुहुत्तगानं)

मुहुत्त का अर्थ है—अठ्चालीस मिनट का काल। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ—सामान्य काल है। उत्तराध्यायन सूत्र ४।६ की सुखबोधवृत्ति में मुहुत्त का अर्थ—दिवस आदि से उपलब्ध काल किया है।

इलोक ४५ :

११२. अत्यन्त पीड़ित होकर (संवाहिया)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—स्पृष्ट और वृत्तिकार ने—अत्यन्त पीड़ित किया है।

१ (क) वृत्ति, पृ० १३८ : कुट्टयित्वा कल्पनीभिः खण्डतो बलिं क्रियते । अथवा कोट्टं नगरं वृत्ति, नगरवली च क्रियते ।

(ख) वृत्ति, पत्र १३८ : तान्नारकान् कुट्टयित्वा खण्डशः कृत्वा बलिं करिति सि नगरबलिबलितरचेतश्च क्रियन्तीत्यर्थः, यदि वा कोट्टबलिं कुर्वन्तीति ।

२. बेसीमाभसाला २।४५ : केमारबाणकोट्टा..... ।

कोट्टं नगरम् ।

३. वृत्ति, पत्र १३९ : वेतालिय'ति वैक्रियः परमाध्यात्मिकनिष्पादितः पर्वतः ।

४. वृत्ति, पत्र १३९ : एगायए—एकशिलावद्विलो दीर्घः ।

५. वृत्ति, पृ० १३८ : अत्यन्तः खिलमूल इत्यर्थः, आकाशस्फटिकत्वात् न दृश्यते, अघ्नकारत्वाद्वा न दृश्यते, केवलमाध्यात्ममार्गो दृश्यते, हृत्परिचोसका एव तलस्ते नाऽऽवब्रूयन्ति, आसन्नचक्षणेन बिलगमास्ते स च पर्वतः संहृष्यते । अग्रे पुनः वृत्ते—वृत्त एवासी, वृत्तिवत् एव बोधव्यते, न च सम्बद्धः ।

६. सुखबोधा वृत्ति, पत्र १४ : मुहुत्तार्थः—कालविशेषः निष्ठाद्युपलक्षणमेतत् ।

७. वृत्ति, पृ० १३८ : अन्वाहिताः नाना श्रुत्याः ।

८. वृत्ति, पत्र १३९ : अन्—एकीकृत्यैव अद्विताः पीडिताः ।

११३. अकान्त उबड़-खाबड़ भूमि वाले (एगंतकूडे)

एकान्त विषम-स्थान, ऐसा स्थान जहाँ कोई भी समतल भूमि न हो।^१

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—एकान्त दुःखोत्पत्ति का स्थान किया है।^२

११४. गलप्राण के द्वारा (कूडेन)

‘कूट’ का अर्थ है—मृग को पकड़ने का पिंजड़ा।^३ वृत्तिकार के अनुसार स्थान-स्थान पर ‘कूटों’ का निर्माण किया जाता है। वे अवृण्य रहते हैं। मृग उन्हें नहीं देख पाते। वे उधर से भागने का प्रयत्न करते हैं और बार-बार उसमें बंध जाते हैं।^४

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—गलयंत्रपाश किया है। संभव है वह रस्सी से बना हुआ गले का फंदा हो, जिससे पशु आदि को बांधा जाता है।^५ वैकल्पिकरूप में इसका अर्थ—पाषाणसमूह भी है।

प्रस्तुत सूत्र के ११३४ में ‘पासयाजि’ शब्द का प्रयोग है। वह भी ‘पाशयत्र’—मृगबंधन रण्डु का ही वाचक है। संभव है—‘कूट और पाश’ एकार्थक हों।

कूट का एक अर्थ—मुद्गर भी है।^६

श्लोक ४६ :

११५. श्लोक ४६ :

यह श्लोक वृत्ति में व्याख्यात नहीं है।

११६. पूर्वजन्म के शत्रु (पुन्यवरी)

इसका अर्थ है—पूर्वजन्म के शत्रुओं की तरह आचरण करने वाले नरकपाल अथवा जन्म-जन्म में अपकार करने वाले नैरयिक।^७

श्लोक ४७ :

११७. सदा कुपित रहने वाले (सयावकोपा)

इसका अर्थ है—सदा कुपित रहने वाले। वृत्तिकार ने ‘अकोप्पा’ पाठ मानकर उसका अर्थ—अनिवार्य, अप्रतिषेध्य किया है। वे शृगाल ऐसे हैं जिनको हटाया नहीं जा सकता।^८

११८. सांकलों से बंधे हुए (संकलियाहि बद्धा)

कुछ नैरयिक लोहे की सांकलों से बंधे हुए होते हैं और कुछ नहीं होते। शृगाल सांकलों से बंधे हुए नैरयिकों को खाने लगते हैं। यह देखकर मुक्त नैरयिक अपने बचाव के लिए वहाँ से भागते हैं। तब शृगाल उनके पीछे दौड़कर उन्हें खा जाते हैं।^९

१. वृत्ति, पृ० १३८ : एगंतकूडे षाम एकान्तविषम., न तत्र काचित् समा भूमिविद्यते यत्र ते गच्छन्तो न स्वसेयुरिति न प्रपतेपुर्वा।

२. वृत्ति, पत्र ११६ : एकान्तेन कूटानि दुःखोत्पत्तिस्थानानि।

३. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

४. वृत्ति, पृ० १३८ : तद्याहि तन्मि विलये कूडाजि तस्य देसे से उत्तारोत्तर-निगम-यवेसेषु य अहरयानि यत्र ते वध्यन्ते।

५. वृत्ति, पृ० १३६ : कूटेन गलयंत्रपाशादिना पाषाणसमूहसंश्लेषेण वा।

६. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

७. वृत्ति, पत्र १३६ : पूर्वमरय इवारयो जन्मास्तरबेरिण इव परमाधार्मिका यवि वा—जन्मास्तरायकारिणी नारकाः।

८. वृत्ति, पृ० १३६ : सदा वा अकोप्पा अनिवार्या अप्रतिषेध्या इत्यर्थः, कर्वायको अकोप्पा इत्यपविश्यते। अथवा—अकोप्यं ति (न) कुप्यितुं इत्युक्तं भवति।

९. वृत्ति, पृ० १३६ : लोहसंकलाबद्धाः सावन्ति के वि स्वीरा। प्रयावन्तोऽनुयावन्तो, अनुयावितुं पाठयित्वा सावन्ति।

११६. बहुत धूर कर्म वाले (बहुधूरकम्मा)

धूमिकार ने इसे जो चाते हैं और जो खाए चाते हैं—दोनों के लिए प्रयुक्त माना है। इस प्रकार यह शब्द श्रुगास तथा मेरमिक—दोनों के लिए प्रयुक्त है।^१

श्लोक ४८ :

१२०. सदाजलता (सदाजलता)

धूमिकार ने इसका अर्थ—सदा जलने वाली नदी किया है।^२

धूमिकार के अनुसार इसका अर्थ है—ऐसी नदी जिसमें सदा जल रहता हो या इस नाम की एक नदी।^३

१२१. पंकिल (पविजलता)

धूमिकार ने इसका अर्थ—विस्तृत जल वाली, उत्तान जल वाली, सपाट जल वाली—किया है। वह नदी बंतरणी की तरह गंभीर जल वाली नहीं है।^४

धूमिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—^५

१. अत्यन्त उष्ण रक्त और पीब से मिश्रित जल वाली।
२. दधिर और पीब से पंकिल।
३. विस्तीर्ण और ऊँचे जल वाली।
४. प्रदीप्त जल वाली।

१२२. अग्नि के ताप से जल वाली हैं (लोहबिलीगता)

अतिसाप से लोह गल जाता है। वह पिघला हुआ लोह बहुत गरम होता है। उसके समान गरम जल वाली।^६

१२३. अकेले चलते हुए (एगायता)

धूमिकार ने इसका अर्थ—अकेले, अत्राण, असहाय किया है।^७ धूमिकार ने 'एकानिका' पाठ मानकर उसका अर्थ—असहाय या अद्वितीय किया है।^८

श्लोक ४९ :

१२४. स्पर्श (दुःख) (कासाई)

धूमिकार ने 'स्पर्श' शब्द को शब्द, रूप रस और गंध का संग्राहक माना है। तरक मे ये इन्द्रिय-विषय दुःखमय और उत्कट

१. धूमि, पृ० १३६ : बहुधूरकम्मा इत्युभयावधारणार्थम्, ये च जाययन्ति ये च जायन्ते।
२. धूमि, पृ० १३६ : सदा जलतीति सदाजलता।
३. धूमि, पृ० १३६ : सदा—सर्वकालं, जलम्—उत्कटं अर्थात् ता तथा सदाजलताजिज्ञाना वा।
४. धूमि, पृ० १४० : प्रविशुतजलता पविजलता, विस्तीर्णजलता उत्तानजलनेत्यर्थः, न तु यथा बंतरणी गंभीरजलता विपजती च।
५. धूमि, पृ० १३६ : प्रकर्षेण विविजमत्युक्तं कारदूधवधिराविर्त्तं जलं अर्थात् ता प्रविजलता यच्च वा 'पविजलते' ति वधिराविलत्वात् पविजलता, विस्तीर्णपञ्जीरजलता वा अथवा प्रदीप्तजलता वा।
६. (क) धूमि, पृ० १४० : जलितता लप्तां तत् विनीतं द्रव्यं यत् अलोहम्—अवस्तुल्लसत्, अतिसापविनीतलोहसदृशजलनेत्यर्थः।
(ख) धूमि, पृ० १३६ : लोहविनीतसदृशोवका। लोहानि पञ्च काललोहादीनि।
७. धूमि, पृ० १४० : 'एगाय' ति एकानिकोऽजायः।
८. धूमि, पृ० १३६ : एकानिका असहाया इत्युक्तम्, जलसहाया इत्यर्थः अद्वितीयता वा।

होते हैं, इसलिये स्पर्श शब्द का प्रयोग हुआ है।'

प्राचीन साहित्य में इसका बहुलता से प्रयोग मिलता है। गीता में इसका अनेक बार प्रयोग हुआ है—स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्।' (गीता ५।२७)। 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय।' (गीता २।१४)। 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' (गीता ५।२१) 'ये हि संस्पर्शजा भोगाः' (गीता ५।२२)।

वृत्तिकार ने स्पर्श का अर्थ—दुःख किया है। ये दुःख तीन प्रकार से आते हैं—नरकपालो द्वारा कृत, परस्पर उदीरित और स्वाभाविक रूप से प्राप्त।'

१२५. (एषो सर्व.....)

वह अकेला ही दुःख का अनुभव करता है। वह असहाय हो जाता है क्योंकि, जिन-जिनके लिए उसने पाप-कर्म किए थे, वे दुःख के अनुभव में हाथ नहीं बटाते। कहा भी है—मैंने अपने परिजनो के लिए अनेक दारुण कर्म किए हैं। फल-भोग के समय वे सब भाग गए। मैं अकेला ही उनको भोग रहा हूँ।'

श्लोक ५० :

१२६. जिसने जो जैसा (जं जारिसं)

यहां 'यत्' कर्म का श्रोतक है और 'यादृश' उस कर्म के अनुभाव और स्थिति का। मंद, मध्यम और तीव्र अध्यवसायो से जघन्य, यध्यम और उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों का बंध होता है।'

१२७. परलोक में (संपराए)

इसका अर्थ है—परलोक। वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ संसार और वैदित्त्विक अर्थ 'परलोक' किया है।' वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल 'संसार' किया है।'

१२८. दुःखी प्राणी (दुःखी)

इसका अर्थ है—कर्मयुक्त प्राणी। दुःख का अनुभव दुःखी प्राणी ही करता है। अदुःखी प्राणी कभी दुःख का अनुभव नहीं करता।

१. बृत्ति, पृ० १३६ : कुसंतीति फासाणि, एगगह्वरे गह्वरं, सदाणि वि क्व-रस-गंध-फासाणीति। स्पर्शं ग्रहणं तु ते तत्रोत्कटा दुःखतमाश्च।

२. बृत्ति, पत्र १४० : स्पर्शाः दुःखविशेषाः परमाध्यात्मिकजनिताः परस्परपाविताः स्वाभाविका चेति अतिकटको रूपरसगंधस्पर्शशब्दाः अत्यंतदुःखाः।

३. बृत्ति, पत्र १४० : एकः—असहायो यद्वत् तत्त्वायं समञ्जितं तं रहतिस्तत्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवति, न कश्चिद् दुःखसंविधानं गृह्णातीत्यर्थः, तथा चोक्तम्—

अथा परिजनस्मार्थं, कृतं कर्म सुवाचकम्।

एकाकी तेन बद्धोऽहं, गतास्ते फलभोगिनः॥

४ (क) बृत्ति, पृ० १३६ : जारिसाणि तिग्म-मंद-मध्यमजघन्यसाएहि जघण्यमधिकमुक्तितृतीययाणि कम्पाणि कताणि तं तथा अनुभवन्ति।

(ख) बृत्ति, पत्र १४०।

५. बृत्ति, पृ० १३६, १४० : संपरागो नाम संसारः, संपरीत्यस्मिन्निति सम्परायः, कर्मकलोदयेन वा नश्यं संपरायिष्यतीति सम्परायः।

६. बृत्ति, पत्र १४० : सम्पराये—संसारः।

इलोक ३१ :

१२६. सव्य के प्रति निश्चित दृष्टि वाला (एगंतबिंदु)

भागमें में मुनि के लिए 'अहीव एगंतबिंदु'—सांप की भांति एकान्तदृष्टि—यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। सांप अपने लक्ष्य पर ही दृष्टि रखता है, वैसे ही मुनि अपने लक्ष्य—मोक्ष की ही दृष्टि में रखे। जो इस प्रकार निश्चित दृष्टि वाला होता है, वह एकान्तदृष्टि कहलाता है।

चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या में कहा है—जिस भ्रमण में यह सत्यनिष्ठा होती है कि 'इदमेव निगमं पावयण सच्चं'—यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, वह एकान्तदृष्टि होता है।

वृत्तिकार ने निष्प्रकंप सम्यक्त्व वाले को एकान्तदृष्टि माना है। जीव आदि तत्त्व के प्रति जिसकी निश्चल दृष्टि होती है, वह एकान्तदृष्टि है।

१३०. स्वाध्यायशील रहे (बुधभेज्ज)

इस पद का अर्थ है—अध्ययनशील रहे, स्वाध्यायशील रहे।

१३१. कषाय का बशवर्त्ती न बने (लोगस्स वसं न गच्छे)

'लोक' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—जगत्, शरीर, कषाय और प्राणी-गण। जीव और अजीव—इन दोनों के समवाय को उत्तराध्ययन सूत्र में 'लोक' कहा गया है। आचारांग के द्वितीय अध्ययन का नाम 'लोक विचय' है। उसकी निर्युक्ति में लोक विचय के अनेक अर्थ मिलते हैं। उनमें 'लोक का एक अर्थ कषाय लोक भी है।' आचारांग में 'लोक' का एक अर्थ शरीर भी मिलता है। लोक का अर्थ 'प्राणी-गण' प्रस्तुत श्लोक के 'सब्बलोए' इस पद की चूर्णि में मिलता है। यहां 'लोक' शब्द का अभिप्रेत अर्थ कषाय है।

चूर्णिकार ने 'लोक' के स्थान में 'लोभ' शब्द मानकर शेष तीनों कषायों का ग्रहण किया है। इसके द्वारा अठारह पाप भी गृहीत हैं।

वृत्तिकार ने इस पद का मुख्य अर्थ—अशुभकर्मकारी अथवा उसके फल को भोगने वाला व्यक्ति के बश में न जाए—ऐसा किया है। वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ—कषाय लोक है।

देखें—१।८१ का टिप्पण।

इलोक ३२ :

१३२. धृत का (धुयं)

आचारांग के छठे अध्ययन का नाम 'धृत' है। उसके पांच उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक में प्रमुख रूप से एक-एक धृत

१. (क) अंतगडहसाओ १।७२ : अहीव एगंतबिंदु ।

(ख) प्रसन्न्याकरण, १०।११ : अहा अही वेव एगबिंदु ।

२. चूर्णि, पृ० १४० : एकान्तदृष्टिरिति इदमेव निगमं पावयणं ।

३. वृत्ति, पञ्च १४१ : तथैकान्तेन निश्चला जीवाहितस्वेव दृष्टिः—सम्यग्दर्शनं यस्य स एकान्तदृष्टिः निष्प्रकम्पसम्यक्त्व इत्यर्थः ।

४. चूर्णि, पृ० १४० : बुधभेज्जं त्ति अधिभेज्जं, असीतुं च सुभेज्जं, सोतुं बुधभेज्जं ।

५. उत्तररत्नमाला, ३६।२ : जीवा वेव अजीवा य, एस लोए विद्याहिए ।

६. आचारांग निर्युक्ति, गाथा १७७ : बिज्जिओ कसामसोणो..... ।

७. आचारो २।१२५ का टिप्पण, पृ० ११२, ११३ ।

८. चूर्णि, पृ० १४० : सब्बलोके त्ति लोभीविज्जिजायलोके ।

९. चूर्णि, पृ० १४० : लोभस्स वसं च गच्छेज्जं त्ति कसयविज्जो गहितो सेसाव वि कोषादीयं वसं च गच्छेज्जा । अट्टारस वि हाणाहं ।

१०. वृत्ति, पञ्च १४१ : 'लोकम्' अशुभकर्मकारिणं तद्विषयकफलभूतं वा यदि वा—कषायलोकम् ।

प्रतिपादित है। उनके अन्तर्गत अनेक धृत और हैं। धृत अनेक हैं। धृत का अर्थ है—प्रकर्षित, पृथक्कृत। कुल्लेक धृत ये हैं—स्वजन परित्याग धृत, कर्म परित्याग धृत, उपकरण और शरीर परित्याग धृत आदि, आदि।

चूर्णिकार ने 'धृत' का अर्थ कर्म को प्रकर्षित करने वाला चारित्र किया है।^१

वृत्तिकार ने 'धृत' के स्थान पर 'धुव' शब्द मानकर उसका अर्थ—मोक्ष या संयम किया है।^२

१.३.३. कर्मक्षय के काल की (कालं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. समस्त कर्मों के क्षय का काल।

२. पण्डित मरण का काल।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—मृत्युकाल किया है।^३

मुनि को जीवन या मरण की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए—यह जैन परंपरा सम्मत तथ्य है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत प्रसंग में 'कल्लेज्ज काल' का अर्थ मरण की आकांक्षा न होकर, कर्मक्षय की आकांक्षा अथवा पण्डित-मरण (समाधि मरण) की आकांक्षा—ये दोनों हो सकते हैं।

१. चूर्णि, पृ० १४० : धूयतेऽनेन कर्म इति धृतं चरित्रमित्युक्तम् ।

२. वृत्ति, पत्र १४१ : धुवो—मोक्षः संयमो वा ।

३. चूर्णि, पृ० १४१ : कालं.....सर्वकर्मक्षयकालं, यो वाऽप्यो पण्डितमरणकालः ।

४. वृत्ति, पत्र १४१ : कालं—मृत्युकालम् ।

छठं प्रज्ञायण
महावीरस्युई

छठा अध्यायन
महावीर स्तुति

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'महावीर स्तुति' है। खूणिकार ने इसका नाम 'महावीर स्तव' माना है।^१ खूणिकार द्वारा स्वीकृत निर्युक्तिगाथा (७७) में 'यव' शब्द है और वृत्तिकार द्वारा स्वीकृत निर्युक्ति गाथा (८४) में 'बुद्ध' शब्द है।^२ यही नामभेद का कारण है।

समवायांग में इसका नाम 'महावीर स्तुति' उल्लेख है।^३ 'स्तव' और 'स्तुति' दोनों एकार्थक हैं।

निर्युक्तिकार ने 'महावीर स्तव' में निहित महा + वीर + स्तव—इन तीनों शब्दों के बार-बार निक्षेपों—द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव—का निर्देश किया है।^४ खूणिकार और वृत्तिकार ने उनकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।^५ उससे अनेक तथ्य प्रगट होते हैं।

खूणिकार ने महत् शब्द के दो अर्थ किए हैं—प्रधान और बहुल।^६ वृत्तिकार इसके चार अर्थ करते हैं—

१. बहुत्व—जैसे महाजन।
२. बृहत्त्व—जैसे महाघोष।
३. अत्यर्थ—जैसे महाभय।
४. प्राधान्य—जैसे महापुरुष।

महत् शब्द यहां प्राधान्य अर्थ में ग्रहीत है। उसके निक्षेप इस प्रकार हैं—^७

१. द्रव्य महत्—इसके तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र।

(क) सचित्त के तीन प्रकार—

- त्रिपद—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वज्रदेव, वासुदेव।
- चतुष्पद—सिंह, हस्तिरत्न, अश्वरत्न।

अपद (परोक्ष अपद)—कूट शास्मली वृक्ष, कल्पवृक्ष।

(प्रत्यक्ष अपद) जो यहा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से उत्कृष्ट हैं, जैसे कमल (वर्ण से), गोशीर्षचंदन (गंध से), पनस (रस से), बालकुमुदपत्र, गिरीष कुसुम (स्पर्श से)।

(ख) अचित्त—वैदूर्य आदि प्रभावान् मणियों के प्रकार। वनस्पति से निष्पन्न द्रव्य जो वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से उत्कृष्ट हों।

(ग) मिश्र—सचित्त-अचित्त दोनों के योग से बने द्रव्य या अलंकृत और विभूषित तीर्थंकर।

१. खूणि, पु० १४२ : इहाजी महावीरत्वको ति अचम्ययणं।

२. बही, पु० १४२ : यवमियेवो.....।

३. वृत्ति, पत्र १४२ : बुद्धमियेवो.....।

४. समवायो, १९।१।

५. निर्युक्ति गाथा, ७६।

६. (क) खूणि, पु० १४१। (ख) वृत्ति, पत्र १४१, १४२।

७. खूणि, पु० १४१ : महविति प्राधान्ये बहुल्ये च।

८. वृत्ति, पत्र १४१ : महत्त्वयो बहुल्ये, यथा—महाजन इति; अस्ति बृहत्त्व, यथा—महाघोषः; अत्यत्यर्थं, यथा—महाभयमिति; अस्ति प्राधान्ये, यथा—महापुरुष इति, तत्रेह प्राधान्ये वर्तमानो ग्रहीत।

९. खूणि पु० १४१।

२. क्षेत्र महत्—सिद्धि क्षेत्र । धर्माचरण की अपेक्षा से महाविदेह क्षेत्र प्रधान होता है तथा मनुष्य के लिए स्वतन्त्र सुख तथा वैयक्तिक सुखों की दृष्टि से देवकुल आदि क्षेत्र प्रधान होते हैं ।

३. काल महत्—काल की दृष्टि से 'एकांत सुषमा' आदि काल प्रधान होता है अथवा जो काल धर्माचरण के लिए उपयुक्त होता है वह प्रधान होता है ।

४. भाव महत्—पाँच भावों में 'आयिकभाव' प्रधान होता है । तीर्थंकर के शरीर की अपेक्षा से औद्योगिक भाव भी प्रधान होता है । प्रस्तुत प्रसंग में दोनों भाव गृहीत हैं ।

वीर का अर्थ है वीर्यवान् शक्तिशाली । इसके चार निक्षेप इस प्रकार हैं—^१

१. द्रव्यवीर—सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य के वीर्य—शक्ति को द्रव्य वीर्य कहा जाता है ।

(क) सचित्त के तीन प्रकार हैं—

द्विपद—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव का शारीरिक वीर्य ।

चूर्णिकार ने आवश्यक निर्युक्ति की पाँच गाथाओं (७१ से ७५) को उद्धृत कर शलाकापुरुषों के बल का वर्णन किया है । प्रस्तुत गाथाओं में तीर्थंकर को अपरिमित बलशाली माना है । चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—तीर्थंकर अपने शारीरिक बल का प्रदर्शन नहीं करते, किन्तु उनमें इतनी शारीरिक शक्ति है कि वे लोक को उठाकर एक गेद की भाँति अलोक में फेंक सकते हैं । वे मन्दर पर्वत को छत्र का दह बनाकर रत्नप्रभा पृथ्वी को छत्र की तरह धारण कर सकते हैं ।^१ यह असदभावस्थापना—वास्तविकता का कार्पनिक निदर्शन है । ऐसा न होता है, न कोई करता है । पर तीर्थंकर में इतनी शक्ति होती है । भगवान् महावीर पर सगमदेव ने कालचक्र फेंका । भगवान् ने अपने शारीरिक बल के आधार पर ही उसे झेला था ।

चक्रवर्ती

चक्रवर्ती रूप के तट पर स्थित हैं । उनको साकल से बांधकर, बत्तीस हजार राजा अपनी चतुरगिणी सेना के सहारे खींचते हैं, फिर भी वे उन्हें टस से मस नहीं कर सकते । प्रत्युत चक्रवर्ती अपने वामहस्त से साकल को खींचकर सबको गिरा देते हैं ।

वासुदेव

वासुदेव रूप के तट पर स्थित हैं । उनको साकल से बांधकर मोलह हजार राजा अपनी चतुरगिणी सेना के सहारे खींचते हैं, फिर भी वे उन्हें एक रेखा मात्र भी आगे नहीं ला सकते । प्रत्युत बलदेव अपने वामहस्त से साकल को खींचकर सबको गिरा देते हैं । चक्रवर्ती से बलदेव की शारीरिक शक्ति आधी होती है ।

बलदेव

वासुदेव के बल से बलदेव का बल आधा होना है । इस प्रकार बलदेव की शारीरिक शक्ति से वासुदेव की शक्ति दुगुनी और वासुदेव की शक्ति से चक्रवर्ती की शक्ति दुगुनी होती है । तीर्थंकर की शक्ति चक्रवर्ती की शक्ति से भी अधिक होती है, अपरिमित होती है ।^१

० चतुष्पद द्रव्यवीर्य—सिंह, अष्टापद आदि का बल ।

० अपद द्रव्यवीर्य—

अप्रशस्त—विष आदि की शक्ति ।

प्रशस्त—सजीवनी औषधि आदि की शक्ति ।

मिश्र-द्रव्य-वीर्य—औषधि का वीर्य ।

१. चूर्णि, पृ० १४१ : वीरः वीर्यमस्यास्तीति वीर्यवान् । वीरस्त पुन निक्षेपो चतुर्विधो ।

२. वही पृ० १४१ : असदभावस्थापनातः स हि तिम्युकमिव लोकं अलोकं प्रक्षिपेत्, मन्दरं वा दहं कृत्वा रत्नप्रभा पृथिवीं खनकवद् धारयेत् ।

३. वही, पृ० १४१ ।

क्षेत्र वीर्य—जिस क्षेत्र विशेष में शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

२. कालवीर—जिस काल विशेष में वीर्य उत्पन्न होता है।

४. भाववीर—आयिक वीर्य से संपन्न व्यक्ति जो उपसर्ग और परीसर्गों से कभी पराजित नहीं होता।

वृत्तिकार ने कषायविजयी को भी भाववीर माना है।

प्रस्तुत अध्ययन में आवन श्लोक हैं।

निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन की अंतिम निर्युक्ति गाथा में अध्ययन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। उसके अनुसार जम्बूस्वामी ने आर्य सुधर्मा से भगवान् महावीर के गुणों के विषय में प्रश्न किया और आर्य सुधर्मा ने इस अध्ययन के माध्यम से महावीर के गुणों का प्रतिपादन किया। साथ-साथ उन्होंने कहा—जैसे महावीर ने उपसर्गों और परीसर्गों पर विजय प्राप्त की वैसे ही मुनि को उपसर्गों और परीसर्ग पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इसका वैकल्पिक अर्थ यह हो सकता है कि जैसे महावीर ने संयम साधना की वैसे ही मुनि को संयम की साधना करनी चाहिए।

सूत्रकार ने प्रथम तीन श्लोकों में अध्ययन की पृष्ठभूमि का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए आर्य सुधर्मा और जम्बू स्वामी के मध्य हुए वार्तालाप को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

आर्य सुधर्मा ने परिषद् के बीच नारकीय जीवों की वेदना का मजीब वर्णन किया और उनकी उत्पत्ति के हेतुओं का स्पष्ट दिग्दर्शन कराया। नारकीय यातनाओं को सुनकर वे सब पार्यद् उद्विग्न हो गए। 'हम नरक में न आए'—इसका उपाय पूछने के लिए वे सब आर्य सुधर्मा के समक्ष उपस्थित हुए। प्रश्न करने वालों में वे सब थे जिन्होंने महावीर को साक्षात् देखा था या जिन्होंने उन्हें साक्षात् नहीं देखा था। उन प्रश्नकर्ताओं में जब्बू स्वामी आदि श्रमण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी जाति के लोग तथा चरक आदि अनेक परतीर्थिक भी थे। उन्होंने पूछा—आर्यवर! आपने जो धर्म कहा है, वह श्रुतपूर्व है या अनुभूतिगम्य? सुधर्मा ने कहा—श्रुतपूर्व है। महावीर ने जो कहा है उसीका मैंने प्रतिपादन किया है। तब जम्बू आदि श्रोताओं ने कहा—भगवान् महावीर अनीत में हो चुके हैं। वे हमारे साक्षात् नहीं हैं। हम उनके गुणों को जानना चाहते हैं। उन्होंने इन सब तत्त्वों को कैसे जाना? उनका ज्ञान, दर्शन और शील कैसा था? हे आर्यवर! आप उनके निकट रहें हैं। आपने उनके साथ सभाषण किया है इसलिए उनके गुणों के आप यथार्थ ज्ञाता हैं। जैसे आपने देखा है और अवधारित किया है, वैसे ही आप हमें बताएं।

इन सभी प्रश्नों के उत्तर में आर्य सुधर्मा ने भगवान् महावीर के यशस्वी जीवन का दिग्दर्शन कराया, उनके अनेक गुणों का उत्कीर्तन किया। यह सभी इन आगे के श्लोकों में प्रतिपादित है।

प्रस्तुत अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। भगवान् महावीर से पूर्व की परम्परा चातुर्याम की परम्परा थी। उसके प्रवर्तक थे भगवान् पार्श्व। पार्श्व ने सच में सामायिक आग्नि का प्रतिपादन किया था। उसके चार अंग थे—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्राह्मदान-विरमण। भगवान् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया और तीर्थ चतुष्टय की स्थापना कर तीर्थंकर हुए और पार्श्वपत्नीय परम्परा का बृहद् सच भगवान् महावीर के सच में विलीन हो गया। अनेक मुनि महावीर के शासनकाल में सम्मिलित हो गए और कुछ स्वतन्त्र विहरण करने लगे। तब महावीर ने अपने संघ में परिष्कार, परिवर्द्धन और सम्बर्धन किया। उनकी नई स्थापनाओं के कुछेक बिन्दु ये हैं—

१. चातुर्याम की परम्परा को बदलकर पांच महाव्रतों की परम्परा का प्रवर्तन किया। भगवान् महावीर ने 'बहिष्कादान-विरमण महाव्रत का विस्तार कर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन दो स्वतन्त्र महाव्रतों की स्थापना की। ब्रह्मचर्य की

१. बही, पृ० १४१।

२. वृत्ति, पृ० १४२।

३. निर्युक्ति गाथा ७८ : पुच्छिषु अङ्गुलामो अज्जसुधम्मो ततो कहेसी य।

एव महप्पा वीरो जलमाहु तत्ता जतेज्जाय ॥

४. सूचक १।१-३, पूर्णि, पृ० १४२, १४३।

५. उत्तरअज्जययानि, २२।२३ : अज्जज्जातो व जी अम्मो, जो इमो पंचसिप्पिज्जातो।

वेत्तिज्जा महप्पायेन, पासेन य महामुणी ॥

श्रुति को प्रथम देने के लिए जिन कृतकों का प्रयोग किया जाता था, उसका इस स्थापना के द्वारा समूल उन्मूलन हो गया ।

२. भगवान् पार्श्व की परम्परा सञ्चल थी । भगवान् महावीर ने सञ्चल और अञ्चल—दोनों परम्पराओं को मान्यता दी ।
३. पत्रि-भोजन-विरमण को व्रत का रूप देकर महाव्रतों के अन्तर्गत स्थान दिया ।
४. अहिंसा की अंगभूत पाँच प्रवचन माताओं—समितियों तथा तीन गुप्तियों की स्वतन्त्र व्यवस्था की ।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने पार्श्व के चातुर्थांश धर्म का विस्तार कर त्रयोदशांग धर्म की प्रतिष्ठा की—पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ।

इन सभी ऐतिहासिक तथ्यों का बीजरूप निरूपण इसी अध्ययन के अठावीसवें श्लोक में हुआ है—

‘ते चारिणा इत्थि सराहणत्तं, उवहाणत्तं कुक्कलयहुयाए ।

कोयं विचिन्ता अपरं परं च, सम्भं यम् चारिय सम्भारो ॥’

भगवान् महावीर का एक विशेषण है—निर्वाणवादी । प्रस्तुत अध्ययन में ‘निष्वाणवादी णिहू णायपुत्ते’ (२१) तथा ‘णिष्वाणसेट्ठा जह सम्बधम्मा (२४)’—ये दो स्थल भगवान् महावीर के साधना सूत्रों की आधारशिला की ओर संकेत करते हैं ।

प्राचीन काल की वार्षानिक परंपरा में दो मुख्य परम्परा रही हैं—निर्वाणवादी परंपरा और स्वर्गवादी परंपरा । निर्वाणवादी परंपरा का अंतिम लक्ष्य है—स्वर्ग । भगवान् महावीर ने निर्वाण के आदर्श को सर्वाधिक मूल्य दिया, इसलिये वे निर्वाण-वादियों में श्रेष्ठ कहलाए और उनकी परंपरा निर्वाणवादी परंपरा कहलाई । इस परंपरा में साधना के वे ही तथ्य मान्य हैं जो कि निर्वाण के पोषक, संबर्धक हैं । स्वर्गवादी परंपरा में ऐसा नहीं है । याज्ञिक परंपरा स्वर्गवादी परंपरा है ।

भगवान् महावीर के युग में तीन सौ तिरसठ धर्म-संप्रदाय थे, ऐसा उल्लेख मिलता है । बौद्ध साहित्य में बासठ धर्म संप्रदाय का उल्लेख है । जैन आगमों में उन सबका समाहार चार वर्गों में किया गया है—क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद । प्रस्तुत अध्ययन के सत्ताइसवें श्लोक में भगवान् महावीर को इन सब वादों से परिचित बताया है ।

प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् महावीर के लिए प्रयुक्त कुछेक विशेषण आर्थिक, शाब्दिक और ऐतिहासिक दृष्टि से नीमांसनीय हैं—

(१) प्रज्ञ या प्राज्ञ (२) निरामगंध (३) अनायु (४) अनन्तचक्षु ।

सूत्रकार भगवान् महावीर को ‘सुमेरु’ पर्वत से उपमित करते हुए ‘सुमेरु’ का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करते हैं ।

इसी प्रकार शास्त्रकार ने भगवान् महावीर की अनेक अनुत्तरताएं बतलाई हैं ।

छठं अध्यायः : छठा अध्यायः महावीरचरितम् : महावीर स्तुति

सूत्र

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

१. पुच्छिषु णं समणा माहणा य
अगारिणो या परतिस्थिया य ।
से के इमं नित्यं धम्ममाहु
अनेलिसं ? साधुसमिक्खयाए ॥

अप्राक्षुः श्रमणा माहणाश्च,
अगारिणश्च परतीर्थिकाश्च ।
स कः इमं नित्यं धर्ममाहु,
अनीदृश ? साधुसमीक्षया ॥

१. श्रमणों, ब्राह्मणों, गृहस्थों और पर-
तीर्थिकों ने (जम्बू से और जम्बू ने
सुधर्मा से) पूछा—‘वह (ज्ञातपुत्र)
कौन है जिसने भलीभांति देखकर इस
शास्त्रत और अनूपम धर्म का निरूपण
किया ?’

२. कहं व जाणं ? कहं दंसणं से ?
शीलं कहं णायसुयस्स आसि ? ।
जाणासि णं भिक्षु ! अहातहेणं
अहासुयं ब्रूहि अहा णिसंतं ॥

कथं वा ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य,
शीलं कथं ज्ञातसुतस्यासीत् ?
जानासि भिक्षो ! यथातथेन,
यथाश्रुतं ब्रूहि यथा निशान्तम् ॥

२. ज्ञातपुत्र का ज्ञान कैसा था ? उनका
दर्शन कैसा था ? उनका शील-
सदाचार कैसा था ? हे भिक्षु !
(प्रत्यक्ष दर्शन के द्वारा) यथार्थ रूप में
जो तुम जानते हो और जो तुमने
सुना है, जैसा तुमने अवधारित किया
है वह हमें बताओ ।

३. वेयणए से कुसले मेहावी
अणंतणाणी य अणंतवंसी ।
जसंसिणो चक्षुपहे ठियस्स
जाणाहि धम्मं व धिहं व पेह ॥

क्षेत्रज्ञकः स कुशलो मेधावी
अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी ।
यशस्विनः चक्षुष्ये स्थितस्य,
जानीहि धर्मञ्च धृतिञ्च प्रेक्षस्व ॥

३. (सुधर्मा ने कहा) ज्ञातपुत्र आत्मज्ञ,
‘कुशल’, ‘मेधावी’, ‘अनन्तज्ञानी’ और
‘अनन्तदर्शी’ थे । उन यशस्वी और
आलोक-पथ में स्थित ज्ञातपुत्र के
धर्म को जानो और उनकी धृति को
देखो ।

४. उद्धं अहे यं तिरियं विसासु
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
से णिण्णणिण्णहेहि समिक्ख पण्णे
दीवे व धम्मं समियं उवाटु ॥

ऊर्ध्वमधश्च तिर्यग् दिशासु,
त्रसाश्च ये स्थावराश्च ये प्राणाः ।
स नित्यानित्याभ्यां समीक्ष्य प्रज्ञः,
द्वीपमिव धर्मं सम्यगुदाह ॥

४. ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में
जो व्रत और स्थावर प्राणी हैं उन्हें
नित्य और अनित्य—इन दोनों दृष्टियों
से भलीभांति देखकर प्रज्ञा ज्ञातपुत्र
ने द्वीप की भांति सबको शरण देने
वाले (अथवा दीपक की भांति सबको
प्रकाशित करने वाले) धर्म का सम्यक्
प्रतिपादन किया है ।

५. से सम्मवंसी अभिभूय जाणी
निरामगंघे छिहं ठियप्पा ।
अनुसरे सम्मजगंस्स विज्जं
गंघा अतीते अन्नं अजाऊ ॥

स सर्वदर्शी अभिभूय ज्ञानी,
निरामगंधो धृतिमान् स्थितात्मा ।
अनुसरः सर्वजगति विद्वान्,
ग्रन्थाद् अतीतः अभयः अनायुः ॥

५. वे सर्वदर्शी थे । वे ज्ञान के आवरण
को अभिभूत कर केवली बन चुके थे ।
वे विशुद्ध-भोजी, धृतिमान् और
स्थितात्मा थे । वे संपूर्ण लोक में

अनुत्तर विद्वान्, अपरिग्रही^{१०}, अमय^{११}
और अनापु^{१२} (जन्म-मरण के चक्रबाल
से मुक्त) थे ।

६. से भूइपण्णे अणिएयचारी
ओहंतरे धीरे अणंतचक्षुः ।
अणुत्तरं तपति सूरिए वा
वइरोयणिवे व तमं पगासे ॥

स भूतिप्रज्ञः अनिकेतचारी,
ओघतरो धीरः अनन्तचक्षुः ।
अनुत्तरं तपति सूर्य इव,
वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशयति ॥

६ वे सत्यप्रज्ञ^{१३}, गृह-त्याग कर विचरने
वाले^{१४}, ससार-प्रवाह के पारगामी^{१५},
धीर और अनन्त चक्षु वाले^{१६} थे । वे
सूर्य की भांति अनुपम प्रभास्वर^{१७} और
प्रदीप्त अग्नि^{१८} की भांति अधकार में
प्रकाश करने वाले थे ।

७. अणुत्तरं धम्ममिषं जिणानं
जेता मुण्यो कासवे आसुपण्णे ।
इवे व देवाण सहानुभावे
सहस्सजेता दिवि णं विसिट्ठे ॥

अनुत्तर धर्ममिम जिनानां,
नेता मुनिः काश्यपः आशुप्रज्ञः ।
इन्द्र इव देवानां महानुभावः,
सहस्रनेता दिवि विशिष्टः ॥

७ आशुप्रज्ञ^{१९} काश्यप मुनि पूर्ववर्ती सभी
तीर्थंकरों के अनुत्तर धर्म के नेता^{२०} थे,
जैसे स्वर्ग में^{२१} इन्द्र अधिक प्रभावी^{२२}
और हजारों देवों का नेता^{२३} होता है ।

८. से पण्णया अकखयसागरे वा
महोदही वा वि अणंतपारे ।
अनाइले या अकसाइ मुक्के
सक्के व देवाहिबई कुईमं ॥

स प्रज्ञया अक्षयः सागर इव,
महोदधिः वापि अनन्तपारः ।
अनाविलस्य अकषायी मुक्तः,
शक्र इव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥

८ पार रहित स्वयंभूरमण^{२४} समुद्र की
भांति उनकी प्रज्ञा अक्षय थी^{२५} । वे
निर्मल^{२६}, वीतराग^{२७} और आवरण-
मुक्त^{२८} तथा देवाधिपति इन्द्र की भांति
द्युतिमान् थे ।

९. से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए
सुवंसणे वा णगसब्बसेट्ठे ।
सुरालए वा वि सुवागरे से
विरायए णेगगुणोववेए ॥

स वीर्येण प्रतिपूर्णवीर्यः,
सुदर्शन इव नगसर्वश्रेष्ठः ।
सुरालयो वापि मुदाकर स,
विराजते नैकगुणोपेतः ॥

९ स्वयं की भांति देवताओं को प्रमुदित
करने वाले अनेक गुणों से युक्त^{२९}
सुदर्शन (मेरु)^{३०} सब पर्वतों में श्रेष्ठ
होता है, वैसे ही ज्ञातपुत्र वीर्य से^{३१}
सर्वश्रेष्ठ वीर्य वाले थे ।

१०. सयं सहस्साण उ जोयणाणं
तिकंडगे पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणउति सहस्से
उड्ढस्सिए हेट्ठु सहस्समेगं ॥

शतं सहस्राणां तु योजनानां,
त्रिकण्डक. पण्डकवैजयन्तः ।
स योजनानि नवनवति सहस्राणि,
ऊर्ध्वमुच्छ्रितोऽधः सहस्रमेकम् ॥

१०. वह मेरु एक लाख योजन ऊंचा, तीन
कांडों (भागों) वाला^{३२} तथा पण्डकवन-
रूपी पनाका से युक्त है । वह भूमितल
से निम्नानवे हजार योजन ऊपर उठा
हुआ और एक हजार योजन भूमी के
नीचे (गर्भ में) है ।

११. पुट्ठे णमे चिट्ठह भूमिबट्टिए
अं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवण्णे बहुणवणे य
अंसी रइं केययई महिवा ॥

स्पृष्टो नभस्तिष्ठति भूम्यवस्थितः,
य सूर्या अनुपरिवर्त्तयन्ति ।
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च,
यस्मिन् रति वेदयन्ति महेन्द्राः ॥

११ वह आकाश को छूता हुआ भूमि पर
स्थित^{३३} है । सूर्य उसकी परिक्रमा
करते हैं । वह स्वर्ण-वर्ण और बहुतों
को आनन्द देने वाला है । वहाँ शक्र
आदि महान् इन्द्र भी आनन्द का अनु-
भव करते हैं ।

१२. से पञ्च सद्रुमहृष्यगासे
विरायती कञ्चनमद्रुवणे ।
अनुत्तरे गिरिसु य पञ्चबुधो
गिरीवरे से जलित च भोमे ॥

स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशः,
विरायते काञ्चनमृष्टवर्णः ।
अनुत्तरो गिरिषु च पर्वदुर्गः,
गिरिवरः स ज्वलित इव भोमः ॥

१२. वह अनेक शब्दों (मंदर, मेरु, सुदर्शन, सुरगिरि) से सब लोगों में प्रसिद्ध है ।^{११}
वह चमकते हुए सोने के वर्ण वाला है ।
वह गिरिवर सब पर्वतों में श्रेष्ठ,
मेखलाओं से दुर्गम और (मणिओं तथा औषधियों से) प्रदीप्त आकाश जैसा लगता है ।^{१२}

१३. महीए मज्जस्मि ठिए णंगिदे
पण्णायते सूरियसुद्धलेसे ।
एवं सिरिए उ स भूरिवण्णे
मणोरमे ज्योति अचिच्चमाली ॥

मह्यामध्ये स्थितो नगेन्द्रः,
प्रज्ञायते सूर्यशुद्धलेख्यः ।
एवं श्रिया तु स भूरिवर्णः,
मनोरमो द्योतते अचिच्चमाली ॥

१३. वह नगेन्द्र भूमी के मध्य में^{१३} स्थित
है और सूर्य के समान तेजस्वी^{१४} प्रतीत
हो रहा है । अपनी पर्वतश्री से वह
नाना वर्णवाला, मनोरम और रश्मि-
माला से द्योतित हो रहा है ।

१४. सुबंसणस्सेस जसो गिरिस्स
पवुञ्चती महतो पव्वतस्स ।
एतोवमे समणे जातपुत्ते
जाती-जसो-बंसण-णाण-सीले ॥

सुदर्शनस्य एतद् यशो गिरेः,
प्रोच्यते महतो पर्वतस्य ।
एतदुपमः श्रमणः ज्ञातपुत्रः,
जाति-यशः-दर्शन-ज्ञानशीलः ॥

१४. महान् पर्वत सुदर्शन (मेरु) के यश का
यह निरूपण है । ज्ञातपुत्र श्रमण महा-
वीर जाति, यश^{१५} दर्शन, ज्ञान और
शील से सुदर्शन के समान श्रेष्ठ हैं ।

१५. गिरीवरे वा णिसदायतानं
रुयगे च सेट्ठे वलयायतानम् ।
ततोवमे से जगभूतिपण्णे
मुणीण मज्जे तमुदाहु पण्णे ॥

गिरिवरो वा निषधः आयतानां,
रुचक इव श्रेष्ठः वलयायतानाम् ।
तदुपमः स जगत्भूतिप्रज्ञः,
मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्राज्ञः ॥

१५. जैसे लंबे पर्वतों में निषध^{१६} और गोल
पर्वतों में रुचक श्रेष्ठ है वैसे ही जगत्
में सत्यप्रज्ञ ज्ञातपुत्र प्राज्ञ मुनियों में
श्रेष्ठ हैं ।^{१७}

१६. अनुत्तरं धम्ममुदीरइत्ता
अनुत्तरं भाणवरं भ्रियाइ ।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं
संखंदुणेगंतवदातसुक्कं ॥

अनुत्तर धर्ममुदीर्य,
अनुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति ।
सुशुक्लशुक्ल अन्गाण्डशुक्ल,
शंखेन्दुवदेकान्तावदातशुक्लम् ॥

१६. उन्होंने अनुत्तर धर्म का उपदेश दे
अनुत्तर ध्यान किया, जो शुक्ल से
अधिक शुक्ल, फेन की भांति शुक्ल,
शंख और चन्द्रमा की भांति एकात
विशुद्ध शुक्ल है ।^{१८}

१७. अनुत्तरगं परमं महेसी
असेसकम्मंस विसोहइत्ता ।
सिद्धि गति साइमणंत पसे
जाणेण सीलेण य बंसणेण ॥

अनुत्तरागं परमां महर्षिः,
अशेषकर्माशान् विशोध्य ।
सिद्धि गति सादिमनन्तां प्राप्तः,
ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥

१७. महर्षि ज्ञातपुत्र ज्ञान, शील^{१९} और दर्शन
के द्वारा सारे कर्मों का^{२०} विशोधन
(निर्जरण) कर सिद्धिगति को प्राप्त हो
गए, जो अनुत्तर, लोक के अग्र-भाग में
स्थित,^{२१} परम तथा सादि-अनन्त^{२२}
है—जहां मुक्त आत्मा जाती है पर
लौट कर नहीं आती ।

१८. वक्खेसु जाते जह सामली वा
अंसी रति वेययंती सुवण्णा ।
वणेसु या वंजणमाहु सेट्ठं
जाणेण सीलेण य भूतिपण्णे ॥

रुक्खेषु ज्ञातः यथा शात्मली वा,
यस्मिन् रति वेययन्ति सुपर्णाः ।
वनेषु च वन्दनमाहुः श्रेष्ठं,
ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञः ॥

१८. वृक्षों में जैसे शात्मली^{२३} प्रसिद्ध है,^{२४}
जहां सुपर्णकुमार देव आनन्द का अनु-
भव करते हैं तथा वनों में जैसे वन्दन
वन्^{२५} श्रेष्ठ है, वैसे ही सत्यप्रज्ञ^{२६}
ज्ञातपुत्र ज्ञान और शील से श्रेष्ठ हैं

१६. चक्षितं च सहजं अनुत्तरं च
चंद्रे च ताराणं महानुभावः ।
गंधेषु च चंदनमाहुः सेदं
एवं मुनीनां अप्रतिज्ञमाहुः ॥

२०. जहा सयंभू उदधीण सेदं
नागेषु वा धरणिदमाहुः सेदं ।
ओओदको वा रस-वेजयते
तहोवहाणे मुनि वेजयते ॥

२१. हत्थीसु एरावणमाहुः नाते
सीहो मिगाणं सलिलाणं गंगा ।
पक्षीसु या गरुडो वेणुदेवे
निष्वाणवादीणिह नायपुत्ते ॥

२२. ओहेसु चाए जह बीससेणे
पुष्केसु वा जह अरविदमाहुः ।
सत्तीण सेदं जह वंतवक्के
इसीण सेदं तह बद्धमाणे ॥

२३. बाणाण सेदं अभयप्रदानं
सक्खेसु या अणवज्जं वयंति ।
तवेसु या उत्तमं ब्रह्मचरं
लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥

२४. ठितीण सेदं लवसप्तमा वा
सभा सुधर्मा वा सभाना सेदं ।
निष्वाणसेदं जह सव्वधम्मा
न नायपुत्ता परमत्थि जाणी ॥

२५. पुडोवमे धुणत्ती विगयणेही
न सन्निधिं कुब्बइ आसुपण्णे ।
तरिउं समुहं च महामवोधं
अभयंकरे वीर अणंतवक्खू ॥

२६. कोहं च माणं च तहेव मायं
लोभं चउत्थं अउभत्तवोसा ।
एसाणि चत्ता अरहा जहेसी
न कुब्बई पाव च कारयेइ ॥

स्तनितं वा शब्दानामनुत्तरं तु,
चन्द्रो वा ताराणां महानुभावः ।
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठं,
एवं मुनीनां अप्रतिज्ञमाहुः ॥

यथा स्वयंभूः उदधीनां श्रेष्ठः,
नागेषु वा धरणेन्द्रमाहुः श्रेष्ठम् ।
ओदोदको वा रसवेजयन्तः,
तथोपधाने मुनिर्वेजयन्तः ॥

हस्तिष्वेरावणमाहुर्जातः,
मिहो मृगाणां सलिलानां गङ्गा ।
पक्षिषु च गरुडो वेणुदेवः,
निर्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्रः ॥

योधेषु ज्ञातः यथा विश्वसेनः,
पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहुः ।
क्षत्रिणां श्रेष्ठो यथा दन्तवक्त्रः,
ऋषीणां श्रेष्ठस्तथा वर्द्धमानः ॥

दानानां श्रेष्ठं अभयप्रदानं,
सत्येषु चानवद्यं वदन्ति ।
तपस्सु चोत्तमं ब्रह्मचर्यं,
लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥

स्थितीनां श्रेष्ठाः लवसप्तमा वा,
सभा सुधर्मा वा सभाना श्रेष्ठा ।
निर्वाणश्रेष्ठा यथा सर्वधर्माः,
न ज्ञातपुत्रात् परमस्ति ज्ञानी ॥

पृथ्व्युपमो धुनाति विगतगृद्धिः,
न सन्निधिं कुरुते आशुप्रज्ञः ।
तरीत्वा समुद्रं वा महाभवौघं,
अभयंकरो वीरः अनन्तवक्त्रः ॥

क्रोधं च मानं च तथैव मायां,
लोभं चतुर्थं अध्यात्मदोषान् ।
एतान् त्यक्त्वा अहंन् महर्षिः,
न कुरुते पापं न कारयति ॥

१६. जैसे शब्दों में शेष का गर्जन^१ अनुत्तर,
तारागण में चन्द्रमा^२ महाप्रतापी और
गंधों में चन्दन^३ श्रेष्ठ है, वैसे ही
अनासक्त^४ मुनियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ है ।

२०. जैसे समुद्रों में स्वयंभू^५, नामकुमार
देवों में^६ धरणेन्द्र और रसों में हृक्षुरस
श्रेष्ठ होता है,^७ वैसे ही तपस्वी मुनियों
में^८ ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ है ।

२१. जैसे हाथियों में ऐरावण, पशुओं में^९
सिंह, नदियों में^{१०} गंगा, पक्षियों में
वेणुदेव गरुड^{११} प्रधान होता है, वैसे ही
निर्वाणवादियों में^{१२} ज्ञातपुत्र प्रधान है ।

२२. जैसे योद्धाओं में वासुदेव कृष्ण,^{१३} फूलों
में कमल, क्षत्रियों में दन्तवक्त्र^{१४} श्रेष्ठ
होता है, वैसे ही ऋषियों में ज्ञातपुत्र
वर्द्धमान श्रेष्ठ है ।

२३. जैसे दानों में अभयदान,^{१५} सत्य-वचन
में अनवद्य-वचन^{१६}, तपस्या में^{१७} ब्रह्मचर्य
प्रधान होता है, वैसे ही श्रमण ज्ञातपुत्र
लोक में प्रधान है ।^{१८}

२४. जैसे स्थिति (आयु की काल-मर्यादा)
में लवसप्तम (अनुत्तर-विमानवासी)
देव,^{१९} सभाओं में सुधर्मा सभा^{२०} और
सब धर्मों में निर्वाण श्रेष्ठ है,^{२१} वैसे ही
ज्ञानियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ है—उनसे
अधिक कोई ज्ञानी नहीं है ।

२५. आशुप्रज्ञ ज्ञातपुत्र पृथ्वी के समान
सहिष्णु थे, इसलिए उन्होंने कर्म-शरीर
को प्रकपित किया । वे अनासक्त थे,
इसलिए उन्होंने संप्रह नहीं किया ।^{२२}
वे अभयंकर, वीर (पराक्रमी) और
अनन्त वक्त्र^{२३} वाले थे । उन्होंने संसार
के महान् समुद्र को तर कर (निर्वाण
प्राप्त कर लिया ।)

२६. अहंत् महर्षी ज्ञातपुत्र क्रोध, मान, माया
और लोभ—इन चारों अध्यात्म-दोषों
का^{२४} त्याग कर, स्वयं न पाप करते थे
और न दूसरों से करवाते थे ।

२७. किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं
अण्णामियाणं पडियण्ण ठाणं ।
से सम्मवायं इह केमइत्ता
उपट्ठिए सम्म स दीहराणं ॥

२८. से वारिया इत्थि सराइमत्तं
उवहाणं बुद्धसयट्ठयाए ।
लोगं विविता अपरं परं च
सकं पभू वारिय सम्मवारी ॥

२९. सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं
समाहियं अट्ठपडोवसुट्ठं ।
तं सदहंताणाय जणा अणाऊ
इवा व देवाहिण आगमिस्सं ॥

— ति वेमि ॥

क्रियाऽक्रियं वैनयिकामुवादं,
अज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम् ।
स सर्ववादमिह विदित्वा,
उपस्थितः सम्यक् स दीर्घरात्रम् ॥

स वारयित्वा स्त्रियं सरात्रिमक्तं,
उपधानवान् दुःखसंशयान् ।
लोकं विदित्वाऽपरं परं च,
सर्वं प्रमुर्वारितवान् सर्ववारी ॥

श्रुत्वा च धर्मं अहंत्भाषितं,
समाहितं अर्थपदोपशुद्धम् ।
तं श्रद्धावान् आदाय जनाः अनायुषः,
इन्द्रा वा देवाधिपाः आगमिष्ये ॥

— इति ववीमि ॥

२७. ज्ञातपुत्र ने क्रियावाद, अक्रियावाद,
वैनयिकवाद और अज्ञानवाद के पक्ष
का निर्णय किया । इस प्रकार सारे
वादों को जानकर वे दीर्घरात्र—
यात्राजीवन तक संयम में उपस्थित
रहे ।

२८. दुःखों को क्षीण करने के लिए तपस्वी
ज्ञातपुत्र ने स्त्री और रात्री-भोजन का
वर्जन किया । साधारण और
विशिष्ट—दोनों प्रकार के लोगों को
जानकर सर्ववर्गी प्रभु ने सब (स्त्री,
रात्री-भोजन, प्राणातिपात आदि सभी
दोषों) का वर्जन किया ।

२९. समाधान देने वाले, धर्म और पद
से विशुद्ध अहंत्-भाषित धर्म को सुन,
उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर मनुष्य
मुक्त होते हैं अथवा अगले जन्म में
देवाधिपति इन्द्र होते हैं ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

द्वितीयः अध्यायः ६

श्लोक १ :

१. ब्राह्मणों (ब्राह्मण)

श्रुणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—भावक, ब्राह्मण ।^१ कृतिकार ने ब्रह्मार्थ आदि अनुष्ठानों में निरत व्यक्ति को माहण माना है ।^२

२. अकारिणों (अकारिणों)

श्रुणिकार ने 'अकारिणों' पाठ मानकर इसका अर्थ अत्रिय, वैश्य और शूद्र किया है ।^३ कृतिकार ने 'अगारी' का अर्थ अत्रिय आदि किया है ।^४

३. परतीर्थिकों (परतीर्थिका)

श्रुणिकार ने चरक आदि को तथा कृतिकार ने शाक्य आदि को परतीर्थिक माना है ।^५

४. पूछा (पुच्छिषु)

आर्य सुधर्मा ने अपनी बृहद् परिषद् में विभिन्न नरकों तथा वहाँ उत्पन्न होने वाले दुःखों का वर्णन किया । उस परिषद् में जम्बू आदि भ्रमण, आवक, ब्राह्मण, अत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चरक आदि परतीर्थिक और देवता भी थे । नरकों का वर्णन सुनकर वे उद्बिग्न हो गए । उन सब ने आर्य सुधर्मा से पूछा—भगवन् ! आप हमें ऐसा कोई उपाय बताएं जिससे कि हम इन नरकों में न जाएं ।^६

कृतिकार ने प्रधान रूप में इस अर्थ को मान्यता देते हुए वैकल्पिक रूप में यह माना है कि जम्बूस्वामी ने सुधर्मा से कहा—भते ! अनेक भ्रमण, माहण आदि मुझे पृच्छते हैं कि वह कौन है जिसने संसार समुद्र से पार करने में समर्थ ऐसे धर्म का प्रतिपादन किया है ।^७

५. जलसीमांति देवकर (साधुसमिपकयाए)

कृतिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—यथावस्थित तत्त्व के निश्चय से, समभाव में ।^८

१. श्रुति, पृ० १४२ : माहणाः आवकाः ब्राह्मणजातीयो वा ।

२. कृति, पत्र १४३ : ब्राह्मण ब्रह्मार्थानुष्ठाननिरताः ।

३. श्रुति, पृ० १४२ : अकारिणस्तु अत्रिय-विद्-शूद्राः ।

४. कृति, पत्र १४३ : अगारिणः अत्रियावयः ।

५. (क) श्रुति, पृ० १४२ : परतीर्थकारचरकावयः ।

(ख) कृति, पत्र १४३ : शाक्यावयः परतीर्थिकाः ।

६. श्रुति, पृ० १४२ : एतान् नरकान् भूत्वा भगवदार्यसुधर्मसंकाशात् तद्दुःखोद्बिग्नमानसाः कथमेतां गच्छेयाम इति पार्श्वं भगवन्-मार्गसुधर्मणं पृच्छन्तः सत्यं—जम्बुनामावयः, केति जगत् ण विट्ठो, विट्ठो व ज पुच्छिषो, न य तन्गुणा यकार्थः कथलब्धाः । माहणाः—आवकाः ब्राह्मणजातीयो वा । अकारिणस्तु—अत्रियविद्-शूद्राः । परतीर्थिकारचरकावयः चण्डहणाद् देवाः ।

७. कृति, पत्र १४३ : अनस्तरोक्ता बहुविधां नरकविभक्तिं भूत्वा संसारानुद्भिन्नममसः केनेयं प्रतिपादितेत्येतत् सुधर्मस्वामिनम् अप्राप्तुः पृच्छन्तः यदि वा जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमेवाह—यथा केनेवंभूतो धर्मः संसारोत्तारणसमर्थः प्रतिपादित इत्येतद्बहवो मां पृच्छन्तः ।

८. कृति, पत्र १४३ : साध्वी जातो समीक्षा च साधुसमीक्षा—यथावस्थिततत्त्वपरिच्छित्तिस्तथा, यदिवा—साधुसमीक्षा—समत्वो-त्थामिति ।

चूर्णिकार 'समिक्ख हाए' पाठ मानकर, इसका अर्थ—समीक्षापूर्वक दिखाते हैं—किया है।^१

६. शाश्वत.....धर्म (नितियं धम्मं)

आचारंग ४।१ में अहिंसा को नित्य धर्म, शाश्वत धर्म माना है।^२ किसी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना, उन पर शासन नहीं करना, उन्हें दास नहीं बनाना, उन्हें परित्याग नहीं देना, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना—यह धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है।

चूर्णिकार ने 'नितिय' का अर्थ नित्य, सनातन किया है। नित्य, सनातन, शाश्वत—सभी एकार्थक हैं।^३

७. निरूपण किया (आहु)

यह बहुवचन का प्रयोग है। प्राकृत में एकवचन के स्थान पर बहुवचन और बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग होता है। यहाँ कर्त्ता में एकवचन है, अतः क्रियापद भी एकवचन का ही होना चाहिए।

चूर्णिकार ने एकवचन के स्थान पर बहुवचन के क्रियापद के प्रयोग की समीचीनता बतलाते हुए लिखा है कि बहुवचन के क्रियापद का प्रयोग तीन स्थानों पर किया जा सकता है—

- ० स्वयं के लिए।
- ० गुरु या बड़े पुरुषों के लिए।
- ० छन्द की अनुकूलता के लिए।

चूर्ण के अनुसार दूसरा विकल्प यह है कि प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में 'के' शब्द बहुवचनवाची भी हो सकता है।^४

किन्तु इससे प्रश्न का समाधान नहीं होता। गुरु के लिए बहुवचन का प्रयोग हो सकता है, पर वह कर्त्ता और क्रिया—दोनों में ही होना चाहिए, किसी एक में नहीं। 'के' बहुवचन का रूप भी है किन्तु 'से' 'के' यह बहुवचनान्त नहीं है। बहुवचनान्त प्रयोग होता है—'ते के'। इसलिए यही मानना उचित है कि यहाँ एकवचन के स्थान में बहुवचन का प्रयोग हुआ है।

श्लोक २ :

८. ज्ञात (पुत्र) (नाय)

चूर्णिकार ने 'नाय' का कोई अर्थ नहीं किया है। वृत्तिकार ने ज्ञात का अर्थ—अत्रिय किया है।^५

९. (कहाँ व जाणं ? कह वंसणं से ?)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) भगवान् ने कैसे जाना ? किस ज्ञान से जाना ? (२) भगवान् ने कैसे देखा ? किस दर्शन से देखा ?^६

वृत्तिकार ने मुख्यरूप से इसका अर्थ इस प्रकार किया है—भगवान् महावीर ने ज्ञान कैसे प्राप्त किया ? भगवान् ने दर्शन कैसे प्राप्त किया ?

१. चूर्ण, पृ० १४२ : सम्यग् ईक्षित्वा समीक्ष्य केवलज्ञानेन हाए वरित्तति ।

२. आचारंग, ४।१ : से वेमि—जे आईया, जे य पवुप्पमा, जे य आममेस्सा अरहंता जगवंतो ते सब्बे एवमाहपक्कंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेत्ति, एवं पक्कवेत्ति—सब्बे पाप्मा सब्बे भूता सब्बे जीवा सब्बे सत्ता य हंतव्वा, य अज्जावेयव्वा, य परिचेत्तव्वा, य परित्तावेयव्वा, य उद्धवेयव्वा ।

३. चूर्ण, पृ० १४२ : नितिकं नित्यं सनातनमित्यर्थः ।

४. चूर्ण, पृ० १४२ : आहुरिति एके अनेकावेसाह् 'आत्मनि शुद्धं च बहुवचनम्' बन्धानुलोम्भात् । अपवा के इममाहुः ?, एकारोऽपि हि बहुवचं भवति अथा—के से, एकारोऽपि यथा—के से ।

५. वृत्ति, पृ० १४३ : ज्ञाताः—अत्रियाः ।

६. चूर्ण, पृ० १४२ : कथं इति परिग्रहने । कथमसौ ज्ञातवान् ? केन वा ज्ञानेन ज्ञातवान् ? एवं वर्तनेऽपि कथं वृष्टवान् ? इति ।

वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ है—भगवान् का ज्ञान कैसा था ? भगवान् का दर्शन कैसा था ?

१०. हे भिक्षु ! (भिक्षु)

यह सुधर्मा के लिए प्रयुक्त है ।

११. यथार्थरूप में जो तुम जानते हो (जाणासि.....ब्रह्मातर्हेण)

प्रश्नकर्त्ताओं ने आर्य सुधर्मा से कहा—आपने ज्ञातपुत्र को देखा है । प्रत्यक्ष में आपने उनसे बातचीत की है । इसलिए उनमें जो गुण थे आप उन्हें यथार्थरूप से जानते हैं ।

१२. अवधारित किया है (निसंत)

इसका अर्थ है—सुनकर निश्चय करना, अवधारित करना । कुछ सुना जाता है पर उसका अवधारण नहीं होता । जिसका अवधारण नहीं होता, उसकी स्मृति नहीं होती, इसलिए प्रश्नकर्त्ताओं ने कहा—आपने जो सुना है, जो देखा है और जिसका अवधारण किया है, वह आप हमें बताएं ।

इलोक ३ :

१३. आत्मज्ञ (खेयण्णए)

भगवान् महावीर के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होने पर सुधर्मा स्वामी ने कहा—भगवान् महावीर क्षेत्रज्ञ थे । चूर्णिकार ने क्षेत्रज्ञ का अर्थ क्षेत्र को जानने वाला किया है । क्षेत्र के अर्थ की कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है । वृत्तिकार ने इसके वेदश और क्षेत्रज्ञ—ये दो संस्कृत रूप तथा इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. वेदज्ञ—संसार के समस्त प्राणियों के कर्मजन्य दुःखों के ज्ञाता तथा उनको नष्ट करने का उपाय बताने वाले ।

२. क्षेत्रज्ञ—क्षेत्र का अर्थ है आत्मा । उसको जानने वाला क्षेत्रज्ञ—आत्मज्ञ ।

३. क्षेत्रज्ञ—क्षेत्र का अर्थ है आकाश । लोक और अलोक को जानने वाला—क्षेत्रज्ञ ।

आचार्यो १।६७ आदि में भी यह शब्द प्रयुक्त है । वहाँ भी इसका अर्थ आत्मज्ञ किया गया है । भगवती () में क्षेत्र शब्द का अर्थ आत्मा प्राप्त होता है ।

भगवद् गीता में शरीर को 'क्षेत्र' और उसे जानने वाले को 'क्षेत्रज्ञ' कहा है । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही (शरीर और आत्मा का ज्ञान ही) योगिराज कृष्ण के मत में वास्तविक ज्ञान है ।

१. वृत्ति, पत्र १४३ : कथं केन प्रकारेण भगवान् ज्ञानमवाप्तवान् ? किंभूतं वा तस्य भगवतो ज्ञानं—विशेषावबोधकं ? किंभूतं च ते तस्य 'वर्तनं' सामान्यार्थपरिच्छेदकम् ?

२. वृत्ति, पत्र १४३ : भिक्षो ! सुधर्मस्वामिन् ।

३. वृत्ति, पृष्ठ १४२ : ब्रह्मातर्हेण हे भिक्षो ! त्वया ह्यसौ बृहद्व्यासऽऽवाजितश्च इत्यसौ यथा तद्गुणा बभूवुः तथा त्वं आसीथे ।

४. वृत्ति, पृष्ठ १४२ : निसंतं यथा निशान्तं च, निशान्तमित्यवधारितम् । किञ्चित् भूयते न बोधधार्यते इत्यतः अधासुतं ब्रूहि यथा निसंतं ।

५. वृत्ति, पृ० १४३ : क्षेत्रं जानातीति क्षेत्रज्ञः ।

६. वृत्ति, पत्र १४३ : क्षेत्रं—संसारान्तर्बर्तिनां प्राणिनां कर्मविपाककं दुःखं जानातीति क्षेत्रज्ञो दुःखापनोदमसमर्थापदेशवानात्, यदि वा 'क्षेत्रज्ञो' यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानावात्मज्ञ इति, अथवा—क्षेत्रम्—आकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो लोका-लोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः ।

७. भगवद् गीता १३।१, २ : इदं शरीरं कीन्तेय ।, क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः, क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि, सर्वक्षेत्रेषु भारत ।,

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगिनं, यत् तज्ज्ञानं जगत्प्रभ ॥

१४. कुशल (कुशल)

इसका व्युत्पत्तिक अर्थ है—कुशों का खेव करने वाला । कुल दो प्रकार के हैं—

ब्रह्म कुल—वास ।

आत्म कुल—कर्म ।

जो कर्म का खेव करने में निपुण है वह कुशल कहलाता है ।

कुशल का अर्थ है ज्ञानी । धर्म-कथा में दक्ष, विभिन्न दर्शनों का पारगामी, अप्रतिबद्ध विहारी, कथनी और करणी में समान, मित्रा एवं इन्द्रियों पर विजय पाने वाला, साधना में आने वाले कष्टों का पारगामी और देश-काल को समझने वाला मुनि 'कुशल' कहलाता है । तीर्थंकर को भी कुशल कहा जाता है ।^१ पातञ्जल योग दर्शन में इसका अर्थ इस प्रकार है—

जो योगी सात प्रकार की प्रज्ञाओं का अनुदर्शन करता है, वह 'कुशल' कहलाता है । दूसरे शब्दों में जीवन्मुक्त योगी को कुशल कहा जाता है ।

सात प्रकार की प्रज्ञाएं ये हैं—

१. समस्त हेय का परिज्ञान हो जाना ।

२. समस्त हेय-हेतु का क्षीण हो जाना ।

३. निरोध-समाधि के द्वारा 'हान' का साक्षात् हो जाना ।

४. विवेकव्यातिरूप हानोपायभावित हो जाना ।

५. भोग तथा अपवर्ग निष्पादित हो जाना ।

६. बुद्धि का स्पंदन निवृत्त हो जाना । क्लिष्ट और अक्लिष्ट संस्कारों के अपगमन से चित्त का शास्वतिक निरोध होकर, स्फुट प्रज्ञा का उदित हो जाना ।

७. इस प्रज्ञावस्था में पुरुष का गुण-सम्बन्ध से शून्य, स्व-प्रकाशमय, अमल और केवलीरूप हो जाना ।

१५. मेधावी (मेधावी)

मेधावी दो प्रकार के होते हैं—ग्रन्थ-मेधावी और मर्यादा-मेधावी । जो बहुभुत होता है, अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करता है, उसे ग्रन्थ-मेधावी कहा जाता है । मर्यादा के अनुसार चलने वाला मर्यादा-मेधावी कहलाता है ।^२

यहां मेधावी का अर्थ—आत्मानुशासी या तत्त्वज्ञ किया जा सकता है ।

जूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहां 'आसुपण्णे' पाठ की व्याख्या की है । जूर्णि में 'आसुपण्णे' के साथ 'महेवी' पाठ भी है । इसका अर्थ महर्षि अथवा महेवी - महान् की एषणा करने वाला किया है ।^३

१. जूर्णि, पृ० १४२ : कुशलो ब्रह्मे वावे च । ब्रह्मे कुशान् लुनातीति ब्रह्मकुशलः । एवं वावे चि, भावकुशलस्तु कर्म ।

२. वृत्ति, पृ० १४३ : भावकुशान्—अवदविषयकर्मरूपान् लुनाति—क्षिणतीति कुशलः प्राणिनां कर्मोच्छिन्नस्ये निपुण इत्यर्थः ।

३. भावार्थो, पृ० १२० ।

४. पातञ्जल योग दर्शन २।२७ : तस्य सप्तविधां प्राप्तभूमिप्रज्ञाधनुषाङ्गकुशलः ।

..... एतां सप्तविधां प्राप्तभूमिप्रज्ञाधनुषाङ्गकुशलः कुशल इत्याख्यायते प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य पुरुषतः कुशल इत्येव अवति कुणावैतत्त्वमिति ।

५. पातञ्जल योग दर्शन २।२७, हरिहरानन्द व्याख्या, पृ० २१४-२१६ ।

६. वसुधैवकुटुम्बकं, जिनवास जूर्णि, पृ० २०३ : मेधावी बुद्धिः, तं—ग्रन्थमेधावी, मेरामेधावी च, तस्य जो महंतं गंधं अहिष्णति सो नव-मेधावी, मेरामेधावी आत्म मेरा नवजाया गच्छति तीर् मेराए धावति मेरामेधावी ।

७. (क) जूर्णि, पृ० १४३ : आसुपणो आसु एव नवजातीति, न चिन्तयित्वा इत्यर्थः । महेती महरिती, महान्तं वा एततीति महेती ।

(ख) वृत्ति, पृ० १४३ ।

वृत्तिकार ने महर्षि को पाठान्तर मान उसका अर्थ—अत्यन्त उग्र तपस्या करने वाला तथा परीषहों के भीषण-खपसियों की सहने वाला अभिषिक्त किया है।^१

१६. आलोकपथ में स्थित (चक्षुःपथे स्थितः)

इसका अर्थ है—जो समस्त प्राणियों के चक्षुःपथ में स्थित है अर्थात् चक्षुर्भूत है। जैसे अन्धकार में पड़े हुए पदार्थ प्रदीप के आलोक में अभिव्यक्त होते हैं वैसे ही भगवान् के द्वारा प्रदर्शित तत्त्वों को भव्य प्राणी देख पाते हैं। जैसे दीपक के अभाव में पदार्थ अभिव्यक्त नहीं होते, वैसे ही भगवान् के अभाव में सत्य की अभिव्यक्ति नहीं होनी। इसलिए भगवान् सबके चक्षुर्भूत हैं, आलोकपथ में स्थित हैं।^२

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. भवस्थ केवली (सशरीर केवली) की अवस्था में स्थित।

२. सूक्ष्म और व्यवहित पदार्थों को अभिव्यक्त करने के कारण चक्षुर्भूत।^३

१७. वेदो (वेदः)

वृत्तिकार ने 'वेद' पाठ मान उसका अर्थ प्रेक्षा किया है। इस प्रकार धर्म, धृति और प्रेक्षा—तीनों के बारे में जानकारी दी है। भगवान् का धर्म पूर्ण वीतरागता का विकास था। उनकी धृति वज्र की प्रीति के समान अभेद्य थी। उनकी प्रेक्षा संवेदना से ऊपर केवलज्ञानमय थी।^४

इलोक ४ :

१८. जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं (तस्य य जे थावर जे य पाणा)

इसमें 'थावर' शब्द विभक्ति रहित है। यहाँ 'थावरा' होना चाहिए था।

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने तीन प्रकार के त्रस और तीन प्रकार के स्थावर प्राणियों का उल्लेख किया है।

तीन प्रकार के त्रस—

१. तेजस्काय और वायुकाय। यद्यपि इनकी गणना स्थावरों में होती है, किन्तु गति करने के कारण ये गति-त्रस कहलाते हैं।

२. चार विकलेन्द्रिय।

३. पञ्चेन्द्रिय।

तीन प्रकार के स्थावर—१. पृथ्वीकाय, २. अण्काय, ३. वनस्पतिकाय।^५

वेदो—ठाणं ३।३२६, ३२७।

१. वृत्ति, पत्र १४३ : महर्षिरिति चक्षित्वाः, महाभारताद्विषय महर्षिः अत्यन्तोग्रतपश्चरन्पानुष्ठापित्वास्तुसपरीवहोवसर्ग-सहसाप्तेति।

२. वृत्ति, पु० १४३ : पश्यतेऽनेनेति चक्षुः, सर्वस्यासौ जगत्तत्त्वानुपपत्ति स्थितः चक्षुर्भूत इत्यर्थः। यथा तमसि वर्तमाना घटादयः प्रकीर्ते-नाभिव्यक्ता इत्यर्थः, न तु तदभावे, एवं भगवता प्रदर्शितानर्थान् भव्याः पश्यन्ति, यद्यसौ न स्यात् तेन जगत्तो-जात्यन्वयस्य सतोऽप्यकारं स्यात् तेनाऽऽवित्यवसतो जगत्तो भावचक्षुष्ये स्थितः।

३. वृत्ति, पत्र १४४ : लोकस्य 'चक्षुःपथे' लोकनमार्गे भवस्थकेतव्यवस्थायां स्थितस्य, लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावनेन चक्षु-र्भूतस्य वा।

४. वृत्ति, पृष्ठ १४३ : किविधो धर्मः धृतिः प्रेक्षा वा? अचित्तस्थानोत्पत्तिः, चारित्र्यधर्मः आधिकः, धृति वज्रकुटुसमा, येनका केवलपापार्थः।

५. (क) वृत्ति, पु० १४३ : ये स्थावराः त्रिप्रकारा ये च त्रसाः त्रिप्रकारा एव।

(ख) वृत्ति, पु० १४४ : तस्यास्तीति त्रसास्तेजोवायुक्पविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियैवात् त्रिधा, तथा ये च 'स्थावराः' पृथिव्याऽण्कायवस्य-मेवात् त्रिविधाः।

१९. नित्य और अनित्य—इन दोनों दृष्टियों से भलीभाँति देखकर प्रज्ञा ज्ञातपुत्र ने (से निश्चयिष्येति समिवक्ष पण्णे)

भगवान् महावीर ने देखा पदार्थ नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं। द्रव्य या अस्तित्व की दृष्टि से वे नित्य हैं और भाव या अवस्थान्तर की दृष्टि से वे अनित्य हैं।^१ इस नित्यानित्यवादी दर्शन के आधार पर उन्होंने धर्म का प्रवर्तन किया। धर्म को नहीं देखने वाला उसका प्रवर्तन नहीं कर सकता। तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है कि बुद्धि द्वारा धर्म का प्रवर्तन नहीं हो सकता। वह प्रज्ञा द्वारा ही होता है। प्रज्ञा वस्तु-तत्त्व का साक्षात् करने वाली चेतना की अवस्था है। चूणिकार ने 'समिवक्ष पण्णे' का अर्थ—'प्रज्ञा द्वारा भलीभाँति देखकर, किया है।' गणधर गौतम ने मुनिप्रवर केशी से कहा—धर्म को प्रज्ञा द्वारा देखा जाता है।^२

ध्वलाकार ने प्रश्न उपस्थित किया—प्रज्ञा और ज्ञान में क्या भेद है? इसके उत्तर में उन्होंने बताया—प्रज्ञा ज्ञान को उत्पन्न करने वाली अध्ययन-निरपेक्ष चैतन्यशक्ति का विकास है। ज्ञान उसका कार्य है।^३ नदी सूत्र में आभिनिबोधक ज्ञान के दो प्रकार बतलाए हैं—अभुतनिश्चित (अध्ययन-सापेक्ष) और अभुतनिश्चित (अध्ययन-निरपेक्ष)। यह अभुतनिश्चित ज्ञान ही प्रज्ञा है। सूत्रकार ने इसे बुद्धि भी कहा है। इसके चार प्रकार बतलाए गए हैं—औत्पत्तिकी, वैतयिकी, कामिकी और पारिणामिकी।^४

त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनुसार जिसे अभुतनिश्चित ज्ञान की शक्ति उपलब्ध होती है उसे 'प्रज्ञाश्रमण-श्रद्धि' कहा जाता है। प्रज्ञाश्रमण अध्ययन किए बिना ही समस्त श्रुत का अधिकृत ज्ञाता और प्रवक्ता होता है।^५

२०. द्वीप (दीवे)

इसके दो अर्थ होते हैं—द्वीप और वीप। चूणिकार ने द्वीप को आशवासद्वीप और वीप को प्रकाशदीप बतलाया है। जल-पोत के टूट जाने पर यात्रियों के लिए द्वीप आशवासन का हेतु बनता है। अन्धकार में भटकते हुए लोगों के लिए वीप प्रकाश करता है। धर्म भी आशवासद्वीप और प्रकाशदीप का कार्य करता है।^६

वृत्ति में 'दीव' को भगवान् का विशेषण माना है।^७ किन्तु यह वस्तुतः धर्म का विशेषण होना चाहिए। केशी-गौतम सवाद में भी धर्म को द्वीप बतलाया गया है।^८

आवश्यक में तीर्थंकर को भी द्वीप कहा गया है।^९ इसलिए 'द्वीप' महावीर और धर्म—दोनों का विशेषण हो सकता है। किन्तु 'दीवे व धम्म' इस पाठ में 'द्व' का प्रयोग है, इसलिए यहाँ यह धर्म का विशेषण होना चाहिए।

२१. सम्यक् (समियं)

सम्यक् के दो अर्थ हैं—रागद्वेषरहित या समभाव से। भगवान् का उपदेश सम्यक् होता है।^{१०} वे पूजा, सत्कार या गौरव के

१. बुद्धि, पृ० १४३ : जावा अपि हि केनचित् प्रकारेण नित्याः केनचिदनित्याः। कथम्? इति चेत्, द्रव्यतो नित्या जावतोऽनित्याः, द्रव्यं (? उक्तं) प्रति नित्यानित्याः। एवमन्याभ्यपि द्रव्याणि यथा नित्याद्यनित्यानि च।

२. बुद्धि, पृ० १४३ : समिवक्ष पण्णे—सम्यक् इत्य प्रज्ञया।

३. उत्तरवज्जयमाणि, २३।२५ : पसा समिवक्षए धम्मं।

४. ध्वला, ६।४, १, १८ : पण्णाए जाणस्स य को बिसेसो? जाणहेतुधीवससी पुक्खएसनिरवेवसा पण्णा नम, तथकारियं भावं।

५. नदी, सूत्र ३७, ३८ : से कि तं आभिनिबोहियमाणं? आभिनिबोहियमाणं बुद्धिहं पण्णत्तं, तं जहा—सुयनिस्सियं च असुयनिस्सियं च।

से कि तं असुयनिस्सियं? असुयनिस्सियं चउच्चिहं पण्णत्तं, तंजहा—उप्यसिया, वेजइया, कम्मया, पारिणामिया।

६. तिलोपपण्णसी, ४।१०१७-१०२१।

७. बुद्धि, पृ० १४३ : दीवो बुद्धिओ—आसासदीवो पणासदीवो व, उजयवाऽपि जगतः, आसासदीवो तावं सरवं गती, प्रकाशकरो आदित्यः सज्जस्य सयं पणासयति चंडाकाविमु वि।

८. वृत्ति, पृ० १४४ : तवा स प्राप्तिरी पदार्थाविर्भावनेन वीपवत् वीपः यदि वा—संसारार्णवपतितानां सवुपदेशप्रदानत आशवास-हेतुरवात् द्वीप इव द्वीपः।

९. उत्तरवज्जयमाणि २३।६८ : धम्मो दीवो पइहा व।

१०. आवश्यक सूत्र, सत्कारबुद्धि : दीवो तावं.....

११. वृत्ति, पृ० १४४ : सम्यक् इत्तं—मत्तं सवमुक्कजतवा रागद्वेषरहितेन समतया वा।

विष् उपदेश नहीं करते । जैसे वे संपन्न को उपदेश देते हैं, वैसे ही विपन्न को उपदेश देते हैं और जैसे विपन्न को उपदेश देते हैं, वैसे ही संपन्न को उपदेश देते हैं ।^१ यह धर्म का सम्यक् प्रतिपादन है ।

श्लोक ३ :

२२: (तु सव्ववसी अभिभूय भाजी)

इसका तात्पर्यार्थ है कि भगवान् महावीर आवरण का निरसन कर सर्वदर्शी और सर्वज्ञ बने थे ।

दर्शन चार हैं—अक्षुदर्शन, अक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन । जो तीनों दर्शनों को अभिभूत कर, अतिक्रान्त कर केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है वह सर्वदर्शी या केवलदर्शी हो जाता है ।

ज्ञान पांच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान । जो मति आदि चार ज्ञानों को अभिभूत कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह अभिभूतज्ञानी कहलाता है । एक शब्द में वह निरावरणज्ञानी है ।

आचारांग में 'अभिभूय' के साथ 'दिट्ठ' और 'अवक्खू' का प्रयोग हुआ है । उससे भी 'आवरण को अभिभूत कर' यह अर्थ फलित होता है । आचारांग १।१।१० में 'अरइं रइं अभिभूय रीपई'—का प्रयोग मिलता है । भगवान् महावीर वरति और रति को अभिभूत कर विहार करते थे । वरति और रति का अभिभव करने वाला ही ज्ञानी होता है ।

जैसे सूर्य समस्त प्रकाशवान् पदार्थों को अभिभूत कर जगत् में अकेला प्रकाशित होता है, वैसे ही केवलज्ञानी और केवलदर्शी लौकिक अज्ञानों को अभिभूत कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा प्रकाशित होता है ।^२

२३. विशुद्ध-भोजी (निरामगंधे)

इसका अर्थ है—विशुद्ध-भोजी । जो आहार संबंधी सभी दोषों का वर्जन कर आहार करता है, यह विशुद्ध-भोजी होता है । आहार संबंधी दोष दो प्रकार के होते हैं—अविशोषिकोटिक और विशोषिकोटिक । जो मूल दोष होते हैं वे अविशोषिकोटिक होते हैं और जो उत्तर दोष होते हैं वे विशोषिकोटिक होते हैं ।^३ चूणिकार में यह सूचना देने के लिए शब्द को 'निराम' और निर्गन्ध—इन दो भागों में बांटा है ।^४ आचारांग २।१०८ में 'सव्वामगध परिण्णाय, निरामगधो परिक्खए' पाठ है । इसका अर्थ है—अमण सब प्रकार के अशुद्ध भोजन का परित्याग कर शुद्धभोजी रहता हुआ परित्रजन करे ।^५

२४. धृतिमान् (विद्वान्)

भगवान् की संयम में धृति थी, इसलिए उन्हें धृतिमान् कहा गया है ।^६ आचारांग में उनकी धृति का विषद वर्णन मिलता है ।^७

१. आचारो २।१७४ : अहा पुण्हस्स कत्थइ, तथा पुण्हस्स कत्थइ ।

अहा पुण्हस्स कत्थइ, तथा पुण्हस्स कत्थइ ॥

२. आचारो, १।६८ : वीरेहि एयं अभिभूय दिट्ठं ।

३. आचारो, ५।१११ : अभिभूय अवक्खू ।

४. धृति, पु० १४३-१४४ : सव्वं पासति ति सव्ववसी, केवलदर्शनोत्पुत्तं भवति, चत्वारि ज्ञानानि त्रीणि दर्शनानि, मास्कर इव सव्वं-तेजास्यभिभूय केवलदर्शनेन जगत् प्रकाशयति । ज्ञानीति एवं केवलज्ञानेनापि अभिभूय इति वर्तते, उभाभ्यामपि कृत्स्नं लोकाऽलोकमवसासते । अथवा लौकिकानि अज्ञानाभ्यभिभूय केवलज्ञान-दर्शनाभ्यां लघोत्त-कानिवाऽऽदित्यः एकः प्रकाशते ।

५. धृति, पत्र १४४ : निर्णतः—अपगत आसः—अविशोषिकोटिकायः तथा गन्धो विशोषिकोटिक्यो यस्मात् स भवति निरामगन्धः, सुलोत्तरपुनरेवमिहा चारित्रिक्यां कृतबानित्यर्थः ।

६. धृति, पु० १४४ : निरामगंधे—निरामोऽती निर्गन्धश्च, आम इति उव्गमकोटि ।

७. आचारो, पु० ६३ ।

८. धृति, पु० १४४ : धृतिरस्यास्तीति धृतिमान् संयमे धृतिः ।

९. आचारो, नीचां अध्ययन; आचारपूजा, सोसहृदां अध्ययन ।

वृत्तिकार के अनुसार जो अक्षय्य परीषद् और उपसर्गों से पीड़ित होने पर भी अप्रकंपित रहता हुआ चारित्र्य में दृढ़ रहता है, वह वृत्तिमान् है ।^१

२५. स्थितात्मा (ठियन्मा)

जिसकी आत्मा संयम या धर्म में स्थित होता है वह स्थितात्मा है—यह वृत्तिकार की व्याख्या है ।^२ वृत्तिकार ने सिद्धस्वरूप आत्मा को स्थितात्मा माना है ।^३

२६. अपरिग्रही (गंथा अतीते)

ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं—

द्रव्य-ग्रन्थ—पदार्थ ।

भाव-ग्रन्थ—क्रोध आदि कषाय ।

भगवान् ग्रन्थों से अतीत थे अर्थात् वे निर्ग्रन्थ थे । यह एक अर्थ है ।^४ वृत्तिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—ग्रन्थ का अर्थ है स्वाध्याय । जो स्वाध्याय से अतीत हो जाता है वह ग्रन्थातीत होता है । भगवान् शास्त्र पढ़कर नहीं जानते थे, किन्तु अपने आत्मज्ञान से जानते थे, इसलिए वे ग्रन्थातीत या शास्त्रातीत थे ।^५

वृत्तिकार ने भी ग्रन्थ के बाह्य ग्रंथ और आभ्यन्तर ग्रन्थ—ये दो भेद करते हुए कर्म को आभ्यन्तर ग्रन्थ माना है । जो ग्रन्थ से अतीत है वही निर्ग्रन्थ है ।^६

हमने इसका अर्थ अपरिग्रही किया है । पदार्थ, क्रोध आदि कषाय और कर्म—ये सब परिग्रह हैं । स्थानांग से परिग्रह के तीन प्रकार बतलाए हैं—शरीर, उपकरण और कर्म ।^७ पदार्थ में निर्ग्रन्थ वही है जो इन ग्रन्थियों से मुक्त होता है ।

२७. अभय (अमए)

भय के सात प्रकार हैं—इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्मात् भय, वेदना भय, मरण भय और अश्लोक भय ।^८ जो इन सब भयों से रहित होता है, वह अभय है—यह वृत्तिकार का अर्थ है ।^९

वृत्तिकार के अनुसार जो दूसरों को अभय देता (करता) है और स्वयं किसी से नहीं डरता, वही वास्तव में अभय होता है ।^{१०}

२८. अनायु (जन्म-मरण के चक्काल से मुक्त) (अणाऊ)

भगवान् महावीर शरीर के ममत्व का विसर्जन कर आत्मस्थ हो गए थे । आत्मस्थ पुरुष आयु की सीमा से परे चला जाता है । मृत्यु के अनुभव में रहने वाला शाश्वत हो जाता है, फिर आयु उसे अपनी सीमा में नहीं बांध सकता । इसीलिए भगवान् को 'अनायु' कहा गया है ।

१. वृत्ति, पत्र १४४ : तत्वाऽसह्यपरीषद्दोषसर्गविद्वुतोऽपि निष्प्रकम्पतया चारित्र्ये वृत्तिमान् :

२. वृत्ति, पृ० १४४ : संयम एव अस्य स्थित आत्मा अर्थे वा सो ठियन्मा ।

३. वृत्ति, पत्र १४४ : स्थितो व्यक्तस्थितोऽनेककर्मविमलाक्षरान्तरात्मकये आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा ।

४. वृत्ति, पृ० १४४ : गंथावतीते ति गंथातीते । द्रव्यगंथो तत्विज्ञाति, भावे क्रोधादि, द्विधाऽप्यतीतः निर्ग्रन्थ इत्यर्थः ।

५. वृत्ति, पत्र १४४, १४५ : बाह्यग्रन्थात् तत्विज्ञातिभेदाभावात्तरात्मक कर्मकषाद् अतीतो अस्मिकात्मो ग्रन्थातीतो निर्ग्रन्थ इत्यर्थः ।

६. ठाक०, ३।६५ : तिष्ठति परिमाहे पञ्चमते, तं अहं—कर्मपरिमाहे, शरीरपरिमाहे, बाह्यपरिमाहे ।

७. ठाक० ७।२७ : सप्त भयानुभा पञ्चमता, तं अहं—इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्मात्भय, वेदनाभय, मरणभय, अश्लोकभय । इनकी विसृति व्याख्या के लिए देखें—ठाक० पृ० ७।२१, ७।२२ ।

८. वृत्ति, पृ० १४५ : न विजते सप्तप्रकारमपि भयं यस्यासाधक्यः सवस्तमयरहित इत्यर्थः ।

९. वृत्ति, पृ० १४४ : अभय एति अभयं करोत्यभयोर्वा न च स्वयं विजति ।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जिसका वर्तमान जन्म ही अंतिम है, जिसका आगामी जन्म नहीं होता, जिसके आगामी आयुष्य का बंध नहीं होता, वह अनन्त होता है।^१

वृत्तिकार के अनुसार अनायु वह होता है जिसकी जन्म-मरण की शृंखला टूट जाती है। गति के आधार पर आयु के चार प्रकार हैं—नरक आयु, तिर्यकच आयु, मनुष्य आयु और देव आयु। जो इन चारों गतियों से मुक्त होकर अगतिक हो जाता है, सिद्ध हो जाता है, वह अनायु हो जाता है। कर्मबीज के संपूर्ण वण्ण हो जाने से फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती।^२

श्लोक ६ :

२६. सत्यप्रज्ञ (भूतिप्रज्ञे)

भूति शब्द के तीन अर्थ हैं—वृद्धि, रक्षा और मंगल। इनके आधार पर 'भूतिप्रज्ञ' के तीन अर्थ होते हैं—

१. जिसकी प्रज्ञा प्रवृद्ध होती है।
२. जिसकी प्रज्ञा सब जीवों की रक्षा में प्रवृत्त होती है।
३. जिसकी प्रज्ञा मंगलमय होती है।^३

३०. गृहत्याग कर विचरने वाले (अणिण्यकारी)

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ अनियतचारी—अप्रतिबद्ध विहारी किया है। भगवान् अपरिग्रही थे, इसलिए उनकी गति का कोई प्रतिबन्धक नहीं था। वे अप्रतिबद्ध विहारी थे।^४

शाब्दिक दृष्टि से अनिकेतचारी—यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य होता है—गृह से मुक्त होकर विचरने वाला।

३१. संसार-प्रवाह के पारगामी (ओहंतरे)

ओष का शाब्दिक अर्थ है—प्रवाह। ओष दो प्रकार का है—द्रव्योष—जलप्रवाह और भावोष—मसार-प्रवाह। जो ससार-प्रवाह को तर जाता है, वह ओषंतर है।^५

आचार्य में बताया गया है कि भूढ़ मनुष्य ओषंतर नहीं होता—संसार-प्रवाह को तरने में समर्थ नहीं होता।^६

३२. अनंत चक्षु वाले (अनंतचक्षु)

स्थानांग में तीन प्रकार के चक्षु बतलाए गए हैं—

१. एक चक्षु—छद्मस्थ एक चक्षु होता है।
२. द्विचक्षु—देवता द्विचक्षु होता है।
३. त्रिचक्षु—अतिमायज्ञानी मुनि त्रिचक्षु होता है।

१. वृत्ति, पृ० १४४ : अनायुरिति नास्याऽऽगमिष्यं जन्म विद्यते आगमिष्यायुष्कवण्णो वा।

२. वृत्ति, पृ० १४५ : न विद्यते चतुर्विधमप्यायुष्यस्य स सवयानायुः, वण्णकर्मबीजस्थेन पुनस्तत्पत्तेरसम्भाविति।

३. (क) वृत्ति पृ० १४४ : भूतिर्हि वृद्धौ रक्षायामङ्गले च भवति। वृद्धौ तावत् प्रवृद्धप्रज्ञः, अनन्तज्ञानवानित्यर्थः, रक्षायाम्—रक्षाभूतास्य प्रज्ञा सर्वलोकस्य सर्वसत्त्वानां वा, अङ्गलेऽपि—सर्वमङ्गलोत्तमोत्तमाऽस्य प्रज्ञा।

(ख) वृत्ति, पृ० १४५।

४. (क) वृत्ति, पृ० १४४ : अनियतं चरतीति अनियतचारी।

(ख) वृत्ति पृ० १४५ : अनियतम् अप्रतिबद्धं परिग्रहायोगाच्छरितुं कीलमस्यासा अनियतचारी।

५. वृत्ति, पृ० १४४ : ओषो द्रव्योषः समुद्रः, भावोषः संसारः, तं तरतीति ओषंतरः।

६. आचार्य २।७१ : अणोहंतरा एते, नो य ओहं तरितए।

७. धर्म, ३।४६६ : तिष्ठिहो चक्षु पण्णस्ते, तं अहं—एगचक्षु, द्विचक्षु, त्रिचक्षु। अउमत्थे णं पण्णस्ते एगचक्षु, देवे त्रिचक्षु, महाकसे समणे वा माहणे वा उण्णण्णायणंसेतण्णरे तिचक्षुस्ति वत्तव्वं सिया।

भगवान् महावीर अनन्त चक्षुः थे। श्रुणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं। भगवान् का केवल दर्शन अनन्त था तथा वे अनन्त लोक के चक्षुःभूत थे, इसलिए वे अनन्तचक्षुः थे। वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—जो पदार्थों की अनन्तता के कारण वे अनन्तचक्षुः थे।

३३. अनुपम प्रभास्वर (अनुत्तरं तवति)

जैसे सूर्य सबसे अधिक प्रकाशकर है वैसे ही भगवान् महावीर अपने अनन्तज्ञान से सबसे अधिक प्रभास्वर हैं।

इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार है—जैसे सूर्य तालाब या धान्य आदि को तपाता है वैसे ही भगवान् अनुत्तर—अवशिष्ट कर्मों को तपाते हैं।

३४. प्रवीण अग्नि (वैरोचने)

वैरोचन का अर्थ है—अग्नि। यह समस्त दीप्तिमान् पदार्थों में इन्द्रभूत है—प्रधान है, श्रेष्ठ है, इसलिए इसे वैरोचनेन्द्र कहा गया है। जैसे घृत से अभिषिक्त वैरोचन अक्षर को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार भगवान् अज्ञानरूपी अक्षर को प्रकाशित करते हैं।

वृत्तिकार ने प्रज्वलित अग्नि को वैरोचनेन्द्र माना है। उन्होंने इन्द्र का अर्थ दीप्ति, प्रज्वलन किया है।

उत्प्रेषण ७ :

३५. आशुप्रज्ञ (आशुपण्णे)

देखें—५।२ का टिप्पण।

३६. नेता (नेता)

नेता का अर्थ है—ले जाने वाला। भगवान् महावीर नेता थे, पूर्ववर्ती तीर्थंकर जैसे ले गए थे, वैसे वे भी ले जाने वाले थे, पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के धर्म को आगे बढ़ाने वाले थे।

वृत्तिकार ने यहाँ व्याकरण विमर्श इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

'नेता' शब्द में ताच्छीलार्थक तुन् प्रत्यय हुआ है। इसके योग में 'न लोकाव्ययनिष्ठे' (पा० २।३।६६)। इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति का प्रतिषेध होने पर 'धर्मम्' इस पद में कर्मणि द्वितीया विभक्ति हुई है।

१. वृत्ति, पृ० १४४ : अर्णतचक्षुरिति अर्णतं केवलदर्शनं तवस्य चक्षुरिति अनन्तचक्षुः, अनन्तस्य वा लोकस्यासौ चक्षुर्भूतः।

२. वृत्ति, पृ० १४६ : तथा अनन्तं—जोयानन्ततया निरन्तरतया वा चक्षुरिव चक्षुः—केवलज्ञानं अस्यानन्तस्य वा लोकस्य पदार्थप्रकाशक-तया चक्षुर्भूतो वाः स चक्षुःअनन्तचक्षुः।

३. (क) वृत्ति, पृ० १४४ : न हि सूर्यावप्यः कश्चित् प्रकाशाधिकः, एवं अद्वारकादपि नाप्यः कश्चिद् ज्ञानाधिकः आद्येन चेतो ओभासति तवति भासेति।

(ख) वृत्ति, पृ० १४५ : अनुत्तरं सर्वाधिकं तपति न तस्याधिकस्तापेन कश्चिदस्ति, एवमसामपि भगवान् ज्ञानेन सर्वोत्तम इति।

४. वृत्ति, पृ० १४४ : अयसेसं च कर्म तवति, आदित्य इव सरासि तपति औचधयो वा।

५. वृत्ति, पृ० १४४ : वैरोचनेन्द्रो वा 'वच दीप्ती' विविधं वचतीति वैरोचनः अग्निः, स हि सर्वदीप्तिवता इन्द्राणामिन्द्रभूत इत्यतो वैरोचनेन्द्रः, स यथा आख्यातिवित्तः तमः प्रकाशयति एवं भगवानप्यज्ञानतमोति प्रकाशयति।

६. वृत्ति, पृ० १४५ : वैरोचनः अग्निः स एव प्रज्वलितत्वात् इन्द्रः।

७. वृत्ति, पृ० १४४ : अग्रमेव भगवान् गच्छतीति नेता, कोऽर्थः ? जथा ते भगवन्तो भोतवन्तः तथाप्यस्य गच्छति।

८. वृत्ति, पृ० १४५ : नेता प्रवेतेति ताच्छीलार्थकस्तुन्, तद्योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठे' (पा० २-३-६६) स्पष्टिना षष्ठीप्रतिषेधादुर्मित्यत्र कर्मणि द्वितीया।

३७. स्वर्ग्युग्म (द्विविध)

ये दो शब्द हैं। द्विविध का अर्थ है—स्वर्ग में और 'गं' वाक्यालंकार है।^१

चूणिकार ने 'द्विविध' शब्द मानकर 'द्विविध्यः'—देवताओं से, ऐसा चतुर्थ्यन्त अर्थ किया है। इन्द्र समस्त देवताओं से स्वान्, रुद्रि, स्थिति, क्षुति, कान्ति आदि में विशिष्ट होता है।^२

३८. अधिक प्रभाव (अनुभाव)

अनुभाव का अर्थ है—प्रभाव। चूणिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—सौम्य, वीर्य और माहात्म्य।^३ भगवान् महावीर महान् प्रभाव वाले थे।^४

३९. हजारों देवों का नेता (सहस्रणेता)

इसका अर्थ है—हजारों का नेता, नायक। चूणिकार ने 'सहस्रणेता' पाठ माना है। इसका अर्थ है—हजार आँखों वाला। उन्होंने इसका वैकल्पिक अर्थ—अनेकों का या हजारों का नेता भी किया है।^५

इसोक्त ८ :

४०. पार रहित स्वयंभूरमण (महोदही वा वि अणंतपारे)

'महोदही'—यह स्वयंभूरमण समुद्र का वाचक है।^६ जैसे यह विस्तीर्ण, गंभीर जल वाला और अक्षोम्य होता है वैसे ही महावीर की अनन्तगुणवाली प्रज्ञा विशाल, गंभीर और अक्षोम्य थी।^७

४१. प्रज्ञा अक्षय थी (पञ्जया अक्षय ...)

चूणिकार ने प्रज्ञा का अर्थ—ज्ञान की संपदा किया है।

जो कभी क्षीण न हो, उसे अक्षय कहा जाता है। भगवान् महावीर की प्रज्ञा अक्षय थी। वह प्रज्ञा ज्ञेय अर्थ में कभी क्षीण और प्रतिहत नहीं होती थी। वह काल से आदि-सहित और अनन्त-रहित तथा द्रव्य, क्षेत्र और भाव से अनन्त थी।^८

४२. निर्मल (अनादले)

चूणिकार ने इसका अर्थ—अनातुर किया है। जो परीषह और उपसर्गों के आने पर भी आकुल-व्याकुल नहीं होता वह अनातुर होता है।^९

१. वृत्ति, पत्र १४५ : द्विवि स्वर्गे . . . 'गम्' इति वाक्यालङ्कारे ।

२. वृत्ति, पृ० १४४ : द्विवि अथा द्विविधः । सर्वेभ्यो द्विविध्यः स्वान्-रुद्रि-स्थिति-क्षुति-कान्त्यादिविविशिष्यते इति विशिष्टः किमुताभ्येभ्यः ?

३. वृत्ति, पृ० १४४ : अनुभवतमनुभावः, सौम्यं वीर्यं माहात्म्यं आनुभावः ।

४. वृत्ति, पत्र १४५ : महानुभावो महाप्रभाववान् ।

५. वृत्ति, पृ० १४४ : सहस्रमस्य नेत्राणां सहस्रनेता, अनेकानां वा सहस्राणां 'नेता' नायक इत्यर्थः ।

६. वृत्ति, पत्र १४५ : महोदहिरिव स्वयंभूरमण इव ।

७. वृत्ति, पृ० १४४ : यथाऽतो (स्वयंभूरमणः) विस्तीर्ण—गंभीरजलो अक्षोम्य एवमस्वानन्तगुणा प्रज्ञा विशाला गंभीरा अक्षोम्या च ।

८. (क) वृत्ति, पृ० १४४ : ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञा ज्ञानसम्पत्, न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः परिकीयते प्रतिहृत्यते वा, साक्षी अपञ्जबसितो कालतो, द्रव्य-क्षेत्र-भावेहि अणन्ते ।

(ख) वृत्ति, पत्र १४५ : अतो भगवान् प्रज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञा तथा 'अक्षयः' न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः प्रतिकीयते प्रतिहृत्यते वा, तस्य हि बुद्धिः क्षेत्रज्ञानाख्या, सा च साक्षात्प्रवृत्ताना कासतो द्रव्यक्षेत्रभावैरप्यनस्ता, सर्वसाध्येन सुव्याप्ताभावात् ।

९. वृत्ति, पृ० १४४ : अनादलो नाम परीषहोपसर्गोभ्येऽप्यनातुरः ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ अकलुषित—निर्मल किया है ।^१ यह अर्थ शाब्दिक दृष्टि से अधिक प्राह्य है । तात्पर्याय की दृष्टि से भूषिकार का अर्थ मन को अधिक क्लृप्ते वाला है ।

४३. भीतराय (अकसाह)

कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ । जिसके कषाय उपशान्त होते हैं, वह उपशान्त कषाय और जिसके क्षीण होते हैं वह क्षीण कषाय कहलाता है । भगवान् महावीर के कषाय क्षीण हो चुके थे, इसलिए वे अकषाय थे और अकषाय होने के कारण वे निरुत्साह थे । कुछ व्यक्ति शक्ति होने पर भी पुरुषार्थ नहीं करते, इसलिए निरुत्साह होते हैं । कुछ व्यक्ति शक्तिहीन होने के कारण निरुत्साह होते हैं । भगवान् महावीर पुरुषार्थ और पराक्रम से युक्त थे । फिर भी क्षीणकषाय होने के कारण निरुत्साह—आकांक्षाओं से मुक्त थे—क्रोध, अहंकार, माया और लोभ से प्रेरित प्रवृत्तियों से शून्य थे ।^२

४४. (मुक्ते)

इसका अर्थ है—ज्ञानावरण आदि कर्म-बन्धन से विमुक्त आवरण-मुक्त ।^३

भूषिकार ने 'भिक्षु' पाठ मान कर व्याख्या की है । यद्यपि भगवान् के सभी अन्तराय नष्ट हो गए थे और वे जगत्पूज्य भी थे, फिर भी वे भिक्षावृत्ति से ही अपना निर्वाह करते थे इसलिए वे भिक्षु थे । उन्हें 'अक्षीणमहानस' आदि लब्धियाँ प्राप्त थीं, फिर भी वे उनका उपयोग नहीं करते थे ।^४

इलोक ६ :

४५. (सुरास ए वा वि... जेगगुणोववेण)

जैसे स्वर्ग शब्द आदि विषयों के सुख से समन्वित होता है, वैसे ही यह मेरु पर्वत शब्द आदि वैषयिक सुखों से समन्वित है । देवता देवलोक को छोड़कर यहाँ क्रीडा करने के लिए आते हैं । मेरु पर्वत पर ऐसा एक भी इन्द्रिय-विषय नहीं है जो इन्द्रिय वाले प्राणियों को प्रसन्न न करे ।

मेरु पर्वत वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, प्रभा, कान्ति, धृति, प्रमाण आदि अनेक गुणों से समन्वित है, अतः वह सबको प्रसन्न करने वाला है ।^५ इसीलिए कहा है—

‘सुराससंसर्गो सीलदरिहं वि कुणह सीलदं ।

अह मेवगिरिबिच्छुदं तर्णवि कणयत्तणमुवेति ॥’ (ओषनिर्युक्ति भा० ७८४)

शीलवान् व्यक्तियों का संसर्ग कुशील को भी सुशील बना देता है, जैसे मेरु पर्वत पर उगा हुआ वृक्ष भी स्वर्णमय बन जाता है ।^६

१. वृत्ति, पत्र १४५ : अकलुषितः अकलुषजलः, एवं भगवानपि तत्वाविद्यकर्मलोसारथाबाधकलुषजलान् इति ।

२. भूषि, पृ० १४४, १४५ : अकसाह इति क्षीणकषाय एव, न उपशान्तकषायः निरुत्साहत्, इह कश्चित् सत्यपि कसे निरुत्साहत्वाद्युप-
चारेण निरुत्साहो भवति, अन्यस्तु क्षीणविषमत्वासिद्धस्तदः, एवमसौ क्षीणकषायत्वासिरुत्साहः ।

३. वृत्ति, पत्र १४५ : ज्ञानावरणीवाधिकसंबन्धनाद्विमुक्तो मुक्तः ।

४. भूषि, पृ० १४५ : सत्यप्यसौ क्षीणाग्निरायिकत्वे सर्वलोकपूज्यत्वे च निजामाजोवजोवित्वाद् भिक्षुरेव नाक्षीणमहानसिकाविसंबलब्धि-
जन्यसौख्ये स्यात् तामुपजीवतोत्पत्तो भिक्षुः ।

५. (क) भूषि, पृ० १४५ : सुरासां आलयः, मुद इव सुरासः स्वर्गः, स यथा सदादिविषयसुखः एवमसावपि स्वर्गसुखः शब्दादिनि-
विषयेक्यते, देवा अपि हि देवलोक मुक्त्वा तत्र क्रीडास्थानेषु क्रीडन्ते न हि तत्र किञ्चिच्छब्दादिविषयजातं
यदिगिर्यवत्ता न कुदं कुर्वन्ति । विभिन्न रासति अनेकैः वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-प्रभाव-कान्ति-धृति-प्रमाणादि-
भिर्गुणैर्यवेतः सर्वरसाकरः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १४६ ।

६. भूषि, पृ० १४५ ।

४६. सुदर्शन (मेरु) (सुवर्णसे)

यह मेरु पर्वत का वाचक है। मेरु पर्वत दिखने में सुन्दर है इसलिए इसे सुवर्ण कहा गया है।^१

४७. वीर्य से (वीर्येण)

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त वीर्य प्रतिपूर्ण नहीं होता, वह अपूर्ण होता है। जो वीर्य कर्म के भय से प्राप्त होता है वह अनन्त और प्रतिपूर्ण होता है। भगवान् महावीर का वीर्यान्तराय कर्म संपूर्ण क्षीण हो चुका था, इसलिए, उनका वीर्य अनन्त और प्रतिपूर्ण था। इसके फलस्वरूप उनका औरसबल, धृतिबल, ज्ञानबल और सहननबल प्रतिपूर्ण था।^२

श्लोक १० :

४८. तीन कांडों (भागों) वाला (तिकांडने)

कांड का अर्थ है विभाग। मेरु पर्वत के तीन कांड हैं—भीमकांड, स्वर्णकांड और वैदूर्यकांड।^३

पंडकवनरूपी पताका से युक्त (पंडगवेषयन्ते)

‘पंडग’ शब्द पंडकवन का छोटक है और ‘वैजयन्त’ का अर्थ है—पताकारूप। पंडकवन मेरु पर्वत के शिखर पर स्थित है, अतः वह मेरु पर्वत का पताका रूप है।^४

चूणिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—वह मेरु पर्वत पंडकवन के द्वारा दूसरे पर्वतों और वनों पर विजय प्राप्त करता है, इसलिए वह ‘पंडगवैजयन्त’ है।^५

श्लोक ११ :

४९. भूमि पर स्थित (भूमिबद्धि)

भूमि पर स्थित मेरु पर्वत ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक—तीनों लोकों का स्पर्श करता है।^६ वह निम्नानवे हजार योजन भूमि से ऊपर उठा हुआ है, इस प्रकार वह ऊर्ध्वलोक का स्पर्श करता है। वह एक हजार योजन भूमि तल के नीचे है, इस प्रकार वह नीचे लोक का स्पर्श करता है। वह तिरछे लोक में है ही, इस प्रकार वह तिरछे लोक का स्पर्श करता है।

स्वर्ण के वर्ण वाला (हेमवर्ण)

तपे हुए सोने के समान पीत-रक्त वर्ण वाला।^७

हर स्वर्ण को ‘हेम’ नहीं कहा जाता, किन्तु जो स्वर्ण में प्रधान होता है, उसे हेम कहा जाता है।^८

१. (क) भूमि, पृ० १४५ : शोचनमस्य वर्णमिति सुदर्शनः, मेरुः सुदर्शन इत्यपहिरयते।

(ख) वृत्ति, पत्र १४६ : सुदर्शानो मेरुर्जम्बूद्वीपनाभिभूतः।

२. (क) भूमि, पृ० १४५ : वीर्यं औरस्यं धृतिः ज्ञानवीर्यं च सर्वैरपि प्रतिपूर्णवीर्यः क्षायोपशमिकानि हि वीर्याणि अप्रतिपूर्णानि, क्षायिक-स्वावनन्तत्वाच्च प्रतिपूर्णम्।

(ख) वृत्ति, पत्र १४३ : वीर्येण औरसेन बलेन धृतिसहननादिरिक्त्वा वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षयात् प्रतिपूर्णवीर्यः।

३. (क) भूमि पृ० १४५ : त्रीणि कण्ठाग्रस्य सन्तीति त्रिकांडो। त अथा—

१ जोम्मे मरुजे कांडे, २ जंबूगते कांडे, ३ वेदलिए कांडे।

(ख) वृत्ति, पत्र १४६ : त्रीणि कण्ठाग्रस्येति त्रिकाण्डः, तथा—जोमं जाम्बूनं वैदूर्यमिति।

४. वृत्ति, पत्र १४६ : पंडकवनेकयन्त इति, पंडकवन शिरसि व्यवस्थितं वैजयन्ती कल्पं—पताकाभूतं यस्य स तथा।

५. भूमि, पृ० १४५ : पंडगवेषेण क्षायोपशमनां वनानि च विजयत इति पंडगवेषयन्तः।

६. (क) भूमि, पृ० १४५ : उर्ध्वलोपं च कुसति अहलोपं च, एवं तिरिणि वि लोगे कुसति।

(ख) वृत्ति पत्र, १४६ : भूमि काऽजगाद्वा स्थित इति ऊर्ध्वास्यस्तिर्यक्लोकसंस्पर्शी।

७. वृत्ति, पत्र १४६ : हेमवर्णो निष्कृष्टजाम्बूनवर्णः।

८. भूमि, पृ० १४५ : हेममिति च प्रधानं सुवर्णम्, निष्कृष्टजाम्बूनवर्णश्च इत्युक्तं भवति।

बहुतों को आनन्द देने वाला (बहुपवनो)

चूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. मेरु पर्वत पर आनन्द उत्पन्न करने वाले अनेक शब्द आदि विषय हैं इसलिए वह 'बहुपवनो' है।

२ वह बहुतों को आनन्द देने वाला है, इसलिए 'बहुनन्दन' है।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सर्वथा भिन्न प्रकार से किया है। मेरु पर्वत, अनेक वनों से शोभित है। उस पर चार वन हैं—

१. भद्रशालवन—यह मेरु के भूमीभाग पर स्थित है।

२ नन्दनवन—भूमी से ऊपर पाँच सौ योजन ऊपर मेरु की मेखला में स्थित है।

३ सीमनसवन—नन्दनवन से पाँच सौ बासठ हजार योजन ऊपर स्थित है।

४. पंडकवन—सीमनसवन से छत्तीस हजार योजन ऊपर मेरु के शिखर पर स्थित है।

वृत्तिकार ने इन चारों को नन्दनवन माना है, क्योंकि ये सब आनन्द उत्पन्न करने वाले हैं।

५०. महान् इन्द्र (महिषा)

चूणिकार ने सौधर्म, ईशान आदि के इन्द्रों को 'महेन्द्र' बतलाया है। वे अपने-अपने विमानों को छोड़कर मेरु पर्वत पर आकर क्रीड़ा करते हैं।

श्लोक १२ :

५१. (सहस्रहृष्यगते)

वृत्तिकार ने इसको इस प्रकार व्याख्यात किया है—एवमादिभिः शब्दैर्महान् प्रकाशः—प्रसिद्धिर्यस्य स शब्दमहाप्रकाशः—मेरु पर्वत की अनेक महान् शब्दों द्वारा लोकप्रसिद्धि है। वे शब्द हैं—मन्दर, मेरु, सुदर्शन, सुरगिरि, पर्वतराज, सुरालय आदि।

चूणिकार ने मन्दर, मेरु, पर्वतराज आदि सर्वलोकप्रतीत शब्दों के द्वारा मेरु पर्वत को प्रकाशित माना है। जिसका आयत बड़ा होता है उसके शब्द समूचे लोक में परिभ्रमण करते हैं।

जमकते हुए सोने के बर्ण वाला (कञ्जमहुषणे)

वृत्तिकार ने मृष्ट का अर्थ श्लक्ष्ण या शुद्ध किया है। चूणिकार ने 'अट्टे सण्णे लण्हे'—यह पाठ उद्धृत कर इसका

१. जूणि, पृ० १४५ : बहुनन्दन इति बहुन्यत्रामिनन्दनकानि शब्दादिजिषयजातानि बहुना वा सत्त्वानां नन्दनजनकः।

२ (क) वृत्ति, पत्र १४६ : तथा बहुनि चत्वारि नन्दनकानि यस्य स बहुनन्दनवनः, तथाहि—भूमी भद्रशालवनं ततः पञ्च योजन-सप्तत्यारुह्य मेखलायां नन्दनं ततो द्विषष्टियोजनसहस्रानि पञ्चशताधिकान्यतिक्रम्य सीमनसं ततः षड्विंश-सहस्रान्यारुह्य शिखरे पण्डकवनमिति, तत्रैवसौ चतुर्नन्दनकानामुद्देशो विचित्रज्योडास्थानसमन्वितः।

(ख) जंबूद्वीपप्रसप्ति, ४।२।१४।

३. जूणि, पृ० १४७ : महान्तो इन्द्रा महेन्द्राः शकेशानाद्याः, ते हि स्वविमानानि मुक्त्वा तत्र रमन्ते।

४. वृत्ति पत्र १४६ : सः—मेरुपर्वतोऽयं पर्वतो महारो मेरुः सुदर्शनः सुरगिरिस्त्येवमादिभिः शब्दैर्महान् प्रकाशः—प्रसिद्धिर्यस्य स शब्द-महाप्रकाशः।

५. जूणि, पृ० १४६ : महारो मेरुः पर्वतराजेत्यादिभिः शब्दैः प्रकाशः सर्वलोकप्रतीतैः शोरास्त्रायतस्स सदा सम्बलोऽप्यपरिममंति।

६. वृत्ति, पत्र १४६ : शुद्धः—श्लक्ष्णः शुद्धो वा।

तात्पर्यायं कोमल या समतल किया है।' वर्ण का एक अर्थ आकृति भी होता है।' उसके आधार पर इसका अर्थ होगा—सोने की भाँति चमकपूर्ण आकृति वाला।

(गिरिसु)

'गिरि' शब्द का सप्तमी विभक्ति का बहुवचन 'गिरीसु' होता है। प्रस्तुत प्रयोग में 'रि' ह्रस्व है। यह छन्द की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है।

मेखलाओं से दुर्गम (पद्मदुर्गम)

इसका अर्थ है—मेरु पर्वत मेखलाओं से अति-दुर्गम है। उन मेखलाओं पर सामान्य व्यक्ति नहीं चढ़ सकता। अतिशय शक्ति वाला ही उन पर चढ़ पाता है।'

वृत्तिकार ने 'पर्व' के दो अर्थ किए हैं—मेखला अथवा दंष्ट्रापर्वत (उप-पर्वत)।'

५२. (गिरीबरे से अस्मि व भोमे)

मेरु पर्वत अनेक प्रकार की मणियों तथा औषधियों से देदीप्यमान था। वह ऐसा लग रहा था मानो कि कोई भूमि का प्रदेश प्रदीप्त हो रहा है।'

वृत्तिकार ने भूमि का अर्थ—भू-प्रदेश किया है।' पद्मचन्द्र कोष में भूमि का अर्थ—आकाश भी मिलता है।' अर्थ-संगति की दृष्टि से यह अर्थ उपयुक्त लगता है। इस आधार पर इसका अर्थ होगा—वह प्रदीप्त आकाश जैसा लग रहा था।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। वह पर्वत ऐसा लग रहा था जैसे रात्रि में खदिर के अंगारे उसके दोनों पार्श्वों में प्रज्वलित हो रहे हों।'

श्लोक १३ :

५३. सूर्य के मध्य में (महीए मञ्जुमि)

इसका अर्थ है—जम्बूद्वीप के मध्य में अवस्थित।'

५४. सूर्य के समान तेजस्वी (सूरियसुदलेसे)

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—सूर्य के समान विषुव तेज वाला अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी।'

वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—हेमन्त ऋतु में तत्काल उदित सूर्य की लेश्या—वर्ण वाला।''

१. वृत्ति, पृ० १४६ : महुँति 'महुँ (मञ्जे) सन्हे लण्हे जाव पडिक्के' (जीवा० प्रति० ३ उ० १ सू० १२४ पत्र १७७-२), ज फदस-फासो बिससो वा इत्यर्थः।

२. आप्ते, संस्कृत इतिहास विभागरी

वर्णः—Look, Countenance। मध्यस्थवर्ण इव दृश्यते मध्यमव्यायोग ?

३. वृत्ति, पृ० १४६ : दुःख पण्यत इति दुर्गः, अनतिसमयद्विर्ग्न शक्यते आरोहम्।

४. वृत्ति, पत्र १४६ : पर्वणिः—मेखलादिनिर्दंष्ट्रापर्वतर्वा।

५. वृत्ति, पत्र १४७ : अतो मणिगिरीषधीमिस्व श्रेणीप्यमानतया 'भूमि इव' भूदेश इव उज्ज्वलित इति।

६. वृत्ति, पत्र १४७ : भूमि इव भूदेश इव।

७. पद्मचन्द्रकोष पृ० ३६५ : भूमि—आकाश।

८. वृत्ति, पृ० १४६ : अत्रात्रामए कहरिगालानं रति पञ्जलिताभं, अथवा अत्रा वासातो पञ्जलिभूतो के वि पर्वतो वा अद्भरते।

९. जम्बूद्वीपप्रमत्ति ४।२।२२ :बरे जाव पणएजम्बूद्वीवस्स बहुमञ्जुसमाए.....।

१०. वृत्ति, पत्र १४७ : सूर्यबरेसुदलेश्यः—आदित्यसमानतेजाः।

११. वृत्ति, पृ० १४६ : सूरियलेस्सभूते ति जायते अतिरुणयहेनतिसूरियलेस्सभूतो बदि मध्याह्नार्कलेस्याभतोऽमधिष्यत् तेन दुरासभो-अधिव्यत्।

नामा वर्णवासा (धूरिवर्ण)

मेघ पर्वत नामा वर्ण वासा है क्योंकि यह अनेक वर्ण के रत्नों से सुशोभित है ।

धूर्णिकार ने धूर्तिवर्ण पाठ मान कर उसका अर्थ—प्रभूत वर्ण वाला दिया है ।

श्लोक १४ :

५५. यश (जसो)

जो प्रसिद्धि सर्व लोक में प्रसृत होती है, उसे यश कहा जाता है, यह धूर्णिकार का अभिमत है ।

वशवैकालिक १४ में कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक—ये चार शब्द प्रसिद्धि की विभिन्न अवस्थाओं को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं ।

कीर्ति—सर्व दिग्दर्शनी प्रशंसा ।

वर्ण—एक दिग्दर्शनी प्रशंसा ।

शब्द—अर्थ दिग्दर्शनी प्रशंसा ।

श्लोक—स्थानीय प्रशंसा ।

विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं १४ कं० १८ वां टिप्पण ।

जाती-जसो.....

इस चरण में पांच शब्द हैं—जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील । भगवान् महावीर समस्त जाति वालों में, यशस्वियों में, दर्शन और ज्ञान वालों में तथा शीलवानों में श्रेष्ठ हैं । यह धूर्ण और धृति की व्याख्या है ।

श्लोक १५ :

५६. लंबे पर्वतों में निषध (निसहायताएं)

यहां दो पद हैं—निसडे, आयताण । इन दो पदों में संघि होने पर यह रूप निष्पन्न हुआ है—निसहायताण ।

जंबूद्वीप अथवा दूसरे द्वीपों के लंबे पर्वतों में 'निषध' सबसे अधिक लंबा पर्वत है ।

सत्यप्रज्ञ (धूर्तिवर्ण)

धूर्तिकार ने इसका अर्थ—प्रभूत ज्ञान वाला, प्रज्ञाश्रेष्ठ किया है । धूर्णिकार ने 'धूर्तपण्णे' पाठ की व्याख्या की है—भूता प्रज्ञा यस्य जगत्पसावेको भूतप्रज्ञः । देखें—छठे श्लोक के 'धूर्तपण्णे' का टिप्पण ।

१. धूर्ति, पत्र १४७ : धूरिवर्णः अनेकवर्णा अनेकवर्णरत्नोपशोभितत्वात् ।

२. धूर्ति, पु० १४६ : धूर्तिवर्ण इति प्रभूतवर्ण इत्यर्थः ।

३. धूर्ति, पु० १४६ : यशः प्रतीतः सर्वलोकप्रकाशः ।

४. (क) धूर्ति, पु० १४६ : जात्या सर्वजातिभ्यः, यशसा सर्वयशस्विभ्यः, दर्शनेन सर्वदृष्टिभ्यः, ज्ञानेन सर्वज्ञानिभ्यः, शीलेन सर्वशीलेभ्य एवं भावात् ।

(ख) धूर्ति, पत्र १४५ : स च जात्या सर्वजातिभ्यो यशसा अशेषयशस्विभ्यो दर्शनज्ञानाभ्यो सकलदर्शनज्ञानिभ्यः शीलेन समस्तशीलवद्भ्यः श्रेष्ठः—प्रधानः ।

५. (क) धूर्ति, पु० १४६ : न हि कश्चित् सत्काशायततथो कर्षवरोऽप्य इह वाऽप्येषु वा द्वीपेषु ।

(ख) धूर्ति, पत्र १४७ : 'निषधो' निरिषधो निरीचामासत्तानां मध्ये जम्बूद्वीपे अन्येषु वा द्वीपेषु वैध्यं 'श्रेष्ठः' प्रधानः ।

६. धूर्ति, पत्र १४७, १४८ : धूर्तिप्रज्ञः—प्रभूतज्ञानः प्रज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः ।

७. धूर्ति, पु० १४६ ।

गोत्र पर्वतों में (बलयायताणी)

‘बलयायताण’ यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। आदर्शों में यही पाठ उपलब्ध है। वृत्ति में यही व्याख्यात है, जैसे—‘स हि रुक्कणीपान्तर्वर्ती मानुषोत्तरपर्वत इव वृत्तायतः संख्येयजोवनानि परीक्षेपेनेति ।’ चूर्ण में रुक्क पर्वत को केवल वृत्त बतलाया गया है—‘स हि रुक्कस दीवस्स बहुमज्झदेसभागे माणुसुत्तरइव वट्टे वलयागारसंठिते असंखेज्जाइं जोयणाइं परिकखेवेण ।’ यह चूर्ण की व्याख्या उचित प्रतीत होती है। आदर्शों में लिपिकर्त्ताओं के द्वारा पाठ का परिवर्तन हुआ है। प्राचीन लिपि में दीर्घ ईकार की मात्रा नाममात्र की-सी होती थी। प्राचीन लिपि के ‘गतीण’ को ‘गताण’ भी पढ़ा जा सकता है। ‘बलयायतीण’ पाठ की संभावना की जा सकती है। लिपिकाल में ईकार का आकार होने पर ‘बलयायताण’ पाठ हो गया। ‘बलयायतीण’ (स० बलयायतीनां) पाठ की संभावना आधारभूत नहीं है। आकृति शब्द का आकृति, आकृति, और ‘क’ का लोप करने पर आयति रूप बन सकता है। चूर्ण का ‘बलयागारसंठिते’ पाठ में प्रयुक्त आगार शब्द भी आकृति का ही वाचक है। इसलिए यह पाठ ‘बलयायतीण’ ही होना चाहिए।

१७. ज्ञातपुत्र प्राप्त मुनियों में श्रेष्ठ हैं (मुणीण मज्जे तमुवाहु पण्णे)

इस पाठ के स्थान पर चूर्णिकार ने ‘मुणीणमावेदमुदाहु’ पाठ की व्याख्या की है। उसका तात्पर्य है—प्रज्ञ महावीर ने मुनियों के लिए आवेद (श्रुतज्ञान) का निरूपण किया है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने प्रज्ञ का अर्थ—प्रकृष्ट ज्ञानी किया है।

इलोक १६ :

१८. (अनुत्तरं भाणवरं भियाह..... बवालसुवकं)

भगवान् ने शुक्लध्यान के द्वारा कैवल्य प्राप्त किया। उसे प्राप्त कर वे आत्मानुभव की चरम सीमा पर पहुँच गए। फिर उनके लिए ध्यान अपेक्षित नहीं रहा। निर्वाण के समय स्थूल और सूक्ष्म—दोनों शरीरों से मुक्त होने के लिए उन्होंने अनुत्तर शुक्लध्यान का प्रयोग किया। पहले चरण में क्रिया को सूक्ष्म किया और दूसरे चरण में उसका उच्छेद कर डाला। इस प्रकार वे सर्वथा अक्रिय होकर मुक्त हो गए।

साधना-काल में शुक्ल-ध्यान होता है। निर्वाण-काल में परम शुक्ल-ध्यान होता है। इसीलिए उसे ‘सुशुक्ल-शुक्ल’ कहा गया है। उसे जलफेन, शंख और चन्द्रमा से उपमित किया है।

चूर्णिकार ने अपगण्ड शब्द का अर्थ—शरद् ऋतु में नदी के प्रपात में उठने वाले जल-फेन किया है। वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) विजातीय द्रव्य से रहित, निर्दोष, अर्जुन सुवर्ण की भाँति निर्मल। (२) जल-फेन।

चूर्णिकार ने अववात के तीन अर्थ किए हैं—अतिश्वेत, स्निग्ध और निर्मल।

१. वृत्ति, पत्र १४७।

२. चूर्ण, पृ० १४६।

३. चूर्ण, पृ० १४६ : आवेदयन्ति तेनेति आवेदः, यावद् वेद्यं तावद् वेदयतीति आवेदः, श्रुतज्ञानमित्यर्थः।

४. (क) चूर्ण, पृ० १४६ : वण्णे प्रयतो ज्ञः प्रज्ञः।

(ख) वृत्ति, पत्र १४८ : अपरमुनीनां मध्ये प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः।

५. (क) चूर्ण पृ० १४७। (ख) वृत्ति, पत्र १४८।

६. चूर्ण पृ० १४७ : यथा अपगण्डं अपां गण्डं अपगण्डं, उवकफेनवदित्यर्थः, शरत्पानीप्रपातोत्पन्नं अपेक्ष।

७. वृत्ति पत्र १४८ : तथा अपगतं पण्डम्—अपद्रव्यं यस्य तदपगण्डं निर्दोषार्जुनसुवर्णवत् शुक्लं यदि वा—अपगण्डम्—उवकफेनं तत्सुत्वमिति भावः।

८. चूर्ण, पृ० १४७ : अववातं अतिश्वेतं स्निग्धं वा निर्मलं च।

श्लोक १७ :

५६. शील (सीकेव)

चूणिकार ने शील के दो प्रकार किए हैं—तप और संयम ।'

६०. सारे कर्मों का (असेसकम्मंस)

पूर्व श्लोक में भगवान् महावीर के शुक्लध्यान की चर्चा है। केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान् शुक्लध्यान के अंतिम दो भेदों में रहते थे। जब तक वे सयोगी रहे तब तक शुक्लध्यान के तीसरे भेद—सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती थे तथा अयोगी होने के पश्चात् उसके चौथे और अंतिम भेद—समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति में स्थित हो गए। तत् पश्चात् अशेष कर्मों अर्थात् अवशिष्ट वेदनीय, माय, मोक्ष और आयुष्य कर्मों का एक साथ क्षय कर मुक्त हो गए ।'

यही वर्णन उत्तराध्यायन के २६।७२ में है। वहां 'कम्मस' शब्द का प्रयोग है ।'

प्रस्तुत प्रसंग में भी 'असेसकम्मंस' यही पाठ होना चाहिए।

चूणिकार ने 'स' को भिन्न मानकर इसका अर्थ—स इति भगवान् किया है ।'

वृत्तिकार ने 'स' के स्थान पर 'ज' माना है ।'

यहां 'स' के भिन्न-प्रयोग का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता।

६१. अनुत्तर लोक के अग्रभाग में स्थित (अनुत्तरगग)

यह सिद्धि गति का विशेषण है। सिद्धि गति सब सुखों में प्रधान, सब स्थानों में अनुत्तर और लोक के अग्रभाग में है, इस-लिए इसे 'अनुत्तरगग' कहा गया है। उत्तराध्यायन में एक प्रश्नोत्तर उपलब्ध है। प्रश्न पूछा गया—सिद्ध कहां प्रतिष्ठित होते हैं? कहां प्रतिष्ठित हैं? शरीर को छोड़कर कहां जाकर सिद्ध होते हैं? उत्तर में कहा गया—सिद्ध अलोक में प्रतिष्ठित होते हैं, लोकान्तर में प्रतिष्ठित होते हैं, और मनुष्य लोक में शरीर को छोड़ लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं ।'

६२. सादि अनन्त (साइमणंत)

यह विभक्तिरहित प्रयोग है। यहां 'साइमणंत' द्वितीया विभक्ति होनी चाहिए।

सिद्धिगति सादि और अनन्त होती है। कर्मयुक्त आत्मा वहां जाती है, अतः वह गति आदि सहित (सादि) है। वहां जाने के पश्चात् कोई भी आत्मा लौट कर नहीं आती, पुनः जन्म-ग्रहण नहीं करती, अतः वह अनन्त है।

श्लोक १८ :

६३. शास्मली (सामली)

जैन आगमों में शास्मली वृक्ष का उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त है। क्वचित् इस शब्द के साथ 'कूट' शब्द भी मिलता

१. जूणि, पृ० १४७ : शीलं बुविधं—तयो संजयो य ।

२. (क) वृत्ति पत्र १४८ : उत्पन्नज्ञानो भगवान् योगनिरोधकाले सूक्ष्मं कायधोर्गं निरुद्धम् शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं सूक्ष्मक्रियप्रति-पाताक्यं तथा निरुद्धयोगवस्तुषु शुक्लध्यानमेवं व्युपरतक्रियमनिवृत्ताक्यं ध्यायति ।

(ख) उत्तररत्नमाला, २६।७२ ।

३. उत्तररत्नमाला २६।७२ : कम्मसे जुगय जवेइ ।

४. जूणि पृ० १४७ : असेसं पिरवसेसं कम्मं । स इति भगवान् ।

५. वृत्ति पत्र १४८ : अशेषं कर्म—ज्ञानावरणाधिकं.....क ।

६. उत्तररत्नमाला, ३६।५५, ५६ : कहिं पडिहमा सिद्धा ?, कहिं सिद्धा पडिहिया ? ।

कहिं कोटिह बहसाजं ?, कत्थं पण्णु सिद्धई ? ॥

अजोए पडिहमा सिद्धा, जोखने य पडिहिया ।

इहं कोटिह बहसाजं, तत्थं पण्णु सिद्धई ॥

है—कूटशास्मली ।^१

इतिहास के अनुसार यह देवकुरु में अवस्थित प्रसिद्ध वृक्ष है। यह भवनपति देवों का क्रीडा-स्थल है। अन्यान्य स्थानों से आकर सुपर्णकुमार देव यहां रमणक्रीडा का आनन्द अनुभव करते हैं।^२

चूनिहार ने 'कूटसामली' का प्रयोग किया है।^३ उत्तराध्ययन २०।३६ में भी 'कूटसामली' का प्रयोग है।^४

शास्मली सिम्बल वृक्ष का वाचक है।^५ इसकी अंग्रेजी में Silk-Cotton tree माना है।^६

६४. प्रसिद्ध है (जाते)

ज्ञात शब्द के दो अर्थ हैं—प्रसिद्ध अथवा उदाहरण। लोग सभी वृक्षों से इसे (शास्मली वृक्ष को) अधिक जानते हैं, इसलिए वह ज्ञात है। अथवा सभी वृक्षों में यह दृष्टान्तभूत है अतः वह ज्ञात है। अहो! यह वृक्ष सुन्दर है। सभव है यह सुदर्शना, जंबू या कूट शास्मली वृक्ष हो।^७

६५. नन्दनवन (जंजल)

सभी वनों में नन्दन-वन श्रेष्ठ है। वह प्रमाण की दृष्टि से भी बृहद् है और उपभोग सामग्री की दृष्टि से भी श्रेष्ठ है। वह देवताओं का प्रधान क्रीडा-स्थल है।^८

६६. सत्यप्रज्ञ (भूतिपञ्चे)

वैलें—छठे तथा पन्द्रहवें श्लोक का टिप्पण।

श्लोक १६ :

६७. मेघ का गर्जन (चरितं च...)

प्रावृद्धकाल में जल से भरे बादलों का गर्जन स्निग्ध होता है। शरद् ऋतु के नए बादलों का गर्जन भी स्निग्ध होता है। कहा भी है—शरद वन के गर्जन जैसे गंभीर मोव आते।^९

इतिहास ने इसे सामान्य मेघ का गर्जन माना है।^{१०}

१. काण, २।२७१, २३०, २३२; मा६४; १०।१३६। समवायार्ण मा५।

२. वृत्ति, पत्र १४८ : देवकुरुव्यवस्थितः शास्मलीवृक्षः, स च भवनपतिक्रीडास्थानम्। यत्र व्यवस्थिता अत्यतस्वागत्य ...रमणक्रीडा ...अनुभवन्ति।

३. चूनि, पृ० १४७ :कूटसामली।

४. उत्तराध्ययनार्ण, २०।३६ अप्या मे कूटसामली।

५. पद्यचन्द्रकोष, पृ० ४८४ : शास्मल—सिम्बल का वृक्ष।

६. आष्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

७. चूनि, पृ० १४७ : ज्ञायत इति सर्वबुद्धेस्त्वोऽधिका, सोकेनापि ज्ञातम्। अहवा ज्ञातं ज्ञाहरणं ति य एगटुं, सर्वबुद्धाणामपि वृष्टान्तभूता—अहो! अयं शोषणो बृक्षः ज्ञायते सुदर्शना जम्बू कूटसामली वेति।

८. चूनि, पृ० १४७ : नन्दन्ति तत्रेति नन्दनम्, सर्ववृक्षानां हि नन्दनं विशिष्यते प्रमाणतः पत्रोपगच्छुपभोगतश्च।

(अ) वृत्ति, पत्र १४८ : जलेषु च मध्ये यथा नन्दनं वनं देवानां क्रीडास्थानं प्रधानम्।

९. चूनि, पृ० १४७ : चरितंति चरिताः, प्रावृद्धकाले हि सज्जानां घनानां स्निग्धं गर्जितं जपति अभिनवशरद्घनानां च। उक्तं च—'शरत्तमिद्वचनितगंभीरघोषित'।

१०. वृत्ति, पत्र १४८ : 'सत्यमितं' मेघपरिचितम्।

६८. तारागण में चन्द्रमा (चंद्र व तारागण)

चन्द्रमा समस्त नक्षत्रों में महा प्रभावी है। वह समस्त व्यक्तियों को आनन्द देने वाली शक्ति से अनोरम है।^१

६९. चन्द्रमा (चंद्रमा)

वृत्तिकार ने दो प्रकार के चन्द्रों का उल्लेख किया है—^२

१. गोशीर्ष चन्दन।

२. मलय चन्दन।

वृत्तिकार ने गोशीर्ष पर्वत पर उत्पन्न चन्दन को 'गोशीर्ष चन्दन' और मलय पर्वत पर उत्पन्न चन्दन को 'मलय चन्दन' माना है। 'मलय' दक्षिण भारत की पर्वत-शृंखला है।^३

७०. अनासक्त (अप्रतिज)

वह व्यक्ति अप्रतिज होता है जो इहलोक और परलोक के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, अनासक्त है अर्थात् जो संपूर्ण अनासक्त है।^४

मुनि को अप्रतिज होना चाहिए। वह किसी के प्रति प्रतिबद्ध न हो। वह केवल आत्मा के प्रति ही प्रतिबद्ध रहे।

इलोक २० :

७१. स्वयंभू (सयंभू)

वृत्तिकार ने स्वयंभू का अर्थ—स्वयं उत्पन्न होने वाले अर्थात् देव किया है। जहाँ देव आकर रमण करते हैं वह समुद्र है—स्वयंभूरमण। यह समुद्र समस्त द्वीप और समुद्रों के अन्त में स्थित है।^५

७२. नागकुमार देवोंमें (नागोसु)

नागकुमारदेव भवनपति देवों की एक जाति है। वृत्तिकार के अनुसार नागकुमारों के लिए जल या स्थल—कुछ भी अगम्य नहीं रहता इसलिए वे 'नाग' कहलाते हैं।^६

७३. रसों में इक्षु रस ओष्ठ होता है (ओओबए वा रस-वेजयंते)

ओद का अर्थ है—इक्षुरस। जिस समुद्र का पानी इक्षुरस की तरह मीठा है, उसे ओदोदक कहा जाता है।^७

ओदोदक समुद्र रस-माधुर्य से सब रसों को जीत लेता है, इसलिए वह 'रसवेजयन्त' कहलाता है।^८ वृत्तिकार ने वैजयन्त

१. वृत्ति, पत्र १४६ : नक्षत्राणां मध्ये यथा चन्द्रो महानुभावः सकलजननिर्भृत्तिकारिण्या काम्या अनोरम ओष्ठः।

२. वृत्ति, पत्र १४६ : 'चन्द्रम' गोशीर्षकालयं मलयजं वा।

३. (क) पद्मचन्द्र कीर्ति, पृ० १८७ : गोशीर्षः (पर्वतः), तत्र आतस्वात्।

(ख) वही, पृष्ठ ३७६ : मलये पर्वते जायते।

(ग) आपटे, संस्कृत इंग्लिश शिक्काशरी।

४. (क) वृत्ति, पृ० १४७ : ओष्ठो मुनीनां तु अप्रतिजः। नास्तेहलोकं परलोकं वा प्रति प्रतिज्ज विद्यते इति अप्रतिजः।

(ख) वृत्ति पत्र १४६ : नास्ति प्रतिज्जा इहलोकपरलोकाऽऽसक्तिर्वा विद्यते इत्यप्रतिजः।

५. (क) वृत्ति, पत्र १४६ : स्वयं जयन्तीति स्वयंभूः—देवाः ते तत्राऽऽस्य रमन्तीति स्वयंभूरमणः।

(ख) वृत्ति, पृ० १४८।

६. वृत्ति, पृ० १४८ : न तेनां किञ्चिद्व्यसं वसं वा अपम्यमिति नाग।

७. (क) वृत्ति, पृ० १४८ : ओदोदकं नाम इक्षुरसोदकस्य समुद्रस्य, अथवा इहापि इक्षुरसो इक्षुर एव।

(ख) वृत्ति, पत्र १४६ : ओओबए इति इक्षुरस इदोदकं अस्य स इक्षुरसोदकः।

८. वृत्ति, पृ० १४८ :सर्वे रसे माधुर्येण विजयन्ते इति वैजयन्तः।

का अर्थ प्रधान या सभी समुद्रों में पताकाभूत किया है ।'

७४. तपस्वी मुनियों में (तहोबहाणे)

'तहोबहाणे' इस पाठ में दो पद हैं—'तहा' और 'उवहाणे' । वृत्ति में 'तहोबहाणे' पाठ व्याख्यात है । उपधान का प्रयोग स्वतंत्र भी होता है और तप के साथ में भी होता है । इसलिए 'तहोबहाणे' पाठ भी त्रुटिपूर्ण नहीं है । उत्तराध्ययन में दूसरे अध्ययन में 'तहोबहाणे' का और ग्यारहवें अध्ययन में 'उवहाणव' का प्रयोग मिलता है ।' आचारांग निर्युक्ति में बतलाया है— भगवान् महावीर अपने बल वीर्य को छिपाते नहीं थे, तप-उपधान में उद्यम करने थे ।' उपधान का शाब्दिक अर्थ है—आलम्बन । प्रस्तुत प्रकरण में उसका अर्थ है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप ।' उपधान का एक अर्थ—शास्त्राध्ययन के समय किया जाने वाला तप या उसका संकल्प भी होता है ।' किन्तु यहाँ यह अर्थ प्रस्तुत नहीं है ।

इलोक २१ :

७५. पशुओं में (मिगाणं)

मृग का अर्थ है—वन्यपशु ।'

७६. नदियों में (सलिलानं)

चूर्णिकार ने सलिला का अर्थ 'नदी' और वृत्तिकार ने 'पानी' किया है ।' यहाँ चूर्णिकार का अर्थ ही सगत लगता है ।

७७. वेणुदेव गरुड (वेणुदेवे)

'वेणुदेव' यह गरुड का दूसरा नाम है ।' चूर्णिकार ने इसे लोककूड मान कर इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ विनता का पुत्र वैनतेय किया है ।'

७८. निर्वाणवादियों में (निष्वाणवादी)

निर्वाणवादी अर्थात् भोक्षवादी । प्राचीन काल में दार्शनिक जगत् में दो परंपराएं मुख्य रही हैं—निर्वाणवादी परंपरा और स्वर्गवादी परंपरा । अमण परंपरा निर्वाणवादी परंपरा है । उसमें साधना का लक्ष्य निर्वाण है और वही उनका सर्वोच्च आदर्श है । भगवान् महावीर ने इस आदर्श को सर्वाधिक मूल्य दिया, इसलिए वे निर्वाणवादियों में श्रेष्ठ हैं ।'

१. वृत्ति, पत्र १४६ : वैजयन्तः प्रधानः स्वगुणैरपरसमुद्राणां पताकेवोपरि व्यवस्थितः ।

२. उत्तररत्नमाला २।४३ : तहोबहाणसाबाध ।

३. उत्तररत्नमाला ११।१४ : जोगवं उवहाणं ।

४. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २७७ :

अणिगूहियबलविरिओ तहोबहाणंनि उणजमइ ।

५. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २८१ : इवुबहाणं सयणे भावुबहाणं तहोवरित्तस ।

तम्हा उ नाणईसजतवजरणीह इहागहियं ॥

६. मूलाचार गाथा २८२ : आर्यबिल निब्बियडो वण्णं वा होवि जत्तस काइव्वं ।

तं तत्त करेमाणो उपहाणबुवो हववि एसो ॥

७. उत्तराध्ययन ११।२०, बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६ : मृगानाम्—आरण्यप्राणिनाम् ।

(क) वृत्ति, पत्र १४६ : सुगानां च श्वापमानाम् ।

८. वृत्ति, पृ० १४८ : सलिलवत्थः सलिलाः ।

९. वृत्ति पत्र १४६ : सलिलानां ... गङ्गासलिलं ।

१०. वृत्ति, पत्र १४६ : गदस्वान् वेणुदेवाऽपरनामा ।

११. वृत्ति, पृ० १४८ : वेणुदेवे लोककूडोऽयं शब्दः—विनताया अपत्यं वैनतेयः ।

१२. उत्तररत्नमाला २१।८०-८५ ।

श्लोक २२ :

७६. वासुदेव कृष्ण (वीससेने)

इसके संस्कृत रूप दो होते हैं—विश्वसेन और विश्वक्सेन । चूर्णिकार ने इस शब्द का व्युत्पत्तिकलम्ब अर्थ इस प्रकार किया है—विश्वा—अनेकप्रकारा सेना यस्य स भवति विश्वसेनः—जिसके पास हाथी, रथ, अश्व, पदाति—यह चतुरंग सेना हो वह विश्वसेन है । वह चक्रवर्ती हो सकता है ।^१

वृत्तिकार ने यही अर्थ मान्य किया है ।^२ चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ—विश्वक्सेन—वासुदेव किया है ।^३

वास्तव में चूर्णिकार का यह वैकल्पिक अर्थ ही सगत लगता है, क्योंकि चक्रवर्ती योद्धा नहीं होते । योद्धा होते हैं—वासुदेव । स्थानांग सूत्र में भी वासुदेव को ही 'युद्धशूर' बतलाया है ।^४

प्रस्तुत प्रकरण में भी विश्वक्सेन को श्रेष्ठ योद्धा बताया है, अतः विश्वक्सेन का अर्थ वासुदेव करना ही युक्तिसंगत लगता है ।

८०. दन्तवक्त्र (दंतवक्त्र)

चूर्णिकार ने इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—जिसके वाक्य से—बोलने से शत्रुओं का दमन होता है या जिसका वाक्य दान्त (संयमित) है वह दान्तवाक्य है ।^५

जिसके वाक्य से ही शत्रु शांत हो जाते हैं, वह दान्तवाक्य है—यह वृत्तिकार की व्युत्पत्ति है ।^६

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने चक्रवर्ती को दान्तवाक्य माना है ।^७

महाभारत सभाष्य ३२/३ में दन्तवक्त्र नामक क्षत्रिय का उल्लेख है । उसे राजाओं का अधिपति और महान् पराक्रमी माना है ।^८ इस कथन से दन्तवक्त्र की श्रेष्ठता ध्वनित होती है ।

प्रस्तुत प्रसंग में यही अर्थ सगत लगता है । चूर्णिकार और वृत्तिकार ने केवल शाब्दिक मीमांसा से वह अर्थ निकाला हो, ऐसा लगता है ।

निशीथ चूर्ण में दो स्थानों में दंतपुर के राजा दंतवक्त्र का उल्लेख हुआ है ।^९

श्लोक २३ :

८१. दानों में अभयदान प्रधान होता है (दाणाण सैद्धं अभयप्पयाणं)

सभी प्रकार के दानों में अभयदान श्रेष्ठ है । अभयदान प्राणकारी होने के कारण श्रेष्ठ है । कहा भी है—

१. चूर्ण, पृ० १४८ : विश्वा—अनेकप्रकारा सेना यस्य स भवति विश्वसेनः—हस्त्यश्व-रथ-पदात्याकुला विस्तीर्णा, स तु चक्रवर्ती ।

२. वृत्ति, पत्र १४६ : विश्वा—हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गजनसमेता सेना यस्य स विश्वसेनः—चक्रवर्ती ।

३. चूर्ण, पृ० १४८ : अथवा विश्वक्सेनः वासुदेवः ।

४. ठाणं, ४।३६७ : युद्धशूरे वासुदेवे ।

५. चूर्ण, पृ० १४८ : दन्त्यन्ते यस्य वाक्येन शत्रवः स भवति दान्तवाक्यः चक्रवर्ती, चक्रवर्तिनो हि शत्रवो बधसा दम्यन्ते, दान्तं वाक्यं यस्य स भवति दान्तवाक्यः ।

६. वृत्ति, पत्र १४६ : दान्ता—उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यः ।

७. (क) चूर्ण, पृ० १४८ : दान्तवाक्यः चक्रवर्ती ।

(ख) वृत्ति, पत्र १४६ : दान्तवाक्यः चक्रवर्ती ।

८. महाभारत, सभाष्य ३२।३ अमिराकाश्रियं जीव दन्तवक्त्रं महाबलम् ।

९. निशीथ भाष्य, चूर्ण भाग २ पृ० १६६ ; भाग ४ पृ० ३६१ ।

‘दीयते प्रियमावस्य कोटि जीवितमेव वा ।

अनकोटि न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति ॥’

एक ओर करोड़ों का धन है और एक ओर जीवनदान है तो मरता हुआ व्यक्ति करोड़ों के धन को छोड़कर जीवनदान चाहेगा, क्योंकि सभी जीना चाहते हैं ।’

वसन्तपुर नगर में अरिवसन नाम का राजा था । एक दिन वह अपनी चार रानियों के साथ क्रीड़ा करता हुआ प्रासाद के गवाक्ष में बैठा था । प्रासाद के नीचे से लोग आ-जा रहे थे । सबकी आंखें राजमार्ग पर लगी हुई थी । राजपुरुष एक चोर को पकड़ कर ला रहे थे । उस चोर के गले में लाल कनेर की माला थी । उसके सारे कपड़े लाल थे । उसके समूचे शरीर पर लाल चन्दन का लेप लगा हुआ था । उसके पीछे-पीछे उसके बघ की सूचना देने वाला ढिंढोरा पीटा जा रहा था । बाण्डाल उसे बघ-स्थान की ओर ले जा रहे थे । राजा ने देखा । रानियों ने उसे देखकर राजपुरुष से पूछा—‘इसने क्या अपराध किया है ? राजपुरुष ने कहा—‘इसने चोरी की है और राज-आज्ञा के विरुद्ध कार्य किया है । यह सुनकर रानियों का मन कृपा से भर गया । एक रानी ने कहा—‘आपने मुझे पहले एक वर दिया था । आज मैं उसे क्रियान्वित करना चाहती हूँ ताकि इस चोर का कुछ उपकार कर सकूँ ।’ राजा ने कहा—‘जैसी इच्छा हो वैसा करो ।’ उस रानी की आज्ञा से चोर को स्नान कराया गया । उसे उत्तम अलंकारों से अलंकृत कर हजार मोहरें देकर एक दिन के लिए ऐश-आराम करने की छुट दी ।

दूसरी रानी ने भी राजा से वर लिया और एक लाख मोहरें लब्ध कर, चोर को दूसरे दिन, सब प्रकार के भोग भोगने की छुट दी ।

तीसरी रानी ने तीसरे दिन के लिए कोटि-दीनार व्यय कर चोर को सुख भोगने की छुट दी ।

अब चौथी रानी की बारी थी । वह मौन थी । राजा ने कहा—‘तुम भी कुछ वर मांगो, जिससे कि तुम भी चोर को कुछ दे सको ।’ उसने कहा—‘प्रियवर ! मेरे पास ऐसी कोई संपत्ति नहीं है, जिससे कि मैं इस चोर का भला कर सकूँ ।’ राजा ने कहा—‘प्रियतमे ! ऐसी क्या बात है ? मैं अपना सारा राज्य तुम्हें देता हूँ और स्वयं भी तुम्हारे लिए अर्पित हूँ । तुम जो चाहो वह उस चोर को दो ।’ रानी ने उस चोर को अभयदान दिया, जीवनदान दिया । चोर मुक्त हो गया ।

चारों रानियाँ परस्पर कलह करने लगी । प्रत्येक रानी यह मानती थी कि उसने चोर का अधिक उपकार किया है । तीनों ने चौथी की मजाक करते हुए कहा—‘तुमने चोर को दिया ही क्या है ? तुम जैसी कृपण दे भी क्या सकती है ? चौथी रानी ने कहा—‘मैंने ही सबसे अधिक उपकार किया है ।’ परस्पर कलह होने लगा । राजा ने चोर को बुलाकर पूछा—‘तुम्हारा अधिक उपकार किसने किया है ?’ चोर ने कहा—‘राजन् ! मैं मरण-भय से अत्यन्त भीत था । आकुल-व्याकुल था । मुझे स्नान आदि कराया गया, अलंकरण पहनाए गए, भोग सामग्री प्रस्तुत की गई, किन्तु मेरा मन भय से आक्रान्त रहा । मुझे तनिक भी सुख की अनुभूति नहीं हुई । किन्तु जब मैंने सुना कि मुझे अभयदान मिला है, जीवनदान मिला है, मैं अत्यन्त आनन्द से भर गया और माना कि मेरा नया जन्म हुआ है ।’

८२. अनवद्य वचन (अनवद्यवचनं)

जो दूसरों के लिए पीड़ाकारक न हो वह अपापकारी अनवद्य वचन होता है ।^१

सत्य वचन सबसे श्रेष्ठ है । किन्तु जो सत्य पर-पीड़ाकारक होता है वह ग्राह्य नहीं होता । जो पर-पीड़ाकारक नहीं होता, वैसा सत्य ग्राह्य होता है । सत्य भी गहिर्त होता है, यदि वह पर-पीड़ाकारक हो । जैसे—काने को काना कहना, नपुंसक को नपुंसक कहना, रोगी को रोगी कहना और चोर को चोर कहना । यद्यपि ये सारे कथन सत्य हैं, किन्तु इनको सुनने वाला व्यक्ति व्यथा का अनुभव करता है, इसलिए यह सत्य भी गहिर्त है ।^२

१. (क) बृत्ति, पृ० १४४ ।

(ख) वृत्ति, पृ० १४० ।

२. (क) बृत्ति, पृ० १४६ : अनवद्यमिति यद्यप्येवामनुपरोक्षकृतं ।

(ख) वृत्ति, पृ० १४० : ‘अनवद्यम्’ अपापं परपीडानुत्पादकम् ।

३. (क) बृत्ति, पृ० १४६ ।

(ख) वृत्ति, पृ० १४० ।

८३. तपस्या में (तपेसु)

जो तपस्या करता है उसका शरीर भी सुन्दर और मनमोहक हो जाता है। सभी प्रकार की तपस्याओं में ब्रह्मचर्य उत्तम है।^१ ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वस्ति-नियमन ही नहीं है, ब्रह्म—आत्मा में रमण करना ही इसका प्रमुख अर्थ है।

८४. भ्रमण ज्ञातपुत्र लोक में प्रधान हैं (लोमुत्तमे समणे जायपुत्ते)

भ्रमण ज्ञातपुत्र लोक में रूप संपदा से, अतिशायिनी शक्ति से, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन से तथा अवन्त चारित्र से उत्तम हैं।^२

८५. (ठितीण.....लवससत्ता)

स्थिति का अर्थ है—आयुष्य की काल-मर्यादा।

अनुत्तरोपपातिक देवों के आयुष्य की काल-मर्यादा सबसे अधिक होती है। उन्हें लवसप्तम इसलिए कहा जाता है कि यदि उनकी आयुष्य सात लव अधिक हो पाती तो वे उसी जीवन में केवली होकर मुक्त हो जाते।^३

जैन परम्परा में एक लव $३७\frac{३१}{७७}$ सेकेण्ड का माना गया है।^४

८६. सुधर्मा सभा (सुधम्मा)

स्थानाग सूत्र में देवताओं के पांच प्रकार की सभाएं मानी गई हैं—^५

- | | |
|-----------------|------------------|
| १. सुधर्मा सभा। | ४. अलंकारिक सभा। |
| २. उपपात सभा। | ५. व्यवसाय सभा। |
| ३. अभिवेक सभा। | |

चूर्णिकार का अभिमत है कि इन पांचो सभाओं में सुधर्मा सभा नित्य काम में आती है। वहाँ माणवक, इन्द्रध्वज, आयुध-शाला, कोशागार तथा चोपालग होते हैं। अन्य सभाओं में वे नहीं होते। अतः वह सब में श्रेष्ठ है।^६

वृत्तिकार का अभिमत है कि सुधर्मा सभा अनेक क्रीडास्थानों से युक्त है, अतः वह श्रेष्ठ है।^७

बौद्ध परंपरा के अनुसार मेरु पर्वत के पूर्वोत्तर दिशा में सुधर्मा नाम की देवसभा है जहाँ देव प्राणियों के कृत्य-अकृत्य का सप्रधारण करते हैं। माना जाता है कि पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा-अमावस्या को देवसभा होती है।^८

८७. सब धर्मों में निर्वाण श्रेष्ठ है (णिब्बानसेट्ठा जह सब्बधम्मा)

चूर्णिकार ने श्रेष्ठ का अर्थ—फल या प्रयोजन और वृत्तिकार ने प्रधान किया है।

१. जूजि, पृ० १५० : वेन तपोनिष्ठप्लवेहस्यापि मोहनीयं भवति, तेन सर्वतपसा उत्तमं ब्रह्मचर्यम्।

२. वृत्ति, पत्र १५० : सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा—सर्वातिशायिन्या सत्तया आधिकज्ञानवर्णानाम्या शीलेन च 'ज्ञातपुत्रो' भगवान् भ्रमणः प्रधान इति।

३. जूजि, पृ० १५० : जे सब्बुक्कोसियाए ठितीए बट्टति अनुत्तरोपपायिता ते लवससत्ता इत्यवविरमन्ते, जति नं तेसि देवानं धृतियं कालं आउए पट्टप्यंते सो केवलं पाबिऊय सिउभंता।

४. जगुयोगद्वारादं, सूत्र ४१७; केनेन्द्र सिद्धास कोस, भाग २ पृष्ठ २१६।

५. ठाणं, ५:२३५ चमरबंवाए रावहासीए पंच सत्ता पण्यत्ता, तं जह्वा—सत्तासुधम्मा, उवजातसत्ता, अभिवेयसत्ता, अलंकारियसत्ता, व्यवसायसत्ता।

६. जूजि, पृ० १४६ : पंचण्हं पि सभारं सत्ता सुधम्मा विसिद्धा, ता हि नित्यकालमेवोपयुज्यन्ते, तत्थ माणवग-महिद्वज्जय-वहरण-कोसचोपाला, य तत्ता इतरासु नित्यकालोपयोयः।

७. वृत्ति, पत्र १५० : सभारतां च पर्वदा च मध्ये यथा लोचनार्धियपर्वण्णुठ्ठा बहुभिः कीडास्थानेण्येत्तात्।

८. अभिजर्ज कोस पृ० १४४।

यहाँ धर्म का अर्थ—मत या दार्शनिक परम्परा है। सभी धर्म वाले (निर्वाणवादी परंपरा को स्वीकार करने वाले) निर्वाण (मोक्ष) की ही आकांक्षा करते हैं। वे अपने दर्शन का प्रयोजन निर्वाण की प्राप्ति ही मानते हैं।^१

श्लोक २५ :

८८. श्लोक २५

बुद्धिकार और वृत्तिकार ने प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त पुढोवमे, घुणती, विगयगेही आदि शब्दों के वाच्यार्थ को अलग-अलग मान कर स्वतंत्र व्याख्या की है। उनके अनुसार इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार है—

पुढोवमे—पृथ्वी सर्वसहा है। भगवान् महावीर भी उसकी भांति सर्वसह थे—सभी प्रकार के परीषह और उपसर्गों को सम्यक् रूप से सहते थे। अथवा जैसे पृथ्वी समस्त प्राणियों के लिए आधारभूत है उसी प्रकार भगवान् महावीर भी अभयदान या सद्गुणपदेश के कारण समस्त प्राणियों के आधार थे।^२

घुणती—आठ प्रकार के कर्मों को प्रकंपित करने वाले, कर्मों का अपनयन करने वाले।^३

विगयगेही—बाह्य या आन्तरिक वस्तुओं के प्रति अनासक्त।^४

सन्निधि—सन्निधि का अर्थ है—संग्रह। द्रव्य सन्निधि, धन-धान्य आदि है और भाव सन्निधि है—कषाय क्रोध आदि।^५

बुद्धिकार ने सन्निधि का वैकल्पिक का अर्थ कर्म किया है। वीतराग के कर्म का सांपरायिक बन्ध होता है।^६

हमने इनकी व्याख्या कार्य-कारणभाव के आधार पर की है।

भगवान् महावीर पृथ्वी के समान सहिष्णु थे, इसलिए उन्होंने कर्म-शरीर को प्रकंपित किया। वे अनासक्त थे, इसलिए उन्होंने संग्रह नहीं किया।

सहिष्णुता कर्मों के अपनयन का मुख्य हेतु है। जो सहिष्णु नहीं होता वह समभाव नहीं रख सकता। राग-द्वेष से कर्मों का बंध होता है।

संग्रह करने का एकमात्र हेतु है गृद्धि, आसक्ति। जो आसक्त नहीं होता, अनासक्त होता है, वह सर्वत्र सतोष का अनुभव करता है। संतुष्ट व्यक्ति संग्रह नहीं करता। वह अभाव में भी व्याकुल नहीं होता।

महामवोध—

बुद्धिकार ने इसका अर्थ कर्म-समुद्र^७ और वृत्तिकार ने संसार-समुद्र किया है।^८

१ (क) बुद्धि, पृ० १४६ : निगबान्जोष्ठा हि सर्वधर्मा, निर्वाणफला निर्वाणप्रयोजना इत्यर्थः, कुप्रावचनिका अपि हि निर्वाणमेव कारुण्ये इति।

(ख) वृत्ति, पत्र १५० : निर्वाणजोष्ठाः मोक्षप्रधाना भवन्ति, कुप्रावचनिका अपि निर्वाणफलमेव स्वदर्शनं ब्रूयते।

२. (क) बुद्धि, पृ०-१४६ : जथा पुढवी सम्बफाससहा तथा सो वि।

(ख) वृत्ति, पत्र १५१ : स हि भगवान् यथा पृथिवी सकलाऽऽधारा वर्तते तथा सर्वसत्त्वानामभयप्रदानता सद्गुणपदेशानां सत्त्वाऽऽधार इति, यत्र वा यथा पृथ्वी सर्वसहा एवं भगवान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहति इति।

३ (क) बुद्धि, पृ० १४६ : घुणती अष्टप्रकारं कर्मेति वाक्यशेषः।

(ख) वृत्ति पत्र १५१ : घुणति अपनययष्टप्रकारं कर्मेति शेषः।

४. (क) बुद्धि, पृ० १४६ : बाह्य-ऽऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु विगता यस्य प्रेक्षी स भवति विगतप्रेक्षी।

(ख) वृत्ति पत्र १५१ : विगता प्रलीना सबाह्याऽऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु 'गृद्धिः' गार्ह्यमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः।

५ (क) बुद्धि, पृ० १४६ : सन्निधामं सन्निधिः, द्रव्ये आहारादीनाम्, भावे क्रोधादिनाम्।

(ख) वृत्ति, पत्र १५१ : सन्निधामं सन्निधिः, स च द्रव्यसन्निधिः अनद्याग्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदरूपः भावसन्निधिस्तु माया कोशादयो वा सामान्येन कथायाः।

६. बुद्धि पृ० १४६ : कर्म वा सन्निधिः, यत् सांपरायिकं बध्नातीत्यर्थः।

७. बुद्धि, पृ० १४६ : महामवोध.....कर्मसमुद्रः।

८. वृत्ति, पत्र १५१ : महामवोधं चतुर्गतिकं संसारसागरम्।

८६. अनन्त वस्तु (अनन्तवस्तु)

सूत्रिकार ने इसका अर्थ—अनन्त दर्शन वाला^१ और वृत्तिकार ने केवलज्ञानी^२ किया है। जो अनन्तदर्शनी होता है वह अनन्तज्ञानी भी होता है और जो अनन्तज्ञानी होता है वह अनन्तदर्शनी भी होता है। दोनों युगपत् होते हैं।

देखें—श्लोक ६ का टिप्पण।

श्लोक २६ :

६०. अध्यात्म दोषों का (अध्यात्मदोषा)

दोष दो प्रकार के होते हैं—^३

१. बाह्य दोष।

२. अध्यात्म दोष—आन्तरिक दोष। कषाय-चतुष्क आन्तरिक दोष हैं।

ये चार कषाय—क्रोध, मान माया और लोभ ससार की स्थिति के मूल कारण हैं। जब कारण का विनाश होता है तब कार्य का भी विनाश हो जाता है। 'निदानोच्छेदेन निदानिन उच्छेदो भवति।'^४

जब चारो कषाय नष्ट हो जाते हैं तब व्यक्ति निर्वाण के निकट पहुंच जाता है।

अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा के भीतर होने वाला। गुण और दोष—दोनों अध्यात्म हो सकते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार ताप आध्यात्मिक भी होता है।^५

श्लोक २७ :

६१. श्लोक २७ :

प्रस्तुत श्लोक में चार वादों का उल्लेख है—

१. क्रियावाद—आत्मवाद। क्रिया से मोक्ष-प्राप्ति मानने वाला दर्शन।

२. अक्रियावाद—ज्ञानवाद। वस्तु के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष मानने वाला दर्शन।

३. वैतयिकवाद—विनय से ही मोक्ष मानने वाला दर्शन।

४. अज्ञानवाद—अज्ञान से इहलोक और परलोक की सिद्धि मानने वाला दर्शन।

इन चारों वादों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखें—(१) बारहवां अध्यायन तथा उसके टिप्पण। (२) उत्तरउभयपाणि १८।२३ का टिप्पण।

१. सूत्रि, पृ० १४६ : अनन्तवस्तुरिति अनन्तदर्शनवान् ।

२. वृत्ति, पत्र १५१ : 'अनन्तम्' अपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वात् आनन्तं वस्तुरित्य वस्तु—केवलज्ञानं यस्य स तथेति ।

३. सूत्रि, पृ० १४६ : आध्यात्मिका इत्येते बोधाः, बाह्या गृहादयः ।

४. वृत्ति, पत्र १५१ : निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवतीति व्याप्तात् संसारस्थितेश्च क्रोधादयः कषायाः कारणमत एतान् अध्यात्मदोषांश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषायांन् ।

५. सांख्यकारिका १।१, अनुराधाव्याख्या, पृ० २ : आत्मनि इति अध्यात्मं, तद्विहितं चावमानमाध्यात्मिकम् । वही पृष्ठ ३, नं १ के फुटनोट में उद्धृत, विष्णुपुराण १।५।६ :

मानसोऽपि द्विजथेष्ट !, तापो भवति नैकधा ।

इत्येवमाविभिर्भेदैस्तापो, ह्याध्यात्मिको मतः ॥

वैनयिक के साथ 'अनुवाद' शब्द का प्रयोग है। चूर्णिकार का अभिमत है कि द्वादशांग गणिपिटक बाध है और शेष तीन-संतिरसठ मत 'अनुवाद' हैं। अनुवाद का एक अर्थ 'थोड़ा' भी हो सकता है।

१२. पक्ष का निर्णय किया (पश्चिच्छ ठाणं)

यहाँ स्थान का अर्थ है—पक्ष, मत। अर्थात् चारों वादों को—पक्षों को जानकर—उनकी प्रतीति कर।

१३. जानकर (वेयइत्ता)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—जानकर' और वृत्तिकार ने—दूसरों को वस्तु के स्वरूप की जानकारी देकर—किया है।

१४. दीर्घरात्र (यावज्जीवन तक) (दीहारायं)

दीर्घरात्र का अर्थ है यावज्जीवन। 'रात्र' शब्द काल का द्योतक है। लंबा काल अर्थात् जीवन-पर्यन्त।

श्लोक २८ :

१५. तपस्वी (उवहाज्जं)

भगवान् महावीर ने केवल आश्रय का ही निरोध नहीं किया था, वे अपने पूर्व कर्मों के विनाश के लिए तपस्या भी करते थे।

देखें—श्लोक २० का टिप्पण।

१६. वर्जन किया (वारिया)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने माना है कि भगवान् ने स्वयं पहले मैथुन तथा रात्रीभोजन का परिहार किया और फिर उसका उपदेश दिया। जो व्यक्ति स्वयं धर्म में स्थित नहीं है, वह दूसरों को धर्म में स्थापित नहीं कर सकता।

आचार्यसूत्र के नीचे अध्ययन में भगवान् महावीर की गृहस्थचर्या और मुनि-चर्या-दोनों का वर्णन है। चूर्ण की व्याख्या में यह स्पष्ट निर्देश है कि भगवान् विरक्त अवस्था में अप्रासुक आहार, रात्रीभोजन और अन्नह्यचर्य के सेवन का वर्जन कर अपनी चर्या

१ चूर्ण, पृ० १५० : बुद्धात्तसंगं गणिपिटकं बाधो, सेसाणि तिग्णि तिसट्ठाणि अनुवाहो, षोडं वा अनुवाहो।

२ वृत्ति, पत्र १५१ : स्वार्थं पक्षमभ्युपगतमित्यर्थः, ... प्रतीत्य परिच्छिद्य सम्यग्बुद्ध्येत्यर्थः।

३ चूर्ण, पृ० १५० : वेदमित्वा ज्ञात्वेत्यर्थः।

४ वृत्ति, पत्र १५२ : अपरान् सत्त्वान् यथावस्थिततत्त्वोपदेशेन 'वेदमित्वा' परिज्ञाप्य।

५ (क) चूर्ण, पृ० १५० : दीहारात् नाम जावज्जीवाए।

(ख) वृत्ति, पत्र १५२ : दीर्घरात्रम् इति यावज्जीवम्।

६ चूर्ण, पृ० १५० : उपधानवानिति न केवल निवृत्ताश्रयः, पूर्वकर्मक्षयार्थं तपोपधानवानप्यसौ।

७ (क) चूर्ण, पृ० १५० : वारिया नाम वारयित्वा, प्रतिवेध्यते च। इत्थिग्रहणे तु मैथुनं गृह्यते। सराइमस्ते त्ति वारयित्वेति वसंते, एतच्चाऽऽत्मनि वारयित्वा, न ह्युत्थितः स्थापयतीति कृत्वा, परचात् सिध्यन् वारितवान्, अद्वितो न छवेति परं। ... सर्वस्मादकृत्वावात्मानं शिष्याश्च वारितवानिति।

(ख) वृत्ति, पत्र १५२ : एतदुक्तं भवति प्राणातिपातमिच्छादिकं स्वतोऽनुष्ठाय पराश्रयं स्थापितवान्, न हि स्वतोऽस्वितः वारित्वं स्थापयितुमलमित्यर्थः, तदुक्तम्—

अुवाहोऽपि ग्यायं स्व वसनविकृतं व्यवहरन्,
पराश्रालं कश्चिद्व्ययितुमवाप्तः स्वयमिति।
अवाप्तविकृत्यं मनसि जगवाधाय सकलं,
स्वभात्मानं तावद्व्ययितुमवाप्तं व्यवसितः॥

बलाते थे ।^१

इसकी व्याख्या दूसरे नय से भी की जा सकती है । भगवान् महावीर से पूर्व भगवान् पार्श्व चतुर्थीय धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे । उसमें स्त्री-त्याग या ब्रह्मचर्य तथा रात्रि-भोजन-विरति—इन दोनों का स्वतंत्र स्थान नहीं था । भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत धर्म का प्रतिपादन किया । उसके साथ छठे रात्री भोजन-विरति व्रत को जोड़ा । ये दोनों भगवान् महावीर द्वारा दिए गए आचारसास्त्रीय विकास हैं । प्रस्तुत श्लोक में उसी की जानकारी दी गई है ।

६७. साधारण और विशिष्ट (अपरं परं)

चूणिकार ने दो प्रकार के लोक माने हैं—^२

१. अपरलोक—मनुष्यलोक ।

२. परलोक—नरकलोक, तिर्यञ्चलोक और देवलोक ।

वृत्तिकार ने इसके स्थान पर 'आर पर' या 'आर पार' शब्द मान कर 'आरं' का अर्थ इहलोक, मनुष्यलोक और परं या पार का अर्थ परलोक, नारक आदि लोक किया है ।^३

वस्तुतः ये अर्थ केवल शाब्दिक हैं । पूरे प्रसंग के संदर्भ में अपर का अर्थ साधारण लोग और पर का अर्थ विशिष्ट लोग होना चाहिए । मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—अव्युत्पन्न और व्युत्पन्न अथवा अज्ञ और विज्ञ । अज्ञ मनुष्य संक्षेप को समझ नहीं पाते । उनके लिए विस्तार आवश्यक होता है । विज्ञ के लिए विस्तार अपेक्षित नहीं होता । चतुर्थीय धर्म अल्प विभाग वाला प्रतिपादन था । अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—दोनों एक हैं—यह बात विज्ञ के लिए सहजगम्य हो सकती है, किन्तु अज्ञ मनुष्य इसे नहीं समझ सकता । इस बुद्धि-अमता को ध्यान में रखकर भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य महाव्रत को अपरिग्रह महाव्रत से पृथक् कर दिया । इसी प्रकार रात्रीभोजनविरति व्रत को अहिंसा महाव्रत से पृथक् कर दिया ।

अपर और पर के विभाग की पुष्टि केशी-गीतम मवाद से भी होती है । वहाँ इस विभाग के कारण ऋजु-जड और वक्र-जड तथा ऋजु-प्रज्ञ पुरुष बतलाए गए हैं ।^४ ऋजु-जड और वक्र-जड अपर श्रेणी के लोग हैं और ऋजु-प्रज्ञ पर श्रेणी के लोग हैं ।

६८. सर्ववर्जो प्रभु नेवर्जन किया (सर्वं . . .सर्ववारी)

चूणिकार ने सर्ववारी का अर्थ—सब वर्जनीयो का वर्जन करने वाला किया है ।^५ वृत्तिकार ने 'सर्ववारी' पाठ मान कर उसका अर्थ—बहुशः किया है ।^६

मज्झिमनिकाय (उपालिसुत्त ८) में भगवान् महावीर को चातुर्थीय सवरसंबृत, सर्ववारिवारित, सर्ववारिधुत और सर्ववारि-स्पृष्ट बतलाया है । मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा में 'सर्ववारिवारितो' के दो अर्थ किए हैं—^७

१. वारितसम्बद्धक—जिसने सभी प्रकार के पानी के विषय में संयम कर लिया है ।

२. सर्वेन पापवारणेन वारितपापो—सर्व पाप को वारित करने के कारण पापो का वारण करने वाला ।

माई. बी. हॉरनर ने मज्झिमनिकाय के अनुवाद में उपरोक्त चारों पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—^८

१. आचारानि चूणि, पृ० २६८ : अफासुयं आहारं राहभसं च न आहारंते बंजवारी ।

२. चूणि, पृ० १५० : अपरो लोको मनुष्यलोकः, परस्तु नरक-तिर्यग्-देवलोकः ।

३. वृत्ति, पृ० १५२ : आरम् इहलोकाद्यं परं परलोकाद्यं अत्र वा—आरं—मनुष्यलोक पारमिति—नारकादिकम् ।

४. उत्तरजयणाणि, २३।२६ : पुरिसा उज्जुज्झा उ बंजज्झा य पञ्चिमा ।

मज्झिमा उज्जुपप्पा य तेपं अस्मे बुहा कए ॥

५. चूणि पृ० १५० : सर्वस्मादुत्थावारानां सिध्दारव वारितवारिति सर्ववारी, सर्ववारणसोऽन इत्यर्थः ।

६. वृत्ति, पृ० १५२ : सर्ववारी बहुशः ।

७. मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा, III, ५८ ।

८. Middle Length Saying II Pages ४१, ४२ ।

सम्बवारिवारितो—He is wholly restrained in regard to water.

सम्बवारियुतो—He is bent on warding off all evil.

सम्बवारिधुतो—He has shaken off all evil.

सम्बवारिफुटो—He is permeated with the (warding off) all evil.

मज्झिमनिकाय का यह प्रसंग भ्रान्तिपूर्ण है। भगवान् पार्श्व के शासन में चतुर्याम धर्म प्रचलित था। भगवान् महावीर ने पाँच महाव्रत, सवर या शिखा का निरूपण किया था। जो पाँच संवरों से सवृत होता है वह 'सर्ववारी' कहलाता है। 'पञ्चसवर-संवृत' का जल्लेख प्रस्तुत आगम के प्रथम अध्ययन में मिलता है। यहाँ 'वारी' शब्द का प्रयोग संवर के अर्थ में किया गया है। 'सर्ववारी' अर्थात् प्राणातिपात, मृदावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रीभोजन—इन सबका संवर करने वाला।

इसोक २६ :

६६. समाधान देने वाले (समाहियं)

इसका अर्थ है—समाहित करने वाला, समाधान देने वाला। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सम्यग् आख्यात, सम्यक् रूप से प्ररूपित किया है।

१००. अर्थ और पद से बिगुद्ध (अट्टपवोवसुद्धं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

(१) जिसके पद अर्थवान् होते हैं वह अर्थपद कहलाता है। उससे शुद्ध धर्म।

(२) अर्थों और पदों से उपेत होने के कारण शुद्ध धर्म।

वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) सयुक्तिक या सहेतुक।

(२) अभिधेय और वाचक के द्वारा उपशुद्ध।

१०१. श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर (सद्दहंताऽय)

इसमें दो शब्द हैं—सद्दहता और आदाय। प्राकृत व्याकरण के अनुसार इन दोनों पदों में सन्धि हुई है और वणं (दा) का लोप हुआ है।

इसका अर्थ है—श्रद्धापूर्वक स्वीकार करके।

१ उत्तरकलपजाणि, २३।२६ : बाउल्लज्जामो य ओ अम्मो ओ इमो पंचसिक्खिओ ।

हेसिओ बद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥

२. सूच्यशब्दो, १।१।८८ ।

३. चूर्ण, पृ० १५० : वारितवान् शिष्याम् हिंसा-ऽमृत-स्तेय-परिग्रहेभ्य इति, सेचुन-रात्रिभक्ते तु पूर्वोक्ते ।

४. (क) चूर्ण, पृ० १५० : सम्यग् आहितः समाहितः, सम्यगाख्यात इत्यर्थः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५२ : सम्यगाख्यातम् ।

५. चूर्ण, पृ० १५० : अत्यर्थंति पदानि, अथवाऽर्थेयं पदैरथ उपेत्य शुद्धम् ।

६. वृत्ति, पत्र १५२ : अर्थपदानि—युक्तयो हेतवो वा नैवपशुद्धम्—अवभातं सयुक्तिकं सहेतुकं वा यदि वा अर्थः—अभिधेयोः पदैरथ-वाचकैः सम्बन्धः उप—समीप्येण शुद्धं—निर्वोचम् ।

७. चूर्ण, पृ० १५० : सद्दहंताऽय..... श्रद्धापूर्वकमादाय ।

१०२. मुक्त (अनायुः.....)

अनायु अर्थात् आयुष्य से रहित, मुक्त, सिद्ध । इसका तात्पर्य है कि जो व्यक्ति अहंभक्ति धर्म का सम्यक् अनुपालन करता है, उसकी दो स्थितियाँ हो सकती हैं । वह या तो अनायु हो जाता है, जन्म-मरण से छूट कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है अथवा अगले जन्म में देवाधिपति इन्द्र होता है ।

देखें— ६।५ का टिप्पण ।

१. (क) बुद्धि पृ० १५० : अत्र तु न सिद्धमिति ते इवा नर्हति देवाधिपतयः आगमिष्यति आगमिस्तेन सर्वेण सुकुलुप्स्येति सिद्धिर्भवति ।

(ख) बुद्धि, पृ० १५२ ।

सततं अज्ज्ञायतां
कुसोलपरिभासितं

सातवां अध्यायन
कुसोल-परिभासित

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'कुशील-परिभाषित' है।^१ इसमें कुशील के स्वभाव, आचार-व्यवहार, अनुष्ठान और उसके परिणाम को समझाया गया है। चूर्णिकार के अनुसार इसमें कुशील और सुशील—दोनों परिभाषित हैं।^२ जिनका शील—आचार या चारित्र्य धर्मानुकूल नहीं है, वे कुशील कहलाते हैं। मुख्यतः कुशील चार प्रकार के हैं—

१. परतीर्थिक कुशील—अन्य धर्म संप्रदायों के शिथिल साधु।
२. पार्श्वपत्निक कुशील—पार्श्व की परंपरा के शिथिल साधु।
३. निर्ग्रन्थ कुशील—महावीर की परंपरा के शिथिल साधु।
४. गृहस्थ कुशील—अशील गृहस्थ।

इसमें कुशील का वर्णन ही नहीं, सुशील का वर्णन भी प्राप्त है। इसमें तीस श्लोक हैं। उनका वर्ण्य-विषय इस प्रकार है—

श्लोक १ से ४— सामान्यतः कुशील के कार्य और परिणाम।

- ५-६ पाषण्ड कुशीलों का वर्णन।
- १०-११ कुशील का फल-विपाक
- १२-१८ कुशील वर्णनों की मान्यताओं का निरूपण
- १९-२० कुशील वर्णनावलंबियों का फल-विपाक
- २१ निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कुशील का लक्षण।
- २२ सुशील का अनुष्ठान।
- २३-२६ पार्श्वस्थ कुशीलों का आचार-व्यवहार।
- २७-३० सुशील के मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिपादन।

'शील' शब्द के चार निक्षेप हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—

द्रव्यशील— जो केवल आदतन क्रिया करता है, उसके फल के प्रति निरपेक्ष होता है, वह उसका शील है, जैसे—कपड़ा ओढ़ने का प्रयोजन प्राप्त न होने पर भी जो सदा कपड़े ओढ़े रहता है, या जिसका ध्यान कपड़ों में केन्द्रित रहता है, वह प्रावरणशील कहलाता है। इसी प्रकार मण्डनशील स्त्री, भोजनशील, स्निग्ध भोजनशील, अर्जनशील आदि द्रव्यशील के उदाहरण हैं।^३

द्रव्यशील का दूसरा अर्थ है—चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वभाव। जैसे—मादकता मदिरा का स्वभाव है और मेघा-वर्धन और सुकुमारता भी का स्वभाव है।^४

भावशील के मुख्यतः दो प्रकार हैं—

१. ओषभावशील—पाप कार्यों से संपूर्ण विरत अथवा विरत-अविरत।
२. अभीक्ष्ण्यसेवनाशील—निरंतर या बार-बार शील का आचरण करने वाला।

भावशील के दो प्रकार और होते हैं—

१. प्रशस्त ओषभावशील—धर्मशील।
- अप्रशस्त ओषभावशील—पापशील।

१. चूर्णिक, पृ० १५१ : इदानीं कुशीलपरिभाषितं ति।

२. वही, पृष्ठ १५१ : ...अथ कुशीला सुशीला य परिभाषितवन्ति।

३. वृत्ति, पत्र १५२ : कुशीलाः—परतीर्थिकाः पार्श्वस्थावयो वा स्वगुण्या अशीलाश्च गृहस्थाः।

४. निर्गुणित्वाया, ७१ : सीले चतुष्क वच्चे पावरणा-अवरण-ओषणादीषु।

५. चूर्णिक, पृ० १५१।

६. वही पृष्ठ १५१ : यो वा अस्य द्रव्यस्य स्वभावः तद् द्रव्यं तच्छीलं भवति, यथा—मदनशीला मदिरा, मेघ्यं यत् सुकुमारं चेत्यादि।

२. प्रशस्त-आभीक्ष्ण्य-सेवनाशील—ज्ञानशील, तपः शील ।

अप्रशस्त-आभीक्ष्ण्य-सेवनाशील—क्रोधशील, मानशील, मायाशील, लोभशील, चोरणशील, पानशील, पिशुनशील, परोपतापनशील, कलहशील आदि ।

निर्युक्तिकार ने स्वयं सुशील और कुशील का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्रस्तुत किया है । सुशील और कुशील में प्रयुक्त प्रथम वर्ण 'सु' और 'कु' निपात शब्द हैं । 'सु' प्रशंसार्थक, शुद्धि-अर्थक निपात है और 'कु' जुगुप्सार्थक, अशुद्धि-अर्थक निपात है । जैसे—सौराज्य का अर्थ है—अच्छा राज्य और कुग्राम का अर्थ है—बुरा गाव । इसी प्रकार सुशील का अर्थ है—अच्छे आचरण वाला और कुशील का अर्थ है—बुरे आचरण वाला ।

अप्रासुक आहार का उपभोग करने के आधार पर निर्युक्तिकार ने नामोल्लेखपूर्वक पांच प्रकार के कुशीलों का प्रतिपादन किया है । महाबीरकालीन इन धर्म-संप्रदायों के आचार का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है । चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इनके आचार का कुछ विस्तार से वर्णन किया है—

१. गौतम —ये मशकजातीय धर्म-संप्रदाय के सन्यासी शौचव्रतिक होते हैं । ये बैल को नाना प्रकार से प्रशिक्षित करते हैं और फिर उसके साथ घर-घर में जाकर बैल की तरह रहभाते हैं और अपने हाथ में रहे हुए छाज (सूर्य) में धान्य इक्कट्टा करते हैं । ये ब्राह्मण-सुल्य जाति के होते हैं ।

२. चंडीदेवगा —ये प्रायः अपने हाथ में चक्र रखते हैं । चूर्णिकार ने इसके स्थान पर 'रंडदेवगा' शब्द माना है ।

३. बारिभद्रक —ये पानी पर छाने वाली शंखाल—काई खाते हैं, हाथ पर आदि बार-बार धोते हैं, बार-बार स्नान और आचमन करते हैं और तीनों संध्याओं में जल में डुबकियां लेते हैं ।

४. अग्निहोमवादी—विभिन्न प्रकार के तापस और ब्राह्मण हवन के द्वारा मुक्ति बतलाते थे । वे मानते थे कि जो व्यक्ति स्वर्ग आदि फल की आकांक्षा न करता हुआ समिधा, घृत आदि हव्य-विशेष के द्वारा अग्नि का तृप्त करता है, हवन करता है वह मोक्ष के लिए वैसा करता है । जो किसी आकांक्षा से हवन करता है वह अपने अम्युदय को सिद्ध करता है । जैसे अग्नि स्वर्ण मल को जलाने में समर्थ है, वैसे ही वह (अग्नि) मनुष्य के आन्तरिक पापों को जलाने में समर्थ है ।

१. (क) निर्युक्तिगाथा, ८१ : परिष्ठासिता कुसीला य एष्य वाचंति अविरता केय ।

सु ति पसंसा सुढे दु ति हुगुंषा अपरिसुढे ॥

(ख) बृजि, पृ० १५१ ; वृत्ति पत्र, १५३ ।

२. निर्युक्तिगाथा, ८३ : जह नाम गौतमा रंडदेवता बारिभद्रगा वेव ।

ये अग्निहोमवादी जलसोयं केह (के इ ?) इच्छंति ॥

३. बृजि, पृ० १५२ : गौतमा नाम पासंढिणो मसगजातीया, ते ही गोणं णाणाविधेहि उवाएहि वमिऊण गोणपोतणेण सह निहे धण्णं ओहारेत्ता हिंइति । गोण्वतिगावि धीयारप्राया एव, ते व गोणा इव अस्थितेस्सूगा रंभायमाणा निहे निहे सुप्पेहि गहिंतेहि धण्णं ओहारेमाणा विहरंति ।

४. वृत्ति, पत्र १५४ : चंडीदेवगा इति अक्षधरप्राया ।

५. बृजि, पृ० १५२ : अवरं रंडदेवगावरप्रायाः ।

६. (क) बृजि, पृ० १५२ : बारिभद्रगा प्रायेण जलसक्का हृष्य-पाव-पक्कालजरता क्हायंता य आयमंता य संभा तिसु तिसु य जलचि-बुद्धा अर्हपरिगायवावि ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५४ : बारिभद्रका अक्षका शैवालाशिनो नित्यं स्नानपादादिधावनानिरताः ।

७. (क) बृजि, पृ० १५२ : अग्निहोमवादी तावसा धीयारायारा अग्निहोसेण समं इच्छंति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५३ : तवैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति, ये किल स्वर्गादिकलमनाशंस्य समिधाघृताविभिर्हव्य-विशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायान्निहोत्रं जुह्वति शैवास्त्वभ्युदयायेति, पुंस्ति चात्र ते आहुः—अवा अग्निः सुवर्णादीनां मलं बहुल्येव बहुमसामर्थ्यं रंभावात्मनोऽप्यास्तरं पापमिति ।

५. जलशौचवादी—मायकत, परित्राजक आदि सजीव जल के उपयोग में मोक्ष की स्थापना करते थे। वे बार-बार हाथ-पैर धोने, स्नान करने में रत रहते थे। वे मानते थे कि जैसे जल से बाह्य शुद्धि होती है, वैसे ही आन्तरिक शुद्धि भी होती है।

छठे श्लोक का प्रतिपाद्य है कि जो मनुष्य अग्नि को जलाता है, वह भी प्राणियों का वध करता है और जो अग्नि को बुझाता है, वह भी प्राणियों का वध करता है। दोनों प्रवृत्तियों में हिंसा है। इसका समवर्ती सूत्र में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहा अग्नि जलाने वाले को महाकर्म करने वाला और अग्नि को बुझाने वाले को अल्पकर्म करने वाला कहा है। दोनों हिंसा-सन्निहत प्रवृत्तियाँ हैं। अग्नि के प्रज्वालन में पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और वस—इन जीवों की अधिक हिंसा है और अग्नि जीवों की कम हिंसा है। अग्नि के विध्यापन में अग्नि-जीवों की प्रचुर हिंसा है और शेष जीवों की कम हिंसा है।

विशेष विवरण के लिए देखें—टिप्पण नं २३।

पशु-पक्षियों के उदाहरण से जल-शौचवादियों का खंडन पनरहवें श्लोक में किया गया है। उसमें मत्स्य, कूर्म, सरीसृप, मद्गु, उद् और उदकराक्षस—ये नाम आए हैं। ये सारे जलचर प्राणी हैं। सूत्रकार का कथन है कि यदि पानी के व्यवहरण से ही मोक्ष प्राप्त होता हो तो सबसे पहले ये जलचर पशु-पक्षी मोक्ष जाएंगे।

इनमें तीन शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—

१. मगु—जलकाक।

२. उद्—उदबिलाव। नेचले के आकार का उससे एक बड़ा जंतु जो जल और स्थल दोनों में रहता है।

३. उदकराक्षस—मनुष्य की आकृतिवाले जलचर प्राणी।

प्रस्तुत अध्ययन के चौथे श्लोक के प्रथम दो चरण कर्मवाद की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—‘अस्मि च लोए अबुवा परस्था, सयगसो वा लह अण्णहा वा।’ इनमें कर्मवाद से संबंधित चार प्रश्न पूछे गए हैं—

१. क्या किए गए कर्मों का फल उसी जन्म में मिल जाता है?

२. क्या किए गए कर्मों का फल दूसरे जन्म में मिलता है?

३. क्या उस कर्म का तीव्र विपाक एक ही जन्म में मिल जाता है?

४. जिस अणुभ प्रवृत्ति के आचरण से वह कर्म बांधा गया है, क्या उसी प्रकार से वह उदीर्ण होकर फल देता है या दूसरे प्रकार से?

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने इनका विस्तार से समाधान प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत आगम के दूसरे श्रुतस्कंध (१।६६) में धर्म-प्रवचन करने के लिए कुछ निर्देश दिए हैं। मुनि मोक्षाभिमुख होता है। वह समस्त आसक्तियों को छोड़कर परित्रजन करता है। संयम-यात्रा के उचित संचालन के लिए वह शरीर का पोषण करता है। शरीर-पोषण का एकमात्र साधन है—भोजन। मुनि अपनी चर्या से ही भोजन प्राप्त करता है। वह न स्वयं भोजन पकाता है और न दूसरों से पकवाता है। ‘वत्तेसणां चरे’—वह गृहस्थों द्वारा प्रदत्त भिक्षा से अपना निर्वाह करता है। उसकी दिनचर्या का एक अंग है—धर्म-देशना। सूत्रकार ने धर्म-प्रवचन करने की कुछ सीमाएं निर्धारित की हैं—

१. मुनि अन्न के लिए धर्मदेशना न दे।

२. मुनि पान के लिए धर्मदेशना न दे।

३. मुनि वस्त्र के लिए धर्मदेशना न दे।

४. मुनि स्थान के लिए धर्मदेशना न दे।

५. मुनि शयन (पाट बाजोट) के लिए धर्मदेशना न दे।

६. मुनि अन्य किसी प्रकार की सुख-सुविधा की प्राप्ति के लिए धर्मदेशना न दे।

७. मुनि केवल कर्म-निर्जरा के लिए, बंधनमुक्ति के लिए धर्मदेशना दे।

प्रस्तुत अध्ययन के पांच श्लोकों (२३-२७) में इसी धर्म-देशना के सीमा-सूत्र प्रतिपादित हैं।

१. (क) वृत्ति, पृ० १५२, १५७।

(ख) वृत्ति, पृ० १५६।

२. देखें—टिप्पण संख्या—६२।

३. देखें—टिप्पण संख्या १४।

सप्तमं अध्यायः : सातवां अध्यायः
कुशीलपरिभाषितं : कुशीलपरिभाषित

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुबाध

१. पृथ्वी य आठ अगणी य वाऊ
तण वस्स बीया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउ पाणा
संसेयया जे रसयाभिघाणा ॥

२. एताहं कायाहं पवेइयाहं
एतेसु जाणे पडिलेह सायं ।
एतेहि काएहि य आयइंढे
पुणो-पुणो विप्परियासुवेति ॥

३. जाईपहं अणुपरियट्टमाणे
तसयावरेहि विणिघायमेति ।
से जाति-जाति बहुकूरकम्मे
जं कुब्बती मिज्जति तेण बाले ॥

४. अस्मि च लोए अनुवा परत्था
सयगसो वा तह अण्णहा वा ।
संसारमावण परं परं ते
बंधंति वेयंतिय दुण्णिग्याणि ॥

५. जे मायरं च पियरं च हिक्खा
समणव्वए अगणि समारभिज्जा ।
अहाहु ते लोए कुशीलघम्मे
भूयाइ जे हिंसति आतसाते ।

६. उज्जवालओ पाण इतिघातएज्जा
जिक्खावओ अगणि इतिघातएज्जा ।
तम्हा उ मेधावि समिकख धम्मं
न पंडिते अगणि समारभिज्जा ॥

पृथ्वी च आपः अग्निश्च वायुः,
तृणानि रूक्षाः बीजानि च त्रसाश्च प्राणाः ।
ये अंडजा ये च जरायुजाः प्राणाः,
सस्वेदजा ये रसजाभिघाणाः ॥

एते कायाः प्रवेदिताः,
एतेषु जानीयात् प्रतिलिख सातम् ।
एतेषु कायेषु चात्मदण्डः,
पुनः पुनः विपर्यासमुपेति ॥

जातिपथमनुपरिवर्तमानः,
त्रसस्थावरेषु विनिघातमेति ।
स जाति-जाति बहुकूरकर्म,
यत् कुल्ले मीयते तेन बालः ॥

अस्मिश्च लोके अथवा परस्तात्,
शताग्रसो वा तथान्यथा वा ।
संसारमावध्नाः परं परं ते,
वध्नन्ति वेदयन्ति च दुर्नीतानि ॥

यो मातरं च पितरं च हित्वा,
श्रमणव्रतः अग्निं समारभेत ।
अथ आहुः स लोके कुशीलधर्मा,
भूतान् यो हिनस्ति आत्मसातः ॥

उज्जवालकः प्राणान् अतिपातयेत्,
निर्वापकोग्निं अतिपातयेत् ।
तस्मात् तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं,
न पंडितः अग्निं समारभेत ॥

१. पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, तृण, वृक्ष,
बीज तथा त्रस प्राणी—जो अंडज,
जरायुज, 'सस्वेदज' और 'रसज'—इस
नाम वाले हैं ।

२. जीवों के ये निकाय कहे गए हैं ।
पुरुष ! तू उनके विषय में जान और
उनके सुख (दुःख) को देख । जो उन
जीव-निकायों की हिंसा करता है, वह
बार-बार विपर्यास (जन्म-मरण) को
प्राप्त होता है ।

३. वह जातिपथ (जन्म-मरण) में बार-
बार पर्यटन करता हुआ त्रस और
स्थावर प्राणियों में विनिघात (शारी-
रिक-मानसिक दुःख) को प्राप्त होता
है । वह जन्म-जन्म में बहुत कूरकर्म
करता है । वह अज्ञानी जो करता है,
उससे भर जाता है ।

४. (वह कर्म) इस लोक में अथवा पर-
लोक में, सैकड़ों बार या एक बार,
उसी रूप में या दूसरे रूप में (भोगा
जाता है) । संसार में पर्यटन करते हुए
प्राणी आगे से आगे दुष्कृत का बंध
और वेदन करते हैं ।

५. जो माता-पिता को छोड़, श्रमण का
व्रत ले, अग्नि का समारंभ और अपने
सुख के लिए प्राणियों की हिंसा
करता है, वह लोक में कुशील धर्म
वाला कहा गया है ।

६. अग्नि को जलाने वाला प्राणियों का
वध करता है और बुझाने वाला भी
उनका वध करता है । इसलिए
मेधावी पंडित मुनि धर्म को समझ-
कर अग्नि का समारंभ न करे ।

७. शुद्धी वि जीवा आह वि जीवा
पाणा य संपातिम संपयति ।
सत्वेवपा कद्रुसमस्सिता य
एते बहे । अग्नि समारभन्ते ॥

८. हरिषाणि मूयाणि विलम्बकाणि
आहार-वेहाइं पुढो सियाइं ।
जे छिबई आतसुहं पडुक्क
पागळि-पण्यो बहुणं तिवातो ॥

९. जाइं च वृद्धि च विनाशयंते
बीयाइ अस्संजय आयइंहे ।
महाहु से लोए अणज्जधम्मे
बीयाइ जे हिंसइ आयसाते ॥

१०. गम्माइ मिज्जंति बुयाहुयाणा
णरा परे पंचसिहा कुमारा ।
बुवाणया मज्झिम धेरगा य
जयंति ते आउल्लए पलीणा ॥

११. बुद्धाहि अंतु ! इह मानवेसु
बद्धं भयं बालिएणं अलं भे ।
एगंतुबुद्धे जरिए हु लोए
सकम्मुणा विपरियासुवेति ॥

१२. इहेगे मूढा पबदन्ति मोक्षं
आहारसंपज्जलनवर्जनेण ।
एगे य सीतोदकसेवनेण
हुतेण एगे पबदन्ति मोक्षं ॥

पृथिव्यपि जीवाः आपोऽपि जीवाः,
प्राणाश्च सम्पातिमाः संपतन्ति ।
संस्वेदजाः काष्ठसमाश्रिताश्च,
एतान् दहेत् अग्निं समारभमाणः ॥

हरितानि मूतानि विलम्बकानि,
आहारदेहानि पृथक् श्रितानि ।
यश्छिनत्ति आत्मसुखं प्रतीत्य,
प्रागल्भ्यप्रज्ञः बहूनामतिपाती ॥

जाति च वृद्धि च विनाशयन्,
बीजानि असयत आत्मदण्डः ।
अथाहुः स लोके अनार्यधर्मा,
बीजानि यो हिनस्ति आत्मसातः ॥

गर्भादौ त्रियन्ते ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तः,
नराः परे पञ्चशिखा कुमारा ।
युवानकाः मध्यमाः स्थविरकाश्च,
ज्यवन्ते ते आयुःक्षये प्रलीनाः ॥

बुध्यस्व जन्तो ! इह मानवेषु,
दृष्ट्वा भयं बाल्येन अलं भवतः ।
एकान्तदुःखे ज्वरिते खलु लोके,
स्वकर्मणा विपर्यासमुपैति ॥

इहेके मूढाः प्रवदन्ति मोक्षं,
आहारसंप्रज्वलनवर्जनेन ।
एके च शीतोदकसेवनेन,
हुतेन एके प्रवदन्ति मोक्षम् ॥

७. पृथ्वी भी जीव है । पानी भी जीव
है । उधने वाले जीव आकर गिरते
हैं । संस्वेदज भी जीव हैं । ईंधन से
भी जीव होते हैं । अग्नि का समारंभ
करने वाला इन सब जीवों को जलाता
है ।

८. वनस्पति जीव हैं । वे जन्म से मृत्यु
पर्यन्त नाना अवस्थाओं को धारण
करते हैं । वे आहार से उपचित होते
हैं । वे (वनस्पति-जीव) मूल, स्कंध
आदि में पृथक्-पृथक् होते हैं । जो
अपने सुख के लिए उनका छेदम
करता है, वह ढीठ प्रज्ञावाला बहुत
जीवों का बध करता है ।

९. जो वनस्पति के जीवों की उत्पत्ति,
वृद्धि और बीजों का विनाश करता
है, वह असयमी मनुष्य अपने आपको
दंडित करता है । जो अपने सुख के
लिए बीजों का विनाश करता है, उसे
अनार्य-धर्मी कहा गया है ।

१०. (वनस्पति की हिंसा करने वाले) कुछ
गर्भ में ही मर जाते हैं । कुछ बोलने
और न बोलने की स्थिति में पंच-
शिखी कुमार होकर, कुछ युवा, अघेड
और बूढ़े होकर मर जाते हैं । वे आयु
के क्षीण होने पर किसी भी अवस्था
में जीवन से व्युत्पन्न होकर प्रलीन हो
जाते हैं ।

११. हे प्राणी ! तू धर्म की समझ । यह
मनुष्यों में नाना प्रकार के भयों को
देखकर बचपन (अज्ञान) को छोड़ । यह
जगत् एकान्त दुःखमय और
(मूर्च्छा के) ज्वर से पीड़ित है । वह
अपने ही कर्मों से विपर्यास को प्राप्त
होता है—सुख का अर्थी होते हुए भी
दुःख पाता है ।

१२. इस जगत् में कुछ मूढ़ मनुष्य नमक
न खाने से मोक्ष बतलाते हैं, कुछ
मनुष्य सजीव जल से स्नान करने
और कुछ हवन से मोक्ष बतलाते
हैं ।

१३. पाक्षोसिपाणाइसु अन्वि मोक्षो
क्षारस्य लोणस्य अनशनेन ।
ते मज्जमंसं लघुनं च अभुक्त्वा,
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्ति ॥

प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्षः,
क्षारस्य लवणस्य अनशनेन ।
ते मज्जमांसं लघुनं च अभुक्त्वा,
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्ति ॥

१३. प्रातःकालीन स्नान आदि से मोक्ष नहीं होता । क्षार नमक^{१३} के तथा मज्ज, गो-मांस^{१४} और लघुन न खाने मात्र से^{१५} वे मोक्ष की^{१६} परिकल्पना कैसे करते हैं ?

१४. उदगेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति
सायं च प्रातः उदकं स्पृशन्ताः ।
उदकस्य स्पर्शेन स्याच्च सिद्धिः,
असत्सुः प्राणा बहवो दके ॥

उदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति,
सायं च प्रातः उदकं स्पृशन्ताः ।
उदकस्य स्पर्शेन स्याच्च सिद्धिः,
असत्सुः प्राणा बहवो दके ॥

१४. जो मनुष्य सांभ-सबेरे^{१७} जल से नहाते हुए जल-स्नान से मोक्ष होना बतलाते हैं, वे (इस सच्चाई को भूल जाते हैं कि) यदि जल-स्नान से मोक्ष होता तो जल में रहने वाले बहुत प्राणी मुक्त हो जाते,^{१८}

१५. मच्छा य कुम्भा य सिरीसिवा य
मग्नं य जहा बगरक्कसा य ।
अट्टाणमेयं कुसला वयन्ति
उदगेण सिद्धिं अनुदाहरन्ति ॥

मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च,
मद्गवश्च उद्रा दकराक्षसाश्च ।
अस्थानमेतत् कुसला वदन्ति,
उदकेन सिद्धिं अनुदाहरन्ति ॥

१५. जैसे—मछली, कछुए, जन-सर्प^{१९} बतल^{२०}, ऊदबिलाव^{२१} और जल-राक्षस ।^{२२} जो जल से मोक्ष होना बतलाते हैं, उसे कुशल पुरुष अयुक्त कहते हैं ।

१६. उदगं जती कम्ममलं हरेज्जा
एवं सुहं इच्छामित्तमेव ।
अंधं च नेयारमणुस्सरन्ता
पाणाणि खेवं विणिहन्ति मन्दा ॥

उदकं यदि कर्ममलं हरेत्,
एवं शुभं इच्छामात्रमेव ।
अन्धमिव नेतारमनुसरन्तः,
प्राणान् चैव विनिघ्नन्ति मन्दाः ॥

१६. जल यदि^{२३} (अशुभ) कर्म-मल का हरण करता है तो वह शुभ कर्म का भी हरण करेगा । (जल से कर्म-मल का नाश होता है) यह इच्छा-कल्पित है । जैसे अंधे नेता के पीछे चलते हुए^{२४} अंधे पथ से भटक जाते हैं वैसे ही मंद-मति मनुष्य (शौचवाद का अनुसरण कर) प्राणियों का वध करते हैं (धर्म के पथ से भटक जाते हैं) ।

१७. पावाइं कम्माइं पकुब्बओ हि
सीओदगं तु अइ तं हरेज्जा ।
सिज्जिअसु एगे वगसत्तघाती
भुसं वयन्ते जलसिद्धिमाहु ॥

पापानि कर्माणि प्रकुर्वतो हि,
शीतोदकं तु यदि तद् हरेत् ।
असत्सुः एके दकसत्त्वघातिनः,
भूषा वदन्ति जलसिद्धिमाहुः ॥

१७. यदि सजीव जल पाप-कर्म करने वाले के (पाप-कर्म का) हरण करता तो जल के जीवों का वध करने वाले (मछुए) मुक्त हो जाते । जो जल से मोक्ष होना बतलाते हैं वे असत्य बोलते हैं ।

१८. हुतेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति
सायं च प्रातः अग्निं स्पृशन्ताः ।
एवं स्यात् सिद्धिर्भवेत्तेषां,
अग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामपि ॥

हुतेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति,
सायं च प्रातः अग्निं स्पृशन्ताः ।
एवं स्यात् सिद्धिर्भवेत्तेषां,
अग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामपि ॥

१८. सांभ और सबेरे अग्नि का स्पर्श करते हुए जो हवन से मोक्ष होना बतलाते हैं^{२५}, वे (इस सच्चाई को भूल जाते हैं कि) यदि अग्नि के स्पर्श से मोक्ष होता तो अग्नि का स्पर्श करने वाले कुकर्मि (वन जलाने वाले आदि)^{२६} भी मुक्त हो जाते ।

१६. अपरिच्छ विट्ति न ह एव सिद्धी
एहिति ते घातमबुध्यमानाः ।
भूतेहि जाण पडिलेह सातं
विज्ज गहाय तत्तथावरेहि ॥

अपरीक्ष्य दृष्टिं न खलु एव सिद्धिः,
एष्यन्ति ते घातमबुध्यमानाः ।
भूतेषु जानीहि प्रतिलिख्य सात,
विद्यां गृहीत्वा त्रसस्थावरेषु ॥

१६. दृष्टि की परीक्षा किए बिना मोक्ष नहीं होता । बोधि को प्राप्त नहीं होने वाले (मिथ्यादृष्टि) विनाश को प्राप्त होंगे । (इसलिए दृष्टि की परीक्षा करने वाला) विद्या को ग्रहण कर त्रस और स्थावर प्राणियों में सुख की अभिवाषा होती है, इसे जाने ।

२०. खणंति सुप्यंति तसंति कम्मी
पुच्छो जगा परिसंखाय भिक्षू ।
तम्हा विट्ठ विरए आयगुत्ते
वद्धुं तसे य प्पडिसाहरेज्जा ॥

स्तनन्ति लुप्यन्ति त्रस्यन्ति कर्मिणः,
पृथक् जीवाः परिसंख्याय भिक्षुः ।
तस्माद् विद्वान् विरतः आत्मगुप्तः,
दृष्ट्वा त्रसाश्च प्रतिसहरेत् ॥

२० अपने कर्मों से बंधे हुए नाना प्रकार के त्रस प्राणी (मनुष्य के पैर का स्पर्श होने पर) आवाज करते हैं, संयभीत और त्रस्त हो जाते हैं, सिकुड़ और फँस जाते हैं—यह जानकर विद्वान्, विरत और आत्मगुप्त भिक्षु त्रस जीवों को (सामने आते हुए) देखकर (अपने पैरों का) संयम करे ।

२१. जे धम्मलब्धं विणिहाय भुंजे
विपडेण साहट्टु य जे सिणाइ ।
जे धावती लूसयई व वत्थं
अहाहु से जागणियस्स दूरे ॥

यो धर्मलब्धं विनिधाय भुक्ते,
विकटेन सहृत्य च यः स्नाति ।
यो धावति लूशयति वा वस्त्रं,
अथाहुः सः नाग्न्यस्य दूरे ॥

२१ जो भिक्षा से प्राप्त अन्न का संचय कर भोजन करता है, जो शरीर को संकुचित कर निर्जीव जल से स्नान करता है, जो कपड़ों को धोता है उन्हें फाड़ कर छोटे और सांघ कर बड़े करता है वह नाग्न्य (श्रामण्य) से दूर है, ऐसा कहा है ।

२२. कम्मं परिणाय दगंसि धीरे
विपडेण जीवेज्ज य आविमोक्खं
से बीयकंवाइ अमुंजमाणे
विरए सिणाणाइसु इत्थियासु ॥

कर्म परिज्ञाय दके धीरः,
विकटेन जीवेच्चादिमोक्षम् ।
स बीजकन्दादोन् अभुञ्जानः,
विरतः स्नानादिषु स्त्रीषु ॥

२२ 'जल के समारम्भ में कर्म-बन्ध होता है'—ऐसा जानकर धीर मुनि मृत्यु पर्यन्त निर्जीव जल से जीवन बिनाए । वह बीज, कंद आदि न खाए, स्नान आदि तथा स्त्रियों से विरत रहे ।

२३. जे मायरं च पियरं च हिज्जा
गारं तथा पुत्तपसुं धनं च ।
कुलाइं जे धावति साउगाइं
अहाहु से सामणियस्स दूरे ॥

यो मातरं च पितरं च हित्वा,
अगारं तथा पुत्रपशुं धनं च ।
कुलानि यो धावति स्वादुकानि,
अथाहुः स श्रामण्यस्य दूरे ॥

२३ जो माता, पिता धर, पुत्र, पशु और धन को छोड़कर स्वादु भोजन वाले कुलों की ओर दौड़ता है, वह श्रामण्य से दूर है, ऐसा कहा है ।

२४. कुलाइं जे धावति साउगाइं
आघाइ धम्मं उदरानुगिद्धे ।
से आरियाणं गुणाणं सत्तसे
जे लावएज्जा असणस्स हेउं ॥

कुलानि यो धावति स्वादुकानि,
आख्याति धर्मं उदरानुगृह्यः ।
स आर्याणां गुणानां शतांशे,
यः लापयेत् अशनस्य हेतुम् ॥

२४ जो स्वादु भोजन वाले कुलों की ओर दौड़ता है, पेट भरने के लिए धर्म का आख्यात करता है और जो भोजन के लिए अपनी प्रशंसा करवाता है, वह आर्य-श्रमणों की गुण-संपदा के सौवें भाग से भी हीन होता है ।

२५. भिक्षुः दीने परभोजनम्
मुहमंगलिवोरियं पगिद्धे ।
नीवारगिद्धे च महावराहे
अदूरे एवेहिह धातमेव ॥

निष्क्रम्य दीनः परभोजने,
मुखमंगलिकः दीदयं प्रगृह्यः ।
नीवारगृह्य इव महावराहः,
अदूरे एव एष्यति धातमेव ॥

२५. जो अभिनिष्क्रमण कर गृहस्थ^{५१} से भोजन पाने के लिए दीन होता है, भोजन में आसक्त होकर दाता की प्रशंसा करता है,^{५२} वह चारे के लोभी^{५३} विशालकाय सूअर की भांति शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है ।

२६. अणस्स पाणस्सिहलोइयस्स
अणुप्पियं भासति सेवमाणे ।
पासस्थयं चैव कुसीलयं च
निस्सारए होइ अहा पुलाए ॥

अन्नस्य पानस्य इहलौकिकस्य,
अनुप्रियं भाषते सेवमानः ।
पार्श्वस्थतां चैव कुशीलतां च,
निःसारको भवति यथा पुलाकः ॥

२६. जो इहलौकिक^{५४} अन्न-पान के लिए प्रिय बचन बोलता है,^{५५} पार्श्वस्था^{५६} और कुशीलता^{५७} का सेवन करता है,^{५८} वह पुआल^{५९} की भांति निस्सार हो जाता है ।

२७. अण्णार्यपिण्डेणऽहियासएज्जा
णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।
सव्वेहि व्वेहि असज्जमाणे
सव्वेहि कामेहि विणीय गेहि ॥

अज्ञातपिण्डेन अध्यासीत,
नो पूजनं तपसा आवहेत् ।
शब्देषु रूपेषु असज्जन्,
सर्वेषु कामेषु विनीय गृद्धिम् ॥

२७. मुनि अज्ञातपिण्ड की एषणा करे ।^{६०} (आहार न मिलने पर भूख को) सहन करे ।^{६१} तपस्या से पूजा पाने की अभिलाषा न करे । शब्दों और रूपों में आसक्त न हो और सभी कामों—इन्द्रिय-विषयों की लालसा को त्यागे ।^{६२}

२८. सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे
सव्वाइं बुक्खाइं तितिक्षमाणे ।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी
अभयंकरे भिक्षु अणाविलात्मा ॥

सर्वान् सगान् अतीत्य धीरः,
सर्वाणि दुःखानि तितिक्षमाणः ।
अखिलः अगृह्यः अनिकेतचारी,
अभयकरो भिक्षुः अनाविलात्मा ॥

२८. धीर मुनि सभी संसर्गों को^{६३} छोड़कर सभी दुःखों को सहन करे । वह (गुणों की उत्पत्ति के लिए) उर्वर,^{६४} अनासक्त, अनिकेतचारी, अभयंकर और निर्मल चित्त वाला हो ।

२९. भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा
कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्षु ।
इक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा
संगामसीसे च परं इमेज्जा ॥

भारस्य यात्रायं मुनिर्भुञ्जीत,
काक्षेत् पापस्य विवेकं भिक्षुः ।
दुःखेन स्पृष्टः धुतमाददीत,
संग्रामशीर्षे इव परं दाम्येत् ॥

२९. मुनि संयमभार को वहन करने के लिए^{६५} भोजन करे । पाप का विवेक^{६६} (पृथक्करण) करने की इच्छा करे । दुःख से स्पृष्ट होने पर शांत^{६७} रहे ।^{६८} संग्राम के अग्रिम-पंक्ति के पौड़ा की भांति कामनाओं का^{६९} दमन करे ।

३०. अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी
समागमं कंखइ अंतगस्स ।
जिद्धय कम्मं ण पबंभवेइ
अक्खवक्खए वा सगणं ति वेमि ॥

अपि हन्यमानः फलकावतट्ठो,
समागमं कांक्षति अन्तकस्य ।
निर्धूय कर्म न प्रपञ्चं उपैति,
अक्षक्षये इव शकट इति अवीमि ॥

३०. परीषहों से आहत होने पर दोनों ओर से छीले गए फलक की भांति^{७०} (शरीर और कषाय-दोनों को) कृश करने वाला मुनि काल के^{७१} आने की आकांक्षा करता है । वह कर्म को क्षीण कर प्रपञ्च (जन्म-मरण) में नहीं जाता,^{७२} जैसे धुरा के टूट जाने पर गाड़ी ।

टिप्पण : अध्ययन ७

श्लोक १ :

१. तृण, वृक्ष (तप रक्षज)

ये प्रथमा विभक्ति के बहुवचनान्त पद—'तणा रक्षजा' के स्थान पर विभक्तिरहित प्रयोग हैं।

२. जरायुज (जराय)

मूल शब्द है—जरायया। यहाँ 'या' का लोप हुआ है।

३. संस्वेदज (संसेयया)

संस्वेदज—बाष्प या द्रवता से उत्पन्न होने वाले जीव।

वृणिकार के अनुसार गाय के गोबर आदि में कृमि, मक्षिका आदि उत्पन्न होने हैं। वे संस्वेदज कहलाते हैं। तथा 'जू, खटमल, लीख आदि भी संस्वेदज प्राणी हैं।'

वृत्तिकार ने जू, खटमल, कृमि आदि को संस्वेदज माना है।'

बौद्ध साहित्य में संस्वेदज की व्याख्या इस प्रकार है—पृथिवी आदि भूतों की द्रवता से उत्पन्न प्राणी।'

४. रसज (रसया)

दही, सीसीरक (कांजी), मद्य आदि में उत्पन्न सूक्ष्म-पक्ष्म वाले जीव रसज कहलाते हैं।' ये बहुत सूक्ष्म होते हैं।

देखें—दसवेब्राह्मण ४। सूत्र ६ का टिप्पण।

श्लोक २ :

५. (एताइं कायाइं पवेइयाइं)

काय शब्द पुल्लिङ्ग है किन्तु प्राकृत में लिङ्ग नियन्त्रित नहीं होता, इसलिए ये नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त हैं।

६. सुख (दुःख) को देख (पडिलेह सायं)

सुख-प्रतिलेखना का अर्थ है—सुख को देखना, उसकी समीक्षा करना—जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही सब जीवों को सुख प्रिय है। इस प्रकार सुख की प्रतिलेखना करने वाला किसी प्राणी के सुख में बाधा उत्पन्न नहीं करता।

वृणिकार आ अभिप्राय यह है—जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, सुख प्रिय है, वैसे ही सभी जीवों को दुःख अप्रिय है और सुख प्रिय है—ऐसा सोचकर किसी भी प्राणी को दुःख न दे।'

१. वृणि, पृ० १५२ : संस्वेदजाः गोकरीबादिषु कृमि-मक्षिकावयो जायन्ते जूगा-संक्रुण-लिखलावयो य।

२. वृत्ति, पृ० १५४ : संस्वेदजाः संस्वेदजा पूकामकृणकुम्भ्यावयः।

३. अश्विधर्मकोश ३/८ : संस्वेदज-भूतानां पृथिव्यादीनां सस्वेदाद् द्रवत्वलक्षणाज्जाता।

४. (क) वृणि, पृ० १५२ : रसजा वृक्षसीसीरक-सद्याविषु।

(ख) वृत्ति, पृ० १५४ : ये च रसजाभिधाना वृक्षसीसीरकाविषु क्तपक्षमसग्निना इति।

५. वृणि, पृ० १५२, १५३ : प्रस्युपेक्ष्य सातं सुखमित्यर्थः। कथं पडिलेहेति ?—अथ मम न पियं दुःखं सुहं वेदं एवमेवां पडिलेहेति।
दुःखमेवां न कार्यं नवण्ण भेदेण।

७. हिंसा करता है (आयतबंध)

वृत्तिकार ने आत्मदंड के दो अर्थ किए हैं—

१. जीव-निकायों को अपनी आत्मा से दंडित करने वाला ।
२. जीव-निकायों की हिंसा से अपने आपको दंडित करने वाला ।

वृत्तिकार ने जीव-निकायों के समारंभ को आत्मदंड माना है । वैकल्पिक रूप में उन्होंने 'आयतबंध' मानकर इसका अर्थ—दीर्घदंड अर्थात् दीर्घकाल तक जीवों को पीड़ित करने वाला, किया है ।

८. विपर्यास (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है (विपर्यायासुवेति)

यहां दो पद हैं - 'विपर्यायास' और 'उवेति' । इन दो पदों में संघि कर अनुस्वार को अलाक्षणिक माना है ।

विपर्यास का अर्थ है—जन्म-मरण या संसार । जो व्यक्ति जीव-निकायों की हिंसा करता है वह विपर्यास को प्राप्त होता है—जन्म-मरण के चक्र में फंस जाता है ।

वृत्तिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—वह सुखार्थी प्राणी उन जीव-निकायों की हिंसा करता है और उन्हीं जीव-निकायों में जन्म लेकर उन-उन दुःखों को पाता है, सुख के विपरीत दुःख को प्राप्त होता है । धर्मार्थी होकर हिंसा करने वाला अधर्म को प्राप्त होता है । मोक्षार्थी होकर हिंसा करने वाला मसार को प्राप्त होता है ।

वृत्तिकार ने भी इसी आशय से विपर्यास के तीन अर्थ किए हैं—

१. जन्म-मरण करना ।
२. व्यत्यय—सुख के लिए क्रिया करना और दुःख पाना । मोक्ष के लिए क्रिया करना और संसार पाना ।
३. संसार ।

६. श्लोक १, २ :

इन दो श्लोको में कायो का प्रवेदन किया गया है । 'काय' का अर्थ है उपचय । जीवों के छह काय या निकाय होते हैं । षड्जीवनिकाय जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है । आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—प्रभो ! आपकी सर्वज्ञता को प्रमाणित करने के लिए केवल षड्जीवनिकाय का सिद्धान्त ही पर्याप्त है ।^१ छह जीव कायो का वर्गीकरण कई प्रकार से मिलता है । आचारांग में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, प्रस और वायु—छह कायो का इस प्रकार वर्गीकरण मिलता है ।^२ प्रस्तुत प्रकरण में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, तृणरुक्षबीज और प्रस—यह वर्गीकरण उपलब्ध है । दशवैकालिक ८।२ में भी यही वर्गीकरण मिलता है । उसके चौथे अध्ययन में क्रम यही है, किन्तु तृणरुक्षबीज के स्थान पर वनस्पति का प्रयोग मिलता है ।

१. जूनि, पृ० १५३ : एवां कायानां आताओ बंडेलि, अथवा स एवाअन्मानं बण्डयति य एवां बंडे विसिरति स आत्मबण्डः ।

२. वृत्ति, पत्र १५४ : यवेभिः कार्यैः समारम्भमाणैः पीडयमानैरात्मा बण्डयते, एतत्समारम्भाशास्मबंडो जवतीत्यर्थः, अववेभिरेव कार्येण आयतबंडा दीर्घबंडाः, एतदुक्तं जवति—एतान् कारयान् ये दीर्घकालं बण्डयन्ति—पीडयन्तीति ।

३. जूनि, पत्र १५३ : विपर्यासो नाम जन्म-मरणे, संसारो वा विपर्यासो जवति ।

४. जूनि, पृ० १५३ : अथवा सुखार्थी तानारम्भ्य तानेवानुप्रविश्य तानि तानि दुःखान्यवाप्नुते, सुखविपर्यासमतं दुःखमवाप्नोति । विपरीतो भावी विपर्यासः, धर्मार्थी तानारम्भाजमेवाप्नोति, मोक्षार्थी तानारम्भमाणः संसारमाप्नोति ।

५. वृत्ति, पत्र १५४ : ते एतेष्वेव—वृत्तिव्याधिकायेषु विविचिन्—अनेकप्रकारं परि—सम्भूताश्च आशु—क्षिप्रमुपसाधोप्येन धाम्नि—व्रजन्ति, तेष्वेव वृत्तिव्याधिकायेषु विविधमनेकप्रकारं भूयो भूयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थं यद्वि वा—विपर्यासो—व्यत्ययः सुखार्थिभिः कायसमारम्भः कियते तत्समारम्भेण च दुःखमेवावाप्यते न सुखमिति, यद्वि वा कुतोधिको मोक्षार्थमेतैः कार्येयां कियतां कुर्वन्ति तथा संसार एव जवतीति ।

६. हाजिशब्द हाजिशिका १/१३ : य एव षड्जीवनिकायवित्तरः, परैरनाशीद्वयवस्तव्योदितः ।

अनेन सर्वज्ञपरिज्ञानमनास्त्वयि प्रसादोदयसोस्तथाः स्थिताः ॥

७. जायारो, प्रथम अध्ययन ।

अंज, जरायुज, संस्वेदज और रसज—ये सब त्रस प्राणियों के प्रकार हैं। आचाराग में इनके अतिरिक्त तीन प्रकार और मिलते हैं—पोतज, उद्भिज्ज और औपपातिक।^१

श्लोक ४८ :

१०. जाति पथ (जन्म-मरण) में (जाईपहं)

'जाति' का अर्थ है जन्म, और 'पह' का अर्थ है—पथ, मार्ग। जाईपह—अर्थात् उत्पत्ति का मार्ग। तार्पर्य में इसका अर्थ है—संसार, जन्म-मरण की परंपरा।^२ चूर्णिकार ने 'जाईपह' पाठ मानकर 'जाई' का अर्थ जन्म और 'वह' का अर्थ मरण किया है।^३

११. विनिघात (शारीरिक मानसिक दुःख) को (विनिघायं)

विनिघात का अर्थ है—शारीरिक और मानसिक दुःख का उदय अथवा कर्मों का फल-विपाक।^४

वृत्तिकार ने इसका अर्थ विनाश किया है।^५

१२. जन्म-जन्म में (जाति जाति)

चूर्णिकार ने इस दोहरे प्रयोग को 'वीप्सा' के अर्थ में माना है। अर्थात् उन-उन जानियों में, त्रस-स्थावर जातियों में।^६

१३. भर जाता है (मिज्जति)

इसका संस्कृत रूप है—मीयते। यह रूप दो धातुओं से बनता है—^७

१. माङ्क माने—मीयते।

२. मीङ् हिंसाया—मीयते।

एक का अर्थ है—भरना और दूसरे का अर्थ है—हिंसा करना।

इन दोनों के आधार पर इस चरण का अर्थ होगा—

१. वह अज्ञानी प्राणियों को पीड़ित करने वाला जो कर्म करता है, उससे वह भर जाता है।

२. वह अज्ञानी उसी कर्म के द्वारा मारा जाता है अथवा 'यह चोर है' 'यह पारदारिक है'—इस प्रकार लोक में वह बताया जाता है।^८

चूर्णिकार ने 'मिज्जते' पाठ की भी सूचना दी है। उसका अर्थ है—निमग्न होना, डूबना।^९

१. आचारो, १।११८ : से बेमि—संतिमे तसा पाणा, तं जहा—अंजया पोयया जरायया रसया संसेयया समुच्छिपया उद्भिज्जया औपपादया ।

२. वृत्ति, पत्र १५५ ।

३. चूर्ण, पृ० १५३ : जानिश्च वग्गश्च जाति-वच्छी, जन्म-मरण इत्युक्तं सवति ।

४. चूर्ण, पृ० १५३ : अघिको नियमो वा घातः निघातः, बिबिधो वा घातः शरीरमानसा बुद्धिबया अदृग्गारकम्मफलविवागो वा ।

५. वृत्ति, पत्र १५५ : विनिघातं विनाशम् ।

६. चूर्ण, पृ० १५३ : जातिजातीति वीप्सार्थः, तासु तासु जातिसु ति तस-थावरजातिसु ।

७. वृत्ति, पत्र १५५ : तेनैव कर्मणा मीयते—मिज्जते पूर्यते, यदि वा 'मीङ्'—हिंसाया मीयते—हिंस्यते ।

८. वृत्ति, पत्र १५५ ।

९. चूर्ण, पृ० १५३ : मिज्जते वा निमज्जइ इत्यर्थः ।

इसलोक ४ :

१४. (अस्ति च लोए.....तह अण्यहा वा)

चूर्णिकार ने इन दो चरणों को बहुत विस्तार से समझाया है। उनके अनुसार इनकी व्याख्या इस प्रकार है—कर्म चार प्रकार के होते हैं—^१

१. इहलोक में दुश्चर्या कर्म इहलोक में अशुभफलविपाक वाले होते हैं
२. इहलोक में दुश्चर्या कर्म परलोक में अशुभफलविपाक वाले होते हैं
३. परलोक में दुश्चर्या कर्म इहलोक में अशुभफलविपाक वाले होते हैं
- ४ परलोक में दुश्चर्या कर्म परलोक में अशुभफलविपाक वाले होते हैं

जैसे किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति का इहलोक (वर्तमान) में शिरच्छेद किया तो उसके पुत्र ने उसका पुनः शिरच्छेद कर डाला—यह प्रथम विकल्प है।

किसी व्यक्ति के अशुभ का उदय वर्तमान भव में नहीं हो सका तो उसके नरक आदि में उत्पन्न होने पर वहाँ उसका विपाक उसे भोगना पड़ा—यह दूसरा विकल्प है।

परलोक में किया हुआ कर्म इहलोक में फलता है, जैसे—मृगापुत्र ने इस भव में अशुभविपाक भोगना पड़ा। (देखें—विपाक सूत्र) यह तीसरा विकल्प है।

एक जन्म में किया हुआ कर्म तीसरे या चौथे आदि जन्मों में भोगा जाता है—यह चौथा विकल्प है।

जैसा कर्म किया जाता है उसका विपाक उसी रूप में या भिन्न प्रकार से भी होता है। जैसे किसी ने दूसरे का सिर काटा है तो कर्म विपाक में उसका भी सिर कट सकता है। वह अनन्तवार या हजारों बार ऐसा हो सकता है।

दूसरे चरण में 'तथा' और 'अन्यथा'—ये दो शब्द हैं। चूर्णिकार ने 'तथा' का अर्थ जिस रूप में कर्म किया उसी रूप में उसका विपाक भोगना और 'अन्यथा' का अर्थ जिस रूप में कर्म किया उससे अन्यथा रूप में विपाक भोगना किया है। शिरच्छेद करने वाले का शिरच्छेद होता है—यह तथाविपाक है। शिरच्छेद करने वाले का हाथ या अन्य अंग काटा जाता है अथवा कोई शारीरिक या मानसिक वेदन होता है—यह अन्यथा विपाक है। इस प्रकार जो मनुष्य जितनी मात्रा में दूसरे को पीड़ा पहुँचाता है, उसी मात्रा में अथवा हजारगुना अधिक मात्रा में वह दुःख पाता है।

चूर्णिकार की व्याख्या इस प्रकार है—^२

१. चूर्णि, पु० १५३ : इहलोके कुञ्चिण्णा कम्मा इहलोके असुभफलविभागा १ इहलोए कुञ्चिण्णा कम्मा परलोए असुभफलविभागा २ परलोके कुञ्चिण्णा कम्मा इहलोके असुभफलविभागा ३ परलोए कुञ्चिण्णा कम्मा परलोए असुभफलविभागा ४ । कम्म ? उच्यते—केनचित् कस्यचिद् इहलोके शिरश्छेदं तस्याप्यन्येन छिन्नं एव इहलोके कतं इहलोके च फलति १, जरगाइसु उववण्णस्स (इहलोके कतं परलोके फलति) २, परलोए कतं इहलोए फलति, अघा कुहविभागेसु मियापुत्तस्स ३ परलोए कतं परलोए फलति, दीहकालद्वितीयं कम्मं अण्णम्मि भवे उविज्जति ४ । अथवा इहलोक इह चारकवण्णः अनेकैर्यातिताविशेषैः तद् वेदयति, तदप्यपावेष्टितं कस्यचित् परलोके तेन वा प्रकारेण अन्येन वा प्रकारेण विपाको भवति । तथाविपाकस्तवेवास्य शिरश्छिद्यते, तत् पुनरनन्तरं सहस्रशो वा, अथवा अष्टकुसुता सङ्ख्यया अथवा अतसाश्छिद्यते अन्यथेति सहस्ते वा । अथवा शिरश्छिद्यता न शिरश्छेदमवाप्नोति हस्तच्छेदं पादच्छेदं वा अन्यतराङ्गुलैश्च वा प्राप्नोति, सारीर-माणसेन वा कुक्ष्येन वेद्यते । एवं यावत्तं दुःखमात्रं परस्थोत्पादयति अतो मात्रतः शतशोभात्राधिकत्वं प्राप्नोति अन्यथा वा ।

२. मुत्ति, धम्म १५५ : यावन्नाशुकारीणि कर्माणि तावन्निवन्नेव जग्गन्ति विपाकं वदन्ति, अथवा परस्मिन् जग्गन्ति नरकादौ तस्य कर्म विपाकं वदन्ति 'सताप्रसो वे' ति बहुषु जग्गन्तु वेनेव प्रकारेण तदशुभमाचरन्ति तच्चैवोदयेते तथा—अन्यथा वेति, इवमुक्तं भवति—किञ्चिद्वर्कं तद्धव एव विपाकं वदन्ति किञ्चिद्वर्कं जन्मान्तरे, यथा—मृगापुत्रस्य दुःखविपाकादये विपाकमनुताङ्गमुत्तस्सधे कथितमिति, दीर्घकालनित्यतः त्वपरजन्ममस्सरितं वेद्यते, येन प्रकारेण सङ्कतवेदानेकतो वा, यदि वाऽन्येन प्रकारेण सङ्कतसङ्कतो वा शिरश्छेदाधिकं हस्तपादच्छेदाधिकं वाङ्गुमुत्त इति ।

शीघ्र फल देने वाले कर्म उसी जन्म में फल देते हैं अथवा पर-जन्म तरक आदि में फल देते हैं। वे कर्म एक ही भव में तीव्र फल देते हैं अथवा अनेक भवों में तीव्र फल देते हैं। जिस प्रकार से अशुभ कर्म का आचरण किया है, उसी प्रकार से उसकी उदीरणा होती है अथवा दूसरे प्रकार से भी उसकी उदीरणा हो सकती है।

इसका आशय यह है कि कोई कर्म उसी भव में अपना विपाक देता है और कोई दूसरे भव में। जिस कर्म की स्थिति दीर्घ-कालिक होती है, उसका विपाक दूसरे भव में प्राप्त होता है। जिस प्रकार कर्म किया गया है, उसी प्रकार वह एक बार या अनेक बार फलित होता है। अथवा एक बार शिरच्छेद करने वाला एक बार या हजारों बार शिरच्छेद अथवा हाथ, पैर आदि के छेदन रूप फल पाता है।

१५. आगे से आगे (परं परं)

चूणिकार ने 'पर परेज' शब्द मानकर उसका अर्थ—अनन्त भवों में किया है।^१ वृत्तिकार ने 'पर-पर' का अर्थ—प्रकृष्ट प्रकृष्ट किया है।^२

१६. दुष्कृत का (दुष्णिपाणि)

यह 'दुष्णीपाणि' शब्द है। किन्तु छन्द की अनुकूलता की दृष्टि से यहाँ 'ईकार' को ह्रस्व किया गया है।

इस श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि किए हुए कर्मों का भोग किए बिना उनका विनाश नहीं होता। जो मनुष्य जिस रूप में जिस प्रकार का कर्म करता है, उसका विपाक भी उसे उसी रूप में या दूसरे रूप में भोगना ही पड़ता है। कर्मों को भोगे बिना उनका विनाश नहीं होता। कहा है—

मा होहि रे विसन्तो जीव तुमं विषण्णदुष्मणी जीवो ।

अहु चित्तिण्ण किट्टह तं दुक्खं जं पुरा रइयं ॥१॥

अइ विससि पायासं अहंमि न वीरं पुह समुद्द वा ।

पुण्णकयाउ न पुक्कसि अप्पाणं धायसे जइवि ॥२॥

'रे जीव ! तू विषण्ण मत हो। तू दीन और दुर्मता मत हो। जो दुःख (कर्म) तूने पहले उत्पन्न किया है, वह चिन्ता करने मात्र से नहीं मिट सकेगा।'

'रे जीव ! तू चाहे पातल, जंगल, कन्दरा, गुफा या समुद्र में भी चना जा, अथवा तू अपने आपकी घात भी कर ले, किन्तु पूर्वजित कर्मों से तू बच नहीं पायेगा।'

इसलोक ५ :

१७. जो माता पिता को छोड़ (जे मायरं न पियरं न हिन्वा)

प्रश्न होता है कि यहाँ केवल माता-पिता का ही ग्रहण क्यों किया गया है? चूणिकार का कथन है कि सन्तान के प्रति इनकी ममता अपूर्व होती है। ये करुणापर होते हैं। इनको छोड़ना कठिन होता है, अतः इनका यहाँ ग्रहण किया गया है। दूसरी बात है कि माता-पिता का संबंध सबसे पहला है, भाई, स्त्री, पुत्र आदि का संबंध बाद में होता है। किसी के भाई, स्त्री, पुत्र आदि नहीं भी होते, अतः प्रधानता केवल माता-पिता की ही है। माता-पिता आदि को छोड़ने का अर्थ है—उनके प्रति रहे हुए ममत्व को छोड़ना।^३

१. वृत्ति, पृ० १५३ : परंपरेणेति परमवे, ततश्च परतरमवे, एवं जाव अर्थात्सु मनेषु ।

२. वृत्ति, पृ० १५५ : परं परं प्रकृष्टं प्रकृष्टम् ।

३. वृत्ति, पृ० १५५ ।

४. वृत्ति, पृ० १५४ : एते हि कथमानि कुर्वाणा दुस्सज्जा इत्येतद्ग्रहणम्, सेवा हि ज्ञातृ-तार्था-पुत्रादयः सम्बन्धात् परमात् जयन्ति न जयन्ति वा इत्यतो माता-पितृग्रहणम् ।

१८. अमण का मत है (समपञ्चए)

अमण का मत स्वीकार कर अर्थात् संन्यास धारण कर, अथवा 'हम अमण हैं'—ऐसा कहते हुए ।'

१९. अह

अह शब्द का प्रयोग प्रश्न करने, आनन्तर्य दिखाने और वाक्योपन्यास में होता है ।' वृत्तिकार ने इसे वाक्योपन्यास के अर्थ में माना है ।'

२०. अपने सुख के लिए (आतसाते)

इसका अर्थ है— अपने सुख के लिए । जैसे गृहस्थ अपने सुख के लिए पचन-पाचन आदि क्रिया करते हैं, वैसे ही कुछ संन्यासी भी अपने सुख के लिए—स्वर्ग सुख पाने के लिए पंचाग्नि तप करते हैं, अग्निहोत्र आदि क्रियाएं करते हैं ।'

२१. लोक में (लोए)

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने लोक का अर्थ— पाषण्डिलोक अथवा सर्वलोक या गृहस्थलोक किया है ।'

२२. कुसीलधर्म वाला (कुसीलधर्मे)

वृत्तिकार ने इस पाठ के स्थान पर 'अणउज्जम्मे' पाठ की व्याख्या की है । इसका अर्थ है—अनूज्जर्मवाला । पापंडी का धर्म आर्जव रहित कैसे ? यह प्रश्न उपस्थित कर 'वृत्तिकार' ने इसका उत्तर दिया है— वह अपने आपको अहिंसक कहता है और वास्तव में अहिंसक नहीं होता ।'

इलोक ६ :

२३. (उज्जालओ पाण ... अगणिउतिवातएज्जा)

प्रस्तुत दो चरणों का प्रतिपाद है कि जो मनुष्य अग्नि को जलाता है, वह भी प्राणियों का वध करता है और जो मनुष्य अग्नि को बुझाता है, वह भी प्राणियों का वध करता है । भगवती सूत्र में इस आशय को स्पष्ट करने वाला एक सुन्दर संवाद है । कालोदायी ने भगवान् से पूछा— भते ! दो व्यक्ति अग्निकाय का समारभ करते हैं । एक मनुष्य अग्नि को जलाता है और एक मनुष्य अग्नि को बुझाता है । भते ! इन दोनों मनुष्यों में महाकर्म करने वाला कौन है ? और अल्प कर्म करने वाला कौन है ?

भगवान् ने कहा—कालोदायी ! जो अग्निकाय को जलाता है वह महाकर्म करता है और जो अग्निकाय को बुझाता है वह अल्पकर्म करता है ।'

भते ! यह कैसे ?

१. (क) वृत्ति, पृष्ठ १५४ : अमणवत्तिनः अमण इति वा वदन्ति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५६ : अमणवते किल अयं समुपस्मिता इत्येवमुपगम्य ।

२. वृत्ति, पृ० १५४ : अह प्रवता-उमन्तयानिषु ।

३. वृत्ति, पत्र १५६ : अयेति वाक्योपन्यासाच्च ।

४. (क) वृत्ति, पृ० १५४ : पञ्चाग्नितापादिभिः प्रकारैः पाकनिमित्तं च भूताहं मे हिसति आतसाते, भूतानीति अग्निभूतानि यानि चाग्न्यानि अग्निना वध्यन्ते आत्मसातनिमित्तं आत्मसातम् । तच्च वा— तपन-व्रितापन-प्रकाशहेतुम् ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५६ : आतसाते—आत्मसुखार्थं । तथाहि—पञ्चाग्नितापसा निष्ठपक्षेहास्तथाऽग्निहोत्रादिकया च कियथा पाषण्डिकाः स्वर्गावाप्तिमिच्छन्तीति, तथा लौकिकाः पचनपाचनादिप्रकारेणाग्निकायं समारभमाणाः सुखमभिलषन्तीति ।

५. (क) वृत्ति, पृ० १५४ : लोकः पाषण्डिलोकः अथवा सर्वलोक एव ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५६ : सोऽयं पाषण्डिको लोको गृहस्थलोको वा ।

६. वृत्ति, पृ० १५४ : अतार्जवो धर्मो यस्य सोऽयं अमणवधर्मे । कथं अतार्जवः ? अहिंसक इति चात्मानं वृषते न चाहिंसकः ।

कालोबायी ! जो मनुष्य अग्निकाय को जलाता है वह पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और वस-कायिक जीवों की अधिक हिंसा करता है और अग्निकायिक जीवों की कम हिंसा करता है। जो मनुष्य अग्निकाय को बुझाता है वह पृथ्वीकायिक आदि जीवों की कम हिंसा करता है और अग्निकायिक जीवों की अधिक हिंसा करता है।

इसलिए कालोबायी ! ऐसा कहा है।'

२४. मेघावी (मेघावि)

मेघावी का अर्थ है—सत् और असत् का विवेक रखने वाला, विद्वान्।'

२५. अग्नि का समारंभ..... (अग्निसमारभिजा)

अग्नि का समारंभ तीन प्रयोजनों से होता है—तपाना, सुखाना और प्रकाश करना।'

इलोक ८ :

२६. उड़ने वाले (संपातिम)

'संपातिम' के स्थान पर 'सपातिम'—यह विभक्तिरहित प्रयोग है। चूणिकार ने इसका अर्थ शलभ, वायु, आदि जीव किया है।' शलभ आदि उड़ने वाले वस प्राणी सपातिम होते हैं। यह प्रचलित अर्थ है। चूणिकार ने वायु को भी सपातिम बतलाया है, यह एक नया अर्थ है। वायु अग्नि में टकराती है। उससे वायुकायिक जीव मरते हैं। इस दृष्टि से यहाँ वायुकाय का उल्लेख महत्वपूर्ण है।

२७. संस्वेदय (संसेदया)

वेद—७।१ का टिप्पण।

२८. इंधन में जी जीव होते हैं (कट्टसमस्सिता)

इसका अर्थ है—काष्ठ में रहने वाले छुन, चींटियाँ, कृमि आदि।'

१. अंगुत्ताणि नाम २, जगर्द्ध, ७।२२७, २२८ : दो जते ! पुरिसा सरित्तया सरित्तया सरिब्बया सरित्तमंडमत्तोवगरणा अज्जमण्णेण सँट्ठि अग्निकायं समारंभति । तत्थ णं एगे पुरिसे अग्निकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अग्निकायं निब्बावेइ । एएत्ति णं भंते ! बोधुं पुरिसां कयरे पुरिसे महाकम्मतराए खेव ? महाकिरियतराए खेव ? महासवतराए खेव ? महावेयणतराए खेव ? कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए खेव ? अप्पकिरियतराए खेव ? अप्पासवतराए खेव ? अप्पवेयणतराए खेव ? जे वा से पुरिसे अग्निकायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अग्निकायं निब्बावेइ ?

कालोबाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अग्निकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मतराए खेव तत्थ णं जे से पुरिसे अग्निकायं निब्बावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए खेव ।

से केणट्ठेजं भंते ! एव वुत्थइ ? कालोबाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अग्निकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे बहुतराणं पुडविकायं समारभति, बहुतराणं आउवकायं समारभति, अप्पतराणं तेउवकायं समारभति, बहुतराणं वाउकायं समारभति, बहुतराणं वणस्सइकायं समारभति, बहुतराणं तसकायं समारभति ।

तत्थ णं जे से पुरिसे अग्निकायं निब्बावेइ, से णं पुरिसे अप्पतराणं पुडविकायं समारभति, अप्पतराणं आउवकायं समारभति, बहुतराणं तेउवकायं समारभति, अप्पतराणं वाउकायं समारभति, अप्पतराणं वणस्सइकायं समारभति, अप्पतराणं तसकायं समारभति । से तेणट्ठेजं कालोबायी ! ।

२. बुत्ति, पत्र १५६ : मेघावी सबसद्विवेकः सम्भुतिक ।

३. बुत्ति, पृ० १५५ : तपन-वितापन-प्रकाशहेतुर्वा स्यात् ।

४. बुत्ति, पृ० १५५ : सम्पत्ततीति सम्पातिमः शलभ-वाग्वायवः ।

५. (क) बुत्ति, पृ० १५५ : काष्ठेषु घृण-पिपीलिकाणां वायवः ।

(ख) बुत्ति, पत्र १५७ : वृक्षपिपीलिकाणां वायवः काष्ठाद्याभितारकः ।

इसोक ८ :

२९. वे जन्म से मृत्यु...धारण करते हैं (विलम्बगति)

इसका अर्थ है—जीव के स्वभाव को अथवा जीव की आकृति को बिलाने वाले। वनस्पति जीव हैं। वे जन्म से मृत्यु पर्यन्त, मनुष्य आदि जीवों की भांति, नाना अवस्थाओं को धारण करते हैं। जैसे मनुष्य की कमल, अर्बुद, मांसपेशी, गर्भ, प्रसव, बाल, कुमार, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध—ये अवस्थाएं होती हैं, इसी प्रकार हरित शालि आदि वनस्पति भी जात, अभिनव, संजातरस, युवा, पका हुआ, जीर्ण, सूखा हुआ और मृत—इन अवस्थाओं को धारण करते हैं। इसी प्रकार जब वृक्ष का बीज अंकुरित होता है तब उसे जात कहा जाता है। जब उसकी जड़ उगती है, जब वह स्कंध, शाखा और प्रशाखा से बढ़ता है तब वह पोतक कहलाता है। इसी प्रकार वह युवा होता है, मध्यम वय को प्राप्त होता है, जीर्ण होता है और एक दिन ऐसा आता है कि वह मर जाता है। इस प्रकार मनुष्य की भांति सारी अवस्थाएं वनस्पति में होती हैं।^१

वृत्तिकार ने विलम्बगति का अर्थ—दिलाना और वृत्तिकार ने धारण करना किया है।^२

३०. वे आहार से उपचित होते हैं, (आहार-वेहाइ)

वनस्पति के शरीर आहार से उपचित होते हैं, यह इसका अर्थ है।

सभी प्राणियों का शरीर आहार के आधार पर टिका होता है। 'अन्नं च प्राणा'—यह इसी का द्योतक है। इसी प्रकार वनस्पति जीवों का शरीर भी आहारमय है, आहार पर टिका होता है। आहार के अभाव में वृक्ष क्षीण हो जाते हैं, म्लान हो जाते हैं, सूख जाते हैं। आहार के आधार पर ही वृक्ष पुष्पित और फलित होते हैं। वृक्ष अधिक फल देते हैं या कम फल देते हैं, इसका आधार आहार की न्यूनाधिक मात्रा ही है।^३

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सर्वथा भिन्न किया है। उन्होंने 'आहारदेहाय' (सं० आहारदेहाय) शब्द मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—व्यक्ति वनस्पति के जीवों की अपने भोजन के लिए, शरीर की वृद्धि के लिए, शरीर के घावों को मिटाने के लिए हिंसा करता है।^४

वृत्तिकार का यह अर्थ प्रसंगोचित नहीं लगता। सूत्रकार का आशय है कि जैसे उस प्राणियों का शरीर आहारमय होता है, वैसे ही स्थावर प्राणियों का शरीर भी आहारमय होता है। बिना आहार के कोई भी शरीर उपचित नहीं होता। कोई प्राणी कबल आहार करे या न करे, परन्तु रोम आहार या ओज आहार तो सब प्राणियों के होता ही है।

३१. वे (वनस्पति-जीव) मूल, स्कंध आदि में पृथक्-पृथक् होते हैं (पुढो सियाइ)

वनस्पति की इस अवस्थाएं हैं—मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज।^५

मूल से बीज तक एक ही जीव नहीं होता, अनेक जीव होते हैं। वनस्पति संख्येय, असंख्येय और अनन्त जीवों वाली होती

१. (क) वृत्ति, पृ० १५५ : विलम्बगतिरिति विलम्बगति, भूतस्वभावं मृताहति वसंयन्तीत्यर्थः। तद्वत्तया—मनुष्ये निषेक-कलसा-अर्बुद पेशि-व्यूह-गर्भ-प्रसव-बाल-कुमार-यौवन-मध्यम-स्थाविर्यान्तो मनुष्यो भवति। एवं हरितान्यपि शाख्यादीनि जातानि अभिनवानि सस्या-नीत्यपविश्यन्ते, संजातरसाणि यौवनवन्ति, दरिद्राणि जीर्णानि, परिशुष्कानि मृतानीति। तथा वृक्षः अङ्कुरावस्थो जात इत्यपविश्यते, ततश्च मूलस्कंध-शाखाविभिर्बिभेयैः परिवर्द्धमानः पोतक इत्यपविश्यते, ततो युवा मध्यमो जीर्णो मृतरश्मास्ते स इति।

(ख) वृत्ति, पत्र १५७।

२. (क) वृत्ति, पृ० १५५ : विलम्बगतिरिति वसंयन्तीत्यर्थः।

(ख) वृत्ति, पत्र १५७ : विलम्बगति—धारयन्ति।

३. वृत्ति, पृ० १५५ : अहारमया हि वेहा वेहिनाम्, अन्नं च प्राणाः, आहाराभावे हि वृक्षा हीयन्ते म्लायन्ते मृष्यन्ते च मरुफलावस्था-फलारव्य भवन्ति।

४. वृत्ति, पत्र १५७ : वनस्पतिकायाधितान्याहारार्थं वेहोयवयार्थं वेहवतसंरोहणार्थं वाऽऽरमसुखं 'प्रतीत्य' आधिस्य यच्छिनत्ति।

५. दशवैकान्तिक, जिनवासववृत्ति, पृ० १३८ : युते कवे खंडे तथा य सजे तहृष्यवाले य।

पतो पूण्डे व कवे बीए कसवे य भाषण्वा ॥

है। यही इस एव का आशय है।'

वसुधैकालिक आदि आशयों में स्थावर जीवों के लिए 'अणोजीवा पुढोससा' पाठ है। इसका यही आशय है कि पृथ्वी, पानी आदि असंख्य जीवों के पीछे हैं। उन सभी जीवों का स्वतंत्र अस्तित्व है।

कुछ दार्शनिक सम्पूर्ण वृक्ष में एक ही जीव का अस्तित्व स्वीकार करने हैं। उनके मत को अस्वीकार करने के लिए 'पुढो सिमाइ'—यह कथन है।'

३२. अपने सुख के लिए (आत्मसुहं पटुञ्ज)

इसका अर्थ है—अपने सुख के लिए। जो व्यक्ति अपने, दूसरे या दोनों को सुख पहुंचाने के लिए या दुःख की निवृत्ति करने के लिए अथवा आहार, शयन, आसन आदि साधन-सामग्री के लिए वनस्पति के जीवों की हिंसा करता है।'

वृत्तिकार के अनुसार इसका तात्पर्य है कि आत्मसुख के लिए हिंसा करने का अर्थ है—आहार, देह का उपचय और देहक्षत के संरोहण के लिए हिंसा करना।'

३३. ठीठ प्रज्ञा बाला (पाताभिपण्णो)

ठीठ प्रज्ञा बाला, बयाहीन प्रज्ञा बाला।'

३४. बहुत जीवों का (बहुचं)

'बहुत' का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य एक का छेदन करता है, वह अनेक जीवों की हिंसा करता है, क्योंकि पृथ्वी आदि एक जीव नहीं, अनेक जीवों के पीछे हैं।'

श्लोक ६ :

३५. (आइं च.....बीयाइ)

वृत्तिकार ने जाति का अर्थ बीज किया है। अंकुर, पत्र, मूल, स्कंध, शाखा, प्रशाखा—ये वनस्पति की वृद्धि के प्रकार हैं। जो व्यक्ति मुसल, ऊखल, चाकू अथवा यंत्रों के द्वारा बीज का विनाश करता है, वह वृद्धि का विनाश करता है। बीज के अभाव में वृद्धि कैसे होगी? इसका दूसरा अर्थ भी हो सकता है। बीज आदि का विनाश करने वाला जाति का भी विनाश करता है और वृद्धि का भी विनाश करता है। यहां बीज से फल का ग्रहण किया है, क्योंकि वनस्पति की दस अवस्थाओं में पहली अवस्था भी बीज है और अन्तिम अवस्था भी बीज है। यह अन्तिम अवस्था फलगत होती है।'

१. वृत्ति, पृ० १५५ : पुढो सितानि पृथक्-पृथक् भित्तिनि, न तु य एव मूले त एव स्कन्धे, केवाञ्चिदेकजीवो वृक्षः तद्व्युत्सार्य पुढो-सिताइं ति। तान्मेवम्—संखेज्जजीवितानि (असंखेज्जजीवितानि) अणंतजीवितानि वा।

२. वसुधैकालिणी ४:पुत्र ४-व।

३. वृत्ति, पृ० १५५ : पुढो सितानितद्व्युत्सार्य पुढोसिताइं ति।

४. वृत्ति, पृ० १५५ : आत्म-परोक्षसुह-दुःखहेतुं वा आहार-सयणा-ऽऽसनादिवचनोपगतं।

५. वृत्ति, पत्र १५७।

६. (क) वृत्ति पृ० १५५ : प्रागस्तिसप्राज्ञो नाम निरनुकोशमतिः।

(ख) वृत्ति, पत्र १५७ : प्रागस्तिसप्राज्ञो नाम निरनुकोशमतिः।

७. वृत्ति, पृ० १५५ : एगमपि छिन्नं बहून् जीवान् निपातयति, एगपुढोए अणो जीवा।

८. (क) वृत्ति पृ० १५५ : जातिरिति बीजम्, तं मुसलीवृक्षला-ऽस्याविभिन्नविनाशयति। यन्त्रकोरव जातिविनाशे अङ्कुरादिवृद्धिहंता एव, आत्मभावे कुतो वृद्धिः? अथवा जाति पि विनाशेति बीजं। मुट्टि (वृद्धि) पि जातेति अङ्कुरादि। बीजाविति बीजा-ऽऽङ्कुरादिक्रमो वसितः, पुष्पाणुपुष्पो च वसविधानं।

(ख) वृत्ति, पत्र १५७ : 'जातिम्' जल्पति तथा अङ्कुरपत्रमूलस्कंधशाखाप्रशाखाभेदेन वृद्धि च विनाशयन् बीजानि च तत्फलानि विनाशयन् हरितानि क्षिप्रतीति।

३६. अपने आप को दंडित करता है (आयवण्डे)

इसका अर्थ है—अपने आपको दंडित करने वाला । जो मनुष्य दूसरे प्राणियों को दंडित करता है वह वास्तव में अपने आपको दंडित करता है ।^१

३७. अह

वृत्तिकार ने इसे 'आनन्तर्य' के अर्थ में और वृत्तिकार ने वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त माना है ।^२

३८. अनार्य धर्म (अणञ्जधर्मे)

जिसका धर्म अनार्य है वह अनार्यधर्मा कहा जाता है । जो जैसा कहता है वैसा नहीं करता, वह अनार्यधर्मा है ।^३

वृत्तिकार ने क्रूरकर्म करने वाले को अनार्यधर्मा माना है । उनका कथन है कि जो व्यक्ति धर्म का नाम लेकर अथवा अपने मुख के लिए वनस्पति का नाश करता है, वह चाहे पाखंडी हो या कोई भी हो, वह अनार्यधर्मा है ।^४

इलोक १० :

३९. गर्भ में (गर्भाइ)

इसका अर्थ है—गर्भ-काल में । साधारणतः मनुष्यणी का गर्भ-काल साधक नौ मास का होता है । अन्यान्य गर्भज प्राणियों का गर्भकाल भिन्न-भिन्न होता है । उस गर्भकाल में भ्रूण काल के परिपाक के साथ-साथ बढ़ता है, विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करता है । जो व्यक्ति पूर्वभ्रम में वनस्पति आदि जीवों का उपमर्दक रहा है, वह गर्भ की किसी भी अवस्था में मर जाता है—यह सूत्रकार का आशय है ।^५

४०. बोलने और न बोलने की स्थिति में (बुयाबुयाणा)

क्रम की दृष्टि से पहले 'अबुयाणा'—नहीं बोलते हुए और बाद में 'बुयाणा'—बोलते हुए होना चाहिए था । किन्तु यहां छन्द की दृष्टि से क्रम का व्यत्यय किया गया है । ये दोनों शब्द दो अवस्थाओं के द्योतक हैं । जन्म के पश्चात् बालक कुछ वर्षों तक अव्यक्त वाणी में बोलता है । उसकी वाणी स्पष्ट नहीं होती । फिर ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, उसकी वाणी व्यक्त या स्पष्ट होती जाती है ।^६

४१. पंचशिक्ष (पंचसिहा)

जिसके सिर में पांच शिखाएँ होती हैं उसे पंचशिक्ष कहा जाता है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'पंचबूढ़' किया है । इसका वैकल्पिक अर्थ है—'जिसके पांचो इन्द्रियां शिक्षाभूत होती हैं—अपने-अपने विषय में कार्यक्षम होती हैं, उसे पंचशिक्ष कहा जाता है । यह

१. वृत्ति, पत्र १५७ : स च हरितवस्त्रे विशादयास्थानं वण्डयतीत्यात्मवण्डः, स हि परमार्हतः परोपकारेणास्माननेवोपहृतिः ।

२. (क) वृत्ति पृ० १५५ : अस्तेत्यानन्तर्ये ।

(ख) वृत्ति, पत्र : १५७ : अथ शब्दो वाक्यालंकारे ।

३. वृत्ति पृ० १५५ : अनार्यधर्मोऽस्य स भवति अणञ्जधर्मे । अवावाही तथाकारी न भवति ।

४. वृत्ति, पृ० १५७ : अनार्यधर्मा क्रूरकर्मकारी भवतीत्यर्थः, स च क एवभूतो यो धर्मोपदेशेनात्मसुखार्थं वा बोजानि अस्य चोपलक्षणाभेदात् वनस्पतिकायां हिमस्ति स पार्श्विकस्तोकोऽस्यो वाऽनार्यधर्मा भवतीति सम्बन्धः ।

५. वृत्ति, पृ० १५६ : गर्भ इति वक्तव्ये गर्भादि इति यदवशिष्यते तद् गर्भाद्यवस्थानिमित्तम् । लक्षणा— निषेक-कमला-शुद्ध-पेति-व्यूह-मांस-गर्भाद्यवस्थानामन्वत् (२) स्यां कश्चिद् श्रियते । अथवा नासिकादिगर्भाविस्थासु नवमासा-न्तरास्त्यन्तरस्यां श्रियते ।

६. वृत्ति, पृ० १५६ : प्रभवाबुकोऽभात् पूर्वं बुयाणाः, इतरथाऽनुपूर्वमन्वकार इ वाक्य इति वाक्य, न यद्व्यतिथिर्वा कस्यना गिराद्विषयते, ततः परं बुयाणाः ।

कुमार अवस्था का विशेषण है। कभी-कभी मनुष्य इस अवस्था में भी मर जाता है।'

४२. मधेय (मज्झिम)

'मज्झिमा' के स्थान पर विभक्तिरहितपद 'मज्झिम' का प्रयोग किया गया है।

इसका अर्थ है—मध्यम वय।^१ पैंतीस और पचास के बीच की अवस्था मध्यम कहलाती है।

४३. (चमंति ते आउक्षये पत्नीना)

सब प्राणियों का आयुष्य समान नहीं होता। कुछ दीर्घ आयुष्य का बंध करते हैं और कुछ अल्प आयुष्य का। उनके भिन्न-भिन्न हेतु हैं। स्थानांग सूत्र में कहा गया है कि जीव तीन कारणों से अल्प आयुष्य कर्म का बंध करता है—'

१. जीव हिंसा से
२. मृषावाद से
३. भ्रमण-माहन को अप्रासुक, अनेषणीय दान देने से।

इसी प्रकार जीव तीन कारणों से दीर्घ आयुष्य कर्म का बंध करता है।

१. जीव-हिंसा न करने से,
२. झूठ न बोलने से,
३. भ्रमण-माहन को प्रासुक, एषणीय दान देने से।

यह आयुष्य भी सोपक्रम और निरुपक्रम—दोनों प्रकार का होता है। जो प्राणी जैसा आयुष्य बाधता है, उन्हीं के अनुसार उसका जीवन-काल होता है। इसी आधार पर कुछ गर्भकाल में, कुछ प्रथम वय में, कुछ मध्यम वय में और कुछ अन्तिम वय में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मरणावस्था के पहले वे सुख या जीवन से च्युत होते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं।'

इसलोक ११ :

४४. धर्म को समझ (बुद्धभाहि)

प्राणी । तू धर्म को समझ। देख, कुशील और पाण्डलोक कभी प्राण नहीं दे सकता। मनुष्य-क्षेत्र, उत्तम कुल, रूप, आरोग्य, आयुष्य की दीर्घता, बुद्धि, धर्म का श्रवण, धर्म का आग्रह, धर्म-श्रद्धा और समय—ये सब दुर्लभ हैं। इसे तू जान—'

माणुस्स-खेत्त-जाती-कुल-कूवा-अरोगमाउजं बुद्धी ।

सम (व) णोगाह सद्धा हरिसण च लोगम्मि बुलभाई ॥

१. धूणि, पृ० १५६ : पञ्चशिक्षो नाम पञ्चखूडः कुमारः, अथवा पञ्च इन्द्रियाणि शिक्षामूल्यानि बुद्धिसमर्थानि स्वे स्वे विषये तस्मात् पञ्चशिक्षः तस्मिन्नपि कदाचित् प्रियते ।

२. बुत्ति, पत्र १५७ : मध्यमा मध्यमवयसः ।

३. ठाणं, ३।१७, १८ : तिहि ठाणेहि जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—पाणे अतिवातिता भवति, मुसं वइत्ता भवति, तहाकवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणोसणिज्जेणं असणपाणक्काइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवति—इच्छेतेहि तिहि ठाणेहि जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति ।

तिहि ठाणेहि जीवा बोहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—णो पाणे अतिवातिता भवइ, णो मुसं वइत्ता भवइ, तहाकवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणक्काइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ—इच्छेतेहि तिहि ठाणेहि जीवा बोहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति :

४. धूणि, पृ० १५६ ।

५. धूणि, पृ० १५६ : किं बोद्धव्यम् ? न हि कुशीलपाण्डलोकः प्राणाय, धम्मं च बुद्धं दुत्तमं च बोधिं बुद्धम् । जहा—माणुस्स-खेत्त.....

४५. मनुष्यों में नाताप्रकार के भयों को देखकर (माणवेसु दट्ठुं भयं)

मनुष्यों में नाता प्रकार के भय होते हैं। जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग, शोक तथा नरक और तिर्यञ्च योनि में होने वाले दुःख—ये सारे भय हैं।^१

४६. बचपन (अज्ञान) को छोड़ (बालिएणं अलं भे)

'बालिक' का अर्थ है—बचपन, अज्ञान अवस्था।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—कुशीलत्व किया है।^२

'अलं भे' का संस्कृत रूप है—अलं भवतः।

वृत्तिकार ने 'बालिसेण अलंभे' पाठ की व्याख्या की है—बालिण को सदसत् विवेक का अलंभ (अप्राप्ति) होता है।^३

४७. एकान्त दुःखमय (एगंतदुक्खे)

इसका अर्थ है—एकान्त दुःखमय। निश्चय नय के अनुसार यह ससार एकान्त दुःखमय है।^४ कहा भी है—

'जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।

अहो दुक्खो हं संसारो, जत्थं कीसंति जंतवो ॥'

जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। अहो! यह सारा संसार दुःखमय है, जहां प्राणी क्लेश पाते हैं।

४८. (मूर्च्छा के) ज्वर से पीड़ित (जरिए)

ज्वरित का अर्थ है—ज्वर से पीड़ित। चूर्णिकार ने इसका एक अर्थ ज्वलित भी किया है। मनुष्य शारीरिक और मानसिक दुःखों से तथा कषायों से सदा प्रज्वलित रहता है।^५

देखें—भगवई ६।१७०।

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरण वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार हैं—संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेण अलंभो।

प्राणियो! तुम बोध प्राप्त करो। धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है, मनुष्य जन्म दुर्लभ है, यह जानो। भय को देख कर, तथा मूर्ख (अज्ञानी) को मत्-असत् का विवेक प्राप्त नहीं होता (यह समझ कर बोध को प्राप्त करो)।^६

चूर्ण और वृत्ति में पाठ-भेद है। इसके आधार पर अर्थ-भेद भी है। अर्थ की दृष्टि से चूर्ण का पाठ सगत लगता है, इस-लिए हमने चूर्ण का पाठ स्वीकार कर उसकी व्याख्या की है।

१. वृत्ति, पत्र १५८ : जालिअरामरुज्जरोगलोकादीनि नरकतिर्यंजुं च तीव्रदुःखतया भयं दृष्ट्वा।

२. चूर्ण, पृ० १५६ : बालिआवो हि बालिकं कुशीलत्वमित्यर्थः।

३. वृत्ति, पत्र १५८ : बालिसेण अज्ञेन सदसद्विवेकस्यालंभः।

४ (क) चूर्ण, पृष्ठ १५६ : निज्जंघमत्तं पटुक्ख एगंतदुक्खो संसारः।

(ख) वृत्ति, पत्र १५८ : निश्चयनयमवगम्य एकान्तदुःखोऽयं ज्वरित इव 'लोकः' संसारिप्राणिजगः।

५. उत्तरवज्रसूत्राणि, १६।१५।

६ चूर्ण, पृष्ठ १५६ : ज्वरित इव ज्वलितः सरीर-मानसेहि दुक्ख-धोमगस्सेहि कषावैरयं नित्यप्रज्वलितवान् ज्वरितः।

७. वृत्ति, पत्र १५८।

श्लोक १२ :

४६. मूढ मनुष्य (मूढा)

अज्ञान से आच्छादित बुद्धि वाले तथा जो दूसरो के द्वारा मूढ बनाए गए हैं वे मूढ कहलाते हैं।^१

५०. नमक (आहारसंपञ्जन)

इसका संस्कृत रूप है—आहारमपञ्जन। छन्द की दृष्टि से लकार का लोप होने पर 'मपञ्जन' रूप शेष रहा है। इसका अर्थ है—नमक। वह आहार को संपञ्ज्वलित करता है। आहार का व्युत्पत्तिक अर्थ है जो बुद्धि, आयु, बल आदि विशेष शक्तियों का आहरण करता है, खाता है, वह 'आहार' है।^२ चूर्णिक और वृत्तिक से 'आहार सपञ्जन'—इन तीन पदों की व्याख्या की है। नमक आहार की संपदा को पैदा करता है इसलिए उसका नाम 'आहारमपञ्जन' है।^३ चूर्णिकार और वृत्तिकार ने दो पाठान्तरो का उल्लेख किया है—'आहार सपञ्चग' तथा 'आहारपञ्चग'। 'आहारमपञ्चग' (स० आहारमपञ्चक) का अर्थ है—आहार के साथ पाँच प्रकार के लवणों के वर्जन द्वारा। पाँच प्रकार के लवण ये हैं—सैधव, सौवर्चल, बिड, रोम और सामुद्रिक।^४ सुश्रुत (४६।३।१२) में छह प्रकार के लवणों का नामोल्लेख है। सैधव नमक मिन्धु देश में प्राप्त होता था। शाकम्भरी (शको का देश), एशिया माइनर तथा काश्यपीयसर (कास्पियन सागर) से प्राप्तलवण रुमा या रोमन कहलाता था। दक्षिण समुद्र तथा ईरान की खाड़ी से प्राप्त होने वाला नमक सामुद्रिक कहलाता था।

'रुमा सर' या रोम सागर भूमध्य सागर का नाम है। एशिया माइनर का यह प्रदेश रूम देश कहलाता था, क्योंकि यह रोमन (इटली) लोगों के अधिकार में था। यह स्थान नमक की उत्पत्ति के लिए प्रसिद्ध था। आज तक कास्पियन सागर के दक्षिण-पश्चिम में नमक के कछार हैं।^५

दशवैकालिक सूत्र (३।८) में सौवर्चल, सैधव, रुमा, सामुद्रिक, पांशु-क्षार और काल-लवण—ये छह प्रकार के लवण बतलाए गए हैं। इस सूत्र के दोनों चूर्णिकार अगस्त्यसिंह मथविर और जिनदास महतर तथा वृत्तिकार हरिभद्रसूरी ने इनकी व्याख्या में अनेक प्रकार की जानकारी दी है। विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलिय ३।८ का टिप्पण।

चूर्णिकार के अनुसार लवण ही भोजन के सभी रसों को उद्दिष्ट करता है।^६ कहा है—

लवणबिहूणा य रसा, लवणबिहूणा य इन्द्रियगामा ।

धर्मो दयाय रहिओ, सोक्ख सतोसरहियं नो ॥

नमक के बिना कोई रस नहीं होता, आश के लिए इन्द्रिय-विषय अच्छे नहीं लगते, दया के बिना धर्म धर्म नहीं होता और संतोष के बिना कोई सुख नहीं होता।

जैसे—'लवण रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेघानां'—सभी रसों में लवण प्रधान है, स्निग्ध पदार्थों में तैल प्रधान है और मेघा

१. (क) चूर्णिक, पृ० १५७ : मूढा अज्ञानायाः स्वयं मूढा परेण मोहिताः ।

(ख) वृत्तिक, पत्र १५८ : मूढा अज्ञानाऽऽच्छादितमनसः परेण मोहिताः ।

२. चूर्णिक, पृ० १५७ : आह्रियते आहारयति वा तमिस्थाहारः, बुद्ध्यायुर्बलाविशिषोऽन् वा आनयति आहारयतीत्याहारः ।

३. (क) चूर्णिक, पृ० १५७ : ससाह्याहारसम्पदं जनयतीति आहारसपञ्जनं, (आहारसपञ्जनं) च तत् लवणम् ।

(ख) वृत्तिक, पत्र १५८ : आहार—ओवनाबित्तस्य सम्पद्—रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहार सम्पञ्जनम्—लवणम् ।

४. (क) चूर्णिक, पृ० १५७ ।

(ख) वृत्तिक, पत्र १५८ ।

५. (क) चूर्णिक, पृ० १५७ : अथवा—'आहारेणं समं पञ्चगं' आहारेण हि सह पञ्च लवणानि, तं अथा—सैधवं सोक्खलं बिड रोमं समुद्र इति ।

(ख) वृत्तिक, पत्र १५८ ।

६. भारत के प्राध्याचार्य पृ० १५३, मूल तथा फुट नोट ।

७. चूर्णिक, पृ० १५७ : लवणं हि सर्वरसानधीयति ।

बढ़ाने वाले पदार्थों में भी प्रधान है ।^१

जो व्यक्ति लवण का परित्याग करता है वह वस्तुतः रस का ही परित्याग कर देता है । वह रस पर विजय पा लेता है ।^२

दूसरा पाठान्तर है- 'आहारपञ्चग' । पाच प्रकार का वर्जनीय आहार यह है—मद्य, मधुसुन, प्वाज, ऊंटनी का दूध और गोमांस ।^३

कुछ व्यक्ति नमक को छोड़ने से और कुछ इन पाच प्रकार के भोजन को छोड़ने से मोक्ष बतलाते हैं ।^४ चूर्णिकार ने एक तीसरा पाठान्तर माना है— 'अट्टप्लवण ण परिहरति' । इसका अर्थ है—जो और नमक का परिहार नहीं करता ।^५

५१. कुछ मनुष्य (एगे)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा परित्राजक और भागवत की ओर इंगित किया है ।^६

५२. सजीव जल से स्नान करने (सीतोदगसेवणेणं)

सीत का अर्थ है—सजीव और उदक का अर्थ है—जल । 'सीतोदग' का अर्थ है—सजीव जल । परित्राजक आदि इसका उपयोग स्नान करने, पीने, हाथ-पैर धोने में करते थे ।^७

वे मानते हैं कि सजीव जल के सेवन से मोक्ष प्राप्त होता है । इसका आशय है कि जैसे जल बाह्य मल को दूर करता है वैसे ही वह आन्तरिक मल को भी दूर करता है । जैसे बाह्य-शुद्धि जल से होती है, उसी प्रकार आन्तरिक शुद्धि भी उसी से हो सकती है ।^८

५३. (हुतेण एगे ...)

विभिन्न प्रकार के तापस और ब्राह्मण हवन से मुक्ति बतलाते हैं । वे मानते हैं कि जो व्यक्ति स्वर्ग आदि फल की आशाना करना हुआ समिधा, घृत, आदि हव्य विशेष के द्वारा अग्नि को तृप्त करता है, हवन करता है, वह मोक्ष के लिए वैसा करता है । जो किमी आगसा से हवन करता है वह अभ्युदय के लिए होता है ।

जैसे अग्नि स्वर्ण-मल को जलाने में समर्थ है वैसे ही वह मनुष्य के आन्तरिक पापों को जलाने में भी समर्थ है ।^९

१ (क) चूर्णि, पृ० १५७ ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५८ ।

२. वृत्ति, पत्र १५६ : तदेवम्भूतलवणपरिवर्जनेन रसपरित्याग एव कुतो भवति ।

३. (क) चूर्णि, पृ० १५७ . अथवा आहारपञ्चग तद्वत्—'मज्जं लभुण पलङ्गं औरं करमं तथेव गोमंसं' ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५६ ।

४. वृत्ति, पत्र १५६ : तत् (लवण) त्यागाच्च मोक्षावाप्ति ... आहारपञ्चकवर्जनेन मोक्षं प्रवदन्ति ।

५. चूर्णि, पृ० १५७ : फुट नोट न० ३

६. (क) चूर्णि, पृ० १५७ : वारिभङ्गा तु एगे ... परित्राज् भागवतादयः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५६ : तयैके वारिभद्रकादयो भागवतविशेषाः ।

७. चूर्णि, पृ० १५७ . सीतोदगसेवणेणं स्नान-पान-हस्तपादधावनेन सीतोदगसेवणं तत्र च निवासः, सीतमिति अधिगतजीवं अमुष्ठा (? अनुष्ठा) त्रितप्तं वा, परित्राज्-भागवतादयोऽपि सीतोदकं सेवन्ति ।

८. वृत्ति, पत्र १५६ : सखित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति, उपपत्ति च ते अभिवद्यति—यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि, वस्त्रादेरेव यथोदकाच्छुद्धिरुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यवर्जनावांतरापि शुद्धिचक्रादेवेति मन्यन्ते ।

९. (क) वृत्ति, पत्र १५६ : तयैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति. ये किल स्वर्गाधिकलमनाशस्य समिधाघृतादिविह्वल्य-विशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वति शेषास्त्वभ्युदयायेति, मुक्तिं चात्र ते आहुः—यथा ह्यग्निः सुवर्चावीर्यं मत्तं बहुस्यैवं बह्वक्षामर्षावर्जनादारमजोऽप्यान्तरं यावन्ति ।

(ख) चूर्णि, पृ० १५७ : तापसादयो हि इष्टैः समिद्—घृतादिविह्वल्यैः हुताशनं तर्पयन्तो मोक्षमिच्छन्ति तत्र कुण्डावीन् सत्वाश्च यजन्ति ये तत्र बहुमते ... ये किल स्वर्गाधिकलमनाशस्य जुह्वति ते मोक्षाय, शेषास्तु अभ्युदयाय ।

चूर्णिकार ने यहाँ 'मोक्ष' का अर्थ—संपूर्ण मोक्ष या दरिद्रता आदि दुःखों से मोक्ष माना है ।'

इसलोक १३ :

५४. क्षार नमक (क्षारस्स लोणस्स)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—क्षारी-मिट्टी (नोनी-मिट्टी) से निकाला हुआ नमक किया है ।' अगस्त्यसिंह स्थविर ने भी यही अर्थ किया है ।'

वर्णवैकालिक ३/८ में 'पसुक्षारे' शब्द का प्रयोग है । इसका अर्थ है—पाशुक्षार अर्थात् ऊपर लवण । (देखें—दसवेआलियं, ३/८ का टिप्पण)

यहाँ लवण शब्द से पाचों प्रकार के लवण गृहीत है ।'

५५. गो-मांस (मांस)

यहाँ मांस से गो-मांस का ग्रहण किया गया है ।' इसका तात्पर्य है कि अनेक साधु-सन्यासी गो-मांस को छोड़कर अन्य मांस का भक्षण करते थे ।

५६. न खाने मात्र से (अभोक्ष्वा)

चूर्णिकार ने 'अभोक्ष्वा' और वृत्तिकार ने 'भोक्ष्वा' मानकर व्याख्या की है ।

चूर्णिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक के तीसरे-चौथे चरण का अर्थ इस प्रकार होगा—वे मद्य, मांस और लहसुन न खाने मात्र से मोक्ष की परिकल्पना करते हैं ।'

वृत्तिकार के अनुसार इनका अर्थ होगा—वे मद्य, मांस और लहसुन खाकर मोक्ष से अन्यत्र—संसार में निवास करते हैं ।'

५७. मोक्ष की (अण्णत्थ वासं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—'

१. अन्यत्र वास—मोक्ष वास ।

२. जो दृष्ट नहीं है, वहाँ वास करना अर्थात् संसार में वाम करना ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—संसारवास किया है ।'

१. चूर्ण, पृ० १५७ : मोक्षो ह्यविशिष्टः सर्वविमोक्षो वा दरिद्राहु लविमोक्षो वा ।

२. चूर्ण, पृ० १५७ : क्षारो नाम अदृष्टम् ।

३. दसवेआलियं ३/८, अगस्त्यचूर्ण पृ० ६२ : पसुक्षारो ऊसो कण्डिण्णतो अदृष्टम् अवति ।

४. (क) चूर्ण, पृ० १५७ : तवाहोग्यम्यानि पञ्च लवणानि ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५६ : क्षारस्स पञ्चप्रकारस्यापि लवणस्य ।

५. चूर्ण, पृ० १५७ : मांसमिति गोमांसम् ।

६. चूर्ण, पृ० १५७ : एताव्यभोक्ष्वा ।

७. वृत्ति, पत्र १५६ : भुक्त्वा ।

८. चूर्ण, पृ० १५७ ।

९. वृत्ति, पत्र १५६ ।

१०. चूर्ण, पृ० १५७ : अन्यत्रवासो नाम मोक्षावासः । अथवा अन्यत्रवासो नाम यत्रैकचित् यदोप्सितं वा न तत्र वासं परिकल्पयन्ति अत्रैव संसारे बन्ध ।

११. वृत्ति, पत्र १५६ : अन्यत्र मोक्षावप्यत्र संसारे वासम्—अवस्थानम् ।

श्लोक १४ :

५८. सायं (सायं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'रात्रि' और वृत्तिकार ने अपराह्न या विकाल-बेला किया है ।'

५९. श्लोक १४ :

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य है कि जो मनुष्य स्नान आदि से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं, वे सच्चाई को नहीं जानते । यदि जल-स्पर्श से मुक्ति होती तो जल के आश्रय में रहने वाले क्रूर-कर्मा और निर्दयी मछुए कभी मुक्त हो जाते । यदि यह कहा जाए कि जल में मल को दूर करने का सामर्थ्य है, वह भी उचित नहीं है । जैसे जल बुरे मल को धो डालता है, वैसे ही वह प्रिय अगराग को भी धो डालता है । इसका फलितार्थ यह हुआ कि वह पाप की भाँति पुण्य को भी धो डालता है । इस दृष्टि से वह इष्ट का विधातक होता है ।

वस्तुतः ब्रह्मचारि मुनियों के लिए जल-स्नान दोष के लिए ही होता है—'यतीना ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दोषायैव ।'

'जल स्नान मद और दर्प को उत्पन्न करना है । वह 'काम' का प्रथम अंग है । इसलिए दान्त मुनि 'काम' का परित्याग कर कभी स्नान नहीं करते ।'

'जल में भीगा हुआ शरीर वाला पुरुष ही स्नान किया हुआ नहीं माना जाता । किन्तु जो पुरुष व्रतो से स्नात है, वही स्नान किया हुआ कहा जाता है, क्योंकि वह अन्दर और बाहर से शुद्ध माना गया है ।'

श्लोक १५ :

६०. जलसर्प (सिरीसिका)

इसका अर्थ है—जलसर्प । चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—मगरमच्छ और शिशुमार ।'

६१. बतख (मंगू)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ मद्गु—जल-काक किया है ।' आप्टे की डिक्शनरी में जल-वायस (काक) का अर्थ—डुबकी लगाने वाला पक्षी किया है—(Diver Bird) । चूर्णिकार ने इसका अर्थ कामज्जेगा (?) किया है । पाइयसद्वयमहर्षणयो में 'कामजुग' को पक्षी-विशेष माना है ।

१. चूर्णि, पृ० १५७ : सायं ति रात्रौ ।

२. वृत्ति, पत्र १५९ : सायम् अपराह्णे बिकाले वा ।

३. वृत्ति, पत्र १५९ : स्नानादिका क्रिया अलेन कुर्वन्तः प्राणिनो विशिष्टा गतिमाप्नुवन्तीति केचनोवाहरन्ति, एतच्चासम्भ्यक, यतो यद्युदकस्पर्शमात्रेण सिद्धिः स्यात् तत् उदकसमाभिता यत्स्थवस्थावयः क्रूरकर्माणो निरमुक्तोऽवा बहवः प्राणिनः सिद्धयेयुरिति, यद्यपि तैरुच्यते—बाह्यमलापनयनसामर्थ्यमुदकस्य इष्टमिति तद्यपि विचार्यमाणं न घटते, यतो यद्युदकमनिष्टमलमपनयत्येवमस्मिन्मलमत्यङ्गरागं कञ्चु माविकमपनयति, ततश्च पुण्यस्यापनयनाविष्टविधातकृद्विष्टः स्यात्, किञ्च यतोऽना ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दोषायैव, तथा चोक्तम्—

तस्मात् कामं परित्यज्य, न ते स्नान्ति बभौ रताः ॥१॥

नोदकमिलम्बनाद्यो हि, स्नात इत्यभिधीयते ।

स स्नातो यो जलस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुद्धिः ॥२॥

'स्नानं भववर्षकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्कृतम् ।'

४. चूर्णि, पृ० १५८ : इह सिरीसिका मगरा सुसुप्तरा च, चतुष्पादस्तात् सिरीसृपाः ।

५. वृत्ति, पत्र १६० : तथा मद्गवः ।

६. वृत्ति, पृ० १५९ : मंगू नाम कामज्जेगा ।

६२. ऊदबिलाव (उड़ा)

‘उड़’ देशीशब्द है। इसका अर्थ है—ऊदबिलाव।

वृत्तिकार ने ‘उड़ा’ पाठ मानकर इसका अर्थ उष्ट्र—जलचर विशेष किया है।^१ किन्तु लिपिदोष के कारण उड़ा का उट्टा पाठ बन गया। वृत्तिकार को वही पाठ मिला, इसलिए इसका अर्थ उष्ट्र किया। जूणिकार के सामने मुठ पाठ ‘उड़ा’ था। उनके अनुसार इसका अर्थ है—ये बिल्ली के परिमाण वाले जलचर प्राणी बड़ी नदियों में डूबते-तैरते हुए पाए जाते हैं।^२ इन्हें उदबिलाव कहा जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अग्निघानचिन्तामणि नाममाला में ऊदबिलाव के चार नाम दिए हैं उद, जलमार्जार, पानीयनकुल और बसी।^३

मराठी में इसे जलमार्जार कहा जाता है।

यह नेबले के आकार का उससे बड़ा एक जंतु है, जो जल और स्थल दोनों में रहता है। यह प्रायः नदी के किनारे पर पाया जाता है। इसके कान छोटे, पंजे जालीदार, नाखून टेढ़े और पूछ कुछ चिपटी होती है। रंग इसका भूरा होता है। यह पानी में जिस स्थान पर डूबता है, वहां से बड़ी दूर पर और बड़ी देर के बाद उतराता है। इसका मुख्य भोजन है मछलियां। जब इसे मछलियां नहीं मिलती, तब यह भूमी पर इधर उधर घूमकर खरगोश, चूहे आदि छोटे-छोटे जानवरों को मारकर खा जाता है। प्रारम्भ में इसके बच्चे पानी से बहुत डरते हैं। मां अपने बच्चों को फुसलाकर नदी के किनारे ले जाती है और उन्हें पीठ पर बिठाकर नदी में तैरने लग जाती है। उथले पानी में जाकर वह उन्हें पीठ से नीचे गिरा देती है। बच्चे रोते-धिल्लाते हैं। मां की दृष्टि बच्चों पर रहती है। धीरे-धीरे वे तैरना सीख जाते हैं। बड़े होकर वे पानी में कलाबाजियां करते हुए लम्बे समय तक तैरते रहते हैं। लोग इसको पालतू जानवर की भांति पालते हैं और मछलियां पकड़वाने का काम लेते हैं। यह भील या तालाब में कूदकर मछलियों को एक कोने में हाक लाता है और तब उसका स्वामी मछलियां पकड़ लेता है। यह बड़ा होशियार और विनोदी होता है।^४

६३. बगरकससा (बगरकससा)

ये मनुष्य की आकृति वाले जलचर प्राणी हैं जो नदी और समुद्रों में रहते हैं।^५

हिन्दी शब्द-सागर में जल-राक्षसी का उल्लेख इस प्रकार है—

जल में रहने वाली राक्षसी जो आकाशगामी जीवों की छाया से उन्हें अपनी ओर खींच लेती है।^६

श्लोक १६ :

६४. यदि (यत्ती)

यहां छन्द की दृष्टि से दीर्घ ईकार का प्रयोग है। इसका अर्थ है—यदि।

१. वृत्ति, पृष्ठ १६० : तथोष्ट्रा—जलचरविशेषः।

२. वृत्ति, पृष्ठ १४८ : उड़ा नाम मज्जरकससा महानदीषु दृश्यन्ते उन्मुक्तजिमुक्तिजयां करेमाणा।

३. अग्निघान चिन्तामणि कोष्ठ ४।४१६ : उदस्तु जलमार्जारः पानीयनकुलो बसी।

४. वेदों—नवनीत; ६२, मई, नरैन्द्र नायक का लेख—जल का शिकारी ऊदबिलाव।

५. (क) वृत्ति, पृष्ठ १४८ : बगरकससा मनुष्याकृतयो नदीषु च यदस्ति।

(ख) वृत्ति, पृष्ठ १६० : तथोदकराक्षसा—जलमानुष्याकृतयो जलचरविशेषः।

६ हिन्दी शब्द सागर।

६५. नेता के पीछे चलते हुए (नेयारमणुस्सरंता)

यहाँ ऐसे नेता का ग्रहण किया गया है जो जन्म से अंधा हो।^१ अनुसरण का अर्थ है—पीछे चलना। अंधे व्यक्ति अंधे नेता के पीछे चलते हुए पथ से भटक जाते हैं। वे उन्मार्ग में चलते हुए विषम पथ, गढे, काटे, हिंस्र-पशु, अग्नि आदि के उपद्रवों को प्राप्त कर क्लेश को प्राप्त होते हैं। वे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते। यह इस पद का तात्पर्यार्थ है।^२

श्लोक १८ :

६६. हवन से मोक्ष होना बतलाते हैं (हुतेण जे सिद्धिबुवाहरंति)

‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम’—स्वर्ग की कामना करने वाले पुरुष को अग्निहोत्र करना चाहिए—इस भावना से कुछ व्यक्ति अग्नि से सिद्धि की बात बताते हैं।^३

‘उदाहरंति’ का सामान्य अर्थ है—उदाहरण प्रस्तुत करना। यहाँ इसका अर्थ—‘कहना’ मात्र है।^४

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—प्रतिपादन करना—किया है।^५

६७. कुकर्मों (बन जलाने वाले आदि) (कुकर्मिणं)

कोयला बनाने वाले बन-दाहक, कच्चा पकाने वाले कुम्हार, लोहे की वस्तुएँ बनाने वाले लोहकार तथा जाल बुनने वाले—आदि के व्यवसाय को कुकर्म कहा है। ये व्यवसाय करने वाले कुकर्म कहलाते हैं।^६

श्लोक १९ :

६८. दृष्टि की परीक्षा किए बिना (अपरिच्छ विट्ठि)

दृष्टि का अर्थ है—दर्शन। वह दो प्रकार का होता है मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन। ‘अपरिच्छ विट्ठि’ का अर्थ है—दृष्टि की परीक्षा किए बिना।

वृत्तिकार ने ‘विट्ठि’ के स्थान पर ‘दिट्ठं’ (दृष्ट) पाठ माना है।

६९. विनाश को (घातं)

इसका सामान्य अर्थ है—विनाश। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने उपलक्षण से इसका अर्थ—संसार किया है। जहाँ प्राणी नाना प्रकार से मारे जाते हैं, दुःख-विशेष से पीड़ित होते हैं, वह है संसार। इस अपेक्षा से संसार को ‘घात’ माना गया है।^७

७०. विद्या को (विज्जं)

चूर्ण और वृत्ति में ‘विज्जं’ पद का अर्थ विद्वान् किया गया है। इसका वैकल्पिक अर्थ विद्या भी है।^८

१. (क) चूर्णि, पृ० १५८ : आत्यन्धं नेतारं ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६० : अयं आत्यन्धमेव नेतारम् ।

२. चूर्णि, पृ० १५८ : यथा आत्यन्धो आत्यन्धं नेतारमनुस्सरंती, उन्मार्गं प्राप्य विषम-प्रपाता-ऽहि-कण्टक-व्यासाऽग्नि-उपद्रवानासा-वयति, क्लेशानुपपद्यति, न चेष्टां भूमिमवाप्नोति ।

३. वृत्ति, पत्र १६० ।

४. चूर्णि, पृ० १५८ : उदाहरंति नाम ज्ञासंति ।

५. वृत्ति, पत्र १६० : उदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति ।

६. (क) चूर्णि, पृ० १५८ : कुकर्मिणो नाम घटकाराः कूटकारा बज्रबाहा बल्लरवाहकाः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६० : कुकर्मिणाम् अङ्गारबाहूककुम्भकारायस्करादीनाम् ।

७. (क) चूर्णि पृ० १५९ : संस्तब्धैः कविशेषैर्घातयतीति घातः संसारः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६१ : घात्यन्ते—व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राचितः स घातः—संसारः ।

८. (क) चूर्णि, पृ० १५९ : विज्जं नाम विद्वान् .. विज्जं विज्जा नाम ज्ञानं ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६१ : विज्जं विद्वान् विज्जं विद्या ज्ञानम् ।

७१. (भूतेहि जाण पडिलेह सातं... ..ससयाबरेहि)

इसका अर्थ है— तस और स्थावर प्राणियो मे सुख की अभिलाषा होती है, इसे जाने ।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है । एकेन्द्रिय आदि जीवों को जानने वाला ज्ञाता सब जीवों को अपनी आत्मा के तुल्य समझे और उनके सुख-दुःख की प्रतिलेखना करे । वह यह जाने कि जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है । इसके आधार पर जो अपने लिए प्रिय नहीं है, वह दूसरों के लिए न करे । यही सम्यग् प्रतिलेखना है ।^१

वृत्तिकार की व्याख्या इस प्रकार है—

वह विवेकी मनुष्य यथार्थ को जानकर यह विचार करे कि तस और स्थावर जीव सुख कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? इसका आशय यह है कि सभी प्राणियों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय । सुखाभिलाषी प्राणियों को दुःख देने से कभी सुख नहीं मिलता ।

आयारो २।५२ मे भी यही पद प्रयुक्त है—भूएहि जाण पडिलेह सात । वहा हमने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—तू जीवों (के कर्म-बन्ध और कर्म बिपाक को) जान और उनके सुख (दुःख) को देख ।^२

ये व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं किन्तु इनके तात्पर्यार्थ मे कोई विशेष अन्तर नहीं है । जो पुरुष यह जान लेता है कि सभी प्राणियों मे सुख की आकांक्षा होती है, वह फिर किसी प्राणी को कष्ट नहीं दे सकता । यही इसका प्रतिपाद्य है ।

इलोक २० :

७२. अपने कर्मों से बंधे हुए (कम्मी)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ कर्म वाले और वृत्तिकार ने 'पापी' किया है ।^३

७३. आत्मगुप्त भिक्ष (आयगुप्ते)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं — (१) आत्मा मे गुप्त, (२) स्वयं गुप्त (३) मन, वचन और शरीर से गुप्त । मन, वचन और शरीर मे आत्मा का उपचार कर इन्हे भी आत्मा कहा जाता है ।^४

वृत्तिकार ने मन, वचन और काया से गुप्त व्यक्ति को आत्मगुप्त माना है ।^५

७४. तस जीवों कोसंयम करे (वट्ठुं तसे य पडिसाहरेज्जा)

चूर्णिकार ने इसके द्वारा ईर्या समिति का ग्रहण किया है । मुनि चलते समय ईर्या समिति का ध्यान रखे । वह तस या स्थावर प्राणियों को देखकर संयम करे, अपने शरीर का संकुचन या प्रसारण करे ।^६

वृत्तिकार का अर्थ सर्वथा भिन्न है—मुनि तस या स्थावर प्राणियों को जानकर उनके घात की क्रिया से निवृत्त हो जाए ।^७

१. चूर्ण, पृ० १५६ : भूतानि एकेन्द्रियादीनि, जानीत इति जानकः, स जानको अस्तोवमेण भूतेषु सातऽसात पडिलेहेहि, 'जघ्नं यमं ण पियं दुक्खं जाणिय एमेव सम्बससाणं ।' (इसा० नि० गा० १५६) एव मत्वा यथात्मनो न प्रियं तद् भूतानां न करोति ।

२. वृत्ति, पत्र १६१ : सबसद्धिबेकी यथावस्थिततएव गृहीत्वा असस्वाबरेभूतेः—अन्तुमिः कथं साम्प्रतं—सुखमवाप्यत इत्येतत् प्रत्युपेक्ष जानीहि—अबबुद्धयस्व, एतदुक्तं भवति—सर्वेऽप्यमुमन्तः सुखेविणो दुःखेविणो, न च तेवा सुखेविणो दुःखोत्पादकत्वेन सुखावाप्तिर्भवतीति ।

३. आयारो, पृ० ८१ ।

४. चूर्ण, पृ० १५६ : कर्माण्येषां सन्तीतिः कर्मिणः ।

(क) वृत्ति, पत्र १६१ : कर्माण्येषां सन्तीति कर्मिणः—सपापा इत्यर्थः ।

५. चूर्ण, पृ० १५६ : आतगुप्तो नाम आत्मसुगुप्तः स्वयं वा गुप्तः काय-वाङ्-मन-स्वात्मोपचारं कृत्वाऽपविश्यते आतगुप्तेति ।

६. वृत्ति, पत्र १६१ : आत्मा गुप्तो यस्य सोऽयमात्मगुप्तो मनोवाककायगुप्त इत्यर्थः ।

७. चूर्ण, पृ० १५६ : पडिसाहरेज्ज त्ति इरियासमिती गहिता, अतिवकमे संकुचए प्रसारए ।

८. वृत्ति, पत्र १६१ : वट्ठुं वा च तसान् चसाब्बात् स्वावरोश्च 'वट्ठुं' परित्राय तनुपघातकारिणीं किय्यां 'प्रतिसंहरेत्' निवर्तयेदिति ।

श्लोक २१ :

७५. भिक्षा से प्राप्त (धम्मसत्तं)

इसका अर्थ है—भिक्षा, माधुकरी वृत्ति से प्राप्त भोजन। वह भोजन जो औदोशिक, क्रीतकृत आदि बयालीस दोषों से मुक्त तथा मुद्यालब्ध हो—किसी आशंसा से प्राप्त न हो।^१

७६. अन्न का संख्य कर (विणिहाय)

मुनि भोजन आदि का संख्य न करे। आज मेरे उपवास आदि तपस्या है, मैं भोजन कर चुका हूँ या आज मैं स्वस्थ नहीं हूँ—ऐसा सोचकर मुनि दूसरे दिन के लिए भोजन का संख्य न करे।^२

७७. निर्जीव जल से (वियडेण)

‘वियड’—इसके तीन संस्कृत रूप किए जाने हैं—विकट, विकृत और विगत।

चूणिकार ने विगत का अर्थ निर्जीव किया है।^३ इसका प्रयोग शीतोदक और उष्णोदक—दोनों के साथ होता है—सीओदग वियडेण वा उमिणोदग वियडेण वा। अगले श्लोक में चूणिकार ने इसका अर्थ तन्तुलोदक आदि किया है।^४ वृत्तिकार ने सीवीरादि जल किया है।^५ वास्तव में इसका प्रयोग ‘पानक’ के अर्थ में होता है। उस युग में नाना प्रकार के पानक या पने तैयार किए जाते थे। वे निर्जीव होते थे।

७८. (लूसयई व वत्थं)

इसका अर्थ है—कपड़ों को काड़कर छोटे और साध कर बड़े करना या सीना।^६

७९. नाग्न्य (आमप्य) से (पागणियस्स)

नाग्न्य का अर्थ है—आमप्य, निर्यन्त्र-भाव या समयानुष्ठान।^७

श्लोक २२ :

८०. मृत्यु पर्यन्त (आदिमोक्षं)

आदि का अर्थ है—संसार और मोक्ष का अर्थ है—मुक्ति। संसार से मुक्त होने तक—यह इसका अर्थ है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—शरीर धारण करने तक, यावज्जीवन।^८

१. (क) वृत्ति, पृ० १५६ : धम्मोवेति लट्, नाप्पेयामुपरोध कृत्वा, मुद्यालब्धमित्यर्थः, आतासीसवोसपरिमुद्धं।

(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : धर्मेण—मुधिकया लब्धं धर्मसंघ उद्देशककीतकृदादिबोधरहितमित्यर्थः।

२. वृत्ति, पृ० १५६ : निघायेति सन्निधि कृत्वा, त पुण अमत्तच्छब्दविरतं भससेसं वा ‘अमत्तदुो वा मे अमत्त’ एवमादीनि कारणेहि सन्निधिं कर्तुं भुंजति।

३. वृत्ति, पृ० १५६ : विगतमिति विगतजीवं।

४. वृत्ति, पृ० १६० : विगतजीव वियडं तन्तुलोदगादि।

५. वृत्ति, पत्र १६२ : वियडेण प्रासुकोदकेन सीवीरादिना।

६. (क) वृत्ति, पृ० १५६ : लूसयति नाम जो खिन्दति, खिदितुं वा पुणे संघेति वा सिज्जति वा।

(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : लूसयति सोमार्थं दीर्घमुत्पाटयित्वा हृत्वं करोति हृत्वं वा सन्नाय दीर्घं करोति एवं लूसयति।

७. (क) वृत्ति, पृ० १५६ : नाग्न्यस्यो हि जंगणिगा स्यात्।

(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : पागणियस्स स्ति निर्यन्त्रभावस्य संयमानुष्ठानस्य।

८. (क) वृत्ति, पृ० १६० : आदिमोक्षो आदिरिति संसारः, स यावन्म मुक्तः ततो वा मुक्तः यावद्वा शरीरं ध्रियते तावत्।

(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : आदिः—संसारस्तस्मात् मोक्षआदिमोक्षः (तं) संसारविमुक्तिं यावदिति, धर्मकारणानां वाऽऽदिभूतं शरीरं तद्विमुक्तिं यावत् यावज्जीवमित्यर्थः।

भूणि और वृत्ति का उक्त अर्थ बुद्धिगम्य नहीं है। तात्पर्यार्थ में जो यावज्जीवन का अर्थ किया है वह उचित है। किन्तु 'आदि' का अर्थ ससार किया गया है, यह यहाँ प्रासंगिक नहीं लगता। वास्तव में यहाँ 'आविमोक्ष' पाठ होना चाहिए। उसका अर्थ होगा—प्राणविमोक्ष तक अर्थात् जीवनपर्यन्त। लिपि के संक्रमण-काल में 'वि' के स्थान पर 'दि' लिखा गया प्रतीत होता है।

श्लोक २४ :

८१. पेट भरने के लिए धर्म का आश्रयान करता है (आधाह धम्मं उदराणुगिद्धे)

भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि घर में प्रविष्ट होकर गृहस्थों की रुचि के अनुकूल धर्म कहता है, वह अपना पेट भरने के लिए आसक्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पेट भरने में आसक्त है वह दान में श्रद्धा रखने वाले घरों में जाकर, केवल स्वादु भोजन की प्राप्ति के लिए धर्मकथा करता है। धर्मकथा करने का उसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं होता।^१

८२. वह आर्य धर्मियों की ...हीन होता है (से आरियाणं गुणाणं सतंसे)

वैसा मुनि आर्य-धर्मियों की गुण-संपदा के सीवें भाग में होता है—यह इसका शब्दार्थ है। सूत्रकार का आशय है कि वह मुनि चारित्र-संपन्न आर्य (आचार्य) के गुणों से शतगुना हीन होता है।

प्रस्तुत पद में 'शत' शब्द उपलक्षण मात्र है। उसका भावार्थ है कि वैसा मुनि हजारगुना या उससे भी अधिक हीन होता है।^२

श्लोक २५ :

८३. गृहस्थ (पर)

यहाँ 'पर' का अर्थ है—गृहस्थ। वृत्तिकार ने 'पर' का अर्थ 'अन्य' किया है।^३

८४. वाता की प्रशंसा करते हैं (मुहमंगलिओदरियं)

ये दो शब्द हैं—'मुहमंगलिओ' और 'ओदरिय'। यहाँ द्विपद में संधि होकर 'मुहमंगलिओदरिय' शब्द निष्पन्न हुआ है।

जो जिह्वा के वशीभूत होकर, स्वादु भोजन की प्राप्ति के लिए अपने मुख से भाट की तरह गृहस्थ की प्रशंसा करता है वह 'मुहमंगलिक' है। वह कहता है—आप ऐसे हैं, आप वैसे हैं। आप वही हैं जिनके गुण दशो दिशाओं में फैले हुए हैं। इतने समय तक तो मैं कथाओं में ऐसे व्यक्तियों का वर्णन पढ़ता था, किन्तु आज मैंने प्रत्यक्ष ही आपको देख लिया।^४

'ओदरिय' का अर्थ है—अन्नपान, भोजन।^५

८५. खारे के लोभी (नीवारगिद्धे)

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'नीकार' दिया है। मृग और उड के मिश्रण से बनाए गए भोजन को 'नीवार' कहा है। यह सूअर का प्रिय भोजन है। सूअर 'नीवार' के भोजन में इतना आसक्त हो जाता है कि वह अपने शिकारी को देखकर भी

१. (क) बृजि, पृ० १६०।

(ख) वृत्ति, पृ० १६३।

२. (क) बृजि, पृ० १६० : आरिया चरित्तारिया तेसि सहस्समाए सो बट्ठि सहस्सगुणपरिहीणो । ततो य हेट्ठसरेण ।

(ख) वृत्ति, पृ० १६३ : अवासावाचार्यगुणानासाध्यगुणानां वा शतांशे वर्तते शतग्रहणमुपलक्षणं सहस्रांशोदरिप्यधो वर्तते इति ।

३. वृत्ति, पृ० १६३ : परभोजने पराहारविषये ।

४. वृत्ति, पृ० १६३ : मुखमाङ्गलिको भवति मुखेन मङ्गलानि—प्रशंसावाक्यानि ईहशस्तादृशस्त्वमित्येवं वेन्यमात्रमुपगतो वृत्ति, उक्त

च—

'तो एतो अस्स गुणा विवरतनिवारिया वसवित्तसु ।

इहरा कहासु मुखसि पञ्चमक अज्ज विट्ठोसि ॥'

५. बृजि, पृ० १५६ : ओदरिकम्—अन्न-पानमित्यर्थः ।

‘नीकार’ को नहीं छोड़ता, फिर चाहे शिकारी उसके सींग ही क्यों न उखाड़ ले, या उसे मार ही क्यों न डाले ।’

नीकार का वैकल्पिक अर्थ है—काण्ठी, मूंग, उड़द आदि धान्य ।’

देखें—३।३६ का टिप्पण ।

दश्लोक २३ :

८६. इहलौकिक (इहलोइयस्त)

अन्न, पान इहलौकिक पदार्थ हैं । वे शरीर-पोषण के साधन-मात्र हैं । वे मोक्ष के लिए नहीं होते ।’

८७. प्रिय वचन बोलता है (अनुप्ययं भासति)

इसका अर्थ है—जिसको जो प्रिय हो, वैसा बोलता । जैसे राजा का सेवक या उसकी हा में हा मिलाने वाला व्यक्ति राजा के वचन के पीछे-पीछे बोलता है ।’

चूणिकार के अनुसार इसका अर्थ है—वह मुनि अन्न-पान की प्राप्ति के लिए वाता के समक्ष प्रिय बोलता है—अरे, इस लडकी का विवाह क्यों नहीं कर देते ? इस बैल का दमन क्यों नहीं करते ? इसे प्रशिक्षित क्यों नहीं करते ?’

८८. पार्वस्यता (पासत्थयं)

दिगंबर ग्रंथों में ‘पार्वस्य’ का स्वरूप इस प्रकार है—

जो दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और तपविनय से दूर रहता है और जो गुणी व्यक्तियों के छिन्न देखता रहता है, वह पार्वस्य है । वह बन्धनीय नहीं होता ।’

‘जो समय का निरतिचार पालन नहीं करता, जो दोषयुक्त भोजन ग्रहण करता है, जो एक ही क्षेत्र और वसति में रहता है, जो तमक, धी आदि का संग्रह करता है, वह पार्वस्य है ।’

देखें—१।३२ का टिप्पण ।

८९. कुशीलता (कुसीलयं)

मूल तथा उत्तरगुणों में दोष लगाने वाला निग्रन्थ कुशील कहलाता है । उसका चारित्र कुछ-कुछ मलिन हो जाता है । उसके प्रमुख दो प्रकार हैं—प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील । इन दोनों के पांच-पांच प्रकार हैं—

- | | |
|-----------------|-------------------|
| १. ज्ञानकुशील | ४. लिंगकुशील |
| २. दर्शनकुशील | ५. यथासुकमकुशील । |
| ३. चारित्रकुशील | |

१. वृत्ति, पृ० १६१ : बराबाहन्तीति बराहः, बरा भूमी, स उद्भूतविषाणोऽपि भूत्वा अन्यान् पुरतोऽपि हन्यमानान् दृष्ट्वा तत्र नीकारे गृहो न पश्यति ।

२. वृत्ति, पृ० १६१ : अथवा निकारो नाम सस्यानि शालक-मुद्ग-माषादीनि ।

३. वृत्ति, पृ० १६१ : इहलौकिकानि हि अन्न-पानानि, न मोक्षाय, तथासैहिकानामन्नपानानां हेतुरिति वाक्यशेषः ।

४. वृत्ति, पृ० १६३ : अनुप्ययं भासते यद्यस्य प्रियं तत्तस्य ब्रह्मोऽनु—पदवाङ्मावते अनुभाषते, प्रतिशब्दकवत् सेवकवत् राजाङ्कमनु-ब्रह्मोऽनुभाषते ।

५. वृत्ति, पृ० १६१ : अनुप्ययानि भावते—एत चारिणा कीस न विज्जइ ? गोणे कि न बम्मइ ? एवमादि ।

६. मूलान्तर, भाषा ५२४ : बसज्जणान् चारित्तवज्जिणं, निज्जकाल पासत्था ।

एवे अवबज्जिणं विद्ध्येही गुणधराणाम् ॥

७. जगवती आराधना, भाषा १७२२, १७२३, विजयोधया वृत्ति ।

८. ठाणं ५।१८७; पृ० ६४२, टिप्पण १०२ : कुसीले पंचविडे कण्ठे, तं ब्रह्म—ज्ञानकुसीले, बसज्जकुसीले, चरित्तकुसीले, लियकुसीले, ब्राह्मसुद्धमकुसीले नाम ५-जे ।

दिवस परंपरा के अनुसार कुशील निम्नस्थ वह है जो इन्द्रियो और कषायो का वशवर्ती होकर समय मार्ग को छोड़, उत्पन्न-गामी हो जाता है।

जो क्रोध आदि कषायो से क्लृप्त है, जो व्रत, गुण और शील से रहित है, जो मघ का अभिनय करता है, वह कुशील कहलाता है।^१

जो मुनि मूल गुणों का यथावत् पालन करता है, परंतु उत्तरगुणों की कुछ विराधना करता है, वह प्रतिसेवना कुशील है।^२

जो मुनि कषायो के सभी प्रकार के उदयो को वश में कर लेता है किन्तु सज्ज्वलन कषाय के अधीन होता है वह कषाय कुशील कहलाता है।^३

चूर्णिकार ने पार्श्वस्थ और कुशील मुनि को चारित्र्यगुण से हीन केवल वेशधारी मुनि माना है।^४

६०. सेवन करता है (सेवमान)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ वाणी से तथा आगमन-गमन से सेवन करना^५ और वृत्तिकार ने दाता की सेवा करना किया है।^६

'सेवमान' का संबंध तीसरे चरण में प्रयुक्त 'पासस्थ' और 'कुशील' के साथ उचित लगता है। इस औचित्य के आधार पर हमने इसका संबंध उन दोनों शब्दों से जोड़ा है।

चूर्णिकार ने तीसरे चरण की भावनापूर्ति के लिए 'प्राप्य' का अध्याहार करने की बात कही है।^७ वृत्तिकार ने 'पार्श्वस्थ-भावमेव व्रजति, कुशीलता च गच्छति'—इस प्रकार क्रियाओं का अध्याहार कर अर्थ किया है।^८ इसके बदले यदि 'सेवमान' को इन दोनों पदों (पार्श्वस्थ और कुशील) के साथ जोड़ कर अर्थ करते हैं तो अर्थ की सगति बैठ जाती है।

६१. पुआल (पुलाए)

धान्यकण जो कीड़ों द्वारा खा लिए जाने पर निस्सार हो गया हो, जो केवल तुषमात्र बचा हो, वह पुआल (पुलाक) कहलाता है।^९

हलानुष्ठान तथा आप्टे की संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी में पुलाक का अर्थ निस्सार धान्य किया है। मनुस्मृति १०।१२५ में भी यही अर्थ है।

श्लोक २७ :

६२. अज्ञातपिंड की एषणा करे (अण्णार्यपिण्डेण)

अज्ञातपिंड का संबंध आहार की एषणा से है। चूर्णिकार ने इसके दो लक्षण यहाँ बतलाए हैं—१ आहार की एषणा के लिए अपना परिचय न देना, अपने आपको अज्ञात रखना और (२) याचक की भांति दीनता प्रदर्शित न करना। ये दोनों 'अज्ञात' पद द्वारा सूचित हैं। इस अज्ञात अवस्था में लिया जाने वाला आहार 'अज्ञातपिंड' कहलाता है।

देखें—संवेगालिय ६।३।४ का टिप्पण।

१. भाष्यपाट्ट, गाथा १४, टीका पृ० १३७ : क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलेः परिहीनः संघस्याभिनयकारी कुशील उच्यते।

२. सर्वाधिसिद्धि, ६।४७, पृ० ४६१ : प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु काचिद् विराधनां प्रतिसेवते।

३. वही, ६।४६, पृ० ४६० : वशीकृताभ्यकषायोदयाः सज्ज्वलनमात्रतन्त्रा कषायकुशीलाः।

४. चूर्ण, पृ० १६१ : केवलं लिङ्गावशेषः चारित्र्यगुणवञ्चितः।

५. चूर्ण, पृ० १६१ : सेवमान इति बायाए सेवति आगमन-गमनादीहि य।

६. वृत्ति, पत्र १६३ : तमेव दातारमनुसेवमानः।

७. चूर्ण, पृ० १६१ : प्राप्येति वाक्यशेषः।

८. वृत्ति, पत्र १६३।

९. चूर्ण, पृ० १६१ : पुलाए जक्षा घण्णं कीडएहि निष्कोलितं निस्सारं भवति केवल तुषमात्रावशेषम्।

चूर्णिकार का अभिमत है कि जो व्यक्ति अज्ञातपिंड की एषणा करता है वह निश्चित ही अन्न-पान के विषय में अनासक्त होता है ।^१

६३. (आहार न मिलने पर भूख को) सहन करे (अहिंसाएषणा)

इसका अर्थ है—सहन करना । प्रसंगवश इस शब्द का तात्पर्य है—आहार न मिलने पर मुनि भूख को सहन करे ।^२

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—जीवन निर्वाह करे—दिया है ।

अन्तर्प्रान्त आहार मिलने या न मिलने पर मुनि दीन न बने और श्रेष्ठ आहार मिलने पर मद न करे ।^३

६४. तपस्या से पूजा पाने की अभिलाषा न करे (गोपूयणं तवसा आबहेष्जा)

तपस्या से पूजा पाने की अभिलाषा न करे । इसका तात्पर्य है कि साधक मनुष्य पूजा या सत्कार के निमित्त तपस्या न करे । तप मुक्ति का हेतु है । पूजा-सत्कार या इसी प्रकार की दूसरी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसका उपयोग न करे । जो पूजा-सत्कार के निमित्त तपस्या करता है वह तत्त्व का अज्ञान है । कहा भी है—

‘परं लोकाधिकं धाम, तपःश्रुतिमिति ह्यम ।

तदेवाहित्यमिदं तपस्यारं तृणमवायते ।

लोक में दो उत्तम स्थान हैं—तप और श्रुति । ये दो ही श्रेष्ठ स्थान की प्राप्ति के हेतु हैं । यदि इनसे पौद्गलिक सुख की आकांक्षा की जाती है तो ये तृण के टुकड़े की भांति निःसार हो जाते हैं ।^४

६५. (सद्देहि कवेहि ...)

प्रस्तुत दो चरणों में शब्द, रूप तथा अन्य सभी इन्द्रिय-विषयो को छोड़ने का निर्देश है । वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में पाँच श्लोको का निर्देश किया है ।^५

इसलोक २८ :

६६. संसर्गों को (संगाई)

संग का अर्थ है—आसक्तभाव । संसर्ग दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आभ्यन्तर । बाह्य संसर्ग के विषय हैं—पदार्थ । आभ्यन्तर संसर्ग हैं—स्नेह, ममता आदि-आदि ।^६

चूर्णिकार ने संग का अर्थ प्राणानिपात आदि अठारह पाप किया है ।^७

६७. (गुणों की उत्पत्ति के लिए) उर्वर (अखिले)

चूर्णिकार ने अखिल पद के दो अर्थ किए हैं—सपूर्ण, उर्वर । मुनि को समस्त गुणों में प्रवृत्त होना चाहिए, इसलिए उसे अखिल कहा गया है । इसका दूसरा अर्थ है—उर्वर । खिल का अर्थ है—ऊपर भूमि, जहाँ कुछ भी निष्पन्न नहीं होता । जो ‘खिल’

१. बृजि, पृ० १६१ : न संखद्—अजीमगादीहि अण्णातडंछं एसति, अधिवासणा अलंनमाणे.....जो हि अण्णायपिडं एसए सो जियमा
... ..अण्णजिह्वो ।

२. बृजि, पृ० १६१ : अधिवासणा अलंनमाणे ।

३. वृत्ति, पत्र १६४ : ‘अधिसहेत्’ वसंयेत्—पालयेत्, एतदुक्तं अयति—अन्तर्प्रान्तेन लब्धेनालब्धेन वा न वैश्यं कुर्यात्, नाप्युलूढेन मद विह्वलात् ।

४. वृत्ति, पत्र १६४ : नापि तपसा पूजनसत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कारनिमित्तं तप कुर्यादित्यर्थः, यदि वा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथा-विधायित्वेन वा महतापि केनचित्पापो मुक्तिहेतुकं न निःसार कुर्यात्, तदुक्तम्—परं लोकाधिकं... .. ।

५. वृत्ति, पत्र १६४ ।

६. वृत्ति, पत्र १६४ : ‘सङ्गान्’ संसर्गान् आन्तरान् स्नेहलक्षणान् बाह्यान् इव्यपरिग्रहलक्षणान् ।

७. बृजि, पृ० १६२ : सङ्गा प्राणिवसदयः काव मिच्छासंखं ति ।

नहीं है वह है 'अखिल' अर्थात् उर्वर भूमि ।^१

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से परिपूर्ण किया है ।^१

इलोक २६ :

६८. भार को वहन करने के लिए (भारस्स जाता)

इसका अर्थ है—भार की यात्रा के लिए अर्थात् संयम-भार को वहन करने के लिए ।

वृत्तिकार ने भार का अर्थ—संयमभार और यात्रा का अर्थ—संयम-यात्रा किया है । संयम-भार को वहन करने के लिए तथा संयम-यात्रा के लिए—यह इसका संयुक्तार्थ है ।^१

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—पाँच महाव्रत के भार को वहन करने के लिए—किया है ।^१

६९. पाप का विवेक (पृथक्करण)(पापस्स विवेग)

यहां 'विवेग' विभक्ति रहित पद है । यह छन्द की दृष्टि से किया गया है ।

विवेक का अर्थ है—पृथक्करण, विनाश ।^१ पाप का पृथक्करण करना, पाप को अलग करना । वृत्तिकार ने 'पाप' के दो अर्थ किए हैं—कर्म और शरीर । शरीर को पाप मानने के दो हेतु हैं—कृतघ्नता और अशुचिता ।^१

१००. शान्त (धुतं)

वृत्तिकार ने 'धुत' के पांच अर्थ किए हैं—वैराग्य, चारित्र्य, उपशम, संयम और ज्ञान ।^१

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—संयम और मोक्ष ।^१

१०१. रहे (आइएज्जा)

इसका अर्थ है—ग्रहण करना, स्वीकार करना । दुःखों से स्पृष्ट होने पर मुनि 'धुत' को ग्रहण करे अर्थात् धुत के द्वारा (वैराग्य या उपशमन के द्वारा) दुःखों पर विजय प्राप्त करे ।^१ इसका प्रसंगोपात्त अर्थ है—(शान्त) रहे ।

१०२. कामनाओं का (परं)

यहां 'पर' शब्द कामनाओं का वाचक है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ शत्रु किया है ।^१

इलोक ३० :

१०३. दोनों ओर से छीले गए फलक की भांति (फलगावतट्टी)

इसमें दो शब्द हैं—फलक और अवतट्टी । इनका अर्थ है—दोनों ओर से छीले गए फलक की भांति ।

१. वृत्ति, पृ० १६१ : अखिलो नाम अखिलेषु गुणेषु वसितव्यम् अथवा खिलमिति यत्र किञ्चिदपि न प्रसूते ऊपरमित्यर्थः ।

२. वृत्ति, पत्र १६४ : अखिलो ज्ञानदर्शनचारित्र्यैः सम्पूर्णः ।

३. वृत्ति, पृ० १६२ : भारो नाम संयमभारो । जाताए स्ति संयमजातामातागिमितं संयमभारवहनद्विताए ।

४. वृत्ति, पत्र १६४ : संयमभारस्य यात्रार्थं - पञ्चमहाव्रतभागनिर्वाहणार्थम् ।

५. वृत्ति, पत्र १६४ : विवेकं पृथक्कारं विनाशम् ।

६. वृत्ति, पृ० १६२ : पापं नाम कर्म, विवेगो विनाश इत्यर्थः, सर्वविवेको मोक्ष, एसो देसविवेगो । अथवा पापमिति शरीरम् कृतघ्न-त्वावशुचित्वाच्च ।

७. वृत्ति, पृ० १६२ : धुतं वैराग्यं चारित्र्यं उपशमो वा संयमो जाणावि वा ।

८. वृत्ति पत्र १६४ : धुतं संयमं मोक्षं वा ।

९. वृत्ति, पृ० १६२ : आइएज्जा स्ति तमावद्यात्, तेन तेषां जयं कुर्वदित्यर्थः ।

१०. वृत्ति, पत्र १६४ : परं शत्रुम् ।

भूषिकार ने इसका आशय स्पष्ट करते हुए कहा है कि मुनि सहनशील रहे। कोई उसे काठ की भांति छील कर, उस पर नमक का लेप करे अथवा बावों पर नमक छिड़के, फिर भी वह द्वेष न करे, समभाव रहे।^१

वृत्तिकार का आशय भिन्न है। काठ को दोनों ओर से छीलने पर ही वह पतला होता है, उसी प्रकार मुनि भी बाह्य और आभ्यन्तर तप से अपने शरीर को कुश करे।^२

यहां शरीर और कषाय—दोनों को कुश करने की बात प्राप्त होती है।

आयारो ६।११३ में भी 'फलगावयद्वि' शब्द का योग हुआ है। इसका अर्थ है—बाह्य और आन्तरिक तप के द्वारा फलक की भांति शरीर और कषाय—दोनों ओर से कुश बना हुआ मुनि.....।^३

१०४. काल के (अंतगस्स)

अंतक का अर्थ है—मृत्यु, शरीर का अन्त करने वाला।^४

भूषिकार ने इसका मुख्य अर्थ मोक्ष और वैकल्पिक अर्थ—मृत्यु किया है।^५

१०५. प्रपंच (जन्म-मरण) में.....जाता (पबंचवेइ)

यहां दो पदों में संघि की गई है—पबंच + उवेइ।

प्रपंच का अर्थ है—जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, दुःख, दोर्मनस्य, रोग, शोक आदि।^६

१. भूषि, पृ० १६२ : यद्यप्यसौ परीसहृन्त्येत अर्जुनकवत् अथवा फलकवद्वकृष्ट. कारणेणालिप्येत लिख्येत वा तथापि अप्रवृष्टः।

२. वृत्ति, पत्र १६४ : फलकवद्वकृष्टः यथा फलकमुष्माभ्यामपि पारवर्ष्या लब्धं—घटितं सत्तनु भवति अरक्तद्विष्टं वा संबन्धेयमसावपि साधुः सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्ठतपबेहतनु—दुर्बलशरीरोऽरक्तद्विष्टश्च।

३. आयारो, पृ० २५५।

४. वृत्ति, पत्र १६४ : अन्तकस्य मृत्योः।

५. भूषि, पृ० १६२ : अन्तको नाम मोक्षः अथवा अन्तं करोतीति अन्तकः।

६. (क) वही, पृष्ठ १६२ : प्रपंच जाति-जरा-मरण-दुःख-दोर्मनस्यादिनष्टवद्वैकप्रकारः संसार एव प्रपञ्चकः।

(ख) वृत्ति, पत्र १६५ : प्रपञ्चं जातिजरा-मरणरोगशोकादिकं प्रपञ्च्यते ब्रह्मा नटवशास्मिन् स प्रपञ्चः—संसारः।

अट्ठमं अज्झयणं
बोरियं

आठवां अभ्ययन
बोर्यं

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'वीर्य' है। यह वर्ण्य-विषय के आधार पर किया गया नामकरण है। इसमें सभी प्रकार के वीर्यों—शक्तियों का वर्णन है। चेतन भी वीर्यवान् होता है और अचेतन भी वीर्यवान् होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर चेतन और अचेतन में शक्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं, न्यूनाधिक होती हैं।

चौदह पूर्वों में तीसरा पूर्व है— वीर्यप्रवाद। इसमें विभिन्न वीर्यों का विस्तार से वर्णन है। पूर्वों में वर्णित ज्ञानराशि को उपमा द्वारा समझाया गया है—^१

‘सर्व्व जईर्यं वा होञ्ज बालुका गणगजागद्या सन्ती ।

ततो बहुपतरागो अत्थो एगस्स पुब्बस्स ॥’

‘सर्व्व समुद्राणकलं जइयत्थमियं हविञ्ज संकलियं ।

एत्तो बहुपतरागो अत्थो एगस्स पुब्बस्स ॥’

—सभी नदियों के बालुकणों की जो संख्या है उससे भी बहुत अधिक अर्थवाला होता है एक पूर्व।

—सभी समुद्रों के पानी का जितना परिमाण होता है उससे भी अधिक अर्थवाला होता है एक पूर्व।

प्रस्तुत अध्ययन में सत्ताईस श्लोक हैं। उनका विषय वर्गीकरण इस प्रकार है —

श्लोक १-२ कर्म वीर्य है।

३ प्रसाद वीर्य है।

४-६ बालवीर्य का विवेचन।

१०-२२ पंडित वीर्य का विवेचन।

२३ अबुद्ध का पराक्रम।

२४-२७ बुद्ध का पराक्रम।

इनमें मुख्यतः पंडितवीर्य, बालवीर्य और बालपंडित-वीर्य का प्रतिपादन है।

वीर्य का अर्थ है—शक्ति, बल। उसके तीन प्रकार हैं—सचित्त वीर्य, अचित्त वीर्य और मिश्र वीर्य।

सचित्त वीर्य तीन प्रकार का है—

१. मनुष्यों का—जर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव आदि का वीर्य।

२. पशुओं का—हाथी, घोड़ा, सिंह, व्याघ्र, बराह, अष्टापद आदि का वीर्य। जैसे भेड़िया उछलकर भेड़ को मार डालता है वैसे ही अष्टापद उछलकर हाथी को मार डालता है। यह अष्टापद की शक्ति है।^२

३. निर्जीव पदार्थों का—जैसे गोशीर्षचन्दन का लेप ग्रीष्मकाल में बाह का नाश करता है और शीतकाल में शीत का नाश करता है। जैसे रत्नकंबल शीतकाल में गरम होती है और गरमी में ठंडक पैदा करती है। जैसे चक्रवर्ती का गर्भगृह (अम्बरप्राउन्ड) शीतकाल में गरम और ग्रीष्म में ठंडा होता है।^३

१. (क) जूजि, पृ० १६५। (ख) बुत्ति, पन्ना १६७।

२. जूजि, पृ० १६३ : अतुण्यवानं तु अस्सरयण-हत्तिरयण-सीह-अग्न-बराह-सरवादीण, सरावो किल हत्तिमयमि दूक इव औरयकं उच्चि-
चिञ्ज अ वज्जति।

३. (क) जूजि, पृ० १६३ : गोसीसर्पवत्त उण्हकाले ज्जरुं जासेति, तच्चा कंजरयणस्स सीवकाले सीतं उत्तिजकाले उण्हा जासेति,
तच्चा चक्रवर्त्तिस्स मज्जमिहं सीते उण्हं उण्हे सीतं।

(ख) बुत्ति, पन्ना १६५ : तत्ताज्जवानां भोत्तीर्षचन्दनप्रभृतीनां शीतोष्णकालयोसम्भूतवीर्यपरिमाण इति।

(क) अक्षिसौवीर्यं)

आहार, स्निग्ध पदार्थ, भक्ष्य और भोज्य पदार्थों की शक्ति को अक्षिस वीर्य कहा जाता है। इसी प्रकार कवच आदि आवरणों का तथा अन्धान्य शस्त्रों की शक्ति भी अक्षिस वीर्य कहलाती है। आहार में काम आने वाले पदार्थों की शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। जैसे खेवर प्राणों को उत्तेजित करने वाला, हृदय को प्रसन्न करने वाला और कफ का नाशक होता है।^१ इसी प्रकार औषधियों की भी अपनी-अपनी शक्ति होती है। शल्य को निकालने, घाव भरने, विष के प्रभाव को दूर करने, बुद्धि को वृद्धिगत करने—ये भिन्न-भिन्न औषधियों की शक्तियाँ हैं। कुछ विषवाती द्रव्य ऐसे होते हैं जिनको सूँघने मात्र से विष निकल जाता है। कुछ ऐसे होते हैं जिनका स्नेह करने से विष दूर होता है। कुछ के आस्वाद मात्र से विष नष्ट हो जाता है।^२

एक द्रव्य ऐसा होता है जिसकी सरसो जितनी गुटिका गेहूँ को उखाड़कर उस स्थान में लगाने से, वह विष को सारे शरीर में फैला देती है या सारे शरीर के विष को निकाल देती है।^३

एक द्रव्य ऐसा होता है जिसको खा लेने पर एक महीने तक भूल नहीं लगती, शक्ति की हानि भी नहीं होती।^४

कुछ द्रव्यों के मिश्रण से बनी हुई बाती पानी से भी जल उठती है। कश्मीर आदि प्रदेशों में लोग काजी से दीया जलाते हैं।^५

इस प्रकार विभिन्न द्रव्यों में चामत्कारिक शक्तियाँ होती हैं। उनका विवरण प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है—योनिप्राभृत।^६

यह द्रव्य-वीर्य का कुछ विवरण है।

इसी प्रकार क्षेत्र और काल वीर्य भी होता है। क्षेत्रवीर्य जैसे देवकुल आदि क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले सभी द्रव्य विशिष्ट शक्ति-संपन्न होते हैं। दुर्ग आदि में स्थित पुरुष का उत्साह वृद्धिगत होता रहता है। यह भी क्षेत्रवीर्य है।

काल की भी अनन्त शक्ति होती है। जैसे सुषुम्न-सुषुमा या सुषुमा काल में कालहेतुक बल विशिष्ट होता है। अथवा भिन्न-भिन्न पदार्थों में कालहेतुक बल होता है। आयुर्वेद ग्रन्थों में भी काल के प्रभाव से होने वाली गुणवृद्धि का स्पष्ट उल्लेख है—^७

‘वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते ।

शिशिरे बामलकरसो घृतं वसन्ते गुहो वसन्तस्यागते ॥’

वर्षा ऋतु में नमक, शरद् ऋतु में पानी, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर में आवले का रस, वसन्त में घी और ग्रीष्म में गुड़—ये अमृततुल्य हो जाते हैं।

‘ग्रीष्मे तुल्यगुहा सुसंघवयुतां मेघावमदोऽप्यरे,

तुल्या शर्करया शरच्चमलया गुह्या तुवारागमे ।

पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये औद्रेण संघोजितां,

पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गवा नश्यन्तु ते शत्रवः ॥’

ग्रीष्म ऋतु में हरड़ बराबर गुड़ के साथ, वर्षा ऋतु में मन्धव तमक के साथ, शरद् ऋतु में बगबर शक्कर के साथ,

१. वृत्ति, पत्र १६५ : ‘सद्यः प्राणकरा हृद्याः, घृतपूर्णाः कफापहाः ।

२. वृत्ति, पृ० १६३ : तं विसर्त्ताकरणी पाबलेबो मेधाकरणीओ य ओसधीओ । विसर्त्ताओणि य रव्वाणि गंध-आलेव-आस्वावमात्राण्य विषं शासेन्ति ।

३. बही, पृ० १६३ : सरिसवमेत्ताओ वा गुलियाओ वा लोपुष्कणणामेत्ते वेत्ते विषं गहो वा अणवो वा भवति ।

४. बही, पृ० १६३ : अन्यद्रव्यमाहारितं मासेणापि किल भुञ्जा न करोति न च बलमलानिर्भवति ।

५. बही, पृ० १६३ : किञ्च केवाञ्चिद् द्रव्याणां संयोगेन वत्सी आलिता उबकेनापि बीप्यते । कस्वीरावीषु च काञ्चिकेनापि बीप्यते ।

६ (क) वृत्ति, पृ० १६३ : योनिप्राभृताविषु वा विधासितव्य ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६५ : तथा योनिप्राभृतकान्नानाविषं द्रव्यवीर्यं द्रव्यमिति ।

७. (क) वृत्ति, पृ० १६३ ।

(ख) वृत्ति, पत्र २६६ ।

८. वृत्ति, पत्र १६६ ।

हेमन्त ऋतु में सौंठ के साथ, शिशिर ऋतु में पीपल के साथ और वसन्त ऋतु में मधु के साथ सेवन करने से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

यह काल के आधार पर द्रव्यों में होने वाले सामर्थ्य का निदर्शन है।

भाववीर्य

इसके तीन प्रकार हैं—औरस्य बल (शारीरिक बल), इन्द्रिय बल और अध्यात्म बल।

(१) औरस्य बल—

इसके चार प्रकार हैं—मनोबल, वचनबल, कायबल और प्राणापानबल।

मनोबल

जैसा औरस्य वीर्य होता है वैसी ही मानसिक पुद्गलों के ग्रहण की शक्ति होती है। शरीर का संहनन जितना सुदृढ़ हाता है उतने ही शक्तिशाली मानसिक पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं। इसी प्रकार वचन, काय और आनापान बल भी संहनन की दृढ़ता के आधार पर होता है।

इसके दो-दो प्रकार हैं—संभव और संभाव्य।

संभव—तीर्थंकर और अनुत्तरविमानवासी देवों का मन बहुत पटु होता है। अबधिज्ञान से सम्पन्न अनुत्तरोपपातिक देव मन के द्वारा जो प्रश्न या शंका उपस्थित करते हैं, तीर्थंकर उसका समाधान द्रव्य मन के द्वारा ही करते हैं क्योंकि उन देवों का सारा व्यापार मन से ही होता है।

जो व्यक्ति बुद्धिमान् द्वारा कही गई बात को वर्तमान में समझने में असमर्थ है, किन्तु अम्यास के द्वारा अपनी बुद्धि को पटु बनाकर वह भविष्य में उसे समझ लेगा, यह उसका संभाव्य वीर्य है।

वचनबल

इसके भी दो भेद हैं—संभव और संभाव्य।

तीर्थंकरों की वाणी एक योजन तक फैलती है और सभी सुनने वाले उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। इसी प्रकार क्षीराब्जवलम्बि, मध्वाब्जवलम्बि आदि लम्बिणों से सज्जन व्यक्तियों की वाणी बड़ी मीठी होती है। हंस, कोमल आदि पक्षियों का स्वर मीठा होता है। यह संभव वाचिक वीर्य है।

यह सम्भावना की जाती है कि श्रावक का पुत्र बिना पढ़े-लिखे भी उचित बोलने योग्य अक्षर ही बोलेगा। शिक्षित किए जाने पर तोता-मैना आदि भी मनुष्य की बोली बोलने लगते हैं। यह संभाव्य वीर्य है।

कायिक बल

इसके भी दो भेद हैं—संभव और संभाव्य।

चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव का जो स्वाभाविक बाहुबल है वह संभववीर्य है।

त्रिपृष्ठ वासुदेव ने बाएं हाथ की हथेली से करोड़ों मन की शिला उठा ली थी। एक ओर सोलह हजार राजाओं की सेनाओं के आदमी एक सांकल को खींचते हैं और दूसरी ओर वासुदेव खींचते हैं तो वासुदेव अपनी ओर सभी मनुष्यों को खींच लेते हैं।

तीर्थंकरों का कायवीर्य अपरिमित होता है।

यह संभव कायवीर्य है।

संभाव्य कायवीर्य—

तीर्थंकर लोक को अलोक में गेद की भांति फेंक सकते हैं। वे मेरु पर्वत को बड़े की भांति ग्रहण कर पृथ्वी को छत्र की तरह धारण कर सकते हैं।

कोई इन्द्र जंबूद्वीप को बाएं हाथ से छत्र की तरह तथा मेरु पर्वत को बड़े की तरह सहज ही उठा सकता है।

यह संभाव्य है कि वह लड़का बड़ा होकर इस शिला खंड को ऊपर उठाएगा, इस मल्ल के साथ लड़ेगा, हाथी को वश में

कर लेगा तथा धोड़े को दोड़ाएगा ।

२. इन्द्रिय-बल—इसके भी दो प्रकार हैं—संभव और संभाव्य ।

जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का संभव बल यह है कि वह बारह योजन तक के शब्द को सुन सकता है । इसी प्रकार शेष बारो इन्द्रियों का अपना-अपना संभव बल है ।

संभाव्य बल—जैसे किसी मनुष्य की इन्द्रिया नष्ट नहीं हुई हैं, किन्तु वह थका-मांदा है, क्रोधित है, प्यासा है, तो वह अपनी इन्द्रियों से विषयों को यथावत् ग्रहण नहीं कर पायेगा । ज्यों ही उसके ये दोष उपशान्त होंगे, वह पुन विषय-ग्रहण में उपयुक्त हो जाएगा ।

३. आध्यात्मिक बल—आन्तरिक शक्ति से या सत्त्व से उत्पन्न बल अध्यात्मिक बल है । उसके तीन प्रकार हैं—

१. उद्यम वीर्य—ज्ञान के उपाजन में या तपस्या आदि के अनुष्ठान में किया जाने वाला उद्यम ।

२. श्रुति वीर्य—संयम में स्थिरता, चित्त की उपशान्त अवस्था ।

३. धीरता वीर्य—कष्ट-सहिष्णुता ।

४. शौचीय वीर्य—त्याग की उत्कट भावना । छह खंडों के राज्य का त्याग करते हुए भी भरत चक्रवर्ती का मन कम्पित नहीं हुआ । यह त्याग का उत्कर्ष है । इसका दूसरा अर्थ है—आपत्ति में अखिन्न रहना । इसका तीसरा अर्थ है—विषम परिस्थिति आने पर भी, किसी आवेश की बाध्यता से नहीं किन्तु प्रसन्नता से 'यह मुझे करना है—इस दृष्टि से उस कार्य को पूरा करना ।

५. क्षमावीर्य—दूसरे के द्वारा अपमानित होने पर भी क्षुब्ध न होना ।

६. नास्मीय वीर्य—कष्टों से पराजित न होना । इसका दूसरा अर्थ है—चमत्कारिक अनुष्ठान करके भी अहंभाव न लाना ।

‘मुत्सुञ्चतेऽहं जं होह ऊगयं रित्तयं कणकणेऽहं ।

भरियाई जं क्षुब्धंती सुपुरिसविन्नाणमंडाई ॥’

जो घड़ा थोड़ा साली होता है, वह छलकता है । जो घड़े पूर्ण रिक्त होते हैं वे आपस में सघटित होकर आवाज करते हैं । जो पूरे भरे होते हैं, वे कभी नहीं छलकते ।

७. उषयोग वीर्य—चेतना का व्यापार करना । ज्ञेय पदार्थ को जानना और देखना ।

८. योग वीर्य—

(क) मनोवीर्य—अकुशल मन का निरोध, कुशल मन का प्रवर्तन । मन को एकाग्र करना । मनोवीर्य से ही निर्ग्रन्थों के परिणाम वर्धमान और अवस्थित होने हैं ।

(ख) वाग्वीर्य—अपुनरुक्त तथा निरवद्य वाणी का प्रयोग ।

(ग) कायवीर्य—कष्टों की भाति शरीर में अवयवों को समाहित कर निश्चल होना ।

९. तपोवीर्य—यह बारह प्रकार की तपस्याओं के कारण बारह प्रकार का है । तदध्यवसित होकर तपस्या करना तपोवीर्य है । सतरह प्रकार के समय में एकत्व आदि भावना से भावित होकर 'समय में कोई अतिचार न लग जाए' इस प्रकार सावधानीपूर्वक जो समय का पालन करता है, वह भी तपोवीर्य है ।

—अध्यात्मवीर्य के ये ती भेद हैं ।

सभी प्रकार के भाववीर्य के तीन-तीन प्रकार हैं—पंडित भाववीर्य, बाल भाववीर्य और बाल-पंडित भाववीर्य । चूर्णिकार और वृत्तिकार ने वीर्य के तीन प्रकार और किए हैं । उनका आधार है भाव—

१. क्षायिक वीर्य—क्षीण कषाय अर्थात् वीतराग का वीर्य ।

२. औपशमिक वीर्य—उपशान्त कषाय बालों का वीर्य ।

३. क्षायोपशमिक वीर्य—शेष सभी प्राणियों का वीर्य ।

चरित्र मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम और उपशम के आधार पर विरति भी क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक—

तीन प्रकार की होती है। इस आधार पर पंडित वीर्य के तीन भेद होते हैं।^१

चौथे श्लोक की व्याख्या में जूणिकार और वृत्तिकार ने धनुर्वेद, दंडनीति, आणक्यनीति आदि की मान्यताएं, शिक्षाएं प्रस्तुत की हैं। जूणिकार ने 'हंभीमासुहस्रं, कोडस्लग'—इन ग्रन्थों तथा 'अथर्वण' का विषय निदिष्ट किया है।^२

प्रस्तुत अध्ययन के कुछेक महत्वपूर्ण शब्द हैं—ठाणी (श्लोक १२), दुसीमको (श्लोक २०), भाणजोग (श्लोक २७)। इनकी व्याख्या के लिए देखें—टिप्पण।

१. माधवीर्य के संपूर्ण विवरण के लिए देखें, जूणि पृ० १६४-१६५ तथा वृत्ति पत्र १६६-१६८।

२. जूणि, पृ० १६६।

अष्टमं प्रश्नम् : आठवां अध्यायः

वीर्यं : वीर्य

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

१. बुद्धा वीर्यं सुयुक्तायं
वीर्यं ति पबुच्चई ।
किण्णु वीरस्स वीरितं ?
केण वीरो ति बुच्चति ? ॥

२. कम्ममेव पवेदंति
अकम्मं वा वि सुव्वया ।
एतेहि वोहि ठाणेहि
जेहि बीसंति मच्चिया ॥

३. प्रमायं कम्ममाहंसु
अप्पमायं तहावरं ।
तम्मावादेसओ वा वि
बालं पंडितमेव वा ॥

४. सत्थमेगे सुसिक्खंति
अतिपाताय पाणिणं ।
एगे मंते अहिज्जंति
पाणभूयविहेडिणो ॥

५. माइणो कद्धु मायाओ
कामभोगे समारभे ।
हंता छेत्ता पगतिसा
आय-सायाणुगाभिणो ॥

६. मनसा वचसा चैव
कायेन चैव अन्तरो ।
आरतो परतो वा वि
बुद्धा वि य असंजता ॥

७. वेराहं कुब्बली वेरी
ततो वेरेहि रज्ज्वती ।
पापोवणा य आरंभा
दुक्खकाशा य अन्तरो ॥

द्विधा वेतत् स्वाख्यातं,
वीर्यं इति प्रोच्यते ।
किण्णु वीरस्य वीर्यं ?
केन वीर इति उच्यते ? ॥

कर्म एव प्रवेदयन्ति,
अकर्म वापि सुव्रताः ।
एतयोः द्वयोः स्थानयोः,
ययोर्दृश्यन्ते मर्त्याः ॥

प्रमादं कर्म आहुः,
अप्रमादं तथाऽपरम् ।
तद्भावादेशतो वापि,
बालं पंडितमेव वा ॥

शस्त्रमेके सुशिक्षन्ते,
अतिपाताय प्राणिनाम् ।
एके मन्त्रान् अधीयते,
प्राणभूतविहेडिनः ॥

मायिनः कृत्वा मायाः,
कामभोगान् समारभन्ते ।
हन्तारः छेत्तारः प्रकर्त्तयितारः,
आत्मसातानुगामिनः ॥

मनसा वचसा चैव,
कायेन चैव अन्तरो ।
आरतः परतो वापि,
द्विधाऽपि च असंजताः ॥

वेराणि करोति वेरी,
ततो वेरेषु रज्ज्वती ।
पापोपगाश्च आरंभाः,
दुःखस्पृशाश्च अन्तरो ॥

१. यह स्वाख्यात वीर्य दो प्रकार का कहा गया है ।
वीर का वीर्य क्या है ? वह किस कारण से वीर
कहलाता है ?

२. सुव्रत (तीर्थंकर)^१ दो प्रकार के वीर्य का प्रतिपादन
करते हैं—कर्मवीर्य और अकर्मवीर्य । सभी मनुष्य
इन दो स्थानों में विद्यमान हैं ।^२

३. तीर्थंकरों ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म
कहा है ।^३ कर्मवीर्य के सद्भाव की अपेक्षा से मनुष्य
'बाल' और अकर्मवीर्य के सद्भाव की अपेक्षा से वह
'पंडित' कहलाता है ।^४

४. कुछ लोग प्राणियों को मारने के लिए शस्त्र (या
शास्त्र)^५ की शिक्षा प्राप्त करते हैं और कुछ लोग
प्राणियों और भूतों को बाधा पहुंचाने वाले^६ मनों
का अध्ययन करते हैं ।^७

५. मायावी मनुष्य (राजनीति शास्त्री से सीढ़ी हुई)
माया का प्रयोग कर^८ कामभोगों (धन) को^९ प्राप्त
करते हैं । वे अपने सुख के अनुगामी होकर प्राणियों
का हनन, छेदन और कर्त्तन करते हैं ।^{१०}

६. असंयमी मनुष्य मन से, वचन से और अन्त में काया
से,^{११} स्वयं या दूसरे से^{१२} या दोनों के संयुक्त प्रयत्न
से (जीवों की हिंसा करते हैं, करवाते हैं ।)

७. वेरी वीर करता है । फिर वह वीर में अनुरक्त हो
जाता है ।^{१३} हिंसा की प्रवृत्तियाँ मनुष्य को पाप की
ओर ले जाती हैं । अन्त में उनका परिणाम दुःख-
दायी होता है ।

८. संपरायं शियच्छति
असत्कृतकारिणो ।
रागदोषस्त्रिया बाला
पापं कुर्वन्ति ते बहु ॥

९. एतं सकर्मविरियं
बालाणं तु प्रवेदितम् ।
एतो अकर्मविरियं
पंडियाणं सुपेह मे ॥

१०. ब्रह्मिण बंधनमुक्ते
सर्वतो छिन्नबंधने ।
यणोल्स पावनं कर्म
सत्त्वं कंतति अंतसो ।

११. ज्ञेयायं सुयक्तातं
उपादाय समीहते ।
भूयो भूयो दुःखावासं
असुहृत् तहा तहा ॥

१२. ठानी विविधस्थानानि
अस्सन्ति न संसओ ।
अगितिए अयं बासे
जातीहि य सुहीहि य ॥

१३. एवमावाय मेधावी
अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरियं उवसंपज्जे
सज्जधम्ममकोवियं ॥

१४. सहसंमइए णज्जा
धम्मसारं सुणेसु वा ।
समुवट्टिए अनगारे
पणवक्खायपावए ॥

१५. अं किञ्चुवक्कमं जाणे
आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरा क्षिप्पं
सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥

१६. अहा कुम्मे सअंगाई
सए बेहे समाहरे ।
एवं पावेहि अप्पाणं
अज्झप्पेण समाहरे ॥

सम्पराय नियच्छति,
आर्त्तदुष्कृतकारिणः ।
रागदोषश्रिताः बालाः,
पाप कुर्वन्ति ते बहु ॥

एतत् सकर्मवीर्यं,
बालानां तु प्रवेदितम् ।
इत अकर्मवीर्यं,
पंडितानां शृणुत मे ॥

द्रव्यो बन्धनोन्मुक्तः,
सर्वतः छिन्नबन्धनः ।
प्रणुद्य पापक कर्म,
शल्य कृन्तति अन्तशः ॥

नैर्वात्रिक स्वाख्यात,
उपादाय समीहते ।
भूयो भूयो दुःखावासं,
अशुभत्वं तथा तथा ॥

स्थानिनः विविधस्थानानि,
त्यक्ष्यन्ति न सशयः ।
अनित्योऽयं वासः,
ज्ञातिभिश्च सुहृद्भिश्च ॥

एवमावाय मेधावी,
आत्मनो गृद्धिमुद्धरेत् ।
आर्यं उपसपद्येत,
सर्वधर्माऽकोपितम् ।

स्वसम्मत्या ज्ञात्वा,
धर्मसारं श्रुत्वा वा ।
समुपस्थितः अनगारः,
प्रत्याख्यातपापकः ॥

यत् किञ्चिद् उपक्रमं जानीयात्,
आयुःक्षेमस्य आत्मनः ।
तस्यैव अन्तरा क्षिप्रं,
शिक्षां शिक्षेत पंडितः ॥

यथा कर्मः स्वाङ्गानि,
स्वे देहे समाहरेत् ।
एव पापेभ्यः आत्मानं,
अध्यात्मनि समाहरेत् ॥

८ विषय और कषाय से आर्त्त होकर हिंसा आदि दुष्कृत करने वाले मनुष्य^{१०} संसार (जन्म-मरण)^{१०} से बंध जाते हैं। वे राग-द्वेष के बशीभूत होकर बहुत पाप करते हैं।

९. यह बाल मनुष्यों का सकर्मवीर्य बतलाया गया है। अब पंडित मनुष्यों के अकर्मवीर्य को मुझसे सुनो।

१० वीतराग की भांति आचरण करने वाला,^{१०} कषाय के बंधन से मुक्त,^{१०} प्रमाद या हिंसा में सर्वतः प्रवृत्त नहीं होने वाला मनुष्य^{१०} पाप-कर्म को दूर कर सपूर्ण^{११} शल्य को काट देता है।

११ वह मोक्ष की ओर ले जाने वाले^{११} सु-आख्यात (धर्म) को^{११} पा चिन्तन करता है^{११}—प्राणी बार-बार दुःखमय आवासो को^{११} प्राप्त होता है। जैसा-जैसा कर्म होता है वैसा-वैसा अशुभ फलता है।^{११}

१२ स्थानी (उच्च स्थान प्राप्त)^{१२} अपने विविध स्थानों को छोड़ेंगे, इसमें कोई सशय नहीं है। ज्ञातिजनो और मित्रों के साथ यह वास नित्य नहीं है।

१३. ऐसा सोचकर मेधावी मनुष्य अपनी गृद्धि को छोड़ दे और सब धर्मों में निर्मल^{१३} आर्यधर्म को स्वीकार करे।

१४ धर्म के सार को अपनी मति से^{१४} जान अथवा दूसरों से सुन, उसके आचरण के लिए उपस्थित हो, पाप का प्रत्याख्यान कर अनगार बन जाता है।^{१४}

१५ पंडित अनगार अपने आयुक्षेम का^{१५} जो कोई उपक्रम (विघ्न)^{१५} जाने तो उस (आयुक्षेम) के अन्तराल में ही शीघ्रता से शिक्षा (सलेखना) का^{१५} सेवन करे।

१६ जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, इसी प्रकार पंडित पुरुष अपनी आत्मा को पापों से बचा अध्यात्म में^{१६} ले जाए।

१७. साहरे हृत्प्राणं य
मनं सन्निविद्याणि य ।
पापकं च परीणामं
भाषादोषं च पापकम् ॥

संहरेत् हृत्प्राणांश्च,
मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
पापकं च परीणामं,
भाषादोषं च पापकम् ॥

१७ वह हाथ, पैर, मन, सब इन्द्रियों, बुरे परिणामों^{११}
और भाषा के दोषों का संयम करे ।

१८. अणु मानं च मायं च
तं परिणाय पंडितः ।
श्रुतं मे इह मेगेसि
एयं वीरस्य वीर्यम् ॥

अणु मानं च मायां च,
तं परिणाय पंडितः ।
श्रुतं मे इह एकेषां,
एतद् वीरस्य वीर्यम् ॥

१८ पंडित पुरुष कषाय के परिणामों को जानकर अणुमात्र
भी मान^{१२} और माया का आचरण न करे । मैंने
तीर्थंकरों से यह सुना है कि यह वीर का वीर्य है ।^{१३}

१९. उद्धमहे तिरियं विषासु
जे पाणा तस पावरा ।
सर्वस्य विरतिं कुञ्जा
संति निष्वाणमाहितं ॥

उद्ध्वं अधः तिर्यग् दिशासु,
ये प्राणाः त्रसाः स्थावराः ।
सर्वत्र विरतिं कुर्यात्,
शान्तिनिर्वाणमाहितम् ॥

१९ ऊची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो कोई त्रस
और स्थावर प्राणी है, सब अवस्थाओं में उनकी
हिंसा से विरत रहे । (विरति ही) शान्ति है और
शान्ति ही निर्वाण है ।

२०. पाणे य जाह्वाएज्जा
अविण्णं पि य नातिए ।
सातिथं ण मुसं ब्रूया
एस धम्मं वुसीमओ ॥

प्राणांश्च नातिपातयेत्,
अदत्तमपि च नादद्यात् ।
साचिकं न मृषा ब्रूयात्,
एष धर्मः वृषीमतः ॥

२० प्राणियों का अतिपात न करे, अदत्त भी न ले, कपट-
सहित^{१४} झूठ न बोले । यह मुनि का^{१५} धर्म है ।

२१. अतिक्रमंति वायाए
मणसा वि ज पत्थए ।
सब्बओ संवुडे बंते
आयाणं सुसमाहरे ॥

अतिक्रममिति वाचा,
मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ।
सर्वतः संवृतो दान्तः,
आदानं सुसमाहरेत् ॥

२१. महाव्रतों का वाणी से अतिक्रम न करे । मन से भी
उनके अतिक्रम की इच्छा न करे । वह सब ओर से
संवृत और दान्त होकर इन्द्रियों का संयम करे ।^{१६}

२२. कडं च कज्जमाणं च
आगमेस्सं च पावणं ।
सब्बं तं णाणुजाणंति
आयगुत्ता जिहंदिआ ॥

कृतं च त्रियमाणं च,
आगमिष्यं च पापकम् ।
सर्वं तत् नानुजानन्ति,
आत्मगुप्ताः जितेन्द्रियाः ॥

२२ आत्मगुप्त^{१७} और जितेन्द्रिय मुनि किए हुए, किए
जाते हुए और किए जाने वाले उस समग्र पाप की
अनुमति नहीं देते ।

२३. जे वाडुद्धा महाभागा
वीरा जसम्मसदंसिणो ।
अशुद्धं तेसि परक्कतं
सफलं होइ सब्बसो ॥

ये च अबुद्धाः महाभागाः,
वीराः असम्यक्त्वदर्शिनः ।
अशुद्धं तेषां पराक्रान्तं,
सफलं भवति सर्वशः ॥

२३ जो अबुद्ध, महाभाग (महापूज्य), वीर (सकर्मवीर्य में
अवस्थित) और असम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम
अशुद्ध और सर्वशः सफल (कर्मबध्नुक्त) होता है ।

२४. जे उ बुद्धा महाभागा
वीरा सम्मसदंसिणो ।
शुद्धं तेसि परक्कतं
अफलं होइ सब्बसो ॥

ये तु बुद्धाः महाभागाः,
वीराः सम्यक्त्वदर्शिनः ।
शुद्धं तेषां पराक्रान्तं,
अफलं भवति सर्वशः ॥

२४ जो बुद्ध, महाभाग, वीर (अकर्मवीर्य में अवस्थित)
और सम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम शुद्ध और
सर्वशः अफल (कर्मबध्नुक्त) होता है ।^{१८}

२५. तेसि तु तवोबुद्धो
विक्कतंता जे महाकुत्ता ।
अवमानिते परेण तु ।
ण सिस्सोणं वर्यंति ते ॥

तेषां तु तपः शुद्ध,
निष्क्रान्ताः ये महाकुलात् ।
अपमानिताः परेण तु,
न श्लोकं वदन्ति ते ॥

२५ उनका तप शुद्ध होता है जो बड़े कुली से अभि-
निष्क्रमण कर मुनि बनते हैं और दूसरों के द्वारा
अपमानित होने पर अपनी श्लाघा नहीं करते—
अपने बड़प्पन का परिचय नहीं देते ।^{१९}

सुखचक्र १

३६६

अ० ८ : वीर्य : श्लोक २६-२७

२६. अप्यपिडासि पाजासि
अप्यं भासेज्ज सुज्जए ।
अंसेऽभिनिब्बुडे वंसे
वीतगेही सया जए ॥

२७. आनयोगं समाहूदु
कायं बोसेज्ज सम्मसो ।
तितिक्षां परमं गच्छा
आमोक्षाए परिक्खएज्जासि ॥

—सि वेमि ॥

अल्पपिण्डाक्षिपानाक्षी,
अल्पं भाषेत सुव्रतः ।
क्षान्तः अभिमिर्वृतो क्षान्तः,
वीतगुद्धिः सदा यतः ॥

ध्यानयोगं समाहूय,
कायं व्युत्सृज्य सर्वशः ।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वा,
आमोक्षाय परिब्रजेत् ॥

—इति ब्रवीमि ॥

२६. सुव्रत पुरुष थोड़ा भोजन करे,“ थोड़ा जल पीए,
थोड़ा बोले ।“ सदा क्षमाशील, शान्त,“ वात और
अनासक्त“ होकर संयम में रहे ।

२७. ध्यानयोग को“ सम्यग् स्वीकार कर सभी प्रकार से
काया का व्युत्सर्ग करे ।“ तितिक्षा (मोक्ष का) परम
साधन है—यह जानकर जीवन पर्यन्त“ परिब्रजन
(सयम की साधना) करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्यायन ८

श्लोक २ :

१. सुव्रत (तीर्थङ्कर) (सुख्यया)

चूणिकार ने 'सुव्रत' का अर्थ तीर्थङ्कर किया है ।'

कृतिकार ने इसे संबोधन माना है ।'

२. (कम्ममेव.....अकम्मं वा)

कर्मवीर्य—कर्म और क्रिया—दोनों पर्यायवाची शब्द हैं । आगम में कर्म के अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, जैसे—उत्थान, कर्म, बल और वीर्य । इसका दूसरा अर्थ है—कर्मों के उदय से निष्पन्न शक्ति को कर्मवीर्य कहा जाता है । वह बालवीर्य है ।'

अकर्मवीर्य—वीर्यन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न सहज शक्ति को अकर्मवीर्य कहा जाता है । इसमें कर्म-बंधन नहीं होता और न यह कर्म-बन्ध में हेतुभूत ही होता है । यह पंडितवीर्य है ।'

३. (एतेहि वोहि ठाणेहि जेहि.....)

यहाँ तृतीया विभक्ति के कारण व्याख्या में जटिलता उत्पन्न हुई है । चूणि में तृतीयान्त पाठ नहीं है । वहाँ 'एते एव दुवे ठाणा'—ऐसा पाठ उपलब्ध है ।' इस पाठ से व्याख्या की जटिलता समाप्त हो जाती है । उत्तराध्यायन ५/२ में भी इसका संवादी पाठ उपलब्ध होता है—'संतिमेव दुवे ठाणा ।'

श्लोक ३ :

४. (पमायं कम्ममाहुं सु अप्पसाय तहायसं)

कर्मवीर्य को प्रमाद और अकर्मवीर्य को अप्रमाद कहा गया है । यह कथन कारण में कार्य का उपचार कर किया गया है ।

५. (तम्माबावेसओ..... पंडियमेव वा)

इसका अर्थ है—तद् भाव की अपेक्षा से । 'भाव' का अर्थ है—होने से और 'आवेस' का अर्थ है—कथन, व्यपदेश । अर्थात् इन दोनों चरणों (३, ४) का अर्थ होगा—कर्मवीर्य के तद्भाव की अपेक्षा से (प्रमाद की अपेक्षा से) मनुष्य 'बाल' और अकर्मवीर्य के तद्भाव की अपेक्षा से (अप्रमाद की अपेक्षा से) वह 'पंडित' कहलाता है ।

असंख्य प्राणियों का बालवीर्य अनादि-अपर्यवसित होता है और संख्य प्राणियों का बालवीर्य अनादि-सपर्यवसित और सावि-सपर्यवसित—दोनों प्रकार का होता है ।

१. चूणि, पु० १६६ : कुक्काः तीर्थंकराः ।

२. कृति, पत्र १६८ : हे कुक्का ! ।

३. (क) चूणि, पु० १६६ : किमा कर्मोत्थनवर्जितम् । किमा हि वीर्यम् तस्सेनद्रिया—उद्ग्राहं ति वा कम्मं ति वा बलं ति वा वीरियं ति वा एवमुक्तं.....अथवा अविबलवत्प्रकारं कर्म तद्धि औदयिकभावनिष्पन्नं कर्मोत्थपविशये, औदयिकोऽपि च भावः कर्मोत्थनिष्पन्न एव बालवीर्यं पुञ्जति ।

(ख) कृति, पत्र १६८ ।

४. चूणि, पु० १६६ : अकर्मवीर्यं तद्, तद्धि कर्मोत्थनिष्पन्नम्, न वा कर्म वध्यते, न वा कर्मणि हेतुभूतं भवति ।

५. चूणि, पु० १६६ ।

पंडित वीर्यं सावि-सपर्यवसित ही होता है ।'

६. श्लोक ३ :

प्रस्तुत आगम में कर्म और अकर्म का प्रयोग कई दृष्टियों से हुआ है । कर्म का एक अर्थ है—क्रिया और दूसरा अर्थ है—क्रिया से आकृष्ट होने वाले सूक्ष्म परमाणुओं का स्कंध । इसी आशय से १२।१५ में कहा गया है—बाल मनुष्य कर्म से कर्म को क्षीण नहीं करते, किन्तु धीर मनुष्य अकर्म से कर्म को क्षीण करते हैं ।' प्रस्तुत अध्ययन के नौवें श्लोक में बतलाया गया है—बाल मनुष्यों के सकर्मवीर्य होता है और पंडित मनुष्यों के अकर्मवीर्य होता है ।' शूणिकार सकर्मवीर्य और बालवीर्य को एकार्थक तथा अकर्मवीर्य और पंडितवीर्य को एकार्थक मानते हैं ।' अकर्म में भी वीर्य है, इसलिए उसका अर्थ निष्क्रियता या अकर्मण्यता नहीं है । अध्यात्म की भाषा में प्रमादयुक्त प्रवृत्ति को कर्म तथा अप्रमादयुक्त प्रवृत्ति को अकर्म कहा जाता है ।

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भते ! जीव आत्मारम्भ, परारम्भ या उभयारम्भ होता है या अणारम्भ ?' भगवान् ने उत्तर दिया—'अप्रमत्त संयती न आत्मारम्भ होता है, न परारम्भ होता है, न उभयारम्भ होता है किन्तु अनारम्भ होता है । प्रमत्त संयती अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारम्भ और परारम्भ होता है, अनारम्भ नहीं होता । शुभयोग की अपेक्षा वह आत्मारम्भ और परारम्भ नहीं होता, किन्तु अनारम्भ होता है ।'

यहां आरम्भ का अर्थ प्रवृत्ति, कर्म या हिंसा है और अनारम्भ का अर्थ अप्रवृत्ति, अकर्म या अहिंसा है । इससे स्पष्ट है कि अहिंसात्मक प्रवृत्ति अकर्म और हिंसात्मक प्रवृत्ति सकर्म है । इसलिए सूत्रकार ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है ।

शूणि में कहा गया है—जो कषाय से अप्रमत्त होता है वही अकर्मवीर होता है । उसी का वीर्य अकर्मवीर्य कहलाता है । प्रश्न होता है—अकर्म और वीर्य दोनों विरोधी हैं, फिर एक साथ बंसे ? जिस वीर्य से कर्म का बंध नहीं होता और जो वीर्य कर्म के खण्ड से निष्पन्न नहीं होता तथा जिससे कर्म का शय होता है, वह वीर्य अकर्मवीर्य कहलाता है ।'

श्लोक ४ :

७. शास्त्र (या शास्त्र) (सत्यं)

इसके दो संस्कृत पर्याय होते हैं—शास्त्र और मास्त्र ।

ये दोनों अनेक प्रकार के हैं । प्रस्तुत प्रसंग में वृत्तिकार ने धनुर्वेद, आयुर्वेद, दडनीति, चाणक्यनीति, आदि शास्त्रों को सोवाहरण समझाया है ।

धनुर्वेद में यह सिखाया जाता है कि बाण चलाते समय किस प्रकार आलीढ और प्रत्यालीढ होकर रहना चाहिए । जिसे मारना हो उसे मुट्टी के छिद्र में से देखे । मुट्टी के छिद्र में अपनी दृष्टि स्थिर कर बाण छोड़े । इस प्रकार बाण चलाने पर यदि

१. वृत्ति, पृ० १६८ : तत्रावावेसओ वावी ति तस्य—बालवीर्यस्य कर्मणश्च पंडितवीर्यस्य वा जावः—सत्ता स तद्वावस्तेनाऽऽवेशो—
व्यपदेशः ततः, तथावा—बालवीर्यमव्याप्तमनावाविपर्यवसितं अव्याप्तमनाविसपर्यवसितं वा साविसपर्यवसितं
वेति, पंडितवीर्यं तु साविसपर्यवसितमेवेति ।

२. सूक्तगो, १।१२।१५ न कम्मुणा कम्म जवेति बाला, अकम्मुणा कम्म जवेति धीरा ।

३. सूक्तगो, १।८।६ एतं सकम्मविरियं बालानं तु पवेइयं ।

एतो अकम्मविरियं पंडियानं सुणेह मे ॥

४. शूणि, पृ० १६८ : सकर्मवीरियं ति वा बालवीरिय ति वा एगट्ठं ।

अकम्मवीरियं ति वा पंडितवीरियं ति वा एगट्ठं ति ॥

५. जगर्ही, १।३३, ३४ : जीवा नं मते ! किं आधारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ? गोयसा ! अत्थेगइया जीवा आधारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, णो अणारंभा । तस्य नं जे ते अप्पमत्तसंजया ते नं नो आधारंभा नो परारंभा नो तदुभयारंभा, अणारंभा । तस्य नं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोग पडुक्ख नो आधारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा । अशुभ जोगं पडुक्ख आधारंभा वि परारंभा वि तदुभयारंभा वि नो अणारंभा ।

६. सूक्तगो, ८।१०, शूणि पृ० १६८ : कसायअप्पमत्तो वा स अकर्मवीरः, एवं जेअ अकम्मवीरियं वुच्चति । कथं अकम्मवीरियं ? यत्तस्तेन कर्म न बध्यते, न च तत् कर्मावयनिध्वनम्, येन कम्मसदा करोति तेन अकर्मवीर्यकाम् ।

अपना शिर न हिसे तो सख्य बीच लिया जाता है ।

आयुर्वेद का कथन है कि अय रोग से ग्रस्त रोगी को लावक पत्थी का रस विधिपूर्वक दिया जाए और उसको अभयारिष्ट नामक मद्य विषेय का सेवन कराया जाए ।

यंत्रनीति सिखाती है कि और आदि को अमुक प्रकार से शूली पर चढ़ाना चाहिए, पुरुष का शिरच्छेद इस प्रकार करना चाहिए ।

षाण्वयनीति शास्त्र अर्थोपार्जन के लिए दूसरों को ठगने की अनेक विधियों का प्रतिपादन करता है ।^१

शूनि का अभिमत है कि कुछ लोग यह सीखते हैं कि अर्थ और प्रत्यर्थी को इस प्रकार दंड देना चाहिए । अपराधी और निरपराधी को उसकी आंख और आकार से जान लेना चाहिए । अमुक अपराध में यह दंड होगा, जैसे—हाथ काटना, मृत्यु दण्ड आदि देना ।^१

८. बाधा पहुंचाने वाले (विहेडियो)

शूनि में इसका अर्थ है—बाधा पहुंचाने वाले ।^१

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—विभिन्न प्रकार से बाधक ऋग् संस्थानीय मंत्र किया है ।^१

९. कुछ लोग..... मंत्रों का अध्ययन करते हैं (एने मंते अहिज्जंते)

जो पुरुष-देवता से अधिष्ठित होता है उसे 'मंत्र' और जो स्त्री-देवता से अधिष्ठित होता है उसे 'विद्या' कहा जाता है ।

अथवा मंत्र वह होता है जिसके लिए कोई साधना नहीं करनी पड़ती । विद्या के लिए साधना अपेक्षित होती है ।

मंत्र और विद्या के पांच-पांच प्रकार होते हैं—पाथिव, वारुण, आग्नेय, वायव्य और मिथ्य । मिथ्य वह होता है जिसमें दो या तीन देवता अधिष्ठित होते हैं अथवा जिसमें विद्या और मंत्र—दोनों का मिश्रण होता है ।^१

वृत्तिकार और वृत्तिकार का अभिमत है कि कुछेक व्यक्ति अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध यज्ञों के लिए अथर्ववेद के मंत्रों का अध्ययन करते हैं ।^१

इलाक ५ :

१०. मायवी अनुष्य... माया का प्रयोग कर (माइणो कट्टु मायाओ)

मनुष्य दूसरों को ठगने के लिए षाण्वय नीति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, धनुशास्त्र आदि शास्त्रों का अध्ययन करते हैं । वृत्तिक

१ वृत्ति, पत्र १६६ : तस्मै—अङ्गाविप्रहरणं शास्त्रं वा अनुर्वेदायुर्वेदादिकं प्राणुपमर्दकारि तथाहि—तत्रोपदिश्यते एवमिह-
जालीहप्रचालीडादिनिर्ज्वाले व्यापारयितव्ये स्थानं विधेयं, तदुक्तम्—

मुष्टिनाऽऽज्ज्वायेत्तस्मै, मुष्टौ मुष्टि निवेद्यते ।

इतं तस्मै विजानीयाच्चि भूत्वा न कम्पते ॥१॥

—तथा एवं लावकरसः अग्निने देयोऽभयारिष्टाक्यो मद्यविषेयश्चेति, तथा एवं चोरादेः शूलारोपकादिको दण्डो विधेयः तथा चापक्यानिप्रायेण परो वञ्चयितव्योऽर्थोपादानार्थं तथा कामशास्त्रादिक चोद्यमेनानुभाव्यवसायिनोऽधीयते, तदेवं शास्त्रस्य अनुर्वे-
दादेः शास्त्रस्य वा यवज्यसनं तस्मै जालप्रीर्णम् ।

२. वृत्ति, पृष्ठ १६६ : एवं चार्थो प्रत्यर्थी वा वन्द्यवितव्यः, नेत्रागा(?) का) राविधिरथ कारी अकारी च ज्ञातव्यः, अनुकापराधो चार्थं दण्डो हुस्तच्छेद-भारभेत्तादि ।

३. वृत्ति, पृ० १६६ : विहेड्यं विद्याधनं इत्यर्थः ।

४. वृत्ति, पत्र १६६ : विविधम् अनेकप्रकारं हेतुकान् लावकान् ऋक्संस्थानीयान् मन्त्रान् वदन्तीति ।

५. शूद्रकुलनि निर्मुक्ति गाथा ३६, वृत्ति पृ० १६५ : इत्येव विज्ज्ञा इत्थी, बंलो पुरिसो । अथवा विज्ज्ञा ससाधना, मंतो असाधनो ।
एकेकं पंचविधं—पाथिवं वारुणं आग्नेयं वायव्यं मिथ्यमिति । तस्य मित्सं चं दिव्हं
तिव्हं वा देवतानं, अथवा विज्ज्ञाए बंलेव य, एताणि अधिवेदगाणि ।

६. (क) वृत्ति, पृ० १६६ : अस्तमंते आभिलाषके अथर्ववेदे हुचयीष्टिकादीनि च अश्वमेध सर्वमेध पुरुषमेधादि च मन्त्रानधीयते ।

(ख) वृत्ति, पृ० १६६ : एके केचन चाप्येवमात्तु मन्त्रावधिकारकानां(ते) चर्चिकानरभेदपुण्यमेधसर्वमेधादिवागार्जनधीयन्ते ।

लोग रिश्वत, बंचता आदि के द्वारा धन कमाने की कला सीख जाते हैं। वे मायावी मनुष्य अपनी सीखी हुई माया से अर्थ का उपार्जन करते हैं और अभिलषित सावध कार्यों को संपन्न करते हैं।^१

११. कामभोगों (धन) को (कामभोगे)

वृणिकार ने अर्थ को ही 'कामभोग' माना है। कामभोग कार्य है और अर्थ कारण। कारण से कार्य का उपकार कर वह अर्थ ग्रहण किया है।^२

१२. प्राणियों का हनन करते हैं (हंता होता.....)

मनुष्य धन का उपार्जन करने के लिए प्राणियों को मारता है, ग्राम-वध करता है, हरिणों की पूछे काटता है, हाथियों के दांत उखाड़ता है।^३

श्लोक ६ :

१३. (मनसा.....अंतलो)

मन, वचन, और काय—ये तीन योग हैं—कर्मवीर्य हैं। विकास-क्रम की दृष्टि से पहले काय योग, फिर वचन योग और फिर मनोयोग होता है। प्रवृत्ति की दृष्टि से पहले मनोयोग—मानसिक चिन्तन होता है, फिर वचन योग और अन्त में काय योग होता है।^४ प्रस्तुत श्लोक में प्रवृत्ति का क्रम सूचित किया गया है।

१४. स्वयं या दूसरे से (मारतो परतो)

वृणिकार ने 'मारतो' का अर्थ 'स्वयं' और परतो का अर्थ 'पर' किया है।^५

श्लोक ७ :

१५. (बेराहं कुब्जः.....)

वृणिकार का आशय है कि एक व्यक्ति दूसरे को मारता है, बांधता है, दंडित करता है, देश-निकाला देता है, वह अनेक व्यक्तियों के साथ बैर बांधता है। जैसे चोर, पारदारिक, व्याजखोर आदि व्यक्ति अनेक व्यक्तियों से बैर का अनुबध करते हैं।^६

वृत्तिकार का अभिमत है कि जीवों का उपमर्दन करने वाला बैरी होती है। वह सैकड़ों जन्मों तक चलने वाले बैर का बंध करता है। उस एक बैर के कारण वह अनेक दूसरे बैरों से सम्बन्धित होता है और उसकी बैर परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलने लगती है।^७

१. वृत्ति, पु० १६७ : तेन आचक्षक-कोटिलसं ईतरथावी मायाधो अघिज्जन्ति जघा परो बंधेतब्धो । तहा अणियगाविणो य उक्कखण-बंधनावीहि अर्थं समज्जिज्जन्ति । सोमो तत्थेव ओतरेति, माणो वि । एव मायिणो मायाहि अर्थं उक्कज्जन्ति, यथेष्टानि सावधकार्याणि साधयन्ति ।

२. वृत्ति, पु० १६७ : कारणे कार्यवपुपकारः अर्थ एव कामभोगाः ।

३. वृत्ति, पु० १६७ : अर्थोपाजनपरि निर्दय..... हंता नामावि, होता मियपुंश्चावि, पकसिया हत्थिबंतावि हत्थावि वा ।

४. वृत्ति, पु० १६८ : पडमं मनसा, पक्खा वायाए, अंतकाले काएण ।

५. वृत्ति, पु० १६७ : मारतो स्वयं, परतो अण्णेन ।

६. वृत्ति, पु० १६७ : स बेराणि कुब्जे बेरी । ततो अण्णे मारेति, अण्णे बंधति, अण्णे बंधेति, अण्णे जिम्बिसए आणवेसि, चोर-मारदा-रिय-ओययावि कटुअर्थं बेरियं करोति ।

७. वृत्ति, पृष्ठ, १७० : बेरमस्सयास्तीति बेरी, स जीवोपमर्दकारी जम्मसतानुबन्धीनि बेराणि करोति, ततोऽपि य बेरावपरेबेरेरुज्जन्तो, संजघ्यते, बेरपरम्परानुवह्नी जघतीत्यर्थः ।

इसोप ८ :

१६. विषय और कषाय... करने वाले अनुष्य (आत्मबुद्धिकारिणो)

‘अत’ के संस्कृतकर्म दो बनते हैं—आत्म और आर्त । आत्म का अर्थ है—स्व और आर्त का अर्थ है—पीड़ित । प्रस्तुत प्रसंग में ‘आर्त’ शब्द ही उपयुक्त लगता है । इस शब्द का अर्थ होगा—विषय और कषाय से आर्त होकर हिंसा आदि दुष्कृत करने वाले अनुष्य ।

वृत्तिकार ने ‘आत्मदुष्कृतकारिणः’ मानकर, इसका अर्थ—स्वमें पाए करने वाला—किया है ।

१७. संसार (जन्म-मरण) (संपराम्)

जैन आगमों में यह शब्द बहु प्रयुक्त है । इसका अर्थ है—संसार, जन्म-मरण ।

इसका एक सैद्धान्तिक अर्थ भी है । कर्म दो प्रकार का होता है—ईर्ष्याय और सांपरायिक । यहाँ संपराय का अर्थ है—बाहर कषाय । उससे बंधने वाला कर्म सांपरायिक कहलाता है । वृत्तिकार ने इसी अर्थ को मुख्य मानकर व्याख्या की है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ संसार दिया है ।

प्रस्तुत प्रसंग में इसका ‘संसार’ अर्थ ही अधिक उपयुक्त लगता है ।

इसोप १० :

१८. बीतराग की भाँति आचरण करने वाला (वर्षि)

‘ब्रह्मं च ज्ञेयं’—वाणिजी के इस कथन से ब्रह्म का अर्थ है—जन्म प्राणी अर्थात् मुक्तिमग्न योग्य प्राणी ।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अकषायी बीतराग अथवा बीतराग जैसा । प्रश्न होता है कि क्या सराग अनुष्य अकषायी हो सकता है ? इसके समाधान में कहा गया है कि जो कषायों का निग्रह करता है, वह भी अकषायी के तुल्य ही है ।

१९. कषाय के बंधन से मुक्त (बंधधुम्मुक्ते)

कषाय कर्म स्थिति के हेतुभूत होते हैं, अतः ये ही यथार्थ में बंधन हैं । कहा भी है—बंधद्विर्द्वि कषायवसा—बंधन की स्थिति कषाय के अधीन है । अतः जो कषाय से मुक्त है वही बन्धन से उन्मुक्त है ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ मुक्त समुक्त किया है ।

२०. प्रमाद या हिंसा ... होने वाला अनुष्य (छिण्णबंधने)

हिंसा, प्रमाद, राग-द्वेष ये बंधन के हेतु हैं ।

१. वृत्ति, पृ० १६८ : आर्ता नाम विषय-कषायाः । बुद्धिकारिणो बुद्धिकारिणि हिंसादीनि वाचाणि कुर्वन्तीति बुद्धिकारिणः ।

२. वृत्ति, पृ० १७० : आत्मदुष्कृतकारिणः स्वचापविद्यायिनः ।

३. वृत्ति, पृ० १७० : द्विविधं कर्म—ईर्ष्यायं सांपरायिकं च, तत्र सांपरायिका—बाह्यकषायास्तेष्व् आपतं सांपरायिकम् ।

४. वृत्ति, पृ० १६८ : संपरामः संसारः ।

५. वृत्ति, पृ० १७० : ब्रह्मो ज्ञेयो मुक्तिमग्नयोग्यः ‘ब्रह्मं च ज्ञेयं’ इति वचनात् ।

६. वृत्ति, पृ० १६८ : राग-द्वेषविमुक्तो वर्षिणो, बीतराग इत्यर्थः, अथवा बीतराग इव बीतरागः ।

७. वृत्ति, पृ० १७० : ब्रह्मः रागद्वेषविरहाद्वा ब्रह्मभूतोऽकषायोऽसंयमः, वर्षि वा बीतराग इव बीतरागोऽत्यकषाय इत्यर्थः । तथा बीतराग—किं त्वया बीरुं के अरागवन्मणि कोद अकषायी ।

संतिमि यो कसम् निमिषद्वा सोऽपि तत्सुखे ॥१॥

८. वृत्ति, पृ० १७० : कषायात्—कषायात्मकान्मुक्तः, कषायात्मुक्तः, कषायात्मुक्तं तु कषायायां कर्मस्थितिहेतुत्वात्, तथा बीतराग—बंधद्विर्द्वि कषायवसा कषायवसा इति ।

९. वृत्ति, पृ० १६८ : आत्मोऽपि बुद्धिकारिणः बुद्धिकारिणीविराज्यः ।

कारण में कार्य का उपचार कर दन्हें ही बंधन माना गया है। जो इनमें प्रवृत्त नहीं होता, इनसे मुक्त है, वह 'छिन्न-बंधन' होता है।^१

२१. सम्पूर्ण (अंतसो)

अंत का अर्थ है—संपूर्ण, निरवशेष।^२

श्लोक ११ :

२२. मोक्ष की ओर ले जाने वाले (जेयाउयं)

इसका संस्कृत रूप है—नैयायिक और अर्थ है—मोक्ष की ओर ले जाने वाला। टीकाओं में इसका संस्कृत रूप 'नैयायिक' और अर्थ 'न्याय मार्ग' किया है।

२३. सु-आख्यात (धर्म) को (सुयक्खातं)

सु-आख्यात, अच्छी तरह से कहा हुआ। जेयाउय और सुयक्खात—ये दोनों धर्म के विशेषण हैं। बौद्ध साहित्य में भी स्वाख्यात धर्म का प्रयोग मिलता है। स्थानांग में स्वाख्यात धर्म की व्याख्या प्राप्त है।^३

देखें—१५।३ का टिप्पण।

२४. चिंतन करता है (समीहते)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की सम्यक् ईहा करना।^४

वृत्तिकार ने समीहते का अर्थ—मोक्ष के लिए चेष्टा करना किया है।^५

२५. दुःखमय आवासों को (दुःखावासं)

विभिन्न प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख दुःखावास है। सकर्मवीर्य के कारण मनुष्य जन्म-मरण करता है और नरक आदि विभिन्न गतियों में जाता है। यह वास्तव में ही दुःखावास है।^६

वृत्तिकार ने दुःख के कारणभूत बालवीर्य को दुःखावास माना है।^७

२६. (असुहसं तथा तथा)

इसका अर्थ है—जैसा-जैसा कर्म होता है, वैसा-वैसा अशुभ फलता है।^८

बालवीर्य वाला मनुष्य जैसे-जैसे नरक आदि दुःखावासों में भटकता है, वैसे-वैसे अशुभ अध्यवसाय के कारण उसके अशुभ कर्म ही बढ़ता है।^९

१. बृजि, पु० १६६ : ये पुनः प्रमादादयो हिंसादयः रागादयो वा तेषु कार्यावशुपकारावुच्यते—सम्बन्धो विष्णवद्यज्ञे, न तेषु वर्तते इत्यर्थः।

२. बृजि, पु० १६८ : अन्तसो लि यावदन्तोऽप्य, निरवशेष इत्यर्थः।

३. भाष, ३।५०७।

४. बृजि, पु० १६८ : सम्यग् ईहते समीहते व्याजेन। किं व्यायते? धम्मं सुवकं च।

५. वृत्ति, पृष्ठ १७१ : सम्यक् मोक्षाय ईहते चेष्टते ध्यानाध्ययनादावुद्यमं विधत्ते।

६. बृजि, पु० १६८ : सकर्मकीरिधदोसेन भूयो भूयो जरणाविसंतरे जाणाविषयुक्कवासे सारीरावीणि बुक्काणि भुज्जो मुज्जो वावति।

७. वृत्ति, पृष्ठ १७१ : दुःखमावासयतीति दुःखावासं (बालवीर्यं) वर्तते।

८. बृजि, पु० १६८ : यथा यथा कर्म तथा तथाभ्रमं फलति।

९. वृत्ति, पृष्ठ १७६ : यथा यथा च बालवीर्यवान् नरकाविद् दुःखावासेषु पर्यटति तथा तथा चास्याशुभाप्यवतायित्वावसुक्कलेषु प्रवर्तते।

श्लोक १२ :

२७. स्थानी (उच्च स्थान प्राप्त) (ठानी)

कृत्तिकार ने 'स्थानी' का अर्थ देवलोक में होने वाले इन्द्र, सामानिक तथा वायस्विण आदि देव किया है। जिन्हें उच्चस्थान प्राप्त होता है, वे 'स्थानी' होते हैं। मनुष्यों में चक्रवर्ती, बलदेव, वामदेव, मांडलिक और महामांडलिक आदि स्थानी होते हैं। तिर्यञ्चों में भी विशिष्ट तिर्यञ्च—हावी, घोड़े आदि स्थानी होते हैं।

पातञ्जल योगदर्शन में उच्चस्थान प्राप्त देवों के लिए 'स्थानी' शब्द का प्रयोग मिलता है।

श्लोक १३ :

२८. निर्मल (अकोविद्यं)

कोपित का अर्थ है - दूषित, खोटे सिक्के जैसा दोषपूर्ण। अकोपित अर्थात् अदूषित, निर्मल।

कृत्तिकार ने भी यही अर्थ किया है। उन्होंने विकल्प में 'अकोविद्यं' पाठ मानकर उसका अर्थ 'प्रकट' किया है।

ठाण २।१३ में 'इदित्यविकोवणयाए' पाठ है। इतिग्रन्थ के विषय का विकोपन अर्थात् दूषण। इसका अर्थ है - कामविकार।

श्लोक १४ :

२९. अपनी मति से (सहसम्पद्ये)

इसके तीन रूप हैं—सहसम्पत्ति, स्वसम्पत्ति, स्वस्मृति।

कुछ व्यक्ति सहज मति या सहज स्मृति के द्वारा संबुद्ध होकर धर्म की आराधना में संलग्न हो जाते हैं। ऐसे पुरुष प्रत्येक-बुद्ध कहलाते हैं। नैसर्गिक सम्पददर्शन में भी विशिष्ट प्रकार की मति और श्रुत होता है। यह धर्म-प्राप्ति का पहला उपाय है। इसका दूसरा उपाय है—धर्मसार या श्रवण।

३०. (समुबद्धि एव गगारे)

मनुष्य अपनी बुद्धि से या तीर्थंकर, गणधर या आचार्य आदि से धर्म के सार को सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण करता है। वह फिर उत्तरगुणों में पराक्रम करता है और पंडितवीर्य से पूर्वकृत कर्मों के अथ के लिए प्रवृत्त होता है। वह क्रमशः गुणों का अर्जन करता हुआ आगे बढ़ता है। उसका परिणाम प्रवर्धमान रहता है। सभी पाप-प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान कर वह अपने लक्ष्य को पा लेता है।

१. (क) कृत्ति, पृ० १६८ : स्थानाग्रेषां सतीति स्थानिनः। देवल्लोके तावद्विग्र-सामानिक-वायस्विणसाक्षाः। मनुष्येष्वपि चक्रवर्ति-बलदेव-वामदेव-मांडलिक-महामांडलिकादि। तिर्यञ्चपि यानोष्ठानि।

(ख) कृत्ति, पत्र १७१ : स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः, तच्च—देवल्लोके इन्द्रस्तरसामानिकवायस्विणसाक्षादीनि मनुष्येष्वपि चक्रवर्तिबलदेववामदेवमांडलिकादीनि तिर्यञ्चपि यानि कानिचिद्विष्टानि योगसम्पदादी स्थानानि।

२. पातञ्जल योग दर्शन ३।५१ : स्वायुपनिमग्नजे संग

भाष्य—तत्र मनुष्यो भूमि साक्षात् कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो येषाः सत्त्वबुद्धिसनुपसक्तः

३. कृत्ति, पृ० १६४ : कोविता नाम बुधितः, कृतकार्यापणयत्। अकोपिता नामा न केहि बि कोविज्जति।

४. कृत्ति, पत्र १७१ : अकोपितो अदूषितः स्वसहस्रैकैव बुधयितुमसक्यत्वात् प्रतिष्ठा गतः (तं), यदि वा—सर्वधर्मैः—स्वभावैरनुष्ठान-कर्मेभ्योपितं—कुतिसत्कर्तव्यमावात् प्रकटमित्यर्थः।

५. ठाण, पृ० ५७३।

६. कृत्ति, पृ० १६२ : कोवमा मतिः सम्पत्तिः, सहस्रसम्पत्तिमतिः सहसम्पत्तिः, स्वा वा मतिः सम्पत्तिः, सह सम्पत्तीए सहसम्पत्तिपं प्रत्येक-बुद्धानां। निसर्गसम्पददर्शने वा पितृभ्योपसक्तबुद्ध्यात्मसम्पत्त्या आनिविबोधि-सुयं उप्पादेति।

७. कृत्ति, पत्र १७१, १७२।

श्लोक १५ :

३१. आयुष्य का (आयुष्यस्य)

श्रुतिकार ने इसका अर्थ—आयुष्य का क्षेत्र अर्थात् शरीर का आरोग्य किया है।^१ श्रुतिकार ने इसका अर्थ केवल 'आयुष्य' ही किया है।

३२. कोई उपक्रम (विष्णु) (किञ्चुपक्रमं)

यहाँ दो पदों 'किञ्चि' और 'उपक्रमं' में संधि की गई है।

उपक्रम का अर्थ है—आयुष्य-क्षय का उपाय।

श्रुतिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ—जनन किया है। उसके तीन प्रकार बतलाए गए हैं—भक्तपरिष्ठा, इगिनीमरण और प्रायोपवसन।^२

३३. शिक्षा (संलेखना) का (सिष्यं)

यहाँ शिक्षा का अर्थ है—मरण-विधि, संलेखना-विधि।^३

देखें—आयारो ८।१०५-१३०, भाषा १-२४।

श्लोक १६ :

३४. अध्यात्म में (अध्यात्म्येन)

जो आत्मा से संबंधित है उसे अध्यात्म कहते हैं। ध्यान, स्वाध्याय, वैराग्य, एकाग्रता—ये सब अध्यात्म के प्रकार हैं।^४

श्लोक १७ :

३५. बुरे परिणामों (पापं च परीणामं)

निदान, इहलोक में सुख प्राप्ति की कामना—आदि पापमय परिणाम हैं।^५

श्लोक १८ :

३६. अशुभात् भी मान (अशु भावं.....)

साधक संयम में पराक्रम करता है। उसके समय से आकृष्ट होकर लोग उसकी पूजा करते हैं, फिर भी वह अशुभात् न लाए।

इसी प्रकार माया, क्रोध और लोभ का भी साधक विवर्जन करे। कथाओं के स्वरूप को जानकर, उनके विपाकों का चिन्तन कर, साधक उनसे निवृत्त हो।^६

१. श्रुति, पृ० १६६ : आयुषः क्षेत्रमित्यारोहं शरीरस्य।

२. श्रुति, पृ० १७२ : आयुः क्षेत्रस्य स्वायुष इति।

३. (क) श्रुति पृ० १६६ : यत्किञ्चिद्विधि उपक्रमाद्वा अवाप्य वा। अथवा त्रिविधो उपक्रमो भक्तपरिष्ठा-इगिनीवि।

(ख) श्रुति, पृ० १७२ : उपक्रम्यते—संबन्धते अवमुचनीयते आयुर्वेन स उपक्रमः।

४. श्रुति, पृ० १६६ : संलेखनाविधि शिक्षा।

५. श्रुति, पृ० १७० : आत्मानमविकृष्य यत् प्रवर्तते तत् अध्यात्मम्, ध्यानं स्वाध्यायो वैराग्यं एकाग्रता इत्यादिनाऽध्यात्मम्।

६. (क) श्रुति, पृ० १७० : पापं च परीणामं विवाधादि इहलौकासंस्पृश्यानि च।

(ख) श्रुति, पृ० १७२ : पापं परिणाममैहिकानुष्मिकासंसाध्यम्।

७. श्रुति, पृ० १७२।

३७. यह वीर का वीर्य है (यं वीरस्य वीर्यं)

संवेचना, अध्यात्म द्वारा पाप का समाहरण, हाथ-पैर तथा इन्द्रियों का प्रतिसंहरण, मान और माया की परिज्ञा—यह वीर का वीर्य है। यह है—अकर्मवीर्य या पंडितवीर्य। इस वीर्य से सम्पन्न व्यक्ति ही वीर कहलाता है।

श्लोक २० :

३८. कपट सहित (सातियं)

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने 'सातियं' का शाब्दिक अर्थ 'आदिना सह' और उसका तात्पर्य 'माया सहित' किया है।

हमने इसका संस्कृत रूप 'साचिक' किया है। संस्कृत कोष में साचिक का अर्थ है—माया। साधक माया सहित झूठ न बोले। झूठ और माया का अनिवार्य साहचर्य है। माया के बिना झूठ बोला नहीं जाता। यहाँ कपटपूर्वक झूठ बोलने का प्रतिषेध है।

३९. मुनि का (वुसीमओ)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ वसुमान किया है। वसु का अर्थ है—घन। मुनि के पास ज्ञान आदि का घन होता है, इसलिए वह वसुमान कहलाता है। किन्तु 'वुसीम' का यह अर्थ संगत नहीं लगता। यह अर्थ 'वसुम' शब्द का हो सकता है। आचारंग (१।१७४) में 'वसुम' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है।

वृत्तिकार ने 'वुसीम' को छान्दस् प्रयोग मानकर इसका अर्थ वसुमान किया है, जो वृत्ति सम्मत है। इसका वैकल्पिक अर्थ वश्य (इन्द्रियजयी) किया है। शाब्दिक दृष्टि से वश्य भी संगत नहीं है।

'वुसीम' का संस्कृत रूप 'वृषीमत्' उपयुक्त लगता है। वृषि संन्यासी का उपकरण है, इसलिए वृषीमान् का अर्थ संन्यासी हो सकता है। यहाँ 'एस धम्मे वुसीमओ'—यह मुनि का धर्म है' यह अर्थ स्वाभाविक है।

बौद्ध साहित्य में 'वसी' के पांच प्रकार निदिष्ट हैं—(१) आवज्जनावसी (२) संपज्जनावसी (३) अधित्थानवसी (४) वुत्थान-वसी (५) पच्चवेक्खनवसी।

हो सकता है 'वुसीम' का वही अर्थ रहा हो और उच्चारण भेद से 'वसी' का स्थान 'वुसी' ने ले लिया हो।

श्लोक २१ :

४०. अतिक्रम (अतिक्कमंति)

वृत्तिकार ने अतिक्रम के तीन अर्थ किए हैं—

१. प्राणियों को पीड़ा देना।

१. वृत्ति, पृ० १७०।

२. (क) वृत्ति, पृ० १७१ : साविं नाम माया, सादिना योगः, साविभोगः, सह जातिना सातियं।

(ख) वृत्ति, पृ० १७३ : सहादिना—मायया वर्तत इति साचिक—समायम्।

३. संस्कृत-इंग्लिश कोष, मोनियर मोनियर बिलियम्स-बेर्ने—'साचि' शब्द।

४. (क) वृत्ति पृ० १७१ : न हि मृगाबाधो मायामग्नरेण भवति, स चोत्कंभण-बंभण-कूडतुलाकिमु भवति, सातियोगसहितो मुसाबाधो भवति, स च प्रतिविध्यते, अन्यथा तु 'न मृगान् पर्यामि न च अल्लिकाइयेसु समुह्स्तामो' एवमादि मृगात्, येनात्र परो ब्रूयते तत् प्रतिविध्यते, कोष-माण-माया-लोभसहितं वचः।

(ख) वृत्ति, पृ० १७३।

५. वृत्ति पृ० १७१ : वुसिमत्तं वसुमि ज्ञानाधीनि।

६. वृत्ति पृ० १७३ : 'वुसीमत्तं' ति ज्ञानसत्तात्, निर्हृतायंस्त्वयं वसुमि ज्ञानाधीनि तद्वती ज्ञानाविमत इत्यर्थः, यदि वा—वुसीमज्जति वस्यस्य—आत्मवस्यस्य—अस्वेन्द्रियस्येत्यर्थः।

७. पतिसंनिवा १।६७-१००।

८. वृत्ति, पृ० १७३ : प्राणिनामतिक्रमं—भीडातमं महाप्रतापिकं वा मनोऽवच्छेदयति वा परतिरत्कारं वा इत्येवम्भूतमतिक्रमम्।

२. महाशक्तों का उत्संघन करना ।

३. मन में अहंभाव साकर दूसरों का तिरस्कार करना ।

४१. इन्द्रियों का संयम करे (आयाजं सुसमाहरे)

‘आदान’ का अर्थ है—इन्द्रियाँ । जिनके द्वारा विषय का ग्रहण होता है, वह आदान कहलाता है । ‘सुसमाहरे’ का अर्थ है—भली भाँति संयम करना ।

वृत्तिकार का अर्थ भिन्न है । उन्होंने मोक्ष के उपादन कारण सम्यग्दर्शन आदि को आदान माना है और ‘सुसमाहरे’ का अर्थ—ग्रहण करना किया है ।

श्लोक २२ :

४२. आत्मगुप्त (आयगुप्ता)

अपने आप में रहने वाला व्यक्ति आत्मगुप्त होता है । जिसने अपने मन, वचन और काया को गुप्त कर लिया है वह आत्म-गुप्त है ।

श्लोक २३, २४ :

४३. श्लोक २३, २४ :

साधना के क्षेत्र में दो प्रकार के पुरुष होते हैं—

१. अबुद्ध और असम्यक्त्वदर्शी ।

२. बुद्ध और सम्यक्त्वदर्शी ।

ये दोनों ही बोर होते हैं । अबुद्ध पुरुष सकर्म बीर्य में वर्तमान होते हैं और बुद्ध पुरुष अकर्मवीर्य में वर्तमान होते हैं । ये दोनों ही पराक्रम करते हैं । अबुद्ध पुरुष सकर्मवीर्य से भावित होकर पराक्रम करते हैं, इसलिए उनका पराक्रम अशुद्ध और सफल—कर्मबंधयुक्त होता है । बुद्ध पुरुष अकर्मवीर्य से भावित होकर पराक्रम करते हैं, इसलिए उनका पराक्रम शुद्ध और अफल—कर्मबंध-मुक्त होता है ।

ये दोनों श्लोक सकर्मवीर्य और अकर्मवीर्य के उपसंहारवाक्य हैं । इनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि पराक्रम प्रत्येक मनुष्य करता है । अबुद्ध या अज्ञानी मनुष्य भी करता है तथा बुद्ध या ज्ञानी मनुष्य भी करता है । पराक्रम अपने रूप में पराक्रम मात्र है । उसमें कोई अन्तर नहीं होता । अन्तर डालने वाले दो तत्त्व हैं—ज्ञान और दृष्टि । अज्ञान और असम्यक्दृष्टि से भावित मनुष्य का पराक्रम अशुद्ध और सफल होता है । अशुद्ध का अर्थ है कि वह शल्य, गौरव, कषाय आदि दोषों से युक्त होता है और सफल का अर्थ है कि वह शल्य आदि दोषों से युक्त होने के कारण कर्मबंध का हेतु भी बनता है । ज्ञान और सम्यक्दृष्टि से भावित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध और अफल होता है । शुद्ध का अर्थ है कि वह शल्य, गौरव, कषाय आदि दोषों से मुक्त होता है और अफल का अर्थ है कि वह शल्य आदि दोषों से मुक्त होने के कारण समयमय होता है । समय का फल है अनास्रव—कर्मबंध न होना ।

असम्यक्त्वदर्शी के पराक्रम को अशुद्ध और सफल कहने का तात्पर्य शल्य आदि दोषों से युक्त पराक्रम की, साधना की दृष्टि से, अवाञ्छनीयता प्रदर्शित करना है ।

प्रस्तुत सूत्र के दूसरे अध्ययन में इसका समर्थन-सूत्र मिलता है—

‘अहं वि य जिगिजे किसे जरे, अहं वि य भुजिय मासमंतसो

के इह मायादि मिच्छाई, आगस्ता गवशावर्तसो ॥

(सूयगङ्गो १।२।६)

१. वृत्ति पत्र १७३ : मोक्षस्य आदानम् उपादानं सम्यग्दर्शनादिकं सुष्ठुदुक्तः सम्यग्विजोतसिकारहितः ‘आहरेत्’ आहरोत—गुह्योपा-
दित्वर्थः ।

२. (क) वृत्ति पृ० १७१ : आत्मनि आत्मसु वा गुप्ता ।

(ख) वृत्ति, पत्र १७४ : आत्माऽऽकृतसमोवाक्यानिरोधेन गुप्तो येषां ते तथा ।

—यद्यपि कोई विशु मग्न रहता है, बेह को कुश करता है और मास-मास के अन्त में एक बार साता है फिर भी माया आदि से परिपूर्ण होने के कारण वह अनन्त बार जन्म-मरण करता है।

योगवासिष्ठ में इसी आशय का एक श्लोक मिलता है—

‘वासनामावसारत्वात्, ज्ञातव्यं सफलः क्रियाः ।
सर्वं एवाफलं ज्ञेयं, वासनामावर्तकत्वात् ॥

—अज्ञानी मनुष्य की क्रिया का सार वासनामात्र होता है, इसलिए वह सफल होती है और ज्ञानी मनुष्य के वासनामात्र का अय हो जाता है, इसलिए उसकी क्रिया अफल होती है।

ब्रूणि के आधार पर इन दोनों श्लोको का प्रतिपाद्य यह है—अबुद्ध और असम्यक्त्वदर्शी का पराक्रम कषाय आदि दोषों से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है।^१ बुद्ध और सम्यक्त्वदर्शी का पराक्रम कषाय आदि दोषों से मुक्त होने के कारण शुद्ध होता है।

समीक्षात्मक दृष्टिकोण से यह कहना उचित होगा कि इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की आकांक्षा तथा पूजा-श्लाघा के लिए किया जाने वाला पराक्रम साधना की दृष्टि से अवाञ्छनीय है और केवल निर्जरा के लिए किया जाने वाला पराक्रम वाञ्छनीय है। असम्यक्त्वदर्शी निर्जरा के लिए कुछ भी नहीं करता और सम्यक्त्वदर्शी सब कुछ निर्जरा के लिए ही करता है, यह इसका प्रतिपाद्य नहीं है।

श्लोक २५ :

४४. श्लोक २५ :

ब्रूणि और वृत्ति ने यह श्लोक निम्न प्रकार से व्याख्यात है। दोनों के स्वीकृत पाठ में भी अन्तर है।

ब्रूणि के अनुसार इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—

‘जो जैसा कहते हैं वैसा करते हैं, जो ईश्वरकु आदि प्रधान कुलो में उत्पन्न हैं, अथवा जो सामान्य कुलों में उत्पन्न होकर भी विद्या, तपस्या और पराक्रम से महान हैं, वे अभिनिष्क्रमण कर साधना अवस्था में दूसरे द्वारा अपमानित होने पर भी श्लाघा नहीं करते—ऐसा नहीं कहते कि मैं अमुक राजा था, अमुक सेठ था। वे पूजा सत्कार और श्लाघा के लिए अपने कुल की प्रशंसा नहीं करते, उनका तप शुद्ध होता है।’

वृत्ति के अनुसार यह श्लोक और इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

‘तेति वि तपोऽबुद्धो, निष्कन्ता ये महाकुला ।
अं तेवमे विद्यावन्ति, न तिलोयं पवेजए ॥

—जो लोकविश्रुत ईश्वरकु आदि महान कुलो से प्रव्रज्या के लिए अभिनिष्क्रमण करते हैं, उनका भी तप अशुद्ध होता है, यदि वह पूजा-सत्कार पाने के लिए किया जाता है या अपने कुल की प्रशंसा के निमित्त किया जाता है। उसको तपस्या इस प्रकार से करनी चाहिए कि दूसरे उसे जान न सके। वह अपनी श्लाघा भी न करे—‘मैं पहले उत्तम कुल में उत्पन्न या धनवान् था, अब तप से अपने शरीर को तपाने वाला तपस्वी हूँ।’ वह अपनी प्रशंसा स्वयं न करे।^२

१. योगवासिष्ठ ६।१।८७।१८ ।

२. ब्रूणि, पृ० १७२ : कृपा-सत्कारनिमित्तं विजयाओ निमित्ताणि य यमुजमाना तपोति च प्रकाशानि प्रकुर्वन्ति तेषां वासानां यत् किञ्चिदपि पराक्रान्तं तदशुद्धं कावोदहतत्वाद् नञ्केनापि भेदेन भ्रान्तदोषात् । एवमादिनिर्दोषैः असुद्धं नाम यथोक्तैर्दोषैः, पराक्रान्तं चरितं वेदितमित्यर्थः, कुर्वन्निमित्तात् ।

३. ब्रूणि, पृ० १७२ : तेति अवर्तताम् सुद्धं तेति परक्रान्तं, सुद्धं नाम निवहरोद्धं सत्स-गारव-कसायादिषोसवरिशुद्धं अनुपरोधहृद् भूतानाम् ।

४. ब्रूणि, पृ० १७२ ।

५. वृत्ति, पृ० १७५ ।

श्लोक २६ :

४५. थोड़ा भोजन करे (अप्पपिडासि)

‘अल्प’ शब्द के दो अर्थ हैं—‘थोड़ा’ और ‘निषेध’। यहां अल्प शब्द थोड़े के अर्थ में प्रयुक्त है। जूणिकार ने ‘अप्पपिडासि’ के दो अर्थ किए हैं—थोड़ा खाने वाला अथवा अपूर्ण खाने वाला। जो पुरुष कुक्कुट के अंडे के प्रमाण जितने बत्तीस कवल खाता है वह संपूर्ण आहार वाला कहा जाता है। जो इससे एक कवल या एक मित्त भी कम खाता है वह ‘अप्पपिडासि’ है, अपूर्णभोजी है। जो उक्त प्रमाण वाले आठ कवल खाता है वह अरुपाहारी, जो बारह कवल खाता है वह अर्ध अवमोदरिक, जो सोलह कवल खाता है वह २/३ भोजन करने वाला, जो चउवीस कवल खाता है वह अवमोदरिक, जो तीस कवल खाता है वह संपूर्ण भोजन करने वाला होता है।^१

४६. थोड़ा बोले (अप्पं भासेज्ज)

थोड़ा बोले अर्थात् अनर्थदंडकथा न करे, परिमित और हितकारी वचन कहे।^२ कहा है—

भोवाहारो भोवण्णिओ अ ओ होइ भोवनिहो व ।

भोवोवहिउवकरणो तस्स हु देवाणि पणसंति ॥^३

—जो थोड़ा खाता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी नींव लेता है, और थोड़े उपधि और उपकरण रखता है, उसको देवता भी नमस्कार करते हैं।

४७. शान्त (अभिनिवृत्ते)

अभिनिवृत्त वह होता है जो शान्त है।^४ जो लोभ आदि की जीत कर अनानुर हा जाता है वह अभिनिवृत्त कहलाता है।^५ कथायों की शान्ति ही वास्तव में शान्ति है। कहा है—

कथाया अल्प भोञ्जिस्सा, यस्य नात्मवत्तं मनः ।

इन्द्रियाणि न गुप्तानि, प्रव्रज्या तस्य जीवनम् ॥

—जिसने कथायों का उच्छेद नहीं किया, जिसने मन पर अधिकार नहीं किया, जिसकी इन्द्रिया गुप्त नहीं है, उसकी प्रव्रज्या केवल आजीविका है।^६

४८. अनासक्त (वीतगेही)

जूणिकार के अनुसार तपस्या में निदान आदि न करने वाला विगतगृद्धि कहलाता है।^७

वृत्तिकार के अनुसार इन्द्रिय-विषयों के प्रति जिसकी आसक्ति मिट जाती है वह वीतगृद्धि कहलाता है।^८

वेत्ते—६।२५ में ‘विगतगेही’ का छिप्पण।

१. (क) जूणि, पृ० १७२, १७३ : अप्पं पिण्डमभजासीति अप्पपिडासी, असंपुण्णं वा एव पार्थ पि । अट्ट कुक्कुडिअंडगणमाणसेसे कवले आहारमाहारमाणे अप्पाहारे, हुवालस अट्टोमोहरिया, सोलस हुमाणपसं, चउवीस ओमोहरिया, तीसं वमाणपसे, बत्तीसं कवला संपुण्णाहारो, एतो एकेणावि ऊणं जाव एकगसेण एगसित्थेण वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र १७५ ।

२. जूणि, पृ० १७३ : अप्पं भासेज्ज सि अनर्थदंडकथां न कुर्वत्, कारणेऽपि च भोक्तेः ।

३. अभिनिर्वृत्ति, गाथा १२६५ ।

४. जूणि पृ० १७३ : अभिनिवृत्तो नाम निर्वृत्तीभूतः शीतोभूतो ।

५. वृत्ति, पत्र १७५ : अभिनिवृत्तो भोवादिजयाच्चिरानुरः ।

६. वृत्ति, पत्र १७५ ।

७. जूणि, पृ० १७३ : तवसा व विगतगेही विवाचादिसु मेधिविप्पमुक्के व ।

८. वृत्ति, पत्र १७५ : विगता गृद्धिविषयेषु यस्य स विगतगृद्धिः—आसंसाधोवरहितः ।

इलोक २७ :

४६. ध्यान-योग को (आत्मयोग)

साधनायोग, ध्यानयोग, तपोयोग आदि अनेक प्रकार के योग हैं। ध्यान के द्वारा होने वाली योग-प्रवृत्ति ध्यान योग है। चित्त का एक धारणाही होना एकाग्रता है और उसका विकल्पशून्य हो जाना निरोध है। एकाग्रता और निरोध—वे दोनों ध्यान हैं।^१ ध्यान तीन प्रकार का है—मानसिक ध्यान, वाचिक ध्यान और कायिक ध्यान। इसे ध्यानयोग कहा जाता है।^२

५०. काया का व्युत्सर्ग करे (कायं बोधेयम्)

इसका अर्थ है—देहासक्ति और देहिक प्रवृत्ति का विसर्जन करना।

५१. जीवन पर्यन्त (आत्मोक्त्याए)

आत्मोक्त के दो अर्थ हैं—

१. जब तक मोक्ष प्राप्त न हो तब तक।
२. जब तक शरीर न छूटे तब तक।

१. श्रीम सिद्धांत श्रीधिका, ६.४१ : एकाग्रं मनःसंनिवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम्।

२. ध्यानशतक, इलोक ३७, वृत्ति : 'जो अल्प समाहारं होऊ मणोबोधकाययोगात्'.....आह—मनोबोधसमाधानमस्तु, कायकाययोगसमाधानं तत्र बोधोपपद्यते, न हि तन्मयं ध्यानं भवति? अत्रोच्यते—तत्समाधानं तावन्मनोयोगोपकारकम्, ध्यानमपि च तदात्मकं भवत्येव। यमोक्तम्—

'एवंविहा मिरा मे बलव्या एरिली न बलव्या।

इय मेवास्मिन्नवकस्त तासमो वाह्यं आर्ण ॥'

'तथा—मुत्तमाह्विकर-वायस्त अकव्ये कार्णमि यवनाए।

किरियाकर्णं जं तं काह्यज्ञात् नये जह्यो ॥'

३. पूर्ण, पृ० १७३ : आत्मोक्त्याएति कावन्मोक्षार्थं ताव.....शरीरधोक्ता वा।

नवमं अक्षयर्ष
वर्षम्

नौवां अक्षयर्ष
वर्षम्

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'धर्म' है। इसमें २६ श्लोक हैं और इनमें अमण के मूलगुण तथा उत्तरगुणों की विवक्षित चर्चा है। धर्म क्या है और उसकी प्राप्ति के क्या-क्या उपाय हैं? लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म की क्या व्याख्या है? विभिन्न लोग धर्म की विभिन्न परिभाषाएं करते हैं। उनमें कौन सी परिभाषा धर्म की कसौटी पर खरी उतरती है। आदि-आदि प्रश्नों का इन श्लोकों में समुचित समाधान दिया गया है।

निर्युक्तिकार के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य है—भावधर्म। यही भावसमाधि है और यही भावमार्ग है। प्रस्तुत आगम के दसवें अध्ययन का नाम 'समाधि' और ब्यारहवें अध्ययन का नाम 'मार्ग' है। इस प्रकार तीनों अध्ययन (६-११) परस्पर संबंधित हैं। भावधर्म के दो भेद हैं—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। चारित्रधर्म के दस भेद हैं—आन्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्गव आदि। भावसमाधि के भी ये ही भेद हैं। समाधि का शाब्दिक अर्थ है—आत्मा में आन्ति आदि गुणों का सम्यक् आरोपण करना। इसलिए भावधर्म और भावसमाधि में कोई अंतर नहीं है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। यही भावमार्ग है। समानता की इस पृष्ठभूमि पर तीनों—धर्म, समाधि और मार्ग—एक हो जाते हैं।^१

निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन की निर्युक्तिगता (६२) में 'धम्मो पुब्बुहिट्ठो' का प्रयोग किया है। कृतिकार ने पूर्व शब्द से दशवैकालिक की सूचना दी है। दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन का नाम है 'श्रुतकाचारकथा' और छठे अध्ययन का नाम है 'महाचारकथा'। दोनों में मुनि के आचार-धर्म का निरूपण है। तीसरे अध्ययन का निरूपण संक्षेप में है और छठे अध्ययन का निरूपण विस्तार से है। दशवैकालिक के छठे अध्ययन का नाम 'धर्मायकाम' भी है। उसकी निर्युक्ति में धर्म की व्याख्या की गई है, वह यहां ज्ञातव्य है। प्रस्तुत अध्ययन का अधिकार है—भावधर्म।

धर्म का अर्थ है—स्वभाव। चेतन का अपना स्वभाव है और अचेतन का अपना स्वभाव है। चेतन का स्वभाव है उपयोग। इसी प्रकार अचेतन का अपना स्वभाव होता है। जैसे :—

धर्मास्तिकाय का स्वभाव है, गति। यह उसका धर्म है।

अधर्मास्तिकाय का स्वभाव है स्थिति। यह उसका धर्म है।

आकाशास्तिकाय का स्वभाव है अवगाहन। यह उसका धर्म है।^२

पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव है ग्रहण। यह उसका धर्म है।

मिथ्य द्रव्यों (धूँध और पानी) का अपना स्वभाव होता है। उनका परिणमन शीतल होता है। इसी प्रकार गृहस्थों के जो कुलधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि हैं, वे सब स्वभाव और व्यवहार की ओर निर्देश करते हैं। जिस द्रव्य के दान से धर्म होता है, उस क्रिया में कार्य का उपचार कर देय द्रव्य को दान धर्म कह दिया जाता है। ये सारे द्रव्य धर्म के निर्देश हैं।^३

भावधर्म के दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धर्म दो प्रकार का है—

१. गृहस्थों का धर्म। यहाँ धर्म शब्द कर्तव्य, व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त है।

२. पाण्डित्यों का धर्म। यहाँ धर्म शब्द क्रियाकाण्ड के लिए प्रयुक्त है।

१. निर्युक्ति, वाचा ६२ : धम्मो पुब्बुहिट्ठो भावधर्मेण एत्थ अधिकारी।

एतेव होति धम्मो एतेव समाधिमणो ति ॥

२. मुक्ति, पृष्ठ १७६।

३. दशवैकालिक निर्युक्ति, वाचा २४६-२६६।

४. उत्तराध्ययन २०:६ : अहमस्मिन्नाहं धम्मो अहमस्मिन्नाहमस्मिन्नाहं।

आत्मार्थं ज्ञानवत्त्वात् नहं अहमस्मिन्नाहमस्मिन्नाहं ॥

५. मुक्ति, पृष्ठ १७७।

लोकोत्तर धर्म तीन प्रकार का है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य। लोकोत्तर चारित्र्यधर्म की व्याख्या के प्रसंग में चूर्णिकार ने पांच प्रकार का चारित्र्य (सामायिक चारित्र्य आदि) अथवा महाव्रत, अथवा वानुर्धाम धर्म अथवा पांच महाव्रत और रात्रीभोजनविरमण व्रत—इस प्रकार के प्रव्रत धर्मधर्म का ग्रहण किया है।^१

हस्तिकार ने केवल पांच प्रकार के चारित्र्य का ही ग्रहण किया है।^२

निर्युक्तिकार ने बतलाया है कि प्रव्रतधर्म की आराधना करने वाले अग्रण पाण्डेय, अवसन्न और कुशील अश्वों के साथ संस्तव न करें, उनके साथ न रहें।^३ चूर्णिकार उन्हें न कुछ दान दें और न उनसे कुछ ग्रहण करें।^४

प्रस्तुत अध्ययन के दूसरे श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार ने विभिन्न जातीय समुहों की धर्म विषयक मान्यता का उल्लेख किया है—

१. ब्राह्मण या श्रावक, क्षत्रिय और वैश्य—हवन आदि क्रिया में धर्म मानते थे।

२. जाडाल—ये भी कहते हम भी धर्म क्रिया में अवस्थित हैं, क्योंकि हम खेती आदि क्रिया नहीं करते।

४. ऐविक—हस्तितापस आदि भी यही कहते कि हम एक हाथी को मारकर अनेक महीनों तक उसका मांस-भक्षण करते हुए, शेष जीवों को नहीं मारते—यह हमारा धर्म है।

५. वैशिक—इसके दो अर्थ हैं—वणिक् अथवा वैश्या।

वणिक् कहते हैं—हम अपने-अपने कौशल से आजीविका का उपार्जन करते हैं, यह हमारा धर्म है।

वैश्याएं कहती हैं—हम अपनी मर्यादा का पालन करती हैं, यह हमारा धर्म है।

६. शूद्र—ये कहते हम अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करते हैं। यह हमारा धर्म है।^५

चौथे श्लोक में तत्कालीन प्रचलित कुछेक परंपराओं का उल्लेख है। चूर्णिकार और हस्तिकार ने उनका वर्णन किया है। शव का अग्निहोतार करना, जलांजलि देना, पितृपिण्ड देना आदि मरणोपरान्त कार्य अनेक धर्म-परम्पराओं में मान्य थे।^६ कुछेक लोग मरनेवाले के उपलक्ष में भैंस, बकरी आदि की बलि भी देते थे।^७

शूद्र के प्रकारों की जानकारी देने के लिए सतरहवें श्लोक में दो शब्दों—अष्टापद और वेध तथा अठाहरवें श्लोक में नालिका शब्द का प्रयोग हुआ है।

बारहवें श्लोक में प्रयुक्त 'सिरोवेधे' (सिरावेधे) शब्द चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। चिकित्सा-शास्त्र में अनेक सिराओं—नाड़ियों का वेधन करना विहित है। यह 'नाडीवेधन' कला का द्योतक है। वर्तमान में 'एकयूपश्चर' के नाम से यह चिकित्सा पद्धति चीन और जापान में प्रचलित है।

प्रस्तुत अध्ययन में श्लोक-विभागगत वर्णविषय इस प्रकार है—

१. चूर्णिकार, पृ० १७४।

२. वृत्ति, पृ० १७६ : चारित्र्यवर्णन सामायिकवर्णन भेदात् पञ्चधर्मः।

३. निर्युक्ति वाक्य ६५ : वासन्तोत्पन्न-कुशीलसंबन्धो न किर वदते कातुं।

४. चूर्णिकार, पृ० १७४ : वासन्तोत्पन्नाहीहि शान्त-वगृह्यं न कायधर्मं संसर्गो वा।

५. चूर्णिकार, पृ० १७५ : साहसका मरणा साधना वा। जलिया उग्गा जोगा राहणा इच्छाया राजानस्तवायविरच। अथवा सज्जन धर्मज जीवन्त इति क्षत्रियाः। वैश्याः सुवर्णकारावयः, ते हि हवनादिभिः क्रियाविधैर्निर्युक्तम्। बण्डाला अपि वदते—अयमपि वर्मावस्थिताः कुम्पादिक्रियां न कुर्वन्। एवमस्ति ऐविका शृणुसुम्भका हस्तितापसाश्च मरिहोतोर्मान् हस्तिमग्न एवमिति मूल-कंद-कलानि च, ये चापरे पाण्डवाः नामादिद्वैतवादेभिरासेवन्ति यवेष्टानि चाप्यानि विषयसाधनानि। अथ वैशिकावपि, तेऽपि किल कलपजीवित्वाद् धर्मं किल कुर्वन्ते। अथवा वेध्यास्तिस्रो वैशिकाः, ता अपि किल सर्वा विरोधाद् वैश्यधर्मे वर्तमाना धर्मं कुर्वन्ति। शूद्रा अपि कुटुम्बभरणजीवि कुर्वन्तो धर्ममेव कुर्वन्ते।

६. चूर्णिकार, पृ० १७६। वृत्ति, पृ० १७८।

७. चूर्णिकार, पृ० १७६ :महिष-पञ्चागाधारण वध्यन्ते।

श्लोक १-७ धर्म की मिथ्या मान्यताएं और अवाण का निरूपण ।

८-१० मूल-गुणों—महाव्रत आदि का प्रतिपादन ।

११-२४ उत्तरगुणों का विस्तार से वर्णन—विभिन्न अनाचारों के सेवन का निषेध ।

२५-२७ भाषा का विवेक ।

२८ संसर्ग-वर्जन

२९-३६ आत्मपय-चर्या का स्वरूप ।

इसवर्कालिक सूत्र के तीसरे अध्यायन में अनाचारों—निर्ग्रन्थ के लिए अनाशीर्ष प्रवृत्तियों का उल्लेख है । तथा छठे अध्यायन (महाभारकथा) में उनमें से कुछेक अनाचारों को सकारण समझाया गया है ।

प्रस्तुत आगम के इस अध्यायन में विभिन्न अनाचारों का उल्लेख है—

श्लोक १२

१. धावन—हाथ, पेर, वस्त्र आदि धोना ।
२. रञ्जन—वस्त्र, दांत, नख आदि को रंगना ।
३. वसन—वसन करना ।
४. विरेचन—जुलाब लेना ।
५. वस्तिकर्म—एनिमा आदि लेना ।
६. सिरोवेध—ताड़ी-वेधन करना ।

श्लोक १३

७. गंध—हृत् आदि सुगन्धित द्रव्यों का सेवन करना ।
८. माल्य—फूलों की माला का सेवन करना ।
९. स्नान करना ।
१०. दंतप्रक्षालन करना ।
११. परिग्रह—सचित्त वस्तु का संग्रह करना ।

श्लोक १४

१२. औदवेलिक—साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन लेना ।
१३. क्रीतकृत—साधु के निमित्त खरीदा हुआ लेना ।
१४. प्रामित्य—साधु को देने के लिए उधार लिया गया लेना ।
१५. आहृत—साधु के लिए दूर से लाया हुआ लेना ।
१६. पूति—आधाकर्मों आहार से मिला हुआ लेना ।
१७. अनैषणीय लेना ।

श्लोक १५

१८. अक्षिराग—आंखों को आजना ।
१९. उत्क्षालन—बार-बार हाथ-पैर धोना ।
२०. कल्क—गंध-विलेपन करना ।

श्लोक १६

२१. संप्रसारक—असंयमी व्यक्तियों के साथ संसर्ग ।
२२. कृतक्रिय—असंयममय अनुष्ठान की प्रशंसा ।
२३. प्रश्नायतन—ज्योतिष या अन्य शास्त्र के आधार पर सुहृदों के प्रश्नों का उत्तर देना ।
२४. सागरिक पिंड—अम्प्रातर का आहार लेना ।

१. वेदों—इसवेदालिख, तीसरे अध्यायन का आग्रह ।

श्लोक १७

२५. अष्टापद—सतरंज खेलना ।
 २६. वेधातीत—वस्त्रछूत—बौपड आदि खेलना ।
 २७. हस्तकर्म—हाथापाई करना, हस्तक्रिया करना ।
 २८. बिवाद करना ।

श्लोक १८

२९. उपानह—जूते पहनना ।
 ३०. छत्र—छत्र धारण करना ।
 ३१. नालिका—नली के द्वारा पासा डालकर जुआ खेलना ।
 ३२. बालवीजन—पंखा आदि से हवा लेना ।
 ३३. परक्रिय—परस्पर की क्रिया करना ।

श्लोक १९

३४. अस्थडिल का व्यवहरण करना ।

श्लोक २०

३५. पर-अमत्र—गृहस्थ के भाजन में भोजन करना ।
 ३६. पर-वस्त्र—गृहस्थ के वस्त्रों का व्यवहरण करना ।

श्लोक २१

३७. आसन्दी का उपयोग करना ।
 ३८. पर्यंक का व्यवहार करना ।
 ३९. गृहान्तरनिषद्या—गृहस्थ के अन्तर् घर में बैठना ।
 ४०. संपृच्छन—सावध प्रश्न पूछना या शरीर पोछना ।
 ४१. स्मरण—पूर्व मुक्तभोगों का स्मरण करना ।

श्लोक २२

४२. ग्रामकुमारिकाक्रीडा—ग्राम के लड़कों का खेल देखना ।

इन सब अनाचीर्णों के अतिरिक्त सूत्रकार ने भाषा-विवेक का प्रतिपादन भी किया है । भाषा-विवेक के कुछेक बिन्दु ये हैं—'

- दो या दो से अधिक व्यक्ति बात करते हो तो मुनि बीच में न बोले ।
- मर्मस्पर्शी भाषा न बोले ।
- मायाप्रधान वचन न कहे ।
- विचारपूर्वक बोले ।
- बोलने के पश्चात् पछताना पड़े, ऐसी भाषा न बोले ।
- उपघातकारी भाषा न बोले ।
- होलावाद—हे हीले ! हे गोले ! हे वृषल—का प्रयोग न करे ।
- सखिवाद—हे मीसी !, हे बुआ !, हे भानजी—का प्रयोग न करे ।
- गोत्रवाद—किसी को गोत्र से संबोधित न करे ।
- तू-तू-मैं-मैं की भाषा न बोले, तिरस्कारयुक्त भाषा न बोले ।
- अमनोह—अप्रिय भाषा न बोले ।

कषाय चार हैं—क्रोध, मास, माया और लोभ । प्रस्तुत आगम में इनके बावक अनेक नाम आए हैं । इस अध्ययन के प्यारहवें श्लोक में इनके नाम इस प्रकार हैं—

माया—परिकुंचन

लोभ—अजन (अजन)

क्रोध—स्वडिल

मास—उच्छ्रय

—इन कषायों के ये पर्यायवाची नाम उनकी भावना को अपने में समेटे हुए हैं । सूर्यिकार और वृत्तिकार ने इनकी व्याख्या विस्तार से की है ।

नवमं अध्यायः : नौवां अध्यायः

धर्मो : धर्म

सूक्त

संस्कृत भाषा

हिन्दी अनुवाद

१. कयरे धर्मे अक्खाए
माहणेण मईमता ? ।
अंजुं धम्मं जहातच्चं
जिणाणं तं सुणेह मे ॥

२. माहणा अतिया वेस्सा
अंजाला अहु बोक्कसा ।
एसिया वेसिया सुहा
जे य आरंभणिसिया ॥

३. परिग्गहे निविट्ठाणं
वेरं तेसिं पवड्ढई ।
आरंभसंभिया कामा
ण ते दुक्खविमोयगा ॥

४. आघातकिच्चमाहेउं
णाइओ विसएसिणो ।
अण्णे हरंति तं विसं
कम्मो कम्महेहि किच्चति ॥

५. माता पिता ण्हुसा भाया
अज्जा पुत्ता य ओरसा ।
णालं ते मम ताणाए
लुप्पंसस्स सकम्मुणा ॥

६. एयमट्ठं सपेहाए
परमट्ठाणुगामिअं ।
जिम्ममो निरहुंकारी
चरे निक्खु जिजाहिअं ॥
(युग्मम्)

७. चिच्छा विसं च पुत्ते य
णाइओ य परिग्गहं ।
चिच्छाण अंतगं सोयं
निरवेक्खो परिब्बए ॥

कतरः धर्मः आख्यातः,
माहनेन मतिमता ?
ऋजुं धर्मं यथातथ्यं,
जिनानां तत् शृणुते मे ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः,
अण्डाला अथ बोक्कसाः ।
ऐषिका वैशिकाः शूद्राः,
ये च आरम्भनिश्चिताः ॥

परिग्रहे निविष्टानां,
वेरं तेषां प्रवर्धते ।
आरम्भसंभूताः कामाः,
न ते दुःखविमोचकाः ॥

आघातकृत्यमाधाय,
ज्ञातयो विषयैषिणः ।
अन्ये हरन्ति तद् विसं,
कर्मी कर्मभिः कृत्यते ॥

माता पिता स्नुषा आता,
भार्या पुत्राश्च ओरसाः ।
नालं ते मम त्राणाय,
लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥

एतमर्थं संप्रेक्ष्य,
परमार्थानुगामिकम् ।
निर्ममो निरहुंकारः,
चरेद् भिक्षजिनाऽहृत्तम् ॥
(युग्मम्)

त्यक्त्वा विसं च पुत्राश्च,
आत्मीयश्च परिग्रहम् ।
त्यक्त्वा अन्तगं श्रोतः,
निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥

१. (जंबू ने पूछा) मतिमान्^१ श्रमण महावीर ने^२ कौन-
सा^३ धर्म बतलाया है ? (सुधर्मा ने कहा) तीर्थंकरों
के ऋजु^४ और यथार्थ धर्म को तुम मुझसे सुनो ।

२. ब्राह्मण,^५ क्षत्रिय,^६ वैश्य,^७ आंडाल, बोक्कस,^८ बहे-
लिए,^९ व्यापारी^{१०}, शूद्र^{११} तथा और भी जो हिंसारत
हैं^{१२},

३ जो परिग्रह में निविष्ट^{१३} (अर्जन, सुरक्षा और भोग
में रत) हैं, उनका वेर बढ़ता है ।^{१४} काम आरम्भ
(प्रवृत्ति) से पुष्ट होते हैं ।^{१५} वे दुःख का^{१६} विमोचन
नहीं करते ।

४. (मर जाने पर) मरणोपरान्त किए जाने वाले अनु-
ष्ठान^{१७} संपन्न कर विषय की एषणा करने वाले
पारिवारिक तथा अन्य लोग उसके धन का हरण
कर लेते हैं^{१८} और कर्मी (जिसने धन के लिए कर्म
का बंधन किया है) अपने कर्मों से छिन्न होता है ।

५. जब मैं अपने द्वारा किए गए कर्मों से छेदा जाता
हूँ^{१९}, तब माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, पत्नी और
औरस पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं
होते ।^{२०}

६ परमार्थ की ओर ले जाने वाले^{२१} इस अर्थ को समझ-
कर^{२२} भिक्षु ममता^{२३} और अहंकार से शून्य^{२४} होकर
जिनवाणी का आचरण करे ।

७. धन, पुत्र, परिवार, परिग्रह तथा आन्तरिक स्रोत
(क्षेम आदि)^{२५} को छोड़, अपेक्षा रहित हो परिव्रजन
करे ।^{२६}

८. पृथ्वी आऊ अगनी बाऊ
तण ष्वञ्च सवीयगा ।
अंडया पोय अराऊ
रस संसेय उभिगया ॥

९. एतेहि छहि कार्णिहि
तं विज्जं ! परिजाणिया ।
मणसा कायवक्केणं
आरंभी ण परिगही ॥

१०. मृषावायं बहिदं च
उग्गहं च अवाइयं ।
सत्पादाणां लोमंसि
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

११. पलिउच्चणं च भयणं च
धंढिलुस्तयणाणि य ।
धुत्तावाणाणि लोमंसि
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

१२. धावणं रयणं चैव
वमणं च विरेयणं ।
वस्तिकर्मं शिरोवेधे
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

१३. गंधमल्लं सिगाणं च
वंतपक्खालणं तथा ।
परिग्रहस्त्रीकर्मं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

१४. उद्देशियं कीयगडं
पामिच्चं चैव आहूतं ।
पूर्ति अणेषणिज्जं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

१५. आसूणिमक्खिरागं च
गिद्धुपघायकम्मगं ।
उच्छोलणं च कक्कं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

१६. संपसारी कयकिरिए
पसिनायतणाणि य ।
सागारियं पिण्डं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

पृथ्वी आपः अग्निर्वायुः,
तृणाः रूक्षाः सबीजकाः ।
अंडजाः पोत-जरायु-
रस-संस्वेद (जाः) उद्भिदः ॥

एतेषु षट्सु कायेषु,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ।
मनसा कायवाक्येन,
नारंभी न परिग्रही ॥

मृषावादं बहिस्तात् च,
अवग्रहं च अयाचितम् ।
शस्त्रादानानि लोके,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

परिकुञ्चनं च भजनं च,
स्थण्डिलोच्छ्रयणानि च ।
धूतादानानि लोके,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

धावनं रजनं चैव,
वमनं च विरेचनम् ।
वस्तिकर्मं शिरोवेधान्,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

गन्धमाल्यं स्नानं च,
दन्तप्रक्षालनं तथा ।
परिग्रह-स्त्री-कर्मं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

ओद्देशिकं क्रीतकृतं,
प्राप्तित्यं चैव आहूतम् ।
पूर्ति अनेषणीयं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

आसूनि अक्षिरागं च,
गृद्ध्युपघातकर्मकम् ।
उत्क्षालनं च कल्कं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

संपसारी कृतक्रियः,
प्रश्नायतनानि च ।
सागारिकं पिण्डं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

८. पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा तृण, रूक्ष और मूल
से बीज तक वनस्पति के दस प्रकार^{१८} तथा अंडज,
पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदन और उद्भिज्ज—

९. इन छहो जीव-निकायो को विद्वान् जाने और इनकी
हिंसा न करे । मनसा, वाचा, कर्मणा आरंभी और
परिग्रही न बने ।

१०. मृषावाद, बहिस्तात् (बाह्य वस्तु का ग्रहण)^{१९}, अया-
चित अवग्रह^{२०}—ये सभी शस्त्र-प्रयोग^{२१} के समान
हैं । इन्हें विद्वान् त्यागे ।

११. माया^{२२}, लोभ^{२३}, क्रोध^{२४}, अभिमान^{२५}—“ये सब कर्म
के आयतन^{२६} हैं । इन्हें विद्वान् त्यागे ।

१२. वस्त्र धोना, रगना^{२७}, वमन, विरेचन^{२८}, वस्तिकर्म^{२९},
शिरोवेध^{३०} इन्हें विद्वान् त्यागे ।

१३. गंध, माल्य^{३१}, स्नान^{३२}, दान पखालना^{३३}, परिग्रह,
स्त्री, हस्तकर्म^{३४}—इन्हें विद्वान् त्यागे ।

१४. साधु के उद्देश्य से बनाए गए^{३५}, खरीदे गए^{३६}, उधार
लिए गए^{३७}, दूर से लाए गए^{३८}, पूर्ति^{३९}, (साधु के
लिए बनाए गए आहार आदि से मिश्रित) तथा
अनेषणीय (आहार आदि)—इन्हें विद्वान् त्यागे ।

१५. वीर्य-वर्धक आहार या रसायन^{४०}, आखो को आंजना^{४१},
उपकरणों की आसक्ति, निरस्कार^{४२}, हाथ-पैर आदि
धोना^{४३}, उबटन करना^{४४}—इन्हें विद्वान् त्यागे ।

१६. असंयत प्रवृत्ति को महारा (या उपदेश) देना^{४५},
आरंभ की प्रशंसा करना^{४६}, अंगुष्ठ-आदर्श आदि के
द्वारा फल बनाना^{४७}, शय्यातर-पिण्ड^{४८} (जिसके मकान
में रहे उसका भोजन लेना)—इन्हें विद्वान् त्यागे ।

१७. अद्वापदं च सिक्खेज्जा
वेधावीर्यं च नो वए ।
हस्तकर्मं विवायं च
तं विज्जं ! परिजानीया ॥

अष्टापदं न शिष्येत,
वेधादिकं च नो वदेत् ।
हस्तकर्मं विवादं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१७. जुआ^{१७} आदि न सीखे, वेध^{१८} आदि न बतलाए ।
हस्तकर्म^{१९} और विवाद^{२०}—इन्हें विद्वान् त्यागे ।

१८. उवाणहाओ छत्तं च
णालियं बालवीजणं ।
परकिरियं अण्णमण्णं च
तं विज्जं ! परिजानीया ॥

उपानहः छत्रं च,
नालिकां बालवीजनम् ।
परक्रियां अन्योन्यं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१८. जूता^{२१} और छाता^{२२}, नालिका^{२३} (नलिका से पासा
डाल कर जुआ खेलना), चमर^{२४}, परक्रिया^{२५} (गृहस्थ
के पैर आदि पखालना), अन्योन्यक्रिया^{२६} (परस्पर
पैर आदि पखालना)—इन्हें विद्वान् त्यागे ।

१९. उच्चारं पासवणं
हरितेषु ण करे मुणी ।
विमडेण वाणि साहदु
णायमेज्ज कयाइ वि ॥

उच्चार प्रस्त्रवण,
हरितेषु न कुर्याद् मुनिः ।
विकटेन वापि सहस्य,
नाचामेत् कदाचिदपि ॥

१९. मुनि वनस्पति परमल-मूत्र का उत्सर्ग न करे ।
वनस्पति को इधर-उधर कर निर्जीव जल से भी
कभी आचमन (शौचक्रिया) न करे ।

२०. परमत्ते अण्णपाणं
ण भुञ्जेज्ज कयाइ वि ।
परवत्थं अचेलो वि
तं विज्जं ! परिजानीया ॥

परामत्रे अन्नपानं,
न भुञ्जीत कदाचिदपि ।
परवस्त्रं अचेलोपि,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

२०. गृहस्थ के पात्र में^{२७} अन्न-पान कभी न खाए । अचेल
होने पर भी गृहस्थ का वस्त्र^{२८} न पहने—इन्हें विद्वान्
त्यागे ।

२१. आसंदी पलियंके य
णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं सरणं वा
तं विज्जं ! परिजानीया ॥

आसन्दी पर्यङ्कश्च,
निषिद्या च गृहान्तरे ।
संप्रच्छन्नं स्मरणं वा,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

२१. आसंदी,^{२९} पलग^{३०}, घर के भीतर बैठना^{३१}, सावद्य
प्रश्न पूछना^{३२}, भुक्तभोग का स्मरण^{३३}—इन्हें विद्वान्
त्यागे ।

२२. जसं किस्ती सिलोणं च
जा य वंदनपूयणा ।
सब्बलोगंसि जे कामा
तं विज्जं ! परिजानीया ॥

यशः कीर्तिः श्लोकश्च,
या च वन्दनपूजना ।
सर्वलोके ये कामाः,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

२२. यश, कीर्ति, श्लोक, जो वंदना और पूजा^{३४} है, संपूर्ण
लोक में जो काम^{३५} है—इन्हें विद्वान् त्यागे ।

२३. जेणेहं णिज्जहे भिक्खू
अण्णपाणं तहाविहं ।
अणुप्पवाणमण्णेसि
तं विज्जं ! परिजानीया ॥

येनेह निर्वहेत् भिक्षुः,
अन्नपानं तथाविधम् ।
अनुप्रदानमन्येभ्यः,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

२३. भिक्षु गृहस्थ से कार्य निष्पन्न करवाए और उसके
बदले में उन्हें अन्न-पान दे, इस प्रवृत्ति को विद्वान्
त्यागे ।^{३६}

(शीलमंते असोले वा
तेसि बाणं विवज्जए ।
णिज्जरुदाए बायब्बं
तं विज्जं ! परिजानीया) ॥

(शीलवान् अशीलो वा,
तयोः दानं विवर्जयेत् ।
निर्जराभ्यं दातव्यं,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥)

शीलवान् या जो (व्यवहार से शीलवान् होते हुए
भी परमार्थ से) शीलवान् नहीं हैं, उन साधुओं को
निर्जरा के लिए (अन्न-पान) देना, (इहलौकिक
कार्य-निर्वाह के लिए) न देना—इन्हें विद्वान्
त्यागे ।)

२४. एव उदाह निग्गंथे
महावीरे महामुणी ।
अणंतगाणवंसी से
धम्मं वेसितवणं सुतं ॥

एवं उदाह निग्रन्थो,
महावीरो महामुनिः ।
अनन्तज्ञानदर्शी स,
धर्मं वेसितवान् अतम् ॥

२४. अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी महामुनि निग्रंथ
महावीर ने ऐसा कहा, अतधर्म का उपदेश दिया ।^{३७}

२५. भाषमाणो न भाषेत,
नो च वक्तेर् मर्मकम् ।
मायिस्थानं विवर्जयेत्
अनुवीचि व्यागृणीयात् ॥

२६. संतिसा सहिया भासा
अं वदसानुतप्यई ।
अं छणं तं च वत्तव्वं
एसा आणा निर्यंठिया ॥

२७. होलावायं सहीवायं
गोयवायं च नो वए ।
तुमं तुमं ति अमनुज्जं
सम्बसो तं न वत्तए ॥

२८. अकुसीले सदा भिक्षू
नो च संसगियं भए ।
सुहृत्त्वा तत्पुवसगा
पडिबुज्जेज्जे ते बिडू ॥

२९. णणत्थ अंतराएणं
परगेहे ण निसीयए ।
गाम-कुमारियं किहुं
जाइवेत्तं हसे मुणी ॥

३०. अणुत्सुओ उराल्लेसु
अयमाणो परिज्जेए ।
अरियाए अपमसो
पुट्ठो तत्थसहियासए ॥

३१. हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा
बुच्चमाणो ण संजले ।
सुमणो अहियसेज्जा
ण य कोलाहलं करे ॥

३२. लब्धे काम ण पत्थेज्जा
विवेगे एव माहिए ।
आयरियाइ सिस्सेज्जा
बुद्धाणं अंतिए सया ॥

३३. सुत्तसमाणो उवासेज्जा
सुत्तपणं सुत्तवत्तिपणं ।
वीरा जे अत्तपण्णेसी
धितिमंता बिइविया ॥

भाषमाणो न भाषेत,
नो च वक्तेर् मर्मकम् ।
मायिस्थानं विवर्जयेत् ।
अनुवीचि व्यागृणीयात् ॥

सन्ति इमाः तथ्याः भाषाः,
यद् उदित्वा अनुतप्यते ।
यत् श्रणं तत् न वक्तव्यं,
एषा आज्ञा नैर्ग्रन्थिकी ॥

‘होला’ बादं सखिवादं,
गोत्रवादं च नो वदेत् ।
त्वं त्वं इति अमबोज्ञः,
सर्वशः तद् न वक्तुम् ॥

अकुशीलः सदा भिक्षुः,
नो च सांसर्गिकं भजेत् ।
सुखरूपाः तत्रोपसर्गाः,
प्रतिबुध्येत तान् विद्वान् ॥

नान्यत्र अन्तरायेण,
परगृहे न निषीदेत् ।
ग्राम्यकौमारिकी क्रीडा,
नातिवेलं हसेद् मुनिः ॥

अनुत्सुकः उदारेषु,
यत्तमानः परिव्रजेत् ।
चर्यायां अप्रमत्तः,
स्पृष्टः तत्र अध्यासीत् ॥

हन्यमानः न कुप्येत्,
उच्यमानः न संज्वलेत् ।
सुमनाः अध्यासीत्,
न च कोलाहलं कुर्यात् ॥

लब्धान् कामान् न प्रार्थयेत्,
विवेक एव आहूतः ।
आचरितानि शिक्षेत,
बुद्धानां अन्तिके सदा ॥

सुश्रूषमाणः उपासीत्,
सुप्रज्ञ सुतपस्विकम् ।
वीराः ये आत्मप्रज्ञेषिणः,
वृत्तिमन्तो जितेन्द्रियाः ॥

२५. बोलता हुआ भी न बोलता-सा रहे^१, मर्मवेधी
वचन^२ न बोले^३, (बोलने में) मायिस्थान का^४
वर्जन करे, सोचकर बोले ।^५

२६. कुछ सत्य भाषाएँ हैं जिन्हें बोलकर मनुष्य पण्डिताता
है ।^१ जो हिंसाकारी वचन^२ है, उसे न बोले । यह
निर्यन्त्र (महावीर) की^३ आज्ञा^४ है ।

२७. हे साथी !^१, हे मित्र !^२, हे अमुक-अभुक्त गोत्र
वाले^३—इस प्रकार के वचन न बोले । (सम्मान्य
व्यक्तियों के लिए) तू-तू—ऐसा अप्रिय वचन सर्वथा
न कहे ।^४

२८. भिक्षु सदा अकुशील रहे, कुशीलों के साथ ससर्ग न
करे ।^१ उनके ससर्ग में अनुकूल उपसर्ग^२ उत्पन्न
होते हैं । विद्वान् उन्हें (उपसर्गों को) समझे ।

२९. मुनि किसी बाधा के बिना^१ गृहस्थ के घर में^२ न
बैठे ।^३ काम-क्रीडा और कुमार-क्रीडा^४ न करे,
मर्यादा रहित हो न हसे ।^५

३०. सुन्दर पदार्थों के प्रति^१ उत्सुक न हो, संयमपूर्वक
परिव्रजन करे, चर्या में^२ अप्रमत्त रहे, उपसर्गों से
स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे ।^३

३१. पीटने पर क्रोध न करे^१, गाली देने पर उत्तेजित न
हो^२, शान्तमन रहकर^३ उन्हें सहन करे, कोला-
हल^४ न करे ।

३२. लब्ध कामभोगों की इच्छा न करे ।^१ इसे विवेक
कहा गया है । बुद्धों (ज्ञानियों) के^२ पास सदा
आचार की^३ शिक्षा प्राप्त करे ।

३३. सुश्रूषा (मुनने और जानने की इच्छा) पूर्वक सुप्रज्ञ^१
और सुतपस्वी आचार्य की^२ उपासना करे, जो
आचार्य वीर^३, आत्मप्रज्ञा के अन्वेधी^४, वृत्तिमान्^५
और जितेन्द्रिय हैं ।

१. प्राकृत व्याकरण ४।१७६ : वलिवत्थोविसङ्गवक्को ।

२. उचितमिति शेषः ।

३४. गिहे दीपमपासंता
पुरिसाखाजिया नरा ।
ते वीरा बन्धनमुक्ता
नावकांक्षन्ति जीवियं ॥

३५. अगिद्धे सहकासैसु
आरंभेसु अणिस्सिए ।
सब्बं तं समयातीतं
अमेतं लभियं बहु ॥

३६. अइमानं च मायं च
तं परिणाय पंडिए ।
गारवाणि य सव्वाणि
णिब्बाणं संघए मुणि ॥

—सि वेमि ॥

गृहे दीपमपश्यन्तः,
पुरुषादानीयाः नराः ।
ते वीराः बन्धनोन्मुक्ताः,
नावकांक्षन्ति जीवितम् ॥

अगृद्धः शब्दस्पर्शयोः,
आरंभेषु अनिश्रितः ।
सर्वं तत् समयातीतं,
यदेतद् लपितं बहु ॥

अतिमानं च मायां च,
तत् परिज्ञाय पंडितः ।
गौरवाणि च सर्वानि,
निर्वाण सदध्यात् मुनिः ॥

—इति ब्रवीमि ॥

३४. गृहवास में दीप^{११} (प्रकाश) न देखने वाले मनुष्य
(प्रप्रक्षित होकर) पुरुषादानीय^{१२} हो जाते हैं । वे
वीर मनुष्य बंधन से मुक्त हो^{१३} जीने की^{१४} इच्छा
नहीं करते ।

३५. शब्द और स्पर्श में अनासक्त तथा आरम्भ से अप्रति-
बद्ध रहे । (धर्म का) जो यह स्वरूप कहा गया है,
वह सब समयातीत—वैकालिक है ।^{१५}

३६. पंडित मुनि अतिमान^{१६}, माया और सभी प्रकार के
बहुष्यन के भावों को^{१७} छोड़कर निर्वाण का^{१८}
संघान करे—सतत साधना करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन ६

इलोक १ :

१. मतिमान् (मईमता)

मतिमान् का सामान्य अर्थ है—बुद्धिमान् । प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'मति' का अर्थ केवलज्ञान किया है । मतिमान् अर्थात् केवलज्ञानी ।

२. भ्रमण महावीर ने (माहणेज)

माहण का अर्थ है—प्राणियों को मत्त मारो—इस प्रकार शिष्यों को उपदेश देने वाले भगवान् वीर वर्द्धमानस्वामी ।

चूर्णिकार ने माहण और भ्रमण को एकार्थक माना है ।

३. कौन सा (कयरे)

इसके दो अर्थ हैं—कौंसा, कौन सा ।

४. ऋजु (अंजु)

इसका अर्थ है—ऋजु, सरल । भगवान् महावीर का धर्म माया-प्रपञ्च से रहित होने के कारण अवक्र है, ऋजु है । जो बाल-वीर्यवान् और कुशील होते हैं उनका धर्म वक्र होता है । वे कभी ऋजु नहीं बोलते ।

बौद्ध धर्मावलम्बी कहते हैं—हम परिग्रह नहीं रखते । हम हिंसा आदि नहीं करने । किन्तु वे परिग्रह भी रखते हैं और हिंसा भी करते हैं । अतः उनका धर्म ऋजु नहीं है । भागवत कहते हैं—नारायण ही करना है, देना है और लेना है । जैसे आकाश कीचड़ से लिप्त नहीं होता, वैसे ही जिस पुरुष की बुद्धि सारे जगत् के प्राणियों को मार कर भी उसमें लिप्त नहीं होती, वह पाप से स्पृष्ट नहीं होता ।

भगवान् महावीर ने ऐसा धर्म नहीं कहा । उनका धर्म ऋजु है, सरल है, सबके लिए समान है ।

इलोक २ :

५. ब्राह्मण (माहणा)

पूर्व श्लोक में 'माहण' भगवान् महावीर का एक विशेषण है । यहाँ चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—ब्राह्मण या

१ (क) चूर्ण, पृ० १७५ : मज्जते अनयेति मतिः केवलज्ञानमिति, मतिरस्यास्तीति मतिमान् ।

(ख) वृत्ति, पत्र १७७ : मनुते—अवगच्छति जगत्प्रयं कालत्रयोपेतं यथा सा केवलज्ञानाक्षया मतिः सा अस्यास्तीति मतिमान् ।

२. वृत्ति, पत्र १७७ : माहणेजं ति मा जन्तून् श्वापादयेत्येव विनेयेषु वाक्प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो भगवान् वर्द्धमानस्वामी ।

३. चूर्ण, पृ० १७५ : समणे सि (वा माहणे सि वा) एगट्ठं ।

४. चूर्ण पृ० १७५ : कतरः केरिसो वा ।

५. चूर्ण पृ० १७५ : अज्जुवरिति आर्जवयुक्तः, न बल-कव्वाविमिषपविशयेत । ते तु कुशीला. बालवीर्यवन्तः, तेऽनार्जवानि ज्ञापते—न वदन् परिग्रहवन्तः आरब्धिनो वा, एतत् सङ्गस्य बुद्धस्य उपासकानां वा इति । भागवतास्तु—नारायणः करोति हरति ब्रह्माति वा । उक्तं हि—

यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिव जगत् ।

आकाशमिव पङ्कजेन, न स पापेन लिप्यते ॥१॥

नेर्ब भगवता अनार्जवयुक्तो धर्मः प्रणीतः ।

श्रावक ।'

६. क्षत्रिय (क्षत्रिया)

उग्र, भोग, राजन्य और इष्टवाकु—ये क्षत्रिय कहलाते हैं। इसका वैकल्पिक अर्थ है—अत्र धर्म से जीने वाले क्षत्रिय होते हैं ।'

७. वैश्य (वैश्या)

वैश्य का अर्थ है—व्यापार करने वाला। चूर्णिकार ने इसका अर्थ स्वर्णकार आदि किया है ।'

८. बोकस (बोकस)

इसका अर्थ है—वर्णशंकर जाति। ब्राह्मण के द्वारा शुद्धी से उत्पन्न सतान निषाद, ब्राह्मण के द्वारा वैश्य जाति की स्त्री से उत्पन्न सतान अम्बष्ठ और निषाद के द्वारा अम्बष्ठ जाति की स्त्री से उत्पन्न सतान 'बोकस' कहलाती है ।' इसके चार संस्कृत रूप प्राप्त होते हैं—बुकस, पुक्कस, पुक्कस और पुल्कस ।'

विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तरजम्भयणाणि, ३/४ का टिप्पण ।

९. बहेल्लि (एलिया)

इसका शाब्दिक अर्थ है—दूढ़ने वाले। मांस के लिए मृग को तथा हाथी को दूढ़ने वाले व्याघ्र तथा हस्तितापस 'एलिक' कहलाते हैं ।

अथवा जो अपने भोजन के लिए कन्द-मूल आदि दूढ़ते हैं या जो दूसरे पापवृद्धि लोग विविध उपायों से भिक्षा की एषणा करते हैं, विषयपूर्ति के साधनों को दूढ़ने हैं वे भी 'एलिक' कहलाते हैं ।'

१०. व्यापारी (वैश्या)

इसके दो अर्थ हैं—वणिक् अथवा वैश्या। ये अपनी विभिन्न कलाओं से जीविका उपार्जन करते हैं ।'

११. शूद्र (सुद्रा)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ खेती करने वाले अहीर जाति के लोग किया है ।'

१२. हिंसारत हैं (आरंभणिस्सिया)

इसका अर्थ है—हिंसा में रत। चूर्णिकार ने छेदन, भेदन, पाचन आदि क्रियाओं तथा वृत्तिकार ने यंत्रपीडन, निर्लीछन,

१. चूर्णि, पृ० १७५ : माहृणा मरणा साधगा वा ।

२. चूर्णि, पृ० १७५ : क्षत्रिया उक्ता भोगा राहृणा इवकागा राजानस्तदाधमिणश्च । अथवा कात्रेण धर्मेण जीवन्त इति क्षत्रियाः ।

३. चूर्णि, पृ० १७५ : वैश्याः सुवर्णकारावयः ।

४. चूर्णि, पृ० १७५ : बोकसा नाम संजोगजातिः । अहा—बंसणेण सुहोए जातो णिसादो ति बुच्चत्ति, बंसणेण वेस्सजातो अम्बठो बुच्चत्ति, तस्य णिसाएणं अंबठोए जातो सो बोकसो बुच्चत्ति ।

५. अभिधान चिन्तामणि कोष, ३/५६७ ।

६. (क) चूर्णि, पृ० १७५ : एवन्तोति एलिकाः मृगसुब्धका हस्तितापसारण मांसहेतोर्मृगान् हस्तिमश्च एषन्ति मूल-कन्द-कलानि च, ये चसपरे पावण्डा. नामाविर्लपपायैभिक्षामेषन्ति यथेष्टानि विषयसाधनानि ।

(ख) वृत्ति पत्र १७७ ।

७. (क) चूर्णि, पृ० १७५ : अथ वैशिका वणिजः, तेऽपि किल कलोपजीविनाश्च धर्मं किल कुर्वन्ते । अथवा वैश्यास्त्रियो वैशिकाः ता अपि किल सर्वा विशेषाद् वैश्यधर्मे वर्तमाना धर्मं कुर्वन्ति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १७७ : तथा वैशिका वणिजो मायाप्रधानाः कलोपजीविनः ।

८. वृत्ति, पत्र १७७ : शूद्राः कुपीबलावयः आश्वीरजातीयाः ।

९. चूर्णि, पृ० १७५ : जेवन-भेवन-पचणादिद्वय-जावारंभे चिस्सिता जियतं सित्ता चिस्सिता ।

कोयला बनाना आदि क्रियाओं को 'आरंभ' के अन्तर्गत माना है ।

इसलोक ३ :

१३. ओ परिग्रह में निविष्ट हैं (परिग्रहे निविष्टान्)

ओ परिग्रह में निविष्ट है अर्थात् जो परिग्रह का नाना उपयोगों से अर्जन करते हैं, उसकी सुरक्षा करते हैं, उसका भोग करते हैं और उसके नष्ट-विनष्ट होने पर चिंता करते हैं ।

वृत्तिकार ने निविष्ट का अर्थ वृद्धि, आसक्ति किया है ।

१४. डमका बैर बढ़ता है (बैरं तेसि पवड्डई)

यहां बैर का अर्थ पाप-कर्म भी हो सकता है ।

वृत्तिकार ने 'बैर' के स्थान पर 'पाप' पाठ माना है । बैर का अर्थ शत्रुता भी किया जा सकता है । परिग्रह में आसक्त मनुष्य अनेक लोगों के साथ बैर-भाव पैदा कर लेता है ।

निर्युक्तिकार ने पाप और बैर को एकार्यक माना है ।

१५. काम आरंभ (प्रवृत्ति) से पुष्ट होते हैं (आरंभसंभिया कामा)

काम का अर्थ है—विषयो के प्रति आसक्ति, आरंभ का अर्थ है—प्रवृत्ति और सभृत का अर्थ है—पुष्टि । काम प्रवृत्ति से पुष्ट होते हैं । जैसे-जैसे व्यक्ति विषयो का का सेवन करता है, वैसे-वैसे विषयो के प्रति उसकी अनुरक्ति बढ़ती जाती है और वह अनुरक्ति प्रवृत्ति को बढ़ाती है । वह प्रवृत्ति काम-वासना को पुष्ट करती है ।

१६. दुःख का (दुःख)

दुःख का अर्थ है—आठ प्रकार के कर्म, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, नरक आदि दुर्गति ।

इसलोक ४ :

१७. मरणोपरास्त किए जाने वाले अनुष्ठान (आघातकिञ्च)

आघात का अर्थ है—मरण और किञ्च का अर्थ है—कृत्य अर्थात् मरणोपरान्त किया जाने वाला कृत्य । शव का अग्नि-संस्कार करना, जलाञ्जलि देना, पितृपिण्ड देना आदि कार्य आघातकृत्य कहे जाते हैं ।

१. वृत्ति, पत्र १७७ : आरम्भ (म्मे) निश्चिता यन्त्रणीजननिनाञ्जनकर्मज्ञारवाहाविभिः क्रियाविशेषैर्बोवोपसर्गकारिणः ।

(ख) वृत्ति पत्र, १७७ ।

२. वृत्ति, पृ० १७५ : परिग्रहे निविष्टान् ति उच्यते अर्जतां सारवन्ताणं य नष्टविनष्टं च सोऽन्तान् ।

३. वृत्ति, पत्र १७७ : निविष्टानाम् अधुपपन्नानां गाढ्यं गतानाम् ।

४. वृत्ति, पृ० १७५ ।

५. ब्रह्माधुतस्कन्धनिर्युक्ति, गाथा १२२ :

पावे बज्जे बेरे, पणगे पंके जुहे असाए य ।

संगे सल्ले अरण, निरण्णुत्ते अ एगड्डा ॥

६. वृत्ति, पृ० १७५, १७६ ।

७. (क) वृत्ति, पृ० १७६ : अरा-व्याधुवये दुःखोवये वा मृतौ वा प्राप्ते न तस्माद् दुःखाद् मोक्षयन्ति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १७८ : दुःखयतीति दुःखम् अष्टप्रकारं कर्म ।

८. वृत्ति, पत्र १७८ : आह्वयन्ते अपनीयन्ते—विनाशयन्ते प्राणिनां वश प्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो—मरणं तस्मै तत्र वा कृतम्—अग्नि-संस्कार-जलाञ्जलि-प्रदान-पितृ-पिण्ड-दिक-आघात-कृत्यम् ।

धूर्तिकार ने इस अवसर पर भैंस, बकरी आदि मारे जाने का भी उल्लेख किया है।^१

१८. उसके धन का हरण कर लेते हैं (हरंति तं विसं)

व्यक्ति के मर जाने पर उसके ज्ञातिजन उसका मरणकृत्य संपन्न कर यह सोचते हैं कि हम इस मृत व्यक्ति के धन से विधियो का सेवन करेंगे। वे उसके धन का हरण कर लेते हैं। अ-ज्ञातिजन दास, भृत्य आदि भी उस धन को हड़पने की बात सोचते हैं। मरने वाले व्यक्ति के निःसंतान होने पर राजा उसका समूचा धन ले लेता है।^२

हरण करना, विभक्त करना, अपण करना—ये एकार्थक हैं।^३

श्लोक ३ :

१९. देवा जाता हं (लुप्यंतस्स)

शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित।^४

२०. श्लोक ५ :

तुलना करें—उत्तरउभयानि ६।३ :

माया पिया जुहा माया, सज्जा पुता य ओरसा।

नासं ते मम ताजाय, लुप्यंतस्स सकम्मुणा॥

श्लोक ६ :

२१. परमार्थ की ओर ले जाने वाले (परमार्थानुगामियं)

धूर्तिकार ने परमार्थ के दो अर्थ किए हैं—(१) मोक्ष, (२) ज्ञान आदि।^५ धूर्तिकार ने इसके मोक्ष और संयम—ये दो अर्थ किए हैं।^६ परमार्थ का अनुगमन करने वाला 'परमार्थानुगामिक' होता है।

२२. समझकर (सपेहाए)

यहाँ 'सं' शब्द के अनुस्वार का लोप किया गया है। इसका अर्थ है—संप्रेक्षा कर, विचार कर, समझकर।

धूर्तिकार ने इसके स्थान पर 'स पेहाए' (सः प्रेक्ष्य) माना है।^७

२३. ममता (से शून्य) (निम्ममो)

जिसकी स्त्री, मित्र, धन, आदि बाह्य वस्तुओं में तथा आन्तरिक परिग्रह में ममता नहीं है, वह निर्मम होता है।^८

२४. अहंकार से शून्य (जिरहंकारो)

इसका अर्थ है—अहंकार शून्य। व्यक्ति में प्रव्रजित होने से पूर्व के अपने ऐश्वर्य का मद होता है, जाति का अहंकार होता है

१. धूर्ति, पृ० १७६ : महिष-जहायाद्याश्च बध्यन्ते।

२. धूर्ति, पृ० १७६ : मरणकृत्यम् कारुण्यं तं पणिघाय ये तस्य भ्रातृपुत्रादयो दायादा जोडन्ति शब्दाविधिषयविधिः अनेन मृतधनेन अर्थं भोगान् मोक्षयामहे, अज्ञातयोऽपि दास-भृत्य-मन्थ्यादयः तत् स्मृतधनं लक्षयन्ति, अपुत्राणां च मृतकदं दायां मुञ्चति।

३. धूर्ति, पृ० १७६ : हरंति वा विसयंति वा कुर्यंति वा एयदं।

४. धूर्ति, पृ० १७६ : लुप्यमानस्वेति शारीर-मानसदुःख-दोर्जनस्यः।

५. धूर्ति, पृ० १७६ : परमः अर्थः परमार्थः मोक्ष इत्यर्थः ज्ञानादयो वा परमार्थः।

६. धूर्ति पृ० १७८ : परमः—प्रधानभूतो (अर्थः) मोक्षः संयमो वा तमनुगच्छतीति तच्छीलरूप परमार्थानुगामिकः।

७. धूर्ति, पृ० १७८।

८. धूर्ति, पृ० १७६ : नास्य कसल-मिल-विलासिषु जाह्या-अन्तरैषु वस्तुषु ममता विद्यते इति निर्ममः।

अथवा अपने ज्ञान का, तपस्या का, स्वाध्याय का अहंकार होता है अथवा अपनी विशिष्ट शक्तियों का अभिमान होता है । जो इन सबसे मूल्य है वह 'निरहकार' होता है ।'

इसलोक ७ :

२५. आत्मिक स्रोत (क्रोध आदि) (अंतर्गत सोयं)

श्रुणिकार ने यहाँ 'अस्तंग सोयं' की व्याख्या की है । इसका अर्थ है—आत्मा में होने वाला स्रोत—द्वार । उनके अनुसार ये आत्मिक स्रोत हैं—मिथ्यात्व, कषाय, अज्ञान, अविरति ।'

वृत्तिकार ने 'अस्तंग' के दो अर्थ किए हैं—दुष्परित्यज्य और विनाशकारी ।' उन्होंने 'सोयं' का मुख्य अर्थ शाक, अनुताप किया है और गौण अर्थ स्रोत किया है ।' उन्होंने वैकल्पिक रूप में 'अस्तंग' पाठ की भी व्याख्या की है ।'

२६. अपेक्षारहित हो परिश्रम करने (निरवेक्षो परिष्वए)

साधक पुत्र, स्त्री, माता-पिता, धन, धान्य आदि से निरपेक्ष होकर, उनकी अपेक्षा न रखता हुआ सममर्चा करे । जो निरपेक्ष नहीं होता वह पग-पग पर दुःख पाता है । उसके संकल्प-विकल्प बढ़ते हैं और वह उन्हीं संकल्पों में फँस जाता है । कहा भी है—

‘इति वा अवयवकृता निरावयवता गया अविवेचन ।

तन्मा पवयवसारे निरावयवत्वेण होयत्व ॥

जिन्होंने अपेक्षा रखी, वे ठगे गए, किन्तु जो निरपेक्ष रहे वे निविघ्न रूप से पार चले गए । अतः जो साधक प्रवचन के सार को जानता है वह सदा निरपेक्ष रहे, कहीं अपेक्षा न रखे ।

‘भोगे अवयवकृता पठन्ति संसारसागरे घोरे ।

भोगेहि निरावयवता तरन्ति संसारकांतारं ॥’

जो भोगों की अपेक्षा रखते हैं वे इस घोर संसारसागर में डूब जाते हैं और जो भोगों से निरपेक्ष रहते हैं वे संसार रूपी कांतार को पार कर जाते हैं ।'

इसलोक ८ :

२७. मूल से बीज तक वनस्पति के दस प्रकार (सबीयगा)

सबीजक अर्थात् वनस्पति की मूल से लेकर बीज तक की दस अवस्थाएँ । वे ये हैं—बीज, मूल, कंद, स्कंध, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल और बीज ।

इसलोक १० :

२८. बहिस्तात् (बाह्य वस्तु का ग्रहण) (बहिर्दं)

यह बहिर्दादान का संक्षेप है । इसका शाब्दिक अर्थ है—बाह्य वस्तु का ग्रहण । मध्यवर्ती बार्दिस तीर्थंकरों के चातुर्याम धर्म में चौथा है—बहिर्दादान । इस शब्द के द्वारा—मैथुन और परिग्रह—दोनों का ग्रहण होता था । स्त्री भी बाह्य वस्तु है ।

१. श्रुति, पृ० १७६ : न बाह्यकृत्तः पूर्वैश्वर्य-आत्माविष्णु च संप्राप्तेष्वपि, तपः स्वाध्यायादिषु ।

२. श्रुति, पृष्ठ १७७ : आत्मनि जवं आत्मकम् । तत्र यिन्न-भातयः परिग्रहात्वेव बाहिरंगं सोतं, मिच्छतं कसाया अज्जावं अविरती य एतं अस्तंगं सोतं, स्रोतः—द्वारमित्यर्थः ।

३. वृत्ति, पत्र १७८ : अस्तं गच्छतीत्यस्तंगो दुष्परित्यज्य इत्यर्थः अस्तको वा विनाशकारीत्यर्थः ।

४. वृत्ति, पत्र १७८, १७९ : ‘भोगे’ संतापं स्रोतो वा—मिथ्यात्वाविरतिप्रभावकषायात्मकम् ।

५. वृत्ति, पत्र १७८ : आत्मनि वा गच्छतीत्यात्मन आत्मर इत्यर्थः ।

६. वृत्ति, पत्र १७९ ।

वृणिकार ने इस शब्द के द्वारा मैथुन और परिग्रह का ग्रहण किया है।^१ वृत्तिकार ने एक स्थान पर इसका अर्थ—मैथुन और दूसरे स्थान पर मैथुन और परिग्रह किया है।^२

२९. अयाचित अवग्रह (अग्रहं च अजाइयं)

वृणिकार ने अयाचित अवग्रह का अर्थ अवसादान किया है।^३

३०. शस्त्र-प्रयोग (सत्त्वादानाई)

वृणिकार ने शस्त्र का अर्थ असंयम किया है।^४

मृधावाह आदि असंयम के कारण हैं। इसलिए इन्हें सत्त्वादान कहा गया है।

श्लोक ११ :

३१. माया (पल्लिङ्गणं)

इसका संस्कृत रूप है—परिकुञ्चनं। जिससे सारी क्रियाएँ बक हो जाती हैं, वह है परिकुञ्चन। यह माया का वाचक है।^५

३२. लोभ (भयणं)

जिसके द्वारा आत्मा टूट जाता है, भुके जाता है, अपनी मर्यादा से हट जाता है वह है लोभ। यह 'भजन' शब्द लोभ का पर्याय है।^६

वृणिकार ने इसका रूप 'भजन' किया है।^७

३३. क्रोध (खण्डिल)

जिसके उदय से आत्मा सत्-असत् के विवेक से विकल हो कर स्थण्डिल (भूमी) की तरह हो जाती है, वह स्थण्डिल है। यह क्रोध का वाचक है।^८

वृणिकार के अनुसार क्रोध चारित्र्य, शरीर और वर्ण आदि को स्थण्डिल बना देता है।^९

३४. अभिमान (उत्सयणाणि)

उच्छ्रय ऊँचाई का वाचक है। मनुष्य जाति, कुल, ज्ञान आदि के दर्प से अपने आपको ऊँचा मान लेता है। यह मान का वाचक है।^{१०}

देखें—२/५१ का टिप्पण।

१. वृत्ति, पृ० १७७ : बहिर्ज्ञं मिथुन-परिग्रही गृह्यते।

२. वृत्ति, पत्र १७६ : बहिर्ज्ञं ति मैथुनं वधि वा बहिर्ज्ञमिति मैथुनपरिग्रही।

३. वृत्ति, पृ० १७७ : अजाइयमिति अवसादानं।

४. वृत्ति, पृष्ठ १७७ : शस्त्रेते अनेनेति शस्त्रम्, शस्त्रस्य आदानानि शस्त्रादानानि, व्यस्त इत्यर्थः। कस्य शस्त्रस्य ? असंयमस्य।

५. (क) वृत्ति, पृष्ठ १७७ : सर्वतः कुञ्चनं बलिङ्गणं माया।

(ख) वृत्ति, पत्र १७६ : परि—समस्तात् कुञ्चयन्ते—वक्तव्यमापाद्यन्ते क्रिया येन मायानुष्ठानेन तत्पलिकुञ्चनं मायेति मन्यते।

६. वृत्ति, पत्र १७६ : भयते सवज्जनात्मा प्रह्वीक्रियते येन स भजनो लोभः।

७. वृत्ति, पृ० १७७ : भयते भयते वाऽसमिति असंयतैर्भयणः लोभः।

८. वृत्ति, पत्र १७६, १८० : तथा यदुदयेन ह्यात्मा सवसद्विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद्भवति स स्थण्डिलः—क्रोधः।

९. वृत्ति, पृ० १७७ : स्थण्डिलः क्रोधः चारित्र्यं स्थण्डिलस्थानीयं करोति, क्रोध एव स्थण्डिलः अपूर्वगतिश्च।

१०. वृत्ति, पत्र १८० : अभिमानश्च तत्पुण्यं भवति अत्यन्तद्विना बलीयसात् पुण्यं अस्मान्नीभवति स उच्छ्रयो मानः।

३५. कर्म के आयतन (धुसावाभाणि) .

‘धूर्त’ का अर्थ है कर्म और ‘आदान’ का अर्थ है— आयतन । सूत्रकार का अभिप्राय है कि माया, लोभ, क्रोध और मान— ये कर्म-बन्ध के आयतन हैं ।

वृत्तिकार ने ‘धूर्त’ के स्थान पर ‘धूण’ क्रियापद मान कर उसे सभी के साथ योजित करने का निर्देश किया है । जैसे— माया को धुन (कंपित कर), लोभ को धुन, क्रोध को धुन और मान को धुन । उन्होंने आदान का अर्थ— कर्मबन्ध का कारण किया है ।

उत्सोक १२ :

३६. रंगना (रयणं)

वस्त्र, दांत, नख आदि को रंगना ।

३७. वमन-विरचन (वमनं च विरेचनं)

वमन और विरेचन भी चिकित्सा के अंग हैं । प्राचीन काल में मुह की सुदरता बढ़ाने और वर्ण को सुवर्ण बनाने के लिए वमन का प्रयोग किया जाता था । वमन में मदनफल का प्रयोग होता था ।

वृत्तिकार ने वमन को ऊर्ध्व-विरेक (ऊर्ध्व-विरचन) कहा है ।

विरेचन से बल का विकास होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है और शरीर का वर्ण मनोहारी हो जाता है ।

३८. वस्तिकर्म (वस्तिकर्म)

अपान-मार्ग के द्वारा पानी, स्नेह आदि के प्रक्षेप को वस्तिकर्म कहा जाता है ।

दशवैकालिक सूत्र के धूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महस्तर ने तथा टीकाकार हरिभद्र ने अपान मार्ग से स्नेह आदि को खढ़ाना वस्तिकर्म माना है ।

निशीथ धूर्णिकार के अनुसार वस्तिकर्म कटि-वान, अर्श आदि बीमारियों को मिटाने के लिए किया जाता था ।

देखें—दशवैकालिक ३/२ का टिप्पण ।

१. वृत्ति, पृ० १७७ : धुसावाभाणि.....धूर्तस्याऽऽयतनानि कर्मप्रसूतप इत्यर्थः ।

२. वृत्ति, पत्र १८० : धूणयेति प्रत्येकं क्रिया योजनीया, तद्यथा पलिकुण्डलनं—मायां धूणय धूमीहि वा, तथा वमनं—लोभं, तथा स्थण्डिलं—क्रोधं, तथा उच्छ्रायं—मानम् ।

३. वृत्ति, पत्र १८० : एतानि पलिकुण्डलनादीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्तन्ते ।

.....आधीयते—स्वीक्रियते अमीनिः कर्म इत्यादानानि ।

(सूत्रकृतांग १।५३, वृत्ति पत्र ३६)

४. धूर्ण, पृ० १७८ : रयणं तेषां (वस्त्राणां) वस्त-नखादीनां च ।

५. धूर्ण, पृ० १७८ : मुखवर्णसौकुण्डलार्थं वमनं करोति ।

६. दशवैकालिक, हरिभद्राया टीका, पत्र ११८ : वमनम् मदनफलादिना ।

७. वृत्ति, पत्र १८० : वमनम्—ऊर्ध्वविरेकः ।

८. वृत्ति, पृ० १७८ : विरेचनमपि वला-ऽग्नि-वर्णप्रसादाद्यम् ।

९. (क) वसवेवास्मिन्, ३।२, अगस्त्यधूर्ण, पृ० ६२ : विरोहादिवाणतश्च चम्ममयो गालियाउसो कोरति सेनं कम्मं—अपाचाचं सिजेह-विशरणं वस्तिकर्मम् ।

(ख) वही, जिनदास धूर्ण, पृ० ११५ : वस्तिकर्मं नाम वस्थी वइओ मण्णइ, तेण वइएण ययाईणि अधिह्वाने विज्जंति ।

(ग) वही, हरिभद्राया टीका, पृ० ११८ : वस्तिकर्मं पृटकेन अधिष्ठाने स्नेहवानं ।

१०. निकोब भाष्य पाया ४३३०, धूर्ण पृ० ३६२ : कश्चिदायविरसजिजासजत्वं च अवाजदारेण वत्तिना तेस्माद्विज्जद्वानं वस्तिकर्मम् ।

३६. शिरोवेष्ट (सिरोवेष्टे)

चूर्णि और टीका में इसके स्थान पर 'पलिमंथ' पाठ व्याख्यात है। आताशर्मकथा में 'सिरोवेष्ट' पाठ मिलता है। वृत्तिकार ने उसका अर्थ 'नाडीवेष्टन' किया है।^१ यहाँ 'सिरोवेष्टे' पाठ उपयुक्त लगता है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'पलीमंथ' का अर्थ—संयम का उपघात करने वाला किया है।^२

श्लोक १३ :

४०. गन्ध-माल्य (गंधमल्लं)

गंध का अर्थ है—इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ और माल्य का अर्थ है—फूलों की माला।

देखें—दशवंकालिक ३/२ 'गंधमल्ले' का टिप्पण।

४१. स्नान (सिणाणं)

स्नान दो प्रकार का होता है—

१. देश-स्नान—शौच-स्थानों के अतिरिक्त आंखों के भी तक धोना।

२. सर्व स्नान—सारे शरीर का स्नान।

जैन परंपरा में मुनि के लिए दोनों प्रकार के स्नान अनाधीर्ण हैं।

देखें—दशवंकालिक ३/२ 'सिणाणं' का टिप्पण।

४२. दांत पखालना (दंतपक्खालनं)

दांतों को कदम्ब के दंतून से पखालना, दंतोन करना।^३

यह भी अनाचार है। दशवंकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन के तीसरे श्लोक में 'दंतपहोयणा' और नौवें श्लोक में 'दंतवणे' शब्द का प्रयोग मिलता है। दोनों की भावना समान है।

देखें—दशवंकालिक ३/२, ६ का टिप्पण।

४३. परिग्रह, स्त्री, हस्तकर्म (परिग्रहस्थिकर्म)

इसमें तीन शब्द हैं—परिग्रह, स्त्री और कर्म।

चूर्णिकार ने सचित्त आदि पदार्थों के ग्रहण को परिग्रह माना है। उन्होंने स्त्री के तीन प्रकार बतलाए हैं—कुमारिका, परिणिता और विधवा अथवा देवी, मानुषी और तैरवची। कर्म शब्द के द्वारा 'हस्तकर्म' गृहीत है।^४

वृत्तिकार ने पूर्वोक्त सभी अर्थ स्वीकार करते हुए कर्म का वैकल्पिक अर्थ—सावधान अनुष्ठान किया है।^५

चूर्णिकार ने यहाँ एक प्रश्न उपस्थित किया है कि इसी अध्ययन के दसवें श्लोक में 'बहिद्धं' शब्द के द्वारा स्त्री और परिग्रह का वर्जन किया जा चुका है। यहाँ पुनः वर्जन निर्दिष्ट है। क्या यह पुनरुक्तदोष नहीं है? समाधान देते हुए वे लिखते हैं कि यह पुनरुक्त दोष नहीं है, क्योंकि इसमें उनके भेदों का उल्लेख किया गया है।^६

१. आताशर्मकथा, वृत्ति पत्र १६० : नाडीवेष्टनानि वृत्तिरमोक्षनानीत्यर्थः।

२. (क) चूर्णि, पृ० १७८ : तस्य पलिमंथो संयमस्तः।

(ख) वृत्ति पत्र १८० : संयमवसितमन्त्रकारि संयमोपघातकपम्।

३. वृत्ति, पत्र १८० : दन्तपक्खालनं कदम्बकाव्ठादिना।

४. चूर्णि, पृ० १७८ : परिग्रहं इत्थि कर्मं च, परिग्रहो सज्जिताधी, इत्थी तिबिघ्नाधी, कर्मं हस्तकर्म।

५. वृत्ति, पत्र १८० : परिग्रहः सज्जिताधीः स्वीकरत्वं तथा तिबिघो विघ्नानामनुवर्तयः तथा 'कर्म' हस्तकर्म सावधानानुष्ठानं वा।

६. चूर्णि, पृ० १७८ : स्यात्-पूर्वं बहिद्धमपचिद्धं इत्यतः पुनरुक्तम्, उच्यते, तत्रैव वर्जनात् पुनरुक्तम्।

श्लोक १४ :

४४. साधु के उद्देश्य से बनाए गए (उद्देशियं)

निर्यन्त्र को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन आदि को औद्देशिक कहते हैं। यह भिक्षु के लिए अनाचीर्ण है—अग्राह्य और असेव्य है।

देखें—दशवैकालिक ३/२ 'उद्देशियं' का टिप्पण।

४५. (साधु के उद्देश्य से) खरीदे गए (कीयगडं)

इसके दो अर्थ प्राप्त हैं—

१. खरीद कर दी गई वस्तु।

२. खरीदी हुई वस्तु से बनी हुई वस्तु।

देखें—दशवैकालिक ३/२ 'कीयगडं' का टिप्पण।

४६. (साधु के उद्देश्य से) उधार लिए गए (पामिच्चं)

साधु के लिए दूसरो से उधार लेना 'पामिच्च' कहलाता है। यह उद्गम का नौवा दोष है।

देखें—दशवैकालिक ५/१/५५ 'पामिच्च' का टिप्पण।

४७. (साधु के उद्देश्य से) दूर से लाए गए (आहूतं)

आहूत का अर्थ है—साधु को देने के लिए गृहस्थ द्वारा अभिमुख लाई गई वस्तु। पिडनिर्युक्ति और निशीथ भाष्य में इसके अनेक प्रकार निदिष्ट हैं।

देखें—दशवैकालिक ३/२ 'अभिहूयानि' का टिप्पण।

४८. पूति (पूति)

जो आहार साधु के निमित्त बनाया जाता है, उसे आध्यात्म कहते हैं। उससे मिश्रित जो आहार आदि होता है, वह पूतिकर्म कहलाता है।

देखें—दशवैकालिक ५/१/५५ 'पूतिकर्म' का टिप्पण।

श्लोक १५ :

४९. वीर्यबलक आहार या रसायन (आशूणि)

'द्वोषिव गतिवृद्धयोः'—इस घातु का क्त प्रत्ययान्त रूप है 'शून'। इस घातु के दो अर्थ हैं—गति और वृद्धि। प्रस्तुत प्रसंग में यह वृद्धि के अर्थ में प्रयुक्त है।

'आशूणि' का संस्कृत रूप है 'आशूनि'। तूणिकार और वृत्तिकार ने इसके तीन-तीन अर्थ किए हैं—

१. आशूनि का अर्थ है—श्लाघा। व्यक्ति दूसरो द्वारा प्रशंसित होता हुआ स्तब्ध हो जाता है। जब तक वह प्रशंसित होता है अथवा जब तक दूसरे व्यक्ति उसका अनुसरण करते हैं तब तक वह मान से स्तब्ध होता है। वह तुच्छ प्रकृति वाला मनुष्य अपनी प्रशंसा सुनकर मान से फूल जाता है।

२. जिस आहार के द्वारा व्यक्ति बलवान् होता है, बल की वृद्धि होती है, वह आशूनि कहलाता है।

१. वृत्ति, पत्र १८० : कीर्त कयस्तेम कीर्त—गृहीतं कीर्तकीर्तम्।

२. दशवैकालिक ३/२, हरिजनीया वृत्ति पत्र ११६ : कयणं—कीर्तं, अथ निष्ठाप्रत्ययः साध्यादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृतं—निर्वर्तितं कीर्तकृतम्।

३. वृत्ति, पत्र १८० : 'पूय' मिति आध्यात्मविषयसम्पृक्तं शुद्धमप्याहारभातं पूति भवति।

३. जिस व्यायाम, स्नेहपान, रसायन के द्वारा बल की वृद्धि होती है, वह आशूनि कहलाता है।

चूर्णिकार ने श्लाघा के अर्थ को मुख्य मान कर शेष दो अर्थों को वैकल्पिक रूप में प्रस्तुत किया है।

वृत्तिकार ने श्लाघा के अर्थ को गौण मान कर शेष दो अर्थों को मुख्य माना है।^१

५०. बाँखों को आँजना (अभिक्षरणं)

बाँखों को सीवीरक आदि से आँजना।^२

५१. तिरस्कार (उपघातकर्मणं)

व्यक्ति जाति, कर्म या शील से दूसरों का उपहसन करता है, उनको नीचा दिखाता है, वह उपघातकर्म है।^३

५२. हाथ-पैर आदि धोना (उच्छोलनं)

हाथ, पैर, मुँह आदि को धोना उत्क्षालन कहा जाता है।^४

वृत्तिकार ने अयतनापूर्वक सञ्चित जल से हाथ-पैर आदि को धोना 'उत्क्षालन' माना है।^५

दशवैकालिक सूत्र (४/श्लोक २६) में उत्क्षालनप्रधावी—हाथ-पैर आदि को बार-बार धोने वाले के लिए सुगति दुर्लभ है ऐसा कहा गया है। इस सूत्र के चूर्णिकार जिनदास महत्तर का अभिमत है कि जो थोड़े से जल से हाथ, पैर आदि को यतनापूर्वक धोता है वह उत्क्षालनप्रधावी नहीं होता। किन्तु जो प्रभूत जल से बार-बार अयतनापूर्वक हाथ, पैर आदि को धोता है, वह उत्क्षालन-प्रधावी होता है। उसे सुगति नहीं मिलती।^६

५३. उबटन करना (कल्कं)

कल्क का अर्थ है—स्नान-द्रव्य, विलेपन-द्रव्य या गंध-द्रव्य का आटा। प्राचीन काल में स्नान में सुगंधित द्रव्यों का उपयोग किया जाता था। स्नान से पूर्व सारे शरीर पर तेल-मर्दन किया जाता था। उसकी बिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आंवले का सुगंधित उबटन लगाया जाता था। इसी का नाम 'कल्क' है।

यह उबटन आटे अथवा लोघ आदि द्रव्यों के मिश्रण से भी बनाया जाता था।^७

वैद्यक ग्रन्थों में कल्क की परिभाषा यह है—

द्रव्यमात्रं शिलापिष्टं, मुष्कं जलमिधितम् ।

तदेव सूरिभिः पूर्णं, कल्क इत्यभिधीयते ॥

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ६/६२ 'कल्क' और 'लोढं' का टिप्पण।

१. (क) चूर्ण, पृ० १७८ : आशूनिर्कं नाम श्लाघा, येन परेः स्तूयमानः सुवर्जति, यावच्छृणोति यावद्वाऽनुस्मरति तावत् सुवर्जति मानेनेति आशूनिकम् । अथवा जेष्ठा आहारेण आहारितेण सुणीहोति बलवत्त्वं भवति, व्यायाम-स्नेहपान-रसायनादि-विर्वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८० : आशूनिम इत्यादि येन श्रुतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रियाया वा अशूनं सम् आ—समस्तात् शूनी-भवति—बलवानुपजायते तवाशूनीत्युच्यते, यदि वा आशूनिर्जति—श्लाघा यत्, श्लाघया क्रियमाणया वा—समस्तात् शून्यवच्छृणो लघुप्रकृतिः कश्चिदूर्पाकमात्रत्वात् स्तब्धो भवति ।

२. वृत्ति, पत्र १८० : अर्कना 'रागो' रञ्जनं सौवीराधिकमञ्जनमिति यावत् ।

३. चूर्ण, पृ० १७८ : उपोद्घातकर्मं नाम परोपघातः तच्छ करोतीत्याह, जातिनो कर्मणा सीलेण वा परं उपहणति ।

४. चूर्ण, पृ० १७८ : उच्छोलनं च हृत्प-पाद-मुखादीनां ।

५. चूर्ण, पृ० १८० : 'उच्छोलनं' ति अयतनया शीतोदकयामादिना हृत्पपादादिप्रक्षालनम् ।

६ दशवैकालिक ४/२६, जिनदासचूर्ण पृ० १६४ : उच्छोलनप्रधावी नाम ओ दम्बोदयोगे हृत्पपादादी अभिवर्जनं पक्तालयह, बोधेण कुचकुचिमत्तं कृत्वमाषो (ख) उच्छोलनप्रधावी लघुम् ।

७. (क) चूर्ण, पृ० १७८ : कल्केन बहुयमादिना हृत्प-पादे मुष्कं गाताभि च उच्छब्देति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८० : कल्कं सौव्रीप्रियसमुदायेन ।

८. वैद्यकसंस्कृतम्, पृ० २१० ।

श्लोक १६ :

५४. असंयत प्रवृत्ति को सहारा देना (संपसारी)

देखें—२/५० का टिप्पण ।

५५. आरंभ की प्रशंसा करना (कयकिरिए)

देखें—२/५० का टिप्पण ।

५६. अंगुष्ठ आदि के द्वारा कल बताया (पसिणायतनानि)

देखें—२/५० में 'पासिणए' का टिप्पण ।

५७. शय्यातर पिंड (सागारियं पिंडं)

इसका अर्थ है—शय्यातर पिंड । मुनि जिसके मकान में रात्रीवास करता है, वह शय्यातर कहलाता है । उस घर के मालिक का भोजन आदि मुनि के लिए बर्ज्य है ।

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—^१

१. शय्यातर का पिंड ।

२. सूतकण्डू का पिंड ।

३. जुगुप्सित कुल का पिंड ।

विशेष टिप्पण के लिए देखें—दशवै० ३/५ का टिप्पण ।

श्लोक १७ :

५८. ब्रुआ (अष्टापदं)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—ब्रूतक्रीडा किया है और यह राजपुत्रों में ही होती है—ऐसा निर्देश किया है ।

मुनि अष्टापद का अभ्यास न करे और जो मुनि बनने से पूर्व सीखा हुआ है, उसका प्रयोग न करे ।^२

वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ—जाणक्य आदि का अर्थशास्त्र और गौण अर्थ—ब्रूत-क्रीडा विशेष किया है ।^३

जैन आगमों में वर्णित बहुर कलाओं में ब्रूत दसवीं कला है और अष्टापद तेरहवीं कला है । इसके अनुसार 'ब्रूत' और 'अष्टापद' एक नहीं हैं ।

आज की भाषा में हम अष्टापद को शतरंज का खेल कह सकते हैं । ब्रूत के साथ द्रव्य की हार-जीत का प्रसंग रहता है, अतः वह निर्ग्रन्थ के लिए संभव नहीं है । शतरंज का खेल प्रधानतया आमोद-प्रमोद के लिए होता है । अतः यह अर्थ प्रसंगोपात्त है ।

दशवैकालिक सूत्र (३/४) में भी यह शब्द आया है । उसके व्याख्याकारों ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. ब्रूत ।

२. एक प्रकार का ब्रूत ।

३. अर्थ-पद—अर्थ-नीति ।

१. वृत्ति, पृ० १८१ । 'सागारिकः'—शय्यातरस्तस्य पिण्डम्—आहारं, यदि वा—सागारिकपिण्डमिति सूतकण्डूविषयं जुगुप्सितं वर्जायितव्यमिति वा ।

२. वृत्ति, पृ० १७८ : अष्टापदं नाम ब्रूतक्रीडा, न अवस्थराजपुत्राणाम्, तमष्टापदं न शिकते पूर्वशिक्षितं वा न कुर्यात् ।

३. वृत्ति, पृ० १८१ : अष्टापदं इत्यादि अर्थेते इत्यर्थो—प्रजापत्ये हिरण्यादिकः पद्यते—गम्यते येनार्थस्तत्पदं—शास्त्रं अर्थार्थं पदसमर्थपदं जाणक्यादिकमर्थशास्त्रं.....यदि वा—'अष्टापदं'—ब्रूतक्रीडाविशेषः ।

‘प्राचीन भारतीय मनोरंजन’ के लेखक मन्मथराय ने भी अष्टपाद को शतरंज या उसका पूर्वज खेल माना है।

देखें—दशवैकालिक ३/४ अष्टावर्ण का टिप्पण।

५६. वेध (वेध)

चूर्णिकार ने वेध का अर्थ छूतविद्या या शरीर का वेधन किया है।^१

वृत्तिकार ने ‘वेधाईय’ पाठ के दो अर्थ किए हैं—^२

१. धर्मानुवेध से अतीत अर्थात् अधर्म-प्रधान वचन।

२. वस्त्र-वेध—एक प्रकार का छूत, तद्गत वचन।

‘वेधाईय’ इस पद में दीर्घ ईकार होने के कारण वृत्तिकार ने इसे वेधातीत मान लिया। आगमों में ‘आदिक’ शब्द के ‘आदिय’ और ‘आदीय’—ये दोनों प्रयोग मिलते हैं। संस्कृत शब्द कोष में वेध का अर्थ है—ग्रह-नक्षत्रों का योग।^३ ‘बदेत्’ क्रिया के सदर्थ में यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

६०. हस्तकर्म (हस्तकर्म)

चूर्ण ने इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. हस्तकर्म—अप्राकृतिक मैथुन।

२. हाथापाई।

भगवती आराधना में इसका अर्थ है—छेदन, भेदन, रंगना, चित्र बनाना, गुणना आदि हस्त-कौशल।^४ संस्कृत शब्द-कोष में ‘हस्तक्रिया’ का अर्थ हस्तकौशल मिलता है।^५ यहां यही अर्थ विवक्षित है।

६१. विवाद (विवाद)

चूर्णिकार ने विवाद, विग्रह और कलह—इनको एकार्थक माना है।^६ वृत्तिकार ने शुष्कवाद को विवाद माना है।^७

इलोक १८ :

६२. जूता (उवाहणामो)

यहां ‘उवाहणा’ शब्द का प्रयोग हुआ है। दशवैकालिक में ‘पाणहा’ और पाठान्तर के रूप में ‘पाहणा’ शब्द प्राप्त हैं। ‘पाणहा’ और ‘पाहणा’ में ‘ण’ और ‘ह’ का व्यत्यय है। उवाहणा का संक्षिप्त रूप ‘पाहणा’ है। इसका अर्थ है—पाहुका,^८ पादरक्षिका,^९

१. चूर्ण, पृ० १७८ : वेधा नाम छूतविद्या (उवा) समुसितने (?) दधिरं जंतुधर्मजंतान्।

२. वृत्ति, पत्र १८८ : वेधो धर्मानुवेधस्तस्मादतीतं सद्धर्मानुवेधातीतम्—अधर्मप्रधानं वचो नो बदेत् यदि वा—वेध इति वस्त्रवेधो छूत-विशेषस्तद्गतं वचनम्।

३. आप्ते, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ० १४६७ :

वेध :—Fixing the position of the sun, planets or the stars.

४. वृत्ति, पत्र १८१ : हस्तकर्म प्रतीतं, बहि वा हस्तकर्म हस्तक्रिया परस्परं हस्तआपारप्रक्षानः कलहः।

५. भगवती आराधना, गाथा ६१३, विजयोदया टीका।

६. आप्ते, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ० १७५३ :

हस्तक्रिया—Manual work or performance, handicraft.

७. चूर्ण, पृ० १७८ : विवादो विग्रहः कलह इत्यनर्थांतरम्।

८. वृत्ति, पत्र १८१ : विग्रहार्थं विवादं शुष्कवादमित्यर्थः।

९. (क) चूर्ण, पृ० १७६ : उवाहणहो पाहुके।

(ख) वृत्ति, पत्र १८१ : उवाहणहो—काष्ठपाहुके।

१०. कालगी, २।१, वृत्ति.....पादरक्षिकाम्।

पादत्राण ।' साधु के लिए जूते पहनना अनाचार है ।

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ३/४ 'पाणहा' का टिप्पण ।

६३. छाता (छत)

वर्षा तथा आतप-निवारण के लिए जिसका उपयोग किया जाए, उसे 'छत्र' कहते हैं । मुनि के लिए छत्रधारण का निषेध है ।'

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ३।४ का टिप्पण ।

६४. नालिका (नालिका से पासा डालकर जुआ खेलना) (नालियं)

नालिका—यह घूत का ही एक विशेष प्रकार है । चतुर घूतकार अपनी इच्छा के अनुकूल पासे न डाल दे, इसलिए पासों को नालिका द्वारा डालकर जो जुआ खेला जाता है उसे 'नालिका घूत' कहा जाता है ।

नालिका शब्द के अनेक अर्थ हैं । जैसे—छोटी-बड़ी डंडी, नली वाली रेत की घड़ी, मुरली आदि-आदि ।

जंबूद्वीप प्रभृति की वृत्ति में ७२ कलाओं के नाम हैं । उनमें जुए के लिए तीन शब्द आए हैं—घूत, अष्टापद और नालिका-खेल । वृत्तिकार ने घूत का अर्थ साधारण जुआ, अष्टापद का अर्थ सारी-फलक से खेला जाने वाला जुआ (शतरंज) और नालिकाखेल का अर्थ नालिका द्वारा पासे डालकर खेला जाने वाला घूत किया है ।' प्रस्तुत सूत्र के चूर्णिकार ने नालिका का अर्थ 'नालिका-क्रीडा' और वृत्तिकार ने घूतक्रीडा विशेष किया है ।'

देखें—दशवैकालिका ३।४ का टिप्पण ।

६५. चमर (बालबीयणं)

बालबीजन का अर्थ है—बालों से बना पंखा, चमर । वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. चमर ।

२. मयूरपिच्छ ।

चमर, मयूरपिच्छ आदि से हवा करना अनाचार है । मुनि भीषणगर्मी में भी पंखा आदि झलकर हवा नहीं ले सकता ।

६६-६७. परक्रियाअन्योन्यक्रिया (परकिरियं अणमणं च)

परक्रिया का अर्थ है—दूसरे से सबधित क्रिया और अन्योन्यक्रिया का अर्थ है—परस्पर की क्रिया । आधारचूला का तेरहवां अध्ययन परक्रिया से और चौदहवां अध्ययन अन्योन्य क्रिया से सबधित है । दोनों अध्ययनों की विषय-वस्तु समान है । अन्तर केवल इतना ही है कि परक्रिया में मुनि के लिए गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से पर आदि का आमर्जन, प्रमर्जन, सबाधन आदि कराने का निषेध है और अन्योन्यक्रिया में परस्पर आमर्जन, प्रमर्जन आदि का निषेध है ।

श्लोक २० :

६८. गृहस्थ के पात्र में (परमत्ते)

'परमत्त' में दो शब्द हैं—'पर' और 'अमत्र' । पर का अर्थ है गृहस्थ और अमत्र का अर्थ है—बर्तन ।' मुनि गृहस्थ के पात्र

१. दशवैकालिक ३।४, अगस्त्यचूर्णि, पृ० ६१ : उवाहणा पादत्राणं ।

२. चूर्णि, पृ० १७६ : छत्रमपि आतप-प्रवर्षपरित्राणार्थं न धार्यम् ।

३. जंबूद्वीपप्रभृति, २।६४, वृत्ति, पत्र १३७ : घूतं सामान्यतः प्रतीतम् । अष्टापदं—शारिकलकघूतं तद्विषयककलाम् ।

वृत्ति, पत्र १३६ : नालिकाखेलं घूतविशेषं वा भूद्विष्टबायविपरीतपाशकनिपातनमिति नालिकया यत्र पाशकं धार्यते ।

४. चूर्णि, पृ० १७६ : नालिका नाम नालिकाक्रीडा कुटुक्काक्रीडा स्ति ।

५. वृत्ति, पत्र १८१ : नालिका—घूतक्रीडाविशेषः ।

६. वृत्ति, पत्र १८१ : बालैः मयूरपिच्छैर्वा व्याजनकम् ।

७. चूर्णि, पृ० १७६ : परस्य पात्रं गृहिमात्र इत्यर्थः ।

में बन्न-पान न जाए ।

दशवैकालिक सूत्र में गृहस्थ के बर्तन में खाने से होने वाले दो दोषों का उल्लेख है । उसके अनुसार गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने से पश्चात्-कर्म और पुर-कर्म दोष की संभावना होती है । गृहस्थ बर्तनों को सचित्त जल से धोता है और उस जल को बाहर फेंकता है । इसमें छहों प्रकार के जीवों की हिंसा की संभावना है ।^१

वृत्तिकार ने तीन कारणों का निदेश किया है^२—

१. पुरः कर्म और पश्चात् कर्म का भय बना रहता है ।
२. गृहस्थ के बर्तनों के चोरी हो जाने की संभावना रहती है ।
३. हाथ में गिर कर बर्तनों के टूट जाने का भय रहता है ।

(विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ६।५१, ५२ का टिप्पण)

६६. अचेल होने पर भी गृहस्थ का वस्त्र (परवस्त्रं अचेलो वि)

इस पद का अर्थ है कि मुनि अचेल होने पर भी गृहस्थ का वस्त्र न ले ।

चूणिकार का कथन है कि मुनि अचेल हो जाने पर भी गृहस्थ के वस्त्रों को काम में न ले । क्योंकि मुनि यदि गृहस्थ के वस्त्र काम में लेकर लौटाता है तो गृहस्थ उनको पहले या पीछे कच्चे जल से धोता है, इससे पश्चात्-कर्म और पुर-कर्म का दोष लगता है । तथा उन वस्त्रों के चोरी हो जाने या फट जाने का भी भय रहता है । अतः मुनि गृहस्थ के कपड़ों को काम में न ले ।^३

निशीथ १२।११ में परवस्त्र के स्थान पर गृहिवस्त्र का प्रयोग मिलता है । चूणिकार ने इसका अर्थ प्रातिहारिक वस्त्र—काम में लेकर पुनः दिया जाने वाला वस्त्र—किया है ।^४

श्लोक २१ :

७०. आसंबी (आसंबी)

इसका अर्थ है—बैठने का एक प्रकार का उपकरण, कुर्सी । चूणिकार के अनुसार काष्ठपीठ को छोड़कर सभी आसन इस शब्द से गृहीत हैं ।^५

देखें—दशवैकालिक ३।५ में 'आसदी' का टिप्पण ।

७१. पलंग (पलियंके)

देखें—दशवैकालिक ६।५३, ५४, ५५ के टिप्पण ।

७२. घर के भीतर बैठना (जिसिउजं च गिहंतरे)

इस पद की भावना का विस्तार दशवैकालिक सूत्र के (६।५६-५६) इन चार श्लोकों में है । वहाँ निदेश है कि भिक्षा के लिए प्रस्थित मुनि गृहस्थ के अन्तरगृह में न बैठे । क्योंकि वहाँ बैठने से ये दोष उत्पन्न हो सकते हैं—

१. दशवैकालिक ६।५१, ५२ : सीओबगसमारंमे, मसधोयज्जइहणे ।

आइं वसंति जूपाइं विट्ठो तत्थ असंजमो ॥

पण्णाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कण्हईं ।

एयमदंठं न जुंजंति, निगंथा गिहिपायणे ॥

२. वृत्ति पत्र १८१ : घरस्थ—गृहस्थस्याग्रं—आजं पराग्रं तत्र पुरःकर्मपश्चात्कर्मभयात् हृतनष्टादिदोषसम्भवाच्च ।

३. चूणि, पृ० १७६ : परस्व वस्त्रं गृहिवस्त्रमित्यर्थः, तत् तावत् सचेलो वज्जेत्, या भूत् पश्चात्कर्मदोषः हृत-नष्टदोषश्च, यद्यपचेलकः स्यात्, एवं तस्मात् सचेलकस्य ।

४. निशीथ, १२।११ : चूणि ।

५. चूणि, पृ० १७६ : आसंबीत्यसंबिका सर्वा आसनविधिः अग्न्यत्र काष्ठपीठकेन ।

१. ब्रह्मचर्य—आचार का विनाश ।
२. प्राणियों का अवध-काल में वध ।
३. भिक्षाचरों के दान में बाधा ।
४. गृहस्वामी या घर वालों को क्रोध ।
५. ब्रह्मचर्य में बाधा ।
६. गृहस्वामिनी या वहाँ उपस्थित अन्य स्त्री के प्रति आशंका की उत्पत्ति ।

इसका अपवाद सूत्र यह है कि जो मुनि जराग्रस्त है, जो रोगी है या जो तपस्वी है—वह गृहस्थ के अन्तर्घर में बैठ सकता है ।^१

वृत्तिकार ने 'गिहंतरे' के दो अर्थ किए हैं—घर के बीच में या दो घरों के बीच की गली में ।^२

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक पृ० ३२५-३२७ ।

७३. सावध प्रश्न पूछना (संपुच्छनं)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ दिए हैं—

१. अमुक व्यक्ति ने यह काम किया या नहीं—गृहस्थ से यह पूछना ।
२. अपने अंग—अवयवों के बारे में दूसरे से पूछना, जैसे—मेरी आँखें कैसी हैं ? ये मुन्दर लगती हैं या नहीं ? आदि ।
३. रोगी (गृहस्थ) से पूछना—तुम कैसे हो ? तुम कैसे नहीं ? अर्थात् गृहस्थ रोगी से कुशल-प्रश्न करना ।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ दिए हैं—^३

१. गृहस्थ के घर में जाकर उसका कुशल-क्षेम पूछना ।
२. अपने शरीर या अवयवों के विषय में पूछना ।

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ३।३ का टिप्पण ।

७४. मुक्त-भोग का स्मरण (सरणं)

इसका अर्थ है—पूर्वमुक्त कामक्रीडा का स्मरण करना ।^४ मुनि गृहस्थावस्था में अनुभूत भोगों की स्मृति न करे । यह भी एक अनाचार है ।

दशवैकालिक सूत्र (३।६) में 'आउरस्सरण' तथा उत्तराध्ययन सूत्र (१५।८) में 'आउरे सरण' पाठ उपलब्ध होता है ।

'सरण' शब्द के दो संस्कृत रूप बनते हैं—स्मरण और शरण । स्मरण का अर्थ है—याद करना और शरण का अर्थ है—प्राण, घर, आश्रय-स्थान । इन दो रूपों के आधार पर इसके अनेक अर्थ होते हैं ।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'स्मरण' के आधार पर ही इसका अर्थ किया है ।

देखें—दशवैकालिक ३।६ का टिप्पण ।

१ दशवैकालिक, ६।५६ : तिष्ठमम्रपरागस्त, नितेज्जा जस्त कप्पई ।

अराए अभिभूयस्स, बाहिपस्स तवस्सिणो ॥

२ वृत्ति, पत्र १८२ : गृहस्थास्तर्वण्ये गृहयोगा मध्ये ।

३ चूर्णि, पृ० १७६ : संपुच्छनं नाम किं तत् कृतं ? न कृतं वा ? संपुच्छावेति अणं केरिसाणि मम अच्छीणि ? सोमंते न वा ? इत्येवमादि, ग्लानं वा पुच्छति—किं ते ब्रूति ? न ब्रूति वा ? ।

४ वृत्ति, पत्र १८२ : गृहस्थगृहे कुशलादिपुच्छनं आरमोदशरीरावयवपुच्छ(पुच्छ)नं वा ।

५. (क) चूर्णि, पृ० १७६ : सरणं पुच्छरत-पुच्छकीलियाणं ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८२ : पूर्वकीदितस्मरणम् ।

श्लोक २२ :

७५. श्लोक २२ :

प्रस्तुत श्लोक में यश, कीर्ति, श्लोक, वंदना और पूजना—ये शब्द आए हैं। चूर्णिकार ने यश की दो अवस्थाओं का वर्णन किया है—पूर्वावस्था और उत्तरावस्था। गृहस्थावस्था में दान, बुद्धि, आदि के कारण यश था। मुनि अवस्था में तप, पूजा और सत्कार आदि के कारण यश होता है। मुनि के लिए ये दोनों अवस्थाओं के यश वांछनीय नहीं है। इस यश का कीर्तन करना यशकीर्ति है। श्लोक का अर्थ है—श्लाघा। जाति, तप, बहुश्रुता आदि के द्वारा अपनी श्लाघा करना।

वृत्तिकार ने इनका अर्थ इस प्रकार किया है—

१. यश—अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने के कारण शौर्य की जो प्रसिद्धि होती है वह यश कहलाता है।
२. कीर्ति—दान देने से होने वाली प्रसिद्धि कीर्ति है।
३. श्लोक—जाति, तप और बहुश्रुता से होने वाली प्रसिद्धि श्लोक-श्लाघा है।
४. वंदना—देवेन्द्र, असुरेन्द्र, ऋकवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि विशिष्ट व्यक्तियों से वंदित होना वंदना है।
५. पूजना—ये विशिष्ट व्यक्ति सत्कारपूर्वक जो वस्त्र आवि देते हैं, वह पूजना है।

दशवैकालिक सूत्र (६।४। सूत्र ६) में अन्य शब्दों के साथ कीर्ति और श्लोक—ये दो शब्द भी आए हैं। व्याख्याकारों ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है—

१. कीर्ति—दूसरों के द्वारा किया जाने वाला गुणकीर्तन।^१ सर्वदिग्ध्यापी प्रशंसा।^२
२. श्लोक—श्लाघा।^३ स्थानीय प्रशंसा।^४

७६. काम (कामा)

विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य ईष्ट शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श को काम कहते हैं।

काम दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यकाम और भावकाम। भावकाम दो प्रकार के हैं—

१. इच्छाकाम—विषय की अभिलाषा।
२. मदनकाम—अब्रह्मचर्य का भोग।

देखें—दशवैकालिक २।१ का टिप्पण।

श्लोक २३ :

७७. श्लोक २३ :

प्रस्तुत श्लोक का अर्थ करने में चूर्णिकार और वृत्तिकार असमर्थ नहीं रहे हैं, ऐसी उनकी व्याख्या से प्रतीत होता है।

१. चूर्णिकार, पृ० १७६ : वानबुद्ध्यादि पूर्व यशः, तपः-पूजा-सत्कारादि पश्चात् यशः, यशः एव कीर्तनं जसकिली। सिल्लोगो नाम श्लाघा जाति-तपी-बाहुश्रुत्यादिभिरात्मानं (न) श्लाघेत।
२. वृत्ति, पत्र १८२ : बहुसमरसङ्गुनिर्वह्यसौम्यजनं यशः, वानसाध्या कीर्तिः, जातिसपोबहुश्रुत्वादिजनितः श्लाघा, तथा या च सुरासुराधिपतिवर्तिवसदेववासुदेवादिभिर्वन्दना तथा तेरेव सत्कारपूर्विका वस्त्रादिना पूजना।
३. दशवैकालिक ६।४।६, अगस्त्य चूर्णिकार, पृ० : परेहि गुणसंसृजं किली।
४. बहो, हरिवंशीया वृत्ति, पत्र २५७ : सर्वदिग्ध्यापी साधुबाहः कीर्तिः।
५. बहो, अगस्त्य चूर्णिकार, पृ० : परेहि पुरणं सिल्लोगो।
६. बहो, हरिवंशीया वृत्ति, पत्र २५७ : तस्मान्न एव श्लाघा।

चूर्णिकार ने इसकी दो व्याख्याएं की हैं—

१. जिस उत्पादन दोष (धर्मकथा या संस्तव या आजीववृत्ति या वैन्य) के द्वारा अन्न-पान लिया जाता है, उससे संयम निर्गमन करता है, इसलिए ऐसा न करे।

२. जिससे इहलौकिक कार्य निष्पन्न होता है अथवा मित्र-कार्य पूरा होता है—यह मुझे इसके बदले में कुछ देगा, परित्राण करेगा, मेरा भार उठायेगा आदि-आदि इहलौकिक कार्य के निर्वाह को ध्यान में रखकर दूसरो को अन्न-पान न दे।

वृत्तिकार ने भी इसके दो अर्थ प्रस्तुत किए हैं—

१. जिस (गुह्य अथवा कारणवशगृहीत अगुह्य) अन्न-जल से मुनि इस लोक में अपनी सयम यात्रा (दुर्भिक्ष या रोग, आतंक आदि) का निर्वाह करता है, वैसा ही अन्न-जल दूसरे मुनियों को दे।

२. जो अन्न-जल सयम को निस्सार करता है, वह न ले। तथा यह अशन आदि गृहस्थों, परतीर्थिकों और सयमोपघातक होने के कारण स्वतीर्थिकों को भी न दे। इस प्रवृत्ति को परिज्ञा से जानकर, इसका सम्यक् परिहार करे।

वृत्तिकार के दोनों अर्थों में कोई मेल नहीं है। हमने इसका अर्थ निशीथ सूत्र के आधार पर किया है। वहां बतलाया गया है—जो भिक्षु अन्यतीर्थिक और गृहस्थ के द्वारा अपना भार उठाता है, उठाने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो भिक्षु 'यह मेरा भार उठाता है,' इस दृष्टि से अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को अशन, पान खाद्य या स्वाद्य देता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

सूत्रकृतांग चूर्णि में निशीथ के इन दो सूत्रों का आधार प्राप्त है। दोनों चूर्णियों (सूत्रकृत और निशीथ) में अद्भूत शब्द साम्य भी है—बहिस्सति वा मे किञ्चिद् उवगरणजातं—सूत्रकृत चूर्णि पृ० १८०।

ममेस उवकरणं वहेद् स पडुच्च—निशीथ चूर्णि, भाग ३, पृ० ३६३।

निशीथ भाष्य और चूर्णि में अन्यतीर्थिक और गृहस्थ को अशन, पान आदि देने में अनेक दोष बतलाए गए हैं—भगवान् गौतम ने बर्द्धमान महावीर से पूछा—'भते !' बालपुरुषों का बलवान् होना श्रेय है या दुर्बल होना श्रेय है? भगवान् महावीर ने कहा—'दुर्बल होना श्रेय है, बलवान् होना श्रेय नहीं है। बलवान् होने का मूल कारण आहार है। वह गृहस्थ साधु से आहार प्राप्त कर बहुत कलह-लड़ाइयां करता है, पानी पीता है, आचमन करता है, मुक्त आहार का वमन करता है, उसके रोग पैदा होता है, 'साधु ने मुझे कुछ ऐसा खाने को दिया जिससे रोग पैदा हो गया'—इस प्रकार अपवाद करना है अथवा वह मर जाता है—इन अनेक दोषों की संभावना को ध्यान रख कर मुनि गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से भार न उठाए और न उन्हें अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य दे।'

१. चूर्णि, पृ० १८०: जेनेति जेण धम्मकधाए वा संयवेण वा आजीव-वणोमगसेण वा अणतरेण वा उत्पातणादोसेण, अणहेत्तुं वा पाणहेत्तुं वा पर्युज्जमानेक इमा ओवम्मा, निव्वहति निर्बहति नाम निर्गच्छति तन्न कुर्यात्। अथवा जेणिह निव्वहेति येनास्य इहलौकिकं किञ्चिद् कार्यं निष्पद्यते मित्रकार्यं वा, प्रतिवास्यति वा मे किञ्चिद्, परित्रास्यति वा, बहिस्सति वा मे किञ्चिद् उवगरणजातं, एवमादिकं किञ्चिद्विहलोककार्यनिर्वाहकं साधकमित्यर्थः, त पडुच्च, अणं वा।

२. वृत्ति, पत्र १८२: 'येन' अन्नेन पानेन वा तथाविधेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षया त्वशुद्धेन वा 'इह'—अस्मिन् लोके इत्थं संयम-यात्रादिकं दुर्भिक्षरोगातङ्कादिकं वा भिक्षुः निर्वहेत् निर्वाहयेद्वा तन्न पानं वा तथाविधं इत्यक्षेत्रकालमावापेक्षया शुद्धं—कल्प गृह्णीया-त्तथेतेषाम्—अस्मादीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे सयमयात्रानिर्वहणसमर्पमनुतिष्ठेत् यदि वा—येन केनचिदनुष्ठितेन 'इमं' संयम 'निर्वहेत्'—निर्वाहयेद् असारतामापादयेत्तथाविधमशनं पान वाऽप्यद्वा तथाविधमनुष्ठानं न कुर्यात्, तथेतेषामशनादीनाम् 'अनुप्रदान' गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयुष्यानां वा संयमोपघातक नानुशीलयेदिति, तदेतत्सर्वं अपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेदिति।

३. निशीथ १२।४१, ४२: जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उर्वहि बहावेति, बहावेत्तं वा सातिज्जति।

जे भिक्खू तण्णोसाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइम वा वेति, वेत्तं वा सातिज्जति।

४. निशीथ भाष्य पाठा ४२०६: दुम्बलियसं साहू, बालाणं तस्स भोयणं मूलं।

बगवातो अपि पियणे, दुग्गुह्य वमणे कपुत्ताहो ॥

चूर्णि, सुतीर्थो विभाग पृ० ३६३:

भगवता गोयनेण महावीरवर्द्धमानसामी पुच्छितो—'एतेसि नं भते ! बालाणं कि बलियसं सेयं ? दुम्बलियसं सेयं ?' भगवता वागिरियं—'दुम्बलियसं सेयं, बलियसं अस्सेयं।' तस्स य बलियत्तणस्स मूलं आहारो सो य साहूसमोवे आहारं आहारेत्ता बहूणि अखितारमाणि करेज्ज, उवणं वा पिएज्ज, आयमेज्ज वा, भुत्तो वा दुग्गुहाए ववेज्ज, वयुप्पातो वा से हवेज्ज। संजएहि एरिसि किप्पि मे विन्नं वेण रोगो आओ एवं उट्ठाहो मरेज्ज वा।.....तन्हा गिहस्थो अन्नअत्थिओ वा न जाहेयवो, न वा अत्तजादी इत्यर्थः।

इलोक २४ :

७८. श्रुतधर्म का उपदेश दिया (धम्मं वेसितवंसुत्तं)

भगवान् महावीर ने श्रुतधर्म का उपदेश दिया। चूर्णिकार का कथन है कि भगवान् ने श्रुतधर्म के द्वारा चारित्र्य धर्म की देशना दी।^१

वृत्तिकार ने 'धम्म' और 'सुत्त' को विशेष्य-विशेषण न मानकर स्वतंत्र माना है। उनके अनुसार भगवान् महावीर ने संसार को पार लगाने में समर्थ चारित्र्यधर्म और श्रुतधर्म का उपदेश दिया।^२

इलोक २५ :

७९. बोलता हुआ भी न बोलता-सा रहे (भासमानो न भासेज्जा)

जो साधक भाषा समिति से युक्त है, वह बोलता हुआ भी अभाषक ही है। दशवैकालिक निर्मुक्ति में बताया है—

वयणविमत्तीकुसलो वययोगसं बहुविधं विचार्यते ।

विषसं पि वयमाणो सो वि हु वहुसुत्तं पत्तो ॥

—जो साधक भाषाविज्ञ है, वचन और विभक्ति को जानता है तथा अन्यान्य नियमों का ज्ञाता है, वह सारे दिन बोलता हुआ भी वचनगुप्त है।

नियमों के अनुसार वस्त्रों का उपयोग करने वाला सचेत मुनि भी अचेत कहलाता है, उसी प्रकार भाषा-समिति मुनि भी अभाषक कहलाता है।

इस पद का वैकल्पिक अर्थ है—साधक अपने से बड़े या छोटे मुनियों के बात करते समय बीच में न बोले।^३ दशवैकालिक में इस अर्थ का समर्थन मिलता है।

वृत्तिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—जहां रत्नाधिक मुनि (या गृहस्थ) बोल रहे हों, उनके मध्य में 'मैं विद्वान् हूँ'—इस अभिमान से द्रुत हो न बोले।^४

८०. मर्मवेधी वचन (मम्मयं)

इसका अर्थ है—मर्मवेधी वचन। यथार्थ हो या अयथार्थ, जिस वचन को बोलने से किसी के मन में पीड़ा होती हो वह मर्म-वेधी वचन कहलाता है। वह सीधा मर्म को छूता है। साधक ऐसा वचन न बोले।

वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में 'मामक' पाठ मान कर उसका अर्थ पक्षपातपूर्ण वचन किया है। मुनि बोलता हुआ या अन्य समय में पक्षपातपूर्ण वचन न कहे।^५

चूर्णिकार के अनुसार जाति, कुशील और तप आदि के मर्म को छूने वाला वचन मर्मक होता है।^६

१. चूर्ण, पृ० १८० : अनेन श्रुतधर्मेण चारित्र्यधर्मं वेसितवान्, चारित्र्यधर्मविशेषमेव श्रुतधर्मेऽत्र चारित्र्यधर्मं वेसितवान् ।

२. वृत्ति, पत्र १८२ : स भगवान् 'धर्मं'—चारित्र्यलक्षण ससारोत्सारणसमर्थं तथा 'सुत्तं' च 'जीवादिपदार्थसंज्ञकं' 'वेसितवान्'—प्रकाशितवान् ।

३. दशवैकालिक निर्मुक्ति, भाषा २६३ ।

४. चूर्ण, पृ० १८० : यो हि भाषासमितिः सो हि भाषमाणोऽप्यभाषक एव लभ्यते.....अथाविधीय परिहरमाणो सचेतो वि अचेत एवापविश्यते...अथवा भासमानो न भासेज्जा, न रातिणियस्स अंतरभासं करेज्जा ओमरातिणियस्स वा ।

५. वृत्ति, पत्र १८३ : यो हि भाषासमितिः स भाषमाणोऽपि धर्मकभासम्बन्धमभाषक एव स्यात्...यदि वा—यत्रान्यः करिष्व रत्नाधिको भाषमाणस्तत्रान्तर एव सवृत्तिकोऽहमित्येवमभिमानवान् भाषेत ।

६. वृत्ति, पत्र १८३ : मर्मं न चक्षतीति मर्ममं...यद्वचनमुच्यमानं तत्पक्षपात्यं वा सद्यस्य कस्यचिन्मनः पीडामाधत्ते तद्विषयी न भाषे-तेति भाषः, यदि वा 'मामक'—ममीकारः पक्षपातः ।

७. चूर्ण, पृ० १८० : जातिकुशील-तर्केहि मर्मकुड् भवतीति मर्मकम् ।

मर्म को छूने से मुनि भी क्रोध के आवेश में आ जाता है तो फिर गृहस्थ क्रोध में आ जाए तो आश्चर्य ही क्या है ?'

८१. बोले (वम्फेज्ज)

चूणिकार ने इसे देखी शब्द मान कर इसका अर्थ 'उत्स्राप' किया है। अनर्थक बोलना, असंबद्ध बोलना—यह 'वम्फेज्ज' का वाच्य है।'

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—अभिलषेत्—इच्छा करे—किया है।'

आचार्य हेमचन्द्र ने (४।१७६, १६२) में 'वम्फेज्ज' का अर्थ—कांक्षति—इच्छा करना किया है।'

८२. मायिस्थान का (माइट्ठानं)

मायिस्थान का अर्थ है—माया प्रधान वचन।'

चूणिकार ने माया का अर्थ—आचरण को छिपाने की वृत्ति, कुछ करके मुकर जाना, भविष्य में किए जाने वाले आचरण का किसी को आभास न होने देना—किया है।'

वृत्तिकार के अनुसार दूसरे को ठगने के लिए अपने आचरण को छुपाना माया है। बोलते समय या नहीं बोलते समय या कभी भी मुनि माया प्रधान वचन न कहे, माया प्रधान आचरण न करे।'

८३. सोचकर बोले (अणुवीइ वियागरे)

मुनि सोचकर बोले। जब वह बोलना चाहे तब पहले-पीछे का ज्ञान कर, चिन्तन कर बोले। वह यह सोचे—यह वचन अपने लिए, पर के लिए या दोनों के लिए दुःखजनक तो नहीं है? ऐसा चिन्तन करने के पश्चात् बोले। कहा भी है—पुण्वि बुद्धीए पेहिता, पण्णा वक्कमुवाहरे—पहले बुद्धि से सोचकर, फिर बोले।'

श्लोक २६ :

८४. श्लोक २६

प्रस्तुत श्लोक के दो चरणों में अवक्तव्य सत्य के कथन से पछतावा होता है—इसका उल्लेख है।

भाषा के चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, सत्यामृषा (मिश्र) और असत्यामृषा (व्यवहार)। इनमें दूसरी और तीसरी भाषा मुनि के लिए सर्वथा वर्जनीय है। सत्य और व्यवहार भाषा भी वही वर्जनीय है जो अनवद्य, मृदु और संदेह रहित हो।'

मुनि सत्य भाषा बोले। किन्तु जो सत्य भाषा पक्ष और महान् भूतोपधात करने वाली हो, वह न बोले। काने को काना,

१. निशीचसाध्य, भाषा ४२८५ : अति ताव मम्मं परिघट्टियस्स मुज्झिओ वि जायते मण्णु ।

कि पुण्वि गिहीजमण्णू, न भविस्सति मम्मविट्ठानं ॥

२. चूणि, पृ० १८० : वंकेति जाम देसीजासाए उत्सावो वुच्चति, तदपि च अपार्थकं अरिल्लट्ठोक्तं बहुधा सं वंकेति स्ति वुच्चति ।

३. वृत्ति, पत्र १८३ : न वंफेज्जति नाभिलषेत् ।

४. प्राकृत व्याकरण ४।१६२ ।

५. वृत्ति, पत्र १८३ : मातुस्थानं—मायाप्रधानं वचनः ।

६. चूणि, पृ० १८० : माया जाम गुहाचारता, कृत्वाऽपि निक्कवः करिण्यमाणश्च न तथा वसांयत्थात्मानम् ।

७. वृत्ति, पत्र १८३ : इदमुक्तं भवति—परवक्त्रनबुद्ध्या गुहाचारप्रधानो भाषमाणोऽभावमणो वाऽग्न्यवा वा मातुस्थानं न कुर्यादिति ।

८. (क) वृत्ति, पत्र १८३ : यदा तु वस्तुकामो भवति तदा नैतद्वचः परात्मनोऽभययोर्वा वाक्कमिस्येवं प्राग्विजिन्स्य वचनमुवाहरेत्, तदुक्तम्—पुण्वि बुद्धीए पेहिता, पण्णा वक्कमुवाहरे ।

(ख) चूणि, पृ० १८० : यदा वस्तुकामो भवति तदा पूर्वापरतोऽनुचिन्स्य वाहरे ।

९. वसन्तकालिक ७।१-४ ।

नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और खोर को खोर न कहे ।^१ यद्यपि ऐसा कहना असत्य नहीं है, किन्तु ये वचन मर्म को बीघते हैं, पीड़ा उत्पन्न करते हैं, अतः इसका निषेध है । इसी प्रकार दास को दास न कहे, राज्य-विरुद्ध सत्य भाषा न बोले अथवा जानते हुए भी यह न कहे कि इसने यह किया है ।

जो इस प्रकार का सत्य बोलता है वह बोलने के बाद पछताता है । जो कटु सत्य बोलता है वह बंधन, बात आदि दुःखों को प्राप्त कर अनुताप करता है । अथवा निरपराध या सापराध व्यक्ति को दोषी ठहरा कर फिर स्वयं अनुताप करता है कि अरे ! मैंने यह क्या कर डाला ।^२

वृत्तिकार ने 'सन्तिमा तहिया' (सं० सन्ति इमा तह्याः) पाठ के स्थान पर 'तत्थिमा तह्या' (सं० तत्थेमा तृतीया) पाठ मान कर व्याख्या की है । उनका कथन है कि चार भाषाओं में तीसरी भाषा है—सत्यामृषा । यह मिश्र भाषा है—कुछ सत्य है और कुछ असत्य । मुनि ऐसी भाषा न बोले ।^३

इन शब्दों के आधार पर वृत्तिकार और वृत्तिकार की व्याख्या में बहुत अन्तर आ गया । जहां वृत्तिकार अवक्तव्य सत्य का निषेध करते हैं वहां वृत्तिकार मिश्र भाषा का निषेध करते हैं । यह अन्तर भिन्न पाठ की स्वीकृति के कारण आया है ।

८६. हिंसाकारी वचन (छणं)

इसका संस्कृतरूप है—क्षणम् । यह 'क्षणं हिंसायाम्' धातु से निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है—हिंसायुक्त वचन, जैसे—खेत को काटो, गाड़ी को जोतो, बकरे को मारो, पुत्रों को काम में लगाओ, यह खोर है, इसका वध करो, इन बैलों का दमन करो ।^४

८७. निर्ग्रन्थ (महावीर) की (नियंठिया)

महान् निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर की यह आज्ञा (उपदेश) है, अथवा निर्ग्रन्थों के लिए यह आज्ञा उपदिष्ट है ।^५

८७. आज्ञा (आणा)

यहां आज्ञा का अर्थ है—उपदेश ।^६

श्लोक २७ :

८८. हे साथी ! (होलावाय)

वृत्तिकार के अनुसार 'होला' शब्द देशी भाषा में समवयस्क व्यक्तियों के आमंत्रण के लिए लाट देश में प्रयुक्त होता था ।

१. हराचैकालिक ७।११, १२ ।

२. वृत्ति, पृ० १८१ : सन्तीति विद्यते, तद्विना नाम तथ्या, सत्त्वता इत्यर्थः । भावन्त इति आवा, अनेके एकादेशात् । अ वविस्ताऽणु-तप्यती, स्वयमेव खोरः काणः दासस्तथा राजविद्यं वा लोकविद्यं वा एव वा इजमकासी, अनुतापो हि दुःख प्राप्य वा अन्ध—आताहि भवति, अप्राप्तस्य पर वा सागसं निरागसं वा बोधं प्राप्तिस्वा आनुतापो भवति ।

(ख) वृत्ति, पृ० १८३ ।

३. वृत्ति, पृ० १८३ : 'तत्थिमा' इत्यादि, सत्या असत्या सत्यामृषा असत्यामृषेत्येवंकथासु चतसृषु भाषासु मध्ये तत्रेयं सत्यामृषेत्येतद्वि-धाना तृतीया भाषा, सा च किञ्चिदमृषा किञ्चिदसत्या इत्येवकथा ।

४. (क) वृत्ति पृ० १८१ : 'क्षणं हिंसायाम्' यद्धि हिंसकं तन्न वक्तव्यम् । तद्विना—सूयतां केदारः, युध्यतां शकटानि, जागो वध्य-ताम्, निविश्यतां वारका इति ।

(ख) वृत्ति, पृ० १८३ : 'अणु हिंसाया' हिंसाप्रधानं, तद्विना—वध्यतां खोरोऽयं लूयतां केदाराः, वध्यतां गोरपका इत्यादि ।

५. वृत्ति, पृ० १८१ : नियंठ इति निर्ग्रन्थः एवा महानियंठस्याऽऽज्ञा, नियंठाण वा एवा आज्ञा उपदिष्टा ।

६. (क) वृत्ति, पृ० १८१ : आज्ञा नाम उपदेशः ।

(ख) वृत्ति, पृ० १८३ : एवाऽऽज्ञा अन्यमुपदेशः ।

जैसे—काइ रे हेल्स । 'होला' का अर्थ है साथी ।'

दशवैकालिक सूत्र (७।१४ और १६) में 'होला' शब्द आया है । चूणिकार अगस्त्यसिंह स्वविर ने उसे देशी शब्द मान कर उसका अर्थ—निष्ठुर आमंत्रण किया है ।

दूसरे चूणिकार जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ मधुर आमंत्रण किया है ।

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ७।१४-१७ के टिप्पण ।

तुलना के लिए देखें—आधारचूला ४।१२-१५ ।

८६. हे मित्र ! (सहीवायं)

मुनि सखिवाद का प्रयोग न करे । वह किसी को 'सखा' कह कर संबोधित न करे ।'

९०. हे अमुक-अमुक गोत्र वाले (गोयवायं)

गोत्र का वाद अर्थात् कथन । मुनि किसी को गोत्र से संबोधित न करे, जैसे—ब्राह्मण !, अत्रिय !, काम्यपगोत्र ! इत्यादि ।'

चूणिकार ने इस शब्द के स्थान पर 'सोलवाद' पाठ मान कर उसका अर्थ—प्रियभाव किया है ।'

९१. (तुमं तुमं ति.....)

सम्मान्य, बृद्ध तथा समर्थ व्यक्तियों को मुनि 'तू तू' ऐसा वचन सर्वथा न कहे ।'

जो श्रेष्ठ पुरुष बहुवचन में कहे जाने योग्य हैं उन्हें तिरस्कार प्रधान एक वचन तू-तू न कहे । इसी प्रकार दूसरों को अपमानित करने वाला वचन साधु सर्वथा न बोले ।'

श्लोक २८ :

९२. संसर्ग न करे (जो य संसर्गियं भए)

भिक्षु कुशील का संसर्ग न करे, परिचय न करे । निर्युक्तिकार ने पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील—इन तीनों के संसर्ग का निषेध किया है ।' उनके साथ आना-जाना, उन्हें देना, उनसे लेना, उनके साथ प्रवृत्ति करना—ये सारे संसर्ग हैं ।'

९३. उनके संसर्ग में अनुकूल उपसर्ग (सुहृत्त्वा तत्पुत्रसर्गा)

कुशील के संसर्ग से अनुकूल उपसर्ग उत्पन्न होते हैं । इसका तात्पर्य है कि साधक के मन में सुख-सुविधा की भावना उत्पन्न होती है और वह संयम में शिथिल हो जाता है ।

चूणिकार ने 'सुहृत्त्वा' के दो अर्थ किए हैं—'

१. चूणि, पृ० १८१ : होला इति हेतोभावात्: समवया आमन्त्र्यते, यथा लाटानां 'काइ रे हेल्स' ति ।

२. (क) चूणि, पृ० १८१ : सहीवावमिति सखेति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८३ : सखेत्थेयं वादः सखिवादः ।

३. वृत्ति, पत्र १८३ : तथा गोत्रोद्घाटनेन वाहो गोत्रवाहो यथा काम्यपगोत्रे वशिष्ठसगोत्रे वेति ।

४. चूणि, पृ० १८१ : सोलवादो प्रियभाव इव । 'गोतावादो' वा पठ्यते ।

५. चूणि, पृ० १८१ : जो अतुमंकरणिज्जो बृद्धो वा प्रभविष्णुर्वा स न वस्तव्यः ।

६. वृत्ति, पत्र १८३ : 'तुमं तुमं' ति तिरस्कारप्रधानमेकवचनान्तं बहुवचनोक्त्यारण्योग्ये 'अमनोज्ञ' मतः प्रतिकूलरूपमग्न्यहप्येवञ्चूतमपमानाचारकं 'सर्वशः'—सर्वथा तत्साधूनां वचनं न वर्तते इति ।

७. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ६५ : वासस्थोसज्ज-कुशीलसंघवो ण किर वृत्ते कातुं ।

८. चूणि पृ० १८१ : संसर्गं संसर्गिः, आगमन-वाण-ग्रहणसम्प्रयोगान्मा भूत् ।

९. चूणि, पृ० १८१ : सुहृत्त्वा नाम सुहृत्सर्गाः.....अह्वा सुह इति संयमः, संयमानुहृत्वाः ।

१. सुख स्पर्श वाले अर्थात् सुख-सुविधा जनक ।

२. संयमानुरूप ।

यहाँ सुख का अर्थ है—संयम ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सुख-सुविधा के स्वभाव वाले किया है ।^१ कुशील के साथ परिचय बढ़ने से साधक के मन में कठोर चर्या या संयम-चर्या के नियमों के प्रति वितर्क उत्पन्न होने लगते हैं । वह सोचता है—प्रासुक जल से पैरों और दांतों को धोने में दोष ही क्या है ? शरीर पर उबटन करने में क्या दोष है ? ऐसा करने से लोगों में अपवाद भी नहीं होता ।^२

शरीर के बिना धर्म नहीं होता इसलिए आध्यात्म आहार में क्या दोष हो सकता है ? इसी प्रकार जूते पहनने और छत्ता धारण करने में भी क्या आपत्ति है ? यदि राक्षी में संचय भी किया जाता है तो क्या दोष है ? इसलिए धर्म के आधारभूत शरीर को जो आवश्यक हो, उनका उपयोग करना चाहिए । कहा भी है—जो थोड़े दोष से भी अधिक लाभ कमाता है, वही पंडित है । एक संस्कृत श्लोक में शरीर के वैशिष्ट्य को इस प्रकार बताया है—

‘शरीरं धर्मसंपुक्कं, रक्षणीयं प्रयत्नतः ।

शरीरात् ज्वते धर्मः पर्वतात् सजितं यथा ॥

शरीर धर्म से युक्त है—धर्म का साधन है । अतः प्रयत्नपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए । जैसे पर्वत से पानी भरता है, वैसे ही शरीर से धर्म उत्पन्न होता है, पुष्ट होता है ।

कुशील व्यक्ति यह भी कहते हैं कि आज के युग में संहनन—शरीर का संघटन कमजोर और दुबल है तथा धृति भी क्षीण है । इसलिए जैसे-तैसे संयम का पालन करना भी अच्छा ही है ।^३

श्लोक २६ :

६४. बिना (अण्णात्)

अन्यत्र अव्यय है । इसका अर्थ है—बिना ।

६५. गृहस्थ के घर में (परगेहे)

पर का अर्थ है—गृहस्थ । परगेहे अर्थात् गृहस्थ के घर में ।^४

६६. श्लोक २६

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरणों का प्रतिपाद्य है कि मुनि किसी बाधा के बिना गृहस्थ के घर में न बैठे ।

प्रस्तुत अध्यायन के इक्कीसवें श्लोक में ‘णिसिज्जं च गिहंतरे’ यह चरण उपलब्ध है ।

दोनों स्थलों की भावना समान है ।

दशवैकालिक सूत्र के अनुसार बुद्ध, रोगी और तपस्वी भुनि गृहस्थ के घर में बैठ सकता है ।^५

प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त ‘अंतराय’ शब्द इसी अपवाद का द्योतक है । अन्तराय का अर्थ है—बाधा, शक्ति का अभाव । शक्ति

१. वृत्ति, पत्र १८३ : ‘सुखरूपाः’—सातगौरवस्वभावाः ।

२. वृत्ति, पृ० १८१ : संसर्गिस्तद्भावं गमयति । कथम् ? तद्वत्—को कासुगपाजएण पावेहि पक्खालिज्जमाणेहि दोसो ? तथा इत-पक्खालणे उज्जट्ठे, एवं लोणे अज्जणे न जवति ।

३. वृत्ति, पत्र १८४ : तथा नासरीरो धर्मो जवति इत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाध्यात्मसंनिध्याविना तथा उपानच्छत्राविना च शरीरं धर्माधारं वर्तयेत् । तथा साध्यातमरुथानि संहननानि अल्पधृतयश्च संयमे जन्तवः ।

४. वृत्ति, पत्र १८४ : परो—गृहस्थस्तस्य गृहं वरगृहम् ।

५. दशवैकालिक ६।५.५ : तिक्कमन्धारागस्स भित्तेज्जा जस्स कप्पई ।

वराए अजिम्भस्स बाहियस्स तवत्तिज्जो ॥

का अभाव बुढ़ापे के कारण, रोग या तपस्या के कारण हो सकता है ।'

६७. कामक्रीड़ा और कुमार-क्रीड़ा (गाम-कुमारियं किङ्गुं)

ग्राम्यक्रीड़ा का अर्थ है—काम-क्रीड़ा ।

इसके अनेक प्रकार हैं—हास्य, कंवर्प, हस्त-स्पर्श, आलिंगन आदि ।

पूणिकार ने कुमारक्रीड़ा का अर्थ गेंद खेलना या झूला-झूलना भी किया है ।'

वृत्तिकार ने 'गामकुमारियं' को एक शब्द मानकर उसका अर्थ गाव में रहने वाले कुमारे की क्रीड़ा किया है । परस्पर हास्य, कंवर्प, हस्तसंस्पर्शन, आलिंगन आदि करमा अथवा गेंद आदि खेलना ।'

६८. मर्यादा रहित हो न हंसै (याद्वैलं हसै मुनी)

वेला, मेरा, सीमा, मर्यादा—ये एकार्थक हैं ।'

मुनि मर्यादा का अतिक्रमण कर न हंसै । क्योंकि इससे सात-आठ कर्मों का बध होता है । गौतम ने भगवान् से पूछा— भंते ! जीव हंसता हुआ कितने कर्म बांधता है ? भगवान् ने कहा— गौतम ! सात या आठ कर्म बांधता है ।'

पूणिकार ने इस आगमिक कारण के अतिरिक्त एक कारण और दिया है कि हंसने से संपातिम-वायुकाय के जीवों का बध होता है ।'

इन कारणों के अतिरिक्त मुनि यदि मर्यादा रहित होकर हंसता है, अट्टहास करता है तो वह अशिष्ट व्यवहार लगता है । मुनने वालों को छिछलेपन का भान होता है ।

इसलोक ३० :

६९. सुन्दर पदार्थों के प्रति (उरालेसु)

'उराल' का संस्कृत रूप 'उदार' किया गया है । पिशेल के अनुसार मागधी में 'द' बहुत ही अधिक स्थलों पर 'उ' के द्वारा 'र' बनकर 'ल' हो गया है ।'

उदार का अर्थ है—सुन्दर, मनोज्ञ । चक्रवर्ती आदि विशिष्ट व्यक्तियों के कामभोग, वस्त्र, आभरण, गीत, नृत्य, यान, वाहन, सत्ता, ऐश्वर्य आदि उदार होते हैं, मनोज्ञ होते हैं ।'

१. (क) वृत्ति, पत्र १८४ : अन्तरायः शक्यमात्रः, स च जरसा रोगात्कृष्णं स्यात् ।

(ख) वृत्ति, पृ० १८१ : अन्तरायं जराए अभिपूतो बाहिलो तपस्वी इत्यादि ।

२. वृत्ति, पृ० ११७१, १८२ : गामकुमारियं किङ्गुं, ग्रामधर्मक्रीडा कुमारक्रीडा वा गाम-कुमारियं किङ्गुं । तत्र ग्रामक्रीडा हास्यकंवर्प-हस्तस्पर्शना-ऽऽलिङ्गनादि, ताभिः साङ्गं एवं वा स्त्रीभिः क्रीडते इति, पुष्करिणि साङ्गम् । कुमारक्रीडा क्रीडा कुमारक्रीडा वट्टतेकुग-अदोलिगादि ।

३. वृत्ति, पत्र १८४ : तथा ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामिदं ग्रामकुमारिका काऽसौ ?—'क्रीडा'—हास्यकंवर्पहस्तसंस्पर्शना-लिङ्गनादिका, यदि वा वट्टकनुकादिका ।

४. वृत्ति, पृ० १८२ : वेला मेरा सीमा मर्यादा स्ति वा एगदंठं ।

५. जगन्नी ५।७१ : जीवे जं भंते । हसमाणे वा, उस्सुयमाणे वा कइ कम्मवगडोओ बंधइ ?

गोयमा । सलविहंघए वा अट्टविहंघए वा..... ।

६. वृत्ति, पृ० १८२ : इह हसतां संपादमवायुबधो ।

७. पिशेल, प्राकृत व्याकरण, पैरा २३७ ।

८. (क) वृत्ति, पृ० १८२ : उराला नाम उदाराः शोभना इत्यर्थः तेषु जकमर्यादीनां सम्बन्धिषु शब्दाविषु कामभोगेषु अग्यैश्वर्य-वस्त्रा-ऽऽभरण-गीत-गान्धर्व-यान-वाहनाविषु ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८४ : 'उराला' उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दाविषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राभरणगीतगान्धर्वयान-वाहनावयस्तथा आभरणादिभिरप्य एतेष्वुच्यन्ते ।

१००. चरिया में (चरिया)

चूणिकार ने इसका अर्थ—'मिच्छु-चर्या' और वृत्तिकार ने भिक्षाचर्या आदि किया है।^१ उत्तराध्यायन २।१८, १९ में नौवा 'चरिया' परीषद् है। यहाँ 'चरिया' शब्द के द्वारा बड़ी विवक्षित है।

१०१. उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे (पुष्टो सत्यश्चिन्मासए)

यह रोग परीषद् का सूचक है। उत्तराध्यायन २।३२, ३३ में सोलहवाँ रोग परीषद् है। वहाँ भी यही पद प्राप्त होता है।

श्लोक ३१ :

१०२. पीटने पर क्रोध न करे (हृन्ममाणो ण कुप्पेज्जा)

यह बारहवाँ 'वध' परीषद् है। उत्तराध्यायन सूत्र २।२६ में 'हृन्मो न संजले भिक्खु' ऐसा पाठ है।

मुनि यष्टि, मुष्टि या डंठे से पीटे जाने पर भी क्रोध न करे।^२

१०३. गाली देने पर उत्तेजित न हो (बुच्चमाणो न संजले)

यह बारहवाँ 'आक्रोश' परीषद् है। उत्तराध्यायन सूत्र २।२४ में 'अवकोसेज्ज परो भिक्खु, न तेसि पडिसज्जे'—ऐसा पाठ है। दोनों का प्रतिपाद्य एक है।

प्रस्तुत सूत्र की चूणि में 'बुच्चमाण' के तीन अर्थ किए गए हैं—

१. जब दूसरा उसकी बात न सुने।

२. जब दूसरा उसकी निन्दा करे।

३. जब दूसरा उसकी निर्भत्सना करे।

—इतना होने पर भी मुनि उत्तेजित न हो।

वृत्तिकार के अनुसार मुनि को कोई दुर्वचन कहे, गाली दे या तिरस्कार करे तो वह प्रतिकूल वचन न बोले।^३

चूणिकार ने 'संजले' (स० सज्वलेत्) का अर्थ इस प्रकार किया है—जैसे अग्नि इंधन से प्रज्वलित होती है, वैसे ही मुनि क्रोध और मान से प्रज्वलित न हो।^४

वृत्तिकार के अनुसार 'संजले' का अर्थ है—प्रतिकूल वचन न बोलना अथवा मन को किञ्चित् भी अज्यवत् न करना।^५

उत्तराध्यायन के चूणिकार ने २।२६ में प्रयुक्त 'संजले' का अर्थ रोषोद्गम या मनीष्य किया है। उसका लक्षण बतलाते हुए उन्होंने एक श्लोक उद्धृत किया है।^६—

कंपति रोषादग्निः संघुक्षितवच्च दीप्यतेऽनेन ।

तं प्रत्याक्रोशस्याहंति च मयेत येन स मतः ॥

१. चूणि, पु० १८२ : चरिया भिक्खुचरिया ।

२. वृत्ति, पृ० १८४ : चर्यायां भिक्षाविकायाम् ।

३. वृत्ति, पृ० १८४ : 'हृन्ममाणो' यष्टिमुष्टिलकुटादिभिरपि हुतश्च 'न कुप्पेत्'—न कोपयत्तगो जयेत् ।

४. चूणि, पु० १८२ : बुच्चमाणो नाम अकुप्पसमाणो विदिज्जमाणो वा भिक्खुचिज्जमाणो वा ।

५. वृत्ति, पृ० १८४ : 'बुच्चमाणः' अकुप्पमाणो निर्भत्स्यमाणो.....न प्रतीयं जयेत् ।

६. चूणि, पु० १८२ : न संजलेहति च क्रोध-मायाज्जमिच्छनेवेवाग्निः संजले ।

७. वृत्ति, पृ० १८४ : 'न संजलेत्'—न प्रतीयं जयेत्, न मनापि मनोऽज्यवत्त्वं विवज्यात् ।

८. उत्तराध्यायन चूणि, पु० ३२१ ।

जो क्रोध से कंप उठता है, अग्नि की भांति जल उठता है, आक्रोश के प्रति आक्रोश और हनन के प्रति हनन करता है। यह संघर्षजनक फल है।

१०४. शान्त मन रहकर (सुमनो)

सु-मन का अर्थ है—अच्छा मन। जो शान्त मन वाला होता है, जिसके मन में राग-द्वेष की कलुषता नहीं होती वह सुमन होता है।^१

१०५. कोलाहल (कोलाहलं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. जोर-जोर से चिल्लाना।
२. राज्य अधिकारियों के समक्ष शिकायत करना।

श्लोक ३२ :

१०६. लब्ध कामभोगों की इच्छा न करे (लब्धे कामे न पर्येक्षा)

मुनि प्राप्त कामभोगों की इच्छा न करे। कोई उपासक मुनि को वस्त्र, गध, अलंकार, स्त्री, शयन, आसन के लिए निमंत्रण दे तो वह उनमें गूढ़ न हो, उनको पाने या भोगने की अभिलाषा न करे।

चूर्णिकार ने यहाँ चित्त (उत्तरा० अध्याय १३) के आख्यान की और वृत्तिकार ने वैरस्वामि के आख्यान की सूचना दी है।^१

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'लब्धे कामे' यह पाठान्तर मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है—मुनि को विशेष तप से अनेक लब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, जैसे—आकाश में उड़ने की लब्धि, विक्रिया की शक्ति, अक्षीणमहानस, आदि-आदि। मुनि इनका उपयोग न करे। वह अपनी विशेष शक्तियों से कामभोगों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु यह उसके लिए विहित नहीं है।

मुनि इहलौकिक और पारलौकिक—दोनों प्रकार के कामभोगों की कामना न करे।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहाँ ब्रह्मदत्त के आख्यान की सूचना दी है।^१

वेत्ते—उत्तराध्यायन सूत्र का तेरहवाँ अध्यायन तथा उस अध्यायन का आमुख।

१०७. बुद्धों (जानियों) के (बुद्धाणं)

बुद्ध का अर्थ है—गणधर आदि विशिष्ट पुरुष या जिस समय में जो आचार्य हों, वे।^१

१. चूर्ण, पृ० १८२ : सुमनो नाम राग-द्वेषरहितो।

२. चूर्ण, पृ० १८२ : उक्कृष्टिबोलं वा करेण रायसंसारियं वा।

३. (क) चूर्ण, पृ० १८२ : लब्धा नाम जहं कं कोइ वत्थ-गंध-जलंकार-इत्थी-सपण-ऽऽसणादीहि निमंतेज्ज इत्थं न गिउभेज्ज, जसा चित्ति।

(ख) वृत्ति, पृ० १८४, १८५ : 'लब्धाम्'—प्राप्तानपि 'कामान्'—इच्छामभनकृपान् गणधालङ्कारवस्त्रादिक्रियाम्वा वैरस्वामिजत् 'न प्रार्थयेत्—नानुमन्येत्—न गृह्णीयादित्यर्थः।

४. (क) चूर्ण, पृ० १८२ : अथवा 'लब्धे कामे' लभोलब्धीभो आगासगमन-दिउब्बादीभो अबलीजमहाणसिगादीभो व व शव उवचोवेज्ज, व व अणागते। इहलौकिके एता एव वत्थ-गंधादी, परलौकिके वा जसा संजवत्तो तस्मा व वत्थेज्ज।

(ख) वृत्ति, पृ० १८५ : यत्रकामावसायितया गमनादिलब्धिकृपान् कामारतपोविशेषलब्धानपि मोपजीब्धात्, माम्यनागताम् कापुवसावत्-प्रार्थयेत्।

५. चूर्ण, पृ० १८२ : बुद्धं बुद्धा बुद्धा वणधराणां, यथा यथाकालमाचार्या जयन्ति।

१०८. आचार की (आचरियाहं)

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—आर्याणि और आचर्याणि । आर्याणि का अर्थ है—आर्य लोगों का कर्तव्य और आचर्याणि का अर्थ है—मुमुक्षु के लिए जो आचरणीय है, ज्ञान दर्शन चारित्र्य आदि ।

श्लोक ३३ :

१०९. सुप्रज्ञ (सुप्यज्ज्ञं)

इसका अर्थ है—गीतार्थ, प्रज्ञावान्, स्वसमय और परसमय को जानने वाला ।

११०. सुतपस्वी आचार्य की (सुतवस्त्रियं)

वृत्तिकार ने सुतपस्वी का अर्थ संक्षिप्त किया है ।

जो बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के तप में प्रवीण है वह सुतपस्वी है—यह वृत्तिकार का अभिमत है ।

१११. वीर (वीरा)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सुशोभित होने वाले किया है । वृत्तिकार के अनुसार जो पुरुष कर्म-बंधन को तोड़ने में सक्षम है और जो कष्ट-सहिष्णु है, कष्टों के आने पर क्षुब्ध नहीं होता, वह वीर कहलाता है ।

११२. आत्मप्रज्ञा के अन्वेषी (असपण्णसी)

वृत्तिकार ने आत्मप्रज्ञा शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—जो आत्मा को जानने के लिए तथा उसके बंधनमुक्ति के उपाय (समयवृत्ति) में व्यवस्थित होने के लिए आत्मज्ञान का अन्वेषण करते हैं वे आत्मप्रज्ञा होते हैं ।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ दिए हैं—

१. आप्तप्रज्ञा—आप्तपुरुषों की प्रज्ञा—केवलज्ञान की खोज करने वाले, उसको पाने का प्रयत्न करने वाले । सर्वज्ञ के द्वारा उक्त वचन का अन्वेषण करने वाले ।

२. आत्मप्रज्ञा—आत्मज्ञान की एषणा करने वाले, आत्महित की खोज करने वाले ।

११३. धृतिमान् (धृतिमन्ता)

धृतिमान् वह होता है जिसकी संयम में रति होती है । संयम की धृति से ही पांच महाव्रतों का भार सहजरूप से वहन किया

१. वृत्ति, पत्र १८५ : 'आर्याणि'—आर्याणां कर्तव्यानि अनायकतं व्यपरिहारेण यदि वा—आचर्याणि—मुमुक्षुणा याम्याचरणीयानि ज्ञान-दर्शनचरित्राणि तानि ।

२. (क) वृत्ति, पृ० १८२ : सुप्यज्ज्ञं शोभनप्रज्ञं सुप्रज्ञं गीतार्थं प्रज्ञावन्तम् ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८५ : मुमुक्षु शोभनः वा प्रज्ञाऽस्तेति सुप्रज्ञः—स्वसमयपरसमयवैबी गीतार्थं इत्यर्थः ।

३. वृत्ति, पृ० १८२ : मुमुक्षु तवस्त्रियं सुतवस्त्रियं, यदि चेत् संविद्य इत्यर्थः ।

४. वृत्ति, पत्र १८५ : तथा मुमुक्षु शोभनं वा अवाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी ।

५. वृत्ति, पृ० १८२ : विराजन्तः इति वीराः ।

६. वृत्ति, पत्र १८५ : 'वीराः'—कर्मविहारवसहिष्णुको वीरा वा परित्यज्योपसर्गशील्याः ।

७. वृत्ति, पृ० १८२ : आत्मप्रज्ञायेवमीति आत्मप्रज्ञाविजः आत्मप्रज्ञानमित्यर्थः । कथम् ? येनाऽऽत्मा ज्ञायते येन वाऽस्य निस्सारमोपायः संयमवृत्तिव्यवस्थित इति ।

८. वृत्ति, पत्र १८५ : 'आप्तो'—रागादिबिभृक्षस्तस्य प्रज्ञा—केवलज्ञानाख्या तपन्येष्टुं शीलं येषां ते आप्तप्रज्ञाभ्येविजः सर्वशीलाभ्येविज इति वाच्यं, यदि वा—आत्मप्रज्ञाभ्येविज आत्मज्ञः प्रज्ञा—ज्ञानमात्मप्रज्ञा तत्राभ्येविजः आत्मज्ञत्वा (प्रज्ञा)भ्येविज ज्ञानवृत्तिताभ्येविज इत्यर्थः ।

जा सकता है। धृतिमान् के तप होता है। तप से सुगति हस्तगत होती है। कहा है—

‘अस्स चिई तस्स तपो, अस्स तपो तस्स सुग्गई सुलहा ।
के अविद्वन्ता पुरिसा, तपोऽपि जसु दुस्सहो तेसि ॥’

जो धृतिमान् है वही तप कर सकता है। जो तप करता है उसके लिए सुगति सुलभ हो जाती है। जो धृतिमान् नहीं है, उसके लिए तप भी दुर्लभ है।^१

वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त वीर, आत्मप्रज्ञी, धृतिमान्, जितेन्द्रिय—ये सारे विशेषण आचार्य के भी हो सकते हैं और शिष्य के भी।^२

चूणिकार ने इन शब्दों को केवल ‘आचार्य’ का ही विशेषण माना है।^३

हमारे अभिमत के अनुसार ये विशेषण आचार्य के लिए ही सगन हैं।

श्लोक ३४ :

११४. दीप (प्रकाश) (दीपं)

इसके दो रूप बनते हैं—दीप अथवा दीप। दीप प्रकाश का वाचक है और दीप विश्राम या शरण का।^४

११५. पुरुषादानीय (पुरिसादानीया)

मुख्यतः यह शब्द भगवान् पार्श्व के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। जैन आगमों में स्थान-स्थान पर ‘पुरिसादानीय पास’ (सं० पुरुषादानीय पार्श्व) —ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं।^५

चूणिकार और वृत्तिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं। चूणिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं—

१. धर्मलिप्सु पुरुषों के द्वारा आदानीय।

२. ग्राह्य पुरुष।

३. आदानार्थिक पुरुष— मोक्षार्थी पुरुष।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए आश्रयणीय।

२. मोक्ष अथवा मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र) को धारण करने वाला।

१. वृत्ति, पत्र १८५ : तथा धृतिः—संयमे रति. सा बिद्यते येषां ते धृतिमन्तः, संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्बहनं सुसाध्यं भवतीति, तपः साध्या च सुगतिर्हस्तप्राप्तेति ।

२. वृत्ति, पत्र १८५ : शुभ्रवभाजाः शिष्या गुरवो वा शुभ्रवभाजा यथोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्तोत्यर्थः ।

३. चूणि, पृ० १८२ : तत्र केवविद्याचार्याः शरणम् ? वीरा... अतपण्णेतो ... ।

४. वृत्ति, पत्र १८६ : ‘दीपं’ ति ‘दीपो दीप्तो दीपयति—प्रकाशयतीति दीप... यदि वा—दीपः समुद्रादौ प्राणिनाम्भारवास-भूतः ।

५. (क) धर्म ६।७८ : पासस्स जं अरहो पुरिसादानीस्स.....।

(ख) समवाजो १६।४ : पासस्स जं अरहो पुरिसादानीयस्स....।

(ग) जगज्ज ६।१२२ : पासं अरहा पुरिसादानीएजं.....।

(घ) भावाव्ययकहा २।१।१६ : पासं अरहा पुरिसादानीए....।

६. चूणि, पृ० १८३ : धर्मलिप्सुभिः पुरुषैरादानीयाः । अथवा ग्राह्याः पुरुषा इत्यादानीयाः । अथवाऽऽदानीय इत्यादार्थिकः साधुः, पुण्य-स्थानो आदानीयश्च पुरुषादानीयः ।

७. वृत्ति, पत्र १८६ : मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया—आश्रयणीयाः पुरुषादानीया महतोऽपि सहीयांसो भवन्ति, यदि वा—आदानीयो—हितैषिणां मोक्षस्समार्गो वा सम्यग्दर्शनाधिकः ।

११६. बन्धन से मुक्त हो (बन्धनमुक्तता)

चूणिकार ने बन्धन का आशय काल आदि बतलाया है और वृत्तिकार ने बाह्य और आन्तर स्नेह को बन्धन बतलाया है ।

११७. जीने की (जीविष्य)

चूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. असंयममय जीवन ।
२. विषय-कषाय आदि से युक्त जीवन ।

वृत्ति में भी इसके दो अर्थ उपलब्ध होते हैं—

१. असंयममय जीवन ।
२. प्राणधारण ।

मुनि वही है जो न जीने की आकांक्षा रखता है और न मरने की बांछा करता है । वह जीवन और मृत्यु की कामना से पार चला जाता है । यही 'नावकंक्षति जीविष्य' का भाव है ।

चूणिकार ने प्रस्तुत श्लोक का अर्थ मुख्य रूप से इस प्रकार किया है—गृहवास में प्रकाश न देखने वाले मनुष्य, फिर चाहे वे राजा, अमात्य, पंडित या धर्मलिप्सु हो, पुरिसावानीय नहीं होते । अतः प्रव्रजित होकर वे वीर बध्न से मुक्त हो जीवन की आकांक्षा नहीं करते ।

श्लोक ३५ :

११८. श्लोक ३५

चूणि और वृत्ति में प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चौथे चरण में व्याख्या भिन्न प्रकार से मिलती है ।

चूणिकार के अनुसार 'समयातीत' इस पद के दो सस्कृतरूप निष्पन्न होते हैं—'समयात्' और 'समयातीत' । उन्होंने 'समया-तीय' का संबन्ध 'अद् भक्षणे' वातु से माना है । जो बहुत कहा गया है वह सब समय के भीतर है अर्थात् उसकी सीमा में है । वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार है—जो बहुत कहा गया है वह कुसमयों के द्वारा अतीत है । तात्पर्य की भाषा में अज्ञान दोष और विषय-लालसा के कारण कुसामयिकों द्वारा वह आशय नहीं है ।

वृत्तिकार ने तीसरे-चौथे चरण का अर्थ दो प्रकार से किया है—

१. इस अध्यायन में मैंने बहुत बातों का निवेद्य किया है । वे आचरण अर्हत् आगम से अतीत या अतिक्रान्त हैं, इसलिए मैंने उनका निवेद्य किया है । और जो कुछ विधिरूप में प्रतिपादन किया है वह सब कुसमय से अतीत—लोकोत्तर है ।
२. (कुतीर्थिकों ने) बहुत कुछ कहा है, वह सब अर्हत् आगम से विरुद्ध है, इसलिए अनुष्ठेय नहीं है ।

१. चूणि, पु० १८३ : बन्धनानि कालादीनी तेभ्यो मुक्ता बन्धनमुक्ता ।

२. वृत्ति, पत्र १८६ : तथा बन्धनेन सबाह्याभ्यन्तरेण पुत्रकलयादिस्नेहकृपेणोत्—प्राक्स्थेन, मुक्ताः बन्धनोन्मुक्ताः ।

३. चूणि, पु० १८३ : न तत्तत्तयनजीविष्यं.....विषय-कषायादिजीविष्यं वा ।

४. वृत्ति, पत्र १८६ : 'जीविष्यम्—असंयमजीविष्यं प्राणधारणं वा ।

५. चूणि, पु० १८६ ।

६. चूणि, पु० १८६ : समयेन समयातीतं, तन्मयमिति यद्विषं अर्थं अस्ति इह भयाभ्ययनेऽवधिष्यम् । समय आबहुत एव, अतीतं ति भक्षणम्, समयाभ्यन्तरकरणत्वम् 'अद् भक्षणम्' समयेन अतीतं समयाभ्यन्तरे, न समयेन समयेनास्तमित्यर्थः ।

७. वृत्ति, पत्र १८६ : बन्धनानादेरारण्य अतिवेद्यत्वेन यत् अस्ति—अतः यदा बहु तत् 'समयाद्—अर्हताभावमावतीतमतिक्रान्तमिति कृत्वा प्रतिविद्धं, यद्यपि च विधिद्वारेणोक्तं तदेतत्तर्हं कुतिसमयवातीतं लोकोत्तरं प्रथमं वर्तते, यद्यपि च तैः कुतै-चिद्वैतं तद्विषं तदेतत्तर्हं बन्धनातीतमिति कृत्वा नानुष्ठेयमिति ।

श्लोक ३६ :

११६. अतिमान (अहिमान)

यथार्थ में यहाँ 'अहिमान' (स० अभिमान) शब्द होना चाहिए था। किन्तु 'हि' और 'इ' के लिपिसाम्य के कारण 'हि' के स्थान पर 'इ' हो गया हो—ऐसा लगता है।

अर्थ की दृष्टि से भी अभिमान शब्द ही उपयुक्त लगता है।

चूर्ण और वृत्ति में 'अतिमान' की व्याख्या उपलब्ध है। इसीलिए चूर्णिकार को यह लिखना पड़ा कि मानार्ह आचार्य आदि के प्रति प्रशस्त मान किया जाता है, किन्तु उसके अतिरिक्त जाति आदि का मान नहीं करना चाहिए।

१२०. बह्व्ययन के भावों को (गौरवाणि)

गौरव का अर्थ है—प्राप्त वस्तु के प्रति अहंकार। स्थानाग सूत्र में तीन प्रकार के गौरव बतलाए हैं—ऋद्धि का गौरव, रस का गौरव, सात (सुख-सुविधा) का गौरव।

१२१. निर्वाण का (निव्वारण)

चूर्णिकार ने निर्वाण के दो अर्थ किए हैं—संयम और मोक्ष।

वृत्तिकार ने भी इसके दो अर्थ किए हैं—निर्वाण और निर्वाण-प्रदेश।

उत्तराध्यायन सूत्र की शान्त्याचार्य की टीका में निर्वाण शब्द के स्वास्थ्य और जीवन-मुक्ति—ये दो अर्थ उपलब्ध होते हैं।

१. (क) चूर्णि, पु० १८३ : अतिशयेन मानं अतिमानम् अथवा यद्यपि मानार्होऽन्वाचार्यादिव प्रशस्तो मानः क्रियते सरागस्वाङ्गं सन्नामि समतीत्य भोग्यो जात्यादिमानः।

(ख) वृत्ति, पत्र १८६ : अतिमानो महामानः।

२. ठाणं, ३।५०५ : ततो गारवा पण्णत्ता, त जहा—इङ्गीगारवे, रसगारवे, सातामारवे।

३. चूर्णि, पु० १८३ : संयम एव अथवा निव्वारणमिति मोक्षः।

४. वृत्ति, पत्र १८६ : 'निर्वाणम्'—अतोऽयमर्थस्तथैकं विशिष्टाकाशदेशं वा।

५. बहुवृत्ति, पत्र १८५, १८६ : निर्वाणं स्वास्थ्यमित्यर्थः, यद्वा निर्वाणमिति जीवनमुक्तिम्।

दसमं प्रश्नसमयं
समाही



दसवां अध्ययन
समाधि

आमुख

अनुयोगद्वार में नामकरण के उस हेतु बतलाए हैं।^१ उनमें एक हेतु है—आदान-पद। इसका अर्थ है प्रथम पद के आधार पर अध्ययन आदि का नामकरण करना, जैसे—उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययन का नाम 'चातुरंगीय (प्रा० चाउरंगिज्ज) है, चौथे अध्ययन का नाम 'असंस्कृत' (प्रा० असंख्यं) है। प्रस्तुत आगम सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कांध के तेरहवें अध्ययन का नाम 'याथातथ्य (प्रा० अहातहियं) और दूसरे श्रुतस्कांध के छठे अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय (प्रा० अद्दृज्जं) है। ये सारे नाम उन-उन अध्ययनों के प्रथम पद के आधार पर हुए हैं।

निर्युक्तिकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम आदान-पद हेतु से 'आध' होना चाहिए था, क्योंकि इस अध्ययन के प्रथम श्लोक का प्रथम पद है—'आध मतिमं'। किन्तु अर्थाधिकार के आधार पर इसका नाम 'समाधि' रखा गया है।^२ समवा-यांग में भी यही नाम उल्लिखित है।^३ भूषिकार ने इस गुणनिष्पन्न नाम 'समाधि' की स्वीकृति के समर्थन में कहा है—जैसे उत्तराध्ययन के चौथे अध्ययन का आदानपद हेतु से नामकरण होना चाहिए था 'असंस्कृत' किन्तु उसमें प्रमाद और अप्रमाद का वर्णन होने के कारण उसका गुणनिष्पन्न नाम 'प्रमादाप्रमाद' भी स्वीकृत है। इसी प्रकार आचारांग सूत्र के पांचवें अध्ययन का आदानपद परक नाम होना चाहिए था 'आवन्ती' किन्तु वह अध्ययन 'लोकसार' (या लोकसारविजय) कहलाता है।^४

समाधि का अर्थ है—समाधान, तुष्टि, अविरोध। इसके मुख्य चार भेद हैं—

१. द्रव्य समाधि—पाँचो इन्द्रियों के मनोज विषयो से होने वाली तुष्टि। और और गुड की समाधि अर्थात् अविरोध।

२. क्षेत्र समाधि—दुर्भिक्ष से उत्पीडित प्राणियों का सुभिक्ष प्रदेश में चला जाना, चिरप्रवासी व्यक्तियों का अपने घर लौट आना।

३. काल समाधि—वनस्पति के जीवो को वर्षा में, उलूक को रात्री में, कौओं को दिन में, बाघों को शरद् ऋतु में समाधि का अनुभव होता है। अथवा जिसे जिस समय में जितने काल तक समाधि का अनुभव हो।

४. भाव समाधि—इसके चार भेद हैं—

(क) ज्ञान समाधि—जैसे-जैसे व्यक्ति श्रुत का अध्ययन करना है वैसे-वैसे अत्यन्त समाधि उत्पन्न होती है। ज्ञानार्जन में उद्यत व्यक्ति भोजन-पानी को मूल जाता है। वह कष्टों की परवाह नहीं करता, उनसे उद्विग्न नहीं होता। श्रेय की उपलब्धि होने पर उसका जो समाधान होता है, वह अनिर्वचनीय होता है।

(ख) वर्णन समाधि—जिन-प्रवचन में जिसकी बुद्धि इतनी अज्ञाशील हो जाती है कि उसे कोई भ्रमित नहीं कर सकता। उसकी स्थिति पवनशून्य गृह में स्थित दीपक की भांति निप्रकम्प हो जाती है।

(ग) चारित्र्य समाधि—इसकी निष्पत्ति है—विषय-सुखो से पराङ्मुखता। निष्किञ्चन होने पर भी साधक परम समाधि का अनुभव करता है। कहा है—

तपसंवारजित्स्त्रीऽपि मुनिवरो भदुरागमयमोहो।

अं पावइ मुत्तिमुहं कसो तं चक्कवहीवि ?'

—जो मुनि राग, मद और मोह को नष्ट कर चुके हैं, जो तुण-संस्तारक पर बैठे हैं (अर्थात् जो निष्किञ्चन हैं) उन्हें जो मुक्ति-सुख का अनुभव होता है, वंसा सुख चक्रवर्ती को कहा ?

१. अनुयोगद्वार, सूत्र ३१६।

२. निर्युक्ति, भाषा ६६ : आदानपदेवाऽऽधं मोधं आधं पुनो समाधि ति।

३. समवाधो १६।२।

४. भूषि, पृ० १४४।

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य ।

यत्सुखविहेय साधोर्लोकध्यावारहितस्य ॥ (प्रसमरति प्रकरण १२८)

—जो मुनि लौकिक प्रवृत्तियों से मुक्त है, उसको जिस परम सुख की यहा अनुभूति होती है, वह सुख न चक्रवर्ती को उपलब्ध होता है और न इन्द्र को ।

(घ) तपःसमाधि—तपस्या से भावित पुरुष कायक्लेश, भूख, प्यास आदि परिषद् से उद्भिन्न नहीं होता । इसी प्रकार वह आत्मन्तर तप का अभ्यास कर, ध्यान में आरुढ़ होकर निर्वाणप्राप्त पुरुष की भांति सुख-दुःख से बाधित नहीं होता ।^१

दशवैकालिक सूत्र में चार समाधियों का वर्णन है—विनयसमाधि श्रुतसमाधि, तपःसमाधि और आचारसमाधि ।^१ यह भाव समाधि है ।

इस अध्याय में चौबीस श्लोक हैं । इनमें समाधि के लक्षण और असमाधि के स्वरूप का वर्णन है । समाधि के तीन मुख्य विभाग—चारित्र्य समाधि, मूलगुण समाधि और उत्तरगुण समाधि का अनेक श्लोकों में प्रतिपादन हुआ है । पहले तीन श्लोकों में समाधि का सामान्य वर्णन है । चौथे श्लोक से पनरहवें श्लोक तक चारित्र्य समाधि, बीस से बाबीस श्लोकों में मूलगुण समाधि का और शेष दो श्लोकों (२३, २४) में उत्तरगुण समाधि का वर्णन है । चार श्लोकों (१६-१९) में असमाधि प्राप्त मनुष्यों का वर्णन है ।

विचरणीय शब्द

१. लाड (श्लोक ३)

जो मुनि जिस किसी प्रकार के प्रासुक अशन-पान से जीवन यापन करता है, जो आहार के अभाव में परितप्त नहीं होता वह 'लाड' कहलाता है । यहाँ यह शब्द मुनि की चर्या का द्योतक है ।

जैन आगमों तथा व्याख्या साहित्य में 'लाड' शब्द देशवाची भी है । भगवान् महावीर ने एक बार सोचा—बहुत कमों की निर्जरा करनी है । उसके लिए उपयुक्त स्थान है 'लाट' (लाड) देश । वहाँ के लोग अनार्य हैं । उनके योग से कमों की अधिक निर्जरा होगी । यह सोचकर भगवान् 'लाट' देश में गए ।^२

आचारांग १।३।२ में 'बहु दुन्धर-लाडमचारी' का उल्लेख है ।

२. धृत (श्लोक १६)

जैन आगमों का यह बहु-प्रयुक्त शब्द है । यह विशेषतः मुनि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है । किन्तु यह एक साधना की विशिष्ट पद्धति का द्योतक रहा है । जब वह पद्धति विस्मृत हो गई, तब यह शब्द उस पद्धति का केवल वाचक मात्र रह गया । 'धृत' समाधि की साधना पद्धति है । बौद्ध परंपरा में तेरह धृत प्रतिपादित हैं । ये सारे धृत क्लेशों को क्षीण करने में सहयोग करते हैं । इनका विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य में प्राप्त है ।^३

आचारांग के छठे अध्याय का नाम 'धृत' है । वहाँ दस धृतों का निर्देश है ।

धृत का शाब्दिक अर्थ है—क्षपित करना, धुन डालना । आगम के व्याख्याकारों ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—बैराग्य, मोक्ष, समाधि आदि-आदि ।

१. सूत्रकृताय निर्वृत्ति, गाथा १८, १९ : पंचसु वि य वितथेषु सुत्रेषु बन्धम्मि सा समाधि सि ।

केसं तु जम्मि केसे काले जो जम्मि कालम्मि ॥

मावसमाधि वतुम्भिध वंसण भावे तवे चरिते य ।

वदुहि वि समाधितप्पा सम्मं चरवट्ठितो साधू ॥

व्याख्या के लिए देखें—पुणि पृ० १८४, १८५ । कृति पत्र १८७, १८८ ।

२. दशवैकालिक १।४ ।

३. आचर्यक पुणि पूर्वभाग, पत्र २१० ।

४. विमुक्तिवज्र भाग १, पृ० ५०-८० ।

प्रस्तुत अध्यायन में समाधि को प्राप्त करने के कारण निरदिष्ट हैं। उनमें से कुछेक ये हैं—

- | | |
|---------------------------------|--------------------------|
| १. अनिश्चयता | १२. संज्ञा-विरति |
| २. इन्द्रिय-संयम, शरीर-संयम | १३. कषाय-विजय |
| ३. आत्मोपम्य की भावना का विकास | १४. मो-कषाय-विजय |
| ४. अस्वादवृत्ति | १५. बागुप्ति |
| ५. अप्रतिबद्धता | १६. निर्मल अध्यवसाय |
| ६. असंशय | १७. बुद्धियों की साधना |
| ७. समतामुपेक्षा का अभ्यास | १८. पाप-निवृत्ति |
| ७. आकांक्षा-विरति | १९. अमूर्च्छा |
| ८. वैराग्य | २०. निरवकीर्षिता |
| १०. अनासक्ति | २१. विप्रमुक्ति |
| ११. एकत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास | २२. जन्म-मरण-अनाकीर्षिता |

दसमं अध्यायः : दसवां अध्यायन

समाही : समाधि

सूत्र

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

१. आयं ममं अनुवीह धम्मं
अंभुं समाहिं तमिमं सुणेह ।
अपडिण्णे भिक्खुं समाहिपत्ते
अनिदानभूते सुपरिज्जएज्जा ॥

आख्यातवान् मतिमान् अनुवीचि धर्मं,
ऋजुं समाधिं तमिमं शृणुत ।
अप्रतिभो भिक्षुः समाधिप्राप्तः,
अनिदानभूतः सुपरिव्रजेत् ॥

१. मतिमान् (ममवान् महावीर) ने
अनुब्रिन्तं' (प्राहक की योग्यता को
ध्यान में रख) कर ऋजु समाधि-धर्म
का' प्रतिपादन किया, वह तुम सुनो ।
समाधि-प्राप्त भिक्षु अमूर्च्छित' और
(हिंसा आदि) आश्रयों से मुक्त' रहकर
सम्यक् परिव्रजन करे ।

२. उद्धं अहे यं तिरियं विसासु
तसा य जे बावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पावेहि य संजमिस्ता
अविण्णमण्णेसु य जो गहेज्जा ॥

ऊर्ध्वमघश्च तिर्यग्दिशासु,
वसश्च ये स्थावराः ये च प्राणाः ।
हस्तैः पादैश्च संयम्य,
अदत्तमन्येष्वनो गृह्णीयात् ॥

२. ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में
जो वस और स्थावर प्राणी हैं, उनके
प्रति हाथ और पैर का संयम करे ।
गृहस्थ के द्वारा अदत्त वस्तु को न ले ।

३. सुयक्खायधम्मे वित्तिगिच्छतिण्णे
लाढे चरे आयतुळे पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी
अयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खु ॥

स्वाख्यातधर्मः विचिकित्सातीर्णः,
लाडश्चरेत् आत्मतुल्यः प्रजासु ।
आयं न कुर्यात् इह जीवितार्थी,
अयं न कुर्यात् सुतपस्वी भिक्षुः ॥

३. जिसका धर्म स्वाख्यात है,
जो संदेहों का पार पा चुका है,
जो जैसा भोजन प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहता है,
वह सुतपस्वी भिक्षु' प्राणीमात्र को
आत्म-तुल्य समझता हुआ विचरण
करे ।^{११} इस जीवन का अर्थी' होकर
पदार्थों का अर्जन' और संचय न
करे ।^{१२}

४. सर्वेन्द्रियाभिनिवृत्ते पयासु
चरे सुणो सज्जओ विप्रमुक्ते ।
पासाहि पाणे य पुढो विसण्णे
मुक्तेण अददे परिपच्यमाने ॥

सर्वेन्द्रियाभिनिवृत्तः प्रजासु,
चरेद् मुनिः सर्वतो विप्रमुक्तः ।
पदय प्राणान्दश्च पृथक् विषण्णान्,
दुःखेन आसन् परिपच्यमानान् ॥

४. मुनि स्त्रियों के प्रति सभी इन्द्रियों से
संयत' तथा सर्वथा बंधनमुक्त' होकर
रहे । पृथक्-पृथक् रूप से^{१३} विषण्ण,
दुःख से पीड़ित' और सताए जाते हुए
प्राणियों को देखे ।

५. एतेसु बाळे य पकुज्जमाने
आवट्ठी कम्मसु पापकम्मसु ।
अतिवत्ततो कीरति पापकम्मं
जिउंजमाने उ करेइ कम्मं ॥

एतेषु बालश्च प्रकुर्वन्,
आवर्तते कर्मसु पापकेषु ।
अतिपाततः क्रियते पापकर्म,
नियुज्जमानस्तु करोति कर्म ॥

५. अज्ञानी मनुष्य इन (दुःखी जीवों) में
(बल आदि का प्रयोग) करता हुआ
पाप-कर्मों के आवर्त में फंस जाता है ।
वह स्वयं प्राणों का अतिपात कर पाप-
कर्म करता है और दूसरों को (प्राणों
के अतिपात में) नियोजित करके भी
पाप-कर्म करता है ।

६. आदीनवित्तिं वि करेति पापं
मंता ह एतंसमाहिमाहु ।
बुद्धे समाहीय रए विवेगे
प्राणात्पाताद् विरते स्थितात्मा ॥

आदीनवृत्तिरपि करोति पापं,
मत्वा खलु एकान्तसमाधिमाहुः ।
बुद्धः समाधी रतो विवेके,
प्राणातिपाताद् विरतः स्थितात्मा ॥

६. दीनवृत्ति वाला भी पाप करता है—
यह जानकर (भगवान् महावीर ने)
ऐकान्तिक समाधि का उपदेश दिया ।^१
(इस समाधि को) जामने वाला^२
समाधि और विवेक में^३ रत, हिंसा से
विरत और स्थितात्मा^४ होता है ।

७. सख्यं जगं तु समयाणुपेही
प्रियमप्ययं कस्यापि नो करेज्जा ।
उद्धाय दीने तु पुणो विसण्णे
संपूयणं चैव तिलोयकामी ॥

सर्वं जगत् समतानुप्रेक्षी/
प्रियमप्रियं कस्यापि नो कुर्यात् ।
उत्थाय दीनस्तु पुनर्विषण्णः,
संपूजनं चैव श्लोककामी ॥

७. समूचे जगत् को समता की दृष्टि से
देखने वाला किसी का भी प्रिय-अप्रिय
न करे—मध्यस्थ रहे ।^१ दीन (कायर)
व्यक्ति^२ (समाधि की साधना में) उठ-
कर, फिर विषण्ण^३ हो, पूजा और
श्लाघा की कामना करने लग जाता
है ।^४

८. आहाकडं चैव निकामभीणे
निकामसारी य विसण्णमेसी ।
इत्थीसु सत्ते य पुणो य बाले
परिग्रहं चैव पकुब्बमाने ॥

आधाकृतं चैव निकामयमानः,
निकामसारी च विषण्णेषी ।
स्त्रीषु सक्तश्च पुण्यं च बालः,
परिग्रहं चैव प्रकुर्वन् ॥

८. अज्ञानी मुनि आधाकर्म^१ (मुनि के
निमित्त बने आहार) की कामना करता
है,^२ उसकी गवेषणा करता है,^३
असंयम की एषणा करता है^४, स्त्रियों
की अनेक प्रवृत्तियों में आसक्त होता
है, परिग्रह का संभ्रम करता है ।^५

९. वेरानुगृद्धे निचयं करोति
इतो धुते से बुहमदुग्गं ।
तस्मात्तु मेघावि समीक्ष्य धम्मं
चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ॥

वैरानुगृद्धो निचयं करोति,
इतश्च्युतः सः दुःस्वार्थदुर्गम् ।
तस्मात्तु मेघावी समीक्ष्य धर्मं,
चरेद् मुनिः सर्वतो विप्रमुक्तः ॥

९. (परिग्रह-अर्जन के निमित्त) जन्मान्त-
रागुपायी बंध में घुल हो^१ (पाप-कर्म
का संभ्रम^२ करता है। यहाँ से च्युत
होकर वह विषम और दुःखप्रद स्थान
को^३ प्राप्त होता है। इसलिए मेघावी
मुनि^४ धर्म की समीक्षा कर, सब ओर
से मुक्त हो, संयम की चर्या करे ।

१०. आयं न कुण्ठा इह जीवितद्वी
असज्जमाणो य परिव्वएज्जा ।
णिसम्मभासो य विणीयगिद्धो
हिंसणितं वा ण कटं करेज्जा ॥

आयं न कुर्यात् इह जीवितार्थी,
असज्जं च परिव्रजेत् ।
निशम्यभाषी च विनीतगृद्धिः,
हिंसान्वितां वा न कथां कुर्यात् ॥

१०. इस जीवन का अर्थी होकर पदार्थों
का अर्जन न करे, अनासक्त रह परि-
व्रजन करे। सोचकर बोलने वाला^१
और आसक्ति से दूर रहने वाला हिंसा-
युक्त कथा न करे ।^२

११. आहाकडं वा न निकामएज्जा
निकामयंते य ण संभवेज्जा ।
धुणे उरासं अणवेक्षमाणे
चैव्वाण सोयं अणुवेक्षमाणे ॥

आधाकृतं वा न निकामयेत्,
निकामयतश्च न संस्तुयात् ।
धुनोयात् उदारं अनपेक्षमाणः,
त्यक्त्वा स्रोतः अनुप्रेक्षमाणः ॥

११. आधाकर्म की^१ कामना न करे।
उसकी कामना करने वालों की प्रशंसा
और समर्थन न करे ।^२ स्थूल शरीर
की^३ अपेक्षा न रखता हुआ^४ अनुप्रेक्षा-
पूर्वक (असमाधि के) स्रोत को^५ छोड़,
उत्ते (स्थूल शरीर को) कृश करे ।

१२. एणसमेवं अभिपत्यएज्जा
एतं पमोक्खे न सुसंति पास ।
एसप्यमोक्खे असुसेअरे की
अकोहणे सत्थरए तवस्सी ॥

१३. इत्थीसु या आरतमेवुणे उ
परिगहं चेव अकुब्बमाणे ।
उच्चावएसु विसएसु ताई
न संसथं सिक्खु समाहिपसे ॥

१४. अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्षु
तणाविकासं तह सीतफासं ।
उहं च दंसं च अहियासएज्जा
सुग्गि च दुग्गि च तित्तिक्खएज्जा ॥

१५. गुत्ते बईए य समाहिपसे
लेसं समाहट्ट परिज्वएज्जा ।
गिहं न छाए न वि छावएज्जा
सम्मिस्सिमावं पजहे पयासु ॥

१६. जे केइ लोगम्मि उ अकिरियाता
अण्णेण पुट्ठा धुतमादिसंति ।
आरंभसत्ता गहिया य लोए
धम्मं न जानंति विमोक्षहेउं ॥

१७. तेसिं पुढो छंदा माणवाणं
किरिया-अकिरियाणं व पुढोवावं
जातस्स बालस्स पकुब्ब देहं
पवड्ढती वेरमसंयतस्स ॥

१८. आउपस्यं चेव अकुब्बमाणे
ममाइ से साहसकारि मन्दे ।
अहो य राखो परितप्यमाणे
अददे सुमूढे अजरामरे इव ॥

एकत्वमेवं अभिप्रार्थयेत्,
एष प्रमोक्षः न मृषा इति पश्य ।
एष प्रमोक्षः अमृषा अवरोपि,
अक्रोधनः सत्यरतः तपस्वी ॥

स्त्रीषु च आरतमेधुनस्तु,
परिग्रहं चैव अकुर्वन् ।
उच्चावधेषु विषयेषु तादृगं,
न सश्रयन् भिक्षुः समाधिप्राप्तः ॥

अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्षुः,
तृणादि स्पर्शं तथा शीतस्पर्शम् ।
उष्णं च दंशं च अध्यासीत,
सुरभिं च दुरभिं च तितिक्षेत ॥

गुप्तः वाचि च समाधिप्राप्तः,
लेखां समाहृत्य परिव्रजेत् ।
गृहं न छादयेत् नापि छादयेत्,
सम्मिश्रीभावं प्रजह्यात् प्रजासु ॥

ये केचिद् लोके तु अक्रियात्मानः,
अन्येन पृष्ठाः धुतमादिशन्ति ।
आरम्भसक्ताः ग्रथिताश्च लोके,
धर्मं न जानन्ति विमोक्षहेतुम् ॥

तेषां पृथच्छंदा मानवानां,
क्रिया-अक्रियाणां वा पृथग्वादः ।
जातस्य बालस्य प्रकुर्वन् देहं,
प्रवर्धते वेरमसंयतस्य ॥

आयुःक्षयं चैव अकुप्यमानः,
ममायी स साहसकारी मन्दः ।
अहंश्च रात्रौ परितप्यमानः,
बासः सुमूढः अजरामर इव ॥

१२. एकत्व (अकेलेपन) की" अभ्यर्थना
करे। यह एकत्व मोक्ष है।" यह
मिथ्या नहीं है। इसे देख। (एकत्व में
रहने वाला पुरुष) मोक्ष, सत्य, प्रधान,
क्रोधमुक्त, सत्यरत" और तपस्वी होता
है।

१३. जो स्त्रियों के प्रति मैथुन से विरत है,
परिग्रह नहीं करता, नाना" विषयों में
मध्यस्थ और उनका सेवन नहीं करने
वाला" भिक्षु समाधि-प्राप्त होता
है।"

१४. भिक्षु अरति और रति को" जीते,
तृण आदि तथा सर्दी के स्पर्श" और
गरमी तथा (मच्छर आदि के) दंश को
सहे। सुगंध और दुर्गंध में" तितिक्षा
रखे।

१५. भिक्षु वाणी से संयत" हो समाधि-
प्राप्त बने, विषुद्ध लेखा के साथ"
परिव्रजन करे, स्वयं घर न छाए और
दूसरो से न छवाए, गृहस्थों के साथ
एक स्थान में न रहे।"

१६. इस जगत् में जो अक्रियात्मवादी" है
वे दूसरो के पृष्ठने पर धुत"
की एक साधना-पद्धति का उपदेश
करते हैं। किन्तु वे आरंभ में रत और
लोक में आसक्त होने के कारण मोक्ष
के हेतुभूत (समाधि) धर्म को नहीं
जानते।

१७. उन मनुष्यों के छन्द (अभिप्राय) नाना
प्रकार के" होते हैं। क्रिया और
अक्रिया—ये नाना वाद" हैं। नवोत्पन्न
भिक्षु का शरीर जैसे बढ़ता है वैसे ही
असंयमी का वेर बढ़ता है।"

१८. आयु के क्षय को" नहीं जानता हुआ
ममत्वशील", सहसा (बिना सोचे-
समझे) काम करने वाला" मंद मनुष्य
विषयों से पीड़ित" और मोह से
मूर्च्छित हो अजर-अमर की मांति
आचरण करता हुआ दिन-रात संतप्त
होता है।"

१६. अहाय वित्तं पस्यो य सख्ये
ये बन्धवा ये य पित्रा य मित्रा ।
कालप्यई से वि उवेति मोहं
अन्ये जना तं सि हरन्ति वित्तम् ॥

हित्वा वित्तं पशूँश्च सर्वान्,
ये बान्धवाः मानि च प्रियाणि
च मित्राणि ।
कालप्यते सोऽपि उपैति मोहः,
अन्ये जनाः तत् तस्य हरन्ति वित्तम् ॥

१६. धन को, सारे पशुओं को, जो बन्धव
और प्रिय मित्र हैं उन्हें छोड़ (बह
जाता है तब) विलाप करता है और
मोह को प्राप्त होता है । (उसके चले
जाने पर) दूसरे लोग उसके धन का
हरण कर लेते हैं ।

२०. सीहं अहा बहुमिता चरन्ता
दूरे चरन्ती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेधावि सविक्क धम्मं
दूरेण पापं परिवर्जयेत्ता ॥

सिंहं यथा सुद्रमृगाश्चरन्तः,
दूरे चरन्ति परिश्रमाणाः ।
एवं तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं,
दूरेण पापं परिवर्जयेत् ॥

२०. जैसे चरते हुए छोटे पशु^{१०} सिंह से डर-
कर^{१०} दूर रहते हैं,^{११} इसी प्रकार
मेधावी मनुष्य धर्म को समझकर दूर
से ही पाप को छोड़ दे ।

२१. संबुद्ध्यमानो ज नरो मतीमं
पापाओ अप्पाण निबट्टएज्जा ।
हिंसप्यसूताणि कुहाणि मत्ता
वेरानुबन्धीणि महम्मयाणि ॥

संबुद्ध्यमानस्तु नरो मतिमान्,
पापात् आत्मानं निवर्तयेत् ।
हिंसाप्रसूतानि दुःखानि मत्वा,
वैरानुबन्धीनि महामयानि ॥

२१. मतिमान् मनुष्य समाधि को समझ-
कर^{१२} तथा यह जानकर कि दुःख हिंसा
से उत्पन्न होते हैं,^{१३} वैर की परंपरा को
बढ़ाते हैं और महा भयंकर हैं, अपने
आपको पाप से बचाए ।^{१४}

२२. मुसं ज ब्रूया मुनि अत्तगामी
जिब्बाणमेयं कसिणं समाहि ।
सयं ज कुज्जा न चि कारवेज्जा
करंतमब्बं पि य णानुजाणे ॥

मृषा न ब्रूयाद् मुनिरात्मगामी,
निर्वाणमेतत् कृत्स्नः समाधिः ।
स्वयं न कुर्यात् नापि कारयेत्,
कुर्वन्तमन्यमपि च नानुजानीयात् ॥

२२. आत्मगामी मुनि^{१५} असत्य न बोले ।
यह सत्य निर्वाण और सम्पूर्ण समाधि
है ।^{१६} मृषावाद स्वयं न करे, दूसरों से
न करवाए और करवाए वाले का अनु-
मोदन भी न करे ।

२३. सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा
अमुच्छित्तो अणज्झोववण्णो ।
धित्तिमं विमुक्के ण य पूणट्ठी
न सिलोयकामी य परिव्रजेत्ता ॥

शुद्धे स्यात् जाने न दूषयेत्,
अमूर्च्छितः अनध्युपपन्नः ।
धृतिमान् विमुक्तो न च पूजनार्थी,
न श्लोककामी च परिव्रजेत् ॥

२३. एषणा द्वारा लब्ध शुद्ध आहार^{१७} को
दूषित न करे,^{१८} उसमें मूर्च्छित और
आसक्त न हो ।^{१९} संयम में धृतिमान्
और अगर-बंधन से मुक्त^{२०} मुनि पूजा
का अर्थी, श्लाघा का कामी न होता
हुवा परिव्रजन करे ।

२४. निक्कम्म गेहाओ निरवकांक्षी
कायं विओसज्ज निब्रान्छिण्णे ।
णो जीवितं णो मरणाभिकांक्षी
चरेज्ज भिक्खु बलया विमुक्के ॥

निष्क्रम्य गेहाद् निरवकांक्षी,
कायं व्युत्सृज्य छिन्ननिदानः ।
नो जीवितं नो मरणाभिकांक्षी,
चरेद् भिक्षुर्वलयाद् विमुक्तः ॥

२४. घर से अभिनिष्क्रमण कर, अनासक्त
हो,^{२१} शरीर का व्युत्सर्ग कर,^{२२} कर्म-
बधन^{२३} को छिन्न करे । न जीवन की
इच्छा करे और न मरण की । भव के
बलय से मुक्त^{२४} हो संयम की बर्पा
करे ।

—सि वेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्याय १०

इलोक १ :

१. मतिमान् (भगवान् महावीर) ने (अनुचिन्तन)

वृष्णि और वृत्ति में इसका अर्थ केवलज्ञानी किया है। वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा महावीर का ग्रहण किया है।

२. अनुचिन्तन (अनुवीह)

अनुचिन्तन कर अर्थात् भगवान् महावीर ने ग्राहकों को ध्यान में रखकर, उनकी ग्रहण-योग्यता के अनुसार धर्म का आख्यान किया। सामने वाला व्यक्ति कौन है? उसका उपास्य कौन है? वह किस दर्शन का अनुयायी है? आदि-आदि प्रश्नों का चिन्तन कर भगवान् ने उपदेश दिया।

वृष्णिकार के अनुसार धर्म कहने की पद्धति यह है—निपुण श्रोता के समझ सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन और स्थूल बुद्धि वाले श्रोता के समझ स्थूल अर्थ का प्रतिपादन किया जाए। सुनने वाले धर्म को सुनकर यह चिन्तन करें कि उन्हें ही लक्ष्य कर यह उपदेश दिया जा रहा है। तिर्यञ्च भी यह सोचे कि भगवान् हमारे लिए कह रहे हैं।

३. ऋजु समाधि-धर्म का (अंजु समाधि)

यह समाधि का विशेषण है। भगवान् ने ऋजु समाधि का प्रतिपादन किया। ऋजु का अर्थ है—अवक्रता, सरलता, कथनी और करना की समानता। इस प्रसंग में वृष्णिकार और वृत्तिकार ने बौद्धों की समाधि का उल्लेख किया है और बताया है कि वह ऋजु नहीं है। वे वनस्पति को सचेतन मानते हैं। उसका स्वयं छेदन नहीं करते किन्तु दूसरो से करवाते हैं। वे स्वयं पैसा नहीं छूते किन्तु क्रय-विक्रय करते हैं। यह समाधि की ऋजुता नहीं है।

समाधि शब्द की व्याख्या के लिए देखें—इसी अध्ययन का आमुख।

१. (क) वृष्णि, पृ० १८५ : मतिमानिति केवलज्ञानी।

(ख) वृत्ति, पत्र १८८ : मतिमान् मननं मतिः—समस्तवर्षावैरिज्ञानं तद्विप्लवे यस्यासी मतिमान् केवलज्ञानीत्यर्थः, तत्रासाधारण-विशेषोपादानासीर्बहुं गृह्यते, असाधारण प्रत्यासत्तेर्वैरिचर्यमानस्वामी गृह्यते।

२. वृत्ति, पत्र १८८ : 'अनुचिन्तय' केवलज्ञानेन ज्ञात्वा प्रज्ञापनायोग्यान् पदार्थानाहित्य धर्मं भावते, यदि वा—ग्राहकमनुचिन्तय, कस्यार्थस्यायं ग्रहणसमर्थः? तथा कोऽयं पुत्रः?, कम्प नतः?, किं वा वर्तमानायनः?, इत्येवं वर्णालोच्य, धर्मगुणधर्मो वा मध्यगते—यथा प्रत्येकमस्मद्विप्रायमनुचिन्तय भगवान् धर्मं भावते, पुण्यत्सर्वेषां स्वभावापरिणत्या संशयापनमाविति।

३. वृष्णि, पृ० १८५ : अनुवीयति अनुचिन्तय केवलज्ञानेनैव, अथवा अनुचिन्तय ग्राहकं वीति। अथा—
'मिच्छते मिच्छते अर्थं युक्तं यत्तुर्विच्छते कथम्।'

(कल्पशास्त्र ना० २३०)

सुखेलूपा विचिन्तयति—मम आशयमनुचिन्तय कथयति, तिरिया अपि विचिन्तयति—अहम् भगवान् कथयति।

४. (क) वृष्णि, पृष्ठ १८५ : अनुचिन्तय अनुचिन्तय, न यथा ज्ञात्वा, न यथा स्वयं न विचिन्तय, 'मिम्हं जानीहि' तं विचिन्तयं कथयते, तथा कार्या-धर्मं न स्मृतमिति कथ-विकल्पं तु कुर्वते इत्येवमावितिः अनुचिन्तयः।

(ख) वृत्ति, पत्र १८८ : 'अनुचिन्तय' अर्थः यथावन्विततत्त्वतस्तुस्वकथनिकथयति, न यथा ज्ञात्वाः सर्वं अपि कथयत्युपगम्य हतनास्तकृताभ्यागम-वीचनमात्तु अन्तानाभ्युपगमं कृतवन्तः तथा वनस्पतिमन्वेतनत्वेनाभ्युपगम्य स्वयं न विचिन्तय तन्वेचनावावृ-द्धेन तु वदति तथा कार्याधर्मिकं विचिन्तय स्वतो न स्मृतमिति अथरेण तु सत्परिग्रहतः कथयति कारयति।

४. असूक्ष्म (अपटिष्ठे)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—असूक्ष्म, अपटिष्ठ ।^१ वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—इहलीकिक या पारलीकिक आकांक्षा से मूल्य ।^२

५. (हिंसा आदि) अनिदानभूत (अनिदानभूते)

वृत्ति में इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. अनाभवभूत ।

२. अवधनभूत ।

३. दुःख का अहेतुभूत ।

प्रस्तुत श्लोक का चौथा चरण है—अनिदानभूते सुपरिक्वएज्जा ।^३ इसका पाठान्तर है—अनिदानभूतेसु परिक्वएज्जा ।^४ 'सु' जो अगले शब्द से संबंधित था वह पूर्व शब्द से जुड़ जाता है और इस स्थिति में उसका अर्थ ही बदल जाता है । 'निदा' वातु बंधन के अर्थ में है । ज्ञान और व्रत अनिदानभूत—अवधनभूत होते हैं । मुनि उनमें (ज्ञान और व्रत में) परिव्रजन करे ।^५

निदान, हेतु, और निमित्त—ये तीनों एकार्थक हैं ।^६

वृत्तिकार ने अनिदानभूत का एक अर्थ अनारंभ भी किया है ।^७

श्लोक २ :

६. ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में (उद्धं अहे यं तिरियं विसासु)

इसका सामान्य अर्थ है—ऊर्ध्व दिशा, अधो दिशा और तिर्यक् दिशा ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ करीर-सापेक्ष किया है—शिर से ऊपर का भाग ऊर्ध्व दिशा, पैरों के तले का भाग अधो दिशा और बीच का भाग तिर्यक् दिशा ।^८

७. हाथ और पैर का संयम करे (हत्थेहि पावेहि य संजमिस्स)

इसका अर्थ है—हाथ और पैर का संयम कर ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है । उनके अनुसार इसका अर्थ है—प्राणियों को हाथ-पैरों से बांधकर अथवा दूसरे उपायों से उनकी कदर्यता कर दुःखी न करे ।^९

श्लोक ३ :

८. जिसका धर्म स्वाख्यात है (सुयस्सायधम्मो)

स्यानांग (३:५०७) के अनुसार सु-अधीत, सु-ध्यात, और सु-तपस्यित धर्म स्वाख्यात कहलाता है । जब धर्म सु-अधीत

१. वृत्ति, पृ० १८५ : अप्रतिज्ञः इह-परलोकेषु कामेषु अप्रतिज्ञः असूक्ष्मस्त इत्यर्थः, अपटिष्ठो वा ।

२. वृत्ति, पृ० १८६ : न विद्यते ऐहिकानुधिमकल्पा प्रतिज्ञा आकाङ्क्षातपोऽनुष्ठानं कुर्वतो यस्यासावप्रतिज्ञः ।

३. वृत्ति, पृ० १८५ : न निदानभूतः अनिदानभूतो नाम अनाभवभूतः, अथवा अनिदानभूतानीति 'निदा अग्गजे' अवधनभूतानीति अनिदानसुख्यानीति ज्ञानाधीनि व्रतानि वा परिक्वएज्जा, अथवा न कस्यचिदपि दुःखानिदानभूतः ।

४. वृत्ति, पृ० १८५ : निदानं हेतुनिमित्तमित्यनर्थान्तरम् ।

५. वृत्ति, पृ० १८६ : न विद्यते निदानमारम्भकम् यस्यासावनिदानः ।

६. वृत्ति, पृ० १८५ : तत्रोर्ध्वमिति अर्ध ऊर्ध्वं शिरसः, अध इति अधः पादतलान्तरम्, तिर्यक् ।

७. वृत्ति, पृ० १८६ : प्राणिनो हस्तपादान्यां 'संयम्य' बद्ध्वा उपलक्ष्यार्थत्वावस्थान्या वा कदर्ययित्वा यत्नेन दुःखोत्पादनं तन्म कुर्यात् ।

होता है तब वह सु-ध्यात होता है। जब वह सु-ध्यात होता है तब वह सुतपस्वित होता है। सु-अधीत, सु-ध्यात और सु-तपस्वित धर्म ही स्वाक्यात धर्म हैं।

प्रस्तुत मिश्रण में धर्म के तीन अंगों—अध्ययन, ध्यान और तपस्या का निर्वहण है। इनमें पौर्वापर्य है। अध्ययन के बिना ध्यान और ध्यान के बिना तपस्या नहीं हो सकती। व्यक्ति पहले ज्ञान से जानता है, फिर उसके आशय का ध्यान करता है और फिर उसका आचरण करता है। स्वाक्यात धर्म का यही क्रम है।

बुधिकार और वृत्तिकार ने स्वाक्यात धर्म से भूतधर्म और चारित्र धर्म का ग्रहण किया है।

उपर्युक्त तीनों अंगों का इसमें समाहार हो जाता है। सु-अधीत और सु-ध्यात—ये दो भूतधर्म के प्रकार हैं और सु-तपस्वित चारित्र-धर्म का प्रकार है।

६. जो सम्बेहों का पार पा चुका है (विचिकित्सित्वा)

वृत्तिकार ने विचिकित्सा के दो अर्थ किए हैं—चित्त की विप्लुति और विज्ञानों के प्रति जुगुप्साभाव। जो व्यक्ति इन दोनों से अतिक्रान्त हो जाता है, इनका पार पा लेता है, वह 'विचिकित्सातीर्ण' कहलाता है। यह दर्शनसमाधि का एक अंग है।

आचारांग में बतलाया गया है कि विचिकित्सा करने वाला समाधि को प्राप्त नहीं होता।

१०. जो जंसा भोजन प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहता है (लाडे चरे)

जो मुनि जिस किसी प्रकार के प्रासुक आहार, उपकरण आदि से विधिपूर्वक अपनी जीवन-वर्षा चलता है वह 'लाड' कहलाता है। अथवा प्रासुक आहार के अभाव में मरीर कृण हो जाने पर भी जो सूत्र, अर्थ और तपुभय की उपासना में परितप्त नहीं होता वह 'लाड' कहलाता है।

११. सुतपस्वी भिक्षु (सुतपस्वि)

छन्द की दृष्टि से यहा लृस्व का प्रयोग है। जो चोर तप तपता है और पारने में विवृति नहीं लेता, वह सुतपस्वी कहलाता है।

१२. प्राणीमात्र को आत्मतुल्य समझता हुआ विचरण करे (चरे आयतुले पयासु)

मुनि प्राणी मात्र को आत्म-तुल्य समझता हुआ विचरण करे।

जो समस्त प्राणी-जगत् को अपनी आत्मा के समान मानता है वह उनके साथ वैसा बर्ताव नहीं कर सकता जो बर्ताव स्वयं के लिए अहितकर हो। वह उन्हें मार नहीं सकता। वह यह सोचता है—

'जह मम न पिनां दुर्लभं, जानिय एवमेव तन्मजीवानं।

न हजइ न हवावेइ य सममचई तेन सो समचो॥

'जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, इसी प्रकार किसी भी जीव को दुःख प्रिय नहीं है।' यह सोचकर वह स्वयं जीवों की न हिसा

१. (क) बृजि पृ० १८५ : सुष्टु आक्यातो धर्मः स भवति सुव्यवस्तधर्मे द्विविधोऽपि।

(ख) वृत्ति, पत्र १८६ : सुष्टु आक्यातोः भूत चारित्राक्यो धर्मो येन साधुनाउसी स्वाक्यातधर्मः।

२. वृत्ति, पत्र १८६ : विचिकित्सा—चित्तविप्लुतिविहङ्गजुगुप्सा वा तां (वि) तीर्णः—अतिक्रान्तः 'तदेव न निःशङ्कं' पण्डितैः प्रवेदितं—यित्येवं निःशङ्कतया न क्वचिन्विचिकित्सित्विप्लुति विधत्त इत्यनेन वसंचसमाधिः प्रतिपादितो भवति।

३. आचारो, ५१६३ : विचिकित्सित्वा-समाधौ न भवति समाधिः।

४. (क) बृजि, पृ० १८६ : जेव जेवइ फासुयेवं लाडोतीति लाडः, सुत-जप-तपुभयोहि विचिसेहि किते वि देहे अपरिते लाडोति।

(ख) वृत्ति, पत्र १८६ : जेन केवचित्तप्रसङ्गाहारोपकरणविहितेन विचिनाप्रधानं वाचयति—वाचयतीति लाडः।

५. वृत्ति, पत्र १६० : सुष्टु जपस्वी 'सुतपस्वी' भिक्षुवतपोविद्यतपदेहः।

६. ब्रह्मसंहिता निर्दिष्ट, पात्र १५५।

करता है और न दूसरों से हिंसा करवाता है। वह सबके प्रति समान व्यवहार करता है।

मृषावाद के विषय में भी वह सोचता है—जैसे मुझे कोई गाली देता है या मेरे पर झूठा आरोप लगाता है तो मुझे दुःख होता है, वैसे ही दूसरों को गाली देने और उन पर झूठा आरोप लगाने से दुःख होता है।

इसी प्रकार दूसरे सारे आश्ववद्वारों के विषय में वह आत्मसुखा के आधार पर सोचता है और उसी प्रकार आचरण करता है, यही उसका आत्मतुल्य आचरण है।^१

१३. इस जीवन का अर्थ (इह जीवियद्वा)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. साधक इस जीवन का अर्थी होकर पदार्थों का अर्जन न करे।

२. अन्न, पान, वस्त्र, शयन, पूजा, सत्कार आदि के लिए पदार्थों का अर्जन न करे।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ यह है—

साधक असंयम जीवन का अर्थी होकर, मैं लंबे समय तक सुखपूर्वक जीवित रहूँगा—ऐसा सोचकर कर्म-बंधन न करे।

१४. अर्जन (आय)

वृत्ति ने इसका अर्थ—पदार्थों का अर्जन^२ और वृत्तिकार ने कर्मों के आश्ववद्वार रूपी आय^३—किया है।

१५. संचय न करे (अयं न कुञ्जा)

मुनि के लिए धर्मोपकरण के अतिरिक्त सारे पदार्थ संचय की कोटि में आते हैं। मुनि आहार, उपकरण आदि वस्तुओं का संचय न करे। वह सोना, चांदी, धन, धान्य का भी संचय न करे कि वे भविष्य में जीवन-यापन के लिए कारगर होंगे।^४

इलोक ४ :

१६. सभी इन्द्रियों से संयत (सर्विन्द्रियाभिनिवृत्ते पयासु)

प्रजा का अर्थ है—स्त्री। मुनि स्त्रियों के प्रति सभी इन्द्रियों से संयत रहे। पांचो इन्द्रियों के पांचो विषय स्त्रियों के प्रति होते हैं। वृत्तिकार ने यहाँ एक श्लोक उद्धृत किया है—

कलानि वाक्यानि विज्ञासिनीनां, गतानि रम्याण्यवलोकितानि।

रतानि चित्राणि च सुन्दरीणां, रसोपि गन्धोऽपि च सुन्दरानि ॥^५

१. (क) वृत्ति, पृ० १८६ : आयतुले पयासुं ति, प्रजायन्त इति प्रजाः वृषिभ्यादयः तासु यथाऽऽत्मनि तथा प्रयतितव्यम्, न हिंसितव्या इत्यर्थः, आत्मतुल्या इति 'अयं मम न पयं कुञ्ज' एवं मुसावादे वि अथा मम अन्माइविसत्त्वतस्स अपियं एवमन्वस्थापि। एवमन्वेवपि आश्ववद्वारेषु आत्मतुल्यत्वं विभावितव्यम्।

(ख) वृत्ति, पत्र १८६, १९०।

२. वृत्ति, पृ० १८६ : तं आहं न इहलोकजीवितस्यार्थं कुर्यात्, अन्न-पान-वस्त्र-शयन-पूजा-सत्कारहेतुं वा।

३. वृत्ति, पत्र १९० : इहसंयमजीवितार्थं प्रभूतं कालं सुखेन जीविष्यामीत्येतदध्यवसायी वा — कर्मव्यवसायनं न कुर्यात्।

४. वृत्ति, पृ० १८६ : आयो नाम आगमः।

५. वृत्ति, पत्र १९० : आयं—कर्मव्यवसायम्।

६. (क) वृत्ति पृ० १८६ : अयं न कुञ्जा, अयं नाम संचयनं न कुर्यात्, अन्यत्र धर्मोपकरणं शेष आहारावित्तुसञ्चयः सर्वः प्रति-विध्यते, हिरण्य—धातुविसञ्चयोऽपि प्रतिविध्यते येनागतो कालो जीविका स्यादिति, तं प्रसीत्य आ-सञ्चयो भवति, कर्मसञ्चय इत्यर्थः।

(ख) वृत्ति, पत्र १९० : 'अयम्'—उपचयमाहारीपकरणार्जनसामग्र्यविवक्षितुष्यवादेर्वा परिग्रहलक्षणं संचयम्।

७. वृत्ति पत्र १९० : सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि च स्वर्शनादौनि तैरभिनिवृत्ताः—संयतेन्द्रियो जितेन्द्रिय इत्यर्थः, क्व ?—'प्रजासु'—स्त्रीषु, तासु हि वञ्चप्रकारा अपि शब्दादयो विचया विज्ञाने, तथा चोक्तम्—कलानि वाक्यानि.....।

चूणिकार ने पाँचों विषयों को विस्तार से समझाया है—

सङ्घ—स्थियों के कलात्मक बाध्य ।

रूप—रमणीय गति, अवलोकन आदि ।

रस—बुम्बन आदि ।

गंध—जहाँ रस है वहाँ गंध अवश्यभावी है ।

स्पर्श—संवादन, स्तन, उरु, वदन आदि का संसर्ग ।

१७. सर्वथा बन्धन मुक्त (सर्वबन्धन विप्रमुक्त)

इसका अर्थ है—सर्वथा बन्धनमुक्त, बाह्य और आन्तरिक आसक्तियों से मुक्त, निःसंग, निष्कम्बन ।

चूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—समस्त असमाधियों से मुक्त, सर्वबन्धनों से मुक्त ।

१८. पृथक्-पृथक् रूप से (पुढो)

इसके दो अर्थ हैं—पृथक्-पृथक् अथवा बहुत ।

१९. पीडित (आवृत्ती)

चूणिकार के अनुसार इसका अर्थ है—आवृत्ति में फँस जाता है । चूणिकार ने इसका अर्थ—पीडित होता है, दुःखमाक् होता है—किया है ।

श्लोक ६ :

२०. (आदीर्णचित्तो ... एतन्तमाहिमाहु)

दीनता प्रदर्शित कर जीविका चलाने वाला भी पाप कर लेता है । वह भोजन को प्राप्त नहीं होता तब उसे असमाधि हो जाती है । इस स्थिति को ध्यान में रखकर एकान्त समाधि का निरूपण किया गया है । वस्तु के लाभ से होने वाली समाधि अनैकान्तिक होती है । ज्ञान आदि भाव-समाधि एकान्ततः सुख उत्पन्न करती है ।

चूणिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में उत्तराध्यायन ५।२२ का श्लोक उद्धृत करते हुए कथा की ओर संकेत किया है । वह इस प्रकार है—

१. चूणि, पृ० १८६ : सर्वेन्द्रियनिवृत्तो जितेन्द्रिय इत्यर्थः । प्रजावन्तः इति प्रजाः स्त्रियः, तासु हि पञ्चलक्षणया विषया विद्यन्ते । सम्हा-
स्तावत्—कलानि बाक्यानि विलासिनोनाम्, रूपेऽपि—गता निशा साध्यबलोकितानि, स्मृतानि बाक्यानि च
मुन्वरोणाम् । रसा अपि बुम्बनादयः यत्र रसस्तत्र गन्धोऽपि विद्यते स्पर्शाः सम्वादन-कुचोद-वदनसर्गादयः ।

२. वृत्ति, पृ० १९० : तदाह्यान्तरात् सङ्गाद्विशेषेण प्रमुक्तो विप्रमुक्तो निःसङ्को मुनिः निष्कम्बनश्चेत्यर्थः ।

३. चूणि, पृ० १८६ : सर्वात्मविप्रमुक्तः सर्वबन्धनविप्रमुक्तः ।

४. चूणि, पृ० १८६ : पुढो यान् पृथक् पृथक् अथवा पुढो ति बहुवे ।

५. चूणि, पृ० १८६ : ये प्रकुर्वन्ते हिंसादीनि एतेष्वेव आकर्ष्यन्ते ।

६. वृत्ति, पृ० १९० : आकर्ष्यन्ते—पीड्यन्ते दुःखभाग्यवतीति ।

७. (क) चूणि, पृ० १८७ : पापम् वैश्वं तावद् बीजः । कोऽयं ? बीज-निवृत्त-वर्णीयता नि पापं करोति.....बीजसंज्ञेन भुंज-
तीति आदीर्णभीती, सो पुन कदाह्य असमाधौ असमाधिवत्तो अवेतत्तमाए वि उद्वल्लेख्यता.....द्वयसमाधयो हि स्पर्शादि-
बुक्तोत्पादकाः अनेकान्तिकाराश्च सन्ति । कथम् ? अग्न्याग्नेयनादसमाधिं कुर्वन्ते । उक्तं हि—‘ते येन ह्येति बुक्ता पुनो वि कालंतर-
वत्तेन ।’ तदाह्यान्तु आत्मतत्त्वस्य एकान्तेनैव सुखसुखादयस्तीह परम च एवं गत्वा सम्पूर्ण समाधिमाहुस्तीर्थकराः ।

(ख) वृत्ति, पृ० १९१ ।

राजगृह नगर के वैद्यारगिरि पर्वत के पास कुछ लोग 'गोठ' आदि के मिश्र से एकत्रित हुए। उन्होंने वहाँ भोजन आदि बना रखा था। एक भिक्षुक भोजन मांगने आया। किसी ने उसे भिक्षा नहीं दी। भिक्षुक हष्ट हो गया। उसके मन में उन लोगों के प्रति द्वेष जाग उठा। वह वैद्यार पर्वत पर चढ़ा और बड़ी-बड़ी शिलाओं को वहाँ से नीचे ढकेला। वह उन लोगों को मारना चाहता था। संयोगवश वह एक शिला के साथ नीचे फिसला और शिला के नीचे आकर चूर-चूर हो गया। वह रौद्रध्यान के परिणामों में मरकर 'अप्रतिष्ठान' नामक नरक में आकर उत्पन्न हुआ।

२१. (इस समाधि को) जानने वाला (बुद्धे)

इसके दो अर्थ हैं—

१. समाधि को जानने वाला।

२. चार प्रकार की भावसमाधि—ज्ञानसमाधि, दर्शनसमाधि, चारित्रसमाधि और तपसमाधि—में स्थित।

२२. विवेक में (विवेके)

विवेक दो प्रकार का होता है—

१. द्रव्य विवेक—आहार, वस्त्र, पात्र का प्रमाण करना। जैसे मुनि कुर्कुटी के अङ्गे के प्रमाण वाले आठ कदल मात्र आहार करे, एक वस्त्र और एक पात्र रखे, आदि।

२. भाव विवेक—कषाय, संसार और कर्मों का परित्याग करना, उनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न करना।

२३. स्थितात्मा (ठिताप्या)

चूर्णिकार ने इसके स्थान पर 'ठितच्चा' पाठ की व्याख्या की है। अर्चि का एक अर्थ है—लेख्या। जिसकी अर्चि स्थित होती है उसे 'स्थितार्चि' कहा जाता है।

इसलोक ७ :

२४. (सम्बन्ध जगत्गो करेज्जा)

प्रथम दो चरणों का प्रतिपाद है—मध्यस्थ ही संपूर्ण समाधियुक्त होता है। बूहो को मार कर बिल्ली का पोषण करने वाला, एक का प्रिय करता है तो दूसरे का अप्रिय करता है। यह प्रिय और अप्रिय संपादन का प्रसंग समाधि का विघ्न है, इसलिए समता-अनुप्रेक्षी प्रिय और अप्रिय के झगड़ में न जाए।

समतानुप्रेक्षी वह होता है जिसके लिए न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय।

२५. दीन (कायर) व्यक्ति (दीने)

चूर्णिकार के अनुसार दीन का अर्थ है—अनर्जित, ऊर्जाशून्य या प्राणशून्य। जो ऐसा होता है वह भांगो को त्याग कर फिर भोगाभिलाषी हो जाता है। चाहने वाला हर व्यक्ति दीन बन जाता है और चाहने पर इष्ट वस्तु नहीं मिलती तब वह दीनतर बन जाता है।

१. उत्तराध्यायन, सुखबोधा वृत्ति, पत्र १०७।

२. जूनि, पु० १८७ : बुद्ध इति ज्ञानको जायसमाधीए चतुर्विधाए द्वितो।

३. जूनि, पु० १८७ : दम्भविषेणो आहारादि अद्भुतकुडिअङ्गप्यमाणेतकबलेण, एगे वत्थे एगे पावे, भाव/विवेगो कसाय-संसार-कम्मात्तं।

४. जूनि, पु० १८७ : अचिरिति लेख्या, स्थिता यस्याधिः स जवति ठितच्चा, अवहितलेख इत्यर्थः।

५. जूनि, पु० १८७ : अथवा अम्यस्य प्रियं करोति अम्यस्याप्रियमित्यतः। कोऽर्थः? नाय्यान् घातयित्वा अन्येषां प्रियं करोति, मूषकः पार्श्वारपोषयत्। अथवा प्रियमिति सुखं सर्वसत्त्वानाम्, तदेषामप्रियं न कुर्यात्, न कस्यचिद् प्रियम्, अम्यस्य एवाऽऽस्वादिभ्यस्तः सम्पूर्णसमाधियुक्तो भवति।

६. जूनि, पु० १८७ : दीन इत्यनुचितो भोगाभिलाषी, तर्हि हि तर्कदीनो भवति, ईप्सितासन्ने च दीनतरः।

इतिकार के अनुसार जो परीषद्‌ओं और उपसर्गों के आने पर शिथिल हो जाता है वह दीन है ।^१

२६. विषण्ण (विसण्णे)

इसका तात्पर्य है कि कोई मुनि कष्टों से घबरा कर विषय भोगों की अभिलाषा करता हुआ पुनः गृहस्थ बन जाता है अथवा पार्श्वस्थ हो जाता है, चर्या में शिथिल हो जाता है ।^२

२७. श्लाघा की कामना करने लग जाता है (सिलोयकामी)

श्लोक का अर्थ है—प्रशंसा, यश । वह शिथिल मुनि यश का अभिलाषी होकर व्याकरण, गणित, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र आदि का अध्ययन करता है ।^३

श्लोक ८ :

२८. आधाकर्म (आहाकर्म)

मुनि के निमित्त बने आहार, उपकरण आदि को आधाकर्म कहा जाता है ।

चूणिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ किया है कि मुनि के लिए कोई वस्तु खरीदी जाती है वह क्रीतकृत तथा अन्य उद्गम दोष भी आधाकर्म है ।^४ किन्तु यह अर्थ चिन्तनीय है ।

आधाकर्म अबिशुद्धिकोटि का दोष है और क्रीतकृत विशुद्धिकोटि का दोष है । इसलिए दोनों एक कोटि के नहीं हो सकते ।

२९. कामना करता है (निकाममयी)

इसका संस्कृत रूप है—'निकामयमानः' । इसका अर्थ है—अत्यधिक कामना करना, प्रार्थना करना ।^५

चूणिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ—निमंत्रण-पिंड को स्वीकार करने वाला किया है ।^६

३०. उसकी गवेषणा करता है (निकामसारी)

जो आधाकर्म आदि की या उसके निमित्तभूत निमंत्रण आदि की गवेषणा करता है वह निकामसारी कहलाता है ।^७

३१. असंयम की एषणा करता है (विसण्णमेसी)

जो पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील व्यक्ति संयम की चर्या में शिथिल हो गए हैं, उनके मार्ग की गवेषणा करने वाला विषण्णैषी होता है । यहाँ विषण्ण का अर्थ है—असंयम । जो असंयम की गवेषणा करता है वह सफेद कपड़े को पहनने वाले की तरह दीन होता जाता है, क्योंकि ह्रस्व सफेद कपड़ा प्रतिदिन मलिन होता जाता है । असंयम की एषणा करने वाला भी प्रतिदिन मलिन

१. वृत्ति, पत्र १६१ : परीसहोपसर्गैस्तमितो शीनमावमुपगम्य ।

२. वृत्ति, पृ० १८७ : विसण्णे त्ति तिह्वीभूतो पासत्थीभूतो वा, अयं तु पार्वेधिकृतः, पुया—सत्काराभिलाषी वस्त्र-प्राप्तादिभिः पूजनं च इच्छति ।

३. वृत्ति, पत्र १६१ : श्लाघाभिलाषी च व्याकरणगणितज्योतिषनिमित्तशास्त्राध्ययिती कश्चिदिति ।

४. वृत्ति, पृ० १८७ : आहाय कर्त्तव्यकर्म, आधाकर्मैत्यर्थः । अथवा अग्राह्यपि आनि साधुमायाय कीतकदादीनि कियस्ते ताभि आधाकदाणि कर्त्तन्ति ।

५. (क) वृत्ति, पृ० १८७ : अकिं कामयते निकामयते, प्रार्थयतीत्यर्थः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६१ : निकामम्—असंयमः यः प्रार्थयते स निकाममयीत्युच्यते ।

६. वृत्ति, पृ० १८७ : अथवा निमंत्रणादिभिस्तथा जो स निमंत्रणं गेहृति सो 'निकामययी' ।

७. (क) वृत्ति, पृ० १८७ : जी नृप आधाकर्मणीनि निकामाई सरति सुवरट्ति त्ति निगच्छति गवेषतीत्यर्थः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६१ : निकामम्—असंयमः आधाकर्मणीनि तस्मिन्निमित्तं निमंत्रणादीनि वा सरति—सरति तच्छीलस्य ।

होता जाता है ।^१

३२. (इत्थीसु सत्तोपकुब्बमाणी)

इन दोनों शरणों का प्रतिपाद्य है कि मनुष्य में पहले काम की प्रवृत्ति होती है और वह काम की वृत्ति ही परिग्रह के संबन्ध की प्रेरक बनती है । पहले काम और काम के लिए परिग्रह—यह सिद्धान्त फलित होता है ।

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन के २, ३ श्लोक से यह सिद्धान्त फलित होता है कि पहले परिग्रह और परिग्रह के लिए हिंसा । पूरा क्रम इस प्रकार बनता है—पहले काम, काम के लिए परिग्रह और परिग्रह के लिए हिंसा ।

श्लोक ९ :

३३. जन्मान्तरानुयायी वर में गुड हो (वेराणुगिद्धे)

जिन-जिन प्रवृत्तियों से मनुष्य दूसरे को परिनाप देता है, वह उनके साथ वर का अनुबन्ध करता है । वह वर सैकड़ों जन्मों तक उसका पीछा नहीं छोड़ता । व्यक्ति इस प्रकार के वर में गुड हो जाता है, उसका अनुबन्ध करता ही रहता है ।^२

३४. संबन्ध (णिज्जयं)

इसका अर्थ है—पाप-कर्म का संबन्ध ।^३

चूणिकार ने 'आरंभसत्ता णिज्जयं करेति'—यह पद मान कर 'णिज्जयं' का अर्थ—हिरण्य, सुवर्ण आदि द्रव्यों का संबन्ध—किया है । इस द्रव्य संबन्ध से वह व्यक्ति आठ प्रकार के कर्मों का संबन्ध करता है ।^४

३५. विषम और दुःखप्रद स्थान को (दुहमदुगुगं)

इसमें तीन शब्द हैं—दुःख, अर्थ और दुर्ग । इस पद का समुक्त अर्थ है—ऐसे दुःखप्रद स्थान जो यथार्थरूप में विषम हो, दुष्टतर हों ।^५

३६. मेधावी भुनि (मेधावि)

चूणिकार ने इसका अर्थ संपूर्ण समाधि के गुणों को जानने वाला किया है ।^६ वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ और किए हैं—विश्वेकी, भर्मादावान् ।^७

श्लोक १० :

३७. सोचकर बोलने वाला (जिसम्मभासी)

इसका अर्थ है—आगे-पीछे की समीक्षा कर बोलने वाला, सोचकर बोलने वाला ।^८

१. (क) वृत्ति, पृ० १८७, १८८ : पासत्थोत्तण-कुसीलाणं जित्थणानां संयमोद्योगे मागं गच्छेति विधीवति वा, येन ससारे जित्थणो भवत्थसंयम इति तमेवतीति विषण्णेवी, तथा तथा वीणभावं गच्छति गुत्थपटपरिभोगवत्, परिभुज्ज-माणशुक्लपटवद् मलिनोभवत्थसी ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : पारवत्थावसन्नकुसीलानां संयमोद्योगे विषण्णानां विषण्णभावमेवते, सवमुष्ठानविषण्णतया संसारपक्कावसम्मो भवतीति वाचत् ।

२. वृत्ति, पत्र १६२ : येन केन कर्मणा—परोपतायक्येण वरमनुद्वन्द्वते जन्मांतरसतानुयायि भवति तत्र गूढो वेरानुगूढः ।

३. वृत्ति, पत्र १६२ : निज्जयं—द्रव्योपचयं सम्मिन्नितापादितकर्मनिज्जयं वा ।

४. वृत्ति, पृ० १८८ : णिज्जयं करेति, हिरण्य-सुवर्णमादीनिज्जयं । इद्विज्जयवदोत्थेणं अद्विज्जयकम्मणिज्जयं ।

५. वृत्ति, पत्र १६२ : दुःखयतीति दुःखं—नरकावियातनास्थानमर्थतः परमार्थतो 'दुर्गं' विषमं दुष्टतरम् ।

६. वृत्ति पृ० १८८ : सम्पूर्ण समाधिगुणं जानानः ।

७. वृत्ति, पत्र १६२ : मेधावी—विश्वेकी भर्मादावान् वा सम्पूर्णसमाधिगुणं जानानः ।

८. (क) वृत्ति, पृ० १८८ : जिसम्मभासी नाम पूर्वोत्तरसमीक्ष्यभावी ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : 'जिसम्म'—अवगम्य पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य जावको भवेत् ।

३८. हिसाबुक्त कथा न करे (हिसान्वितं वा न कर्तुं करेज्जा)

मुनि हिसाबुक्त कथा न करे अर्थात् ऐसा वाद न करे जो अपने लिए या दूसरे के लिए या दोनों के लिए बाधक हो।

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने हिसान्वित बचन के रूप में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—छाओ, पीओ, मोज करो, मारो, पीटो, छेदो, प्रहार करो, पकाओ आदि।

वास्तव में 'कथा' का अर्थ बचन या भाषण न होकर यहां उसका अर्थ 'वाद' होना चाहिए। स्थानांग सूत्र में कथा के चार प्रकार बतलाए हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी। इनमें 'विक्षेपणी कथा' खंडन-मंडन से सम्बन्धित है। उसके चार प्रकार हैं—

१. स्वमत का प्रतिपादन कर परमत का प्रतिपादन करना।
२. परमत का " " स्वमत का " " ।
३. सम्यक्वाद का " " मिथ्यावाद का " " ।
४. मिथ्यावाद का " " सम्यक्वाद का " " ।

खंडन-मंडन रूप बर्चा के लिए कथा और वाद शब्द प्रचलित रहे हैं। न्याय परंपरा में कथा के तीन भेद किए हैं—वाद, जल्प और वितंडा। जैन परंपरा भी 'वाद' के अर्थ में कथा का प्रयोग स्वीकार करती है। प्रस्तुत श्लोक में 'कथा' शब्द वाद के अर्थ में प्रयुक्त है। मुनि ऐसा 'वाद' न करे जिसमें हिंसा की संभावना हो।

श्लोक ११ :

३९. आध्यात्मिक की (आध्यात्मिक)

आठवें श्लोक में भी 'आध्यात्मिक' आहार का निषेध किया गया है। उसका पुनः निषेध पुनरुक्त जैसा लगता है, किंतु प्रस्तुत श्लोक में इसका पुनः उल्लेख विशेष प्रयोजन से किया गया है।

मुनि घर-घर आहार के लिए घूमता है। निर्दोष आहार की प्राप्ति सुलभ नहीं होती। कुछ उपासक दया के बन्धीभूत होकर मुनि के लिए आहार बना देते हैं। किन्तु निर्दोष आहार की एषणा करने वाला मुनि आहार न मिलने पर भी अपने लिए बनाए आहार की कामना नहीं करता। यह भी एक तपस्या है। वह भूखा रहकर उपवास कर लेता है, पर सदोष आहार ग्रहण नहीं करता। शरीर को धुनने का यह एक उपाय है। इसी प्रसंग में इसका पुनः उल्लेख हुआ है।

४०. प्रशंसा और समर्थन न करे (संबोधेज्ज)

वृत्तिकार का कथन है कि जो मुनि आध्यात्मिक की कामना करते हैं, उनके साथ जाना-जाना, उनके इस कार्य की प्रशंसा करना या उनके साथ परिचय करना—मुनि यह न करे।

वृत्तिकार के अनुसार जो मुनि आध्यात्मिक की कामना करते हैं उनके साथ संपर्क करना, उनको दान देना, उनके साथ रहना, उनसे बातचीत करना—इन सारी प्रवृत्तियों से उनका समर्थन न करे, उनकी प्रशंसा न करे। इसका सारांश है कि उन

१. (क) वृत्ति, पृ० १८८ : हिसया जग्गिता (हिसान्विता)। कथयति इति कथा। कथं हिसान्विता? तस्माद् अज्ञोत विज्ञत आगत मोक्षत हुनत विहुलसं विज्ञत ग्रहरत पचतेति।

(ख) वृत्ति, पृ० १८९।

२. ठाणं ४:२४६ : अट्ठमिहा कथा पण्यता, तं कथा—अक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी।

३. ठाणं ४:२४८ : विक्षेपणी कथा अट्ठमिहा पण्यता, तं कथा—ससमयं कहेइ, असमयं कहेइ परसमयं कहेइ, परसमयं कहेइ तसमयं कथयति, सम्मावायं कहेइ, सम्मावायं कहेइ मिच्छावायं कहेइ, मिच्छावायं कहेइ सम्मावायं कथयति।

४. वृत्ति, पृ० १८८ : वे जीमं (औद्वेगिकम्) कामयस्ति न ती: वारहस्पादिविराममजममादि तत्प्रशंसादि संस्सवं थ कुपात्तुं।

मुनिवों के साथ परिचय न करे ।'

संस्तव के मुख्य रूप से दो अर्थ होते हैं—स्तुति और परिचय । संस्तव दो प्रकार का होता है—संवास संस्तव और जवन संस्तव अथवा पूर्वं संस्तव और पश्चात् संस्तव ।

विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तराध्यायन १५।१ का टिप्पण ।

४१. स्थूल शरीर की (उरालं)

ब्रूतिकार ने इसका अर्थ औदारिक शरीर किया है ।' ब्रूतिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. औदारिक शरीर ।

२. अनेक भवों में संचित-कर्म ।

४२. अपेक्षा न रखता हुआ (अणवेक्षमाणे)

मुनि यह न सोचे कि तपस्या के द्वारा मैं दुबल हो जाऊंगा, मेरा शरीर कुश हो जाएगा, इसलिए मुझे तपस्या नहीं करनी चाहिए । मैं दुबल हूँ, मैं तपस्या कैसे कर सकता हूँ ? मुनि इस प्रकार न सोचे । वह शरीर को याचित उपकरण की भाँति मानकर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करे । उसे तपस्या के द्वारा धुन डाले ।'

जैन आगमों में शरीर को धुनने की बात बहुत बार कही गई है । इसका प्रयोजन यह है कि शरीर को धुनने की प्रवृत्ति से कर्म भी धुने जाते हैं, उनका भी अपनयन होता है । कर्मों का अपनयन ऊर्ध्वारोहण का उपक्रम है ।

४३. स्रोत को (सोयं)

इसका अर्थ है—स्रोत । गृह, कलत्र, धन तथा प्राणान्निपात आदि आश्रय—ये सारे असमाधि के स्रोत हैं ।'

श्लोक १२ :

४४. एकत्व (अकेकेपन) की (एगत्वं)

एकत्व का अर्थ है—अकेलापन । साधक यह सोचे कि न मैं किसी का हूँ और न मेरा कोई है ।'

एकतो मे सासजो अप्पा नाय-बंसजसंयुतो ।

सेसा मे बाहिरा नाया सप्पे संजोगलक्खणा ॥'

—ज्ञान और वर्जन से संयुक्त शारवत आत्मा ही मेरा अपना है, शेष संयोग (वियोग) लक्षण वाले सारे पदार्थ पराए हैं, बाह्यभाव हैं ।

ब्रूतिकार ने एकत्व का अर्थ—असहायत्व किया है । मुनि यह सोचे कि यह संसार जन्म, मरण, जरा, रोग और शोक से

१. ब्रूति, पत्र १६३ : तत्ताविद्याहारादिकं च 'निकामयतः'—निश्चयेनाभिलषतः पार्श्वस्थाद्विस्तृतसम्पत्कंदानप्रतिग्रहसंवाससम्भावनाविधिः न संस्थापयेत्—नोपबृंहयेत् तैर्वा सार्धं संस्तवं न कुर्यादिति ।

२. ब्रूति, पृ० १८८ : उरालं नाम औदारिकशरीरं ।

३. ब्रूति, पत्र १६३ : 'उरालं ति औदारिकं शरीरं'.....अथ वा 'उरालं' ति बहुवचनान्तरसंज्ञितं कर्म ।

४. (क) ब्रूति, पृ० १८८ : अनवेक्षमाण इति नाहं दुर्बल इति कृत्वा तपो न कर्तव्यम्, दुर्बलो वा अविष्यामीति, याचितीपस्कारमिव व्यापारयेदिति, तन्निमित्तमेवां अनवेक्षमाणः ।

(ख) ब्रूति, पत्र १६३ : तस्मिन् तपसा धूयमाने कुर्यादिति शरीरके कदाचित् शोकः स्यात् तं त्यक्त्वा याचितीपकरणबहुप्रेक्ष-
माणः शरीरकं धुनीयादिति सम्बन्धः ।

५. ब्रूति, पृ० १८८ : अतर्भावो भवतीति स्रोतः, तद्वि गृह-कलत्र-समाधि, प्राणान्निपातादीनि वा स्रोतास्ति ।

६. ब्रूति, पृ० १८८ : एकभाव एकत्वम्, बाह्यं कस्यचिद् भवामि न कश्चिदिति ।

७. संस्कारक टीका, पान्था ११ ।

आकुल-व्याकुल है। अपने कर्मों का फल भोगने वाले प्राणियों को यहां कोई भी त्राण नहीं दे सकता, उनकी सहायता नहीं कर सकता। इस संसार में सब असहाय हैं।'

४५. एकत्व मोक्ष है (एतं प्रमोक्षे)

एकत्व की साधना से मोक्ष से प्राप्ति होती है। यहां कारण ने कार्योपचार कर एकत्व को ही मोक्ष कह दिया गया है।

चूणिकार ने विकल्प में 'एतं' से ज्ञान आदि समाधि को ग्रहण किया है।'

४६. सत्यरत (सत्त्वरत)

चूणिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—

१. सत्य में रत।

२. संयम में रत।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे-चौथे चरण की व्याख्या में वृत्तिकार ने दो विकल्प प्रस्तुत किए हैं—

१. एकत्व भावना का अभिप्राय ही प्रमोक्ष है, सत्य है, प्रधान है, अक्रोधन है, सत्यरत है और तपस्यायुक्त है।

२ जो व्यक्ति तपस्वी है, अक्रोधन है, सत्यरत है, वही प्रमोक्ष है, सत्य है और प्रधान है।

श्लोक १३ :

४७. ताना (उच्चावएसु)

इसमें दो शब्द हैं—उच्च और अवच। चूणिकार और वृत्तिकार ने इसका संयुक्त अर्थ अनेक प्रकार का—किया है। वैकल्पिक रूप में उच्च का अर्थ है—उत्कृष्ट और अवच का अर्थ है—जघन्य।'

४८. मध्यस्थ (ताई)

हमने इसका संस्कृत रूप 'तादृग्' किया है। वृत्तिकार ने इसका रूप 'त्रायी' देकर इसका अर्थ त्राणभूत किया है।' चूणिकार ने इसके स्थान पर 'ताया' शब्द मानकर त्राता अर्थ किया है।'

तादृग् का अर्थ है—वैसा, ऐसा व्यक्ति जो विशेष प्रकार का आचरण करता है। इसी आधार पर हमने इसका अर्थ—समान रूप से बरतने वाला, मध्यस्थ रहने वाला किया है।

इसका संस्कृत रूप 'तायी' भी किया जाता है। विशेष विवरण के लिए देखें—वसुदेवाश्रित्य ३।१ का टिप्पण।

१ वृत्ति, पत्र १६३ : एकत्वम्—असहायस्त्वमभिप्रायेणैव—एकत्वाध्यवसायो स्यात् तथाहि—जन्ममरामरणरोगशोकाकुले संसारे स्वकृतकर्मणा विमुष्यमानानामनुमता न करिष्यन्नाणसमर्थः—सहायः स्यात्।

२. चूणि, पृ० १८६ : अं खैव एतं एकत्वं एतं खैव प्रमोक्षो, कारणे कार्योपचारादेव एव मोक्षः, मृत मोक्षो प्रमोक्षो, सत्यश्चायम्। अवचा तानाद्वितयाप्रमोक्षम्।

३. चूणि, पृ० १८६ : सत्यो नाम संयमो जगन्मृतं वा, सत्ये रतः सत्यरतः।

४. वृत्ति, पत्र १६३।

५. (क) चूणि, पृ० १८६ : उच्चावएसु उच्चावचा हि अनेकप्रकाराः उच्चावचः, अवचा उच्चा इति उत्कृष्टा, अवचा जघन्याः, शेषा मध्यमाः।

(ख) वृत्ति, पत्र १६३ : उच्चावचेषु—तानावचेषु विचयेषु यदि मोक्षो—उत्कृष्टा अवचा—जघन्याः।

६. वृत्ति, पत्र १६३ : 'त्रायी' अपरेण वा त्राणभूतः।

७. चूणि, पृ० १८६ : मध्यस्थ इति ताना।

४२. सेवन करने वाला (संसर्ग)

इसका संस्कृतरूप है—संश्रयन् । इसका अर्थ है—सेवन करता हुआ ।

५०. (य संसर्ग भिक्षु समाधिपते)

इस पद का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है—

१. विषयो का सेवन न करने वाला भिक्षु समाधि को प्राप्त होता है ।
२. समाधि-प्राप्त भिक्षु नानारूप विषयो का सेवन नहीं करता ।

श्लोक १४ :

५१. अरति और रति को (अरति रति)

अरति और रति सापेक्ष शब्द हैं । संयम में रमण न करना अरति और असंयम में रमण करना रति है । अठारह पापों में यह एक पाप है, इसलिए इस पर विजय पाना मुनि के लिए अपेक्षित है ।

५२. तुण्य आदि के स्पर्श (तणादिकासं)

भूणिकार ने तुण्यस्पर्श से काष्ठ-संस्तारक, इक्कड नामक घास तथा समाधिमरण में प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री का ग्रहण किया है ।

वृत्तिकार ने आदि शब्द से ऊँची-नीची भूमि का ग्रहण किया है ।

५३. सुगन्ध और दुर्गन्ध में (सुगन्ध च दुग्न्ध च)

सुरभि का अर्थ है—सुगन्ध और दुग्न्ध का अर्थ है—दुर्गन्ध । सुरभि से इष्ट-विषयो का और दुग्न्ध से अनिष्ट विषयो का ग्रहण किया गया है ।

श्लोक १५ :

५४. वाणी से संयत (गुप्ते वदए)

भूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) मौनी (२) सततवाची । इस पद का तात्पर्य यह है कि जो मुनि मौन ब्रती है या आवश्यकतावश सतत वाणी का प्रयोग करता है वह समाधि को प्राप्त होता है ।

वृत्तिकार ने भी इसके दो अर्थ किए हैं—(१) जो वाणी में या वाणी से संयत है अर्थात् मौनब्रती है (२) जो विचारपूर्वक केवल धर्म संबंधी बात करता है ।

किन्तु इसका मूल अर्थ ही मौन ही होना चाहिए ।

१. (क) भूणि, पृ० १८६ : 'वि सेवयाम्' न संश्रयमान असंश्रयमान ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६४ : संश्रयतीत्यर्थः ।

२. वृत्ति, पत्र १६१, १६४ ।

३. भूणि, पृ० १८६ : तणादिकासं ति, तणादासागहणेण कटुसंसारग-इक्कडं य समाधिसमाप्नो गहिषामो ।

४. वृत्ति, पत्र १६४ : तणादिकान् स्पर्शमाविग्रहणाभिन्नोन्मत्तप्रवेशास्पृशच्च ।

५. भूणि, पृ० १८६ : सुगन्ध-दुग्न्धगहणेण इह्वा-ऽणिद्विसया गहिता ।

६. भूणि, पृ० १८६ : मौनी वा समिते वा भावते, भावसमाधिपते भवति ।

७. वृत्ति, पत्र १६४ : वदति वाचा वा वागुत्तो —मौनव्रती सुवर्णसोचितधर्मसम्बन्धवाची वा ।

५३. विबुद्ध लेश्या के साथ (लेसं समाहृद्)

उन परंपरा में छह लेश्याएं मान्य हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल । इनमें प्रथम तीन अशुभ हैं और शेष तीन शुभ । मुनि अशुभ लेश्याओं का परिहार कर शुभ लेश्याओं को स्वीकार करे ।

समाहृत्य का अर्थ है—स्वीकार करके ।

५६. गृहस्थों के साथ एक स्थान में न रहे (सम्मिस्तिमात्रं पजहे पजासु)

भूषिकार ने सम्मिस्तीभाव के तीन अर्थ किए हैं—

- (१) (स्त्रियों या गृहस्थों के साथ) एक स्थान में रहना ।
- (२) उनके साथ जाने आने रूप परिचय करना ।
- (३) उनके साथ स्नेह करना ।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

- (१) पचन-पाचन आदि गृहस्थोचित प्रवृत्ति करना ।
- (२) स्त्रियों के साथ मेल-मिलाप करना ।

प्रजा शब्द के दो अर्थ हैं—स्त्री अथवा गृहस्थ ।

इसलोक १६ :

५७. अक्रियात्मवादी (अकिरियाता)

भूषिकार इस प्रसंग में किसी दर्शन-विशेष का उल्लेख नहीं करते । वे केवल इतना ही उल्लेख करते हैं कि जो अज्ञोभन क्रियावादी है या जिनके दर्शन में आत्मा को अक्रिय माना है, वे निश्चित ही अक्रियात्मवादी हैं ।

जो दर्शन आत्मा को अक्रिय मानता है वह अक्रियात्मवादी है । वृत्तिकार ने सांख्य दर्शन को अक्रियात्मवादी माना है । सांख्य आत्मा को सर्वव्यापी और निष्क्रिय मानते हैं । 'अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शने'—कपिल (सांख्य के पुरस्कर्ता) के दर्शन में आत्मा अकर्ता, निर्गुण और भोक्ता है । वे मानते हैं कि आत्मा अमूर्त है, सर्वव्यापी है, इसीलिए वह अकर्ता है ।

५८. धृत (धुतं)

भूषिकार ने 'धृत' का अर्थ वैराग्य और वृत्तिकार ने मोक्ष किया है । 'धृत' समाधि की साधना पद्धति है । बौद्धों में तेरह धृत प्रतिपादित हैं—पाशुकूलिकांग, त्रैलोक्यविराजिकांग आदि आदि । ये सारे धृतांग क्लेशों को क्षीण करने में सहायक होते हैं । 'धृत' का सांख्यिक अर्थ है—धुन डालना । इसका पारिभाषिक अर्थ है—क्लेशों को धुन डालने की पद्धति । बौद्ध साधना पद्धति में इन धृतांगों का

१. (क) भूषि, पृ० १८६ : तिष्ठि (अपसत्वालो) लेस्साओ अवहृद् तिष्ठि पसत्पाओ उपहृद् ।

(ख) वृत्ति, पृ० १८४ : शब्दा 'लेर्या' —तेजस्याविका 'समाहृत्य'—उपावाय अशब्दां च कृष्णाविकामयहृत्य ।

२. भूषि, पृ० १८६ : प्रजा गृहस्थाः तैः सम्मिस्तीमात्रं पजहे । सम्मिस्तीमात्रो नाम एततो वासः आगम्य-गमणादसंभवो स्नेहो वा ।

३. वृत्ति, पृ० १८४ : पचनपाचनाविका कियं कुर्वन् कारयन् च गृहस्थैः सम्मिस्तीमात्रं भजते, यदि वा—प्रजा-स्त्रियस्तासु ताभिर्वा यः सम्मिस्तीमात्रः ।

४. (क) भूषि, पृ० १८६ : प्रजायन्तः प्रजाः स्त्रियः अथवा..... प्रजा गृहस्थाः ।

(ख) वृत्ति, पृ० १८४ ।

५. भूषि, पृ० १८० : जज्ञोभनक्रियावादिनः वारतस्या क्रियावादिनः अक्रियाता, अक्रियो वाऽऽत्मा येषां (ते) निश्चितमेव अक्रियात्मानः ।

६. वृत्ति, पृ० १८४ : ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा गेहामन्युपगमे तेऽक्रियात्मानः—सांख्यारः, तेषां हि सर्वव्यापित्वावात्मा निष्क्रियः पश्यते.....

७. भूषि, पृ० १८० : धृतं नाम वैराग्यम् ।

८. वृत्ति, पृ० १८२ : धृतं मोक्षम् ।

विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इनके ग्रहण की विधि, इनके भेद-प्रभेद, गुण आदि का विस्तार से कथन किया गया है।^१

आचारंग के छठे अध्याय का नाम 'धृत' है। वहाँ दश धृतों का निर्वचन है—

१. स्वजन परिस्थान धृत ।
२. कर्म परिस्थान धृत ।
३. उपकरण परिस्थान धृत ।
४. शरीरलाभन धृत ।
५. संयम धृत ।
६. विमय धृत ।
७. शौरव-स्थान धृत ।
८. तितिक्षा धृत ।
९. धर्मोपदेश धृत ।
१०. कषायपरिस्थान धृत ।

चूर्णिकार ने शाक्यों के नाम से बारह धृतगुणों का उल्लेख मात्र किया है^२, जबकि विशुद्धिमग में तेरह धृतों का उल्लेख है।

श्लोक १७ :

५६. छन्द (अभिप्राय) नामा प्रकार के (पुढो छंदा)

'पुढो' का अर्थ है—अनेक प्रकार के और 'छंदा' का अर्थ है—अभिप्राय। संसार में मनुष्यों के अभिप्राय अनेक प्रकार के होते हैं। अनेक प्रकार के मतवाद उन्हीं के परिणाम हैं।^३

६०. नामाचार्य (पुढोचार्य)

इसमें दो शब्द हैं—पुढो—पृथग् और चार्य—चार या मत। चूर्णिकार ने 'पुढो' और 'उचार्य'—ये दो शब्द मानकर 'उचार्य' के दो अर्थ किए हैं। एक अर्थ है—ग्रहण करना और दूसरा है—दृष्टि।

इसी प्रसंग में उन्होंने नामा प्रकार की दृष्टियों (वादों) का उल्लेख किया है।

कुछ आत्मवादी हैं, कुछ अनात्मवादी हैं। कुछ आत्मा को सर्वगत मानते हैं। कुछ आत्मा को नित्य और कुछ अनित्य, कुछ कर्त्ता और कुछ अकर्त्ता, कुछ मूर्त्त और कुछ अमूर्त्त, कुछ क्रियावान् और कुछ निष्क्रिय मानते हैं। कुछ सुखवाद में विश्वास करते हैं और कुछ दुःखवाद में। कुछ शौचवादी हैं और कुछ अशौचवादी, कुछ हिंसा से मोक्षप्राप्ति मानते हैं और कुछ स्वर्ग मानते हैं।

इतना ही नहीं, एक ही अनुशास्ता को मानने वाले व्यक्तियों में भी भिन्न-भिन्न मत होते हैं। कुछ (बौद्ध) शून्यवाद की प्रज्ञापना करते हैं और कुछ अनिर्वचनीयवाद का प्रतिपादन करते हैं, जैसे पुद्गल है, मैं नहीं कर सकता कि पुद्गल नहीं है। जो मैं कहता हूँ, वह मैं कह सकता हूँ—यह भी अनिर्वचनीय है। अवचनीय अवचनीय ही है, केवल स्कन्ध मात्र ही है।

वैशेषिक मतानुयायी जो तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनमें भी कुछ दश तत्त्व मानते हैं।

सांख्य इन्द्रियों को सर्वगत मानते हैं।

१. विशुद्धिमग, भाग १, पृ० ६०-८०।

२. आचार्य, पृ० २३२-२६२।

३. चूर्णिकार, पृ० १६० : यथा शाक्या इत्येव धृतगुणान् ब्रुवते।

४. चूर्णिकार, पृ० १६० : पुथक् पुथक् नामाः, नामाचार्या इत्यर्थः।

इस प्रकार विश्व में अनेक दृष्टियाँ प्रचलित हैं ।^१

६१. (जातस्तु बालस्तु ...)

इन दो चरणों का अर्थ है—नवोत्पन्न शिशु का शरीर जैसे बढ़ता है वैसे ही असंयमी मनुष्य का वर बढ़ता है। यह अर्थ भूषि द्वारा सम्मत है।^२ वृत्तिकार का अर्थ इससे सर्वथा भिन्न है। यह इस प्रकार है—तत्काल उत्पन्न बच्चे के देह के टुकड़े-टुकड़े कर (अपने लिए) सुख उत्पन्न करते हैं।^३ इस प्रकार परोपचात करने वाले उन असंयमी व्यक्तियों का (जन्म-जन्मान्तर तक चलने वाला) वर बढ़ता है।^४

वृत्तिकार का यह अर्थ संमत नहीं लगता। चौथे चरण में वर के बढ़ने का कथन है और तीसरे चरण में उपमा से उस वृद्धि को समझाया है। बच्चे को मारने की बात यहाँ प्रसंगोपात्त नहीं है।

यहाँ वर का अर्थ कर्म है। वर से उत्पन्न होता है उसे भी वर ही कहा जाता है। जैसे वर वरियों के लिए दुःखदायी होता है वैसे ही कर्म भी दुःखदायी होता है। जैसे बच्चे का शरीर जन्म काल से निरन्तर बढ़ता है, वैसे ही अविरत मनुष्य के निरन्तर कर्म वृद्धि होती है। अविरत मनुष्य यद्यपि आकाश में निश्चल खड़ा हो जाता है, फिर भी उसके कर्म का वध होता रहता है।^५

यह अर्थ-शेद 'पकुष्व' शब्द के कारण हुआ हो ऐसा लगता है। भूषिकार ने इसका अर्थ—विशेषरूप से बढ़ता हुआ, समय के साथ-साथ बढ़ता हुआ, (प्रकर्षण कुर्वन्—अनुसामयिकी वृद्धि) किया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ—खंड-खंड करके (खण्डशः कृत्वा) किया है। यह अर्थ 'पकिष्व' शब्द का हो सकता है, किन्तु यह शब्द यहाँ प्रयुक्त नहीं है।

अतः भूषिकार द्वारा सम्मत अर्थ ही उपयुक्त लगता है।

गर्भ में उत्पन्न होते ही बालक की वृद्धि प्रारंभ हो जाती है। जब वह गर्भ से बाहर आता है, वहाँ से प्रारम्भ कर जब तक वह पूर्ण प्रमाप्नोपेत नहीं हो जाता तब तक बढ़ता जाता है। शरीर वृद्धि के चार कारण हैं—

१. काल।
२. क्षेत्र।
३. बाह्य उपकरण—भोजन, रसायन-सेवन आदि।
४. आत्म-सान्निध्य—आन्तरिक योग्यता।

यह भूषिकार का अभिमत है।^६

१. भूषि, पु० ११० : पुडोर्वायं उपावीर्यत इति उपादाः प्रहा इत्यर्थः अथवा उपादा वृद्धिः। तद्यथा—केवाञ्चिद्व्याप्त्याऽस्ति केवाञ्चिद्व्याप्ता-स्ति, एवं सर्वगतः सित्यः अमित्यः कर्त्ता अकर्त्ता सूर्यः असूर्यः कियान् मिच्छित्यो वा, तथा केचित् युजेन धनं-मिच्छन्ति केचित् दुःकेन, केचित् शीघ्रेण केचिदल्पेण, केचिद्वारम्भेण, केचिन्मिथ्येयसमिच्छन्ति, केचिदधुवय-मिच्छन्ति। एकस्मिन्मयि सावज्ज्ञास्तरि अन्येऽप्यथा प्रज्ञायमिति, तद्यथा—गुण्यता, अत्यि योग्यते, ओ ज्ञामि अत्यि ति योग्यते, अं वि ज्ञामि तं वि ज्ञामीत्यवचनीयम्, अवचनीयं एव अवचनीयः, एकान्त्रमात्रमिति। वंसे-विकानामपि-अप्येषा न (?) इत्यादि सर्वे, अन्येषा वरा वरोच। सांख्यानामपि—अप्येषा इन्द्रियाणि सर्वगतानि।

२. भूषि, पु० ११० : यथा तस्य (जातस्तु) अनुसामयिकी शरीरवृद्धिः।

३. भूषि, पृ० ११५ : 'जातस्तु'—उत्पन्नस्तु, 'बालस्तु'—अल्पस्तु, तद्वत्तद्विकल्पिकतस्तु सुखेविनो 'देह'—शरीर 'पकुष्व' ति खण्डशः कृत्वाऽज्ययः सुखसुखाद्यमिति, तदेवं परोपचातकियां कुर्वतोऽन्तर्गतस्य कुतोऽप्यनिवृत्तस्य जन्मान्तरसत्तावृद्धि वरं परस्पररोपसर्वकारि प्रकर्षेण वर्धते।

४. भूषि, पु० ११० : वरं प्रवर्द्धते कर्म, वेदावकाशं वरम्, यथा वरं दुःखोत्पादकं वरिणा एवं कर्माणि। यद्यप्याकाशे निश्चल उपतिष्ठते-अविरतस्तथाऽप्यस्य कर्म कथ्यत एव।

५. भूषि, पु० ११० : मिथेकात् प्रभुतिरारम्भ शरीरवृद्धिर्भवति, यद्यप्य समीक्षितः सुतः, आवात्माप्य प्रवर्द्धते यावत् प्रमाप्नोपेतो जातः। शरीरवृद्धिरित्यु कालक्षेत्र-बाह्योपकरण-आत्मसान्निध्यावसा।

श्लोक १८ :

६२. आमु के अय को (आउकसय)

हिंसा आदि में प्रवृत्त मनुष्य अपने आयुष्य के अय को नहीं जानता क्योंकि उन प्रवृत्तियों के प्रति उसका ममत्व होता है।

एक तालाब है। उसमें बहुत सारी मछलियाँ हैं। तालाब की पाल टूट जाती है। पानी बाहर बहने लगता है। धीरे-धीरे तालाब खाली होता जाता है। जब की क्षीणता के साथ-साथ आयुष्य भी क्षीण हो रहा है—यह बात मछलियाँ नहीं जानती।

एक बनिया था। उसने बहुत परिश्रम कर भूतयवान् रत्न प्राप्त किए। वह उन रत्नों को लेकर चला। रात गई। वह उज्जैनी नगरी के बाहर आकर रुका और रात भर वह सोचता रहा कि रत्नों को सुरक्षित कैसे ले जाया जाए। कहीं राजा, चोर या धाई-बन्धु इन्हें न ले लें—इसी चिन्ता में सारी रात बीत गई। किन्तु रात्री के बीतने को वह नहीं जान सका। सूर्योदय हो गया। उसे राजपुरुषों ने देखा। उसके सारे रत्न ले लिए। रत्नों को वे वह खाली हाथ घर लौटा।

६३. ममत्वशील (ममाई)

यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, भाई है 'यह मेरा है, मैं इसका हूँ'—इस प्रकार ममत्व करने वाला 'ममायी' होता है।

६४. सहसा (बिना सोचे समझे) काम करने वाला (साहसकारि)

इसका अर्थ है—बिना सोचे—समझे आवेश में कार्य करने वाला। वर्तमान में इस शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हुआ है। आज इसका अर्थ शक्तिशाली-संकल्पवान् समझा जाता है।

भूगिकार ने 'सहस्र' पाठ का अर्थ हिंसा आदि किया है। यहाँ छन्द की दृष्टि से ह्रस्व का प्रयोग है।

वेत्ते—वसवेआलियं १।३।२२ का टिप्पण।

६५. विचर्यो से पीड़ित (अहृ)

जिस व्यक्ति के मन में धन की आकांक्षा बनी रहती है वह सदा सोचता रहता है—यह व्यापारियों का सार्य (सधवाडा) कब निकलेगा? इसके साथ कौनसा मास है? यह कितनी दूर जाएगा? वह धन को सुरक्षित रखने के लिए कभी ऊँचे स्थान को खोदता है, कभी भूमि को खोदता है, कभी किसी को मारता है। वह न रात को सो पाता है और न दिन में निश्चिन्त रहता है। धन के चले जाने की शंका उसमें सदा बनी रहती है।

१. भूति, पृ० १२० : स एवं हिंसाधिकर्मसु प(स)कमानः कामक्षेपतुचितः क्षिण्णममत्वस्यवदुदकपरिक्षये आयुषः अयं न कुप्यते।

२. (क) भूति, पृ० १२० : उक्तेभ्यः आक्षिप्यो रथानि कथं पवेत्सस्तामि ? ति इजनिअयं न कुप्यते स्म, अतो व्यपतया पावदु-
क्षिते सवितरि रात्रा गृहीतः।

(ख) भूति, पृ० १२५ : कश्चिद्विणिग्महता क्लेशेन महार्षानि रत्नानि समासाद्योज्ज्वलित्या बहिरावासितः, स च राजपौरवाचा-
भयात्रासौ रत्नान्येकमेवं च प्रवेशयिष्यामीत्येवं पर्वालोकनाकुलो रजनीकर्म न ज्ञातवान्, अहृम्येव रत्नानि
प्रवेशयन् राजपुरुषं रत्नेभ्यश्च्यवावित इति।

३. (क) भूति, पृष्ठ १२० : ममाइ ति ममाई, लक्षणा—मे माता मम पिता मम आतेत्यादि।

(ख) भूति, पृष्ठ १२५ : 'ममाइ' ति ममत्ववान् इयं मे अहमस्य स्वामीत्येवम्।

४. भूति, पृ० १२० : सहस्सां हिंसावीनि।

५. भूति, पृष्ठ १२५ : तदेवमार्तव्यामोपहतः 'कइया वकइ सत्तो ? कि संडं कत्थ कलिया भूमो' त्यादि, तथा 'उक्ताजइ कमाइ मिह-
यइ रति न सुपइ विवावि य सत्तंको' इत्यादि विसंतपनेणात् सुष्ठु सुदोऽजरामरवज्जिह्वद्वरामरववात्मानं कथ-
कामोपगतमुवाचममसाधोभूतिममारम्भे प्रवर्तते इति।

६६. (परितप्यमानो—अजरामरवत्)

बहु मनुष्य अजर-अमर की भांति आचरण करता हुआ दिन-रात संतप्त होता है। अमर्य बनिए की भांति वह धन की कामना से सतत संतप्त रहता हुआ शरीर, मन और वाणी को भी क्लेश देता है।

‘अजरामरवत् वाकः क्लेशयते धनकाम्यया ।

शाश्वतं जीवितं चेन्न, मर्यमानो धनानि च ॥

बहु अज्ञानी मनुष्य जीवन और धन को शाश्वत मानता है और अपने आपको अजर और अमर मानकर धन की कामना से क्लेश पाता है।^१

श्लोक २० :

६७. छोटे पशु (क्षुद्रमृगा)

मृग पद के दो अर्थ हो सकते हैं—पशु और हरिण।

वृत्तिकार ने क्षुद्र शब्द के द्वारा व्याघ्र, भेड़िया और चीता का और ‘मृग’ शब्द से विभिन्न जाति वाले हरिणों का ग्रहण किया है। वैकल्पिक रूप में उन्होंने क्षुद्रमृग को समस्त शब्द मान कर उसका अर्थ हरिण किया है।^२

वृत्तिकार ने हरिण आदि छोटे-छोटे जंगली पशुओं को ‘क्षुद्रमृग माना है।^३

६८. डरकर (परिसंकमाणा)

जंगल में मृग आदि छोटे पशु दूर-दूर तक चरते रहते हैं। बाघ के द्वारा प्रकंपित होने वाले तुणों को देखकर वे सिंह की आशंका कर आकुल-व्याकुल हो जाते हैं। वे सदा भय की स्थिति में रहते हैं और संशंकित जीवन बिताते हैं।^४

६९. दूर रहते हैं (दूरे चरंती)

जंगल में मृग आदि छोटे पशु सिंह, व्याघ्र आदि से डर कर दूर-दूर चरते हैं। सिंह आदि उनको देख भी न पाएँ, उनकी गंध भी न ले पाएँ, इस प्रकार वे दूर-दूर रहते हैं। अथवा वे उस क्षेत्र का परित्याग भी कर देते हैं।^५

श्लोक २१ :

७०. समाधि को जानकर (संबुद्धमानो)

इसका अर्थ है—समाधि-धर्म को जानता हुआ।^६ वृत्तिकार ने इसका तात्पर्य यह माना है—मुनि श्रुत-चारित्र्यरूप धर्म या भाव-समाधि को समझकर, शास्त्र-विहित अनुष्ठान में प्रवृत्ति करता हुआ।^७

७१. दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं (हिंसप्यसृताणि कुहाणि)

‘दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं,’ इसका तात्पर्य है कि हिंसा आदि की प्रवृत्ति से पाप कर्म का बंध होता है और उसके विपाक

१. वृत्ति, पृष्ठ १६५ : इत्यादीं परितप्यमानो मर्यमर्यवन्निवृत्तव्यायो कायेनापि क्लेशयते, तथा चोक्तम्—‘अजरामरवत्वात् : ...’ ।

२. वृत्ति, पृष्ठ १६१ : क्षुद्राः मृगाः क्षुद्रमृगाः व्याघ्र-वृक-हृषिकादयः, मृगा रोहितादयश्च । अथवा स एव क्षुद्रमृगः ।

३. वृत्ति, पृष्ठ १६६ : क्षुद्रमृगाः—क्षुद्रादव्ययस्यो हरिणजात्याद्याः ।

४. (क) वृत्ति, पृष्ठ १६१ : अपि वातकम्पितेभ्यस्तुभ्योऽपि सिंहव्याहृष्टिमाचरन्ति ।

(ख) वृत्ति, पृष्ठ १६६ ।

५. वृत्ति पृष्ठ १६१ : दूरेवेति अयमन्तेनायमन्तेन वा तद्वैसपरित्यागेन च ।

६. वृत्ति, पृष्ठ १६१ : किं संबुद्धमानो ? समाधिधर्मः ।

७. वृत्ति, पृष्ठ १६६ : सम्प्रश्रुतचारित्र्यस्यैव धर्मं भावसमाधिं वा बुध्यमानस्तु विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वन्ति ।

स्वरूप प्राणी जन्म, जरा, मरण, अग्रियसंवास आदि के दुःखों को भोगता है, मरक आदि भातना-स्थानों में जाता है।^१ 'हिंसा' शब्द केवल एक संकेत मात्र है। इससे समस्त साधन योग का ग्रहण किया गया है।

चूर्णिकार ने इस श्लोक का जोया चरण—'जेव्वाणमूते व परिव्वएज्जा' माना है। वृत्तिकार ने इसे पाठान्तर के रूप में स्वीकार किया है। इसका अर्थ है—जैसे मुक्त आत्मा अव्याबाध सुख में स्थित होता है, निर्वाण होने के कारण वह किसी का उपपात नहीं करता, वैसे ही निर्वाण की साधना करने वाला मुनि जो अभी तक निर्वृत नहीं हुआ है, वह निर्वृत की तरह परिब्रजन करे।^२

७२. अपने आपको पाप से बचाए (पावाओ अप्पाण णिवट्टएज्जा)

जो मुनि शास्त्रविहित अनुष्ठान में प्रवृत्ति करने वाला है वह सबसे पहले निषिद्ध आचरणों से निवर्तित हो, क्योंकि कारण के नाश से ही कार्य का नाश होता है। जब तक कारण का संपूर्ण नाश नहीं होता तब तक कार्य से छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः जो मुनि समस्त कर्मों के क्षय की कामना करता है उसको सबसे पहले आसवों का निरोध करना होता है।^३

श्लोक २२ :

७३. आत्मगामी मुनि (अत्तगामी)

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—आत्मगामी और आप्तगामी। वृत्तिकार ने दोनों रूपों के आधार पर इसके तीन अर्थ किए हैं—^४

१. आप्त का एक अर्थ है—मोक्ष-मार्ग। मोक्ष-मार्ग की ओर जाने वाला आप्तगामी होता है।
२. आप्त का दूसरा अर्थ है—सर्वज्ञ। सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने वाला आप्तगामी होता है।
३. आत्मा का हित करने वाला, अपना हित करने वाला।

चूर्णिकार ने इस पद के स्थान पर 'अत्तकामी' पद मान कर इसका अर्थ आत्मनिःश्रेयस् की कामना करने वाला किया है।^५

७४. यह सत्य निर्वाण और संपूर्ण समाधि है (णिज्वाणमेयं कसिणं समाहिं)

चूर्णिकार ने 'णिज्वाणमेव' पाठ मान कर व्याख्या की है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—'इस प्रकार निर्वाण पूर्ण समाधि है।' स्नान-पान आदि जितने भी सांसारिक निर्वाण है वे सब अपूर्ण हैं, इसलिए वे अनैकान्तिक और अनात्मन्तिक हैं। केवल निर्वाण ही ऐकान्तिक और आत्मन्तिक है।^६

१. (क) चूर्ण, पृ० १२१ : हिंसप्यसूतानि दुहाणि मत्ता, हिंसातः प्रसूतानि हिंसापसूतानि जाति-जरा-मरणा-अग्रियसंवासादीनि नरकादि-दुःखानि च अद्विष्टकस्मोदधनिष्कण्णानि।

(ख) वृत्ति, पत्र १२६ : हिंसा-प्राणिष्वपरोपणं तथा ततो वा प्रसूतानि—जातानि यान्यशुभानि कर्माणि तान्यस्यन्तं नरकादिषु यातना-स्थानेषु दुःखानि—दुःखोत्पादकानि वर्तन्ते।

२. (क) चूर्ण, पृ० १२१।

(ख) वृत्ति, पत्र १२६।

३. वृत्ति, पत्र १२६। विहितानुष्ठाने प्रवृत्ति कुर्वाणस्तु पूर्वं तावन्निषिद्धाचरणान्मिबर्तेत अतस्तत् ब्रूम्यति—'पापात्'—हिंसानृतादि-कृपात् कर्मण आत्मानं मिबर्तयेत्, निदानोच्छेदेन हि निदानि च उच्छेदो भवतीत्यतोऽशेषकर्मक्षयमिच्छन्मात्रादेव आश्रयद्वाराणि निरुध्यात्।

४. वृत्ति, पत्र १२६ : आप्तो—मोक्षमार्गस्तद्गामी—तद्गमनशील आरम्भितगामी वा आप्तो वा प्रकीणदोषः सर्वज्ञस्तदुपविष्टमान-गामी।

५. चूर्ण, पृ० १२२ : (अत्तकामी) आत्मनिःश्रेयसकामी।

६. चूर्ण, पृ० १२२ : एवं निर्वाण समाधिर्भवति कसिण इति सम्पूर्णः, सांसारिकानि हि यानि कानिचित् स्नान-पानादीनि निर्वाणानि तान्यसम्पूर्णत्वाद् नैकान्तिकानि नात्मन्तिकानि च।

हमारे निर्धारित पाठ के अनुसार इसका अर्थ है—सत्य निर्वाण है और संपूर्ण समाधि है ।

वृत्तिकार ने मृषावादवर्जन को संपूर्ण भावसमाधि और निर्वाण माना है । स्नान, भोजन आदि से उत्पन्न तथा शब्द आदि विषयों से संपादित सांसारिक समाधि अनैकान्तिक और अनात्मन्तिक होने के कारण अथवा दुःख के प्रतिकाररूप होने के कारण असंपूर्ण होती है ।'

इसोक्त २३ :

७५. एषणा द्वारा लब्ध शुद्ध आहार (सुद्धे)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—याचना से उपलब्ध अथवा अलेपकृत आहार ।'

वृत्तिकार ने उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित आहार को शुद्ध कहा है ।'

७६. दूषित न करे (न दूषयेज्जा)

इसका तात्पर्य यह है—मुनि ने आहार की एषणा की । उसे शुद्ध आहार प्राप्त हुआ । किन्तु उसको खाते समय वह मनोज्ञ वस्तु पर रागभाव और अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेषभाव कर उसको दूषित न करे ।' वृत्तिकार ने एक सुंदर गाथा उद्धृत की है—

‘वायालीसेसणसंकडंमि गहनंमि जीव ! न हु छल्लिजो ।

इण्हिं जह न छल्लिजजसि भुजंतो , रागवोसेहि ॥’

—रे जीव ! बयालीस दोष रूप गहन सकट में तूने धोखा नहीं खाया । यदि तू इस भोजन को करता हुआ राग-द्वेष से धोखा नहीं खाएगा तो तेरा कार्य सफल होगा ।'

७७. उसमें मूर्च्छित और आसक्त न हो (अमूर्च्छितो अणञ्जोववण्णो)

अमूर्च्छित का अर्थ है कि मुनि मनोज्ञ आहार मिलने पर भी उसके प्रति राग न करता हुआ भोजन करे ।

अनधुपपन्न का अर्थ है—आसक्त न हो । बार-बार एक ही प्रकार के आहार को पाने की इच्छा करना उसके प्रति रही हुई आसक्ति का द्योतक है । मुनि ऐसा न करे । केवल संयम-निर्वाह मान के लिए आहार करे । मनोज्ञ उपहार मिलने पर प्रायः ज्ञानी पुरुषों के मन में भी उसके प्रति विशेष अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, इसलिए आहार के प्रति, मूर्च्छा और आसक्ति नहीं रखनी चाहिए ।' कहा है—

मुत्तमोपो पुरा ओवि, गीयत्तो वि व भाविओ ।

संतेसाहारमाईसु सोवि जियं तु ज्वमइ ॥

—ओ मुक्तभोगी है, गीतार्थ और भावितात्मा है, वह भी मनोज्ञ आहार को पाने के लिए खालायित हो जाता है ।'

१. वृत्ति, पत्र १६६ : ‘एतवेव’ मृषावादवर्जनं ‘कृत्स्नं’—संपूर्ण भावसमाधि निर्वाणं चाहुः, सांसारिका हि समाधयः स्नानभोजनादि-
अमिताः शब्दादिविषयसंपादितानि वा अनैकान्तिकानात्मन्तिकत्वेन दुःखप्रतीकाररूपत्वेन वा असंपूर्णानि वर्तन्ते ।

२. वृत्ति, पृ० १६२ : शुद्धं आहृतोत्तं.....अथवा शुद्धं अलेपकं ।

३. वृत्ति, पत्र १६७ : उद्गमोत्पादनेष्वपि: ‘शुद्धे’—निर्दोषे ।

४. वृत्ति, पत्र १६७ : प्राप्ते पिण्डे सति साधू रागद्वेषाभ्यां न दूषयेत् ।

५. वृत्ति, पत्र १६७ ।

६. वृत्ति, पत्र १६७ : न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः—सकृदपि शोभनाहारलाभे सति मूर्द्धिमकुर्वन्माहारयति, तथा अनधुपपन्नस्तमेवाहारं धीनःपुण्ये-
तानभिजगन्मात्रः केवलं संयमयाचारासनार्थमाहारमाहारयेत्, प्रायो विहितवेद्यस्वार्थि विशिष्टाहारसन्निभावनिलाषा-
तिरेको जायत इत्यतोऽमूर्च्छितोऽनधुपपन्न इति च प्रतिषेधइत्यमुक्तम् ।

७. वृत्ति, पत्र १६७ ।

७८. अगार-बंधन से मुक्त (विमुक्तके)

चूणि के अनुसार इसका अर्थ है—अगार-बंधन से मुक्त ।^१

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त किया है ।^२

७९. स्वाधा का कामी (सिलोकामी)

ज्ञान, तपस्या आदि के द्वारा यश पाने की कामना करने वाला श्लोककामी होता है ।^३

श्लोक २४ :

८०. अमासक्त हो (निरावकांक्षी)

गृह, कलत्र, कामभोग आदि की आकांक्षा न करने वाला निरवकांक्षी होता है ।^४

जो जीवन के प्रति भी आकांक्षा नहीं करता वह निरवकांक्षी होता है ।^५

८१. शरीर का व्युत्सर्ग कर (कार्य विओसज्ज)

चूणिकार ने शरीर के द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग का उल्लेख किया है ।^६ वृत्तिकार के अनुसार काया को छोड़ने का अर्थ है—उसकी सार-संभाल न करना, उसमें रोग उत्पन्न हो जाने पर भी चिकित्सा आदि न कराना ।^७

प्रस्तुत सूत्र (८।२७) में ध्यान के प्रसंग में काय-व्युत्सर्ग का उल्लेख मिलता है । यह कायोत्सर्ग का सूचक है । शरीर की प्रवृत्ति और उसके प्रति होने वाला ममत्त्व—इन दोनों का त्याग करना काय-व्युत्सर्ग है ।

८२. कर्म-बन्धन (निदान)

आप्टे की डिक्शनरी में 'निदान' शब्द के अनेक अर्थ किए हैं—रस्मी, अवरोधक, मूल कारण, उपादान कारण आदि-आदि ।^८ प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ 'मूल कारण' है । संसार-भ्रमण का मूल कारण है 'कर्म-बन्धन' । मुनि इस कर्म-बन्धन को छिन्न करे ।

चूणिकार ने निदान के दो प्रकार माने हैं—

१. द्रव्य निदान—स्वजन, धन आदि ।

२. भाव निदान—कर्म ।

जैन परम्परा में 'निदान' शब्द का पारिभाषिक अर्थ है—आध्यात्मिक शक्तियों का भौतिक सुख-सुविधा की प्राप्ति के लिए विनिमय करना ।

देखें—पहले श्लोक में 'अणिदानभूते' का टिप्पण ।

८३. भव के बलय से मुक्त (बलया विमुक्तके)

चूणिकार ने 'बलय' के तीन अर्थ किए हैं—

१. चूणि, पृ० १६२ : विप्यमुक्तके.....अगारबंधनविप्यमुक्तके ।

२. वृत्ति, पत्र १६७ : तथा सबाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन विमुक्तः ।

३. चूणि, पृ० १६२ : सिलोगो लि असो, भाण-तबमाबोहि सिलोगो व कामेज्जा ।

४. चूणि, पृ० १६२ : अर्थ वा गर्ह वा उपधि बिहाय निष्कान्तः, मिच्छसबोसाबोहि गृह-कलत्र-कामभोगेषु निरावकांक्षो ।

५. वृत्ति, पत्र १६७ : जीवितेऽपि निराकाङ्क्षी ।

६. चूणि, पृ० १६२ : इच्छतो जायतो य कार्यं बिसेसेण उत्सृज्य विओसज्ज ।

७. वृत्ति, पत्र १६७ : 'कार्यं'—शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्सादिकमकुर्वन् ।

८. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी ।

९. चूणि पृ० १६२ : इच्छविदानं सयज-अमादि, भावनिदानं कर्मम् ।

एगारसमं अज्जयसं
मग्गे

ग्यारह्वां अध्द्यसन
मार्गं

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'मार्ग' है। भगवान् महावीर ने अपनी साधना-पद्धति को 'मार्ग' कहा है। आगमों के अनेक स्थलों में साधना के लिए 'मार्ग' (मा० मग्ग) का प्रयोग मिलता है। जैसे—

- एस मग्गे आरिप्पहि पवेइए (आयारो २।४७ आदि)
- चत्थि मग्गे विरयस्स (आयारो ५।३०)
- दुरणुचरो मग्गो (आयारो ४।४२)
- वेवास्सियमग्गं (सूत्र० १।२।२३)
- आरियं मग्गं (सूत्र० १।३।६६)

उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को 'मार्ग' कहा है।^१ आवश्यक सूत्र में निर्ग्रन्थ प्रवचन को सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्वाणमार्ग, निर्वाणमार्ग, समस्त दुःखों (बलेषो) को क्षीण करने का मार्ग कहा है।^२ स्थानाग में मार्ग के अर्थ में द्वार शब्द प्रयुक्त है—वत्तारि घम्म दारा पण्णसा—खती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दे—घर्म के चार द्वार (मार्ग) हैं—जाति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव।^३

यही भगवान् महावीर की साधना-पद्धति है, मार्ग है। यही भावमार्ग है। भावमार्ग दो प्रकार का होता है—

प्रथमस्तभावमार्ग—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र। इसका फल है सुगति। यह मार्ग तीर्थंकर, मण्डर, स्थविर तथा साधुओं द्वारा अनुचीर्ण सम्यग् मार्ग है।

अप्रथमस्तभावमार्ग—मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान। इसका फल है दुर्गति। यह मार्ग चरक, परिघाजक आदि द्वारा अनुचीर्ण मिथ्यामार्ग है।

निर्युक्तिकार ने फल-प्राप्ति के प्रसंग में द्रव्यमार्ग और भावमार्ग की चतुर्भंगी का उल्लेख किया है—

१. द्रव्यमार्ग—

१. क्षेम और क्षेमरूप—चौर, सिंह आदि के उपद्रव से रहित तथा वृक्ष तथा जलाशयों से समन्वित।
२. क्षेम और अक्षेमरूप—उपद्रव रहित तथा पत्थर, कंटक, नदी-नालों से आकीर्ण, विषम।
३. अक्षेम और क्षेमरूप—उपद्रव सहित पर अविषम, सीधा और साफ।
४. अक्षेम और अक्षेमरूप—उपद्रव सहित तथा विषम।

२. भावमार्ग—

१. क्षेम-क्षेमरूप—ज्ञान आदि से समन्वित मुनि-वेशधारी साधु।
२. क्षेम-अक्षेमरूप—भावसाधु, द्रव्यालिप्त से रहित।
३. अक्षेम-क्षेमरूप—निम्हव।
४. अक्षेम-अक्षेमरूप—परतीक्षिक, दुःस्थ आदि।^४

१. उत्तराध्ययन, २५।२।

२. आवश्यक ४।६।

३. आय ४।६२७।

४. बुद्धि, पृ० १६४।

५. निर्युक्ति भाषा १०४ : क्षेमे च क्षेमकमे चक्षुःक्षेमं यन्मयावीथु।

६. बुद्धि, पृ० १६४।

द्रव्य मार्ग के प्रकारों का उल्लेख करते हुए निर्बुक्तिकार ने तत्कालीन यातायात के मार्गों का स्पष्ट निर्देश किया है। वे चौदह प्रकार के मार्गों का उल्लेख करते हैं।^१ चूर्णिकार और वृत्तिकार ने उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है—

१. फलकमार्ग—कीचड़ आदि के भय से फलक द्वारा पार किया जाने वाला मार्ग या गह्रों को पार करने के लिए बनाया गया फलक मार्ग।^२
२. लतामार्ग—नदियों में होने वाली लताओं (वेत्र आदि) का आलंबन लेकर पार करने का मार्ग। जैसे गंगा आदि नदियों को वेत्र लताओं के सहारे पार किया जाता था।^३
३. आम्बोलवन्धमार्ग—यह संभवतः भूलने वाला मार्ग रहा हो। विशेषतः यह मार्ग दुर्ग आदि पर बनाया हुआ होता था। व्यक्ति भूले के सहारे एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर पहुँच जाता था।^४ व्यक्ति बुझो की शाखाओं को पकड़कर भूलते और दूसरी ओर पहुँच जाते।
४. वेत्रमार्ग—यह मार्ग नदियों को पार करने में सहायक होता था। जहाँ नदियों में वेत्र लताएँ (बेंत की लताएँ) सघन होती थी, वहाँ पथिक उन लताओं का अवलम्बन लेकर एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँच जाता था। चारुदत्त नायक एक व्यक्ति ने वेत्रलताओं का अवलम्बन लेकर वेत्रवती (उसुवेगा) नदी को पार किया था। इसकी प्रक्रिया बसुदेव हिण्डी में उल्लिखित है।^५ यह भी एक प्रकार का लतामार्ग ही है।
५. रज्जुमार्ग—रस्ती के सहारे एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने का मार्ग। यह अति दुर्गम स्थानों को पार करने के काम आता था।
चूर्णिकार ने गंगा आदि नदियों को पार करने के लिए इस रज्जुमार्ग का उल्लेख किया है।^६ संभव है एक किनारे पर रज्जु को वृक्ष से बांधकर उसके सहारे तैरते हुए दूसरे किनारे पहुँचना सरल हो जाता है।
६. दहनमार्ग—दहन का अर्थ है यान-वाहन। उसके आने जाने का मार्ग दहनमार्ग है।^७ सभी प्रकार के वाहनों के यातायात में यह मार्ग काम आता था।
७. बिलमार्ग—ये गुफा के आकार वाले मार्ग थे। इनको 'भूषिक पथ' भी कहा जाता था। ये पहाड़ी मार्ग थे, जिनमें चट्टान काटकर चूहों के बिल जैसी छोटी-छोटी सुरंगें बनानी पड़ती थी। इनमें दीपक लेकर प्रवेश करना पड़ता था।^८

१. निर्बुक्ति गाथा १०१ : फलक-लतंबोलग-वेस-रज्जु-दहन-बिल-वासमणे य ।

लीलग-अय-पविलपहे क्षल-अलाकास वण्यमि ॥

२. चूर्ण, पृ० १६१ : फलगेहि जहा बहुरसोमार्गेहि, अथा फलगेण गम्मतियियरगाबिषु, चिकसस्से वा अथा ।

३. चूर्ण, पृ० १६१ : वेसलताहि गंगमादी संतरति, अथा चापवतो वेसवति वेसेहि ओलंबिकेण परकूलवेसेहि आलाविकेण उत्तिण्णो ।

४. चूर्ण, पृ० १६४ : अबोलएण अबोलाकडो एति य, जं वा वण्णसारं अबोलिएऊण जण्णानं परतो जण्णति ।

५. बसुदेव हिण्डी, पत्र १४८-१४९ : एक बार एक सार्थ यात्री पर था। वह वहाँ पहुँचा। नदी के किनारे पड़ाव डाला। वन से पके हुए फल लाए। रसोई पकाई और सभी ने भोजन किया। तब यात्री-संरक्षक ने कहा—बेसो, यह उसुवेगा नदी है। यह वेताव्य पर्वत से निकलती है। यह बहुत ऊँची नदी है। जो इसको पार करने के लिए पानी में उतरता है, वह तीर की भांति तीव्र गतिवाले पानी के प्रवाह में बह जाता है। उसमें जाड़े-टेढ़े नहीं उतरा जा सकता। इसको पार करने का एक ही मार्ग है—वेत्रलतामार्ग। जब उत्तर दिशा का पवन चलता है और जब वह पर्वतों के बंदुरों से गुजरता है तब उसका वेग बढ़ता है और उसके प्रवाह से नदी की सारी वेत्रलताएँ बक्षिण की ओर झुक जाती हैं। वे स्वभावतः कोमल और मृदु तथा गाय के पूँख के आकार की होती हैं। उन लताओं का आलंबन लेकर व्यक्ति उत्तरकूल से बक्षिणकूल पर चला जाता है, नदी को पार कर जाता है। जब बक्षिण का पवन चलता है तब उसी प्रकार वेत्रलताएँ उत्तरदिशा की ओर झुकती हैं और तब यात्री उन लताओं के सहारे उत्तरकूल पर पहुँच जाता है।

६. चूर्ण, पृ० १६४ : रज्जुहि गंधं उत्तरति ।

७. वृत्ति, पत्र १६८ : दहनं—धामं तन्मार्गो दहनमार्गः ।

८. (क) चूर्ण, पृ० १६४ : बिलं बीचपेहि पविंसति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६८ : बिलमार्गो यत्र तु गुहाआकारेण बिलेन वण्यते ।

४. पाशमार्ग—चूणिकार के अनुसार यह वह मार्ग है जिसमें व्यक्ति अपनी कमर को रज्जु से बांधकर रज्जु के सहारे आगे बढ़ता था। 'रसकूपिका' (स्वर्ण आदि की खदान) में इसी के सहारे नीचे गहन अधकार में उतरा जाता था और रज्जु के सहारे ही पुनः बाहर आना होता था।^१

वृत्तिकार ने इसे मृगजाल आदि से युक्त मार्ग माना है, जिसका उपयोग शिकारी करते हैं।^२

५. कीलकमार्ग—ये वे मार्ग थे जहाँ-स्थान-स्थान पर खंभे बनाए जाते थे और पथिक उन खंभों के अभिज्ञान से अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता था। ये खंभे उसे मार्ग भूलने से बचाते थे। विशेष रूप से ये मार्ग मरुप्रदेश में, जहाँ बासु के टीलों की अधिकता होती थी, वहाँ बनाए जाते थे।^३

१०. अजमार्ग—चूणिकार ने 'अयसूपथ' मानकर इसको लोहे से जटित पथ माना है और इसकी अवस्थिति स्वर्ण-भूमि में बतलाई है।^४

यह 'अजपथ' एक ऐसा संकरा पथ होता था जिसमें केवल अज (बकरी) या बछड़े के चलने जितनी पगडंडी मात्र होती थी। यह मार्ग विशेषतः पहाड़ों पर होता था जहाँ बकरों और भेड़ों पर यातायात होता था। इसे 'पेंढपथ' भी कहा जाता था। वृत्तिकार के अनुसार वास्तव इसी मार्ग से स्वर्णभूमि पहुँचा था।^५

११. पक्षिपथ—यह आकाश-मार्ग था। भारुण्ड आदि विशालकाय पक्षियों के सहारे इस मार्ग से यातायात होता था।^६ यह मार्ग सर्व सुलभ न भी रहा हो परन्तु कुछ भीमन्त या विद्याओं के पारगामी व्यक्ति इन विशालकाय पक्षियों का उपयोग वाहन के रूप में करते हो, यह असंभव नहीं लगता। क्योंकि आज भी शतुर्भुज पर सवारी की जाती है और उसका वाहन के रूप में उपयोग किया जाता है। उसकी गति भी तेज होती है। इसी प्रकार पक्षियों में सर्वबलिष्ठ भारुण्ड पक्षी पर सवारी करना अत्युक्ति नहीं कही जा सकती।

पाणिनी का हसपथ, महानिर्देश का शकुनपथ और कालीदास का जगपथ, घनपथ, सुरपथ इसी पक्षिपथ के वाचक हैं।

१२. जगमार्ग—यह एक ऐसा मार्ग था जहाँ छत्र के बिना आना-जाना निरापद नहीं होता था।^७ संभव है यह जंगल का मार्ग हो और जहाँ हिंस्र पशुओं का भय रहता हो। वे पशु छत्ते से डरकर इधर-उधर भाग जाते हो।

१३. जलमार्ग—जहाज, नौका आदि से यातायात करने का मार्ग। इसे 'वारिपथ' भी कहा जाता है।

१४. आकाशमार्ग—चारणलब्धि सम्पन्न मुनियों, विद्याधरो तथा मन्त्रविदों के आने-जाने का मार्ग।^८ इसे 'देवपथ' भी कहा जाता था।

क्षेत्रमार्ग और कालमार्ग के प्रसंग में भी निर्युक्तिकार, चूणिकार और वृत्तिकार ने अनेक तथ्य प्रगट किए हैं—

१ क्षेत्रमार्ग—भूमीचरों के लिए भूमी मार्ग है, देवताओं के लिए आकाश मार्ग है, पक्षियों तथा विद्याधरों के लिए भूमी और आकाश—दोनों मार्ग हैं।

१. चूणि, पृ० १६४ : रज्जुं वा कटिणं बंधिऊण पञ्चा रज्जुं अणुसरंति स्वचिद् रसकूपिकादौ महत्यन्धकारे, पुणो गिणगच्छति गच्छति सो क्षेत्र पासमण्यो।

२. वृत्ति, पत्र १६८ : पाशप्रज्ञातो मार्गः—पाशमार्गः पाशकूटबाणुराणितो मार्ग इत्यर्थः।

३. चूणि, पृ० १६४ : कीलगेहिं क्माविसए बालुनाभूमिए चक्कवति, स्वचिद् केणु (? रेणु) प्रचुरे केते कीलकानुसारेण गम्यते, अण्यथा पथप्रसङ्गः।

४. वही, पृ० १६४ : अयसधो लोहपथः सुवण्णभूमिए.....।

५. वृत्ति, पत्र १६८ : अजमार्गो यम अजेन—अस्त्येन गम्यते, तत्, यथा—सुवर्णभूम्यां वाचवसते गत इति।

६. वृत्ति, पत्र १६८।

७. चूणि, पृ० १६४ : जलमण्यो जलपेवं अरिणमार्गेणं गच्छति उवाचवसयात्।

८. वही, पृ० १६४ : आवासमण्यो चारण-विज्जाहुराणं।

९. (क) निर्युक्ति भाषा १०२। (ख) चूणि, पृ० १६४। (ग) वृत्ति, पत्र १६८।

अथवा—यह चाबल के खेत का मार्ग है, यह गेहूं के खेत का मार्ग है। यह घास मार्ग है, यह नगर मार्ग है। यह मार्ग चित्तूर नगर का है, यह मार्ग हस्तिनापुर का है।

४. कालमार्ग—

जिस काल में जो मार्ग चालू होता है, वह कालमार्ग है। जैसे—वर्षा की रात्री में पानी का प्रवाह अपना मार्ग बनाकर बहता है, शिशिर या ग्रीष्म में व्यक्ति मूलमार्ग को छोड़कर उपमार्ग से जाता है, वह कालमार्ग है।

अथवा—जिस काल में गमनागमन किया जाता है, वह कालमार्ग है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में रात्री में और हेमन्त ऋतु में दिन में गमनागमन सुखपूर्वक होता है।

अथवा—जितने काल तक चला जाता है, वह कालमार्ग है। जैसे सूर्योदय होते चला और सांझ को पहुँच गया। वह काल-मार्ग है।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र—यह मावमार्ग है। इसकी आराधना मोक्ष की आराधना है।

कुछेक व्यक्ति निर्ग्रन्थ-शासन में प्रवृत्त होकर भी सुकुमार और सुलशील बनकर प्राणीघातकारक प्रवृत्तियों में रस लेते हैं। वे धर्म का उपदेश करते हुए भी कुमार्ग पर प्रस्थित हैं।

जो मुनि तप और संयम में अनुरक्त हैं, मुनि-गुणों से युक्त हैं, जो जैसा कहते हैं, बँसा करते हैं, जो जनकल्याणकारी हैं, उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग सुमार्ग है।

निर्युक्तिकार ने मार्ग शब्द की गुणवत्ता के आधार पर तेरह एकार्यक शब्द दिए हैं।^१ वृत्तिकार ने उनकी भावमार्ग के आधार पर व्याख्या की है—

१. पंचा—सम्यक्त्व की प्राप्ति।
२. मार्ग—सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति।
३. न्याय—सम्यग्चारित्र की प्राप्ति।
४. विधि—सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की युगपद प्राप्ति।
५. वृत्ति—सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्चारित्र की प्राप्ति।
६. सुगति—ज्ञान और क्रिया का संतुलन।
७. हित—मुक्ति या उसके साधनों की प्राप्ति।
८. सुख—उपशम अंश में आरुढ़ होने का सामर्थ्य।
९. पथ्य—ज्ञायक अंश में आरुढ़ होने का सामर्थ्य।
१०. अंश—मोह की संबंधा उपशान्तावस्था।
११. निर्वृति—क्षीणमोह की अवस्था।
१२. निर्वाण—केवलज्ञान की प्राप्ति।
१३. शिवकर—सौख्यी अवस्था की प्राप्ति।

—ये शब्द व्याख्या भेद से भिन्न हो जाते हैं। ये मोक्षमार्ग के पर्यायवाची शब्द भी माने जा सकते हैं।^२

जम्बूस्वामी सुधर्मास्वामी को मोक्षमार्ग के विषय में दो प्रश्न पूछते हैं। पहले तीन श्लोको में प्रश्न हैं और शेष तीन श्लोको में उन प्रश्नों के उत्तर हैं। जम्बूस्वामी ने पूछा—

१. भगवान् महावीर ने मोक्षप्राप्ति के लिए कौनसा मार्ग बतलाया है?
२. लोगों के पूछने पर हम कौन से मार्ग का प्रतिपादन करें?

१. निर्युक्ति यावा १०८ : पंची ज्ञायो मगो चिची क्षिती सोमती हित सुहं च।

पत्वं सेयं जेम्बुह जेम्बुह सिवकरं सेय ॥

२. वृत्ति, पत्र १९६, २००।

३. वृत्ति, पत्र २०० : एवमेतानि मोक्षमार्गस्येन किञ्चिद् भेदाद् भेदेन व्याख्यातान्यभिधानानि, यत्किं जैते पर्यायसंज्ञा एकार्थिका मोक्ष-मार्गस्येति।

प्रस्तुत अध्याय में अड़तीस श्लोक हैं। उनमें मोक्षमार्ग की विशेष जानकारी तथा अहिंसा, सत्य, एषणा आदि के विषय में परिचय दिया गया है।

श्लोक १-६ मोक्षमार्ग का स्वरूप।

७-१२ अहिंसा-विवेक।

१३-१४ एषणा-विवेक

१६-२१ आशा-विवेक

२२-२४ धर्म द्वीप कैसे ?

२५-३१ बौद्धमत की समीक्षा

३२-३८ मार्ग की प्राप्ति का उपाय और चरम फल।

कुछ विमर्शनीय स्थल—

सातवें श्लोक में स्वावर जीवों का एक विशेषण है 'पृथो सत्ता'। इसका संस्कृत रूप है—'पृथक् सत्त्वा' और अर्थ है—पृथक्-पृथक् आत्मा वाले। इस विशेषण के द्वारा इस सत्य की घोषणा की गई है कि सभी आत्माओं का स्वतंत्र अस्तित्व है, कोई किसी से उत्पन्न नहीं है। यहाँ सत्व का अर्थ है—अस्तित्व।

दो श्लोकों (७, ८) में षड्जीवनीकाय का निरूपण है। यह भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इससे पूर्व किसी अन्य दार्शनिक ने इस प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया हो, ऐसा ज्ञात नहीं है। महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन ने महावीर की सर्वज्ञता को प्रस्थापित करने के लिए 'षड्जीवनीकाय' का हेतु प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—महावीर की सर्वज्ञता को प्रस्थापित करने वाले अनेक तथ्य हैं। उनमें षड्जीवनीकाय की प्ररूपणा महत्त्वपूर्ण है।

छह श्लोकों (१६-२१) में दान के प्रसंग में मुनि का आशा-विवेक कैसा होना चाहिए, उसका स्पष्ट निर्देश है। इन श्लोकों का तात्पर्य है कि जहाँ जब दान की प्रवृत्तिया चल रही हो, उन्हें लक्षित कर धर्म या पुण्य होता है या नहीं होता है, इस प्रकार का कोई व्यक्ति प्रश्न करे तब मुनि को मौन रहना चाहिए।

छबीसवें श्लोक में साधना-क्रम का सुन्दर निरूपण मिलता है। उस साधना के चार सोपान हैं—

१. आत्मगुप्ति।

२. इन्द्रिय और मन का उपशमन।

३. छिन्न-स्रोत अवस्था।

४. निरास्रव अवस्था।

साधक को सबसे पहले आत्मगुप्ति करनी होती है। उसे इन्द्रिय और मन का समाहार करना पड़ता है। गुप्ति का निरन्तर अभ्यास करने से इन्द्रियाँ और मन दान्त हो जाते हैं। जैसे-जैसे उनकी उपशान्तता बढ़ती है, वैसे-वैसे हिंसा आदि प्रवृत्तियाँ टूटती जाती हैं। एक क्षण ऐसा आता है कि वे सारे स्रोत छिन्न हो जाते हैं और साधक तब निरास्रव होकर आत्मा के निकट पहुँच जाता है।

सात श्लोकों (२५-३१) में बौद्धदृष्टि की समीक्षा की गई है। अहिंसा धर्म ही शुद्ध धर्म है। बौद्ध भिक्षु हिंसात्मक प्रवृत्तियों का समर्थन करते हैं। वे संघर्ष की बात सोचते रहते हैं। संकल्प-विकल्प के कारण वे असमाहित रहते हैं। वे शुद्ध ध्यान के अधिकारी नहीं होते। वे समाधि की साधना करते हैं, पर आरंभ और परिग्रह में आसक्त होने के कारण समाधि को नहीं पा सकते। वे आत्मा को नहीं जानते, इसलिए समाधिस्थ भी नहीं हो पाते। वे स्वयं शुद्ध मार्ग पर नहीं चलते और दूसरों को भी उन्मार्गगामी बनाते हैं।

छबीसवें श्लोक की व्याख्या में कूर्णिकार ने बौद्ध परंपरागत कुछेक व्यवहारों का निर्देश किया है। देखें—टिप्पण संख्या ३८।

छठीसवें श्लोक के संदर्भ में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस निर्वाण-मार्ग का प्रतिपादन वर्धमानस्वामी ने ही किया है अथवा अन्य तीर्थंकरों ने भी इसका प्रतिपादन किया है? शास्त्रकार इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

‘विषयं बुद्धा अतिवर्धता, ये च बुद्धा अनामया।

संती तेति वदन्त, नृपार्थं जगई जहा।।’

जो तीर्थंकर अतीत में हो चुके हैं, जो तीर्थंकर भविष्य में होंगे और जो तीर्थंकर आज विद्यमान हैं, उन सबने इसी निर्वाण-मार्ग का प्रतिपादन किया था, करेंगे और कर रहे हैं। जैसे समस्त जीवों के लिए पृथ्वी आधारभूत है, वैसे ही यह निर्वाण-मार्ग, यह मोक्षमार्ग सभी तीर्थंकरों का प्रतिष्ठान है।

अंतिम श्लोक में सुधर्मा जंबू से कहते हैं—‘जम्बू ! तुमने मोक्षमार्ग के विषय में पूछा था। मैंने तुम्हें उसके स्वरूप की पूर्ण जानकारी दी है और उसकी निष्पत्ति भी बताई है। मेरा यह कथन बुद्धि-कल्पित नहीं है। यह सारा केवली द्वारा प्ररूपित मयाम है। तुम इस मार्ग पर अविवश्यामगति से मरणपर्यन्त चलते चलो। तुम मुक्त हो जाओगे।’

एगारसर्ग अर्थवर्णन : ग्यारहवां अध्यायन

मार्गे : मार्ग

सूक्त

संस्कृत भाषा

हिन्दी अनुबाद

१. कयरे मर्गे अवसाते
माहणेन मतीमता ? ।
अं मर्गं उज्जु पाविता
ओहं तरति दुस्तरं ॥

२. तं मर्गं अनुत्तरं सुदं
सर्वदुःखविमोक्षणं ।
जानासि यथा भिक्षु !
तं नो ब्रूहि महामुनी ! ॥

३. जइ ने केइ पुच्छेज्जा
देवा अनुव मानुसा ।
तेसि तु कयरे मर्गं
आइक्खेज्ज? कहाहि नो ॥

४. जइ वो केइ पुच्छेज्जा
देवा अनुव मानुसा ।
तेसिमं पडिसाहेज्जा
मर्गसारं सुणेह मे ॥

५. अनुपुब्बेण महाघोरं
कासवेण पवेइयं ।
अमादाय इओ पुब्बं
समुदं व्यवहारिणो ॥

६. अतरिषु तरंतेने
तरिस्संति अनागया ।
तं सोज्जा पडिक्खामि
अंतपो ! तं सुणेह मे ॥

७. पृथ्वीजीवा पुथक् सत्ता
आब्बीजा तहावणी ।
वायुजीवा पुथक् सत्ता
तण इत्था सक्खीयणा ॥

कतरो मार्गः आख्यातः,
माहनेन मतिमता ।
यं मार्गं ऋजुं प्राप्य,
ओषं तरति दुस्तरम् ॥

तं मार्गं अनुत्तरं सुदं,
सर्वदुःखविमोक्षणम् ।
जानासि यथा भिक्षो !,
तं नो ब्रूहि महामुने ! ॥

यदि नः केचित् पृच्छेयुः,
देवाः अथवा मानुषाः ।
तेषां तु कतरं मार्गं,
आचक्षीमहि कथय नः ॥

यदि वः केचित् पृच्छेयुः,
देवाः अथवा मानुषाः ।
तेषामिमं प्रति कथयेत्,
मार्गसारं शृणुत मे ॥

अनुपूर्वेण महाघोरं,
काश्यपेन प्रवेदितम् ।
यमादाय इतः पूर्वं,
समुद्रं व्यवहारिणः ॥

अतारिषु तरन्त्येके,
तरिष्यन्ति अनागताः ।
तं श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि,
जम्तवः ! तं शृणुत मे ।

पृथ्वीजीवाः पृथक् सत्त्वाः,
अब्जीवाः तथाग्निः ।
वायुजीवाः पृथक् सत्त्वाः,
तथा रुक्माः सक्खीयकाः ॥

१. (जंबू ने पूछा) 'मतिमान् अमर्ग' (भगवान् महावीर)
ने कौन-सा मार्ग बतलाया है, जिस ऋजु मार्ग को
पाकर मनुष्य दुस्तर प्रवाह को तर जाता है ?

२. उस अनुत्तर, सुदं और सर्व-दुःख-विमोक्षक मार्ग को
हे भिक्षु ! जैसे आप जानते हैं, हे महामुनि ! वैसे
आप बतलाएं ।

३. यदि कुछ देव या मनुष्य हमें पूछें, उन्हें कौन-सा
मार्ग बतलाएं, आप हमें बताएं ।

४. (मुघर्मा ने कहा) कुछ देव या मनुष्य तुम्हें पूछें,
उन्हें जो मार्ग-सार बतलाया जाए वह तुम मुझसे
सुनो ।

५. ६. काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा बतलाए
हुए मार्ग को तुम मुझसे सुनो, जो क्रम से प्राप्त
होता है", महाघोर है, जिसे प्राप्त कर इससे पूर्व
अनेक व्यक्ति (संसार-समुद्र को) तर गए, तर रहे हैं
और तरेंगे जैसे व्यापारी समुद्र को । वह मार्ग
अपनी श्रुति के अनुसार मैं तुम्हें बताऊंगा ।

७. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और बीज पर्यन्त" तृण
और वृक्ष—ये सब जीव पृथक् सत्त्व (स्वतंत्र
अस्तित्व) वाले हैं ।

८. अहावरे तसा पाणा
एवं कृत्वाय आहिया ।
इसाय एव जीवकाय
नापरे विज्यती कए ॥

९. सम्बाहि अणुसुतीहि
मइयं पडिलेहिया ।
सब्बे अणुसुत्तसा य
अतो सम्बे अहिंसाया ॥

१०. एयं खु जाणिजो सारं
अं ण हिंसति कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव
एतावतं विजाणिमा ॥

११. उद्धं अहे तिरियं च
जे केइ तसयावरा ।
सम्बत्थ विरतिं कुज्जा
संति जिम्बाणमाहियं ॥

१२. पभू बोसे निराकिज्जा
ण विरुज्जेज्जा केणइ ।
मज्झसा वयसा चेव
कायसा चेव अंतसो ॥

१३. संबुडे से महापण्णे
धीरे वसेसणं चरे ।
एसणासमिणं जिण्णं
वज्जयंते अनेसणं ॥

१४. भूयाहं समारंभ
साधू उहिस्स अं कडं ।
तारिसं तु म गेण्हेज्जा
अन्नपाणं सुसंभए ॥

१५. पूतिकम्मं ण सेवेज्जा
एस धम्मो वुसीमतो ।
अं किञ्चि अभिसंकेज्जा
सव्वसो तं ण कप्पते ॥

१६. ठाणाहं संति सङ्खीण
गामेसु जगरेसु वा ।
अत्थि वा णत्थि वा धम्मो?
अत्थि धम्मो ति जो वते ॥

अथापरे त्रसाः प्राणाः,
एवं षट्काया आहृताः ।
एतावान् एव जीवकायः,
नापरो विद्यते कायः ॥

सर्वाभिरनुयुक्तिभिः,
मतिमान् प्रतिलेख्य ।
सर्वे अकाम्तदुःखाश्च,
अतः सर्वे अहिंसाः ॥

एतद् खलु ज्ञानिनः सारं,
यत् न हिंसति कचन ।
अहिंसां समतां चैव,
एतावन्तं विजानीयात् ॥

ऊर्ध्वं अधः तिर्यग् च,
ये केचित् त्रसस्थावराः ।
सर्वत्र विरतिं कुर्यात्,
शान्तिर्निर्वाणमाहृतम् ॥

प्रमुदोषान् निराकृत्य,
न विरुध्येत केनचित् ।
मनसा वचसा चैव,
कायेन चैव अन्तसा ॥

संवृतः स महाप्राज्ञः,
धीरो दत्तैषणां चरेत् ।
एषणासमितो नित्यं,
वर्जयन् अनेषणाम् ॥

भूतानि समारम्भ्य,
साधून् उद्दिश्य यत्कृतम् ।
तादृशं तु न गृह्णीयात्,
अन्नपानं सुसंयतः ॥

पूतिकर्मं न सेवेत्,
एष धर्मः वृषीमतः ।
यत् किञ्चिद् अभिशकेत्,
सर्वशस्तद् न कल्पते ॥

स्थानानि सन्ति श्रद्धिनां,
ग्रामेषु नगरेषु वा ।
अस्ति वा नास्ति वा धर्मः,
अस्ति धर्म इति नो वदेत् ॥

८ इनके अतिरिक्त त्रस जीव हैं । इस प्रकार छह जीव काय बतलाए गए हैं । जीव-काय इतने ही हैं इनसे अतिरिक्त कोई जीव-काय नहीं है ।"

९. मतिमान् मनुष्य सभी अनुयुक्तियों" (सम्यक् हेतुओं) से जीवों की पर्यालोचना करे । सब जीवों को दुःख अप्रिय है" इसलिए किसी की भी हिंसा न करे ।

१० ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता । 'ममता अहिंसा है'— इतना ही उसे जानना है ।

११ ऊँचे, नीचे और तिरछे लोक में जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी है, सब अवस्थाओं में उनकी हिंसा से विरत रहे । (विरति ही शांति है और) शान्ति ही निर्वाण है ।"

१२ जितेन्द्रिय पुरुष" दोषों (क्रोध आदि) का" निराकरण कर" मनसा, वाचा, कर्मणा आजीवन किसी के साथ विरोध न करे ।

१३ संवृत", महाप्राज्ञ, धीर मुनि दत्त की एषणा करे । वह नित्य एषणा समिति से युक्त" हो अनेषणीय का वर्जन करे ।

१४ जीवों का" समारंभ कर साधु के उद्देश्य से जो किया गया हो वैसे अन्न-पान को सुसंयमी मुनि ग्रहण न करे ।

१५ पूतिकर्म (अन्न-पान) का" सेवन न करे । यह संयमी का" धर्म है । जो कुछ (अन्न-पान अनेषणीय रूप में) शक्ति हो, उसका संबंध" उपभोग न करे ।

१६ गावों या नगरों में श्रद्धालुओं के स्थान होते हैं । (वहाँ किसी श्रद्धालु के पूछने पर कि ब्राह्मण और भिक्षु को भोजन कराते हैं उसमें) धर्म है या नहीं ?, (इसके उत्तर में) धर्म है—यह न कहे ।

१७. अस्ति वा नास्ति वा पुण्यं?
अस्ति पुण्यं ति नो वए ।
अथवा नास्ति पुण्यं ति
एवमेयं महाभयम् ॥

१८. दातव्याय ओ पाप्मा
हृन्मन्ति तसथावरा ।
तेसि सारक्खणद्वाए
अस्ति पुण्यं ति नो वए ॥

१९. ओसि तं उवकप्पेति
अण्णं पाणं तथाविहं ।
तेसि लाभन्तरायं ति
तम्हा नस्ति ति नो वए ॥

२०. ओ य हाणं पसंसन्ति
वधमिच्छन्ति पाणिणं ।
ओ य णं पडिसेहन्ति
वित्तिच्छेदं करेति ते ॥

२१. बुहओ वि ओ ण मासन्ति
अस्ति वा नास्ति वा पुणो ।
आयं रयस्स हेक्खा णं
णिक्खाणं पाउणन्ति ते ॥

२२. निक्खाण-परमा बुद्धा
नक्खत्ताण व चन्वमा ।
तम्हा सया जए दन्ते
णिक्खाणं संघए मुणी ॥

२३. बुद्धमाणाण पाणाणं
किच्चन्ताणं सकम्मणा ।
आघाति साधुतं दीवं
पतिद्वेसा पबुच्चई ॥

२४. आयगुत्ते सया दन्ते
छिन्नसोए निरासवे ।
ओ धम्मं सुद्धमाख्याति
पडिपुण्णमणेसिं ॥

२५. तमेव अभिजाणन्ता
अबुद्धा बुद्धवादिनो ।
बुद्धा मो ति य अण्णन्ता
अंतए ते समाहिए ॥

अस्ति वा नास्ति वा पुण्यं,
अस्ति पुण्यं इति नो वदेत् ।
अथवा नास्ति पुण्यमिति,
एवमेतद् महाभयम् ॥

दानार्थं ये प्राणाः,
हन्यन्ते त्रसस्थावराः ।
तेषां संरक्षणार्थं,
अस्ति पुण्यमिति नो वदेत् ॥

येषां तत् उपकल्पयन्ति,
अन्नं पानं तथाविधम् ।
तेषां लाभान्तराय इति,
तस्माद् नास्ति इति नो वदेत् ॥

ये च दानं प्रशंसन्ति,
वधमिच्छन्ति प्राणिनाम् ।
ये च प्रतिषेधन्ति,
वृत्तिच्छेदं कुर्वन्ति ते ॥

द्वे अपि ये न भाषन्ते,
अस्ति वा नास्ति वा पुनः ।
आयं रजसो हित्वा,
निर्वाणं प्राप्नुवन्ति ते ॥

निर्वाण-परमा बुद्धाः,
नक्षत्राणामिव चन्द्रमाः ।
तस्मात् सदा यतो दान्तः,
निर्वाणं संदध्यात् मुनिः ॥

उद्दमानानां प्राणानां,
कृत्यमानानां स्वकर्मणाम् ।
आख्याति साधुकं दीपं,
प्रतिष्ठं प्रोच्यते ॥

आत्मगुप्तः सदा दान्तः,
छिन्नस्रोताः निराश्रवः ।
यो धर्मं सुद्धमाख्याति,
प्रतिपूर्णमनीदृशम् ॥

तमेव अभिजाणन्तः,
अबुद्धाः बुद्धवादिनः ।
बुद्धाः स्म इति च सम्यमानाः,
अन्तः के ते समाधेः ॥

१७. 'पुण्य है या नहीं ? (इस प्रश्न के उत्तर में) पुण्य है—यह न कहे । अथवा पुण्य नहीं है (यह भी न कहे ।) क्योंकि ये दोनों महाभय (दोष के हेतु) हैं ।

१८. दान के लिए जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, उनके संरक्षण के लिए 'पुण्य है'—यह न कहे ।

१९. जिनके लिए उस प्रकार का अन्न-पान बनाया जाता है, उन्हें उसकी प्राप्ति में विघ्न होता है, इसलिए 'पुण्य नहीं है'—यह न कहे ।

२०. जो दान की प्रशंसा करते हैं वे प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं । जो उसका प्रतिषेध करते हैं वे उन (अन्न-पान के अधिकारियों) की वृत्ति का छेद करते हैं ।

२१. जो (धर्म या पुण्य) है या नहीं है—ये दोनों नहीं कहते वे कर्म के आगमन का निरोध कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।^{१८}

२२. तीर्थंकरों के निर्वाण परम होता है^{१९} जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा ।^{२०} इसलिए सदा संयत और जितेन्द्रिय मुनि निर्वाण का सध्यान करें ।^{२१}

२३. संसार के प्रवाह में बहते और अपने कर्मों से छिन्न होते हुए प्राणियों के लिए भगवान् ने कल्याणकारी^{२२} दीप (या दीप) का^{२३} प्रतिपादन किया है । इसे प्रतिष्ठा कहा जाता है ।

२४. सदा मन को सबृत करने वाला, जितेन्द्रिय, हिंसा आदि के स्रोतों को छिन्न करने वाला अनाश्रव होकर^{२४} जो शुद्ध, प्रतिपूर्ण और अनुपम धर्म का आख्यान करता है,

२५. उस धर्म को नहीं जानते हुए कुछ अबुद्ध अपने को बुद्ध कहते हैं । अपने आपको बुद्ध मानने वाले वे समाधि से दूर हैं ।^{२५} ^{२६}

२६. ते य बीजोदकं चैव
तमुद्दिश्य य जं कंडं ।
भोक्ष्या भक्षणं भ्रियायंति
अक्षेत्रजा असमाहिता ॥

२७. अहा वंका य कंका य
कुक्कुला मग्नुका सिही ।
मच्छेक्षणं भ्रियायंति
भक्षणं ते कलुषाधमं ॥

२८. एवं तु समणा एगे
मिच्छद्दिद्वी अणारिया ।
विषयक्षणं भ्रियायंति
कंका वा कलुषाधमा ॥

२९. शुद्धं मार्गं विराहिता
इहमेगे उ दुन्मती ।
उन्मार्गगता दुःखं
घातमेषयंति तं तथा ॥

३०. अहा आसाविणीं नावं
जाह्वंघो वुरुहिता ।
इच्छई पारमागंतुं
अंतरा य विषीदति ॥

३१. एवं तु समणा एगे
मिच्छद्दिद्वी अणारिया ।
स्रोतं कलिणमावण्णा
आगंतारो महाभयं ॥

३२. इमं च धम्ममादाय
कासवेण पवेदितं ।
तरे सोयं महाघोरं
असत्ताए परिब्रजे ॥

३३. विरते गाम्यधर्मेहि
जे कई जगई जगा ।
तेसि असुवमायाए
थामं कुवन् परिब्रजे ॥

३४. अतिमाणं च मायं च
तं परिज्जाय पंडिए ।
सव्वमेयं निराकृत्था
निज्जाणं संघए मुणी ॥

ते च बीजोदकं चैव,
तमुद्दिश्य च यत् कृतम् ।
मुक्त्वा ध्यानं ध्यायन्ति,
अक्षेत्रजाः असमाहिताः ॥

यथा व्वांक्षाश्च कंकाश्च,
कुररा मद्गुकाः शिखिनः ।
मत्स्यैषणां ध्यायन्ति,
ध्यानं ते कलुषाधमम् ॥

एवं तु श्रमणाः एके,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः ।
विषयेषणां ध्यायन्ति,
कंका इव कलुषाधमाः ॥

शुद्धं मार्गं विराध्य,
इह एके तु दुर्मतयः ।
उन्मार्गगता दुःखं,
घातमेषयन्ति तत् तथा ॥

यथा आसाविणीं नावं,
जाह्वन्धः आरुह्य ।
इच्छति पारमागन्तुं,
अन्तरा च विषीदति ॥

एवं तु श्रमणाः एके,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः ।
स्रोतः कृत्स्नमापन्नाः,
आगन्तारो महाभयम् ॥

इमं च धर्मं आदाय,
काश्यपेन प्रवेदितम् ।
तरेत् स्रोतो महाघोरं,
आत्मतया परिब्रजेत् ॥

विरतो ग्राम्यधर्मेभ्यः,
ये केचित् जगत्यां 'जगा' ।
तेषां आत्मोपमाया,
स्याम कुर्वन् परिब्रजेत् ॥

अतिमानं च मायां च,
तं परिज्जाय पंडितः ।
सर्वमेतद् निराकृत्य,
निर्वाणं संदध्यात् भनिः ॥

२६. वे^{१८} (सजीव) बीज (धान्य) और जल तथा अपने उद्देश्य से जो बनाया गया उसका सेवन करते हैं । वे (शुद्ध ध्यान को) नहीं जानते ।^{१९} (उनका अध्य-वसाय मनोज्ञ भोजन आदि में लगा रहने के कारण) वे असमाहित चित्त वाले होते हैं ।^{२०} फिर भी वे ध्यान लगाते हैं ।

२७. जैसे ढक, कक^{२१}, कुरर, मद्गु (जल कौवा) और शिखी मछली की खोज में ध्यान करते हैं^{२२} वैसे ही वे कलुष और अधम ध्यान करते हैं ।

२८. इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण विषय की एषणा में ध्यान करते हैं जैसे कलुष और अधम कक (मछली की खोज में ध्यान करते हैं ।)

२९. यहा कुछ दुर्मति शुद्ध मार्ग की विराधता कर उन्मार्ग में प्रवृत्त हो दुःख और मृत्यु की कामना करते हैं ।

३०. जैसे जन्मान्ध व्यक्ति^{२३} सच्छिद्र तौका में चढ़कर पार पाना चाहता है किन्तु वह बीच में ही डूब जाता है ।

३१. इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण संपूर्ण स्रोत (आस्रव) में पड़कर महाभय को^{२४} प्राप्त होते हैं ।

३२. मुनि काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा निरूपित इस धर्म को स्वीकार कर महाघोर स्रोत को तर जाए और आत्मदृष्टि से परिब्रजन करे ।

३३. वह ग्राम्य-धर्मों (शब्द आदि विषयों) से^{२५} विरत हो, जगत् में जो कोई जीव है,^{२६} उन्हें अपनी आत्मा के समान जानकर, (मयम में) पराक्रम करता हुआ परिब्रजन करे ।

३४. पंडित मुनि अतिमान और अतिमाया को जाने और उन सबका निराकरण कर निर्वाण का साधन करे ।^{२७}

३५. संघए साधुधर्मं च
पापधर्मं निराकरे ।
उपधानवीरिए भिक्षु
क्रोधं मानं न पश्यए ॥

३६. जे य बुद्धा अतिक्कन्ता
जे य बुद्धा अनागया ।
संती तेसि पइट्ठाणं
भूयाणं जगई जहा ॥

३७. अहं णं व्रतमावणं
कासा उच्चावया कुसे ।
ण तेहि विणिहण्णेज्जा
वातेण च महागिरी ॥

३८. संवुडे से महापण्णे
धीरे दत्तेसणं चरे ।
णिठ्ठुडे कालमाकंखे
एवं केवलिनो मतं ॥

संवध्यात् साधुधर्मं च,
पापधर्मं निराकुर्यात् ।
उपधानवीर्यः भिक्षुः,
क्रोधं मानं न प्रार्थयेत् ॥

ये च बुद्धाः अतिक्रान्ताः,
ये च बुद्धाः अनागताः ।
शान्तिस्तेषां प्रतिष्ठानं,
भूतानां जगती यथा ॥

अथ तं व्रतमापन्नं,
स्पर्शा उच्चावचाः स्पृशेयुः ।
न तं विनिहन्त्येत,
वातेनेव महागिरिः ॥

संवृतः स महाप्राज्ञः,
धीरो दत्तेषणां चरेत् ।
निवृत्तः कालमाकांक्षेत्,
एवं केवलिनो मतम् ॥

३५. तप में पराक्रम करने वाला^१ भिक्षु साधु-धर्म का
संघान^२ और पाप-धर्म का^३ निराकरण करे । क्रोध
और मान की इच्छा न करे ।

३६. जो^४ बुद्ध (तीर्थंकर) हो चुके हैं और जो बुद्ध होंगे,
उन सबका आधार है शान्ति, जैसे जीवों का
पृथ्वी ।^५

३७. व्रत पर आरुढ़ पुरुष को उच्चावच स्पर्श (कष्ट)
घेर लेते हैं । वह उनसे हत-प्रहत न हो^६ जैसे वायु
से महा-पर्वत ।

३८. संवृत, महाप्राज्ञ, धीर मुनि^७ दत्त की एषणा करे ।
वह शान्त रहता हुआ काल की आकांक्षा (प्रतीक्षा)
करे^८—यह केवली का मत है ।^९

—ति वेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—मैं ऐसा कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन ११

श्लोक १ :

१. श्रमण भगवान् महावीर (माह्वेज)

यहां चूणिकार ने माह्वेज और श्रमण शब्द को एकार्थक माना है और 'माह्वेज' शब्द से भगवान् महावीर का ग्रहण किया है।'

वृत्तिकार ने इसका अर्थ तीर्थंकर किया है।'

२. कौल सा (कयरे)

जङ्ग स्वामी सुधर्मा स्वामी से कुछ प्रश्न करते हैं। प्रथम तीन श्लोकों में प्रश्न हैं। चौथे श्लोक से उत्तर प्रस्तुत किए गए हैं।'

३. मार्ग (मग्ग)

भगवान् महावीर ने अपनी साधना-पद्धति को 'मार्ग' नाम से अभिहित किया है। आचारांग में छह स्थलों में 'मार्ग' शब्द का उल्लेख मिलता है—

१. एस मग्गे आरिएहि पवेइए.....२।४७, २।११६, ५।२२

२. दुरणुच्चरो मग्गो वीराणं अणियट्ठगामीणं ४।४२

३.णत्थि मग्गे विरयस्स सि भेमि ५।३०

४. से किट्ठति तेसि समुट्ठियाणं णिक्खित्तदंढाणं समाहियाणं पण्णाणमंताण इह मुत्तिमग्गं.....६।३

इनमें एक स्थल पर 'मुक्तिमार्ग' का और शेष सब स्थलों पर केवल 'मार्ग' का प्रयोग है।

प्रस्तुत आगम में भी इसका अनेक स्थलों पर प्रयोग मिलता है।

१. वेयालियमग्गमागतो.....१।२।२२

२. जे तत्थ आरियं मग्गं १।३।६६

आचार्य उमास्वाति ने इसी आधार पर 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग'—इस सूत्र की रचना की। यह सूत्र मोक्ष मार्ग की परिभाषा करने वाला सूत्र है। उत्तराध्ययन (२८।२) में भी मार्ग की परिभाषा मिलती है। वहां ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्षमार्ग बतलाया है—

‘मार्गं च संसर्गं वेद, चारित्तं च तपो तथा ।

एस मग्गो सि पम्मसो, जिणेहि वरवंसिहि ॥

प्रस्तुत श्लोक में 'मार्ग' का प्रयोग 'मोक्ष मार्ग' के अर्थ में हुआ है। प्रश्नकर्त्ता ने उस मार्ग की जिज्ञासा की है जो सरल, उस पार ले जाने वाला, अनुत्तर, शुद्ध और सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला हो।

१. चूणि, पृ० १६५ : (माह्वेजि सि वा) सवणे सि वा एगह्ठं, भगवानेवापविरयते ।

२. वृत्ति, पत्र २०० : माह्वेजः—तीर्थंकरः ।

३. वृत्ति, पत्र २०० : विचित्रत्वात्त्रिकालविवक्ष्यत्वाच्च सूत्रस्यागामुर्कं प्रकृष्टकमाधिस्य सूत्रमिवं प्रवृत्तम्, अतो जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिन-
मिदमाहुः ।

४. ऋजु मार्ग को (मार्ग उज्जु)

वृत्तिकार ने ऋजुमार्ग के अनेक अर्थ किए हैं—

१. मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रसस्त आधमार्ग ।
२. वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने के कारण मोक्ष-प्राप्ति का अवक्रम—सरल मार्ग ।
३. स्याद्वाद के आधार पर कथन करने के कारण सरल मार्ग ।
४. ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप रूप मार्ग ।

५. कुस्तर प्रवाह को तर जाता है (ओहं तरति कुस्तरं)

ओष का अर्थ है—प्रवाह, संसार रुपी समुद्र ।

वृत्तिकार का अभिमत है कि संसार समुद्र को तर जाना कठिन नहीं है किन्तु तरने की सामग्री को प्राप्त करना कठिन है । उस सामग्री के उल्लेख में उन्होंने एक गाथा उद्धृत की है । उसका तात्पर्य है कि लोक में मनुष्य क्षेत्र, उत्तम जाति आदि की प्राप्ति दुर्लभ होती है ।

वृत्तिकार ने ओष के दो प्रकार किए हैं—

१. द्रव्य ओष—समुद्र । २. भाव ओष—संसार ।

श्लोक २ :

६. शुद्ध (शुद्धं)

वृत्तिकार ने शुद्ध के दो अर्थ किए हैं—

१. अकेला—वह (मार्ग) जो किसी के द्वारा उपहृत नहीं है ।
२. पूर्वापर को खंडित करने वाले या बाधित करने वाले दोषों से रहित ।

वृत्तिकार ने मोक्षमार्ग को शुद्ध मानने के तीन कारण प्रस्तुत किए हैं—

१. वह निर्दोष है ।
२. वह परस्पर विरुद्ध कथनों से रहित है ।
३. वह पापकारी अनुष्ठानों का कथन नहीं करता ।

श्लोक ३ :

७. देव या मनुष्य (देवा अदुव मानुसा)

प्रायः देवता और मनुष्य ही जिज्ञासा करने या प्रश्न पूछने में समर्थ होते हैं, अतः यहां इन दो का ही ग्रहण किया

१. वृत्ति, पत्र २००, २०१ : वं वस्तुं आधमार्गं मोक्षमार्गं प्रति 'ऋजु'—प्रशुभं प्रथावस्थितप्रकार्यस्वरूपनिकल्पनद्वारेणावर्णं सामान्य-विशेषनित्यामित्यादिस्वाभावसमाख्ययात् ।

२. वृत्ति, पत्र २०१ : 'ओष' इति शब्दार्थ—संसारसमुद्रं तरत्यस्य कुस्तरं, तदुत्तररजसाधुया एव कुस्तरावत्वात् ।

३. वृत्ति, पत्र २०१ : में उद्धृत आधमार्गनिर्युक्ति गाथा ८३१ ।

४. वृत्ति, पृ० १२५ : ओषो द्रव्योपः समुद्रः आधे संसारीयं तरति ।

५. वृत्ति, पृ० १२५ : शुद्ध इति एक एव, निवृत्तवृत्तवाच्येवम्, अथवा पूर्वापरव्याहृतबाध्यदोषापरमात् शुद्धः ।

६. वृत्ति, पत्र २०१ : शुद्धः—अवहातो निर्दोषः पूर्वापरव्याहृतदोषापरमात् तावदावुष्ठानोपदेशानावात् वा ।

गया है ।'

चूणिकार की व्याख्या के अनुसार उनका अभिमत पाठ इस प्रकार होगा—'देवा तिरिय माणुसा' । इसकी व्याख्या में चूणिकार कहते हैं—चार प्रकार के देव तथा मनुष्य प्रश्न पूछने में सक्षम होते हैं । उत्तरलब्धि (अर्जित शक्ति) की अपेक्षा से तिरियञ्च भी जिज्ञासा कर सकते हैं, बाणी से पूछ सकते हैं ।'

श्लोक ४ :

६. मार्गसार (मगसार)

इसका अर्थ है—सभी मार्गों में सारभूत मार्ग । सुधर्मा जंबू से कहते हैं कि भगवान् महावीर के मार्ग का जो सार—हार्द है वह मैं तुम्हें बताऊंगा । भगवान् का मार्ग षड्जीवनिकाय का प्रतिपादन करता है और उसकी अहिंसा का उपदेश देता है । किसी भी जीव को न मारना यही मार्गसार है, भगवान् के मार्ग का हार्द है ।'

चूणिकार ने इसका अर्थ—मार्गों का सार अथवा मार्ग ही है सार जिसका—ऐसा किया है ।'

श्लोक ५ :

६. काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा (कास्वेण)

देखें—इसवेजालियं ४।सूत्र १ का टिप्पण ।

१०. जो कम से प्राप्त होता है (अणुपुण्येण)

इसका आशय है कि भगवान् महावीर द्वारा कथित मार्ग क्रमशः प्राप्त होता है । प्राप्ति-क्रम के निर्देश में चूणिकार और वृत्तिकार ने अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है ।'

'माणुसवेसजाईकुलकबारोमामादयं बुद्धी ।

सवणोमहसद्धा संजमो य लोमणि बुल्लहाइं ॥'

—मनुष्य जन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तमजाति, उत्तमकुल, सुरूपता, स्वास्थ्य, दीर्घ-आयुष्य, सद्बुद्धि, धर्मश्रुति, धारणा, श्रद्धा और चारित्र—ये क्रमशः प्राप्त होते हैं ।

अत्तारि वरमंगाणि बुल्लहानीहं जंतुणो ।

माणुसत्तं सुई तद्धा, संजममि य वीरियं ॥'

चार बातें दुर्लभ हैं—मनुष्यमव, धर्मश्रुति, श्रद्धा और धर्माचरण ।

१. वृत्ति, पत्र २०१ : 'देवाः'—अनुनिकायाः तथा मनुष्याः—प्रतीताः, बाहुल्येन तयोरेव प्रवृत्तत्वात्तदुपादानम् ।

२. वृत्ति, पृ० १६५ : देवाश्चतुष्प्रकाराः एते पृच्छाक्षमा भवन्ति, तिरिया मनुस्सा (? मनुस्सा तिरिया वा), उत्तरगुणलद्धि वा पटुच्छ तियं (? तिरियं) अपि कश्चिद् गिरा वति ।

३. वृत्ति, पत्र २०१ : एवं पृष्ठं सुधर्मस्वाम्याह..... षड्जीवनिकायप्रतिपादनमर्थं तद्व्यापवचनं मार्गं 'यडिसाहिज्जे' ति—प्रति-कथयेत्, 'मार्गसारम्'—मार्गपरमावम् ।

४. वृत्ति, पृ० १६६ : मार्गाणां सारः मार्ग एव वा सारः मार्गसारः ।

५. (क) वृत्ति, पृ० १६६ ।

(ख) वृत्ति, पत्र २०१ ।

६. आवश्यक निर्वृत्ति, भाषा ८३१ ।

७. उत्तराध्ययन, ३।१ ।

अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्पगूर्वर्शन प्राप्त नहीं होता ।
 अप्रत्याख्यान " " " देशविरति " " होती ।
 प्रत्याख्यान " " " चारित्र्य लाभ नहीं होता ।
 संखलन " " " यथाख्यात चारित्र्य की प्राप्ति नहीं होती ।'

११. इससे पूर्व (इतो पूर्व)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'इस तीर्थ से पहले या आज से पूर्व' किया है ।' वृत्तिकार का अर्थ भिन्न है । उनके अनुसार इसका अर्थ है सन्सार मिल जाने के कारण प्रारम्भ से ही ।'

श्लोक ७ :

१२. बीज पर्यन्त (सबीयगा)

इसका अर्थ है—बीज पर्यन्त । दशवैकालिक (४।सूत्र ८) में भी यह शब्द प्रयुक्त है । इसके चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर तथा जिनदास महत्तर ने इस शब्द के द्वारा वनस्पति के दश भेदों का ग्रहण किया है ।' वनस्पति के दश भेद ये हैं—मूल, कद, स्कध, त्वचा, शास्त्रा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज । मूल की अन्तिम परिणति बीज में होती है ।

प्रस्तुत श्लोक के 'सबीयगा' शब्द की टीका करते हुए टीकाकार शीलांकसूरी ने इस शब्द के द्वारा केवल अनाज का ग्रहण किया है ।'

१३. पृथक् सत्त्व (स्वतन्त्र अस्तित्व) वाले (पुढो सत्ता)

जिनमें पृथक्-पृथक् सत्त्व—आत्मा हो उन्हें पृथक्सत्त्व कहा जाता है । प्रत्येक आत्मा का अस्तित्व स्वतन्त्र होता है । कोई किसी से उत्पन्न नहीं होता । पृथक्-सत्त्व के द्वारा इस सत्य की घोषणा की गई है । 'पुढो सत्ता' पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और तृण-वृक्ष आदि सभी का विशेषण है ।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—प्रत्येकशरीरी किया है ।' वृत्तिकार ने चूर्ण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—वनस्पति के जीव प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी—दोनों प्रकार के होते हैं । इसलिए साधारणशरीर की दृष्टि से वनस्पति को अपृथक् सत्त्व भी कहा जा सकता है ।'

दशवैकालिक की चूर्ण और हारिमद्रीया वृत्ति में पृथक्सत्त्व का अर्थ स्वतन्त्र अस्तित्व किया गया है ।' वह अर्थ उचित प्रतीत होता है । सत्त्व का अर्थ शरीर नहीं, अस्तित्व या आत्मा है । इसलिए उसका प्रत्येक शरीरी अर्थ प्रकरणानुसारी नहीं लगता ।

वेर्ले—दसवेआलियं ४ । सूत्र ४ का टिप्पण ।

१. आवश्यक निर्वृत्ति, गाथा १०८-११० ।

२. चूर्ण, पृ० १२६ : इत इति इतस्तीर्थावर्धं (? चात् पूर्व) अक्षतनाद्या विवसाविति ।

३. वृत्ति, पत्र २०२ : 'इत' इति सम्पार्गोपावानात् 'पूर्वम्'—आवायेवानुष्ठितत्वात् ।

४. (क) दशवैकालिक, अगस्त्यचूर्ण पृ० ७५, ८६ ।

(ख) बही, जिनदासचूर्ण पृ० १३८, १६८ ।

५. वृत्ति, पत्र २०२ : सह बीजैः—सालिगोष्पमादिभिर्वर्तन्त इति सबीजकाः ।

६. चूर्ण, पृ० १२६ : पृथक् पृथक् इति प्रत्येकशरीरत्वात् ।

७. वृत्ति, पत्र २०२ : वक्ष्यमानजनस्पतेस्तु साधारणशरीरत्वेनापृथक्सत्त्वमप्यस्तीत्यस्यार्थस्य वर्तमानं पुनः पृथक्सत्त्वग्रहणमिति ।

८. (क) दशवैकालिक ४ । सूत्र ४, जिनदास चूर्ण, पृ० १३६ : पुढो सत्ता नाम पुढबिकमोदएण सिलेसेण बहिया बट्टी पिहप्यिहं षडवस्थियसि वृत्तं पक्कं ।

(ख) हारिमद्रीया वृत्ति पत्र १३८ : अंनुत्तासंखेयवामावावाहना वारमाविकवाऽनेकजीवसमाधितेति भावः ।

इसलोक ७,८ :

१४. इसलोक ७,८ :

षड्जीवनिकायबाब भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। यह सिद्धांत भगवान् महावीर से पूर्व किसी अन्य दार्शनिक द्वारा प्रतिपादित है, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। भगवान् महावीर स्वयं कहते हैं—आर्यो ! मैंने धमज-बिर्गंधी के लिए छह जीवनिकायो—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—का निरूपण किया है।^१

प्रस्तुत प्रकरण में मार्ग का सार बतलाया है—अहिंसा। उसका आधार है—षड्जीवनिकायवाद। इसलिए षड्जीवनिकाय को जाने बिना अहिंसा को नहीं जाना जा सकता और अहिंसा को जाने बिना मोक्ष मार्ग को नहीं जाना जा सकता। भगवान् महावीर के समय में चतुर्भूतवाद और पंचभूतवाद का उल्लेख मिलता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चार महाभूत हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पांच महाभूत हैं।

अजितकेशकंबल आत्मा को चार महाभूतों से उत्पन्न मानता था और आकाश भी उसके दर्शन में सम्मिलित था। इस प्रकार उसका दर्शन पंचभूतवादी था।^२ इस पंचभूतवाद का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्यायन में मिलता है।^३

प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु का घातु के रूप में उल्लेख मिलता है।^४ ये भूत अचेतन माने जाते थे और इनसे जेतना की उत्पत्ति मानी जाती थी किन्तु भगवान् महावीर ने इन भूतों का जीवत्व स्थापित किया। उन्होंने बतलाया—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—ये सब जीव हैं। जितने प्रकार के जीव हैं, वे सब इन छह जीवनिकायो में समाविष्ट हो जाते हैं। इनसे भिन्न कोई जीव नहीं है। षड्जीवनिकाय का वर्गीकरण तीन रूपों में मिलता है—

१. पहला वर्गीकरण^५—

पृथ्वी

अप्

अग्नि

वायु

तृण-वृक्ष और बीज।

त्रस-प्राण—अबज, जरायुज, सस्वेदज, रसज।

दूसरा वर्गीकरण^६—

पृथ्वी

अप्

अग्नि

वायु

तृण-वृक्ष और बीज

अबज, पोत, जरायु, रस, सस्वेद, उदभिज्ज।

१. ठाणं १।६२ : से जहानामए अरुओ । मए समजाणं जिगंयाणं षड्जीवनिकाया पण्णासा, तं जहा—पुडविकाइया, माउकाइया, तेउकाइया, बाउकाइया, वनस्सइकाइया, तसकाइया।

२. धीषनिकाय पु० ४८।

३. सूयगडो १।१।७,८।

४. सूयगडो १।१।१८ : पुडवी आऊ तेऊ य दहा बाऊ य एगओ।

असारि धाउओ कब एवमाहुंसु जाणया ॥

५. सूयगडो १।७।१।

६. सूयगडो, १।१।८, ९।

तीसरा वर्गीकरण—

पृथ्वी
अप
अग्नि
वायु
तृण-वृक्ष और बीज
त्रस-प्राण

तीनों वर्गीकरणों में प्रथम चार मूल नाम हैं। इनमें वनस्पति का उल्लेख नहीं है, उसके प्रकार निर्दिष्ट हैं। प्रथम दो वर्गीकरणों में त्रस का उल्लेख नहीं है, उसके प्रकार निर्दिष्ट हैं। तीसरे वर्गीकरण में त्रस का उल्लेख है, उसके प्रकार उल्लिखित नहीं है। प्रथम वर्गीकरण में त्रस के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं और दूसरे वर्गीकरण में त्रस के छह प्रकार निर्दिष्ट हैं। इसमें 'पोत' और 'उद्भिज्ज' ये दो अधिक हैं। त्रस के तीनों वर्गीकरणों में सम्पूर्ण और औपपातिक का उल्लेख नहीं है। आचाराग (१।११८) में ये दोनों मिलते हैं—'से भेमि— संतिमे तसा पाणा, त जहा—अडया पोयया जराडया रसया ससेयया समुच्छिमा उब्भिया ओववाइया'। आचाराग में उपपात का प्रयोग सामान्य जन्म के अर्थ में भी मिलता है—उक्काय चवण णच्चा (३।४५), किन्तु वहाँ (१।११८) औपपातिक का प्रयोग सामान्य जन्म के अर्थ में नहीं है।

उक्त वर्गीकरणों के आधार पर क्रम-विकास का अध्ययन नहीं किया जा सकता। ये सब प्रकरण-सापेक्ष और छद-सापेक्ष हैं। आचाराग के गद्य (१।११८) में त्रस के आठ प्रकार उल्लिखित हैं और जहाँ पद्य में छह काय का निरूपण है वहाँ केवल 'तमकायं च सव्वसो' (६।१२) इतना उल्लेख मात्र है।

श्लोक ६ :

१५. अनुयुक्तियों (सम्यक् हेतुओं) से (अनुयुत्तिहिं)

अनुयुक्ति का अर्थ है—अनुरूप युक्ति अर्थात् सम्यक् हेतु ।^१

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अनुकूल साधन, युक्तिसंगत युक्ति ।^२

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य है कि मतिमान् पुरुष छह जीविकायों के जीवत्व की ससिद्धि उनके अनुकूल युक्तियों से करे। सभी जीवों की ससिद्धि एक ही हेतु से नहीं हो सकती। उनके लिए भिन्न-भिन्न युक्तियाँ होती हैं। विशेषावश्यक भाष्य गाथा १७५३-१७५८ की स्वोपज्ञवृत्ति में इन युक्तियों का सुन्दर समावेश है।^३ वृत्तिकार ने इन युक्तियों का संक्षिप्त विवरण दिया है—

१. पृथ्वी सजीव है, क्योंकि पृथ्वी रूप प्रवाल, नमक, पत्थर आदि पदार्थ अपने समान जातीय अंकुर को उत्पन्न करते हैं, जैसे अर्ण का विकार अकुर ।
२. पानी सजीव है, क्योंकि भूमि को खोदने पर वह स्वाभाविक रूप से उपलब्ध होता है, जैसे दर्दुर । अन्तरिक्ष से स्वाभाविक रूप से गिरता है, जैसे कि मत्स्य ।
३. अग्नि सजीव है क्योंकि अनुकूल आहार (ईधन) की वृद्धि से वह बढ़ती है, जैसे बालक आहार मिलने पर बढ़ता है ।
४. वायु सजीव है क्योंकि बिना किसी की प्रेरणा के वह नियमतः तिरछी गति करता है, जैसे गाय ।
५. वनस्पति सजीव है, क्योंकि उसमें उत्पत्ति, विनाश, रोग, वृद्धत्व आदि होते हैं। वह रुग्ण होती है और चिकित्सा से

१. सूच्यगो, १।११७, ८ ।

२. वृत्ति, पु० १६७ : अनुकूला युक्तिः अनुयुक्तिः ।

३. वृत्ति, पत्र २०३ : अनुकूल—वृत्तिमात्रजीविकायसाधनत्वेवानुकूला युक्तयः—साधनानि, यदि वा युक्तिसंगता युक्तयः अनुयुक्तयस्ताभिरनुयुक्तिसिः ।

४. वृत्ति, पु० १६७ ।

५. वृत्ति, पत्र २०३ ।

वह स्वस्थ होती है। उसके घन भरते हैं। उसमें आहार की इच्छा होती है, दोहव भी होता है। कुछ वनस्पतियाँ स्पर्श से संकुचित होती हैं, कुछ रात में सोती हैं और दिन में जागती हैं, कुछ दूसरे के आश्रय से उपसर्पण करती हैं।

१६. जीवों को दुःख अप्रिय है (अकन्तबुद्ध्या)

अकन्त का अर्थ है—अकान्त—अप्रिय, अनिष्ट। शारीरिक और मानसिक दुःख सबको अकान्त है, इसलिए सब प्राणी अहिंस्य है।^१

अहिंसा का आधार है—जीव। तब जीव में गति होती है, इसलिए उसकी पहचान हमारे लिए स्पष्ट है। दूसरे जीवों की पहचान तब में प्राप्त लक्षणों के आधार पर की जाती है। अहिंसा का दूसरा आधार है कि कोई भी जीव दुःख नहीं चाहता।

श्लोक १० :

१७. समता अहिंसा है (अहिंसा समयं)

प्रस्तुत श्लोक १।१।८५ में आया हुआ है। इसकी व्याख्या में जूणिकार और वृत्तिकार का मतभेद है।

जूणिकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

अहिंसा ही समता है। जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही दूसरे जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है। अथवा मुझे पीड़ित करने से मुझे दुःख होता है वैसे ही दूसरे जीवों को पीड़ित करने से उन्हें दुःख होता है। इसलिए अहिंसा समता है या समता ही अहिंसा है।^१

वृत्तिकार ने 'समय' का अर्थ आगम किया है। उनके अनुसार 'अहिंसा-समय' का अर्थ है—अहिंसा प्रधान आगम अथवा उपदेश। यह अर्थ मूलस्पर्शी नहीं लगता।^१

वस्तुतः प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि पठने का सार है—हिंसा से निवृत्त होना। सबके साथ समान बर्ताव करना यही समता है, यही अहिंसा है।

श्लोक ११ :

१८. श्लोक ११ :

यह श्लोक १/३/८०, १/८/१६ में आ चुका है।

टिप्पण के लिए देखें—१/३/८०।

श्लोक १२ :

१९. जितेन्द्रिय पुरुष (पशु)

जूणिकार ने प्रभु के तीन अर्थ किए हैं—

१. जूणि, पृ० १६७ : सारिरं मानसं वा लब्धेति अणिदं अकन्तं अपियं बुक्कं, अत इत्यस्मात् कारणाद् नबकेन मेदेन अहिंसजीया अहिंसकाः।

२. जूणि, पृ० १६८ : अहिंसा समयं ति, समता 'अध मम न पियं बुक्कं' गाथा अथवा यथा हिंसितस्य दुःखमुत्पद्यते मम, एवमप्या-
ख्यातस्यापि क्षोरियातो बाणस्य, दुःखमुत्पद्यते, एवमप्येवमपि इत्यतो अहिंसासमयं वेध।

३. वृत्ति, पृ० २०३ : तदेवमहिंसाप्रधानः 'समय—आगमः संकेतो बोधेशरूपः।

४. जूणि, पृ० १६८ : पञ्चवतीति प्रभुः, वरयेन्द्रिय इत्यर्थः, न वा मंयमावरणानां कर्मणां बरो वरते। अथवा स्वतन्त्रत्वाद् जीव एव प्रभुः, शरीरं हि वरतन्त्रम्, मोक्षमार्गं बाणुपसा (?) पालं यितव्ये प्रभुः।

१. जितेन्द्रिय ।

२. आत्मा ।

३. मोक्ष-मार्ग (ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य) की अनुपालना में समर्थ ।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. जितेन्द्रिय ।

२. संयम के आवारक कर्मों को तोड़कर मोक्ष-मार्ग का पालन करने में समर्थ ।

२०. दोषों (क्रोध आदि) का (दोषे)

वृत्तिकार ने क्रोध आदि को दोष माना है और वृत्तिकार ने पांच आलस-द्वारो—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को दोष माना है ।^१ प्रकरण के अनुसार 'दोष' का अर्थ द्वेष प्रतीत होता है । मनुष्य द्वेष के कारण दूसरो के साथ विरोध करता है । इसीलिए बतलाया गया है कि द्वेष का निराकरण कर किसी के साथ विरोध न करे ।

२१. निराकरण कर (निराकिञ्चया)

वृत्तिकार ने 'जिरे किञ्चा' पाठ की व्याख्या की है । 'जिरे' अव्यय है । इसका अर्थ है—पीठ पीछे ।^२

श्लोक १३ :

२२. संबृत (संबुद्धे)

संबृत का अर्थ है—प्राणातिपात आदि आलसों को रोकने वाला अथवा इन्द्रिय और मन का सवरण करने वाला ।^३

२३. एषणा समिति से युक्त (एसणासमिष्ट)

एसणा के तीन प्रकार हैं—

१. गवेषणा—भिक्षा की खोज में निकलकर मुनि आहार के कल्प्य-अकल्प्य के निर्णय के लिए जिन नियमों का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है उसे गवेषणा कहते हैं ।
२. ग्रहणेषणा—आहार को ग्रहण करते समय जिन नियमों का पालन करना होता है, उसे ग्रहणेषणा कहते हैं ।
३. प्रासेषणा या परिभोगेषणा—प्राप्त आहार को खाते समय जिन नियमों का पालन किया जाता है, वह है प्रासेषणा या परिभोगेषणा ।^४

श्लोक १४ :

२४. जीवों का (भूयाहं)

भूत का अर्थ है—प्राणी । जो प्राणी अतीत में थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, वे भूत कहलाते हैं—यह टीकाकार का अभिमत है ।^५

१. वृत्ति, पत्र २०४ : इन्द्रियानां प्रवृत्तीति प्रभुर्बन्धेन्द्रिय इत्यर्थः, यदि वा संयमावारकानि कर्मान्यसिन्धूय मोक्षमार्गे पालयितव्ये प्रभुः—समर्थः ।

२. वृत्ति, पृ० १२५ : दोषाः क्रोधादयः ।

३. वृत्ति, पत्र २०४ : ब्रूयमतीति दोषा—मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगास्तान् ।

४. वृत्ति, पृ० १२५ : जिरे इति युक्तः कृत्वा ।

५. वृत्ति, पृ० १२५ : हितावाक्यसंबृतः इदिव-बोद्धव्यमात्रसंबुद्धो वा ।

६. वृत्ति, पत्र २०४ : अन्तर्बन्धुः कर्तव्यः अविध्यन्ति वा प्राप्तिवस्तानि भूतानि—प्राप्यः ।

श्लोक १५ :

२५. वृत्तिकर्म (अन्न पान) का (वृत्तिकर्म)

इसका अर्थ है—आधाकर्मी आहार से मिश्रित भोजन । यह उद्गम का तीसरा दोष है ।

देखें—दसवेअलियं ५/५५ का टिप्पण, पृ० २३६ ।

२६. संयमी का (वृत्तिकर्म)

देखें—८/२० का टिप्पण ।

२७. सर्वथा (सर्वथा)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—प्राण निकलते हो तो भी—किया है ।^१ वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—सभी प्रकार का (आहार, उपकरण आदि) ।^२

श्लोक १६-२१ :

२८. श्लोक १६-२१ :

प्रश्न करने वाला स्वतंत्र होता है । वह अपनी इच्छा के अनुसार प्रश्न पूछ सकता है, किन्तु उत्तर देने वाले की बुद्धि और विवेक—दोनों का संतुलन रहना होता है । कोरा बौद्धिक उत्तर हिंसा का निमित्त बन सकता है और अन्य समस्याएं भी उत्पन्न कर सकता है, इसलिए उत्तरदाता को विवेक से काम लेना होता है ।

अनेक प्रकार के लोग होते हैं । कुछ श्रद्धालु होते हैं, कुछ श्रद्धालु नहीं होते । कुछ श्रद्धालु लोग दानरुचि वाले होते हैं । वे दान देने में श्रद्धा रखते हैं । वे साधु से पूछते हैं—हम लोग ब्राह्मण या भिक्षु का तर्पण करते हैं । उसमें धर्म होता है या पुण्य होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में मुनि 'हां' या 'ना' न कहे—यह सूत्रकार का निर्देश है । इसका कारण सूत्र में स्पष्ट है ।

वृत्तिकार ने—'पुण्य होता है, ऐसा न कहे'—इसके कुछ कारण बतलाए हैं । उनके अनुसार ऐसा कहने से मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है । उस आहार से पुष्ट होकर भिक्षुक असंयम करते हैं, उसका अनुमोदन होता है ।^३

'पुण्य नहीं होता'—ऐसा इसलिए नहीं कहना चाहिए कि जिन्हें दिया जा रहा है उसके अन्तराय होता है । वृत्तिकार ने बतलाया है कि मुनि ऐसे प्रसंग में मौन रहे । यदि प्रश्नकर्ता बहुत आग्रह करे तो बताए कि हम आधाकर्मी आदि बयालीस दोष रहित पिंड को प्रथस्त मानते हैं ।^४

इसका तात्पर्य यह है कि जहां वर्तमान में दान की प्रवृत्तियां चल रही हो, उन्हें लक्षित कर धर्म या पुण्य होता है या नहीं होता, इस प्रकार का प्रश्न करे तब मुनि को मौन रहना चाहिए । यह उसका वाणी का विवेक है ।

श्लोक २२ :

२९. तीर्थंकरों के निर्वाण परम होता है (निर्वाण परमा बुद्धा)

वृत्तिकार ने बुद्ध का अर्थ अर्हत् किया है । उनके शिष्य बुद्ध-बोधित कहलाते हैं । वे निर्वाण को परम या प्रधान मानते हैं । वेदना को शान्त करने के जितने सांसारिक प्रतिकार हैं वे निर्वाण के अनन्तवें भाग तक भी नहीं पहुंच पाते, इसलिए निर्वाण को परम

१. वृत्ति, पृ० १६६ : सर्वस इति यद्यपि प्राणास्थयः स्यात् ।

२. वृत्ति, पृ० २०४ : सर्वसः—सर्वप्रकारम् ।

३. वृत्ति, पृ० १६६ : अल्प पुण्यं ति जो बदे, मिच्छसत्तिरीकरणं, अं च तेनाऽऽहारेण परिवृद्धा करेत्संति असंयमं, अप्यायं परं च वृत्तिं भावेति तदनुवर्तते अस्ति ।

४. वृत्ति, पृ० १६६ : तुत्तिणीएहि अचिच्छतम्, मिच्छं वा वतीति—अहं आधाकर्मी आदिबयालीसदोषपरिपुद्धो पिंडो यस्मिन् ।

माना गया है।^१ अर्हत् की दृष्टि में वेदना के अन्य सब उपचार अस्थायी हैं। उसका स्थायी उपचार निर्वाण है। इसकी पुष्टि वीर-स्युति के उस सूक्त से होती है 'निर्वाणभावियों में शासपुत्र अष्ट है।'^२

३०. जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा (नक्षत्राण्यथ चन्द्रमा)

ग्रह, नक्षत्र और ताराओं की कान्ति, सौम्यभाव, प्रमाण और प्रकाश की दृष्टि से चन्द्रमा उनसे प्रधान होता है। इसी प्रकार सांसारिक सुखों से निर्वाण सुख परम है, अधिक है।^३

३१. संधान करे (संघए)

संधान दो प्रकार का होता है—छिन्न-संधान और अछिन्न-संधान। जो बीच में टूट जाता है वह छिन्न-संधान होता है। पूर्णिकार ने बतसाया है कि साधक निर्वाण के मार्ग को स्वीकार कर अछिन्न-संधान के द्वारा उसका संधान करे।^४

इलोक २३ :

३२. कस्याणकारी (साधुतं)

मूल शब्द 'साधुक' है। तकार की अनुश्रुति के अनुसार 'क' के स्थान पर 'त' हुआ है।

इसका अर्थ है—कस्याणकारी।

३३. द्वीप (या दीप) का (दीपं)

इसके दो अर्थ हैं—द्वीप और दीप। यहाँ द्वीप का अर्थ ही विवक्षित है।^५

जैसे समुद्र में गिरा हुआ प्राणी लहरो के थपेड़ों से आकुल-व्याकुल होकर मरणासन्न हो जाता है, उसको यदि कहीं द्वीप प्राप्त हो जाता है तो वह अपने प्राण बचा लेता है। उसी प्रकार भगवान् का धर्म संसारी प्राणियों के लिए द्वीप के समान है।

स्रोत में बहने वाले प्राणियों के लिए द्वीप जैसे प्रतिष्ठा होता है, वैसे ही यह मार्ग संसार सागर में बहने वाले प्राणियों के लिए प्रतिष्ठा होता है।^६

उत्तराध्यायन में धर्म को द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और शरण कहा गया है।^७

इलोक २४ :

३४. (आयुगुप्ते सया वंते छिन्नसोए जिरासवे)

आत्मगुप्त का अर्थ है—इन्द्रिय और मन का प्रत्याहार करने वाला। दांत के दो अर्थ हैं—इन्द्रिय और मन को वश में करने वाला तथा धर्मध्यान का ध्याता। ओत का अर्थ है—हिंसा आदि आशय। जो व्यक्ति इनका छेदन कर देता है वह छिन्नओत होता

१. बुद्धि, पृ० २०० : जेष्ठाणं परमं जेतं ते इमे जेष्ठाणपरमा एते बुद्धा अरहन्तः, तन्निष्ठया बुद्धबोधिताः, परमं निर्वाणमित्यतोऽन्य-
तुल्यम्, नास्य सांसारिकानि तानि तानि वैद्यनाप्रतीकाराणि निर्वाणानि जनस्तत्राग्रेऽपि तिष्ठन्तीति ।

२. सुवर्णगो, १।६।२१ : विष्वाणवादीनिह पायपुत्ते ।

३. बुद्धि, पृ० २०० : न कायं यासीति नक्षत्राणि, तेष्वः काम्या सौम्याश्चैन प्रमाणेन प्रकाशेन च परमश्चन्द्रमाः नक्षत्र-ग्रह-ताराकाभ्यः,
एवं संसारसुखेष्वोऽधिकं निर्वाणमुक्तामिति ।

४. बुद्धि, पृ० २०० : सोऽसम्यक्विबन्धे उत्तरगुर्णेहि बहुधावर्तेहि अछिन्नसंघनाए जेष्ठाणं संघेज्जा ।

५. बुद्धि, पृ० २०० : दीप्यतीति दीपः, द्विषा विवर्ति वा द्वीपः, स तु आश्वाने प्रकाशे च, इहाऽऽश्वासद्वीपोऽधिकृतः ।

६. बुद्धि, पृ० २०६ ।

७. उत्तराध्यायन २।३।६ च : अरावरककेणं, बुद्धमावाण वाणिणं ।

छन्तो दीपो पङ्कजं च, चर्हि शरणपुत्तम् ॥

है। जो छिन्नस्रोत होता है वही निरास्रव होता है।'

आयुष्मते आदि इन चार पदों में साधना का क्रम बतलाया है। साधक को सर्वप्रथम प्रत्याहार करना होता है, इन्द्रिय और मन की गति को बदलना तथा उन्हें बाहर से हटाकर भीतर में स्थापित करना होता है। यह गुप्ति की प्रक्रिया है। गुप्ति का बार-बार अभ्यास करने से इन्द्रिय और मन दान्त—उपशान्त हो जाते हैं। जैसे-जैसे उनकी शांति बढ़ती है वैसे-वैसे उनका स्रोत सूखता जाता है। एक बिन्दु ऐसा आता है जब स्रोत सर्वथा छिन्न हो जाते हैं। उस अवस्था में साधक निरास्रव बन जाता है।

३५. प्रतिपूर्ण (पटिपूर्ण)

वही धर्म प्रतिपूर्ण होता है जो सभी प्राणियों के लिए हितकर, सुखकर, सबके लिए समान, निरुपाधिक, सर्वविरतिमय, मोक्ष में ले जाने वाला होता है। अथवा जो धर्म दया, सयम, ध्यान आदि धर्मों के कारणभूत तत्त्वों से सहित होता है वः प्रतिपूर्ण होता है।'

श्लोक २५ :

३६. वे समाधि से दूर हैं (अंतए ते समाहिए)

वे भिक्षु समाधि से दूर हैं। उन्हें मोक्ष समाधि प्राप्त नहीं हो सकती। अनेकाग्र होने के कारण उन्हें इहलोक में भी जब समाधि प्राप्त नहीं होती तब उन्हें परमसमाधि की प्राप्ति कैसे हो सकती है? वे समार में रहते हुए भी इन्द्रिय-सुखों से वंचित रहते हैं और उन्हें परम समाधि का सुख भी प्राप्त नहीं होता। क्योंकि जहा हिंसा और परिग्रह है वहा एकाग्रता नहीं होती। जहा एकाग्रता नहीं होती वहा चार प्रकार की भावनाएँ (कायानुपश्यना, वेदानुपश्यना, चिस्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना) प्राप्त नहीं होती। वे सुख से सुख पाने की बात सोचते हैं।'

३७. श्लोक २५-३१ :

प्रस्तुत आलापक (२५-३१) में बौद्धदृष्टि की समीक्षा की गई है। प्राणीमात्र को आश्वासन देने वाला धर्म—अहिंसा धर्म सुख धर्म होता है। जो इसे नहीं जानते वे अबुद्ध होते हैं। बौद्ध बुद्धवादी हैं। वे समाधि की साधना करते हैं, फिर भी आरंभ और परिग्रह में आसक्त होने के कारण उसे उपलब्ध नहीं होते। वे हिंसा भी करते हैं और ध्यान भी करते हैं। वे आत्मा को नहीं जानते, इसलिए समाधिस्थ भी नहीं हो सकते।

श्लोक २६ :

३८. श्लोक २६ :

प्रस्तुत श्लोक में चूणिकार ने बौद्ध परंपरागत कुछेक व्यवहारों का निर्देश किया है। बौद्ध भिक्षु अपने लिए कृत भोजन-पानी

१ (क) चूणि, पृ० २०० : आत्मसि आत्मसु वा गुप्त आत्मगुप्तः, इन्द्रिय-नोइन्द्रियगुप्त इत्यर्थः, न तु यस्य गृहादीनि गुप्ताणि। हिंसादीनि श्रोतांसि क्षिप्रानि यस्य स भवति छिन्नस्रोते, छिन्नश्रोतस्त्वादेव निरास्रवः।

(ख) वृत्ति, पृ० २०६ : मनोबाह्यकार्यात्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः, तथा 'सदा'—सर्वकालमिन्द्रियनोइन्द्रियव्ययमेव आत्मो—वश्येन्द्रियो धर्मध्यानध्यायो वेत्यर्थः, तथा क्षिप्रानि—श्रोतितानि संसारश्रोतांसि येन स तथा, एतदेव स्पष्ट-तरमाह—निर्गत आस्रवः—प्राणातिपातादिकः कर्मप्रवेशद्वारक्यो यस्मात् स निरास्रवः।

२. चूणि, पृ० २००, २०१ : प्रतिपूर्णमिव सर्वसत्त्वानां हितं सुहं सर्वाजितेष्वं निवपधं निर्वर्हिक्ं मोक्षं नैयायिकम् इत्यतः प्रतिपूर्णम् अथवा सर्वैर्ज्ञा-ब्रह्म-व्यानादिभिर्धर्मकारणैः प्रतिपूर्णमिति।

३. चूणि, पृ० २०१ : ब्रूतस्ते समाधिः। कथम्? इहलोकेऽपि तावत् तेऽनेकाग्रत्वात् समाधिं न लभन्ते कुतस्तर्हि परमसमाधिं मोक्षम्?। तथा—साक्षाः अबुद्धा बुद्धाविवः सुखेन सुखमिच्छन्ति, इहलोकेऽपि तावद् ग्रामव्यापारेण सुखमाश्वासयन्ति, कुतस्तर्हि परमसमाधिसुखमिति?। उक्तं हि—'तत्रैकाग्रं कृतो ध्यानं, यत्राऽऽरम्भ-परिग्रहः? इति। अतस्ते बहुभिधाए आबजाए ब्रूतः।

लेते हैं। वे धान्य आदि के कणों को सजीव नहीं मानते। उपासक उनके लिए पचन-पाचन करते हैं। वे उनका अनुमोदन भी करते हैं। वे जीव में अजीव की और तत्त्व में अतत्त्व की बुद्धि रखते हैं। वे संघमत्त आदि की सतत कामना करते हैं। वे अतीत में किए गए संघमत्तों की तथा भविष्य में किए जाने वाले संघमत्तों की गणना करते रहते हैं। यदि उनके भी ध्यान हो तो फिर ध्यान किसके नहीं होगा? उन भिक्षुओं के विहार भित्तिचित्रों से भरपूर होते हैं। उनकी परंपरा है कि वे अपने लिए मारे हुए पशु का मांस नहीं लेते। किन्तु यदि वह मांस कोई दूसरा व्यक्ति खरीद कर दे तो वे उसे ग्रहण कर लेते हैं। उसे वे 'कल्पिक' कहते हैं। आज भी तिब्बत आदि बौद्ध देशों में 'कल्पिक' जाति के रूप में एक वर्ग है। उस वर्ग के लोग बौद्ध भिक्षुओं के लिए मांस खरीद कर उन्हें देते हैं। यह उनका मुख्य कार्य है। ऐसे हजारों स्त्री-पुरुष वहाँ हैं। देने वाली उन दासियों को 'कल्पकारी' कहा जाता है और मांस को कल्पिक कहते हैं। संभव है जूणिंकार के समय में भारत में भी बौद्ध परंपरा में यह प्रथा रही हो। जूणिंकार ने इस पर ध्यान करते हुए एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। बर्बर जाति के एक व्यक्ति ने मांस का प्रत्याख्यान कर दिया। अपनी प्रतिज्ञा को पालने में असमर्थता दिखाई दी। उसने मांस का नाम 'भ्रमर' रखा और खा लिया। क्या वह उसको खाता हुआ अमांसभक्षी कहा जा सकता है? लूता (मकड़ी) का नाम शीतलिका रख देने मात्र से क्या वह नहीं मार देती? विष का नाम 'मधुर' रख देने मात्र से क्या वह मृत्यु का कारण नहीं बनता?

इसी प्रकार बौद्ध भिक्षु संज्ञाओं का भेद कर आरंभ में प्रवृत्त होते हैं। वे प्रवृत्तियाँ उनके निर्वाण के लिए नहीं होतीं। वे वैराग्य की द्योतक भी नहीं होती। जो भिक्षु ऐसे विहार या लयनो (गुफाओं) में रहते हैं, जो कामोत्तेजक चित्रों से चित्रित हैं, उनके वहाँ ध्यान कैसे संभव हो सकता है? जो भिक्षु मांस लेते समय कल्पिकारियों को व्यवहृत करते हैं, उनके द्वारा खरीदा हुआ मांस खाते हैं, उनके भी ध्यान कैसे हो सकता है? जो पचन-पाचन में प्रवृत्त है, जो केवल अपने शरीर का ही ध्यान रखते हैं, जो प्रतिपल मनोज्ञ, पान, भोजन, विहार, वस्त्र आदि का ध्यान रखते हैं, जो सोचते रहते हैं—आज कौन उपासक संघमत्त करेगा? आज कौन भक्त वस्त्र-दान करेगा आदि, उनके ध्यान कैसे हो सकता है? उनके बुद्ध ध्यान ही ही नहीं सकता।

३६. नहीं जानते (अवेतण्णा)

इसका संस्कृत रूप है—अवेतज्ञाः। जूणिंकार ने इसका अर्थ—मोक्षमार्ग और शुद्ध ध्यान को न जानने वाला किया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'अनिपुण' किया है।

४०. वे असमाहित चित्त वाले होते हैं (असमाहिया)

इसका अर्थ है—असंवृत। जो मनोज्ञ पान, भोजन और आवास आदि का निरंतर चिन्तन करते हैं, जो यह सोचते हैं कि आज संघ को कौन भोजन-पान देगा? कौन वस्त्र देगा?, वे असमाहित होते हैं। वे शुद्ध ध्यान करने के अधिकारी नहीं होते। वृत्तिकार ने असमाहित का अर्थ समाधि से दूर (शून्य) किया है।

१. जूणि, पृ० २०१ : बीयाणि सचेतनाणि शास्पादीनाम, भु (?) समपि च उदकं सचेतनमेव, हरिद्रा—कषकोदकवत्, तमुद्दिश्य च कुत उपासकादिभिः, स्वयं च पाचयन्ति पक्षकारिकादयः, तेषां हि यत्ने कारिका भवन्ति, अनुजानते च सुपक्वं सुसृष्टमिति, जीवेषु च अजीवबुद्धयः अतस्त्वे तत्त्वबुद्धयः बराकास्तकारिणस्तद्बुद्धेर्विशेषः सङ्कुमत्तानि गणयन्तोऽतोऽतोऽता-ज्जागतानि च प्रार्थयन्तः ज्ञानं ज्ञानं क्रियावन्ति, ज्ञानं परोक्षस्तदाविषु, तेषां ज्ञानं यत्ति ध्यानं ध्यायन्ति, को हि ज्ञानं न ध्यानं ध्यायन्ति ? ।

ज्ञान-क्षेत्र-गृहादीनां गणां प्रेक्ष्यजनस्य च ।

यत्र प्रतिग्रहो वृष्टो ध्यानं तत्र कुतः शुभम् ? ॥

तच्चित्तकम्मा य तेषां आवासना विहारकुडोडं ति, मांसं कल्पिक इत्यपचिश्यते, दासीयो कल्पयारीडं ति । यथा वर्धरेण मांसस्य प्रत्याख्यानं अशक्नुवता तमनुपासयितुं भ्रमरमिति संज्ञां कृत्वा ज्ञितम्, किमसौ तद् भक्षयन् निर्विशिको भवति ?, लूता वा शीतलि-काभिज्ञानेनाभिलष्यमाना किं न मारयति ? । एवं तेषां न संज्ञास्तरपरिकल्पितास्ते आरम्भा निर्वाणाय भवन्ति, न च वैराग्यकरा भवन्ति । तेषां तावद् भिक्षाहारा भवन्ति तेषां सविकारस्त्रीकवसचित्रकर्मसु तेनेषु वसन्ति, तेषामपि तावत् कुतो ध्यानम् ? किमङ्ग पुनः कल्पिकारीध्याययताम् ? पचन-पाचनप्रवृत्तानां तनुमेव जानुमेवमाणानां कुतो ध्यानम् ? ।

२. जूणि, पृ० २०१ : ते हि मोक्षमार्गस्य ध्यानस्य च शुद्धस्य अवेतण्णा अजाणया ।

३. वृत्ति, पृ० २०७ : अवेतज्ञाः—अनिपुणाः ।

४. जूणि, पृ० २०१ : असमाहिता याव अतंभूताः, मनोज्ञेषु पान-भोजना-ऽऽवसावनादिषु निर्याधयसिताः 'कोऽयं संघमत्तं करेज्जा ? मोक्षय परिकल्पार् हेतव्यं वदन्ति ? इत्येवं निरत्येवार्तं ध्यायन्ति ।

५. वृत्ति, पृ० २०७ : असमाहिता मोक्षमार्गाध्या-ज्ञावसनाधेरतंभूततया दुरेण वर्तन्त इत्यर्थः ।

श्लोक २७ :

४१. डंक कंक (डंका य कंका य)

देखें—१/६२ का टिप्पण ।

४२. मछली की खोज में ध्यान करते हैं (मच्छेसणं मियायंति)

“ डंक आदि जलचर पक्षी मछली की खोज में निश्चल होकर जल के मध्य में खड़े रहते हैं । वे इतने निश्चल हो जाते हैं कि जल हिले-डुले नहीं । जल के हिलने से मछलियां बच निकलकर भाग न जाएं—यह उनका ध्यान रहता है ।”

श्लोक ३० :

४३. जन्मान्ध व्यक्त (जाइअंधो)

जात्यन्ध का शाब्दिक अर्थ है—जन्मान्ध । वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन दिशाओं में कितना खला, कितना चलता भ्रम है, को नहीं जानता ।”

श्लोक ३१ :

४४. महाभय को (महभयं)

इसका शाब्दिक अर्थ है—महान् भय ।

सृष्टिकार ने इसका भावात्मक अर्थ—जन्म-जरा-मरण-बहुल संसार किया है । वह पुरुष एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु में और एक दुःख से दूसरे दुःख में जाता है । इस प्रकार वह हजारों भय करता है । यह उसके महान् भय का हेतु बनता है ।”

वृत्तिकार ने बार-बार संसार में पर्यटन करने से होने वाले दुःख को ‘महाभय’ माना है ।”

श्लोक ३३ :

४५. ग्राम्य-धर्मों (शब्द आदि विषयों) से (ग्रामधर्मेहि)

ग्राम्यधर्म का अर्थ है मंथुन । सृष्टिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ शब्द आदि विषय किया है ।”

४६. जीव है (जगा)

यह देशी शब्द है । इसका अर्थ है—प्राणी ।”

१. बृजि, पृ० २०२ : मच्छेसणं मियायंति, निश्चलास्तिष्ठन्ति जलमण्डले उडगमक्कोभेन्ता, मा भूमस्स्यादयो मच्छयन्ति उत्तसिध्यन्ति वा ।

२. बृजि, पृ० २०२ : जातित एव अन्धो जात्यन्धः पूर्वा-ऽपर-दक्षिणोत्तराणां दिशां मार्गाणां गत-गन्तव्यस्थानभिन्नः एतावद् गतं एतावद् गन्तव्यम् ।

३. बृजि, पृ० २०२ : महभयमिति संसार एव जाति-जरा-मरणबहुलो । तं जघा—गर्भतो गर्भं जन्मतो जन्मं मारयो मारं दुःखतो दुःखं, एवं जलसहस्ताहं पर्यटन्ति बहून्पि ।

४. वृत्ति, पत्र २०८ : ‘महाभयं’ योनः पुण्येन संसारपर्यटनया तारकाविस्वभावं दुःखम् ।

५. (क) बृजि पृ० २०३ : ग्रामधर्माः शब्दादयः ।

(ख) वृत्ति, पत्र २०६ : ग्रामधर्माः—शब्दादयो विषयाः ।

६. (क) बृजि, पृ० २०३ : जग ति जायत इति जगत् तस्मि जगति विद्यन्ते ये, जायन्त इति वा जगाः जन्तवः ।

(ख) वृत्ति, पत्र २०६ : जगा इति जन्तवो जीवितादिभिः ।

अन्य तीर्थंकरों ने भी इसका प्रतिपादन किया था ?^१ शास्त्रकार इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं कि जो अतीत काल में अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं, जो भविष्य काल में अनन्त तीर्थंकर होंगे और जो वर्तमान में संख्येय तीर्थंकर हैं—उन सबने इसी निर्वाण-मार्ग का प्रतिपादन किया था, करेंगे और कर रहे हैं। केवल प्रतिपादन ही नहीं, सबने इस मार्ग का अनुसरण किया था, करते हैं और करेंगे।

चूर्णिकार ने 'बुद्ध' का अर्थ तीर्थंकर या आचार्य किया है।^२

चूर्णिकार ने शांति के दो अर्थ किए हैं—चारित्र्यमार्ग, निर्वाण।^३ वृत्तिकार ने भी दो अर्थ किए हैं—भावमार्ग, मोक्ष।^४

५२. पृथ्वी (जगई)

इसके दो अर्थ हैं—

१. स्थावर और जंगम जीवों का आधार पृथ्वी।^५

२. तीन लोक।^६

इसलोक ३७ :

५३. उनसे हृत-प्रहृत न हो (न तेहिं विणिहण्णेज्जा)

संयम-मार्ग में अनेक कष्ट आते हैं। मुनि उनसे त-प्रहृत होने पर भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य मार्ग से च्युत न हो। क्रमशः उन परीषहों को जीतता हुआ मुनि संयमवीर्य को वृद्धिगत करे जिससे कि वे बड़े कष्ट भी छोटे हो जाएं, महान् उपसर्ग भी तुच्छ हो जाएं।^७

एक अहीरन युवती थी। उसकी गाय ने बछड़ा दिया। उसी दिन से वह युवति उस बछड़े को उठाकर गाय के पास ले जाती और जब स्तनपान कर लेता तब उसे वापस ला खूटे से बांध देती। यह क्रम प्रतिदिन चलता रहा। बछड़ा बढ़ता गया। युवति में उठाने की शक्ति भी बढ़ती गई। यह क्रम चार वर्ष तक चला। बछड़ा चार वर्ष का बल हो गया। परन्तु युवति उसको सहजतया उठाकर चल देती, क्योंकि उसका वह प्रतिदिन का अभ्यास बन गया था।

इसी प्रकार मुनि भी क्रमशः परीषहों पर विजय पाता हुआ सन्मार्ग से कभी च्युत नहीं होता। जीतने के अभ्यास से उसकी शक्ति क्रमशः वृद्धिगत होती रहती है। एक दिन ऐसा आता है कि बड़े से बड़े कष्ट को भी हमसे हुए झेलने में वह सफल हो जाता है।^८

१ (क) बुद्धि, पृ० २०४ : किमेवं बद्धमानस्वामी एतन्मार्गमुपविष्टवान् उताग्येऽपि तीर्थंकराः ?

(ख) वृत्ति, पत्र २०६ : अथैवंभूतं जायमानं किं वर्धमानस्वाग्येऽप्युपविष्टवान् उताग्येऽपि ।

२. बुद्धि, पृ० २०४ : ते आचार्या वा ।

३. बुद्धि, पृ० २०४ : शास्त्रिस्त्वारित्रमार्गं इत्यर्थः : निर्वाणं वा शास्त्रिः ।

४. वृत्ति, पत्र २०६, २१० : शास्त्रिः—आद्यमार्गः वृत्ति वा शास्त्रिः—मोक्षः ।

५. बुद्धि, पृ० २०४ : जगती नाम पृथिवी ।

६. वृत्ति, पत्र २१० : जगती—त्रिलोकी ।

७. बुद्धि, पृ० २०४ : न तेहिं उरिणोहि वि जाण-वंसण-वरित्तसंजुसाओ मग्गाओ विणिहण्णेज्जा, (आन्)पुण्णोए जिनंतो सवमधीरियं उण्णावेज्जासि त्ति, जग्घा ते पुण्णा वि उरिण्णा लहुणा नवन्ति ।

८. (क) बुद्धि, पृ० २०४ : वृष्टान्तः आसीरयुवतिः—जातमेतं वरुणं बुद्धिं वेसाए उक्खिद्विक्ख जिरुत्तामेति, पीतं धनं पुनः प्रवेसयति । तमेवं कमलो बद्धमानं अहुरहर्षेयं कुर्वती जाव अउहायणं वि उक्खिसेति । एव वृष्टान्तः । अयमर्थोपमयः—एवं साक्षुरपि सम्मागत् कमलो जग्घा उदीर्येरपि परीषहेनं जिहयेत ।

(ख) वृत्ति, पत्र २१० : परीषहोपसर्गजयव्याप्तासकमेण विधेयः अभ्यासवसेन हि दुष्करमपि सुकरं भवति, जत्र च वृष्टीतः, तद्वथा—करिचङ्गोपसर्गवृष्टीतं तर्ककमुत्तिग्य गवान्तिक नवस्यानयति च, ततोऽसावनेनैव च कमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्तमुत्तिग्य पत्तम्यासवत्तावृष्टीयणं त्रिहायवमप्युत्तिग्यति, एवं साक्षुरभ्यासात् समैः-धर्मैः परिषहोपसर्गजयं विधत्त इति ।

श्लोक ३८ :

५४. धीर मुनि (धीरे)

इसके दो अर्थ हैं—

१. बुद्धिमत् ।

२. कष्टों से न चबूराने वाला ।

५५. काल की आकांक्षा (प्रतीक्षा) करे (कालमाकंक्षे)

मरण-काल की आकांक्षा करे अर्थात् वह यह सोचे कि जीवन पर्यन्त मुझे इस सम्मार्ग पर निरन्तर चलना है ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ— मृत्यु की आकांक्षा करे—किया है ।

यहां 'आकंक्षे' का अर्थ प्रतीक्षा करना उपयुक्त लगता है । जैन परम्परा के अनुसार यह मान्य है कि मुनि न जीवन की आकांक्षा करे और न मृत्यु की आकांक्षा करे । वह संयम का पालन करता हुआ मृत्यु की प्रतीक्षा करे ।

५६. केवली का मत है (केवलियो मतं)

सुधर्मा ने जबू से कहा— तुमने मुझे मार्ग का स्वरूप पूछा था । मैंने उसका प्रतिपादन अपने मन से नहीं किया है । केवली भगवान् ने जैसा उसका प्रतिपादन किया वही मैंने प्रस्तुत किया है ।

१. मुनि, पत्र २१० : धीः—बुद्धिस्तथा राजत इति धीरः, परीक्षितोपसर्गलोभ्यो वा ।

२. मुनिः पु० २०४ : कालं काङ्क्षतीति कालमाकंक्षी, मरणकालमित्यर्थः । कोऽर्थः ? तावदनेन सम्मार्गेण अविवक्ष्यं गन्तव्यं कावन्मरणकालः ।

३. मुनि, पत्र २१० 'कालं'—मृत्युकारणं मरणप्रसङ्गादुच्यते ।

४. मुनि, पत्र २१० : जम्बूद्वीपमिहमुनिस्तु सुधर्मेत्याख्याह—तस्मैकारणं मार्गस्वरूपं अस्मिन् तन्मया न स्वमनीषिकया कथितं, किं तस्मिन् ? केवलियो मतमेतदित्येवं जम्बूद्वीपम् ।

(अ) मुनि, पु० २०४ ।

बारसमें अजस्यरणं
समोसरणं

बारहवां अभ्ययन
समवसरण

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—'समवसरण'। समवसरण का अर्थ है—बाद-संक्रम। जहाँ अनेक दर्शनों या दृष्टियों का मिलन होता है, उसे समवसरण कहते हैं।^१ इस अध्ययन में क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद—इन चारों वादों (तीन सी तिरिस्त अवान्तर भेदों) की कुछेक मान्यताओं की समालोचना कर, यथार्थ का निश्चय किया गया है। इसलिए इसे समवसरण अध्ययन कहा गया है।^१

आगम सूत्रों में विभिन्न धार्मिक वादों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण मिलता है—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद। इनके अवान्तर भेद अनेक हैं। निर्युक्ति में अस्ति के आधार पर क्रियावाद, नास्ति के आधार पर अक्रियावाद, अज्ञान के आधार पर अज्ञानवाद और विनय के आधार पर विनयवाद का प्रतिपादन है।^१ चारों वादों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

क्रियावाद—

जो दर्शन आत्मा, लोक, गति, अनामति, जन्म-मरण, शाश्वत, अशाश्वत, आसन्न, संबन्ध, निर्जरा को मानता है वह क्रियावादी है। इसका फलित है कि जो अस्तित्ववाद, सम्यग्वाद, पुनर्जन्मवाद और आत्मकर्तृत्ववाद में विश्वास करता है वह क्रियावादी दर्शन है।

निर्युक्तिकार ने क्रियावाद के १८० प्रवादों का उल्लेख किया है। आचार्य अकलंक ने मरीचिकुमार, उलूक, कपिल आदि को क्रियावादी दर्शन के आचार्य माना है।

अक्रियावाद—

ये चार नास्ति मानते हैं—

१. आत्मा की नास्ति
२. आत्म-कर्तृत्व की नास्ति
३. कर्म की नास्ति
४. पुनर्जन्म की नास्ति

यह एक प्रकार से नास्तिकवादी दर्शन है। स्थानांग में अक्रियावाद के आठ प्रकार बतलाए गए हैं।^२

कपिल, रोमक, अश्वलायन आदि इस दर्शन के प्रमुख आचार्य थे।

चूणिकार ने सांख्य दर्शन और ईश्वरकारणिक वैशेषिक दर्शन को अक्रियावादी दर्शन माना है।^३ तथा पचभूतवादी, चतुर्भूतवादी, स्कंधमात्रिक, भूम्यवादी और लोकायतिक—इन दर्शनों को भी अक्रियावाद में गिना है।^४

अज्ञानवाद—

इस दार्शनिकवाद का आधार है अज्ञान। इनका मानना है कि सब समस्याओं का मूल है ज्ञान, इसलिए अज्ञान ही अयस्कर है।^५ ज्ञान से लाभ ही क्या है? शील में उद्यम करना चाहिए। ज्ञान का सार है—शील सवर। शील और तप से स्वयं और मोक्ष प्राप्त होता है।

१. बृषि, पृ० २०७ : समवसरंति वेसु हरिसभाणि विप्रीको वा ताणि समोत्तरभाणि ।

२. निर्युक्ति भाष्य ११३ : तैसि मत्तानुसरेणं, पन्थववा चणित्ताने इहउत्तयाने ।

तत्तानुसरेणं, सदीसरवमातु तेनं ति ॥

३. निर्युक्ति भाष्य १११ : अस्ति सि किरियावादी वयंति, अस्ति सि अकिरियावादी य ।

अज्वाणी अज्वाणं, विज्जहता वेज्जहवादी ॥

४. भाष्य ८१२१ ।

५. बृषि, पृ० २०६ : संख्या (संख्या) वैशेषिका ईश्वरकारणाणि अकिरियावादी।

६. बृषि, पृ० २०७ : संख्यामूर्तिका चतुर्भूतिका संख्यामूर्तिका भूम्यवादिनी लोकायतिका इत्यादि अकिरियावादिनी ।

७. टीका—१११४६ का विषय तत्तानुसरेणं अज्वाणं का सं० १ का विषय ।

इनके १७ भेद होते हैं। चूणिकार ने शृंगारिका की चर्चा करनेवाले, अटवी में रहकर फल-फूल खाने वाले त्यागकृत्य संन्यासियों को अज्ञानवादी माना है।^१

सांकर्य, वाचक, बावदायक आदि इस वाद के प्रमुख आचार्य थे।

सूत्रकार के श्रुतिकार श्रीलोकसूरी ने अज्ञानवाद को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया है—

१. अज्ञानी अन्वर्तीभिक—सम्यग्ज्ञानविरहिताः अमणाः ब्राह्मणाः। (श्रुति पत्र ३५)

२. अज्ञानी बौद्ध—आक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः। (श्रुति पत्र २१७)

३. अज्ञानवाद में विश्वास करने वाला—अज्ञानं एव अयं इत्येवं भाविनः। (श्रुति पत्र २१७)

विनयवाद—

विनयवाद का मूल आधार विनय है। ये मानते हैं कि विनय से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। इनके बत्तीस प्रकार निश्चित हैं।

आचार्य साहित्य में विनय शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। यहाँ 'विनय' का अर्थ आचार होना चाहिए। जैसे ज्ञानवादी ज्ञान पर अधिक बल देते हैं, वैसे ही ये विनयवादी आचार पर अधिक बल देते हैं। एकांगी होने के कारण ये मिथ्यावाद की कोटि में परिगणित हैं।

वशिष्ठ, पाराशर आदि इस दर्शन के विशिष्ट आचार्य थे।^२

चूणिकार ने तीसरे श्लोक की व्याख्या में विनयवादियों की मान्यताओं का विशद निरूपण किया है।^३

इन चारों दार्शनिक परंपराओं की विस्तृत जानकारी के लिए प्रस्तुत अध्ययन के टिप्पण विमर्शनीय हैं।

निर्युक्तिकार ने आच समवसरण को दो प्रकार से प्रस्तुत किया है—

१. बौद्धिक, औपशमिक, आधिक, आधोपशमिक, पारिणामिक तथा सांनिपातिक—इन छह भावों का समवसरण—एकत्र मेलापक।

२. क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी—इनका समवसरण—एकत्र मेलापक।

इस अध्ययन में बाकी श्लोक हैं। उनमें चारों समवसरणों का विवेचन है—

श्लोक २-४ अज्ञानवाद

५-१० अक्रियावाद

११-२२ क्रियावाद

अक्रियावादी दर्शन के संबंध में पाँचवें श्लोक में द्विपाक्षिक और एकपाक्षिक कर्म का उल्लेख है। चूणिकार ने इसका विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। एकपाक्षिक कर्म का अभिप्राय यह है कि क्रियामात्र होती है, कर्म का भय नहीं होता। वह एक पक्ष—एक जन्म में भोग लिया जाता है। द्विपाक्षिक कर्म का अभिप्राय है कि उसमें कर्म-बंध होता है और वह इस जन्म या पर जन्म में भुगतना पड़ता है। कुछ अक्रियावादी एकपाक्षिक कर्म को मानते हैं और कुछ द्विपाक्षिक कर्म को।^४

नीचे-दसवें श्लोक में अष्टांगनिमित्त के केवल पाँच अंगों का स्पष्ट निर्देश है, शेष उनके अन्तर्भूत हैं। चूणिकार ने अष्टांग-निमित्त के ग्रन्थमान का भी उल्लेख किया है।

१. चूणि, पृ० २०७ : ते तु मिगचारियावयो अडवीए पुण्डफलमिगारो अज्जादि (अत्थाविनः) अज्जादिया।

२. अष्टांगनिमित्तमुचय, चूणि, पृ० २२।

३. वेत्ते—टिप्पण—७.२।

४. निर्युक्ति माथा ११० : आदिसमवसरणं पुण, पायव्वं अविहन्ति अजमिन्।

अथवा किरिय अकिरिया, अज्जाणी येव वेनइया ॥

५. वेत्ते—श्लोक ५ का टिप्पण, संख्या १२।

अष्टास निमित्त का अध्ययन करने वाले सभी समान ज्ञानी नहीं होते । उनमें अनन्त तारतम्य होता है । यह तारतम्य अपनी अपनी क्षमता पर आधारित है ।

निमित्त जिस घटना की सूचना देता है, परिस्थिति बदल जाने पर वह घटना अन्यथा भी हो जाती है । इस दृष्टि से लोग उसे अर्थार्थ मान लेते हैं ।

सूचक ने अनेक उदाहरणों से इसे समझाया है ।^१

लेखकों श्लोक में देवों का वर्गीकरण प्रचलित वर्गीकरण से भिन्न काल का प्रतीत होता है । यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय है ।^२

सूचक ने प्रस्तुत अध्ययन के उपसंहार में बताया है कि बहुत सारे दर्शन स्वयं को क्रियावादी घोषित करते हैं, किन्तु घोषणा मात्र से कोई क्रियावादी नहीं हो जाता । क्रियावादी वह होता है जो क्रियावाद के आधारभूत सिद्धान्तों को मानता है । वे ये हैं—

१. आत्मा है ।

२. लोक है ।

३. आगति और अनागति है ।

४. शाश्वत और अशाश्वत है ।

५. जन्म और मरण है ।

६. उपपात और व्यवन है ।

७. अघोषमन है ।

८. आसव और संवर है

९. दुःख और निर्जरा है ।^३

१. श्लोक—टिप्पण संख्या १५, १६ ।

२. श्लोक—टिप्पण संख्या १४ ।

३. सूचक, १९१०, ११ ।

चारसर्ग प्रथमः : चारहवां अध्यायः समोसरणः : समवसरण

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुबाद

१. चत्वारि समोसरणानिमाणि
प्रावादुका आहं पुत्रो वयंति ।
किरियं अकिरियं विनयं ति तद्वयं
अज्ञानमाहं सु उदत्थमेव ॥

चत्वारि समवसरणानि इमानि,
प्रावादुकाः यानि पृथग् वदन्ति ।
क्रिया अक्रिया विनयमिति तृतीयं,
अज्ञानमाहुः चतुर्थमेव ॥

१. ये 'चार समवसरण' (वाच-संगम) हैं ।
प्रावादुका' (अपने-अपने मत के प्रवक्ता)
भिन्न-भिन्न प्रतिपादन करते हैं—
क्रिया, अक्रिया, तीसरा विनय और
और चौथा अज्ञान ।

२. अज्ञानिया ता कुसला वि संता
असंयुया को वित्तिगिच्छ तिष्णा ।
अकोविया आहु अकोविर्हि
अज्ञानुवीर्हि ति मुसं वदन्ति ॥

अज्ञानिकाः तावत् कुशला अपि सन्तः,
असंस्तुताः नो विचिकित्सां तीर्णाः ।
अकोविदाः आहुः अकोविदेषु,
अज्ञानुवीचि इति मृषा वदन्ति ॥

२. अज्ञानवादी कुशल होते हुए भी सम्मत
नहीं हैं ।^१ वे संशय का पार नहीं पा
सके हैं । वे स्वयं 'कौन जानता
है ?' (को वेत्ति = कोविद) - इस
प्रकार का संशय करते हैं और इस
प्रकार संशय करने वालों (अकोविदों)
में ही अपनी बात रखते हैं । वे पूर्वापर
का विमर्श (दो में से एक का निश्चय)
नहीं करते इसलिए वे मृषा बोलते
हैं—

३. सत्यं असत्यं इति चिन्तयन्ता
असाहु साहु ति उदाहरन्ता ।
जेने जना वेणइया अनेगे
पुट्टा वि भावं विणइसु णाम ॥

सत्यं असत्यं इति चिन्तयन्तः,
असाधु साधु इति उदाहरन्तः ।
ये इमे जनाः वेनायिकाः अनेके,
पुष्टा अपि भावं व्यनेषुर्नाम ॥

३ (परलोक^२ आदि) सत्य हैं या असत्य
हैं ? (यह हम नहीं जानते)—ऐसा
चिन्तन करते हुए तथा यह बुरा है,
यह अच्छा है—ऐसा कहते हुए (वे
मृषा बोलते हैं ।^३)

जो वे अनेक विनयवादी जन हैं वे
(बिना पूछे या) पूछने पर भी विनय
को ही सचार्थ बतलाते हैं ।^४

४. अयोवसंखा इति ते उवाहु
अदृष्टे स ओमासह अन्हु एवं ।
सबावसंस्की य अजागर्हि
को किरियमाहं सु अकिरियमाया ॥

अनुपसंख्यया इति ते उवाहुः,
अर्थ एष अवभाषते अस्माकं एवम् ।
सबावसंस्की य अजागतेषु,
नो क्रियामाहुः अक्रियात्मानः ॥

४ वे अज्ञानवश^५ यह कहते हैं कि यही
अर्थ (विनय ही वास्तविक है)—ऐसा
हमें अवभाषित होता है ।

आत्मा अविष्य में (वर्तमान और
अतीत में भी) कर्म से बद्ध नहीं
होता ।^६ अक्रिय-आत्मवादी क्रिया को
स्वीकार नहीं करते ।

५. संमित्तमात्रं सगिरा मिहीते
से मुमुर्द्वा होइ अनाद्युर्वा ।
इमं बुधवत् इममेगपवत्
आहंसु कलायतनं च कर्म ॥

सम्मिश्रभावं स्वगिरा गृहीतः,
स 'मुमुर्द्वा' भवति अननुवादी ।
इदं द्विपक्षं इदं एकपक्षं,
आहुः षडायतनं च कर्म ॥

५. (सून्यवादी बौद्ध) अस्तित्व या नास्तित्व का स्पष्ट व्याकरण नहीं करते । वे अपनी वाणी से ही मिहीत हो जाते हैं । प्रश्न करने पर वे मीन रहते हैं— (एक या अनेक, अस्ति या नास्ति का) अनुवाद नहीं करते । वे अमुक कर्म को द्विपक्षिक और अमुक कर्म को एकपक्षिक तथा उसे छह आयतनों से हीने वाला मानते हैं ।^{११}

६. ते एवमवर्तन्ति अबुद्धमाणा
विरूपरूपाणि अकिरियाता ।
अनाइइता बह्वे अप्रसा
भमन्ति संसारमणोबद्धा

ते एवमाख्यान्ति अबुध्यमानाः,
विरूपरूपाणि इह अक्रियात्मानः ।
यमादाय बहवो मनुष्याः,
भ्रमन्ति संसारमनवद्वम् ॥

६. आत्मा को अक्रिय मानने वाले वे तत्त्व को नहीं जानते हुए नाना प्रकार के सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं । उन्हें स्वीकार कर बहुत सारे मनुष्य अपार संसार में भ्रमण करते हैं ।

७. नाइइतो उदेइ न अत्थमेइ
न चंदिमा बद्धति हायती वा ।
सलिला न संदेति न वंति वाया
अंभे चित्तिए कसिणे तु सोए ॥

नावित्य उदेति नास्तमेति,
न चन्द्रमाः वर्धते हीयते वा ।
सलिलाः न स्पन्दन्ते न वान्ति वाताः,
वन्ध्यो नित्यः कृत्स्नो खलु लोकः ॥

७. (पकुधकात्थायन के अनुसार) सूर्य न उगता है और न अस्त होता है । चन्द्रमा न बढ़ता है और न घटता है । नदिया बहती नहीं हैं । पवन चलता नहीं है, क्योंकि यह संपूर्ण लोक वन्ध्य (शून्य) और नित्य (अनिमित्त) है ।^{१२}

८. अहा हि अन्धे सह ज्योतिषाऽपि
रूपाणि नो पस्सइ हीणणसे ।
संसं पि ते एवमकिरियाता
किरिणं न वस्सन्ति विरुद्धपणा ॥

यथा हि अन्धः सह ज्योतिषाऽपि,
रूपाणि नो पश्यति होननेत्रः ।
सतीमपि ते एवमक्रियात्मानः,
क्रियां न पश्यन्ति निरुद्धप्रज्ञाः ॥

८. जैसे अंधा मनुष्य नेत्रहीन होने के कारण प्रकाश के होने पर भी रूपों को नहीं देखता, इसी प्रकार अक्रिय-आत्मवादी निरुद्धप्रज्ञा^{१३} (ज्ञानावरण का उदय) होने के कारण विद्यमान क्रिया को भी नहीं देखते ।

९. संबत्तरं सुविणं लक्षणं च
निमित्तदेहं च औत्पादयं च ।
अष्टांगमेतद् बह्वे अहिता
जोमंति जानन्ति अनागतानि ॥

संबत्तरं स्वप्नं लक्षणं च,
निमित्तं देहं च औत्पातिकं च ।
अष्टांगमेतद् बहवोऽधीत्य,
लोके जानन्ति अनागतानि ॥

९. अन्तरिक्ष, स्वप्न, शारीरिक लक्षण, निमित्त (शकुन आदि), देह (तिल आदि) औत्पातिक (उल्कापात, पुच्छल तारा आदि) अष्टांग निमित्त-शास्त्र को पढ़कर अनेक पुरुष इस लोक में अनागत तथ्यों को जानते हैं ।^{१४}

१०. केइ निमित्ता तहिया भवन्ति
केसिचि ते विपरियन्ति ज्ञानम् ।
ते विद्याभावं अनधीयमाना
आहंसु विद्यापरिमोक्षमेव ॥

केचिद् निमित्ताः तथ्या भवन्ति,
केचिच्च ते विपरियन्ति ज्ञानम् ।
ते विद्याभावं अनधीयमानाः,
आहुः विद्यापरिमोक्षमेव ॥

१०. कुछ निमित्त सत्य होते हैं । कुछ पुरुषों का (निमित्त) ज्ञान तथ्य के विपरीत होता है । वे (निमित्त) विद्या के भाव को नहीं पढ़ते, इसलिए (निमित्त) विद्या को छोड़ने की बात करते हैं ।

११. ते एवमवसन्ति समेष्व लोके
तथा-तथा समेष्व जगद्विषये ।
समेष्व जगद्विषये च कुर्वन्
आहन्तु विद्याधरणं यमोक्षम् ॥

ते एवमावसन्ति समेष्व लोके,
तथा तथा समेष्व जगद्विषये ।
स्वयं कृतं नान्यकृतं च कुर्वन्,
आहन्तु विद्याधरणं यमोक्षम् ॥

११. तीर्थंकर लोक का भली-भांति जानकर
अमर्षों और ब्राह्मणों को यह यथार्थ
बतलाते हैं—दुःख स्वयंकृत है, किसी
दूसरे के द्वारा कृत नहीं है। (दुःख की)
मुक्ति विद्या और आधरण के द्वारा^{११}
होती है ।

१२. ते चक्षुः लोकस्य इह नामकास्तु,
मार्गमनुसन्ति हितं यथार्थम् ।
तथा तथा सासयमाहु लोके
जंसी यथा मानव ! संप्रगाढा ॥

ते चक्षुः लोकस्य इह नामकास्तु,
मार्गमनुसन्ति हितं यथार्थम् ।
तथा तथा सासयमाहुः लोकं,
अस्मिन् प्रजाः मानव ! संप्रगाढाः ॥

१२. वे तीर्थंकर लोक के चक्षु^{१२} और नायक^{१३}
हैं । वे जनता के लिए हितकर^{१४} मार्ग
का अनुसन्धान करते हैं । उन्होंने वैसे-
वैसे (आसक्ति के अनुक्रम) लोक को
शाश्वत कहा है ।^{१५} हे मानव^{१६} ! उसमें
यह प्रजा संप्रगाढ—आसक्त^{१७} है ।

१३. जे राक्षसा जे जमलोह्या वा
जे आसुरा गंधर्वा य काया ।
आकाशगामी य पुढोसिया ते
पुनो पुनो विपर्यासुर्वेति ॥

ये राक्षसाः ये यमलौकिकाः वा,
ये आसुराः गन्धर्वाश्च कायाः ।
आकाशगामिनश्च पृथ्वीति ते,
पुनः पुनः विपर्यासमुपयन्ति ॥

१३. जो राक्षस, यमलोक के देव, असुर और
गंधर्व निकाय के हैं, जो आकाशगामी
(पक्षी आदि) हैं, जो पृथ्वी के आश्रित
प्राणी हैं, वे सब बार-बार विपर्यास
(जन्म-मरण) को प्राप्त होते हैं ।^{१८}

१४. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं
जानीहि तद् भवमहं दुर्मोक्षम् ।
जंसी विसृज्या विसयगर्भाहि
कुहतो वि लोयं अनुसंचरन्ति ॥

यमाहुः ओषं सलिलं अपारगं,
जानीहि तद् भवमहं दुर्मोक्षम् ।
अस्मिन् विषय्याः विषयाङ्गनाभिः,
द्राम्यामपि लोकमनुसंचरन्ति ॥

१४. जिसे अपार सलिल का प्रवाह कहा
है^{१९} उसे दुर्मोक्ष^{२०} गहन संसार जानो,
जिसमें विषय और अमना^{२१}—दोनों
प्रमादों से^{२२} प्रमत्त होकर^{२३} लोक में
अनुसंचरण करते हैं ।

१५. न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बालाः,
अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः ।
मेधाविनो लोभमदाद व्यतीताः
संतोषिणो नो प्रकुर्वन्ति पापम् ॥

न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बालाः,
अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः ।
मेधाविनो लोभमदाद् व्यतीताः,
संतोषिणो नो प्रकुर्वन्ति पापम् ॥

१५. अज्ञानी मनुष्य कर्म से कर्म को क्षीण
नहीं करते । धीर पुरुष अकर्म से कर्म
को क्षीण करते हैं^{२४} । मेधावी^{२५}, लोभ
और मद से अतीत^{२६}, संतोषी मनुष्य
पाप नहीं करता ।^{२७}

१६. ते तीतज्जण्यज्जमयागयाई
जोगस्स जाणन्ति तहावताई ।
जेतारो अण्णेसि अण्णजेया
कुढा हु ते अंतकडा भवन्ति ॥

ते अतीत-उत्पन्न-अनागतानि,
लोकस्य जानन्ति तथागतानि ।
नेतारोऽन्येषां अनन्यनेयाः,
कुढाः सन्तु ते कृतान्ताः भवन्ति ॥

१६. वे (तीर्थंकर) लोक के अतीत, वर्तमान
और भविष्य को यथार्थ रूप में जानते
हैं ।^{२८} वे दूसरों के नेता हैं ।^{२९} वे
स्वयंबुद्ध होने के कारण दूसरों के द्वारा
संचालित नहीं हैं ।^{३०} वे (भव या कर्म
का) अन्त करने वाले^{३१} होते हैं ।

१७. ते जेव कुर्वन्ति न कारयन्ति
भूताभिशंकया जुगुप्समानाः ।
सदा यताः विप्रणमन्ति धीराः,
विक्रान्ति-वीराश्च भवन्ति एके ॥

ते नैव कुर्वन्ति न कारयन्ति,
भूताभिशंकया जुगुप्समानाः ।
सदा यताः विप्रणमन्ति धीराः,
विक्रान्ति-वीराश्च भवन्ति एके ॥

१७. जिससे सभी जीव भय खाते हैं उस
हिंसा से^{३२} उद्विग्न होने के कारण^{३३}
वे स्वयं हिंसा नहीं करते, दूसरों से
हिंसा नहीं करवाते । वे धीर पुरुष
सदा संयमी^{३४} और विशिष्ट पराक्रमी^{३५}
होते हैं, जबकि कुछ पुरुष बान्हीर^{३६}
होते हैं, कर्मवीर नहीं ।

१८. बहुरेव पाणे बुद्धे य पाणे
ते आसतो पासह सव्यलोणे ।
उवेहती लोणमिणं महंतं
बुद्धोऽग्रमत्सेषु परिच्यवन्मा ॥

बहुरांश्च प्राणान् बुद्धांश्च प्राणान्,
तान् आत्मतः पश्यति सर्वलोके ।
सपेक्षते लोकमिमं महान्तं,
बुद्धोऽग्रमत्सेषु परिच्यजेत् ॥

१८. लोक में विद्यमान छोटे-बड़े सभी प्राणियों को जो आत्मा के समान देखता है, जो इस महान् लोक की उपेक्षा करता है—सबके प्रति मध्यस्थ भाव रखता है, वह बुद्ध अग्रमत् पुरुषों में परिचयन करे ।

१९. जे आसतो परतो वा चि अन्ध्या
अलमप्यनो होति अलं परेसि ।
तं ओइमूयं सत्तावसेज्जा
जे पाउकुज्जा अणुवीइ धम्मं ।

यः आत्मतः परतो वापि ज्ञात्वा,
अलमात्मनो भवति अलं परेषाम् ।
तं ज्योतिर्भूतं सततं आवसेत्,
यः प्रादुर्कुर्यात् अनुधीचि धर्मम् ॥

१९. जो (जीव आदि पदार्थों को) स्वतः या परतः जनकार, जो अपने या दूसरों के (आत्महित) में समर्थ होता है, जो प्रत्यक्ष जानकर धर्म का आबिष्कार करता है, उस ज्योतिर्भूत पुरुष के पास सतत रहना चाहिए ।

२०. असाण जो जानइ जो यत्तोणं
जो आगतिं जानइ ऽनागतिं च ।
जो सासवं जान असासवं च
जातिं मरणं च च्यवनोपपातं ॥

आत्मानं यो जानाति यश्च लोक,
यः आगतिं जानाति अनागतिं च ।
यः शाश्वतं जानाति अशाश्वतं च,
जातिं मरणं च च्यवनोपपातम् ॥

२०. जो आत्मा और लोक को जानता है, जो आगति और अनागति (मोक्ष) को जानता है, जो शाश्वत और अशाश्वत को जानता है, जो जन्म-मरण तथा च्यवन और उपपात को जानता है—

२१. अहो वि सत्ताण विउट्ठणं च
जो आसवं जानति संवरं च ।
दुक्खं च जो जानइ निज्जरं च
सो भासिउमरिहति किरियवावं ।

अधोऽपि सत्त्वानां विवर्तनं च,
यः आसवं जानाति संवरं च ।
दुःखं च यो जानाति निर्जरां च,
सः भाषितुमर्हति क्रियावादम् ॥

२१ जो अधोलोक में प्राणियों के विवर्तन (जन्म-मरण) को जानता है, जो आसवं और संवर को जानता है, जो दुःख और निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद का प्रतिपादन कर सकता है ।

२२. सहेसु कवेसु असज्जमाणे
रसेसु गंधेसु अबुत्समाणे ।
जो जीवियं जो मरणाभिकंखे
आयाणगुत्से बलया विमुक्के ॥

शब्देषु रूपेषु असजन्,
रसेषु गन्धेषु अद्विषन् ।
नो जीवितं नो मरणं अभिकाक्षेत,
आदानगुप्तः बलया विमुक्तः ॥

२२ जो शब्दों, रूपों, रसों और गंधों में राग-द्वेष नहीं करता, जीवन और मरण की आकांक्षा नहीं करता, इन्द्रियों का संवर करता है वह बलया (ससार-चक्र) से मुक्त हो जाता है ।

—सि वेसि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्यायन १२

श्लोक १ :

१. श्लोक १ :

आगम-सूत्रों में विभिन्न धार्मिक वादों का चार अंगियों में वर्गीकरण किया गया है—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद। प्रस्तुत सूत्र के १।६।२७ में भी इन चार वादों का उल्लेख मिलता है। निर्युक्तिकार ने अस्ति के आधार पर क्रियावाद, नास्ति के आधार पर अक्रियावाद, अज्ञान के आधार पर अज्ञानवाद और विनय के आधार पर विनयवाद का निरूपण किया है।^१

१. क्रियावाद

क्रियावाद की विस्तृत व्याख्या दशानुत्सर्ग में मिलती है। उससे क्रियावाद के चार अर्थ फलित होते हैं—अस्तित्ववाद, सम्यग्वाद, पुनर्जन्म और कर्मवाद।^२ प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि जो आत्मा, लोक, गति, अनामति, शाश्वत, जन्म, मरण, च्यवन, उपपात को जानता है तथा जो अष्टलोक के प्राणियों के विवर्तन को जानता है, आश्रय, संवर, दुःख और निर्जरा को जानता है, वह क्रियावाद का प्रतिपादन कर सकता है।^३ इससे क्रियावाद के चार अर्थ फलित होते हैं—

१. अस्तित्ववाद—आत्मा और लोक के अस्तित्व की स्वीकृति।
२. सम्यग्वाद—नित्य और अनित्य—दोनों धर्मों की स्वीकृति—स्याद्वाद, अनेकान्तवाद।
३. पुनर्जन्मवाद।
४. आत्म-कर्तृत्ववाद।

क्रियावाद में उन सभी धर्म-वादों को सम्मिलित किया गया है जो आत्मा आदि पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास करते थे और जो आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार करते थे।

आचारंग सूत्र में चार वादों का उल्लेख है—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद।^४ प्रस्तुत संदर्भ में आत्मवाद, लोकवाद और कर्मवाद का स्वतंत्र निरूपण है। इस अवस्था में क्रियावाद का अर्थ केवल आत्म-कर्तृत्ववाद ही होगा।

निर्युक्तिकार ने क्रियावाद के १८० प्रवादों का उल्लेख किया है।^५ जूगिकार ने १८० क्रियावादों का विवरण प्रस्तुत किया है। किन्तु वह विकल्प की व्यवस्था जैसा लगता है। उससे धर्म-प्रवादों की विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। वह विवरण इस प्रकार है—जीव, अजीव, आश्रय, बध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तत्त्व हैं। स्वतः और परतः की अपेक्षा इन नौ तत्त्वों के अठारह भेद हुए। इन अठारह भेदों के नित्य, अनित्य की अपेक्षा से छठीस भेद हुए। इनमें से प्रत्येक के काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा आदि कारणों की अपेक्षा पांच-पांच भेद करने पर (३६x५) १८० भेद हुए। इसकी चारणा इस प्रकार है—जीव स्वरूप से काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा नित्य है। ये नित्य पद के पांच भेद हुए। इसी प्रकार अनित्यपद के पांच भेद हुए। ये दस भेद जीव के स्वरूप से नित्य-अनित्य की अपेक्षा से हुए। इसी प्रकार दस भेद जीव के पर-रूप से नित्य-अनित्य की

१. सूत्रकृतानि निर्द्युतिः, भाषा १११ : अस्ति सि किरियावादी, अयंति अस्ति सि अकिरियावादी च।

अज्वाधी अज्वाधं, विजहता वेगइयवादी ॥

२. दशानुत्सर्ग, दशा १, सूत्र ७ : किरियावादी अस्ति अवति, तं ज्वा—आहियवादी आहियवणे आहियविद्वी सम्मावादी नीवावादी संविपरसोमवादी अस्ति इहुसोमे अस्ति परसोमे सुविज्जा कम्मा सुविज्जकत्ता अवति

३. सुवणको, १:१५:३०, २१।

४. आचार्य, १:५ : से अत्मावादी, अनेकवादी, अज्ञानवादी, किरियावादी।

५. सूत्रकृतानि निर्द्युतिः, भाषा १११ : अस्तिवसं किरियाधं, अकिरियाधं च इति पुनसोती।

अज्वाधिय सज्जु, वेगइयवाधं च अतीसा ॥

कपेक्षा से लेते हैं। इसी प्रकार जेष्ठ तत्त्वों के भी भेद होते हैं। सबका संकलन करने पर (२०x६) १८० भेद होते हैं।^१

पूर्विकार ने प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम श्लोक की व्याख्या में क्रियावादों के बारे में संक्षिप्त सी जानकारी प्रस्तुत की है। क्रियावादी जीव का अस्तित्व मानते हैं। उसका अस्तित्व मानने पर भी वे उसके स्वरूप के विषय में एकमत नहीं हैं। कुछ जीव को सर्वव्यापी मानते हैं, कुछ उसे अ-सर्वव्यापी मानते हैं। कुछ मूर्त मानते हैं और कुछ अमूर्त। कुछ उसे अंगुष्ठ जितना मानते हैं और कुछ श्यामांक तंतुल जितना। कुछ उसे हृदय में अघिष्ठित प्रदीप की किरणा जैसा मानते हैं। क्रियावादी कर्म-फल को मानते हैं।^१

आचार्य अकलंक ने क्रियावाद के कुछ आचार्यों का नामोस्मरण किया है—मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, माण्डूकि, माठर, मौद्गल्यायन आदि।^१

२. अक्रियावाद

निर्युक्तिकार ने 'नास्ति' के आधार पर अक्रियावाद की व्याख्या की है। 'नास्ति के चार फलित होते हैं—१. आत्मा का अस्वीकार, २. आत्मा के कर्तृत्व का अस्वीकार, ३. कर्म का अस्वीकार और ४. पुनर्जन्म का अस्वीकार।' अक्रियावादी को नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ, नास्तिकदृष्टि कहा गया है।^१ स्थानांग सूत्र में अक्रियावादी के आठ प्रकार बतलाए गए हैं—

- | | |
|----------------|---------------------|
| १. एकवादी | ५. सातवादी |
| २. अनेकवादी | ६. समुच्छेदवादी |
| ३. मितवादी | ७. नित्यवादी |
| ४. निमित्तवादी | ८. नास्तिपरलोकवादी। |

विशेष जानकारी के लिए देखें—स्थानांग ८।२२ का टिप्पण (ठाण, पृष्ठ ८११-८३३)

एकवादी के अभिमत का निरूपण प्रस्तुत सूत्र के १।१।६ में मिलता है। निमित्तवादी का निरूपण १।१।६४-६७ तथा २।१।३२ में प्राप्त है। सातवादी का निरूपण १।३।६६ में मिलता है। नास्तिपरलोकवाद का निरूपण १।१।११, १२ तथा २।१।१३ में मिलता है।

जैन मुनि के लिए एक संकल्प का विधान है जो प्रतिदिन किया जाता है—अकिरिय परियाणामि किरिय उवसंपज्जामि—मैं अक्रिया का परित्याग करता हूँ और क्रिया की उपसंपदा स्वीकार करता हूँ।^१

१. पूर्विक, पु० २०६ : एवं असीतं किरियावाविसतं । एएसु पदेसु च चित्तितं—

जीव अजीवा आसव, अंशो पुणं तहेव पावं ति ।

संवर जिज्जर मोक्षो, सम्भूतपवा नव हवंति ॥

इसमें दो चारणोवायो—अस्थि जीवः स्वतो मित्यः कालतः, अस्थि जीवो सतो अजिच्छो कालतो, अस्थि जीवो परतो मिच्छो कालतो, अस्थि जीवो परतो अजिच्छो कालतो णं, अस्थि जीवो सतो जिच्छो नियतितो एवं नियतितो ण, स्वभावतो ण, (ईश्वरतो ण), आसवतः ण, एते पंच चउवका बीसं । एवं अजीवाविसु वि बीसावोसावेसावो, नव बीसावो आसीतं किरियावाविसतं १८० भवति ।

२. पूर्विक, पु० २०७ : किरियावावीणं अस्थि जीवो, अस्थिसे सति केसिच सम्भगतो केसिच असम्भगतो, केसिच मुत्तो केसिच अमुत्तो, केसिच अंगुदुप्पमाणमात्रः केसिच श्यामाकतन्तुसमात्रः, केसिच हिययाधिद्वाने पवीवसिहोवसो, किरियावावी कम्मं कम्मफलं च अस्थि ति भवंति ।

३. तरुचार्थवार्तिक ८।१ भाग २ पृष्ठ २६२ ।

४. सूत्रकृतानि निर्युक्ति, भाषा १११ : अस्थि ति अकिरियवादी य ।

५. कसामुत्तम्भ, दशा ६, सूत्र १ : अकिरियावावी भावि भवति—नाहियवावी नाहियपण्णे नाहियविट्ठी, नो सम्भत्तवावी, नो निस्सिक्कवावी, न संति-परलोपवावी, अस्थि इहवोए अस्थि परलोप..... जो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्ण-फला भवंति, जो बुचिण्णा कम्मा बुचिण्णफला भवंति ।

६. वही, सूत्र ६ : नाहियवावी, नाहियपण्णे, नाहियविट्ठी ।

७. ठाणं, ८।२२ : अट्ठ अकिरियावावी पण्णत्ता, त जहा—एगावाई, अणेगावाई, मितवाई, जिम्मिसवाई, सायवाई समुच्छेदवाई, भित्तवाई, नसंतपरलोपवाई ।

८. आचर्यक ४ सूत्र ।

निर्युक्तिकार ने अक्रियावाद के ८४ प्रवादों का उल्लेख किया है ।^१

भूषिकार के अनुसार उनका विवरण इस प्रकार है—जीव, अजीव, आसव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये सात तत्त्व हैं । इनके स्वतः और परतः—ये दो-दो भेद हैं । इस प्रकार ७५२=१४ भेद हुए । काल, यदुच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा—इन छह तत्त्वों के साथ गुणन करने से (१४x६) ८४ भेद हुए ।^२

आचार्य अकलंक ने अक्रियावाद के कुछ प्रमुख आचार्यों का उल्लेख किया है—कौषल, काठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रुमान्, कपिल, रोमश, हारित, अश्वमुंड, अश्वलायन आदि ।^३

भूषिकार ने सांख्य और ईश्वर को कारण मानने वाले वैशेषिक को अक्रियावादी माना है ।^४ सांख्य-दर्शन के अनुसार क्रिया का मूल प्रकृति है । पुरुष अकर्ता है । पुरुष के अकर्तृत्व की दृष्टि से सांख्य दर्शन को अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया गया है ।

वैशेषिकों के अनुसार जगत् के मूल उपादान परमाणु हैं । नाना प्रकार के परमाणुओं के संयोग से भिन्न-भिन्न वस्तुएं बनती हैं । कारण के बिना कार्य नहीं होता । जगत् कार्य है और उसका कर्ता ईश्वर है । जैसे कुम्भकार मिट्टी आदि उपादानों को लेकर घड़े की रचना करता है, वैसे ही ईश्वर परमाणुओं के उपादान से सृष्टि की रचना करता है । वह जीवों को कर्मानुसार फल देता है । कर्म का फल आत्मा के अधीन नहीं है । इस दृष्टि से वैशेषिक दर्शन को अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया है ।

क्रियावाद और अक्रियावाद का चिंतन आत्मा को केन्द्र में रख कर किया गया है । आत्मा है, वह पुनर्भवगामी है । वह कर्म का कर्ता है, कर्म-फल का भोक्ता है और उसका निर्वाण होता है—यह क्रियावाद का पूर्ण लक्षण है । इनमें से एक अंश को भी अस्वीकार करने वाला अक्रियावादी होता है । सांख्यदर्शन में आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है और वैशेषिक दर्शन में आत्मा कर्म-फल भोगने में स्वतंत्र नहीं है । इसी अपेक्षा से भूषिकार ने दोनों दर्शनों को अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया, ऐसी संभावना की जा सकती है ।

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में भूषिकार ने पंचमहाभौतिक, चतुर्भौतिक, स्कंधमात्रिक, शून्यवादी, लोकायतिक—इन्हें अक्रियावादी बतलाया है ।^५

३. अज्ञानवाद

अज्ञानवाद का आधार अज्ञान है ।^६ अज्ञानवाद में दो प्रकार की विचारधाराएं संकलित हैं । कुछ अज्ञानवादी आत्मा के होने में संदेह करते हैं और उनका मत है कि आत्मा है तो भी उसे जानने से क्या लाभ ? दूसरी विचारधारा के अनुसार ज्ञान सब समस्याओं का मूल है, इसलिए अज्ञान ही अयस्कर है ।

विस्तृत जानकारी के लिए देखें—१।४१ का टिप्पण ।

निर्युक्ति के अनुसार अज्ञानवाद के ६७ प्रकार होते हैं । उनकी गणितीय पद्धति इस प्रकार है—जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों को सद्, असद्, सदसद्, अवक्तव्य, सद-अवक्तव्य, असद्-अवक्तव्य तथा सद-असद्-अवक्तव्य—इन सात भंगों से गुणन करने पर

१ सूत्रकृतांग निर्युक्ति, भाषा ११२.....अकिरियावाचं च होति बुलसीति ।

२. भूषि पृ० २०६ : इवाणि अकिरियावादी—

काल-यदुच्छा-नियति-स्वभाव-ईश्वरा-ऽऽत्मतत्त्वतुरसीति ।

नास्तिकवादिगणमर्त न सन्ति सप्त स्व-वरसंस्थाः ८ ॥

इमेनोपायेन—यत्थि जीवो सतो कालो १ यत्थि जीवो परतो कालो २ एवं यदुच्छाए वि दो २ नियतीए वि दो २ इत्सरतो

वि दो २ स्वभावतो वि दो २, (आत्मतो वि दो २,) सव्ये वि बारस, जीवाविशु सतसु गुणिता चतुरासीति सवंति ८४ ।

३ तत्त्वार्थवार्तिक ८।१, भाग २ पृष्ठ ५६२ : कौषलकालेविद्धिकौशिकहरिश्मश्रुमान्कपिलरोमशहारिताश्वमुण्डाश्वलायनादिमत-
विकल्पान् क्रिया (अक्रिया) वादाश्चतुरसीतिविद्या ब्रह्मण्याः ।

४. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, भाषा ११२, भूषि, पृ० २०६ : सांख्यया वैशेषिका ईश्वरकारणादि अकिरियावादी चतुरासीति ।

५. भूषि, पृ० २०७ : ते तु यथा पंचमहाभूतिना चतुर्भूतिना संज्ञयन्तिना शुण्यवादिना लोकायतिना इच्छादि अकिरियावादिना ।

६. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, भाषा १११ :अज्ञानी अज्ञातार्थः ।

(६x७)=६३ हुए। तथा सद् भावोत्पत्ति को कौन जानता है? उसके जानने से क्या लाभ? असद् भावोत्पत्ति को कौन जानता है? उसके जानने से क्या लाभ? ये चार भंग मिलाने पर कुल ६७ भेद होते हैं।^१

चूर्णिकार ने मृगचारिका की चर्चा करने वाले, अटवी में रहकर पुष्प और फल खाने वाले त्यागशून्य संन्यासियों को अज्ञान-वादी कहा है।^२

आचार्य अकलक ने अज्ञानवादियों के कुछ आचार्यों का उल्लेख किया है—साकल्य, वाष्कल, कुशुमि, सात्यमुषि, नारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मौद, पैप्यस्लाद, बावरायण आदि।^३

अज्ञानवाद का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र के १।१।४१-४०; १।६।२७; १।१२।२,३; में मिलता है।

अज्ञानवाद की विचारधारा की ओर मनुष्यों का झुकाव कई कारणों से हुआ था—

१. मनुष्य जानता है। अच्छे को अच्छा जानता और बुरे को बुरा जानता है। फिर भी अच्छाई को स्वीकार और बुराई को अस्वीकार नहीं कर पाता। इस प्रकार की मनोवृत्ति ने मनुष्य के मन में एक निराशा का भाव उत्पन्न किया कि जानने से क्या लाभ? जान लेने पर भी बुराई नहीं छूटती और अच्छाई पर नहीं चला जाता फिर उस ज्ञान की क्या सार्थकता? इस प्रकार की मनोवृत्ति ने अज्ञानवाद को जन्म दिया।

२. कुछ लोग सोचते थे कि सत्य वही है जो इन्द्रियो द्वारा उपलब्ध है। अतीन्द्रिय सत्य के बारे में बहुत चर्चा होती है, किन्तु उसका साक्षात् करने वाला कोई नहीं है। यदि कोई हो भी तो हमें क्या पता कि वह है या नहीं? हम केवल उसकी कही हुई बात को सुनते हैं या मानते हैं। उसने अतीन्द्रिय विषय का साक्षात् किया हो—यह भी हम नहीं जान सकते और साक्षात् न किया हो—यह भी हम नहीं जान सकते। इसलिए अतीन्द्रियज्ञान की बात व्यर्थ है। इस चिन्तनधारा के अनुसार अज्ञानवाद का अर्थ होता है—अतीन्द्रिय विषयों को जानने का अप्रयत्न। अतीन्द्रिय विषयों के बारे में उलझने में इस विचारधारा के लोग सार्थकता का अनुभव नहीं करते। वे इन्द्रियगम्य सत्य के द्वारा ही जीवन की समस्याओं को सुलझाने और दुःखों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करते हैं।

३. कुछ लोग वर्तमान जन्म में उपलब्ध विषयों से विरत होकर अदृष्ट पुनर्जन्म की खोज करने को यथार्थ नहीं मानते थे। प्राप्त को त्याग कर अप्राप्त के प्रति दौड़ना उन्हें बुद्धिमत्ता प्रतीत नहीं होती थी। उन्होंने जीवन के अतीत और भावी—दोनों पक्षों को छोड़कर केवल वर्तमान जीवन की समीक्षा करना ही पसन्द किया। उन्होंने वर्तमान जीवन के लिए इन्द्रियज्ञान को पर्याप्त समझ कर अतीन्द्रियज्ञान की उपेक्षा की और तद् विषयक अज्ञानवाद का समर्थन किया।

जयघराला में अज्ञानवाद के पश्चात् और विनयवाद के पूर्व 'ज्ञानवाद' का उल्लेख मिलता है।^४ ज्ञानवादी ज्ञान का ही समर्थन करते थे। विनयवाद की भूमिका के रूप में इसका उल्लेख महत्वपूर्ण है।

४. विनयवाद—

विनयवाद का मूल आधार विनय है।^५ चूर्णिकार के अनुसार विनयवादियों का अभिमत है कि किसी भी संप्रदाय या गृहस्थ

१. चूर्णि, पृ० २०६ : अज्ञानिकवादिमतं नव जीवादीन् सदावित्तविधानम्।

भावोत्पत्तिः सवसद्-वृत्ता-उवाच्यं च को वेत्ति? ६७ ॥

इने विद्विषयान्—सन् जीवः को वेत्ति? एवमेते सत् नवगा तिसद्वी ६३, इमेहि संकुला सत्सद्वी ६७ हवति, तं ज्ञा—सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति? कि वा ताए जाताए? १ असती भावोत्पत्तिः को वेत्ति? कि वा ताए जाताए? २ सवसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति? कि वा ताए जाताए? ३ अचक्षणीया भावोत्पत्तिः को वेत्ति? कि वा ताए जाताए? ४। उक्ता अज्ञानिकाः।

२ चूर्णि, पृ० २०७ : ते तु विगचारियादयो अवधीए पुच्छ-फलचक्रिको अण्णादि अण्णाणिया।

३. तत्त्वार्थवार्तिक भा१, भाग २ पृष्ठ ५६२ : साकल्यवाष्कलकुशुमिसात्यमुषिनारायणकाठमाध्यन्दिनीमौदपैप्यस्लादबावरायणविधि-कुरैतिकामनवकुञ्जैमिनिप्रभृतिदुष्टिमेवात् सत्त्वविदसक्या अज्ञानिकवादा अंवाः।

४. कलायवाक्य, भाग १, पृष्ठ १३४ : किरियावाधं अकिरियावाधं अण्णानवाधं ज्ञानवाधं वेणइयवाधं।

५. सूत्रकृतान् निर्मुक्ति, भाग १११..... विनयता वेणइयवादी।

की निन्दा नहीं करनी चाहिए। सबके प्रति विनम्र होना चाहिए।^१ विनयवादियों के बत्तीस प्रकार निर्दिष्ट हैं। देवता, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, कृपण, माता, पिता—इन आठों का मन से, बचन से, काया से और दान से विनय करना (८x४=३२)।^१

विनयवादी दर्शन के कुछ प्रमुख आचार्य ये हैं—वशिष्ठ, पाराशर, वात्सीकि, व्यास, इलापुत्र, सत्यवत आदि।^१

पुणिका ने निर्युक्ति गाथा (११२) की व्याख्या में 'दाणामा' 'पाणामा' आदि प्रव्रज्याओं को विनयवादी बतलाया है और प्रस्तुत बलोक की व्याख्या में आणामा, पाणामा आदि का विनयवादियों के रूप में उल्लेख किया है।^१

अमवती सूत्र में ख्याया और पाणामा प्रव्रज्या का स्वरूप निर्दिष्ट है। तामलिपि नाम की नगरी में तामली गाथापति रहता था। उसने 'पाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की। उसका स्वरूप इस प्रकार है—पाणामा प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् वह तामली जहाँ कहीं इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैद्यमण, दुर्गा, कामुण्डा आदि देवियों तथा राजा, ईश्वर (युवराज आदि), तलवर, माडबिक, कौटुम्बिक ईम्प, श्रेष्ठी, सेनापति, सत्यवाह, कौआ, कुत्ता या बाइल को देखता तो उन्हें प्रणाम करता। उन्हें ऊँचा देखता तो ऊँचे प्रणाम करता, और नीचे देखता तो नीचे प्रणाम करता।^१

पूरण गाथापति ने 'दाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की। उसका स्वरूप इस प्रकार है—प्रव्रज्या के पश्चात् वह चार पुट वाला लकड़ी का पात्र लेकर 'बेमेल' सल्लिखेण में सिंघा के लिए गया। जो भोजन पात्र के पहले पुट में गिरता उसे पयिकों को दे देता। जो भोजन दूसरे पुट में गिरता उसे कीए, कुस्तो को दे देता। जो भोजन तीसरे पुट में गिरता उसे मच्छ-कच्छों को दे देता। जो चौथे पुट में गिरता वह स्वयं खा लेता। यह दाणामा प्रव्रज्या स्वीकार करने वालों का आचार है।^१

वृत्तिकार गीलाकाचार्य ने भी विनय का अर्थ विनम्रता ही किया है। किन्तु यह अर्थ विचारणीय है। यहाँ विनय का अर्थ आचार होना चाहिए। ज्ञानवादी जैसे ज्ञान के द्वारा ही सिद्धि मानते थे, वैसे ही आचारवादी केवल आचार पर ही बल देते थे। उनका घोष था—'आचार प्रथमो धर्मः'। ज्ञानवाद और आचारवाद दोनों एकांगी होने के कारण मिथ्यादृष्टि की कोटि में आते हैं। प्राचीन साहित्य में आचार के अर्थ में विनय का बहुलता से प्रयोग हुआ है। ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में जैन धर्म को विनयमूलक धर्म बतलाया गया है। थावच्चापुत्र ने शुकदेव से कहा—मेरे धर्म का मूल विनय है।^१ यहाँ विनय शब्द मुनि के महाव्रत और गृहस्थ के अणुव्रत के अर्थ में व्यवहृत है। बौद्धों के विनयपिटक में विनय—आचार की व्यवस्था है। विनय शब्द के आधार पर विनम्रता और आचार—दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। आचार पर अधिक बल देने वाली दृष्टि का प्रतिपादन बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। जो लोग

१. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा १११, वृत्ति पृ० २०६ : वेणइयवादिषो भवन्ति—न कस्स वि वासंउस्स गिहस्वस्स वा विवा कायग्घा, सव्वस्सेव विनीयविजयेण होतव्वं।

२. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ११३, वृत्ति, पृ० २०७ : वैनयिकमतं—

विनयवेतो-आक्-काय-दानतः कार्यः।

सुर-नृपति-यति-ज्ञातृ-स्वविरा-उवम-मातृ-पितृषु सदा ॥

३. वडवर्णनसमुच्चय, श्री पुनरस्तसूरी, वीथिका, पृ० २६ : वशिष्ठपराशरवात्सीकिव्यासेलापुत्रसत्यवतप्रभृतयः।

४ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ११३, वृत्ति, पृ० २०६ : वेणइयवादीजं बत्तीसा दाणामा-पाणामाविप्रव्रज्यादि।

(ख) सूयगडो, १।१२।१, वृत्ति, पृ० २०७ : वेणइया तु आणाम-पाणामादीमा कुवासंढा।

५. अणवर्ग, ३।३४ : से केणदुठेण मंते एवं वुक्कइ—पाणामा पव्वज्जा ? गोयमा। पाणामाए जं पव्वज्जाए पव्वइए समाने जं जस्स पासइ—इवं वा संवं वा वहुं वा सिवं वा वेसमणं वा अक्खं वा कोट्टकिरियं वा रागं वा ईसरें वा तलवरं वा माडबिगं वा कोट्टुबिगं वा इक्खं वा सेट्ठिं वा सेणावहं वा सत्यवाहं वा काकं वा सानं वा पार्णं वा—उक्खं पासइ उक्खं पणामं करेइ, नीदं पासइ नीदं पणामं करेइ, ज जहा पासइ तस्स तहा पणामं करेइ। से तेणदुठेवं गोयमा। एवं वुक्कइ पाणामा पव्वज्जा।

६. अणवर्ग ३।१०२ : तए न तस्स पुरस्स गहावइस्स भण्णया कयाइ ... समयेव जउत्तुइयं दादमं पडिगहगं गहाय मुडे भविता दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए।

७. वृत्ति, पत्र २१३ : इवामी ... विनयी विद्धेयः।

८. नायसम्पकहाओ, १।५।५६ : तए नं जवज्जापुत्ते ... दुवंसवं एवं जयासी—सुवंसणा। विनयमूलए धम्मे पणत्ते।

आचार के नियमों का पालन करने मात्र से शील-शुद्धि होती है—ऐसा मानते थे, उन्हें 'सीलञ्जतपरामास' कहा गया है।^१ केवल ज्ञानवादी और केवल आचारवादी—ये दोनों धाराएं उस समय प्रचलित थीं। विनयवाद के द्वारा एकात्मिक आचारवाद की दृष्टि का निरूपण किया गया है। विनयतावाद आचारवाद का ही एक अंग है, इसलिए उसका भी इसमें समावेश हो जाता है। किन्तु विनयवाद का केवल विनयतापरक अर्थ करने से आचारवाद का उसमें समावेश नहीं हो सकता।

२. समवसरण (समोसरणाणि)

समवसरण का अर्थ है—वाच-संगम। अहां अनेक दर्शनों या दृष्टियों का मिलन होता है, उसे समवसरण कहते हैं।^१

३. प्राबाहुक (प्राबाहुया)

प्राबाहुक का अर्थ है—प्रवक्ता, किसी दर्शन का प्रतिपादन करने वाला।^१

इसलोक २ :

४. सम्मत नहीं है (असंस्तुता)

असंस्तुत का अर्थ है—असम्मत। जिनका सिद्धान्त लौकिक परीक्षकों के द्वारा भी सम्मत न हो, जो समस्त शास्त्रों से बाहर हो, मुक्त हो, वह सिद्धान्त या दर्शन असंस्तुत कहलाता है।^१

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—असंबद्धभाषी किया है।^१

५. संशय का (चित्तिगिच्छ)

चित्तिगिच्छा का अर्थ है—चित्तविलुप्ति, चित्तभ्रान्ति, संशय।^१

६. मृषा बोलते हैं (मुसं वदन्ति)

वृत्तिकार ने शाक्यों को भी प्रायः अज्ञानवादी माना है। शाक्यों की मान्यता है कि अविज्ञानोपचित कर्म नहीं होता। इसलिए जो बालक, मत्त या सुप्त हैं, उनका ज्ञान स्पष्ट नहीं होता अतः उनके कर्म-बन्ध नहीं होता। वे सब अज्ञानी हैं। वैसा शास्त्रों में लिखा है वैसा ही वे शाक्य उपदेश करते हैं। 'अज्ञान' से बन्ध नहीं होता यह मान्यता उनके शास्त्रों में निबद्ध है।^१ इस दृष्टि से वे मृषा बोलते हैं।

इसलोक ३ :

७. इसलोक ३ :

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरण अज्ञानवादी मत के और शेष दो चरण विनयवादी मत के प्रतिपादक हैं। वृत्तिकार का यह

१. घम्मसंगणि [मा० सं], पृ० २७७ : तत्थ कतमो सीलञ्जतपरामासो ? इतो बहिद्धा समव-आह्वयणां सोसेन सुद्धिचतेन सुद्धि सीलञ्जतेन सुद्धि ति—या एवक्का विट्ठि विट्ठिगत..... वे०विपरिधासम्भाहो—अय वुचसति सीलञ्जत-परामासो ।

२. वृत्ति, पृ० २०७ : समवसरन्ति जेसु वरिसणाणि विट्ठोओ वा ताणि समोसरणाणि ।

३. वृत्ति, पृ० २०७ : प्रववन्तीति प्राबाहिकाः ।

४. वृत्ति, पृ० २०८ : असंस्तुता नाम ज सोइयपरिक्कणाणं सम्मता सम्मसत्थबाहिरा मुक्का ।

५. वृत्ति, पत्र २१६ : 'असंस्तुता'—अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंबादितया असंबद्धा ।

६. वृत्ति, पत्र २१६ : चित्तिगिरसा—चित्तविलुप्तिश्चित्तभ्रान्तिः संशयः ।

७. (क) वृत्ति, पृ० २०८ : शाक्या अयि प्रायसा अज्ञानिकाः, येणामविज्ञानोपचितं कर्म नास्ति, केसि ज बाल-मत्त-सुत्ता अकम्मबद्धा, ते सच्च एव अण्णाणिया । सत्थघम्मता सा तेसि अथ खेव ठितेरुत्ता तथ खेव ववदिसंति, जथा—अण्णाणेव बंधो नत्थि, तह खेव ताणि सत्थाणि निबद्धाणि ।

(ख) वृत्ति, पत्र २१७ ।

अभियत है ।^१

वृत्तिकार ने पूरे श्लोक को विनयवादी मत का प्रतिपादक माना है ।^१ यह भ्रान्ति है ।

८. (सत्त्वं असत्त्वं उवाहुरन्ता)

चूणिकार ने इन दो चरणों का अर्थ इस प्रकार किया है—

अज्ञानवादी ऐसा भिन्नन करते हैं कि सत्य भी कभी-कभी असत्य हो जाता है, इसलिए सत्य भी नहीं कहना चाहिए ।

साधु को देखकर भी उसे साधु न कहा जाए । कभी वह साधु हो सकता है और कभी असाधु हो सकता है । चोर कभी चोर हो सकता है और कभी अ-चोर हो सकता है ।

वेष के आधार पर स्त्री को स्त्री न कहा जाए । वह स्त्री भी हो सकती है, पुरुष भी हो सकता है । इसी प्रकार पुरुष पुरुष भी हो सकता है और स्त्री भी हो सकता है ।

इस प्रकार सभी विषयों में अभिगणित होने के कारण उनके दर्शन के लिए असम्यग्दर्शन सम्यग् और सम्यग्दर्शन असम्यग् बन जाता है ।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—वे (विनयवादी) सत्य को असत्य और असत्य को सत्य तथा असाधु को साधु मानते हैं ।^१

चूणिकार और वृत्तिकार ने जो अर्थ किए हैं वे मूल से बहुत दूर जा पड़ते हैं । यथार्थ में अज्ञानवादी प्रत्येक विषय में अभिगणित होते हैं । वे किसी भी तथ्य का निश्चय नहीं कर पाते । प्रस्तुत दो चरणों में यही स्पष्ट किया गया है । परलोक, स्वर्ग, नरक सत्य हैं या असत्य हैं—ऐसा पूछने पर वे कहते हैं—हम नहीं जानते । वे यह नहीं कह सकते कि यह अच्छा है यह बुरा है । (विशेष विवरण के लिए देखें १।४१ का टिप्पण) ।

९. विनय को ही यथार्थ बतलाते हैं (भावं विजहंसु)

भाव का अर्थ है—यथार्थ का उपलभ । विनयवादी विनय को ही यथार्थ मानते हैं । कोई व्यक्ति उनसे पूछता है—तुम्हारा धर्म कंसा है ? वे कहते हैं—हमारा यह विनयमूल धर्म परिगणना, परीक्षा और मीमांसा करता रहता है । हम विनय धर्म की प्ररूपणा करते हैं । हम सबको अविरোধी मानते हैं—मित्र और अरि को सम मानते हैं । हम समस्त प्रव्रजित व्यक्तियों तथा देवों को प्रणाम करते हैं । जैसे दूसरे मतावलम्बी परस्पर विरोध रखते हैं, हम वैसा नहीं करते । हम प्रव्रजित होते ही, इन्द्र हो या स्कन्द, जब ऊँचे को देखते हैं तो ऊँचा प्रणाम करते हैं, नीचे को देखते हैं तो नीचा प्रणाम करते हैं । जो स्थान या ऐश्वर्य से ऊँचा है, जैसे राजा, सेठ आदि उनको देखते ही हम ऊँचा प्रणाम करते हैं और जो क्षुद्र प्राणी हैं, जैसे कुत्ता आदि, उनको नीचा प्रणाम करते हैं । हम भूमि पर शिर रख कर नमन करते हैं ।^१

दश्लोक ४ :

१०. अज्ञानवशा (अजीवसंज्ञा)

इसका संस्कृत रूप है—अनुपसंख्या ।

संख्या का अर्थ है—ज्ञान, 'उप' का अर्थ है—समीप । उपसंख्या अर्थात् ज्ञान के समीप । न उपसंख्या—अनुपसंख्या अर्थात् अज्ञान ।^१

१. चूणि, पु० २०८ : सत्त्वं जोसं दुस्ता अज्जाविया । इदानीं वेणइयवादी—जेमे ज्जा वेणइया..... ।

२. वृत्ति, पृ० २१८ : सामप्रतं वेणयिकवावं मिराविकीवुः प्रकमते—'सत्त्वं असत्त्वं' ।

३. चूणि, पु० २०८ ।

४. वृत्ति, पृ० २१८ ।

५. चूणि, पु० २०८ ।

६. चूणि, पु० २०८ : संज्ञा इति भावं, संज्ञाय समीपे उपसंज्ञा, न उपसंज्ञा अजीवसंज्ञा अज्ञानं इत्यर्थः ।

वृत्तिकार ने उपसंख्या का अर्थ—वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना—किया है। अनुपसंख्या का अर्थ है—अपरिज्ञान।^१

११. कर्म से बद्ध नहीं होता (लबावसक्ती)

लब का अर्थ है—कर्म। अवष्वस्क का अर्थ है—दूर रहना अर्थात् कर्म से दूर रहना।^१

चूणिकार ने लब के दो अर्थ किए हैं—कर्म तथा काल। अण, लब, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि काल के अनेक भेद हैं।^१

अक्रियावादी मानते हैं कि आत्मा अतीत, वर्तमान और भविष्य में भी कर्म से बद्ध नहीं होता।

'सर्व' शब्द 'लू' धातु से बना है। लब का एक अर्थ है—विनाश। कर्म विनाश का मूल कारण है, अतः 'लब' का अर्थ 'कर्म' किया गया है।

श्लोक ५ :

१२. श्लोक ५ :

चूणिकार के अनुसार अक्रियावादी (लोकायतिक, बौद्ध, सांख्य) दर्शन दो प्रकार के धर्म (कर्म) का प्रतिपादन करते हैं—एकपाक्षिक और द्विपाक्षिक। एकपाक्षिक कर्म का अभिप्राय यह है कि उसमें क्रियामात्र होती है, कर्म का फल नहीं होता, बंध नहीं होता। वह कर्म इसी भव में भोग लिया जाता है। एकपाक्षिक कर्म के चार प्रकार हैं—अविज्ञानोपचित, परिज्ञोपचित, ईर्ष्यापथ और स्वप्नान्तिक।

द्विपाक्षिक कर्म वह होता है जिसमें चार का योग होता है—(१) सत्त्व (२) सत्त्वसंज्ञा (३) मारने का संकल्प (४) प्राण-वियोजन। इससे होने वाला कर्म-बंध द्विपाक्षिक होता है—इस जन्म में भी भुगता जाता है और परजन्म में भी भुगता जाता है। जैसे—बोर यहां खोरी करते हैं। इसी भव में उन्हें कारावास, बन्धन, वध आदि दंड भुगतने पड़ते हैं। शेष परिणाम उन्हें अगले जन्म—नरक आदि में भुगतने पड़ते हैं।^१

एकपाक्षिक

वृत्तिकार ने अक्रियावादियों के एकपाक्षिक तथा द्विपाक्षिक कर्म को विभिन्न प्रकार से व्याख्यात किया है—

वे (अक्रियावादी) कहते हैं—हमारा दर्शन एकपाक्षिक है, उसका कोई प्रतिपक्ष नहीं है। वह एकान्तिक और पूर्वापर-अविच्छेद है।

द्विपाक्षिक

वे अक्रियावादी कहते हैं—हमारे दर्शन से भिन्न दर्शन द्विपाक्षिक हैं, क्योंकि उनका प्रतिपक्ष प्राप्त होता है, वे अनैकान्तिक और पूर्वापरविच्छेद वचनों के प्रतिपादक हैं।

हम द्विपाक्षिक दो दृष्टियों से हैं—

१. हम कर्म बन्ध और कर्म-निर्जरण—इन दो पक्षों को स्वीकृति देते हैं।

१. वृत्ति, पत्र २१८ : संख्यां संख्या—परिच्छेदः उप—सामीप्येन संख्या उपसंख्या—सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञानं, नोपसंख्याऽनुपसंख्या तथाऽनुपसंख्या—अपरिज्ञानेन।

२. वृत्ति, पत्र २१८ : लबं—कर्मं तस्मादपशङ्कितुम्—अपसर्तुं शीलं येषां ते लबावसङ्कितः।

३. चूणि, पृ० २०६ : लबमिति कर्म, बंधं हि लबात्—कर्मबन्धात् अवसक्तमो किद्वामो अवसराम इत्यर्थः, संवहृत्तबंधेणापि च बन्धनमो, किं पुन निष्कृत्यतो ? ... अथवा अवसक्तं हि अण-लब-मुहूर्त्त-अहोरात्र-पक्ष-मास-संवयन-संवत्सरादिलक्षणो काले सर्वत्र कर्मबन्धावसक्तमुपः। लबः कालः, वर्तमानावसक्तमो।

४. चूणि पृ० २१० : ते पुन अक्रियवादिनो दुविधं धम्मं पण्णेतं, तं ज्ञा—इमं बुपक्खं इमं एगपक्खं तावत् अविज्ञानोपचितं परिज्ञोपचितं ईर्ष्यापथं स्वप्नान्तिकं च चतुविधं कर्मं अयं न गच्छति, एतदि एकपाक्षिकमेव कर्मं अवति, का एहि वाक्का ? क्रियामात्रमेव, न तु चयोऽस्ति, बन्धं प्रतीत्याधिकरूप इत्यर्थः एगपक्खं। बुपक्खं तु यदि सरवरण अवति सत्त्वसंज्ञा च सञ्चित्य जीवितान् व्यपरोपण प्राणातिपातः, एतद् इह च परत्र जन्मुपपद्यते इत्यतो बुपक्खिकं, यथा श्रीराख्यः इह पुष्कलाधममुसूय शेषं नरकादिष्वनुभवति।

२. हमारा एक पक्ष यह है कि चार प्रकार के कर्म—अविज्ञोपचित, परिज्ञोपचित, ईर्यापथ और स्वप्नान्तिक—इहम्भव वेद्य होते हैं। हमारा दूसरा पक्ष यह है कि कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका वेदन इहम्भव और परम्भव दोनों में होता है।^१

इहम्भव वेद्य और जन्मान्तर वेद्य कर्मों के आधार पर बौद्ध एकपाक्षिक भी है और द्विपाक्षिक भी है। उसकी मान्यता है कि क्रियाचित्त से जो कर्म किया जाता है, उससे कर्मों का चय नहीं होता, बंध नहीं होता। वह इहम्भव वेद्य कर्म है। कुशलचित्त और अकुशलचित्त से जो कर्म किया जाता है, उससे कर्मों का चय होता है, बंध होता है। उसका परिणाम दोनों भवों—इहम्भव और परम्भव में सुगतता पड़ता है।

विपाक या फलदान के आधार पर वे चार प्रकार के कर्म मानते हैं—

१. विदुषम्मवेदनीय—इसी शरीर में भुगते जाने वाले कर्म।
२. उपपक्खवेदनीय—परम्भव में भुगते जाने वाले कर्म।
३. अपरापरियवेदनीय—जन्म-जन्मान्तर में भुगते जाने वाले कर्म।
४. आहोसिकम्म—अविपाकी कर्म। वह कर्म जिसका कोई फल नहीं होता।^२

चूर्णि और वृत्तिगत व्याख्या के आधार पर एकपक्ष और द्विपक्ष वाली मान्यता मुख्यतः बौद्धों की रही है। बौद्ध ग्रंथ इसके साक्षी हैं।

बह् आयतन

कर्म के छह आयतन या आश्रवद्वार ये हैं— १. श्रोत्र आयतन २. चक्षु आयतन ३. घ्राण आयतन ४. रसन आयतन ५. स्पर्शन आयतन ६. मनः आयतन। ये छह कर्म के उपादान कारण हैं।^३

चूर्णिकार ने केवल यही एक अर्थ किया है। वृत्तिकार ने इसका एक वैकल्पिक अर्थ भी किया है। उनके अनुसार यह छल का आयतन—स्थान है। जैसे किसी ने कहा—‘नवकम्बली देवदत्त’। सुननेवाला इसके दो अर्थ निकाल सकता है। ‘नव’ शब्द के दो अर्थ होते हैं—नया और नौ (संख्या)। यह ‘छल’ है।^४

श्लोक ७ :

१३. श्लोक ७ :

प्रस्तुत श्लोक की तुलना संयुक्तनिकाय के इस अंश से होती है—

‘न बाता चायंति, न नञ्जो संबंति, न नञ्जिन्वो विजायंति, न चंदिम-सूरिया उवेति वा अपेति वा।’

१. वृत्ति, पृष्ठ २२० : अस्मद्व्युपगतं दर्शनमेकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकाग्तिकमविदुषार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापर-विषयमित्यर्थः, द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं—सप्रतिपक्षमनैकान्तिकं पूर्वापरविदुषार्थाभिधायितया विरोधि-अक्षयमित्यर्थः, अविदेष्यस्मदीयं वसनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं—कर्मवृत्तिनिर्जरणं प्रतिपक्षद्वयसमाश्रयणात्, तत्समाश्रयणं चेहामुत्र च वेदनां औरपरद्वारिकादीनामिव, ते हि करधारणनासिकाविच्छेदादिकामिहैव पुण्यकल्पां स्वकर्मजो विदुष्यनामनुपपत्तिः अमुत्र च नरकादौ तत्कलभूतां वेदनां सम्नुभवस्त्येति, एषमन्यदपि कर्मोपपत्त्येवमप्युपगम्यते, तच्चेदं ‘प्राची प्राणिजान’ मित्यादि पूर्ववत्, तत्रैकमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षं इहैव जन्मनि तस्य वेदनात्, तच्चेदम्—अविज्ञोपचितं परिज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्नान्तिकं चेति।

२. अविज्ञमन्तत्संगहो ५।१६ : ‘वाकदानं परियायेन-विदुषम्मवेदनीयं उपपक्खवेदनीयं अपरापरियवेदनीयं अहोसिकम्मञ्चेति—

तदनीत टीकाः—

विदुषम्मो इमस्मिं जेव अत्ताभावे वेदनीयं फलदायकं। यस्य विपाको उपपक्खत्वा वेदनीयो, तं उपपक्खवेदनीयं, तत्तन्तरावततो अपरापरेतु तवेतु विपक्खमानं अपरापरिवेदनीयं, यस्स विपाको न होति, तं आहोसिकम्मं वाम।

३. वृत्ति, पृष्ठ २१० : अवायतनमिति बह् आयतनानि यस्य तद्विदं आश्रवद्वारमित्यर्थः, तद्वया—अवायतनं आश्रवमवायतनम्।

४. वृत्ति, पृष्ठ २२० : अवायतनं—अक्षं नवकम्बली देवदत्त इत्यादिकम्।

५. संयुक्तनिकाय, II, पृष्ठ ४१४।

श्लोक ८ :

१४. निरुद्धप्रज्ञ (निरुद्धपण्णा)

ज्ञानावरण के उदय से जिनकी प्रज्ञा निरुद्ध होती है, वे निरुद्धप्रज्ञ कहलाते हैं। वे वास्तविकता को नहीं देख पाते। जो अनिरुद्धप्रज्ञ होते हैं वे प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा अथवा परोक्षज्ञान—आगम के द्वारा जीव आदि पदार्थों को यथार्थ रूप में जानते हैं। अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष और मति और श्रुत—ये दो ज्ञान परोक्ष होते हैं। प्रत्यक्षज्ञानी जीव आदि पदार्थों को करतलामलकवत् साक्षात् देखते हैं। समस्त श्रुतज्ञानी उन्हें लक्षण द्वारा जान लेते हैं तथा अष्टांगमहानिमित्त के पारगामी निमित्त के द्वारा जान लेते हैं।^१

श्लोक ९ :

१५. श्लोक ९ :

प्रस्तुत श्लोक में अष्टांग निमित्त का निर्देश मिलता है। निमित्त के आठ अंग हैं—श्रीम, उत्पात, स्वप्न, अन्तरिक्ष, अंग, स्वर, लक्षण और व्यंजन। यहाँ संवत्सर, स्वप्न, लक्षण, देह और उत्पात—ये पांच साक्षात् निर्दिष्ट हैं, शेष तीन इनके द्वारा सूचित हैं। संवत्सर, अन्तरिक्ष और ज्योतिष—ये तीनों एकार्थक हैं। यह अष्टांग निमित्त नौवें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु से उद्धृत है। इसका अध्ययन कर भविष्य को जाना जा सकता है तथा श्रुत और वर्तमान को भी जाना जा सकता है। अष्टांगनिमित्तज्ञ व्यक्ति केवली की तरह तीनों काल की बात बता सकता है।^२

चूर्णिकार ने अष्टांगनिमित्त के ग्रन्थमान का भी उल्लेख किया है। अंग को छोड़कर शेष सात विषयों का अनुष्ठान छन्द के अनुपात से १२५० सूत्र हैं और उनकी परिभाषा गत टीका साठे बारह लाख श्लोक परिमाण की है। अंग के सूत्र का परिमाण साठे बारह हजार और वृत्ति का परिमाण साठे बारह लाख श्लोक हैं। वातिक अपरिमित है। इतने विशाल अष्टांगनिमित्त का अध्ययन करने पर भी सब समान ज्ञानी नहीं होते। उनमें षट्स्थानपतित (अनन्तभागहीन और अनन्तगुणअधिक) अन्तर होता है। चतुर्दशपूर्वी तथा आचारधर आदि में भी इतना ही अन्तर होता है।^३

श्लोक १० :

१६. (केई निमित्ता.....)

अभिन्मदशपूर्वी अष्टांगनिमित्त को नौवें पूर्व में ही पढ़ लेते हैं। फिर वह उनके गुणित और परिणत हो जाता है। इसलिए उनका निमित्त यथार्थ होता है। प्रत्येक ज्ञान में षट्स्थानपतित अन्तर होता है। कुछ लोग विशुद्ध नैमित्तिक पुरुषों की दृष्टि से हीन

१. चूर्ण, पृ० २११ : निरुद्धा येथा प्रज्ञा ते लवणित निरुद्धपण्णा णाणावरणोदयेण, अपचा ते वराकाः कथं भास्यन्ति ये आगमज्ञानपरोक्षा एव ? के पुत्र अनिरुद्धपण्णा ते प्रत्यक्षेण वा आगमेन परोक्षेण जीवादीन् पदार्थान् यथावज्जानन्ति । तत्रावधि-मनःपर्यव-केवलानि प्रत्यक्षम्, मति-श्रुते परोक्षम् । प्रत्यक्षज्ञानिनस्तावज्जीवादीन् पदार्थान् करतलामलकवत् वदन्ति, समस्तश्रुतज्ञानिणो वि लक्षणेण, अष्टांगमहानिमित्तवारणा वि साधको जाणन्ति निमित्तेषां ।

२. (क) चूर्ण, पृ० २१२ : संवत्सर-निमित्तो इमे एगट्ठिमा, तं—संवत्सरे ति वा अंतरिक्षे ति वा जोतिते ति वा । सुमिण सुविज्जन्तावा च, लक्षणं सारीरं । एतेण चैव तेसयाए पि सुइताए, तं ज्ञाया—जोमं १ उत्पातं २ सुमिणं ३ अंतरिक्षं ४ अंगं ५ सरं ६ लक्षणं ७ व्यंजनं च, जवमस्स पुक्खस्स ततियातो आचारवत्थतो एतं जीजितं ।जाणन्ति अणागताइ, अतिकाम्तवत्समानानि च केवलिवद् वाकरोति ।

(ख) वृत्ति, पृ० २२२ ।

३. (क) चूर्ण, पृ० २१२ : अज्ञानवर्जानां अनुष्ठानेन चक्षुस्वा अर्द्धवयोवशा शतानि (सूत्रम्), एवं तावदेव शतसहस्राणि परिभाषाटीका । अज्ञस्य तु अर्द्धवयोवशा सहस्राणि सूत्रम्, तावदेव शतसहस्राणि वृत्ति, अपरिमितं वातिकम् । एवं निमित्त-मप्यधीत्य न सर्वे तुल्याः, परस्परतः षट्स्थानपतिताः, जोहृतपुण्यो वि क्षुद्रावपदिता, एवं आचारवरादी वि क्षुद्राणवदिता ।

(ख) वृत्ति, पृ० २२२, २२३ ।

ज्ञान वाले होते हैं। वे सम्यक् तत्त्व को उपलब्ध नहीं होते, परिभाषा सहित निमित्तों को का अध्ययन करने पर भी उनका निमित्त यथार्थ नहीं होता। कुछ लोग निमित्त का अध्ययन नहीं करते अथवा सम्यक् प्रकार से नहीं करते, उस स्थिति में उनका निमित्त यथार्थ नहीं होता, तब वे कहते हैं—यह सब मिथ्या है।'

किसी मनुष्य को जाने की शीघ्रता थी। वह जाने लगा तब किसी को छीक आ गई। वह शक्ति मन से गया। उस समय कोई दूसरा शुभ शकुन हो गया। उससे छीक प्रतिहत हो गई। उसका काम सिद्ध हो गया, तब उसने सोचा—निमित्तशास्त्र भूटा है। मैं अपशकुन में चला था, फिर भी मेरा काम सिद्ध हो गया।

कोई आदमी शुभ शकुन में चला, किन्तु अन्य अशुभ शकुन के द्वारा उसका शुभ शकुन प्रतिहत हो गया। उसका काम सिद्ध नहीं हुआ तब उसने सोचा—निमित्त शास्त्र भूटा है। मैं शुभ शकुन में चला था, फिर भी मेरा कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

इन दोनों प्रतिघातों (शुभ के द्वारा अशुभ का और अशुभ के द्वारा शुभ का) को नहीं जानने वाला मनुष्य कहता है कि निमित्तविद्या सारहीन है, इसलिए इसका परिमोक्ष कर देना चाहिए, इसे नहीं पढ़ना चाहिए। निमित्त कहने वाले सब मिथ्यावादी हैं।'

बुद्ध ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा—'अभी बारह वर्षों का दुष्काल होने वाला है, इसलिए तुम सब देशान्तर में चले जाओ।' जब वे प्रस्थान करने लगे तब उन्हें रोक दिया और कहा—'अब सुभिक्ष होने वाला है।' कारण की जिज्ञासा करने पर बुद्ध ने कहा—आज एक पुण्यवान् पुण्य पैदा हुआ है। उसके कारण सुभिक्ष होगा, दुर्भिक्ष का खतरा टल गया।'

इससे ज्ञात होता है कि निमित्त जिस घटना की सूचना देता है, परिस्थिति बदल जाने पर वह घटना अन्यथा भी हो जाती है। इसलिए उसकी गहराई को न समझने वाले उसके परिमोक्ष की बात कह देते हैं। मोक्ष के प्रति निरर्थक मान उसे छोड़ देते हैं।'

श्लोक ११ :

१७. विद्या और आचरण के द्वारा (विज्जाचरणं)

विद्या का अर्थ है—ज्ञान और चरण का अर्थ है—चारित्र्य—क्रिया।

प्रस्तुत चरण—'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं'—मे ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति की बात कही है।

सांख्य आदि केवल ज्ञान से मुक्ति का कथन करते हैं। वे ज्ञानवादी हैं। अज्ञानवादी केवल क्रिया (शील या आचार) से मुक्ति का कथन करते हैं। इन दोनों एकान्तिक मतों का निरास करने के लिए सूत्रकार ने 'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं' का उल्लेख किया है। सूत्रकार ने इस तथ्य की पुष्टि में सिद्धसेन विवाकर का एक श्लोक उद्धृत किया है—

१. बुद्धि, पृ० २२२ : अभिन्नवसपुष्पिणो हेदुठेण एतं अदुठं वि महाविमिसं अघोतुं पुणितुं वा, अघित एमेव केचित् परिचामयंति, ते पदुप्पेति निमिसा तधिधा अवति, केति पुण बुद्धिकेवस्याद् विरुद्धमेवित्तेहोतो अण्हं ठाणामं अण्णतरं ठाण परिहीणा अभिसुद्धजयोवसमा.....विपर्ययज्ञानं ववति, असम्यगुपलविहरित्यर्थः, (? सपरिभवमप्यङ्गमित्यर्थः ?) सपरिभवमप्यङ्गमधीरय.....अधीतेन निमित्तेन दुरधीतेन चित्तं दृष्ट्वा निमित्तं ववति—निमित्तमेव जत्थि।

२. बुद्धि, पृ० २२२ : क्वचित् भुते त्वरितत्वात् साङ्गित एव गतः, तस्य आस्यः शुभः शकुन उस्थित. येनास्य तत् भुतं प्रतिहतम्, स च तेन भकुनेनोपलक्षितः सन् गग्यते—व्यलीकमेव निमित्तम्, येनासकुनेऽपि तिद्धिर्जाता इति। एवं शोभनमपि शकुनमन्वेवातोभनेनाप्रतिहतमनुबुध्यमानः कार्यसिद्धिनिमित्तमेव नास्तीति मन्यते अपरिचामयन्।त एव वराकारवकुर्वाद्यमपि निमित्तमपरिचामयन्तः आहंसु विज्जापल्लिमोक्खमेव, निमित्तविद्यापरिमोक्षम्, एवं हि कर्तव्यम्, नाधीतप्यामि निमित्तसारवाणीत्यर्थः किञ्चित् तथा किञ्चिदव्ययेति कृत्वा वा भूमृवावावप्रसङ्गः।

३. बुद्धि, पृ० २२२ : बुद्ध किल सिध्दानाह्वोत्तवान्—द्वारस्य चर्वाणि बुभिक्षं वविध्यति तेन देशान्तराणि गच्छत, ते प्रस्थितास्तेन प्रतिविद्धाः, सुभिक्षविधानीं वविध्यति, कवन् ? अर्धवैकः सत्त्वः पुण्यवान् जातः तत्प्राप्त्याप्यात् सुभिक्षं वविध्य-तेति। अतो निमित्तं तथा चाम्यथा च कवतीति कृत्वा.....योधं च अति निरर्थकमित्यतस्तेरत्सुष्टम्।

४. बुद्धि, पृ० २११ : विज्जया चरणेन पमोक्खो ववति, न तु पथा संख्या ज्ञानेनैवकेन, अज्ञानिकस्य च शीलेनैवकेन।

५. सिद्धसेन, द्वारिचिका १, कारिका २३।

क्रिया वा सज्ज्ञानविद्योगनिष्कला, क्रियाविहीना वा निबोधसंपन्नम् ।

निरर्थका क्लेशसमूहशास्त्रे, त्वया क्रियावाद्यालिखितेन पद्यतिः ॥

—सद् ज्ञान के बिना क्रिया निष्फल है और क्रियाविहीन ज्ञानसंपदा भी निष्फल है। आपने (महावीर ने) केवल ज्ञान या केवल क्रिया को क्लेश-समूह की शांति के लिए निरर्थक बता कर जगत् को कल्याणकारी मार्ग बताया है।

श्लोक १२ :

१८. चक्षु (चक्षु)

छन्द की दृष्टि से यहाँ ह्रस्व का प्रयोग है। इसका अर्थ है कि तीर्थंकर लोक के लिए चक्षु के समान या प्रदीप के समान होते हैं।^१

१९. नायक (नायका)

नायक का अर्थ है—से जाने वाला। चूणिकार ने इसका अर्थ—देशक और प्रकर्षक^२ तथा वृत्तिकार ने 'प्रधान' किया है। तीर्थंकर प्रधान होते हैं, क्योंकि वे सद्गुण देते हैं।^३

२०. हितकर (हितं)

चूणिकार ने हित का अर्थ सुख किया है।^४ वृत्तिकार ने हितकर उसे माना है जो सद्गति का प्रापक और अनर्थ का निवारक हो।^५

२१. (तहा तहा सासयनानु लोए, जंसी पया... ..)

लोक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे—कणायलोक, विषयलोक, आश्रयलोक। यहाँ लोक के दो अर्थ किए गए हैं—आश्रयलोक और संसार। संप्रगाढ का अर्थ है आसक्ति। उस आसक्ति के कारण लोक शाश्वत होता है अर्थात् कर्म की सतति अव्यवच्छिन्न होती चली जाती है। तब तक इस आश्रय लोक या संसार-परिभ्रमण का अंत नहीं होता जब तक मार्गानुशासन के द्वारा आसक्ति का बंधन टूट नहीं जाता।^६

२२. हे मानव ! (मानव !)

चूणिकार ने 'मानव' शब्द से प्राणिमात्र का ग्रहण किया है। विकल्प में उसे मनुष्य का संबोधन भी माना है।^७

यहाँ मानव का संबोधन इसलिए किया गया है कि वे ही उपदेश-श्रवण के योग्य होते हैं।^८

२३. संप्रगाढ (संपगाढा)

चूणिकार के अनुसार इसका अर्थ है—संप्रसृत सम्यक् रूप से फैला हुआ। इसका अर्थ अवगाढ और विगाढ भी है।^९

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—प्रकृष्टरूप से व्यवस्थित किया है। संसार में रहने वाले प्राणी नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—

१. चूणि, पृ० २१३ : चक्षुर्मुता लोकस्य, प्रदीपमुता इत्यर्थः ।

२. चूणि, पृ० २१३ : देशका नायकाः समग्रगाः ।

३. वृत्ति, पृ० २२४ : नायकाः—प्रधानाः...सद्गुणदेशानतो नायकाः ।

४. चूणि, पृ० २१३ : हितं सुखं ।

५. वृत्ति, पृ० २२४ : हितं—सद्गुणनिर्वाहकमनर्थनिवारकं च ।

६. (क) चूणि, पृ० २१३ ।

(ख) वृत्ति, पृ० २२४ ।

७. चूणि, पृ० २१३ : सर्व एव सत्या मानवा इत्यवधारित्यन्ते, मानवानां प्रजा मानवप्रजा । अथवा मानव ! इति हे मानवाः ! ।

८. वृत्ति, पृ० २२४ : हे मानव !, मनुष्याणामेव प्रत्यक्ष उपदेशार्हतामानवग्रहणम् ।

९. चूणि, पृ० २१३ : संप्रसृताः संप्रगाढा, ओगाढा विगाढा संप्रगाढा इत्यर्थः ।

इन चार गतियों में भलीभांति व्यवस्थित हैं ।'

इसका एक अर्थ आसक्त भी होता है । यहाँ यही अर्थ प्रस्तुत है ।

श्लोक १३ :

२४. श्लोक १३ :

प्रस्तुत श्लोक में जीवों का वर्गीकरण छह कायों में किया गया है, किन्तु ये काय षट्जीवनिकाय से भिन्न हैं । इस षट्जीवनिकाय में राक्षस, यमलौकिक, आसुर और गन्धर्व — ये चार देवकाय हैं । देवों का यह वर्गीकरण भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—इस वर्गीकरण से भिन्न-काल का है । संभावना की जा सकती है कि द्वितीय वर्गीकरण, जो कि व्यवस्थित वर्गीकरण है, से पहले यह वर्गीकरण प्रचलित हो । इस प्रकार का एक वर्गीकरण उत्तराध्यायन में भी मिलता है । उसमें देवों की छह श्रेणियाँ बतलाई गई हैं—देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ।' आकाशगामी—इस पद में खेचर जीवों तथा पुडोसिता—इस पद में स्थलचर और जलचर—दोनों प्रकार के जीवों का निर्वेश है ।

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने राक्षस आदि का चार देवनिकायों में समावेश करने का प्रयत्न किया है ।'

	वृत्तिकार	वृत्तिकार
राक्षस	व्यन्तर	व्यन्तर
यमलौकिक'	भवनपति	भवनपति'
आसुर	भवनपति	भवनपति
गन्धर्व	व्यन्तर	व्यन्तर

श्लोक १४ :

२५. (जनाहअपारं)

स्वयम्भुरमण समुद्र अपार जल-राशि का भंडार है । उसका पार न जलचर जीव पा सकते हैं और न स्थलचर जीव, केवल महद्विक देव ही उसका पार पा सकते हैं । इसी प्रकार इस ससार का पार भी सम्यग्दर्शन के बिना नहीं पाया जा सकता ।'

१. वृत्ति, पत्र २२५ : सम्भवतः कतिर्यङ्गनराभरभेदेन 'प्रगाढा'—प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति ।

२. उत्तराध्यायन, १६/१६ : देवराजवर्गव्या, अक्षरवृत्तसकिन्नर ।

अप्ययारि नमसंति, वृत्तकरं के करंति तं ॥

३. (क) वृत्ति, पृ० २१४ : केचान्निह भवनपत्यादिदेवाः शाश्वताः तेन रक्षसगृहणम् । अपवा व्यन्तरा गृहीता राक्षसगृहणात् । जमलोदयग्रहणाद् वैमानिकाः सूचिताः, जेणं जमदेवकाहया तिविद्या नममः (?) सर्वे ते जमस्त महाशयस्त व्याप्ता-उचवात-अयचविहेसे विट्ठंति । असुरग्रहणेन भवनवासिनः सूचिताः । गान्धर्वा व्यन्तरा एव ।

(ख) वृत्ति, पत्र २२५ : ये केचन व्यन्तरमेवा राक्षसात्मानः, तद्ग्रहणाच्च सर्वेऽपि व्यन्तरा गृह्यन्ते तथा यमलौकिकात्मानः, अ (स्वाम्भ) स्वयम्भुविस्तुपल्लवणात् सर्वे भवनपतयः तथा ये च 'सुराः'—सौधर्मादिवैमानिकाः च शब्दाज्योतिष्काः सूर्यावयः, तथा ये 'गान्धर्वाः'—विद्याधरा व्यन्तरविशेषा वा, तद्ग्रहणं च प्राधान्यरूपापनायम् ।

४. जगदी, ३/२५६ ।

५. जगदी, ३/२५७-२६० ।

६. (क) वृत्ति, पृ० २१४ : इत्योयः स्वयम्भुरमणः, स एवोयः सलिलः, ओषसलिलेन तुल्यं ओषसलिलम् । नास्य पारं जलचराः स्थलचरा वा शक्नुवन्ति गन्तुं जङ्गलाय देवेन महत्तुष्टेन इत्यतः अपारणः ।

(ख) वृत्ति, पत्र २२५ : यथा स्वयम्भुरमणसलिलो यो न केचनियतचरेण स्थलचरेण वा लङ्घयितुं शक्यते, एवमयमपि संसारसागरः सम्यग्दर्शनमन्तरेण लङ्घयितुं न शक्यत इति ।

२६. दुर्मोक्ष (दुर्मोक्षं)

भूषिकार ने दुर्मोक्ष के दो हेतु प्रस्तुत किए हैं—मिथ्यात्व और सातगौरव । आस्तिक भी इन दो कारणों से संसार का पार नहीं पा सकते तो फिर नास्तिकों का तो कहना ही क्या ?

भगवान् ऋषभ के साथ चार हजार व्यक्ति प्रव्रजित हुए थे । वे कालान्तर में सुविधावादी होकर आमण्यपालन में असमर्थ हो गए । भूख-प्यास को सहना कठिन प्रतीत होने लगा । वे कद-मूल को खाने लगे और सचिस अन्न पीने लगे । इस प्रकार वे षट् जीव-काय के हिंसक हो गए । ऐसे व्यक्तियों के लिए यह संसार दुर्मोक्ष है । वे कभी संसार का पार नहीं पा सकते ।

२७. विषय और अंगना (विसमंगणाहि)

ये दो शब्द हैं—विषय और अंगना । विषय का अर्थ है—पाच प्रकार के इन्द्रिय-विषय और अंगना का अर्थ है—स्त्री ।

इस शब्द-समूह का दो प्रकार से अर्थ किया गया है—विषय-प्रधान स्त्रियां अथवा विषय और स्त्रियां । भूषिकार का अभिमत है कि पाच विषयों में स्पर्श का विषय गरीयान् है । स्पर्श में भी स्त्री का पहला स्थान है । स्त्रियों में पाचों विषय पाए जाते हैं ।

२८. दोनों प्रमादों से (दुहतो)

इसका अर्थ है—दोनों प्रमादों से अर्थात् विषय और अंगना से ।

भूषिकार ने 'दुहतो' को स्वतंत्र और लोक का विशेषण मानकर उसके अनेक अर्थ किए हैं । द्विविध प्रमाद अनेक विषयों में हो सकता है, जैसे—वेश और स्त्री विषयक प्रमाद, आरम्भ और परिग्रह द्वारा प्रमाद, राग और द्वेष द्वारा प्रमाद तथा अन्न और पानी विषयक प्रमाद ।

'दुहतो' को लोक का विशेषण मानने पर इसके दो अर्थ होते हैं—वस और स्थावरलोक अथवा इहलोक और परलोक ।

भूषिकार ने 'दुहतो' को 'लोक' का विशेषण मान कर इसके दो अर्थ किए हैं—

१. आकाश आश्रित लोक और पृथ्वी आश्रित लोक ।

२. स्थावर लोक और जगम लोक ।

भूषिकार ने वैकल्पिक रूप में 'दुहतो' को स्वतंत्र मानकर इसके दो अर्थ किए हैं—

१. लिंग मात्र प्रव्रज्या और स्त्री से ।

२. राग तथा द्वेष से ।

१. भूषि पृ० २१४ : दुर्मोक्षेति मिथ्यत-सातगुह्येन च च तरंति अमुपासेतए जे वि अस्तिवाविणो, किमंग पुण नास्तिकाः ? ।

२. (क) आवश्यक भूषि, पूर्वभाग पृ० १६२ : जेण जणो भिक्खु न जावति जाउं तो जे ते जस्तारि सहस्सा ते भिक्खु अलमंता तेण भाणेण जरंथि न वण्णंति सरहस्स य जएणं पक्खा जणमतिगता तावसा जाता, कंदमूलाणि कातिउमारया ।

(ख) भूषि, पृष्ठ २१४ : अथा ताणि जस्तारि तावससहस्साणि सातागुह्यसणेण ज्झकायवधगाई जाताई ।

३. भूषि, पृष्ठ २२५ : विषयप्रधाना अङ्गना विषयाङ्गनास्ताभि, यदि वा विषयाङ्गनाश्च विषयाङ्गनास्ताभिः ।

४. भूषि, पृ० २१४ : सुनरीयान् स्पर्शं तेज्जप्यङ्गनाः, तासु हि पञ्च विषया विद्यन्ते ।

५. भूषि, पृ० २१४ : दुहतो वि ति द्विविधेनापि प्रमादेन लोकं अनुसंवरंति । तं अथा—निग-वेत-यज्जाए अविरतीए य, अथवा आरम्भ-परिग्रहाभ्यां राग-द्वेषाभ्यां वा अन्न-वानाभ्यां वा वस-स्थावरलोकं वा इयं लोमं परलोकं वा ।

६. भूषि, पृष्ठ २२६ : 'विद्यासि'—आकाशाभितं पृथिव्याभितं च लोकं.....यदि वा—'विद्यासि' इति लिङ्गभावप्रव्रज्याविरत्या (च) रागद्वेषाभ्याम् ।

२६. जिसमें प्रमत्त होकर (अंती विसृज्या)

‘अंती’ का अर्थ है—जिसमें । चूर्णिकार ने इस शब्द से अनेक अर्थों की कल्पना की है । जैसे—संसार में, सावध धर्म में, असमाधि में, कुमार्ग में, असद् मान्यता में अथवा इन्द्रियों के पांच विषयों में ।^१

वृत्तिकार ने इसका एक ही अर्थ किया है—संसार में ।^२ ‘विसृज्या’ का अर्थ है—प्रमत्त या आसक्त ।

इसलोक १५ :

३०. (य कम्मुणा कम्म.....खवेति धीरा)

मिध्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पांच आश्रय हैं, कर्म के मूल स्रोत हैं । इनसे कर्म-पुद्गलो का बन्ध होता है, इसलिए ये कर्म-बन्ध के हेतु हैं । संक्षेप में इन्हें कर्म कहा जाता है । सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग—ये पांच सबर हैं । इनसे कर्म का निरोध होता है । संक्षेप में इन्हें अकर्म कहा जाता है । अज्ञानी मनुष्य कर्म-बन्ध के हेतुओं में वर्तमान होता है और कर्म को क्षीण करने की बात सोचता है । इस अवस्था में सूत्रकार कहते हैं—कर्म से कर्म को क्षीण नहीं किया जा सकता । उसे अकर्म से क्षीण किया जा सकता है ।

देखें—८।३ का टिप्पण ।

३१. मेघावी (मेघाविणो)

मेघा का अर्थ है—वह प्रजा जो हित की प्राप्ति और अहित के परिहार से युक्त हो । इस प्रकार की मेघा से व्यक्ति मेघावी कहलाता है ।^३

चूर्णिकार ने मेघावी का अर्थ मर्यादाशील किया है ।^४

३२. लोभ और मद से अतीत (लोभमया अतीता)

यहां दो शब्द हैं—लोभ से अतीत और मद से अतीत ।

लोभ से अतीत अर्थात् वीतराग ।^५ चार कषायों में सबसे अन्त में नष्ट होने वाला है—लोभ कषाय । दशवें गुणस्थान में जब उसका संपूर्ण नाश हो जाता है तब साधक ऊपर आरोहण करता हुआ वीतराग बन जाता है ।

‘मया’ का संस्कृत रूप है—मदात् । हमने मय का अर्थ मद किया है ।

‘मय’ शब्द से माया का अर्थ भी ग्रहण हो सकता है । छन्द की दृष्टि से ‘मा’ के स्थान में ‘म’ प्रयोग भी होता है ।^६ चूर्णिकार ने ‘माया’ शब्द मान कर इसका अर्थ ‘माया से अतीत’ किया है ।^७

३३. संतोषी मनुष्य पाप नहीं करता (संतोसिणो जो पकरेंति पापं)

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में प्रयुक्त ‘लोभ अतीता’ लोभ से अतीत और अत्र प्रयुक्त ‘संतोषी’—दोनों समानार्थक हैं । क्या यह पुनरुक्त नहीं है ? चूर्णिकार समाधान देते हुए कहते हैं कि दोनों शब्द दो अर्थ-विशेष के स्रोतक हैं, अतः वे समानार्थक नहीं हैं । इसलिए पुनरुक्त भी नहीं है । लोभातीत का अर्थ है—लोभ से शून्य वीतराग और संतोषी का

१. चूर्णिकार, पृ० २१४ : अत्र संसारे यत्र वा साज्जं अर्धसमाधी कुमार्गे वा असत्समवसरणेण, पांचसु वा विसणु ।

२. वृत्ति, पृ० २२५ : यत्र—अस्मिन् संसारे ।

३. वृत्ति, पृ० २२६ : मेघा—प्रजा सा विज्जे मेघा ते मेघाविणः—हितहितप्राप्तिपरिहारविज्ञाः ।

४. चूर्णिकार, पृ० २१४ : मेघाविणो मेघाविणो ।

५. चूर्णिकार, पृ० २१४, २१५ : लोभमतीताः लोभातीताः, वीतरागा इत्यर्थः ।

६. तत्त्ववैशेषिक ३।१।१ : मयमया ।

७. चूर्णिकार, पृ० २१५ : एवं मायानतीता मायातीता वा ।

अर्थ है—जो निग्रह करने में उत्कृष्ट हैं, वे अवीतराग होने पर भी वीतराग हैं ।'

वृत्तिकार ने इस पुनरुक्त प्रश्न का समाधान दो प्रकार से दिया है—

१. लोभ से अतीत—इसमें लोभ का प्रतिषेधांश दिखाया है । तथा 'संतोषी' इसके द्वारा लोभ की अल्प विद्यमानता अर्थात् लोभ का विधि अंश प्रदर्शित किया गया है ।

२. लोभ से अतीत—अर्थात् समस्त लोभ का अभाव । संतोषी अर्थात् वीतराग न होने पर भी उत्कृष्ट लोभ से रहित ।'

'जो पकरेति पाबं'—संतोषी पाप नहीं करते—इसका तात्पर्य है कि वे लोभ को प्रतनु बना देते हैं इसलिए उनके लोभ से होने वाले कर्मबंध तदभव बेदनीय हो जाता है ।' वे दीर्घकालीन पाप कर्म का बंध नहीं करते तथा लोभ के बन्धीभूत होकर पापकारी आचरण नहीं करते ।

उल्लेख १६ :

३४. (ते लीतल्लप्पणं.....तहाभताइं)

अविद्य प्रज्ञा वाले पुरुष इस प्राणिलोक के पूर्वजन्म संबंधी तथा वर्तमान और भविष्य संबंधी सुख-दुःख को यथार्थरूप में जानते हैं । प्रत्यक्षज्ञानी (केवलज्ञानी) या अनुदंश पूर्वधर (परोक्षज्ञानी) होने के कारण उनका ज्ञान अवितथ होता है । वे विभंग अज्ञानी की तरह वितथ बात नहीं जानते, नहीं कहते ।

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने यहां भगवती सूत्र का पाठ उद्धृत कर स्पष्ट किया है कि मायी, मिथ्यादृष्टि, विभंग-ज्ञानी अनगार यथार्थ को नहीं जानता ।' वह अयथार्थ जानता है । उसका पूरा विवरण इस प्रकार है—

मायी मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार बीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि, और विभंगज्ञानलब्धि से युक्त है । वह वाणारसी नगरी में अपनी शक्ति का संप्रेषण कर क्या राजगृह नगर के रूपों को जानता-देखता है ? प्रश्न का उत्तर मिला—हां, जानता-देखता है । प्रतिप्रश्न हुआ—भंते ! क्या वह तथाभाव को जानता-देखता है या अन्यथाभाव को जानता-देखता है ? उत्तर मिला—गीतम । यह तथा-भाव को नहीं जानता-देखता, किन्तु अन्यथाभाव को जानता-देखता है । फिर पूछा—भंते ! इसका क्या कारण है ? उत्तर मिला—गीतम ! उसको ऐसा होता है, मैं राजगृह नगरी में अपनी शक्ति का संप्रेषण कर वाणारसी नगरी के रूपों को जानता-देखता हूं । यह उसका दर्शन-विपर्यास है । इसलिए यह कहा जाता है—वह तथाभाव को नहीं जानता-देखता, अन्यथाभाव को जानता-देखता है ।'

१. वृत्ति, पृ० २१५ : स्याद् बुद्धिः—अलोभाः सन्तोषिणश्च एकार्यमिति कृत्वा तेन पुनरुक्तम्, उच्यते, अर्थबिरोधान्न पुनरुक्तम्, लोभासीता इति अतिक्लान्तलोभा वीतरागाः, संतोषिण इति निग्रहपरमा अवीतरागा अपि वीतरागाः ।

२. वृत्ति, पृ० २२६ : न पुनरुक्तशङ्का विद्येयेति, अतो (विद्येयाऽत्र यतो) लोभासीतत्वेन प्रतिषेधांशो दक्षितः, सन्तोषिण इत्यनेन च विध्यांश इति । यदि वा लोभासीतग्रहणेन समस्तलोभाभावः संतोषिण इत्यनेन तु सत्यप्यवीतरागत्वे नोत्कटलोभा इति लोभाभावं दशयन्परकलायेभ्यो लोभस्य प्राधान्यमाह ।

३. वृत्ति, पृ० २१५ : जो पकरेति पाबं संतोषिणो ययजुयं पकरेति, तदभवबेदनिजमेव । अथवा यत् एव लोभाईया अत एव संतोषिणः ।

४. (क) वृत्ति, पृ० २१५ ।

(ख) वृत्ति, पृ० २२६ ।

५. भगवती, ३।२२२-२२४ ।

अनगारे नं भंते ! माविमप्पा मायी विच्छिद्विद्धी बीरियल्लोए वेउब्बियल्लोए विभंगमानल्लोए वाणारसि नगरि समोहए, समोहजित्ता रायगिहे नगरे क्वाइं जाणइ-यासइ ?

से भंते ! किं तहाभावं जाणइ-यासइ ? अण्णहाभावं जाणइ-यासइ ? गोयमा ! नो तहाभावं जाणइ-यासइ, अण्णहाभावं जाणइ-यासइ । मे केणहुं भंते ! एवं बुच्छइ—नो तहाभावं जाणइ-यासइ ? अण्णहाभावं जाणइ-यासइ ?

गोयमा ! तस्स नं एवं भवइ—एवं जलु अहं रायगिहे नगरे समोहए, समोहजित्ता वाणारसीए नगरीए क्वाइं जायामि-यासामि । 'सेस इत्थं-विचच्चासे' भवइ । से तेणहुं गोयमा ! एवं बुच्छइ—नो तहाभावं जाणइ-यासइ, अण्णहाभावं जाणइ-यासइ ।

३५. वे दूसरों के नेता हैं (नेतारो अन्येति)

वे कैवलजानी या चतुर्वंश पूर्वविद् पुरुष संसार का पार पाने वाले भव्य पुरुषों को मोक्ष की ओर ले जाते हैं या उन्हें सपुपयेन देते हैं ।^१

३६. स्वयंबुद्ध (बुद्धा)

इसके दो अर्थ हैं—स्वयंबुद्ध या बुद्धबोधित । चूणिकार ने गणधर आदि को बुद्धबोधित के अन्तर्गत माना है, जब कि वृत्तिकार ने गणधर को स्वयंबुद्ध माना है ।^२ वास्तव में गणधर बुद्धबोधित होते हैं, स्वयंबुद्ध नहीं होते । भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों का इतिवृत्त इसका साक्षी है ।

३७. दूसरों के द्वारा संचालित नहीं हैं (अज्जमयेया)

वे अनन्य नेता होते हैं अर्थात् उनका कोई दूसरा नेता नहीं होता, कोई उन्हें चलाने वाला नहीं होता । वे स्वयंबुद्ध होते हैं, अतः कोई दूसरा उन्हें तत्त्वबोध नहीं कराता । हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के विषय में कोई उनको ज्ञान नहीं देता । वे स्वयं इस विवेक से परिपूर्ण होते हैं ।^३

चूणिकार ने इसकी पुष्टि में एक गद्यांश उद्धृत किया है—‘इत्ताव ताव समणेण वा माहणेण वा धम्मं अक्खाते, णत्थेतो उत्तरीए धम्मं अक्खाते’ () अमण, माहन (महावीर) ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, उससे बढ़कर कोई धर्म प्रतिपादित नहीं है ।^४ इसलिए वे महावीर अनन्य नेता हैं—उनका कोई दूसरा नेता नहीं है ।^५

३८. अन्त करने वाले (अंतकडा)

अंतकडा या अंतकर—दोनों एकार्थक हैं । ‘ड’ और ‘र’ का एकत्व माना गया है । इसका अर्थ है—भव (संसार) का अन्त करने वाले अथवा भव के उपादानभूत कर्मों का अन्त करने वाले ।^६ अंतकडा का दूसरा संस्कृत रूप कृत + अन्त भी होता है ।

इलोक १७ :

३९. जिससे सभी जीव भय जाते हैं उस हिंसा से (भूताभिसंकाए)

भूत का अर्थ है—त्रस-स्यावर प्राणी । वे जिससे डरते हैं, उसे भूताभिसंका—हिंसा कहा जाता है ।^७

४०. उद्विग्न होने के कारण (बुगुंछमाना)

इसका संस्कृत रूप है—बुगुप्समानाः । ‘गुपङ्-गोपनकुत्सनयोः’ इस श्रातु से निन्दा अर्थ में ‘सत्’ प्रत्यय करने पर ‘बुगुप्सते’ रूप निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है—निन्दा करना ।

१. (क) वृत्ति, पत्र २२६ : ते चासीतानामतर्गतमानजानिनः प्रत्यक्षजानिनश्चतुर्वंशपुर्वविदो वा परोक्षजानिनः ‘अन्येर्वा’—संसारोत्तितोर्बुजां जप्पयन्ता मोक्षं प्रति नेतारः सपुपयेसां वा प्रपुपयेन्दारो जयन्ति ।

(ख) वृत्ति, पु० २१५ ।

२. (क) वृत्ति, पु० २१५ : बुद्धा स्वयंबुद्धा बुद्धबोधिता वा गणधराणाः ।

(ख) वृत्ति, पत्र २२६ : ‘बुद्धाः’—स्वयंबुद्धास्तीर्षकरमणधराश्च ।

३. वृत्ति, पत्र २२६ : न च ते स्वयम्बुद्धास्तीर्षकमणीयस्ते—तत्त्वावबोधं कार्यं (अवन्तः किम्) ‘अन्त इत्यनन्यमेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यतोर्वा नेता विद्यन्ते इति भावः ।

४. वृत्ति, पु० २१५ ।

५. (क) वृत्ति, पु० २१५ : अन्तं बुगुंप्सोति अन्तकराः, जयान्तं कर्मान्तं वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र २२६ : ते च अज्जमत्तकराः संसारोपादानभूतस्य वा कर्मबोद्धमत्तकरा जयन्तीति ।

६. वृत्ति, पु० २१५ : भूतानि तत्त-वाधराणि ताणि वतोर्भिसंकांति वा भूताभिसंकां जयन्ति, हिंसेत्यर्थः ।

जुगुप्सा का एक अर्थ है—घृणा । वृत्तिकार ने इस शब्द का अर्थ—पाप कर्म से घृणा करना किया है ।^१

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सर्वथा भिन्न किया है । उनके अनुसार इसका अर्थ है—हिंसा तथा हिंसा करने वालों से उद्विग्न होना ।^२

४१. सबा संयमी (सबा जला)

इसका अर्थ है—प्रव्रज्या-काल से लेकर जीवन पर्यन्त संयम का आचरण करने वाला ।^३

४२. विजिष्ठ पराक्रमी (विष्यमन्ति)

इसका अर्थ है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में विविध प्रकार से पराक्रम करना,^४ उनकी वृद्धि में सतत प्रयत्नशील रहना, संयमानुष्ठान के प्रति तत्पर रहना ।^५

४३. बाग्वीर (विज्यन्ति-वीर)

विज्यन्ति-वीर का अर्थ है—जो बाग्वीर हैं, करण-वीर नहीं, जो केवल कहने में वीरता दिखाते हैं, किन्तु करने की बेला आने पर पीछे खिसक जाते हैं ।^६

विज्यन्ति का अर्थ ज्ञान या विज्ञापन है । जो ज्ञान या विज्ञापन मात्र से वीर हैं, अनुष्ठान से नहीं, वे विज्यन्ति-वीर कहलाते हैं । वैसे व्यक्ति ज्ञान मात्र से ही लक्ष्य की प्राप्ति मान लेते हैं, किन्तु ज्ञान मात्र से इष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती । कहा है—

‘अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति सूक्ष्मा, यस्तु क्रियावान् पुंश्वः स विद्वान् ।

संविष्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ॥

—शास्त्रों को पढ़ लेने पर भी बहुत सारे लोग सूक्ष्म ही रह जाते हैं । जो पुरुष शास्त्रोक्त क्रिया से युक्त होता है वह विद्वान् है । औषधि के ज्ञान मात्र से कोई भी रोगी स्वस्थ नहीं हो जाता । नीरोग होने के लिए उसे औषधि का सेवन करना ही होता है ।^७

इलोक १८ :

४४. छोटे (बहरे)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ कुन्धु आदि सूक्ष्म जीव अथवा सूक्ष्मकायिक जीव किया है ।^८

४५. बड़े (बुद्धे)

बड़े शरीर वाले अथवा बाहर प्राणी ।^९

४६. जो आत्मा के समान देखता है (ते आत्मसो पासइ)

इसका अर्थ है—जो व्यक्ति इन सब प्राणियों को आत्मा के समान देखता है । जिस प्रमाण वाली मेरी आत्मा है, उसी प्रमाण-

१. वृत्ति, पत्र २२७ : पापं कर्म जुगुप्समानाः ।

२. वृत्ति, पृ० २१५ : तां भूताभिसंकां (हिंसां) तत्कारिणश्च जुगुप्सामा उद्विग्नमाना इत्यर्थः ।

३. वृत्ति, पृ० २१५ : सवेति सर्वकालं प्रव्रज्याकालादारभ्य यावज्जीवं ।

४. वृत्ति, पृ० २१५ : ज्ञानादिव विविधं प्रणमन्ति पराक्रमन्त इत्यर्थः ।

५. वृत्ति, पत्र २२७ : विविधं—संयमानुष्ठानं प्रति ‘प्रणमन्ति’—प्रसूीभवन्ति ।

६. वृत्ति, पृ० २१५ : विज्यन्तिमात्रवीरा एवैके भवन्ति, न तु करणवीराः ।

७. वृत्ति, पत्र २२७ : विज्यन्तिः—ज्ञानं, तन्मात्रेणैव वीरा नानुष्ठानेन, न च ज्ञानादेवाभिलषितार्थाभिलषणमायते, तथाहि—‘अधीत्य शास्त्राणि’..... ।

८. वृत्ति, पृ० २१५ : बहुराः सूक्ष्माः कुन्धावयः सुक्ष्मकायिका वा ।

९. (क) वृत्ति, पृ० २१५ : बुद्धा महाशरीरा बाहुरा वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र २२७ : बुद्धाः बाह्यशरीरिनः ।

वाली आत्मा सबकी है, हाथी और कुन्पु की आत्मा भी समान प्रमाणवाली है।^१ जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सभी छोटे-बड़े प्राणियों को दुःख प्रिय नहीं है—इससे भी आत्मतुल्यता प्रमाणित होती है।^२

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भंते ! पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होने पर किस प्रकार की वेदना का अनुभव करते हैं ?

भगवान् ने कहा—‘गौतम ! जैसे एक तरुण और शक्तिशाली मनुष्य दुर्बल और जर्जरित मनुष्य के मस्तक पर मुठ्ठी से जोर का प्रहार करता है, उस समय वह कैसी वेदना का अनुभव करता है ?’

‘भंते ! वह अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है।’

‘गौतम ! जैसे वह जर्जरित मनुष्य अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है, उससे भी अनिष्टतर वेदना का अनुभव पृथ्वीकायिक जीव बाह्य होने पर करता है।’^३

इसी प्रकार सभी जीव ऐसी ही घोर वेदना का अनुभव करते हैं।

आचार्य के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में पृथ्वीकायिक आदि स्थावर प्राणियों और त्रसकायिक जीवों में वेदना-बोध का स्पष्ट निदर्शन प्राप्त है। वेदना की समान अनुभूति के कारण भी उनकी आत्म-तुल्यता प्रमाणित होती है।^४

बृहत्कल्प चूर्णिकार का यह स्पष्ट अभिमत है कि स्थावर निकाय में चेतना का विकास क्रमशः अधिक होता है—चेतना का सबसे अल्प विकास पृथ्वीकायिक जीवों में है, उनसे अधिक अष्कायिक जीवों में, उनसे अधिक तेजस्कायिक जीवों में, उनसे अधिक वायुकायिक जीवों में और उनसे अधिक वनस्पतिकायिक जीवों में। स्थावर जीवों में वनस्पति के जीवों का चैतन्य-विकास सबसे अधिक है।^५ आज का विज्ञान भी इसे मान्यता देता है। इस चैतन्य-विकास के आधार पर स्थावर जीवों का संवेदन-बोध भी स्पष्ट-स्पष्टतर होता जाता है।

४७. इस महान् लोक की (लोगमिणं महंतं)

यहा लोक को महान् कहा गया है। इसके अनेक कारण हैं—

१. यह लोक सूक्ष्म और बाह्य छह प्रकार के जीवों से भरा पड़ा है, इसलिए महान् है।

२. यहां के सभी प्राणी आठ प्रकार के कर्मों से आकुल हैं, इसलिए महान् है।

३. यह लोक अनादि और अनन्त है, इसलिए महान् है। तथा यहां कुछ प्राणी ऐसे हैं जो किसी भी काल में सिद्ध नहीं होंगे, इसलिए महान् है।

१. बुधि, पु० २१५, २१६ : आत्मना तुल्यं आत्मवत्, यत्प्रमाणो वा मम आत्मा एतत्प्रमाणः कुन्धोरपि हस्तिनोऽपीति ।

२. वसार्कालिक निरुक्ति, गाथा १५४ : अहं मम न पियं दुःखं प्राणिय एमेव सव्यजीवाणं ।

न हणइ न हणावेइ य सममणई तेज सो समणो ॥

३. भगवई १६।१५ : पुत्रविकाइए नं भंते ! अक्कंते समाजे केरिसियं वेदणं यक्कणुअवमाने बिहरइ ? गोयमा ! से जहानामए—केइ पुरिसे तवणे वल्लवं..... एगं पुरिसं कुण्णं जरा-ज्जजरियवेहं..... कमलपाणिना मुट्ठानंसि अभिहणेज्जा, से न गोयमा ! पुरिसे..... केरिसियं वेदणं यक्कणुअवमाने बिहरति ? अणिदुठं समणाउसो ! तस्स न गोयमा ! पुरिसस्स वेदणाहिंतो पुत्रविकाइए अक्कंते समाजे एस्सो अभिहुतरियं..... वेदणं यक्कणुअवमाने बिहरइ ।

४. आचार्यो, प्रथम अध्ययन, सूत्र २८-३०, ५१-५३, ८२-८४, ११०-११२, १३७-१३८, १६१-१६३ ।

५. बृहत्कल्पशास्त्र, गाथा ७५, बुधि : तं न सव्ययोधं पुत्रविकाइयानं, कस्मात् ? निरवेव्यत्वात् । ततः कस्माद् वाच्यं वनस्पतिकाइयानं विसुहतरं ।

६. (क) बुधि, पु० २१६ : अहंस्व इति अजजीवकावाकुलं अष्टविधकर्मकुलं वा, अल्लिखिबोवनाए अहंतो लोगो, अथवा कालतो महंते अनादिनिवृत्तः, अस्त्येके जज्जा अपि के सर्वकालेनापि न सेत्थमिति । अथवा ब्रह्मतः क्षेत्रतश्च लोकस्यान्तः, कालतो वाचतश्च वाच्यः ।

(ख) बुधि, पत्र २२७ : अहंजीवसुखवाचरमेवैराकुलत्वाग्महान्तं, यदि आनाकानिअवत्ताग्महान्तं लोकः, तथाहि—सव्या अपि केवल सर्वेषापि कामिणं न सेत्थमतीति, यथापि ब्रह्मतः अहंज्ज्यात्मकत्वात् क्षेत्रतश्च तत्तत्सुप्रमाणतया तावधिको लोकस्तथापि न अहंतो वाचतत्वाग्मासिअवत्ताग्महान्तं यथावाचरं अहंस्वत्ताग्महान्तं लोकस्तनुप्रेक्षत इति ।

४. द्रव्य की दृष्टि से लोक षड् द्रव्यात्मक और क्षेत्र की दृष्टि से चौदह रज्जु प्रमाण वाला होने के कारण सावधिक है।
काल और भाव की दृष्टि से अन्त रहित तथा पर्यायों की दृष्टि से अनन्त होने के कारण वह महान् है।

४८. उपेक्षा करता है (उपेक्षती)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. उपेक्षा करना, सर्वत्र मध्यस्थ रहना।

२. वेक्षण।

वृत्तिकार ने केवल एक ही अर्थ किया है—उत्प्रेक्षा करना।^१

४९. बुद्ध अप्रमत्त पुरुषों में (बुद्धाप्यमत्तेषु)

व्याकरण की दृष्टि से यहां दो पदों में संधि की गई है—बुद्धे + अप्यमत्तेषु अथवा बुद्धे + पमत्तेषु।

वृत्तिकार ने इन दो पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—

१. बुद्ध धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण—इन पूर्ववर्ती चार अध्ययनों (९, १०, ११, १२) में वर्णित क्रियाओं के प्रति अप्रमत्त रहता है, तथा जो षड् जीव-निकाय के प्रति संयम रखता है।

२. बुद्ध प्रमत्त अर्थात् असंयत व्यक्तियों में जाग्रत रहता है। इस अर्थ के सर्वत्र में पाठ होगा—‘बुद्धे पमत्तेषु’। उत्तराध्यायन ४।६ में ‘सुत्तेषु यावि पडिबुद्धजीवी’ पाठ है। वह भी इसी आशय को स्पष्ट करता है।

३. ‘बुद्धे अप्यमत्ते सुदुट्ठ परिक्खएज्जा’—ऐसा पाठ भी माना है। इसका अर्थ है—अप्रमत्त बुद्ध उचित प्रकार से परिव्रजन करे।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. सभी प्राणियों के स्थान असाश्वत है, इस दुःखमय संसार में सुख का लेश भी नहीं है—ऐसा मानने वाला तत्त्वज्ञ-पुरुष (बुद्ध) संयमी मुनियों में…………… (बुद्धेऽप्यमत्तेषु) यहां बुद्ध का अर्थ है, - तत्त्वज्ञ पुरुष और अप्रमत्त का अर्थ है—संयमी मुनि।

२. बुद्ध पुरुष गृहस्थों में अप्रमत्त रहता हुआ संयमानुष्ठान में परिव्रजन करे।

इसोक्त १३ :

५०. स्वतः या परतः (आततो परतो वा)

ज्ञान दो प्रकार से होता है—स्वतः अर्थात् अपने अतीन्द्रिय ज्ञान से और परतः अर्थात् दूसरों से सुनकर।

जो व्यक्ति विमिश्रित ज्ञानी होता है, सर्वज्ञ होता है वह स्वतः सब कुछ जान लेता है।

जो व्यक्ति अल्प ज्ञानी होता है अथवा जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है वह दूसरों से ज्ञान प्राप्त करता है।

तीर्थंकर सर्वज्ञ होते हैं। वे सब स्वतः जान लेते हैं। गणधर आदि तीर्थंकरों से ज्ञान प्राप्त करते हैं।^१

१. वृत्ति, पृ० २१६ : उपेक्षती उपेक्षते, परयतोत्प्रेक्षा, उपेक्षा करोति, सर्वत्र माध्यस्थ्यमित्यर्थः।

२. वृत्ति, पृ० २२७ : …… उत्प्रेक्षते।

३. वृत्ति, पृ० २१६ : बुद्धे नाम धर्म समाधी मार्गे समोत्तराजेषु च अप्रमत्तः कायेषु जयणाए व, अथवा प्रमत्तेषु असंजतेषु परिक्खएज्जाति ति वेमि। अथवा बुद्धे अप्यमत्ते सुदुट्ठ परिक्खएज्जा।

४. वृत्ति, पृ० २२७, २२८ : एवं च लोकायुत्प्रेक्षमाणो बुद्धः—अवगततत्त्वः सर्वाणि प्राणिस्थानाम्यशाश्वतानि, तथा नात्रापसदे संसारे सुखलेशोऽप्यस्तीत्येवं मध्यमातः ‘अप्रमत्तेषु’—संयमानुष्ठायियु यतिषु मध्ये तवामृत एव परिः—समस्तान् सवेत् परिब्रजेत्, यदि वा बुद्धः तत् ‘प्रमत्तेषु’—गृहस्थेषु अप्रमत्तः सन् संयमानुष्ठाने परिब्रजेदिति।

५ (क) वृत्ति, पृ० २१६ : आत्मनः स्वयं तीर्थंकरा जानन्ति जीवादीन् पदार्थान् परतो गणधरादयः।

(ख) वृत्ति, पृ० २२८ : स्वयं सर्वज्ञ आत्मनस्त्रैलोक्योदरविहरवर्तिपदार्थदर्शनी अथाऽवस्थितं लोकं ज्ञात्वा, तथा यच्च गणधरादिकः ‘परतः’—तीर्थंकरादेर्जीवादीन् पदार्थान् विदित्वा परेभ्य उपदिशति।

५१. ज्योतिर्भूत पुरुष के पास सतत रहना चाहिए (जोइभूम्यं सततावसेज्जा)

‘जोइभूम्यं’ का अर्थ है—ज्योति के समान, प्रकाशातुल्य । ज्योति चार हैं—सूर्य, चन्द्रमा, मणि और प्रदीप । जैसे ये चारों प्रकाश देते हैं, प्रकाशित करते हैं, वैसे ही जो लोक और अलोक को ज्योतिर्मय करता है वह ज्योतिर्भूत होता है । तीर्थंकर, गणधर आदि ज्योतिर्भूत होते हैं ।

सततावसेज्जा—यहां दो पदों में संघि की गई है—सततं + आवसेज्जा । इसका अर्थ है—यावज्जीवन तक उन (तीर्थंकर, गणधर) की सेवा करे । अथवा जो व्यक्ति जिस काल में प्रकाश देने वाला हो, उसकी सेवा करे ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सतत गुरु के पास रहे, सदा गुरुकुलवास में रहे—किया है ।

श्लोक २० :

५२. आत्मा को जानता है (अत्ताणं जो जानइ)

जो आत्मा को जानता है अर्थात् जो आत्मज्ञ है । इसका तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को परलोक में जाने वाला, शरीर से भिन्न और सुख-दुःख का आधार जानता है तथा जो आत्महित की प्रवृत्ति में प्रवृत्त होना है वह आत्मा को जानता है, वह आत्मज्ञ है ।

छंद की दृष्टि से यहां ‘अत्ताणं’ में अनुस्वार का लोप माना है ।

५३. लोक को जानता है (लोयं)

वृत्तिकार ने लोक का अर्थ प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप लोक किया है । जैसे—दृष्ट पदार्थों में मेरी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, वैसे ही सब जीवों की होती है । प्रस्तुत प्रकरण में यह अर्थ बुद्धिगम्य नहीं होता । आचारांग वृत्ति में ‘लोयवाई’ पद के लोक शब्द का जो अर्थ किया गया है, वह संगत समता है । जैसे ‘मैं हूं वैसे अन्य जीव भी हैं ।’ जीव लोक के भीतर ही होते हैं । जीव और अजीव का समुदय लोक है ।

५४. जो आगति को जानता है (जो आगतिं जानइ)

मनुष्य कहां से आकर उत्पन्न होते हैं ? कौन से कौन से कर्मों से कहां-कहां उत्पन्न होते हैं ? मैं कहां से आया हूं ? मैं कहां जाऊंगा ? इन सबको जानना आगति को जानना है ।

१ वृत्ति, पृ० २१६ : ज्योतपतीति ज्योतिः आदित्यचन्द्रमाः मणिः प्रदीपो वा, यथा प्रदीपो ज्योतयति एवमसौ लोकाऽलोकं ज्योतयतीति ज्योतिस्तुल्य इत्यर्थः । तिर्यगरं गणधरे वा (यो) यस्मिन् काले ज्योतिर्भूतः ।

२ वृत्ति, पृ० २१६ : सततं आवसेज्जासि त्ति यावज्जीवाए सेवेज्जा तिर्यगरं गणधरे वा (यो) यस्मिन् काले ज्योतिर्भूतः ।

३ वृत्ति, पत्र २२८ : ‘सततम्’—अनवरतम् ‘आवसेत्’—सेवेत्, गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत् ।

४ (क) वृत्ति, पत्र २२८ : यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद् व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधार जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति ।

(ख) वृत्ति, पृ० २१६ : आत्मानं यो वेत्ति यथा ‘अहमस्ति’ इति संसारी च । अथवा स आत्मज्ञानी भवति य आत्महितेष्वपि प्रवर्तते । अथवा जैलोक्य (जैकाल्य) कार्यपदेनात्मा प्रत्यक्ष इति कृत्यानिस्थादि ।

५. वृत्ति, पृ० २१६ : वेणाऽऽत्मा (ज्ञातो) भवति तेन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपो लोको ज्ञात एव भवति आत्मोपपन्नेन, यथा—ममेष्टानि, बुद्धेर्वर्चेषु प्रवृत्ति-निवृत्ति भवतः यथाऽस्तीति ।

६. आचारांग वृत्ति, पृ० १४ : लोयवासी जाम अहं केव अहं मरिच एवं अम्येऽपि देहिणो संति, लोयअवसंतरे एव जीवा, जीवाजीवा लोयअमुदयो इति ज्वितो लोयवासी ।

७. (क) वृत्ति, पृ० २१६ : कुतो मनुष्या आगच्छन्ति ? केर्वा कर्मेणिः कुत्र वा गच्छन्ति ? , न विद्यः—कुतोऽश्वागतः गमिष्यामि वा ? ।

(ख) वृत्ति, पत्र २२८ : यस्मिन् जीवाणां ‘आगतिम्’—आगमनं कुत्रः समागता मारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः ? केर्वा कर्मणिर्मारका-विलोयोत्पन्नते ? , एवं यो जानाति ।

५५. अनागति (मोक्ष) को जानता है (अनागति)

अनागति का अर्थ है—सिद्धि, मुक्ति। समस्त कर्म-अय को भी सिद्धि या मुक्ति कहा जाता है और लोकाग्र भाग में संस्थित सिद्धिप्राप्ति को भी सिद्धि या मुक्ति कहा जाता है। वहाँ जाने के बाद पुनः आगमन नहीं होता, अतः वह अनागति है। वह साधि और अनस्त है।^१

५६. (जाति मरणं च जयणोवपातं)

संसारवर्ती प्रत्येक प्राणी का जन्म और मरण होता है। जैन दर्शन में इस स्थिति का अवबोध कराने के लिए पांच शब्द व्यवहृत होते हैं—जन्म, मरण, उपपात, च्यवन और उद्वर्तन। वे भिन्न-भिन्न गति के जीवों के जन्म-मरण के द्योतक हैं—

जन्म-मरण—औदारिक शरीर वाले मनुष्य और तिर्यञ्चों के लिए।

उपपात (जन्म)—नारक और देवों के लिए।

च्यवन (मरण)—उद्योतिष और वैमानिक देवों के लिए।

उद्वर्तन (मरण)—भवनपति और अंतर देवों तथा नारक जीवों के लिए।

प्रस्तुत चरण के 'जयणोवपातं' में च्यवन का उल्लेख पहले और उपपात का उल्लेख बाद में हुआ है। छन्द की दृष्टि से ऐसा करना पड़ा है। अन्यथा उपपात (उत्पत्ति, जन्म) का कथन पहले और च्यवन (मरण) का कथन बाद में होना चाहिए था।^२

श्लोक २०-२१ :

५७. श्लोक २०-२१ :

प्राचीन काल में क्रियावाद और अक्रियावाद—ये दो मुख्य सम्बन्धन थे। वर्तमान में जैसे—आस्तिक और नास्तिक—ये शब्द बहु प्रचलित हैं वैसे ही उस समय क्रियावाद और अक्रियावाद बहुप्रचलित थे। सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन के उपसंहार में यह बतलाया है कि बहुत सारे दर्शन स्वयं को क्रियावादी घोषित करते हैं, किन्तु केवल घोषणा करने से कोई क्रियावादी नहीं हो सकता। क्रियावादी वही हो सकता है जो क्रियावाद के आधारभूत सिद्धान्तों को जानता है। वे ये हैं—

- | | |
|----------------------|---------------------|
| १. आत्मा | ६. उपपात और च्यवन |
| २. लोक | ७. अयोगमन |
| ३. आगति और अनागति | ८. आश्रव और संवर |
| ४. शाश्वत और अशाश्वत | ९. दुःख और निर्जरा। |
| ५. जाति और मरण | |

कुछ वार्सनिक दुःख और दुःख हेतु (आश्रव), मोक्ष (संवर), मोक्षहेतु (निर्जरा) को जानते हैं, पर शाश्वत को नहीं जानते। कुछ शाश्वत को जानते हैं, पर अशाश्वत को नहीं जानते। कुछ आगति को जानते हैं, पर अनागति को नहीं जानते। कुछ जन्म और मरण को जानते हैं, पर उपपात और च्यवन को नहीं जानते। इस स्थिति में वे सही अर्थ में क्रियावाद के प्रवक्ता नहीं हो सकते। आचार्य में आत्मवाद, लोकवाद, क्रियावाद और कर्मवाद—ये चार सिद्धान्त मिलते हैं। प्रस्तुत दो श्लोकों में उनका विस्तार है। यहाँ प्रतिपादित सिद्धान्तों का विस्तार इसी सूत्र के पाँचवें अध्ययन (श्लोक १२ से २८) में मिलता है। भगवान् महावीर क्रियावादी थे। उनकी वाणी में ये सिद्धान्त मुख्य रूप से चर्चित हुए हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ स्थलों का निर्देश किया जा रहा है—

१. आत्मवाद—अंगसुत्ताणि भाग १, आयारो १११-४; ५११०४-१०६, १२३-१४०। अंगसुत्ताणि भाग २, अगवई १११७-११८; २१३६, १३७; ६१७४-१८२; १२१३०, १३२।

१. इति, पृ २२८ : सज्जानागतिः—सिद्धिरक्षेत्रकर्मपुतिरुपा लोकावाकाशदेशस्थानरूपा वा प्राह्या, ता च सादिरवयंवासना।

२. इति, पृ २२६ : जाति मरणं च जानीते, औदारिकानां सत्त्वानां जातिः, एष जोगीसंगहो भाजितव्यो यवधिषो वि ।... .. औरानियमं चैव मरणम् । अज्जानुलोप्यात् जयणोवपातं, इतरथा तु पूर्वं उपपातो वच्छेद्यः, स तु नारक-देवानां, जयणं तु जोतिसिद्धि-वैमानियमं, उज्जह्वा नवजवासिधायं संसारं नैरुप्यायं च ।

२. लोकवाचं—अंगसुताणि भाग १, आध्यायो १।५। अंगसुताणि, भाग २ भगवद् २।४५, १३८-१४०, ७।३; ६।१२२, २३१-२३३; १।१६०-१।१४; १।३।४७-५०, ५५-६०, ८८-९२; १।६।११०-१।१५; २०।१०-१३; २५।२१-२३;

३. आगति—अंगसुताणि भाग २, भगवद् १।१३०-४०; २।१।७; २।४।२७-३३, ३८, ४०, ४४, ४७, ५०, ५३, ६२, ६४, ६५, ६७, ६९, ७१, ७३, ७५, ७७, ७९, ८१, ८४, ८६, ८८, ९० आदि-आदि।

४. अनागति (मोक्ष)—भगवद् १।२००-२१०; ३।१।४६-१।४८; ६।३२।

५. शाश्वत-अशाश्वत—अंगसुताणि भाग २, भगवद् ६।२३३; ७।५८-६०, ६३-६५; १।६५; ६।१।७६, २३१, २३३; १।४।४६, ५०।

६. जन्म-मरण—भगवद् ६।८७, ८८, १०४, १।१।४०, ४२, ५६; १।२।१३०-१।५३; १।६।६५;

७. जन्मपात-व्ययव्य—भगवद् १।१।१३, ४४६, ४४७; २।१।१७; ८।३।४१-३।४३; १।१।२; १।२।१।५४, १।६६-१।७७; ठाणं २।२।५२।

८. अक्षोगमन—भगवद् १।३।८४।

९. आश्रय—भगवद् १।३।१२-३।१३; २।६४; ३।१।३३-१।४५।

१०. संवर—भगवद् १।४।२३, ४२४, ४२६; २।६४, २।१।११; ५।१।१५; ७।१।५६; ६।१।६, २०, ३१; १।७।४८।

११. कुशल—भगवद् १।४।४-४।७, ५३, ५६, ५९; ६।१।८३-१।८५; ७।१।६-१।९।

१२. निर्बन्ध—भगवद् १।८।६६-७१।

प्रसंग २१ :

५८. अक्षोलोक में (अहो बि)

‘अघो’ का अर्थ है—‘सर्वार्थसिद्ध’—अनुत्तर विमान से लेकर नीचे सातवीं नरक भूमि तक का भाग।^१

५९. विवर्तन (जन्म-मरण) को (विजडृणं)

वृणिकार ने ‘विकुट्टन’ शब्द मानकर इसका अर्थ जन्म, मरण किया है।^२

वृणिकार ने ‘बि’ का अर्थ नाना प्रकार की या विकृत रूप वाली और ‘कुट्टना’ का अर्थ—जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से उत्पन्न शारीरिक पीड़ा किया है।^३ दोनों के अर्थ में मिलाता है।

हमने इसका संस्कृत रूप ‘विवर्तन’ किया है। विवर्तन का अर्थ जन्म-मरण है।

६०. संवर को (संवरं)

आश्रय के निरोध को संवर कहा जाता है। यह आश्रय का प्रतिपक्षी है। संवर का अर्थ है—समस्त योगों का निरोध चौदहवें गुणस्थान में होता है। यह उत्कृष्ट संवर है।

अथाप्रकारा यावन्तः संसारोऽस्यहेतवः ।

तावन्संस्तद्विषयानिर्वाणानिर्वाणहेतवः ॥

—जिस प्रकार के जितने हेतु संसार-प्राप्ति के कारण हैं, उतने ही उनसे विपरीत हेतु निर्वाण-प्राप्ति के हेतु हैं।^४

१ (क) वृण, पु० २१७ : सर्वार्थसिद्धाद्वारम्य यावद्वधोऽस्यम्याः तावद्वधो वर्तन्ते ।

(ख) वृण, पत्र २२६ : सर्वार्थसिद्धाद्वारतोऽधःसप्तमीं नरकमुच्यते ।

२. वृण, पु० २१७ : विविधं कुट्टन्ति विकुट्टन्ति, आसन्तो अग्रन्त इत्यर्थः ।

३. वृण, पत्र २२६ : विविधां विवर्णां वा कुट्टनां—आतिशयान्तररोगशोककृतां शरीरपीडां ।

४. (क) वृण, पु० २१७ ।

(ख) वृण, पत्र २२६ ।

६१. दुःख (को) दुष्कर्म

श्रुणिकार ने कर्मबन्ध और कर्म के उदय को दुःख माना है। कर्म-बन्ध के चार प्रकार हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेख।^१

६२. वही कियाबाद का प्रतिपादन कर सकता है (सो भासिउ किरियबाइ)

श्रुणिकार ने प्रस्तुत आगम के धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण (६, १०, ११, १२ वां अध्ययन) के प्रतिपादन को किया-बाद का प्रतिपादन माना है।^२

श्लोक २२ :

६३. जीवन और मरण की आकांक्षा नहीं करता (णो जीवियं णो मरणामिकंखे)

जीवन और मरण की आकांक्षा नहीं करता—इसका यह भी तात्पर्य है कि वह नहीं सोचता कि मैं लंबे काल तक रहूँ या शीघ्र ही मर जाऊँ।^३

मरणामिकंखे—इसमें दो पदों में संघी की गई है—मरणं + अमिकंखे।

६४. इन्द्रियों का संवर करता है (आयाणगुप्ते)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—संयम से गुप्त, कर्म से गुप्त।^४

हमने आदान का अर्थ इन्द्रिय किया है। जो इन्द्रिय-गुप्त होता है वह आदानगुप्त कहलाता है।

६५. बलय (संसारचक्र) से (बलया)

बलय का अर्थ है—वक्रता, कुटिलता। उसके दो प्रकार हैं—१. द्रव्य बलय—नदी का बलय, शस्त्र का बलय।

२. भाव बलय—कर्म।^५

तात्पर्य ये इसका अर्थ है—संसार-चक्र।

वृत्तिकार ने माया को भाव बलय माना है।^६

१. श्रुणि, पृ० २१७ : दुक्खमिति कर्मबन्धः प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशात्मकः तदुदयरथः।

२. श्रुणि, पृ० २१७ : सो धम्मं समाधि मणं समोसरणाणि य भावितुमर्हति।

३. श्रुणि, पृ० २१७ : असंखमजीवितं अभेगविघ्नं पत्थए विपरपए, ण वा परीसहपरइया मरणं विपरपए। मयवा मा ठु चित्तेज्जासी—जीवामि चिरं, मरामि व लहुं।

४. वृत्ति, पत्र २३५ : तथा मोक्षाधिनाऽऽधीयते—गृह्यत इत्यादानं—संयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्तो, यदि वा—भिक्ष्यात्पाधिनाऽऽधीयते इत्यादानम्—अष्टप्रकारं कर्म तस्मिन्मात्रातये मनोवाककायेर्गुप्तः समितव्यः।

५. श्रुणि पृ० २१७ : बलयं कुटिसमित्पर्यः। तत्र द्रव्यबलयं नदीबलयं वा संखबलयं वा भावबलयं तु कर्म।

६. वृत्ति, पत्र २३५ : भावबलयं—माया।

तेरसमं अज्जयणं
आहस्तहीयं

तेरहवां अध्ययन
याथातथ्य

आमुख

आदानपद के आधार पर इस अध्ययन का नाम 'याथातथ्य' है। इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है—शिष्य के दोष और गुणों का यथार्थ चित्रण करना। निर्युक्तिकार ने बताया है कि यथातथ्य धर्म को उपलब्ध होकर भी आत्मोत्कर्ष करने वाला बिनष्ट हो जाता है। इसलिए आत्मोत्कर्ष का वर्जन करना चाहिए।^१ प्रस्तुत अध्ययन के दूसरे श्लोक से निर्युक्तिकार के उक्त आशय की पुष्टि होती है।

याथातथ्य का अर्थ है— यथार्थ, परमार्थ, सत्य। शील, व्रत, इन्द्रिय सवर, समिति, गुप्ति, कषाय-निग्रह, त्याग आदि परमार्थ हैं, यथार्थ हैं, सत्य हैं।^२

प्रस्तुत अध्ययन के तेवीस श्लोकों ने निर्वाण के साधक-बाधक तत्त्वों, शिष्य के दोष-गुणों तथा अनेक मद-स्थानों का वर्णन है।

सूत्रकार ने शिष्य के निम्न गुण-दोषों का उल्लेख किया है—

गुण	दोष
आचार्य की आज्ञा मानना	मोक्ष समाधि का अप्रतिपालन
आगम की आज्ञा मानना	आचार्य का अवर्णवाद कहना
संयम का पालन करना	स्वच्छन्द व्याकरण करना
एकान्तदृष्टि-सम्यग्दृष्टि होना	अनाचार का सेवन करना
माया रहित व्यवहार करना	असत्य वचन कहना
मृदु और मित बोलना	विद्या-गुरु का अपलाप करना
जैसे कहे वैसे करना	असाधु होकर स्वयं को साधु मानना
अनुशासित होने पर मध्यस्थ रहना	मायाचार का सेवन करना
कलह से दूर रहना	क्रोध करना
मद-स्थानों का सेवन नहीं करना	पापकारी भाषा बोलना
जाति-कुल, गण, कर्म और शिल्प का	उपशान्त कलह की उदीरणा करना
प्रदर्शन कर आजीविका नहीं कमाना	विग्रह करना
सत्य भाषी, प्रविधानवान्,	प्रतिकूल भाषा बोलना
विचारव, आनाडप्रज्ञ, भावितात्मा	अपने आपको उत्कृष्ट संयमी समझना।
प्रतिभावान् होना।	

सूत्रकार ने सात श्लोकों (१०-१६) में मद-स्थानों और उनके परिहार के उपाय-सूत्र बतलाए हैं— गोत्रमद, प्रज्ञामद, जाति-मद, कुलमद, लाभमद, तपोमद, आजीविकामद—ये मदस्थान हैं। इनके परिहार के लिए कुछ उपाय-सूत्र बतलाए गए हैं—संयम और मोक्ष अगोत्र होते हैं, जाति और कुल त्राण नहीं देते, मित्र सुखीर होता है, मृतार्षा होता है, दृष्टधर्मा होता है।

अंतिम पांच श्लोकों (१९-२३) में धर्मकथी के स्वरूप का विमर्श किया गया है। यह माना जाता है कि मुनि बनने मात्र से ही किसी को धर्मकथा करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। आचाराग आदि आगमों में धर्मदेशना देने का अधिकारी कौन हो सकता है, इसका स्पष्ट निरूपण है। प्रस्तुत श्लोकों में बताया गया है कि धर्मकथी मुनि दो प्रकार के होते हैं—

१. अतीन्द्रियज्ञान से संपन्न।

२. परोक्षज्ञानी—प्रत्यक्षज्ञानी से सुने हुए या समझे हुए तथ्य का प्रतिपादन करने वाले।

१. निर्युक्ति, भाषा ११५, ११६।

२. जूनि, पृ० ११६।

अतीन्द्रियज्ञान से संपन्न धर्मकथी के लिए कोई निर्देश आवश्यक नहीं होता। जो परोक्षज्ञानी है, आगम और श्रुत के आधार पर धर्म-प्रवचन करते हैं, उनके लिए निर्देश आवश्यक होते हैं। वे ये हैं—

१. धर्मकथी पूछे जाने पर या बिना पूछे भी संयमपूर्वक बोले। वह धर्म संबंधी ऐसी बात कहे जो संयम को पुष्ट करने वाली हो।
२. धर्मकथी मुनि हिंसा और परिग्रह को बढ़ावा देने वाली, कुतियाहियों की प्रशंसा करने वाली या साधुदान की प्रतिष्ठापना करने वाली भाषा न बोले।
३. वह ऐसे तर्कों का प्रयोग न करे, जिससे अशुद्धालु व्यक्ति कुपित होकर अनर्थ घटित कर सकता है, मार सकता है।
४. धर्मकथी मुनि अनुमान के द्वारा दूसरे के भावों को जानकर धर्म-देशना करे। वह यह जान ले कि यह मनुष्य कौन है? किस दर्शन को मानने वाला है? मैं जो कह रहा हूँ, वह परिषद् को प्रिय लग रहा है या अप्रिय? जब उसे लगे कि अप्रिय लग रहा है तो तत्काल विषय को मोड़ दे।
५. धर्म-प्रवचन करते समय सत-मतान्तरों की बात छोड़कर ऐसी बात कहे जिससे स्वयं का और सुनने वालों का कल्याण हो, इहलोक और परलोक सुधरे।
६. धर्मकथी मुनि परिषद् की रुचि को ध्यान में रखे। जो परिषद् जिससे प्रभावित होती हो, वैसी धर्मदेशना दे।
७. धर्मकथी मुनि असौम्य और अनुलेजित रहे।
८. धर्मकथी मुनि पूजा और श्लाघा प्राप्त करने के लिए धर्मकथा न करे। वह यह कामना न करे कि धर्मकथा करने से मुझे अच्छे वस्त्र, पात्र, अन्न, पान, लयन, शयन प्राप्त होंगे। वह यह भी न लोचे कि लोग मेरी प्रशंसा करेंगे। लोग कहेंगे—अरे! हमने इस जैसे अर्थ का विस्तार करने वाला नहीं देखा। अरे, यह बहुत मिष्टभाषी है।
९. वह प्रियता या अप्रियता पैदा करने के लिए धर्मकथा न करे। वह श्रोता के अभिप्राय को जानकर, रागद्वेष से रहित होकर, सम्यग् दर्शन आदि यथार्थ धर्म का उपदेश करे।
१०. धर्मकथी मुनि श्रुद्धा आदि परीसर्तों को सहने में धीर और पवित्र रहे।
११. धर्मकथी मुनि निष्प्रयोजन—केवल निर्जरा के लिए धर्मकथा करे।
१२. धर्मकथी मुनि अकषायी रहे—न क्रोध करे, न अहंकार करे, न माया करे और न लोभ के वशीभूत हो।

तेरसमं अष्टाङ्गणं : तेरह्वां अभ्ययन

ग्राह्यसहीयं : याथातथ्य

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

१. ग्राह्यसहीयं तु पवेयदस्सं
याज्यगारं पुरिसस्स जातं ।
सतो य धम्मं असतो य सीलं
संति असंति करिस्सामि पाउं ॥

याथातथ्यं तु प्रवेदयिष्यामि,
नाना प्रकारं पुरुषस्य जातम् ।
सतश्च धर्मं असतश्चाऽसीलं,
शान्तिं अशान्तिं करिष्यामि प्रादुः ॥

१. मैं यथार्थ का निरूपण करूंगा । पुरुष-समूह नाना प्रकार का होता है । मैं साधु के धर्म, असाधु के अधर्म तथा साधु की शान्ति और असाधु की अशान्ति को प्रगट करूंगा ।

२. अहो य रातो य समुत्तिरोहि
सहागतेहि पडिलम्म धम्मं ।
समाहिमाघातमजोसयंता
सत्थारमेवं फणसं वयंति ॥

अहश्च रात्रौ च समुत्थितेभ्यः,
तथागतेभ्यः प्रतिलम्ब्य धर्मम् ।
समाधिमाख्यातमजोषयन्तः,
शास्तरमेवं परुषं वदन्ति ॥

२. दिन-रात जागरूक तथागतों (तीर्थ-करों) से धर्म को प्राप्त कर, उनके द्वारा आख्यात समाधि का श्रेय नहीं करते हुए वे (अविनीत शिष्य) शास्त्रा के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं ।

३. विसोहियं ते अणुकाहयंते
जे याऽऽत्तभावेण विपागरेब्जा ।
अट्ठाणिह होइ बहुगुणार्णं
जे जाणसंकाए सुसं वदेब्जा ॥

विशोद्धिकां तान् अनुकथयतः,
यश्चात्मभावेन व्यागुणीयात् ।
अस्थानिको भवति बहुगुणानां,
यो ज्ञानशंकया मूषा वदेत् ॥

३. जो विशोद्धिका (धर्मकथा या सूत्रार्थ) का परंपरागत निरूपण करने वाले आचार्य के अर्थ को उलट कर अपना अर्थ बतलाता है, जो ज्ञान में शंकित हो असत्य बोलता है, वह बहुत मुर्खों का अस्थान बन जाता है ।

४. जे यावि पुट्ठा पलिउंअयंति
आदाणमदुं कलु वंचयंति ।
असाहुणो ते इह साहुमाणी
मायण्णिहिति अणंतजातं ॥

ये चापि पुष्टाः परिकुञ्चयन्ति,
आदानमर्थं सलु वञ्चयन्ति ।
असाधवस्ते इह साधुमानिनः,
मायान्विताः एष्यन्ति अनन्तजातम् ॥

४. जो पूछने पर (अपने गुण का) माम छिपाते हैं, वे आदानीय अर्थ (ज्ञान भावि) से अपने आपको वंचित करते हैं । वे असाधु होते हुए अपने आपको साधु मानने वाले छलनापूर्वक व्यवहार कर अनन्त बार जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं ।

५. जे कोहने होइ जगदुपासी
विओसितं जे य उदीरएब्जा ।
अहे च से वंडपहं गह्वाय
अविओसिते वासति पापकम्मी ॥

यः क्रोधनो भवति जगदर्थभाषी,
व्यवसितं यश्च उदीरयेत् ।
अध्वनि इव स वंडपथं गृहीत्वा,
अव्यवसितो भस्यते पापकर्मा ॥

५. जो क्रोधी होता है, जो ग्राम्यजन की भांति अशिष्ट बोलता है, जो उपशांत कलह की उदीरणा करता है, वह अनुपमान्त कलह वाला पापकर्मा मनुष्य राजपथ के स्थान पर पथबंधी लेकर (चसने वाले पुरुष की भांति) कठिनाई में फंस जाता है ।

१. जे विग्नहिण्ड अ भायभासी
न से समे होइ अर्धभपसे ।
ओबायकारी य हिरीमने य
एगंतविही य अमाइकसे ॥

यो वैग्रहिकश्च ज्ञातभाषी,
न सः समो भवति अर्धभाप्राप्तः ।
अवपातकारी च ह्यमनाश्च,
एकान्तदृष्टिश्च अभायिरूपः ॥

६. जो भगवान् और ज्ञातभाषी^{१०} (जानी हुई हर बात को कहने वाला) है, वह सम (मध्यस्थ), कलह से परे^{११}, गुरु के निर्देश में चलने वाला^{१२}, लज्जालु^{१३}, (संयम में) एकान्तदृष्टि वाला^{१४} और छद्म से मुक्त नहीं होता ।^{१५}

७. से पेशले सुहुने पुरिसजाते
अचचणिते चेव सुउज्जुवारे ।
बहुं पि अनुशासिए जे तहज्जी
समे हु से होइ अर्धभपसे ॥

स पेशलः सूक्ष्मः पुरुषजातः,
जात्यान्वितश्चैव सुऋजुचारः ।
बहु अपि अनुशासितः यस्तथाश्चि,
समः खलु स भवति अर्धभाप्राप्तः ॥

७. जो पुरुषजात^{१६} प्रिय^{१७} और परिमित बोलता है^{१८}, जातिमान है, ऋजु आचरण करता है^{१९}, गुरु के द्वारा बहुत अनुशासित होने पर भी शांतचित्त रहता है^{२०}, वह सम (मध्यस्थ) और कलह से परे होता है ।^{२१}

८. जे यावि अण्यं वसुनं ति मंता
संघाय वायं अपरिच्छ कुञ्जा ।
तवेण बाहुं अहिण्ड ति मंता
अण्यं अण्यं पस्सति विवभूतं ॥

यश्चापि आत्मानं वसुमान् इति मत्वा,
संख्याकः वादं अपरीक्ष्य कुर्यात् ।
तपसा वा अहं अधिकः इति मत्वा,
अण्यं जनं पश्यति बिम्बभूतम् ॥

८. जो अपने आपको संयमी और ज्ञानी^{२२} मानकर परीक्षा किए बिना आत्मोत्कर्ष दिखाता है^{२३}, 'मैं सबसे बड़ा तपस्वी हूँ'^{२४}—ऐसा मानकर दूसरे लोगो को प्रतिबिम्ब (केवल मनुष्य-आकृति) जैसा देखता है^{२५}—

९. एगंतकूडेण तु से पलेइ
न विज्जई ओणपदंसि गोते ।
जे माणपदंठेण विउक्कसेज्जा
वसुअण्यतरेण अबुअभाणे ॥

एकान्तकूटेन तु स पर्येति,
न विद्यते मौनपदे गोत्रम् ।
यः माननार्थेन व्युत्कर्षयेत्,
वसु-अन्यतरेण अबुध्यमानः ॥

९. वह एकान्त माया के द्वारा^{२६} ससार में भ्रमण करता है ।^{२७} मुनि-पद में^{२८} गोत्र^{२९} (उच्चत्वाभिमान) नहीं होता । जो सम्मान के लिए संयम अथवा अन्य किसी प्रकार से उत्कर्ष दिखाता है वह परमार्थ को नहीं जानता ।^{३०}

१०. जे माहुने कसिए जाइए वा
तहुणपुत्ते तह सेच्छवी वा ।
जे पण्डइए परवत्तमोई
गोप्तेण जे अम्मति माणबद्धे ॥

यो ब्राह्मणः क्षत्रियः जात्या वा,
तपोप्रपुत्रः तथा लिच्छविर्वा ।
यः प्रव्रजितः परदत्तभोजी,
गोत्रेण य स्तम्भनाति मानबद्धः ॥

१०. जो जाति से ब्राह्मण, क्षत्रिय^{३१}, उग्रपुत्र और लिच्छवी^{३२} हो, किन्तु जो प्रव्रजित^{३३} होने पर दूसरे का दिया हुआ खाता है^{३४}, फिर भी जो मान के बशीभूत होकर गोत्र का मद्द करता है^{३५}—

११. ज तस्स जाती व कुलं व ताणं
अण्णत्थ विज्जाअरणं सुजिण्णं ।
जिक्कम्म से सेवइऽमारिकम्मं
अ से पारए होति विमोचयणए ॥

न तस्य जातिर्वा कुलं वा त्राण,
नान्यत्र विद्याअरणात् सुचोर्णात् ।
निष्क्रम्य स सेवते अगारिकर्म,
न स पारको भवति विमोचनाय ॥

११. जाति और कुल^{३६} उसे त्राण नहीं दे सकते । केवल सु-आचरित विद्या और आचरण^{३७} ही त्राण दे सकते हैं । जो घर से निष्क्रमण कर गृहस्थ-कर्म (जाति और कुल के मद्द) का^{३८} सेवन करता है, वह विमुक्ति के लिए समर्थ नहीं होता ।^{३९}

१२. निष्किञ्चने भिक्षु सुसहजीवी
जे गारवं होइ सिलोपगामी ।
आजीवमेवं तु बहुधुम्मानो
पुनी-पुनो विपरियासुवेति ॥

१३. जे भासवं भिक्षु सुसाधुवादी
पडिहाणवं होइ बिसारए व ।
आगाढप्रज्ञे सुय-भाविप्या
अण्णं अणं पण्णसा परिहरेज्जा ॥

१४. एवं ण से होति समाधिप्राप्ते
जे पण्णसा भिक्षु विज्जकसेज्जा ।
अहवा वि जे लाभमदावलिप्ते
अण्णं अणं क्लिसति बालपण्णे ॥

१५. पण्णामदं चेव तपोमदं च
णिण्णामए गोयमदं च भिक्षु ।
आजीवणं चेव चउत्थमाहु
से पंडिए उत्तमपुद्गले से ॥

१६. एयाइं मदाइं विगिच्च धीरा
जेताणि सेवन्ति सुधीरघम्मा ।
ते सखगोसावगता महेसी
उच्चं अगोतं च गतिं वयन्ति ॥

१७. भिक्षु मृतञ्चे तह बिदुधम्मे
गामं च नगरं च अनुप्पविस्सा ।
से एषणं आणमणेसणं च
जो अण्णपाणे य अण्णानुगिडे ॥

१८. अरति रति च अभिभूय भिक्षु
बहुजने वा तह एगचारी ।
एगंतमोजेव विद्यागरेज्जा
एगस्स संतो गतिरागती व ॥

निष्किञ्चनो भिक्षुः सुसहजीवी,
यो गौरववान् भवति श्लोककामी ।
आजीवमेवं तु बहुधुम्मानः,
पुनः पुनः विपर्यासमुपैति ॥

यो भाषावान् भिक्षुः सुसाधुवादी,
प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।
आगाढप्रज्ञः श्रुतभावितात्मा,
अन्यं जनं प्रज्ञया परिभवेत् ॥

एवं न स भवति समाधिप्राप्तः,
यः प्रज्ञया भिक्षुः व्युत्कर्षयेत् ।
अथवापि यो लाभमदावलिप्तः,
अन्यं जनं निन्दति बालप्रज्ञः ॥

प्रज्ञामदं चैव तपोमदं च,
निर्नामयेद् गोत्रमदं च भिक्षुः ।
आजीवकं चैव चतुर्थमाहुः,
सः पंडितः उत्तमपुद्गलः सः ॥

एतान् मदान् विविच्य धीराः,
नैतान् सेवन्ते सुधीरघर्माणः ।
ते सर्वगोत्रापगताः महर्षयः,
उच्चां अगोत्रां च गतिं व्रजन्ति ॥

भिक्षुर्मृताश्वः तथा हृष्टधर्मा,
ग्रामं वा नगरं वा अनुप्रविश्य ।
स एषणां जानन् अनेषणां च,
यः अन्नपात्रे च अमनुगृह्यः ॥

अरति रति च अभिभूय भिक्षुः,
बहुजनो वा तथा एकचारी ।
एकान्तमीनेन व्यागृणीयात्,
एकस्य अन्तोः गतिरागतिश्च ॥

१२. जो अकिञ्चन", भिक्षा करने वाला और
रुस्रजीवी" होकर भी (जाति आदि का)
गर्व करता है", (उसका प्रकाशन कर)
प्रशंसा चाहता है"—यह आजीविका
है", इस बात को नहीं जानता हुआ
बहु बार-बार विपर्यास (जन्म-मरण)
को प्राप्त होता है ।"

१३. जो भिक्षु सुसंस्कृतभाषी", वाक्पटु",
प्रतिभा-संपन्न", विशारद", प्रखर
प्रज्ञावान्" और श्रुत से भावितात्मा
है" वह दूसरे लोगों को अपनी प्रज्ञा से
पराजित कर देता है ।"

१४. ऐसा होने पर भी वह समाधि को
प्राप्त" नहीं होता । जो भिक्षु अपनी
प्रज्ञा का उत्कर्ष विज्ञानाता है अथवा
जो लाभ के मद से मत्त" होकर दूसरे
लोगों की अवहेलना करता है, वह
बालप्रज्ञ (बचकानी बुद्धि वाला) है ।

१५. जो भिक्षु प्रज्ञामद, तपोमद, गोत्रमद"
और चौथे आजीविका-मद" को निरस्त
कर देता है वह पंडित है और उत्तम
आत्मा" है ।

१६. धीर और चारित्र-संपन्न मुनि जिन
मदों को छोड़कर प्रव्रजित हुए हैं, फिर
उनका सेवन न करें ।" वे सारे गोत्रों
से मुक्त महर्षि ही उस उच्च गति को
प्राप्त होते हैं जहाँ कोई गोत्र नहीं
है ।"

१७. भिक्षु मृत शरीर वाला" तथा धर्म को
प्रत्यक्ष करने वाला" होता है, इसलिए
वह ग्राम या नगर में प्रवेश कर एषणा
और अनेषणा को जानता है" तथा
अन्न-पान के प्रति अनासक्त होता है ।

१८. अरति और रति को" अभिभूत करने
वाला भिक्षु संघवासी हो" या एक-
चारी" (अकेला विचरण करने
वाला), एकांत मीन (संयम) के साथ
किसी तत्त्व का निरूपण करे",—जीव
अकेला जाता है और अकेला जाता है ।

१६. स्वयं समेच्छा अथवापि श्रुत्वा,
भाषेत धर्मं हितकं प्रजानाम् ।
ये गहिताः सनिदानप्रयोगाः,
न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माः ॥

२०. केचित्पि तत्काए अबुद्धा भावं
क्षुद्दं पि गच्छेन्मम असहृष्टाणे ।
आयुषः कालातिचारं व्याघातं
लब्धानुमानश्च परेषु अदृष्टे ॥

२१. कर्म च छन्दं च विविच्य धीरे
विषयकृतं तु सध्वतो आत्मभावं ।
कर्वेहि सुप्यन्ति भयावर्हेहि
विच्यं गहाय तस्यार्थवरेहि ॥

२२. न पूजयं चैव सिलोय कामे
प्रियमप्रियं कस्यचिद् नो कुर्यात् ।
सर्वे अणदृष्टे परिवर्जयन्ते
अनादिते या अकलाइ भिक्षुः ॥

२३. आहृतहीयं समुपेहभावे
सर्वेहि पाणोहि निहाय दण्डम् ।
नो जीवितं नो मरणं अभिकांक्षेत्,
परिव्रजेत् वलयाद् विमुक्तः ॥

स्वयं समेत्य अथवापि श्रुत्वा,
भाषेत धर्मं हितकं प्रजानाम् ।
ये गहिताः सनिदानप्रयोगाः,
न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माः ॥

केषांचित् तर्केण अबुद्धा भावं,
क्षौद्रमपि गच्छेद् अश्रद्धातः ।
आयुषः कालातिचारं व्याघातं,
लब्धानुमानश्च परेषु अर्थान् ॥

कर्म च छन्दं च विविच्य धीरेः,
विनयेत् तु सर्वतः आत्मभावम् ।
रूपेषु सुप्यन्ति भयावहेषु,
विद्यां गृहीत्वा त्रसस्थावरेषु ॥

न पूजनं चैव श्लोकं कामयेत्,
प्रियमप्रियं कस्यचिद् नो कुर्यात् ।
सर्वान् अनर्थान् परिवर्जयन्,
अनाविरुच्य अकषायो भिक्षुः ॥

याथातथ्यं समुपेक्षमाणः,
सर्वेषु प्राणेषु निहाय दण्डम् ।
नो जीवितं नो मरणं अभिकांक्षेत्,
परिव्रजेद् वलयाद् विमुक्तः ॥

१६. स्वयं जानकर^१ या सुनकर प्रजा के
लिए हितकर धर्म का प्रतिपादन करे ।
धर्मकथी मुनि निदान के प्रयोग^२, जो
गहित हैं, का सेवन न करे ।

२०. अपनी तर्क-बुद्धि के द्वारा दूसरों के
भावों को न जानकर (तत्त्व चर्चा
करने पर) अधश्चाशु मनुष्य क्रोध को^३
प्राप्त हो सकता है और वस्तु को मार
सकता है^४ या कष्ट दे सकता है, इस-
लिए (धर्मकथा करने वाला मुनि)
अनुमान के द्वारा दूसरों के भावों को
जानकर^५ धर्म कहे ।

२१. धीर पुरुष^६ ओता के कर्म^७ और छंद
(चर्चा) का^८ विवेचन कर, (बाह्य
पदार्थों में होने वाले) उसके आत्मीय^९
भाव का सर्वथा विनयन करे । इस
तत्त्व को जानकर^{१०} कि भय पैदा करने
वाले बल-अबल^{११} रूपों (आकृतियों)
में^{१२} मूर्छित होकर मनुष्य नष्ट होते हैं ।

२२. निर्मल^{१३} और उपशान्त भिक्षु पूजा
और श्लाघा का कामी हो (धर्मकथा
न करे) ।^{१४} किसी का प्रिय या अप्रिय
न करे ।^{१५} (प्रियता या अप्रियता उत्पन्न
करने के लिए धर्मकथा न करे) । सब
अनर्थों का^{१६} परिवर्जन करे ।

२३. याथातथ्य को भली भांति-देखता हुआ
(भिक्षु) सब प्राणियों की हिंसा का^{१७}
परित्याग करे ।^{१८} जो जीवन और मरण
की अभिलाषा नहीं करता हुआ परिव्रजन
करता है^{१९} वह बलय (संसार-चक्र)
से^{२०} मुक्त हो जाता है ।

—सि जेमि ॥

—इति त्वीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन १३

श्लोक १ :

१. यथार्थ का (आहसहीयं)

इसका अर्थ है—यथार्थता, परमार्थ, सत्य ।

चूणिकार ने भील, व्रत, इन्द्रिय-संवर, समिति, गुप्ति, कषाय-निग्रह आदि को यथार्थ बतलाया है । विकल्प में व्रत और समिति के ग्रहण और रक्षण तथा कषायों के निग्रह और त्याग को यथार्थ बतलाया है ।

वृत्तिकार ने तत्त्व और परमार्थ को याथातथ्य माना है ।

इसी अध्ययन के तेवीसवें श्लोक में 'आहसहीयं' शब्द की व्याख्या में चूणिकार ने याथातथ्य से इसी सूत्र के चार अध्ययनों (६ से १२)—धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण का ग्रहण किया है । वृत्तिकार ने उस श्लोक में याथातथ्य से नौवें, दसवें और बारहवें अध्ययन (धर्म, मार्ग और समवसरण) में वणिष्ठ तत्त्व, सम्यक्त्व या चारित्र्य को ग्रहण किया है ।

२. पुरुष समूह नाना प्रकार का होता है (जाणप्यगारं पुरिसस्स जातं)

पुरुष समूह नाना प्रकार का होता है । 'नाना प्रकार' का तात्पर्य है—अनेक अभिप्राय वाला, अनेक शील वाला ।

अनेक पुरुष अनेक अभिप्राय वाले हों, भिन्न-भिन्न शील वाले हों, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु एक ही पुरुष अनेक परिणामों में परिणत होना हुआ अनेक प्रकार का पुरुष हो जाता है, एक अनेक हो जाता है । वह कभी तीव्र परिणाम वाला, कभी मंद परिणाम वाला और कभी मध्यम परिणाम वाला हो जाता है । कभी वह मृदु और कभी कठोर हो जाता है । कभी अकार्य कर उससे निवृत्त हो जाता है तो कभी उसमें प्रवृत्त हो जाता है, सतत उसका आचरण करता है ।

किसी व्यक्ति को कोई कष्ट अत्यन्त दुःखदायी होता है और किसी को किसी दूसरे के कष्ट से दुःख होता है । दारुण और अदारुण स्वभाव से वह एक होते हुए भी अनेक हो जाता है ।

वृत्तिकार ने लिखा है कि पुरुष का स्वभाव विविध होता है । वह कभी प्रशस्त और कभी अप्रशस्त, कभी ऊँचा और कभी नीचा होता है ।

१. चूणि, पृ० २१६ : आहससिधं याथातथ्यम्, शीलवतामीन्द्रियसंवरसमिति-गुप्तिकषायनिग्रहसंभितसं यथातथम् ।

२. वही, पृ० २१६ : अथवा व्रत-समिति-कषायाणां आरणारक्षणं विनिग्रहस्यागौ ।

३. वृत्ति, पृ० २३७ : यथातथ्याभासो याथातथ्यं—तत्त्वं परमार्थः ।

४. चूणि, पृ० २२६ : आहससिधं धर्मं धर्मं समाधि समोसरणाणि य अथावद्वृत्तानि ।

५. वृत्ति, पृ० २४६ : यथातथ्याभासो याथातथ्यं— धर्ममार्गसमवसरणाकषायव्ययनजयोक्तावर्तत्त्वं पूजानुगतं सम्यक्त्वं चारित्रं वा ।

६. चूणि, पृ० २१६ : नाना अर्थात्तरभावे, पुरिस (स्व) जातमिति केचित् प्रियवर्माः, केचि अजाकुन्दाः, सत्पुरुषशीलगुणावधोपदेशा-
(ध्या) मः, समोसरणे तु अण्णउत्थिय-मिहत्वाव बुद्धयो वसिताः इत्यतो जाणप्यगारं पुरिस (स्व) जातं, तिष्ठन्तु तावन्नामा-
प्रकारा वृहत्ताः, अन्यतीर्थिका वासत्वावधो संविन्ना य भाषावगारा पुरिसजता, जाणाकुन्दा इत्यर्थः । अथवा किं चिन् यदि नाना-
विधाः पुरुषाः नानासीला एव भवन्ति ? एक एक हि पुरुषस्तानि तानि परिणामान्तराणि परिणामयन् भाषावगारो पुरिसज्जातो
भवति । तं ज्ञा—कदाचित् तीव्रपरिणामः, कदाचिन्मन्दपरिणामः, कदाचिन्मध्यमः, कदाचिन्मृदुस्वभावः, कदाचिन्निर्धर्म एव भवति,
कुत्रो वाकुत्वं कस्मिन्नियतेति, कस्मिन् सुखं प्रवर्तते, अन्यस्य चाप्यः परीवहो दुःखिहो भवति, अथवा (दारुणा-ऽ) दारुण-
स्वभावत्वाच्च नानाप्रकारं पुरुषजातं भवति ।

७. वृत्ति, पृ० २३७ : विविधं पुरुषस्य स्वभावम्—अथवायं प्रसस्तावसतस्यम् ।

३. (सतो य धर्मः.....)

सत् पुरुष के साथ शील और शान्ति का तथा असत् पुरुष के साथ अशील और अशान्ति का संबंध जुड़ता है।

ब्रूणिकार ने शील का अर्थ धर्म, समाधि और मार्ग किया है।^१ इस आधार पर अशील का अर्थ अधर्म, असमाधि और अमार्ग अपने आप हो जाता है। शान्ति का अर्थ है—अशुभ से निवृत्ति अथवा पूर्व संवित कर्म की निजंरा। परम शान्ति को निर्वाण कहा जाता है। अशान्ति का अर्थ है—अशुभ में प्रवृत्ति और कर्म-बंध के हेतु।

श्लोक २ :

४. चागच्छ तयागतौ (तीर्थकरो) से (समुद्रितेहि तहागतेहि)

ब्रूणिकार और वृत्तिकार ने इन दोनों की व्याख्या भिन्न पद मान कर की है।

मुनि संयमगुणों में स्थित व्यक्तियों से दोनों प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर तयागत—तीर्थकर से संसार-तरण का उपाय जाने।^१

वृत्तिकार ने 'समुद्रितेहि' का अर्थ—ऐसे श्रुतधर मुनि जो सबनुष्ठान में तत्पर रहते हैं—किया है और तयागत का अर्थ तीर्थकर किया है।^२

५. सेवन नहीं करते हुए (अजोसयंता)

'बुधी प्रीतिसेवनयोः' वातु से इसका संस्कृत रूप 'अजोषयन्ताः' होगा। इसके दो अर्थ हैं—प्रेम रखना और सेवन करना। वही वह सेवन के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका अर्थ है—सेवन नहीं करते हुए।

कुछ पुरुष समाधि को प्राप्त करके भी अपने कर्मांदेय के कारण तथा ज्ञान के भूटे अहं के कारण उस पर श्रद्धा नहीं करते। कुछ श्रद्धा करते हुए भी अपने वृत्ति-दीर्घस्य के कारण उसका यावज्जीवन पालन नहीं कर सकते।^३

६. शास्ता के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं (सत्वारमेव फसं वयंति)

शास्ता का अर्थ है—आचार्य।^४

जब व्यक्ति कहीं भूल कर बैठता है, तब उसके आचार्य, जिन्होंने निःस्वार्थ वत्सलता से उसे पाला-पोषा है, उसे कहते हैं—तुम ऐसा मत करो। यह शास्ता के उपदेश के विपरीत है।^५ तब वह अपने उपदेष्टा को कहता है—'दूतरो को उपदेश देने में क्या समता है? दूसरों के हाथों से जलते अंगारों को निकलवाना सरल होता है।' इस प्रकार वह कठोर वचन कहता है।^६

१. ब्रूणि, पु० २१६ : ज्ञानं भवति यथाधर्मः, एवं समाधिमागच्छ ।

२. ब्रूणि, पु० २१६ : सर्वाशुभनिवृत्तिः शान्तिः, सर्वभूतशान्तिकरत्वात् सर्वाशुभनिवृत्तिः शान्तिः, तथा च परमशान्तिः निर्वाणं भवति । अशान्तिः अशीलः, आत्मनः परेषां च इह वा शान्तिर्भवत्यमुत्र च, तां कर्मनिर्जरणशान्तिं कर्मबन्धकारणं चाशान्तिः ।

३. ब्रूणि, पु० २१६ : सम्यग् उत्थिताः समुत्थिताः, सम्बन्धग्रहणात् समुत्थितेभ्यः संयमगुणस्थितेभ्यश्च द्विविधां शिक्षां गृहीत्वा तीर्थकरा-दिभ्यः तयागतेभ्यः संसारनिस्सरणोपायस्तावत् प्रतिलभ्येत ।

४. वृत्ति, पत्र २३८ : सम्बन्धुत्थिताः समुत्थिताः सबनुष्ठानवन्तस्तेभ्यः श्रुतधरेभ्यः, तथा 'तयागतेभ्यो'—वा तीर्थकुड्भ्यो ।

५. ब्रूणि, पु० २२० : "बुधी प्रीति-सेवनयोः" तं अभूतसयता कम्पोदयबोसेणं केचि बुद्धिबहुबुद्धी अतद्वहता, केचित् अद्विषतोऽपि वृत्ति-बुद्धेताः आशुभनीयमसन्नुद्यन्तो यथारोपितमनुपालयितुम् ।

६. ब्रूणि, पु० २२० : यः शास्त्रि स शास्ता आचार्य एव ।

७. अही, पु० २२० : जेहि सेव निवकारवत्सलेहि पुत्रवत् सङ्गुहीताः ते सेव कहिचि पुत्रक-वत्सलिते बोदिसाणा अन्धतरं वा सार्धं वृत्ति-बोदिसि फसं वयंति, 'या एवं करेहि सि जेव शास्तारोपदेशः इति सत्वारमेव फसं वयंति, सो हि न ज्ञातवान्, किं वा सत्त्व उचसितसत्स पारकसत्स विज्जति ? मुहं परायएहि हत्थेहि इंगामाकडिज्जति ।

श्लोक ३ :

७. विसोदिका (धर्मकथा या सुप्रार्थ) का (विसोदित्यं)

पूजिकार ने विसोदिका के दो अर्थ किए हैं—

१. धर्मकथा ।

२. सुप्रार्थ ।

वृत्तिकार के अनुसार जो मार्ग विविध प्रकार से निर्दोष कर दिया गया है, सुद्ध कर दिया गया है, वह विसोदित (मार्ग) कहलाता है । तात्पर्य में इसका अर्थ है—मोक्ष मार्ग ।

८. अपना अर्थ बतलाता है (आत्मभावेन वियागरेच्छा)

भाव के दो अर्थ हैं—ज्ञान अथवा अभिप्राय । आत्मभाव का अर्थ है—स्वयं का ज्ञान अथवा स्वयं का अभिप्राय । जो पुरुष आत्मोत्कर्ष के कारण तथा अपनी व्याख्या के प्रति आसक्ति के कारण, आचार्य-परंपरा से आए हुए अर्थ को गीन कर अपने अभिप्राय के अनुसार तथ्यों की व्याख्या करते हैं, विपरीत अर्थ बतलाते हैं वे गंभीर अभिप्राय वाले सूत्र और अर्थ को सही नहीं समझते । अपने कर्मों के उदय के प्रभाव से वे उसे यथार्थ रूप में परिणत नहीं कर पाते । वे पंडितमानी पुरुष उत्सूत्र की प्ररूपणा करने लग जाते हैं । वे गोष्ठामाहिल की तरह आचार्य को अनुपस्थिति में विपरीत कथन करते हैं । वे जमालि की तरह शासन से पृथक् होकर कहते हैं—‘यह ऐसा नहीं है । जैसा मैंने कहा है, वैसे ही है ।’ उन्हें जब कोई कुछ कहता है तब वे कहते हैं—‘जैसे तुम कहते हो, यह वैसे नहीं है । यह इस प्रकार होना चाहिए ।’ वह स्वच्छंद प्ररूपणा करने लग जाता है ।

९. ज्ञान में शंकित हो (णानसंकाए)

इसके दो अर्थ हैं—

१. ज्ञान में शंका या संदेह ।

२. अपने आपको ज्ञानी मानना ।

पहले अर्थ में ‘शंका’ का अर्थ है—संदेह और दूसरे में उसका अर्थ है—मानना ।

१०. बहुत गुणों का अस्थान बन जाता है (अट्टानिए होइ बहुगुणार्ण)

इसका अर्थ है—वैसा पुरुष अनेक गुणों का अस्थान (अपात्र) बन जाता है । पूजिकार ने अनायतन, असंभव, अनाचार और अस्थान को एकार्यक माना है ।

वृत्तिकार ने ‘अस्थानिक’ का अर्थ अनाधार, अभाजन किया है ।

यहां ‘गुण’ शब्द से निम्न गुणों का ग्रहण किया गया है—आचार्य के प्रति विनय, जिज्ञासा करना, आचार्य के कथन को सुनना, उसे ग्रहण करना, उसके विषय में तर्क-वितर्क करना, अर्थ का निश्चय करना, बार-बार प्रत्यावर्तन के द्वारा उसे आत्मसात्

१. वृत्ति, पृ० २२० : विसोदिकारं विसोदित्यं, धर्मकथा सुप्रार्थो वा ।

२ वृत्ति, पृ० २३५ : विविधम्—अनेकप्रकारं शोधितः—शुभार्थप्ररूपणापनयनद्वारेण निर्दोषतां नीतो विसोदितः—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारिणाद्यो मोक्षमार्गः ।

३. वृत्ति, पृ० २२० : जायो नाम ज्ञानं अभिप्रायो वा, उत्सुतं पण्यवैति, धीर्वाप्येणाशनुवन्तः परिक्रमयितुं क्षित्तं शक्यन्ति आचार्य-समीपे, गोष्ठामाहिलवत् । निम्नता वा जमालिवत् ‘एवं न युज्यते यथोचितमेव संयुज्यते’ इत्येवं आत्माभावेन वियागरेति । केचित् कथमानमपि ब्रुवते नैतदेवं युज्यते यथा जमानाह, स्वादेवं तु युज्यते । स एवं स्वच्छन्दः ।

४. (क) वृत्ति, पृ० २२० : जाये संका आचसंका, तेषु तेषु आचसंतरेषु एवमेतन्न युज्यते, अथवा संकेति मान्यार्थाः ये ज्ञानवन्तमास्थानं मन्वन्ताः ।

(ख) वृत्ति, पृ० २३६ : ज्ञाने—श्रुतज्ञाने अत्र ज्ञानसंज्ञा.....वदि वा ज्ञानसंज्ञाया वाच्यत्वाभिमानेन ।

५. वृत्ति, पृ० २२० : अनायतनं असंभवः अनाचारः अस्थानमित्यनर्थान्तरम् ।

६. वृत्ति, पृ० २३५ : ‘अस्थानिकः’—अनाधारो बहुर्ना ज्ञानादिगुणानामाश्रयं कथतीति ।

करना और तदनुसार सम्यक् आचरण करना ।^१ अथवा पारस्परिक वैयावृत्त्य करना, विनय करना ।^२

वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में गुणों के विषय में इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

गुरु की सेवा-शुश्रूषा करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, उससे सम्यक् प्रवृत्ति होती है और अन्त में समस्त कर्मों का साप हो जाता है, मोक्ष प्राप्त हो जाता है ।

यहाँ छन्द की दृष्टि से 'बहु' में दीर्घ उकार का प्रयोग किया गया है ।

इलोक ४ :

११. (जे यावि युद्धा पल्लिउचयंति)

कोई व्यक्ति ऐसे आचार्य से विद्या सीखता है जो जाति आदि से कुछ न्यून है । दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है—अरे, तुमने वह विद्या किससे सीखी ? वह आचार्य से अपने आपको जातिवान् मानता हुआ उस आचार्य का नाम नहीं बताता, उसको छुपा देता है और उसके स्थान पर किसी प्रख्यात आचार्य का नाम ले लेता है ।

वज्रस्वामी पदानुसारीलक्षि से सम्पन्न थे । वे अपने आचार्य से अधिक प्रज्ञापना करने में समर्थ थे । इसी प्रकार कोई शिष्य अपने आचार्य से अधिक ज्ञानी हो, फिर भी उसे अपने आचार्य के नाम को नहीं छिपाना चाहिए । जो व्यक्ति ज्ञान आदि की दृष्टि से आचार्य के समान हों, या उनसे न्यून हो, उनको तो बँसा करना ही नहीं चाहिए । उनको गुरु के विषय में पूछने पर वे उत्तर के साथ कहते हैं—मैंने ही इस सूत्र के अर्थ का विस्तार से वर्णन किया है । मैंने ही इस सूत्र और अर्थ पद का विशोधन किया है । ऐसा व्यक्ति अज्ञातिभाव में स्थित निन्द्यक होता है ।

कोई व्यक्ति किसी के पास विद्या ग्रहण करता है । वह अपनी ग्रहणशक्ति की प्रबलता के कारण व्याकरण, छन्द-शास्त्र, न्याय-शास्त्र का अधिक विद्वान् बन जाता है । अथवा गृहस्थावस्था में इन शास्त्रों का पारगामी होकर फिर प्रव्रजित होता है । तब कोई उसे पूछता है—क्या तुमने यह सारा अमुक आचार्य के पास सीखा है ? वह कहता है—अरे ! वह बेचारा क्या जानता है ? वह तो मिट्टी का लोहा है । उसके होठ भी ठीक नहीं हैं तो वह मुझे क्या वाचना दे पाएगा ? (यह सब मैंने अपनी बुद्धि से ही जाना, सीखा है ।) इस प्रकार वह आचार्य के प्रति किए जाने वाले अमृत्यायन आदि विनयों से डर कर उनका नाम छिपाता है । यह ज्ञान और दर्शन की परिकुचन है ।

इसी प्रकार चारित्र्य की भी परिकुचन होती है, जैसे—कोई शिष्याचारी मुनि पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा करता है । उस समय कल्प्य और अकल्प्य की विधि को जानने वाला कोई श्रावक उससे पूछता है—'महाराज !' क्या यह आपके कल्प्य है ? क्या ऐसा करना आपके लिए विहित है ?

सजीव जल से गीली वस्तु को ग्रहण करते हुए देखकर वह श्रावक मुनि से कहता है—अमुक मुनि इस प्रकार की गीली वस्तु नहीं लेते । आप इसे कैसे ले रहे हैं ? ऐसी कौनसी दरिद्रता आपके आ गई है ?

इस प्रकार पूछने पर वह सचित्त-अचित्त विषयक परिकुचन करते हुए कहता है—वह इस विषय में क्या जानता है ? अथवा तुम भी इस विषय में क्या जानते हो ? मैं इतने वर्षों से संयम का पालन कर रहा हूँ, व्रतों को पाल रहा हूँ । मैं जानता हूँ कि क्या लेना है, क्या नहीं लेना है ?

इस प्रकार वह गोपन करता है ।^३

१. आवश्यक विनियुक्ति, गाथा २२ : 'युस्तुसति पविपुञ्जति, युनेति नेहृति य ईहए यावि ।

तलो अपोहए वा, धारेति करेति वा सम्मं ॥'

२. बुद्धि, पृ० २२० ।

३. वृत्ति, पृ० २३८ । यदि वा गुरुशुश्रूषाविना सम्यक्ज्ञानावगमस्ततः सम्यग्गुणानमतः सकलकर्मजलक्षणो मोक्षः ।

४. (क) बुद्धि, पृ० २२०, २२१ ।

(ख) वृत्ति, पृ० २३६ ।

इतिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—

कोई निष्पक्ष स्वयं प्रभावबश भूल करता है और उसका प्रायश्चित्त करते समय, गुरु के पूछने पर उसको इस दृष्टि से छिपाता है कि कहीं मेरी निम्ना न हो ।^१

१२. (मायण्णिर्हृति अर्धतघातं)

यहाँ दो पदों में संघि की गई है—मायण्णिर्हृति—एहिति । 'घात' शब्द के तीन अर्थ हैं—जन्म-मरण,^२ विनाश,^३ संसार । वे मायावी पुरुष दो दोषों से युक्त होते हैं—एक तो वे स्वयं असाधु होते हैं और दूसरे में वे अपने आपको साधु मानते हैं । जो व्यक्ति स्वयं पाप में प्रवृत्त होकर अपने आपको शुद्ध बताता है, वह दुगुना पाप करता है । यह अज्ञानी व्यक्ति की दूसरी अज्ञानता है ।^४

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने शिक्षक-गुरु का अपलाप करते हैं, वे अपने अहं के कारण बोधि-साध से वंचित रहते हैं तथा अन्तर्जन्म-मरण करते हैं ।^५

आचार के पाँच प्रकार हैं—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्र्याचार, तपः-आचार और वीर्याचार । इनके अनेक प्रकार हैं । ज्ञानाचार के आठ भेद हैं—काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिन्द्वन, व्यंजन, अर्थ और व्यंजन-अर्थ ।^६

प्रस्तुत श्लोक में 'अनिन्द्वन' का उल्लेख है । दशवैकालिक सूत्र के कृणिकार अगस्त्यसिंह स्वविर ने इस प्रसंग में एक कथा प्रस्तुत की है । वह इस प्रकार है—

एक नाई था । उसे एक विद्या प्राप्त थी । उस विद्या-बल से वह अपनी हजामत की पेटी को आकाश में अधर रख सकता था । एक परिव्राजक ने यह देखा । विद्या के प्रति उसका मन ललचा गया । उसने नाई की खूब सेवा की । उसका बार-बार सत्कार किया । नाई ने प्रसन्न होकर उस परिव्राजक को यह विद्या सिलवाई ।

एक बार परिव्राजक कहीं दूर देश में चला गया । वह विद्या-बल से अपने त्रिदंड को आकाश में अधर सड़ा कर देता । लोगों ने देखा, वे चमत्कृत हुए । उसकी खूब पूजा होने लगी । राजा ने यह चमत्कार सुना । उसने परिव्राजक को अपनी सभा में बुला भेजा । परिव्राजक से राजा ने पूछा— 'आपका त्रिदंड आकाश में अधर टिक जाता है । क्या यह विद्या का चमत्कार है या तपस्या का ? परिव्राजक ने कहा—राजन् ! यह विद्या का चमत्कार है ।' भगवन् ! आपने यह विद्या कहाँ से सीखी ? राजन् ! एक बार मैं हिमालय की यात्रा पर गया था । वहाँ मुझे एक महान् ऋषि के दर्शन हुए । उन्होंने कृपा कर मुझे यह विद्या दी । यह कहते ही वह त्रिदंड छद्माम से भूमी पर आ गिरा ।

इस प्रकार आचार्य या विद्या-गुरु, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, उसका अपलाप नहीं करना चाहिए ।^७

श्लोक ५ :

१३. जो ग्राम्यजन की भाँति अशिष्ट बोलता है (अमट्टभासी)

कृणिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं—

१. संसार में बोली जाने वाली कस्ती, कठोर और निष्ठुर भाषा बोलने वाला ।

१. वृत्ति, पत्र २३६ : बहि वा—तव वि प्रभावस्त्वजितमाचार्यविनाऽऽमोक्षनाधिके अवतरा पृष्ठाः सन्तो मातृस्थानेनावर्णबाहव्यान्निह भुवते ।

२. कृष्णि, पु० २९१ : जाडुतण्य-अरितम्भाई भासं ।

३. वृत्ति, पत्र २३६ : 'घातं'—विनाशं संसारं वा ।

४. वही, पत्र २३६ : दोषद्वयमुपलब्धत्वासेवाय्, एकं तावत्स्वयमसाधको द्वितीयं साधुमानिनः, उक्तं च—

“पार्थ काकज सख्यं, अप्यायं दुष्टमेव बाहुरह ।

दुष्टं करेह पार्थ, जीवं बासस्त अर्थसं ।।

५. वही, पु० २३६ : तदेवमात्मोत्कर्षेदोवाय् बोधिलाजकपुत्रहृत्पान्तसंसारवाधो लक्ष्म्यनुमत्त इति ।

६. दशवैकालिक विद्युक्ति तात्वा, १५१, १५४ ।

७. दशवैकालिक....., अगस्त्यसिंहस्वविर कृष्णि पु० ३३ ।

२. आचार्य, साधु या गृहस्थ को कूबे, कठोर या लिष्ठुर बचन कहने वाला ।

३. छेबो, भेबो, बाँबो, भारो—कहने वाला ।

४. लोक-सम्मत जातिवाद के आधार पर बोलने वाला, काने को काना कहने वाला ।^१

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जगत् में जो जैसे व्यवस्थित है, उसको वैसे ही कहता है, जैसे—ब्राह्मण को 'बोड', बनिजे को 'किराट', सूड को आभीर, श्वपाक को चांडाल, काने को काना, लंगड़े को लंगड़ा, कुबड़े को कुबड़ा, कुष्ट बाजे को कुष्टी और क्षयरोग से ग्रस्त को जमी कहता है । जो पुरुष जिस दोष से युक्त है उसे उसी दोष के माध्यम से कठोर बचन कहता है, वह जगद्वर्षभाषी होता है ।^२

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने इसके पाठान्तर के रूप में 'जयदुभासी' शब्द दिया है । इसका अर्थ है—जिस किसी प्रकार से असद् बात कहकर अपनी जय चाहने वाला ।^३

१४. जो उपशान्त कलह की उद्दीरणा करता है (विओसितं जे य उद्दीरएज्जा)

दो व्यक्ति परस्पर कलह करते हैं । कालान्तर में वे परस्पर अमायाचना कर उस कलह को शान्त कर देते हैं । किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो समय-समय पर ऐसी बातें कह देते हैं, जिससे उपशान्त कलह पुनः भड़क उठता है ।^४

१५. (अहे व से.....पापकम्मो)

अश्व का अर्थ है—राजपथ और दंडपथ का अर्थ है—पगडंडी ।^५ कोई व्यक्ति राजपथ के उद्देश्य से पगडंडी पर चल पड़ता है । आगे जाकर वह पगडंडी समाप्त हो जाती है । वह किकर्तव्यविमूढ हो आगे चलता है । उसे अनेक बिपदाओं का सामना करना पड़ता है । कभी वह गड्ढे में गिर पड़ता है और कभी विषम रूप में जा पड़ता है । इसी प्रकार विषम मार्ग में चलते हुए उसे पत्थर, कांटे, अग्नि, सर्प और हिंस्र पशुओं का सामना करना पड़ता है ।^६

१६. कठिनाई में फंस जाता है (घासति)

इसका संस्कृत रूप है—ग्रस्यते । इसका अर्थ है—कठिनाई में फसना । वह पुरुष शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित होता है ।^७

१. वृत्ति, पृ० २२१ : जगतः अद्वा जगत्तद्वा जे जगति भावन्ते, जगति जगति तावत् कर-कसस-जिद्धुरा, न संयतार्था इत्यर्थः । ते पुनराचार्यादीन् साधून् गृहिणो वा कर-कसस-जिद्धुराणि भणन्ति, कक्कसकसुगादीणि वा । अथवा जगद्वर्षा छिन्दि मिन्दि अद्वा मारयन्ति, जातिवार्ध वा काज-कुंटाविवाहं वा कुंढभाणी वा ।

२. वृत्ति, पत्र २३६ : जगद्वर्षा जगद्वर्षा ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थास्तानाभाषितुं शीलमस्य—जगद्वर्षभाषी, तच्छब्दा—ब्राह्मणं बौद्धमिति ब्रूयात्तथा बनिजं किराटमिति, शूद्रमाभीरमिति, श्वपाक चाण्डालमित्यादि; तथा काजं काजमिति, तथा लज्जं कुब्जं वडनमित्यादि; तथा कुष्ठिनं क्षयिजमित्यादि, यो यस्य बोधस्ते तेन करपथं ब्रूयात् यः स जगद्वर्षभाषी ।

३. (क) वृत्ति पृ० २२१ : 'जयदुभासी'—पठ्यते च येन तेन प्रकारेणाऽऽग्रजयमिच्छन्ति ।

(ख) वृत्ति, पत्र २३६, २४० : अहि वा जगद्वर्षभाषी यथेवाऽऽग्रमनो जयो भवति तथेवाविद्यमानमप्यर्थं भासते तच्छीलश्च—येन केनचित् प्रकारेणासद्वर्षभाषणेनाप्यग्रमनो जयमिच्छन्तीत्यर्थः ।

४. (क) वृत्ति, पृ० २२१ : विसेसेण ओसवितं, विओसितं कामितमित्यर्थः, तं सपक्खं परपक्खं वा सामयित्वा पुनरुद्दीरयति ।

(ख) वृत्ति, पत्र २४० : 'विओसियं' ति—विबिधमवसित—पर्यवसितमुपशान्तं द्वग्वं—कलहं यः पुनरपुद्दीरयेत्, एतद्वत् अवसित कलहकारिभिर्मिथ्याबुद्धतादिना परस्परं आविसेऽपि तत्तद् ब्रूयाच्चेन पुनरपि तेषां क्रोधोदयो भवति ।

५. वृत्ति, पृ० २२१ : अहे.....महापथ इत्यर्थः ।

६. (क) वृत्ति, पृ० २२१ : दंडपथ नाम एकपथ इव ।

(ख) वृत्ति, पत्र २४० : 'दण्डपथं'—गोदण्डमार्ग (लघुमार्ग) ।

७. वृत्ति, पृ० २२१ : तं जगद्वर्षासतो गृहीत्वा गतायां वृष्टविषये कूपे वा पतति, पावाण-कण्टका-ऽन्त्यहि-ववापदेभ्यो वा बोध-मवाप्नोति ।

८. (क) वृत्ति, पृ० २२१ : घासति सारोर-माणसेहि दुक्खेहि ति ।

(ख) वृत्ति, पत्र २४० : जसो पापकर्मा वृष्यते अनुगतिके संसारे वातनास्थानगतः पीनः पुण्येन पीडयत इति ।

श्लोक ६ :

१७. नास्तमाषी (नास्तमासी)

शूणिकार ने 'नास्तमासी' का संस्कृत रूप 'नास्त्यामाषी' किया है। किन्तु यह शब्द स्पष्ट अर्थ देने वाला नहीं है। इसके तीन अर्थ किए गए हैं—

१. अस्थानमाषी ।
२. गुरु पर आक्षेप करने वाला ।
३. प्रतिकूलमाषी ।

वृत्तिकार ने 'अन्त्यामासी' पाठ मानकर उसके दो अर्थ किए हैं—

१. अन्त्यापूर्ण वाणी बोलने वाला ।
२. जो कुछ मन में आया, उसे बोलने वाला ।

हमने इसका अर्थ ज्ञानमाषी—जानी हुई हर बात को कहने वाला किया है।

१८. कलह से परे (अभङ्गाप्राप्ते)

भङ्गा का अर्थ है—'कलह'। 'अभङ्गाप्राप्त' अर्थात् जो कलह को प्राप्त नहीं है।

वृत्तिकार ने इसका एक अर्थ—अमायाप्राप्त भी किया है। सातवें श्लोक में वृत्तिकार ने भङ्गा के दो अर्थ किए हैं—क्रोध और माया।

शूणिकार और वृत्तिकार ने विकल्प में इसे तृतीया विभक्ति के बहुवचन का रूप 'अभङ्गाप्राप्तेः' मानकर इसका अर्थ—वह अकलहप्राप्त व्यक्तियों के समान नहीं होता, किन्तु गृहस्थों के समान होता है—किया है।

१९. गुरु के निर्देश में चलने वाला (उपपातकारी)

उपपात का अर्थ है—आचार्य का निर्देश, जैसे—ऐसा करो, ऐसा मत करो, जाओ, आओ आदि को मानने वाला 'उपपातकारी' होता है। एक शब्द में इसका अर्थ है—आचार्यनिर्देशकारी।

वृत्तिकार ने 'उपपातकारी' शब्द मानकर उसका संस्कृत रूप 'उपपातकारी' दिया है। इसका वही अर्थ है जो 'उपायकारी' का है।

वृत्तिकार ने पाठांतर के रूप में 'उपायकारी' शब्द मानकर उसका अर्थ—शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला—किया है।

शूणिकार ने वैकल्पिक रूप में 'उपाय' पाठ देकर उसका अर्थ सूत्रोपदेश किया है।

१. शूणि, पु० २२१ : नास्त्यामाषी अस्थानमाषी गुर्वक्षिणेपी प्रतिकूलमाषी ।

२. वृत्ति, पत्र २४० : अन्त्यामां भावितुं शीलमस्य सोऽन्त्यामाषी, यत्किञ्चनान्यस्थानमाषी गुर्वक्षिणेषेकरो वा ।

३. शूणि, पु० २२१ : भङ्गा नाम कलहः ।

४. वृत्ति, पत्र २४० : अभङ्गा प्राप्तेः—अकलहप्राप्तो वा अवस्थामायाप्राप्तो वा ।

५. वृत्ति, पत्र २४०, २४१ : अभङ्गा—अक्रोधोऽमाया वा ।

६. (क) शूणि, पु० २२१ : अववा मासी समो भवति अभङ्गाप्राप्तेः, (भङ्गाप्राप्तः) तु गृहिणिः समो भवति, तेन नैवविद्येन भाव्यं विद्येयम् ।

(ख) वृत्ति, पत्र २४० ।

७. शूणि, पु० २२१ : उपाततो नाम आचार्यनिर्देशः, तदि एवं कुरु मा चैवं कुरु तथा नञ्च आगच्छेति वा ।

८. वृत्ति, पत्र २४० : उपपातकारी—आचार्यनिर्देशकारी—उपायपदेशं क्वासु प्रवृत्तः ।

९. वृत्ति, पत्र २४० : यवि वा उपायकारिणि सूत्रोपदेशप्रवर्तकः ।

१०. शूणि, पु० २२१ : अववा सूत्रोपदेशः उपायः ।

२०. लज्जासु (ह्रीमन्ने)

ह्री, लज्जा और संयम—ये तीनों एकार्थक हैं। ह्रीमान् अर्थात् लज्जावान् या संयमवान्। वह संयमी व्यक्ति अनाचार का सेवन करते हुए आचार्य आदि गुरुजनों तथा लोक व्यवहार से लज्जा का अनुभव करता है।^१

२१. एकांतदृष्टि वाला (एगंतविट्ठी)

एकान्तदृष्टि का अर्थ है—एक अन्त वाली दृष्टि, वैसी दृष्टि जिसका एक ही अन्त हो—लक्ष्य हो। आगमों में यह साधु के विशेषण के रूप में बहु-प्रयुक्त शब्द है। स्थान-स्थान पर साधु को 'अहीव एगंतविट्ठी'—सर्प की भांति एकांतदृष्टि वाला होना कहा है। सर्प जैसे अपने लक्ष्य पर ही दृष्टि रखता है उसी प्रकार भुनि को भी लक्ष्यबोध दृष्टि वाला होना चाहिए।

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—सम्पद्गृष्टि और असहायी।^२

वृत्तिकार ने जीव आदि पदार्थों के प्रति एक मात्र दृष्टि रखने वाले को एकान्तदृष्टि कहा है।^३

देखें—५।५१ का टिप्पण।

२२. छद्म से मुक्त...होता (अमायिक्ये)

जो छद्म से मुक्त होकर धर्म और गुरु की सेवा करता है वह 'अमायिक्य' होता है।^४

श्लोक ७ :

२३. पुरुषजात (पुरिसजाते)

यह सामान्य रूप से पुरुष प्रकारवाची शब्द है। स्थानांग सूत्र में इसका बहुलता से प्रयोग मिलता है।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—पुरुषार्थकारी किया है।^५

२४. प्रिय (पेसले)

इसके दो अर्थ हैं—मीठा बोलने वाला अथवा विनय आदि गुणों से प्रीति उत्पन्न करने वाला।^६

२५. परिमित बोलता है (सुदुमे)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१. जो सूक्ष्म बोलता है अर्थात् अधिक नहीं बोलता, २ जो जोर-जोर से नहीं बोलता।^७

वृत्तिकार ने इसका भिन्न अर्थ किया है। जो सूक्ष्म अर्थ को देखने वाला है या सूक्ष्म (थोड़ा) बोलने वाला है, वह सूक्ष्म है।^८

१. (क) चूर्ण, पृ० २२१ : ह्रीः लज्जा संयम इत्यनर्थांतरम्, ह्रीमान् संयमवानित्यर्थः। लज्जते च आचार्यादीनां अनाचारं कुर्वन् लोकतरश्च।

(ख) वृत्ति, पत्र २४० : ह्रीः—लज्जा संयमो मूलोत्तरगुणभेदविभक्तस्तत्र मनो यस्यासौ ह्रीमनाः, यदि च अनाचारं कुर्वन्माचार्यादिभ्यो लज्जते स एव मुख्यते।

२ चूर्णः पृ० २२१ : एगंतविट्ठी नाम सम्पद्गृष्टी असहायी।

३ वृत्ति, पत्र २४० : तर्षकान्तेन तर्षकेषु—जीवादिषु पदार्थेषु दृष्टिर्यस्यासाधेकान्तदृष्टिः।

४ (क) चूर्ण, पृ० २२१ : अमायिक्यी नाम न छद्माना धर्मं गुर्वादीन्प्रोपचरति।

(ख) वृत्ति, पत्र २४० : अमायिक्यो क्वं यस्यासाधमायिरूपोऽप्रोपचरति इत्यर्थः, न गुर्वादीन् प्रोपचरति नाप्यनेन केनचित्साधं छद्माव्यवहारं विधत्त इति।

५ वृत्ति, पत्र २४० : ... पुरुषार्थकारी।

६ चूर्ण, पृ० २२२ : पेसली नाम पेसलवाक्यः, अथवा विनयादिभिः शिष्यगुरुः प्रीतिमुत्पादयति पेसलः।

७ चूर्ण, पृ० २२२ : सुदुमे नाम सुदुमं वाक्ये अन्तुं च अविष्टुष्टं च लोच्येः।

८ वृत्ति, पत्र २४० : सूक्ष्म—सूक्ष्मदर्शित्वात् सूक्ष्मजाति (वि) त्वाद्वा सूक्ष्मः।

२६. ऋजु आचरण करता है (सुउज्जुयारे)

इसका अर्थ है—अच्छी प्रकार से ऋजु आचरण करने वाला। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने ऋजु के दो अर्थ किए हैं—संयम और सरल। ऋजुकारी वह है जो संयमपूर्ण प्रवृत्ति करता है या सरल प्रवृत्ति करता है, जो कहता है वैसे ही सरलता से करता है, बिलोम नहीं करता। जो गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करता है किन्तु बकता से आचार्य आदि के वचन का खडन नहीं करता, वह ऋजु आचरण वाला होता है।^१

२७. शास्त्रचित्त रहता है (तहृच्छी)

अर्थ का अर्थ है—लेभया, चित्तवृत्ति। जो गुरु द्वारा अनुशासित होने पर भी पूर्ववत् अपनी चित्तवृत्ति को शुद्ध रखता है, शान्त रखता है वह तथार्थि होता है। अनुशासन से पूर्व उसकी चित्तवृत्ति शांत थी, विमृष्ट थी और अनुशासित होने पर भी उसमें कोई अन्तर नहीं आया, वह पुरुष तथार्थि होता है। जो व्यक्ति अनुशासित होने पर क्रोध या मान करता है, वह तथार्थि नहीं होता।^१

२८. (समे हृ से होइ अर्भकपत्ते)

चूर्णिकार का अर्थ है—वही मुनि वीतराग व्यक्तियों के तुल्य होता है।

चूर्णिकार ने 'सम' का अर्थ तुल्य और 'अर्भकपत्ते' का अर्थ—वीतराग व्यक्तियों से—किया है।^१

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. वह मध्यस्थ होता है—न निन्दा से कष्ट होता है और न प्रशंसा से तुष्ट। वह अक्रोधी और अमायावी होता है।

२. वह मध्यस्थ होता है तथा वीतराग व्यक्तियों के तुल्य होता है।^१

इसलोक ८ :

२९. संयमी और ज्ञानी (वसुमं संज्ञाय)

'वसु' का अर्थ है—द्रव्य। लोकोत्तर प्रश्न में इसका अर्थ है—संयम।^१

चूर्णिकार ने 'वसुमं' पाठ मान कर उसका अर्थ संयममय आत्मा वाला किया है।^१

संख्या का अर्थ है—ज्ञान।^१ हमने इस शब्द का संस्कृत रूप 'संख्याकः' दिया है और वृत्तिकार ने 'संख्याबन्तम्'।^१ इसका अर्थ है ज्ञानी।

३०. (संज्ञाय वायं अपरिच्छ कुञ्जा)

वह अपने आपको ज्ञानी मानता हुआ कहता है—आज इस ससार में मेरे जैसा संयमी और सामाचारी का पालन करने वाला दूसरा कौन है? रोष, प्रतिनिवेश या अकृतज्ञता के भाव से अथवा मान के बशीभूत होकर वह परीक्षा किए बिना ही अपना

१ (क) चूर्ण, पृ० २२२ : उज्जुगो नाम सज्जो, जं वा कुञ्जति तं उज्जुगमेव करेति न बिलोमेति।

(ख) वृत्ति, पृ० २४० : ऋजु—संयमस्तत्करणशीलः—ऋजुकरः, यवि वा उज्जुयारे ति यचोपदेशं यः प्रवर्तते, न तु पुनर्वक्तव्याऽ-चार्यविवर्धनं बिलोमयति—प्रतिकूलयति।

२. चूर्ण, पृ० २२२ : अचिरिणि लेभया, तथेति यथा पूर्वं लेभया तथालेभय एव भवति, पूर्वमसौ विमृष्टलेभय आसीत् अनुशास्यमानोऽपि तथैव भवत्यतो। तथा च न कोधाद्वा मागाद्वा विमृष्टलेभयो भवति।

३. चूर्ण, पृष्ठ २२२ : समो नाम तुल्यः असी हि समी भवत्यर्भकप्राप्तेः वीतरागैरित्यर्थः।

४. वृत्ति, पृ० २४०-२४१ : समो मध्यस्थो निन्दायां प्रशंसायां च न कथ्यति, नापि तुष्यति; तथा अर्भकः—अक्रोधोऽमाया वा तां प्राप्तेऽ-र्भकप्राप्तेः, यवि वाऽर्भकप्राप्तेः—वीतरागः सज्जः—तुल्यो भवतीति।

५. चूर्ण पृ० २२२ : वसुमं संय [म] भवमात्मानं।

६. वृत्ति, पृ० २४१ : वसु—द्रव्यं, तस्य वरमार्थचित्तव्यायां संयमः।

७. चूर्ण, पृ० २२२ : संख्या इति ज्ञानम्।

८. वृत्ति, पृ० २४१ : संख्याबन्ते—परिबिबुधन्ते जीवाश्च यः यदार्थं येन लक्ष्मणं संख्येयुञ्जते।

आत्मोत्कर्ष विज्ञाता है ।'

३१. मैं सबसे बड़ा तपस्वी हूँ (तूनेन वा.....)

'मैं सबसे बड़ा तपस्वी हूँ' ऐसा मान कर वह दूसरे साधुओं को कहता है—तुम सब ओदनमुंड हो—रोटी के लिए साधु बने हो । तुम में से कौन है मेरे जैसी तपस्या करने वाला ?'

३२. (अण्यं अणं पस्सति बिबभूतं)

वैसा आत्मोत्कर्षी दूसरों को केवल बिबभूत—मनुष्य आकृति मात्र मानता है । उनमें प्राप्त विज्ञान आदि मानवीय गुणों को नहीं देखता ।'

श्रुतिकार ने 'बिबभूत' के स्थान पर 'चिघभूत' पाठान्तर का उल्लेख कर उसका अर्थ इस प्रकार किया है—वह आत्माभि-
मानी व्यक्ति दूसरों को जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा या नकली सिक्के की भाँति अर्थशून्य मानता है । वह केवल उन्हें लिङ्गमात्र को
धारण करने वाला मानता है । उनमें अमणगुणों को नहीं मानता ।'

वृत्तिकार ने 'बिबभूत' का यही अर्थ किया है ।'

श्लोक ६ :

३३. माया के द्वारा (कूडेन)

'कूट' शब्द के अनेक अर्थ हैं—माया, भूठ, यथार्थ का अपलाप, धोखा, चालाकी, अन्तः, समूह, मृग को पकड़ने का यंत्र,
आदि-आदि ।'

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—मृग को बाँधने का पाश किया है ।'

प्रस्तुत श्लोक में इसका अर्थ 'माया' ही उचित लगता है । क्योंकि पूर्व श्लोक में मुनि किस प्रकार माया कर अपनी यथार्थता
को छिपाकर लोगों को धोखा देता है, उसका स्पष्ट उल्लेख है ।

३४. संसार में अमण करता है (पलेइ)

वह जन्म-कुटिल संसार में बार-बार प्रलीन होता है, अनेक बार जन्म-मरण करता है ।'

१. वृत्ति, पृ० २२२ : संखाए ति एवं णयपित्वा, अथवा संख्या इति ज्ञानम्, ज्ञानवर्तमानत्वात्मानं मत्वा । वदन् वादः, किं वदति ? कोऽ-
न्यो मयाऽऽकाले संयमे सद्गुणः सामान्यरीए वा ? । अपरिक्लृप्तं ज्ञानं अपरीक्ष्य णयति रोस-पडिनिवेस-अकयन्म-
साए वा, अथवा मानदोषादपरीक्ष्य वदति ।

२ (क) वृत्ति, पृ० २२२ : वड्ढादीनां तपसां कोऽन्यो मया सद्गुणो भवतामोदममुच्छानाम् ?

(ख) वृत्ति, पृ० २४१ : तपसा—द्वाराशयेन विभिन्नेनाहमेवात्र सहितो—युक्तो न मत्सुह्यो विकृष्टतपोनिष्ठस्तद्देहोऽस्तीत्येवंमत्वाऽऽ-
मोत्कर्षाभिमानीति ।

३. वृत्ति पृ० २२२ : बिबभूतमिति मनुष्याकृतिमात्रम्, ब्रह्ममेव च केवलं पश्यति न तु विज्ञानादिमनुष्यगुणानम्यत्र प्रतिसम्यते ।

४ वही, पृष्ठ २२२ : अथवा—“विघ [भूत] मिति” लिङ्गमात्रमेवान्यत्र पश्यति, न तु अमणगुणान् उदकचक्रवत् कूटकार्वाणवत्के-
त्यादि ।

५ वृत्ति, पृ० २४१ : अन्यं अणं—साधुलोकं गृहस्थलोक वा, 'बिम्बभूतं' जलचन्द्रवत्तदर्थंशून्यं कूटकार्वाणवत् कूटकार्वाणवत्ता किङ्कमात्रधारिणं
पुरुषाकृतिमात्रं वा 'पश्यति'—अवलम्वते ।

६. आष्टी, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—'कूट' शब्द ।'

७. वृत्ति, पृ० २४१ : कूटवत्कूटं यथा कूटेन मृगाविर्बुधः ।

८ (क) वृत्ति, पृ० २२२ : संयमातो पलेऊण पुनर्जन्मकुटिले ससारे पुनः पुनर्लीयन्ते प्रलीयन्ते ।

(ख) वृत्ति, पृ० २४१ : अस्मीं संसारवक्कवाल पयेंति, तत्र वा प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते अनेकप्रकारं संसारं भंज्यमीति ।

३५. मुनि-पद से (अभ्युपनिषद्)

भूषिकार ने मीन पद का अर्थ—संयम-स्थान किया है।^१ वृत्तिकार ने भी मूल अर्थ वही किया है। वैकल्पिक रूप में उन्होंने इसका अर्थ—सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित मार्ग—किया है।^२

३६. गोत्र (उत्त्वत्त्वामिमान्) (गोत्रे)

भूषिकार ने 'गोत्र' के दो अर्थ किए हैं—

१. गौरव—अभिमान। वह तीन प्रकार का है—ऋद्धि का गौरव, रस का गौरव, और सुख-सुविधा का गौरव।
२. अठारह हजार शील के अंग।

वृत्तिकार के अर्थ इनसे भिन्न हैं—

१. जो यथार्थ अर्थ का प्रतिपादन कर बाणी की रक्षा करता है, वह समस्त आगमों का आधारभूत सर्वज्ञ का मत।
२. उत्त्व गोत्र आदि।

हमने इसका अर्थ—उत्त्वत्त्व का अभिमान—किया है।

जैन आगमों में 'गोत्रमद' न करने का स्थान-स्थान पर निषेध किया गया है। मिश्रन्ध्र धर्म में प्रत्येक वर्ग के लोग दीक्षित होते थे। वे विभिन्न गौत्रों से आते थे। यदि गोत्र के आधार पर एक-दूसरे को उत्त्व या तीन माना जाए तो फिर परंपरा रह नहीं सकती। इसीलिए भगवान् महावीर ने तथा उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने गोत्रमद पर प्रहार किया और कहा कि प्रव्रज्या से लेने पर सभी बन्धु हो जाते हैं, फिर चाहे वे किसी भी गोत्र के हों, किसी भी जाति या वर्ग के हों। इस समानता के प्रतिपादन ने जैन परंपरा का द्वार सबके लिए उद्घाटित रखा और इसीलिए सभी वर्ग, जाति और गोत्र के लोग इसमें सम्मिलित हुए।

अगले दो प्रसंगों में गोत्र-मद के परिहार की बात कही गई है। यह श्लोक उनकी पृष्ठभूमि है।

३७. (जे माषणदृष्टेः.....अबुक्कसेज्जा)

भूषिकार और वृत्तिकार ने इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है।

भूषिकार के अनुसार 'माषणदृष्टेः विउक्कसेज्जा' का अर्थ है—वह पुरुष मान के लिए (संयम, प्रज्ञा अथवा) अन्य किसी प्रकार से उत्कर्ष दिखाता है।^३

वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत दो चरणों का अर्थ है—

जो पुरुष लाभ, पूजा सत्कार आदि के द्वारा अपना उत्कर्ष दिखाता है, (वह मुनिपद में नहीं है।) जो परमार्थ को नहीं जानता हुआ संयम अथवा अन्य किसी प्रकार से उत्कर्ष दिखाता है वह सब शास्त्रों को पढ़ता हुआ तथा अर्थ को जानता हुआ भी सर्वज्ञ के मत को यथार्थरूप में नहीं जानता।

भूषिकार ने 'वसुमण्णतरेण' के स्थान पर 'वसु पण्णतरेण' पाठ मान कर व्याख्या की है।^४

१. भूषि, पृ० २२२ : पदं नाम स्थानम्, मुनेः पदं मीनपदम्, संयमस्थानमित्यर्थः।

२. वृत्ति, पृ० २४१ : कुलीनामिव मीनं तत्त्व तत्पदं च मीनपदं—संयमस्तत्र मीनीन्त्रे वा पदे—सर्वज्ञप्रणीतमार्गः।

३. भूषि, पृ० २२२ : गोत्रे सि गारवः..... अथवा गोत्रमिति अध्यावसारीलाङ्गसहजायि।

४. वृत्ति, पृ० २४१ : सर्वज्ञमतमेव विहितमिदं—वा—वार्ध आयते—अर्थात्सिंहावनतः पालयतीति योषं तस्मिन् समस्तानामाधारभूत इत्यर्थः।

५. भूषि, पृ० २२२ : जे माषणदृष्टेः विउक्कसेज्जा, माननं एवार्धः मानमार्धः, मानप्रयोजनः आत्मनिमित्त इत्यर्थः, विविधं उत्कर्ष करोति।

६. वृत्ति, पृ० २४१ : अथ माननं-पूजनं सत्कारस्तेनार्धः प्रयोजनं तेन मानमार्धेन विविधमुत्कर्षप्रदेशमानं, यो हि मानमार्धेन-साध पूज्यसत्कारादिविधं अर्थं कुर्वन्मासी सर्वज्ञपदे विद्यते।

७. भूषि, पृ० २२२।

वृत्तिकार ने 'अणतर' शब्द से ज्ञान आदि का ग्रहण किया है ।'

वृत्तिकार ने 'प्रज्ञा' का अर्थ ज्ञान किया है । वह तीन प्रकार का है—सूत्र, अर्थ और सूत्र-अर्थ (तदुभय) । ज्ञान का अर्थ करते हुए कहते हैं—'येरे कश्चिद् बुद्धिः सः' । मैं सूत्र का विष्टु उच्चारण कर सकता हूँ । सुक्त में अर्थ-ग्रहण की पटुता भी है । मैं अर्थ का विस्तार करने में समर्थ हूँ । मैं लौकिक सिद्धान्तों का ज्ञाता हूँ । दूसरे लोगों से क्या । दूसरे सभी पशु की तरह विचरण करते हैं, चन्द्रमा के नीचे घूमते रहते हैं ।'

'बसुम' इसमें मकार अलाक्षणिक है ।

श्लोक १० :

३८. ब्राह्मण, क्षत्रिय (माहणे कतिप)

वृत्तिकार ने माहण का अर्थ—साधु किया है । वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ है—वह व्यक्ति जो साधु बनने से पूर्व ब्राह्मण जाति का सदस्य था ।'

वृत्ति के अनुसार क्षत्रिय के तीन अर्थ हैं—राजा, राजा के कुल में उत्पन्न या उस जाति में उत्पन्न कोई दूसरा ।'

वृत्तिकार ने इक्ष्वाकु आदि विशिष्ट वंशों में उत्पन्न व्यक्ति को क्षत्रिय माना है ।'

३९. उग्रपुत्र और लिच्छवी (उग्रपुत्रे . . . लिच्छवी)

वृत्तिकार ने उग्र और लिच्छवी को क्षत्रियों का ही गोत्र-विशेष बतलाया है ।'

वृत्तिकार ने 'उग्रपुत्र' और 'लिच्छवी' को इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न क्षत्रियों की विशेष जाति माना है ।'

४०. प्रव्रजित (पञ्चइए)

जो राज्य और राष्ट्र को छोड़कर अथवा अल्प या बहुत परिग्रह को छोड़कर प्रव्रजित होता है ।'

४१. दूसरे का दिया हुआ खाता है (परदत्तभोजी)

दूसरे (गृहस्थ) के लिए पका कर दिया हुआ तथा एवणीय आहार-पानी लेने वाला 'परदत्तभोजी' कहलाता है । इस गुण के उपलक्षण से अन्य सभी संयमगुणों का ग्रहण किया गया है ।'

४२. मान के वशीभूत होकर गोत्र का मद करता है (गोत्रेण जे यंभति माणबद्धे)

हमने इसका अर्थ—मान के वशीभूत होकर गोत्र का मद करता है—ऐसा किया है ।

वृत्तिकार ने 'गोत्रेण जे यंभतिमाणबद्धे'—ऐसा पाठ मानकर सर्वथा भिन्न अर्थ किया है । उनके अनुसार इसका अर्थ है—मुनि अभिमानास्पद गोत्र में उत्पन्न होकर भी गर्व न करे ।'

१. वृत्ति, पृष्ठ २४१ : अणतरेण ज्ञानादिना ।

२. वृत्ति, पृष्ठ २२२ : प्रज्ञानं—ज्ञानं नाम सूत्रमर्थं उभयं वा, भव्याहि (?) मय हि) कंठोद्विप्यभुक्कं विष्टुं सुप्तं, अर्थग्रहणपाठविस्तर-तत्प्रेक्षान् कथयामि लोक-सिद्धान्तवेत्ताऽहम्, किमर्थ्यर्जनेः? भुगास्त्वम्ये चरन्ति चन्द्रावस्ताऽहम् भ्रमन्ति ।

३. वृत्ति, पृष्ठ २२३ : माहण इति साधुरेवः ओ वा पूर्व ब्राह्मणजातिरासीत् ।

४. वृत्ति, पृष्ठ २२३ : क्षत्रियो राजा तत्कुलीयोऽप्यतरो वा ।

५. वृत्ति, पृष्ठ २४१ : क्षत्रियो वा इक्ष्वाकुवंशादिकः ।

६. वृत्ति, पृष्ठ २२३ : उग्र इति लिच्छवीति च क्षत्रियाणामेव गोत्रमात्रं ।

७. वृत्ति, पृष्ठ २४१ : इक्ष्वाकुवंशादिकः तन्मेवमेव वर्णयति—'उग्रपुत्रः'—क्षत्रियविशेषजातीयः, तथा 'लिच्छवी' तिलक्षत्रियविशेष एव ।

८. वृत्ति, पृष्ठ २२३ : अइतावत् रज्जं रट्ठं च पञ्चइतो, अथवा अप्पं वा बहं वा अइता पञ्चइतो ।

९. वृत्ति, पृष्ठ २२३ : परतो पापञ्चवत्तमेवणीयं च मुक्ते, शर्वरग्येः सर्वरपि संयमगुणैः युक्तः ।

१०. वृत्ति, पृष्ठ २४१, २४२ : गोत्रे—उच्यते गोत्रे—हरिबंशस्थानीये सप्तपुत्राणां चैव 'स्तम्भ'—पर्वभुषणायाविति, किन्तु गोत्रे ? 'अभि-माणबद्धे'—अभिमानास्पदे इति :

वृत्तिकार ने 'गोलेन' में 'गोले' को और 'ण' को अलग-अलग मान लिया है।

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि जिसने सिर मुंडा लिया, जिसने तुण्ड (मुंह) भी मुंडा लिया अर्थात् जो बार-बार से भीख मांग कर खाता है, वह फिर गर्व कैसे कर सकता है।

श्लोक ११ :

४३. जाति और कुल (जाती व कुल)

जाति और कुल दो हैं। जाति का संबंध मातृपक्ष से होता है और कुल का संबंध पितृपक्ष से होता है। यही जाति और कुल में अंतर है।

४४. विद्या और आचरण (विज्ञाचरण)

वृत्तिकार ने विद्या से ज्ञान और धर्म तथा आचरण से चारित्र्य और तप का ग्रहण किया है। विद्या और आचरण के अतिरिक्त कोई भी साधन भाग नहीं दे सकता। दूसरे शब्दों में विद्या से 'ज्ञान' और आचरण से 'क्रिया' का ग्रहण किया जा सकता है। यह शब्द 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' का संवादी है।

४५. गृहस्थ-कर्म (जाति और कुल के मंद) का (अगारिकर्म)

इसका शब्दार्थ है—गृहस्थ-कर्म। वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में जाति आदि के मंद को और समकार तथा अहंकार को गृहस्थ-कर्म माना है।

वृत्तिकार ने पापमयी प्रवृत्ति अथवा जाति आदि के मंद को गृहस्थ-कर्म कहा है।

४६. वह समर्थ नहीं होता (ज से पारए)

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. जो गृहस्थ-कर्म का सेवन करता है वह व्यक्ति धर्म, समाधि और मार्ग का पारगामी नहीं होता।
२. वह मोक्ष का पारगामी नहीं होता।
३. वह न स्वयं को और न 'पर' को पार पहुंचाने में समर्थ होता है।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जो गृहस्थ-कर्म का सेवन करता है वह समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होता।

१. (क) वृत्ति, पृ० २२३ : जो गोलेन आत्माविना स्तभ्यते, स्वकपतो जो कोई हरिणसबलस्थानीयो नेतृजवाचीयो वा। अभ्यतरं वा एवंविधं इमकाविप्रवृजितं निभ्यति। अथवा जे माहणा क्षतिया जगुवा उगगुप्ता मनु लेखनी वा जे पण्डित प्रवृजिता अवि भूत्वा शिरस्तुण्डमुण्डन कृत्वा परगुहाणि विकारममटमः मानं कुबंस्तोत्यतीव हास्यन्, कामं मानोऽपि क्रियते यक्षतो ज्येसे स्यात्।

(ख) वृत्ति, पृ० २४२ : एतदुक्तं भवति विशिष्टजातीयतया सर्वलोकात्मिभावोऽपि प्रवृजितः सन् कृतशिरस्तुण्डमुण्डनो भिक्षार्थं परगुहाण्यटम् कथं हास्यास्पदं गर्वं कुर्यात् ? नैवास्मी मानं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः।

२. (क) वृत्ति, पृ० २२३ : जातिकुलमोविमावा मातृसमुत्पत्त्यादि।

(ख) वृत्ति, पृ० २४२ : मातृसमुत्पत्त्या जातिः, पितृसमुत्पत्त्यं कुलम्।

३. वृत्ति, पृ० २२३ : विद्याग्रहणाद् ज्ञानवर्धने गुहीते, चरणग्रहणम् संयम-संपत्तिः।

४. वृत्ति, पृ० २२३ : अकारिणं कर्म अकारिकर्म, तत्तथा—अहं आत्माविपुद्धो, न भवानिति, अमकार-अहंकारी वा इत्यादि अगारिकर्म।

५. वृत्ति, पृ० २४२ : अगारिका कर्म—अनुष्ठानं साधनभारम्भं जातिमहाविकं वा।

६. वृत्ति, पृ० २२३ : मातो वारको भवति धर्म-समाधि-मार्गाणां विमोक्षस्य वा, अथवा माऽऽभवः यदेवा वा तारको भवति।

७. वृत्ति, पृ० २४२ : न आसाधनभारिकर्मणां सेवकोऽपि कर्मनोक्षाय वारयो भवति, निःसेवकर्मक्षयकारी न भवतीति भावः।

इलोक १२ :

४७. अकिञ्चन (निगिञ्चने)

श्रुणिकार ने 'निगिणे' पाठ मान कर उसका अर्थ—द्रव्य अचेल किया है ।^१

४८. रुक्मजीवी (सुलूहजीवी)

श्रुणिकार ने 'रुक्म' के दो अर्थ किए हैं—संयम और अन्त-प्रान्त आहार । जो संयमी जीवन जीता है या जो अन्त-प्रान्त आहार से जीवन यापन करता है, वह सुलूहजीवी होता है ।^२

वृत्तिकार ने चने आदि अन्त-प्रान्त आहार करने वाले को रुक्मजीवी माना है ।^३

४९. गर्ब करता है (गारवं)

यहां छन्द की दृष्टि से एक 'वकार' का लोप माना गया है—गारववं । गौरववान् का अर्थ है—जाति आदि का गर्ब करने वाला ।

५०. प्रशंसा चाहता है (सिलोगामी)

इसका अर्थ है—जाति आदि का प्रकाशन कर दूसरों से प्रशंसा चाहने वाला ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—आत्मश्लाघा चाहने वाला किया है ।^४

श्रुणिकार ने इस शब्द की कोई व्याख्या नहीं की है ।

५१. वह आजीविका है (आजीवमेधं)

अकिञ्चनता, भिक्षाचरी और रुक्मप्रोजित्व—ये आजीविका के साधन मात्र बन जाते हैं यदि भिक्षु इनके माध्यम से अभिमान करता है और आत्म प्रशंसा चाहता है ।^५

जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्प—ये पांच आजीविकाएं हैं, आजीविका के साधन हैं । जो व्यक्ति इनका उत्कर्ष दिखाकर या इनके आश्रय पर जीवन-यापन करता है, वह वस्तुतः साधक नहीं है, केवल अपना पेट पालने वाला है ।^६

५२. विपर्यास (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है (विपरियासुवेति)

यहां छन्द की दृष्टि से 'सुवेति' के मकार का लोप किया गया है ।

श्रुणिकार के अनुसार विपर्यास का अर्थ है—जन्म-मरण ।^७

वृत्तिकार ने जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, आदि उपद्रवों को विपर्यास माना है ।^८

१. श्रुति, वृ० २२३ : निगिणो नाम द्रव्याचेलः ।

२. श्रुति, पृ० २२३ : सुहो संयमः, तेन जीवति अन्तप्रान्तेन ।

३. वृत्ति, पृ० २४२ : सुष्ठु रुक्मम्—अन्तप्रान्तं वस्तुनगकारि तेन जीवितुं प्राणधारणं कर्तुं नीलमस्थ स सुलूहजीवी ।

४. वृत्ति, पृ० २४२ : इलोककामी—आत्मश्लाघाभिजावी ।

५. वृत्ति, पृ० २४२ : स चैवंभूतः परमार्थमनुष्ठायमान एतदेवाकिञ्चनत्वं सुलूहजीवित्वं वाऽऽत्मश्लाघातत्परतया आजीवम्—आजीविका-आत्मवर्तनोपायं कुर्वतिः ।

६. श्रुति, पृ० २२३ : जाती कुल गण कर्मे सिध्ये आजीवना तु पञ्चविधा । [पिण्डनि० पा ४३७] आत्मा सम्प्रसोऽहम् इति भावं करोति, प्रकाशयति वाऽऽत्मानं स्वपक्षे परपक्षे, तथा चैनं करिष्यत् पूजयति एता हि आजीविका भवति नवबोधश्च ।

७. श्रुति, वृ० २२३ : विपर्यासो नाम जाति-मरणे ।

८. वृत्ति, पृ० २४२ : विपर्यासं—जातिजरामरणरोगतो कोपद्रव्यमुपैति—गण्धति ।

श्लोक १३ :

५३. सुसंस्कृतभाषी (भाषावर्ध)

भाषावान् के दो अर्थ हैं—सत्यभाषी या धर्मकथा करने की लक्ष्मि से युक्त ।^१

भाषा के दोषों और गुणों को जानने के कारण सही भाषा बोलने वाला भाषावान् कहलाता है—यह वृत्तिकार का अर्थ है ।^२

५४. वाग्वटु (सुसाधुभाषी)

जो हित, मित, और प्रिय बोलता है उसे सुसाधुवादी कहते हैं । जो मुनि क्षीरमध्वाश्रय आदि लक्ष्मि से संपन्न होते हैं, उनकी भाषा बहुत ही मधुर होती है । वे सुसाधुवादी कहे जाते हैं ।^३

५५. प्रतिभा-संपन्न (पंडितान्व)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. जो औत्पत्तिकी आदि बुद्धि के गुणों से युक्त है, जो दूसरे व्यक्ति द्वारा किए गए आक्षेपों का तत्काल उत्तर देने में समर्थ है, वह प्रतिभावान् होता है ।

२. जो धर्मकथा करने के समय परिषद् में उपस्थित व्यक्ति कौन-कैसे हैं ? वे किस देव को मानने वाले हैं ? वे किस दर्शन में विश्वास करते हैं ?—आदि का अपनी बुद्धि से संकलन कर फिर धर्मकथा में प्रवृत्त होता है, वह प्रतिभावान् कहलाता है ।

वृत्तिकार ने आक्षेप का उत्तर देने वाले औत्पत्तिकी आदि बुद्धि से युक्त मुनि को प्रतिभावान् बतलाया है ।^४ उनके अनुसार यह वैकल्पिक पाठ है । उनका मूल पाठ है—पणिधानवर्ध—पणिधानवान् ।^५ वृत्तिकार ने इस शब्द की व्याख्या में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के दो स्थल उद्धृत किए हैं—

१. वह भिक्षु कालज्ञ, बलज्ञ, मात्रज्ञ, क्षेत्रज्ञ, क्षणज्ञ, विनयज्ञ, समयज्ञ, भावज्ञ, आदि होता है ।

२. यह पुरुष कौन है ? यह किस दर्शन का अनुयायी है ? , ऐसा विमर्श करना ।

प्रस्तुत आश्रम के १४।१७ में 'पंडितान्व' शब्द आया है । वृत्तिकार ने 'प्रतिभा' के दो निरुक्त किए हैं—'तांस्तान् प्रति अर्थान् भातीति प्रतिभा पश्यति वा प्रतिभा ।' इनका अर्थ है—उन-उन लोगों के प्रति अर्थ का प्रकाश करने वाली तथा जो प्रकृष्टरूप में निरूपण करती है । उन्होंने प्रतिभावान् का अर्थ—श्रोताओं के संशय को मिटाने वाला किया है ।^६

वृत्तिकार ने यहां इसका अर्थ—उत्पन्न प्रतिभा वाला किया है ।^७

१. वृत्ति, सू० २२३ : सत्यभाषावान् धर्मकथासिद्धियुक्तो वा भाषावान् ।

२. वृत्ति, पत्र २४२ : भाषागुणबोधजनयया सोमनसावापुक्तो भाषावान् ।

३. (क) वृत्ति, पृष्ठ २२३ : सच्छु साधु वदति सुसाधुभाषी, शृण्वामिषानो वा क्षीरमध्वाश्रयवादि ।

(ख) वृत्ति, पत्र २४२ : सुच्छु साधु—शोभनं हितं मितं प्रियं वदितुं क्षीरमध्वाश्रयसौ सुसाधुभाषी, क्षीरमध्वाश्रयवादीत्यर्थः ।

४. वृत्ति, पत्र २४२, २४३ : प्रतिभा प्रतिभावनम्—औत्पत्तिक्यादिबुद्धिगुणसमन्वितत्वेनौत्पन्नप्रतिभात्वं तत्प्रतिभानं विद्यते यस्यासी प्रतिभावनवान्—अपरेणाक्षिप्तस्तद्वन्तरवेवोत्तरवामसमर्थः । यच्च वा धर्मकथायसरे कोऽयं पुरुषः ? कं च वेदताविशेषं प्रवक्तुः ? कतरद्वा धर्मवभाषित इत्येवमासमप्रतिभतयाऽप्येत्य यथायोगमाचष्टे ।

५. वृत्ति, सू० २२४ : अक्षिप्तः पंडितपति उत्तरं भावते प्रतिपद्यतीति (पंडि) भाषव, औत्पत्तिक्यादिबुद्धिपुक्तः सन् प्रतिभावनवान् ।

६. वृत्ति, सू० २२३ : कुतमोऽ १५ ।

७. (क) आचारी २।११० : के भिक्षु कालज्ञे बलज्ञे मात्रज्ञे क्षेत्रज्ञे क्षणज्ञे विनयज्ञे समयज्ञे भावज्ञे, परिग्रहं अवसावमाने, कालेऽप्युर्ध्वं अवधिज्ञे ।

(ख) वही, २।१७७ : के वं पुरिते ? कं च जय ?

८. वृत्ति सू० २२३ : तांस्तान् प्रति अर्थान् भातीति प्रतिभा, पश्यति वा वदति वा श्रोतुं वा संतपोऽप्येता ।

९. वृत्ति, पत्र २४४ : प्रतिभावनवान्—उत्पन्नप्रतिभाः ।

५६. विशारद (विशारद)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. अर्थ ग्रहण करने में समर्थ ।
२. प्रियता से कथन करने वाला ।

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. अर्थ ग्रहण करने में समर्थ ।
२. अनेक प्रकार से व्याख्या करने में समर्थ ।
३. श्रोता के अभिप्राय को जानने वाला ।

प्रस्तुत सूत्र के १४।१७ में विशारद शब्द आया है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ अपने सिद्धान्तों का जानकार^१ और वृत्तिकार ने अपने सिद्धान्तों का अर्थ प्रतिपादन करने वाला—किया है ।^२

५७. प्रज्ञा प्रज्ञावान् (आगाधप्रज्ञे)

आगाधप्रज्ञ का अर्थ है—प्रज्ञा प्रज्ञावान्, परमार्थ पर्यवसित और तत्त्वनिष्ठ प्रज्ञा से सम्पन्न व्यक्ति ।^३

५८. श्रुत से भावित आत्मा (श्रुत-भावियप्सा)

वृत्तिकार ने श्रुत का अर्थ - वैशेषिक आदि के हेतुशास्त्र (तर्कशास्त्र) किया है । उससे जिसकी आत्मा भावित है, वह श्रुत-भावितात्मा कहलाता है ।^४ वृत्तिकार का यह अर्थ सामयिक वाद-विवाद से प्रभावित होकर किया गया प्रतीत होता है ।

वृत्तिकार ने 'सुविभावियप्सा' पाठ मानकर उसका अर्थ सम्यक् और विविध प्रकार से धर्म की वासना से वासित आत्मा किया है ।^५

५९. पराजित कर बैठा है (परिह्वेज्जा)

परिभव के दो अर्थ हैं—पराजित करना, तिरस्कृत करना । वृत्तिकार ने दूसरा अर्थ स्वीकृत किया है ।^६

वृत्तिकार ने प्रस्तुत श्लोक के अंतिम चरण का तात्पर्य भिन्न प्रकार से किया है—निर्जरा के हेतुभूत पूर्वोक्त गुणों में मग्न करता हुआ वह मानता है—मैं ही भाषाविशिष्ट हूं, मैं ही साधुवादी हूँ, मेरे जैसा प्रतिज्ञावान् दूसरा कोई नहीं है, लोकोत्तर शास्त्र का अर्थ करने में मेरे समान कोई प्रवीण नहीं है, मेरी प्रज्ञा तत्त्वनिष्ठ है, मैं ही सुभावितात्मा हूँ— इस प्रकार आत्मोत्कर्ष करता हुआ वह दूसरे व्यक्ति की अवमानना करता है और कहता है—इस कुठित बाणी वाले, कुट्टिका में पड़ी सूई के समान तथा आकाश की

१. वृत्ति, पृ० २२४ : अर्थग्रहणसमर्थो विशारदः प्रियकथनो वा ।
२. वृत्ति, पृ० २४३ : विशारदः—अर्थग्रहणसमर्थो बहुप्रकारार्थकथनसमर्थो वा, च शब्दार्थज्योतिर्मयः ।
३. वृत्ति, पृ० २३३ : विशारदः स्वसिद्धान्तज्ञानकः ।
४. वृत्ति, पृ० २४४ : सम्यक् स्वसिद्धान्तपरिज्ञानाच्छ्रोतृणां यथावस्थितार्थानां 'विशारदो भवति'—प्रतिपादको भवति ।
५. वृत्ति, पृ० २४३ : अवगाढा परमार्थपर्यवसिता तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा—बुद्धिर्गत्यासावागाधप्रज्ञः ।
६. वृत्ति, पृ० २२४ : (श्रुतं) वैशेषिकादिहेतुशास्त्राणि, तैरस्य भावितः आत्मा स भवति (श्रुत) भावितात्मा ।
७. वृत्ति, पृ० २४३ : सच्छ विविधं भावितो—धर्मवासनया वासित आत्मा यस्यासौ सुविभावितात्मा ।
८. वृत्ति, पृ० २४३ : परिह्वेत् अवमन्येत ।
९. वृत्ति, पृ० २४३ : यश्चैवमिदं निर्जराहेतु भूतेरपि भवं कुर्यात्, तज्ज्ञा—अहमेव भाषाविशिष्टस्तथा साधुवादीहमेव च न भवत्युक्तः प्रतिज्ञावानस्ति, नापि च भवत्युक्तोऽलौकिकः लोकोत्तरशास्त्रार्थविशारदोऽवगाधप्रज्ञः सुभावितारमेति च, एवमात्मोत्कर्षवानन्यं जनं स्वकीयया प्रज्ञया परिह्वेत्, अवमन्येत, तथाहि किमनेन वाक्कुण्डेन कुण्डलेन कुण्डिकाकार्पातकस्येव जलसिन्धो कार्यमस्ति ? स्वचित्सिन्धो धर्मकथावसरे वेति, एवमात्मोत्कर्षवान् भवति तथा चोक्तम् ।

अर्थः स्वेच्छावर्धितानर्थविज्ञानं जनेन विज्ञाय ।

कुत्सं बाह्मवसित इति आहत्यज्ञानं अर्थम् ।

ब्रह्मिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—साटवेन बासी सुन्दर को 'पुद्गल' कहते हैं, जैसे—पुद्गल अम्भ, अर्थात् सुन्दर अम्भ, पुद्गल अम्भ अर्थात् सुन्दर यम् ।'

आप्टे की द्विषमन्तरी में पुद्गल का एक अर्थ—सुन्दर, प्रिय किया है। दूसरे अर्थ ये हैं—परमाणु, शरीर, आत्मा, अहं, पुरुष आदि ।'

श्लोक १६ :

६५. चारित्र-संपन्न मुनि (सुधोरधम्मा)

ब्रह्मिकार ने इसका अर्थ किया है—ज्ञानधर्मी, गीतार्थ ।' वृत्तिकार ने इसका अर्थ—श्रुत और चारित्र धर्म में प्रतिष्ठित किया है ।'

६६. उनका सेवन न करें (जेताणि सैवंति)

'मुनि उन पदों का सेवन नहीं करते'—इस कथन का तात्पर्य यह है कि मुनि जाति आदि का मद नहीं करते । जैसे—मुनि के लिए यह निषेध है कि वह पूर्वकीर्तित कामभोगों का स्मरण न करे, उसी प्रकार प्रव्रजित होने के पश्चात् अपनी उच्च जाति, वंश तथा विपुल ऐश्वर्य आदि को याद न करे । प्रव्रज्या के बाद जो श्रुत सीखा है, उस बहुश्रुतता का भी उत्कर्ष न दिखाए ।'

६७. (उच्चं अगोतं च गतिं वयंति)

ब्रह्मिकार और वृत्तिकार ने इस चरण का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है ।

वे इस संसार में उच्च अर्थात् सर्वलोक की उत्तमता को प्राप्त कर निर्वाणसंज्ञक अगोत्र स्थान को प्राप्त करते हैं—यह ब्रह्मिकार का अभिमत है ।'

वे उच्च अर्थात् मोक्ष गति या सर्वोत्तम गति को प्राप्त होते हैं जहां गोत्र आदि कोई कर्म नहीं है । यह वृत्तिकार का अभिमत है । उन्होंने 'च' शब्द से पांचकल्पातीत विमानों का ग्रहण किया है ।'

श्लोक १७ :

६८. मृत शरीर वाला (मृतच्छे)

इसमें दो पद हैं—मृत और अर्चा । यहां अर्चा का अर्थ शरीर है ।' इस संयुक्त पद का अर्थ होगा—मृत शरीर वाला । भिक्षु को मृत शरीर की भांति व्यवहार करना चाहिए । जैसे मृत व्यक्ति न सुनता है, न देखता है, उसी प्रकार भिक्षु सुनता हुआ भी न सुने, देखता हुआ भी न देखे । यही मृतार्थ की परिभाषा है ।'

१. ब्रह्मि, पृ० २२४ : उत्तमपुद्गलसम्भ, उत्तमजीव इत्यर्थः । अथवा जो शोषणो लाघाणं सो पुद्गलो वृत्तति, अथवा पुद्गलजन्मो पुद्गलजन्मस्य ।
२. आप्टे, संस्कृतइंग्लिश द्विषमन्तरी, 'पुद्गल' शब्द ।
३. ब्रह्मि, पृ० २४४ : सुष्ठु धीरधर्मणिः ज्ञानधर्मिणो गीतार्थाः ।
४. वृत्ति, पृ० २२४ : सुप्रतिष्ठितो धर्मः— श्रुतचारित्र्याभ्यो येषां ते सुधोरधर्मणिः ।
५. ब्रह्मि, पृ० २२४ : न जात्याविजिरात्मानं उत्कर्षेत्, अथापूर्वरतादीनि न स्मर्यन्ते तथा ताभ्यसि, न वा परजात्यातीर्षद्व्युत्ताविधि-रात्मानं उत्कर्षेत् ।
६. ब्रह्मि, पृ० २२४ : उच्चं नाम इहैव सर्वलोकोत्तमतां प्राप्य लोकायं निर्वाणसंज्ञकं अगोत्रस्थानं प्राप्नोति ।
७. वृत्ति, पृ० २४४ : उच्चं—मोक्षाभ्यां सर्वोत्तमां वा गतिं वयंति—गच्छन्ति, च तद्वात् पञ्चमहाविमानेषु कल्पातीतेषु वा व्रजन्ति, अगोत्रोपलक्षणव्याभ्यसि नामकमप्युत्काशिकं लक्षणं विवक्षित इति द्रष्टव्यम् ।
८. (क) ब्रह्मि, पृ० २२४ : अर्चयन्ति तां विविधैराहारैर्ब्रह्माद्यलक्ष्णैश्चैतत् ।
(ख) वृत्ति, पृ० २४४ : अर्चा—तनुः शरीरम् ।
९. ब्रह्मि, पृ० २२४ : मतो हि न भुजोति न पश्यतीत्यर्थः, एवं भिक्षुरपि शृण्वन्मपि न शृणोति, पश्यन्मपि न पश्यतीत्यादि इत्यसौ सुवचना ।

अथवा 'मुए' का अर्थ है—संयम और अर्चा का अर्थ है—लेख्या । जिसके संयममय लेख्या होती है वह मुदचं कहलाता है । तीन प्रशस्त लेख्याएं संयममय होती हैं ।^१

वृत्तिकार ने भी इसके दो अर्थ किए हैं—^२

१. जो मरे हुए शव की तरह अपने शरीर का स्नान, विलेपन आदि संस्कार नहीं करता वह 'मृताचं' कहलाता है ।

२. मुद् का अर्थ है सुन्दर, प्रशस्त और अर्चा का अर्थ है—लेख्या । जिसकी लेख्याएं प्रशस्त हैं, वह मुदचं कहलाता है ।

इसकी तुलना 'वोसट्टचत्तदेहे'—व्युत्सृष्ट्यस्तदेह से की जा सकती है ।

६३. धर्म को प्रत्यक्ष करने वाला (विदृष्टधर्मे)

यहां दृष्ट का अर्थ केवल देखना नहीं है । इसका अर्थ है—प्रत्यक्ष करना, साक्षात् करना । दृष्टधर्मा वही होता है जो धर्म को प्रत्यक्ष कर लेता है, धर्म जिसके जीवन में साक्षात् हो जाता है ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—दृष्टसार अर्थात् जिसने सार देख लिया है—किया है । जो सूत्र और अर्थ का ज्ञाता होता है, वह दृष्टधर्मा है ।^३

वृत्तिकार ने श्रुत और चारित्र धर्म के ज्ञाता को दृष्टधर्मा कहा है ।^४

७०. एषणा और अनेषणा को जानता है (एसचं ... अनेसचं)

एषणा के तीन अर्थ हैं—

१. स्वविरकल्पी मुनियो के लिए बयालीस दोषों से रहित आहार-पान एषणीय है, शेष अनेषणीय ।

२. जिनकल्पी मुनि के लिए अलेप आदि पांच प्रकार की एषणा और शेष अनेषणा ।

३. जिसका जो अभिग्रह है, वह उसके लिए एषणा है, शेष अनेषणा ।^५

स्तोत्र १८ :

७१. अरति और रति को (अरति रति)

प्रस्तुत प्रकरण में संयम में होने वाली अरति और असंयम में होने वाली रति के अभिभव का निर्देश किया गया है । सहज ही मनुष्य मन असंयम में रमण करता है, संयम में रमण नहीं करता । इस स्वाभाविक वृत्ति को साधना के द्वारा ही बदला जा सकता है ।

७२. संघवासी हो (बहुजने)

जिसकी संयम यात्रा में अनेक जन सहायक होते हैं वह 'बहुजन' होता है । यह संघवासी, गण्डवासी का द्योतक है ।

१. वृत्ति, पृ० २२५ : संयमं वा मुत्तमुच्यते, अर्हति लेख्या, स मुत्तलेखो मुत्तच्चा, विमुत्ताओ सम्मताओ अविमुत्ताओ असम्म-
ताओ ।

२. वृत्ति, पृ० २४४ : श्रुतेव स्नानविलेपनादिसंस्कारावावाचर्चा—तनु—शरीरं यस्य स मुत्तार्थः; अदि वा भोवर्चं मुत् तद् भूता शोच-
नाऽर्चाविद्यादिका लेख्या यस्य स तत्पति मुत्तार्थः—प्रशस्तलेख्या ।

३. वृत्ति, पृ० २२५ : सुखे कार्ये च दृष्टधर्मा, दृष्टसारो दृष्टधर्मा इत्यर्थः ।

४. वृत्ति, पृ० २४४ : दृष्टः—अथगतो यथावस्थितो धर्मः—श्रुतचारित्र्यतयो केन सः ।

५. (क) वृत्ति, पृ० २२५ : स एषणा ज्ञातालीलसोत्तिमुत्ता, तत्त्विकरीता अनेसणा । अथवा एषणा जिनकल्पियार्थं पंचविधा अलेवाद्यादि,
हेतुवन्ततो अनेसणातो । अथवा वा अभिग्रहस्तार्थं सा एषणा, शेषा अनेसणा ।

(ख) वृत्ति, पृ० २४४ :

जैन परम्परा में कुछ पुरुष संशय साधना करते हैं और कुछ अकेले रहकर साधना करते हैं। यह शब्द 'संशयासी' साधना का प्रतीक है।'

७३. एकचारी (अकेला विवरण करने वाला) (एगचारी)

इसका अर्थ है—अकेला साधना करने वाला, एकलविहारी।'

हर कोई मुनि एकलविहारी नहीं हो सकता। यह एक विशेष 'प्रतिमा' है, जिसे विशिष्ट भूतसंपन्न और गुणसम्पन्न व्यक्ति ही ग्रहण कर सकता है। एकलविहार प्रतिमा का अर्थ है—अकेला रहकर साधना करने का संकल्प। स्थानांग सूत्र (८।१) में एकल-विहार प्रतिमा स्वीकार करने वाले साधक की योग्यता के आठ अंग बतलाए हैं—

१. श्रद्धावान्—अपने अनुष्ठान के प्रति पूर्ण आस्थावान्।
२. सत्यवादी।
३. मेधावी।
४. बहुधुत।
५. शक्तिमान्।
६. अल्पाधिकरण—उपशान्त कलह की उद्दीरणा एवं नए कलहों की उद्भावना न करने वाला।
७. धृतिमान्।
८. वीर्यसंपन्न—साधना में सतत उत्साह रखने वाला।'

वृत्तिकार ने 'एगचारी' से एकलविहारी अथवा जिनकल्पी का ग्रहण किया है।' जिनकल्पी मुनि अकेले रहते हैं किन्तु 'एकलविहारी' और जिनकल्पी की चर्चा और साधना में अन्तर होता है। जिनकल्प की चर्चा के लिए देखें—ठाण, पृष्ठ ७०४—७०६।

७४. एकान्त मौन (संयम) के साथ किसी तत्त्व का निरूपण करे (एगंतमोणेण वियागरेण्णा)

मौन का अर्थ है—संयम। एकान्त मौन अर्थात् एकान्त संयम। धर्मकथा करने के अवसर पर मुनि पूछे जाने पर या बिना पूछे भी संयमपूर्वक बोले। वह धर्म संबंधी ऐसी बात कहे जिससे संयम में कोई बाधा न आए। वह पापकारी, सावध या कार्य का प्रत्यक्ष निर्देश देने वाली भाषा न बोले।'

श्लोक १६ :

७५. आत्मकर (समेच्छा)

धर्म का प्रतिपादन करने वाले साधक दो प्रकार के होते हैं। कुछ साधक अतीन्द्रियज्ञान को विकसित कर सत्य को स्वयं जान लेते हैं, उसका साक्षात्कार कर लेते हैं। कुछ साधक परोक्षज्ञानी होते हैं। वे प्रत्यक्षज्ञानी से सुन कर सत्य का प्रतिपादन करते हैं।

७६. निदान के प्रयोग (सजिवाणप्पयोगा)

प्रस्तुत श्लोक के अंतिम दो चरणों का अर्थ है—धर्मकथी मुनि निदान के प्रयोगी (बोधन पैदा करने वालों) का सेवन न करे।

१. (क) वृत्ति, पृ० २२५ : बहुज्जलसज्जमि वज्जवासी।

(ख) वृत्ति, पृ० २२४-२४५ : बहुवो जनाः—साधनो वज्जवासित्ता संयमसहाया अस्य स बहुजनः।

२. वृत्ति, पृ० २२५ : एगचारिं सि एगलविहारपडिक्खणो।

३ विशेष विवरण के लिए देखें—ठाण ८।१ का टिप्पण, पृष्ठ ८२३।

४. वृत्ति, पृ० २४५ : तथैव एव वरति तच्छीलसंयमचारी, स च प्रतिमाप्रतिपन्न एकलविहारी जिनकल्पादिर्वा स्यात्।

५. (क) वृत्ति, पृ० २२५ : एगंतमोणेण तु एगंतसंयमेण, एकान्तोनेव संयमवसम्भमानः पुब्बो वा किञ्चिद् वाकरोति, न तु यथा मौनोपरोक्षो अवति, संयमोपरोक्ष इत्यर्थः। तच्छब्द—'जा व जाता पाविका सावज्जा सकिरिया।'

(ख) वृत्ति, पृ० २४५।

वे कहित होते हैं ।

चूणिकार ने इन दो चरणों का अर्थ इस प्रकार से किया है—^१

१. मन, वचन और काया की प्रवृत्ति, जो निमित्त और कर्म-बंधन युक्त है, धर्मकधी उनका प्रयोग न करे ।
२. धर्मकधी धर्मकथा करने के समय जो वाक्प्रयोग गृहित हैं उनका कथन न करे । जैसे—जो वचन, हिंसा और परिग्रह का प्रज्ञापन करते हों वे न कहे । कुत्तीर्यी भी कायकलेश आदि करते हैं—इस प्रकार उनकी प्रशंसा न करे । सावद्य दान की प्रशंसा न करे । ऐसी धर्मकथा न करे जिससे दूसरा कुपित हो । वह वचन के दोषों का वर्जन करे ।

वृत्तिकार ने इन दो चरणों का अर्थ दो प्रकार से किया है—^२

१. जो निदान कर्म-बंध का कारण है, तथा जो प्रवृत्ति (धर्मकथा आदि) निदानयुक्त है—अविध्य के लाभ की आशंसा से युक्त है—अहं हि उसका सेवन न करे ।
२. जो वाक्प्रयोग गृहित और निदानयुक्त है, सुधीरधर्मा व्यक्ति उसको न बोले । वह ऐसा न कहे—कुत्तीर्यिक सावद्य अनुष्ठान में रत रहते हैं । वे शील रहित और व्रत रहित हैं । वे जादू-टोना करने वाले हैं । इस प्रकार दूसरे के दोष को प्रगट करने वाला तथा मर्मभेदी वचन न कहे ।

पदोक्त २० :

७७. क्रोध को (मुहं)

इसका अर्थ है—क्रोध । चूणिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ क्षुब्धत्व—नीचता^३ किया है और तीसरे चरण की ओर संकेत करते हुए कहा है कि वह पुरुष मार डालने तक की नीचता कर सकता है ।^४

७८. ज्वला को मार सकता है (आजस्स कालातिथारं)

जिस प्राणी ने जितना आयुष्य निर्वर्तित किया है, अर्जित किया है, वह उसका आयुष्य-काल कहलाता है । अतिचार का अर्थ है—अतिश्रमण करना ।^५

७९. अनुमान के द्वारा दूसरे के भावों को जानकर (महाभुमाने)

इस चरण में धर्मकधी मुनि के लिए यह निर्देश दिया गया है कि वह अनुमान आदि के द्वारा परिषद् में उपस्थित लोगों के भावों को जानकर धर्मकथा करे । धर्मकथा करना भी एक कला है । वह पुरुष-विशेष को ध्यान में रखकर करनी चाहिए ।

चूणिकार के अनुसार—मुनि धर्मकथा करते समय सतत परिषद् की ओर दृष्टि रखे और जानता रहे कि उसके कथन का किस पर क्या असर हो रहा है ? यह कहा गया है कि मनुष्य के नेत्र और मुंह पर होने वाले परिवर्तनों से उसके अन्तर्मन को जाना जा सकता है, इसलिए मुनि लोगों को सतत देखता रहे । वह सोचे कि जो मैं कह रहा हूँ वह परिषद् में उपस्थित व्यक्ति (या व्यक्तियों) को प्रिय लग रहा है या अप्रिय ? यदि उसे लगे कि उसका कथन अप्रियता पैदा कर रहा है तो यह तत्काल विषय को छोड़ दे और दूसरे विषय पर व्याख्यान करने लग जाए । वह मत-मतान्तर की बातों को छोड़कर केवल ऐसी बात कहे जिससे स्वयं का और दूसरे का कल्याण हो, जिससे इहलोक और परलोक सुधरे ।^६

१. चूणि, पु० २२३ ।

२. वृत्ति, पद्य २४५ ।

३. चूणि, पु० २२३ । कौशब् ।

(अ) वृत्ति पद्य २४५ : क्षुब्धत्वम् ।

४. (क) चूणि, पु० २२३, २२४ ।

(ख) वृत्ति, पद्य २४५ ।

५. चूणि, पु० २२४ : आजस्स वेगमभुमानो निर्वर्तितः स तत्परादुःकालः अतिचरवमसीचरः ।

६. चूणि, पु० २२४ ।

वृत्तिकार के अनुसार—सबसे पहले धर्मकथा करने वाला मुनि यह जाने कि परिषद् में उपस्थित पुरुष कौन है? यह किस देवता विशेष को मानने वाला है? यह किस दर्शन को मानने वाला है? इसके मन में किसी मत विशेष के प्रति आग्रह है या नहीं? इन सारी बातों को अच्छी तरह जानकर ही उसे धर्मकथा करनी चाहिए। जो व्यक्ति इन बातों को जाने बिना धर्मोपदेश करता है और दूसरे के मत पर, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, आक्षेपकारी वचन कह देता है, उसको अनेक प्रकार की विपत्तियाँ भेलनी पड़ती हैं। कभी-कभी उसे मृत्यु का सामना भी करना पड़ सकता है। अतः उसे दूसरे के अभिप्राय को जानकर, सत्य की उपलब्धि कराने मात्र के लिए, सत्यज्ञान कराने के लिए, धर्मकथा करनी चाहिए।^१

श्लोक २१ :

५०. धीर पुरुष (धीरे)

विषय और कथाओं से अक्षोभ्य या उत्तम बुद्धि सम्पन्न पुरुष 'धीर' कहलाता है।^१

५१. कर्म (कर्म)

वृत्तिकार के अनुसार कर्म का अर्थ है—आजीविका का साधन, व्यवसाय।

वे किसी को उसके व्यवसाय से संबोधित करने या उस व्यवसाय के आधार पर निन्दा करने का निषेध करते हैं। जैसे—हे जुलाहा, हे चर्मकार! आदि। अरे, तुम तो चर्मकार हो, तुम तो जुलाहे हो—आदि-आदि।^२

वृत्तिकार ने कर्म के दो अर्थ किए हैं—

१. अनुष्ठान।

२. गुह-सधु कर्म का भाव।^३

५२. छंद (रुचि) का (छंद)

वृत्तिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं—

१. अभिप्राय, रुचि।

२. जिससे सुनने वाला प्रभावित हो वह अभिप्राय या वचन। जैसे—कोई व्यक्ति शृंगार रस से, कोई वैराग्य रस से, और कोई दूसरे रस से प्रभावित होता है। धर्मकथी मुनि उसका विवेचन करे।

३. ओता कौन है? वह किस दर्शन का अनुयायी है? यह जानना।

५३. आत्मीयभाव (आत्मभाव)

वृत्तिकार ने आत्मभाव से मिथ्यात्व या अविरति का ग्रहण किया है। ये अप्रशस्त आत्मभाव हैं।^४

वृत्तिकार ने अनादि जन्मों में अभ्यस्त मिथ्यात्व आदि को अथवा विषयासक्ति को आत्मभाव कहा है।^५

उन्होंने मूलपाठ 'पापभाव' मानकर 'आत्मभाव' को पाठान्तर माना है। 'पापभाव' का अर्थ है—अशुद्ध अन्तःकरण।^६

हमने इसका अर्थ बाह्य पदार्थों में होने वाले आत्मीयभाव अर्थात् विषयानुरक्ति किया है।

१. वृत्ति, पत्र २४६।

२. वृत्ति, पत्र २४६ : 'धीरः'—अक्षोभ्यः सदबुद्धयसंकुतो वा।

३. वृत्ति, पु० २२६ : येन कर्मणा जीवति न तेनैव परिभावेत्, यथा हे कोनिक !, न धीरेण तेन कर्मणा निन्दयेदिति, यथा—चर्मकारो जवान् कोनिको वा, मा तो उद्गुह्यो न् न् नेहेज्ज।

४. वृत्ति, पत्र २४६ : 'कर्म'—अनुष्ठानं गुहसधुकर्मभावं वा।

५. वृत्ति, पु० २२६ : छन्दं चास्य आनेज्ज तच्च वा—आचनो मुहुर्वा। अथवा छन्द इति येनाऽऽक्षिप्यते वैराग्येन शृंगारेण वा, तथा के अर्थ पुरिसे? कं वा वरिसज्जमज्जिसज्जने?

६. वृत्ति, पु० २२६ : आत्मभावो जान मिथ्यात्वं अविरतिर्वा, ततो अप्रशस्ता आत्मभावात्।

७. वृत्ति, पत्र २४६ : 'आत्मभावः; अनादिजन्माभ्यस्तो मिथ्यात्वादिस्तमज्जयेत्, यदि वाऽऽत्मभावो—विषयानुभूता।

८. वृत्ति, पत्र २४६ : पापभावम्—अशुद्धमन्तःकरणम् 'पापभावः' ति कथयित्वाऽ।

८४. तत्त्व को जानकर (विज्ञं गहाय)

भूषिकार ने इसका अर्थ—विद्या को जान कर किया है।^१

वृत्तिकार ने 'विज्ञं' का अर्थ—विद्वान्, धर्म-देखना देने में निपुण और 'गहाय' का अर्थ—दूसरे के अभिप्राय को सम्यग् जानकर—किया है।^२

८५. चल-अचल (तसबाचरोहि)

हमने प्रस्तुत श्लोक के प्रसंग में इनका अर्थ—चल, अचल पदार्थ किया है।

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में भूषिकार और वृत्तिकार संबंधा भिन्न मत रखते हैं।

भूषिकार के अनुसार^३—

धीर मुनि किसी पुरुष को उसके व्यवसाय से संबोधित न करे। (अथवा उस व्यवसाय के द्वारा उसकी निन्दा न करे।) वह श्रोता के अभिप्राय को जानकर उसके मिथ्यात्व का संबंधा अपनयन करे। रूप आदि इन्द्रिय-विषय भयावह होते हैं। जो इनमें आसक्त होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। (इस इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न दोषों को) जानकर मुनि त्रस-स्वावर प्राणियों के रक्षण करने वाले धर्म का कथन करे।

वृत्तिकार के अनुसार^४—

धीर मुनि श्रोताओं के अनुष्ठान और अभिप्राय को जानकर (धर्मोपदेश करे) तथा उनके पापभाव (मिथ्यात्व) को संबंधा दूर करे। स्त्रियों के रूप भयावह होते हैं। (जो इनमें आसक्त होते हैं), वे धर्म से च्युत हो जाते हैं। विद्वान् मुनि दूसरे के अभिप्राय को जानकर त्रस और स्वावर प्राणियों के लिए हितकर धर्म का उपदेश दे।

भूषिकार और वृत्तिकार द्वारा कृत अर्थाभिप्यक्ति स्पष्ट नहीं है। उसका पूर्वापर्यं भी सम्यग् चटित नहीं होता।

८६. रूपों (आकृतियों) में (रूपोहि)

भूषिकार का कथन है कि इन्द्रियों के पांच विषयों में रूप प्रधान है। उसमें भी स्त्रीरूप सबसे प्रधान है।^५

वृत्तिकार ने नयन और मन को लुभाने वाले स्त्रियों के अंग, प्रत्यग, अङ्ग-कटाक्ष, निरीक्षण आदि को 'रूप' माना है।^६

हमने इसका अर्थ 'मूर्त पदार्थ' किया है।

श्लोक २२ :

८७. निर्मल (अनादले)

अनाविल का अर्थ है—निर्मल, पवित्र।

भूषिकार ने इसका अर्थ अनातुर किया है। जो भुषा आदि परिषद् से अनातुर होता है, वह अनाविल कहलाता है।^७

वृत्तिकार ने अनाकुल का अर्थ—सूत्र के अर्थ से दूर न जाने वाला किया है।^८

१. भूषि, पु० २२६ : विद्यां गृहीत्वा ज्ञात्वेत्यर्थः :

२. वृत्ति, पत्र २४६ : 'विद्वान्'—वर्णितो धर्मदेखानाभिज्ञो गृहीत्वा पराभिप्रायम् ।

३. भूषि, पु० २२६ :

४. वृत्ति, पत्र २४६ :

५. भूषि, पु० २२६ : रूपं सर्वप्रधानं कियवापान्, तथापि स्त्रीरूपादि ।

६. वृत्ति, पत्र २४६ : 'रूपेः नयनमनोहारिणिः स्त्रीयानाङ्गप्रत्यङ्गाङ्गकटाक्षनिरीक्षणविनिः ।

७. भूषि, पु० २२६ : अनाविलो ज्ञान अनातुरः भुषाविनिः परीवहीः ।

८. वृत्ति, पत्र २४६ : अनाकुलः सुमार्थाभिप्रायः ।

८८. पूजा और श्लाघा का कामी हो (धर्मकथा न करे) (न पूयणं चेव सितोय काने)

पूजा का अर्थ है—वस्त्र, पात्र, आदि का लाभ। श्लोक का अर्थ है—श्लाघा, कीर्ति, आत्मप्रशंसा, वगैरह। मुनि पूजा और श्लाघा प्राप्त करने के लिए धर्मकथा न करे। वह यह कामना न करे कि धर्मकथा करने से मुझे अच्छे वस्त्र, पात्र, अन्न-पान आदि मिलेगा। सोय यह कहने लगेंगे कि यह मुनि अर्थ का विस्तार करने में निपुण है। हमने इस जैसे अर्थ का विस्तार करने वाला नहीं देखा। यह बहुत मिष्टभाषी है।^१

८९. किसी का प्रिय या अप्रिय न करे (पियमप्ययं कस्तइ जो करेक्या)

इसके अनेक अर्थ हैं—

१. मुनि सावधान उपकार के द्वारा किसी गृहस्थ का न प्रिय करे और न अप्रिय करे।
२. वह मेरा प्रिय है, यह मेरा अप्रिय है—मुनि ऐसा न माने।
३. जो जिसके लिए प्रिय हो, उसको चुगली या विद्वेष के द्वारा अप्रिय न बनाए।^२
४. श्रोता के लिए जो प्रिय (राजकथा आदि) हो तथा जो अप्रिय (इष्टदेव की निन्दा आदि) हो, वैसा कथन न करे।^३

मुनि समता की साधना करता है। वह किसी के प्रति अनुरक्त और किसी के प्रति द्विष्ट नहीं होता। वह राग-द्वेष से दूर रहता है। इसलिए यह उपयुक्त है कि वह न किसी का प्रिय करे और न किसी का अप्रिय करे। प्रियता और अप्रियता राग-द्वेष के स्रोतक हैं। जो एक के लिए प्रिय होती है वह दूसरे के लिए अप्रिय भी हो सकती है। जो एक के लिए अप्रिय होती है वह दूसरे के लिए प्रिय भी हो सकती है। समता की आराधना करने वाला मुनि मध्यस्थ रहे, न कहीं प्रियता करे और न कहीं अप्रियता करे।

वह प्रियता और अप्रियता पैदा करने के लिए धर्मकथा न करे। वह श्रोता के अभिप्राय को जानकर अरक्तद्विष्ट होकर सम्यग् दर्शन आदि यथार्थ धर्म का उपदेश करे।^४

९०. अनर्थों का (अणदुठे)

जूलिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अशोभन या संघम में बाधा उपस्थित करने वाला कार्य। इसका तात्पर्यार्थ है—अनर्थदण्ड।^५

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पूजा, स्तुति और लाभ के अभिप्राय से किया जाने वाला तथा दूसरे पर दोषारोपण रूप अनर्थ।^६

प्रकरण की दृष्टि से यहां अनर्थ का अर्थ है—अप्रयोजन।

इसी आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में बताया है कि मुनि अन्न प्राप्त करने के लिए, पान प्राप्त करने के लिए, वसति प्राप्त करने के लिए, शय्या प्राप्त करने के लिए तथा विभिन्न प्रकार के कामभोगों को प्राप्त करने के लिए धर्म-देशना न करे। ये धर्म-

१. (क) जूलि, पृ० २२६ : न पुया मे भविस्सती, सिलोगो णाम असोकिली, यथा नानेन तुल्यं प्रसप्तविस्तरो कचको भुण्ढवाकथ इत्यादि।

(ख) वृत्ति, पत्र २४६ : साधुदेशनां विवधानो न पूजनं—वस्त्रपात्रादिलाभकथमभिकाङ्क्षोऽपि श्लोकं—श्लाघां कीर्तिम्—आत्मप्रशंसां कामयेद् अभिलभेत्।

२. जूलि, पृ० २२६ : प्रियं च न कुर्यादसंयत्तानां अन्यतरेण सावद्योपकारेण वा अप्रियम्। अथवा यस्मात् प्रियः अर्थो चाप्रिय इति, अथवा यो यस्य प्रियः स न तस्य पिशुनवचन-विद्वेषणादिभिः कुर्यात् कर्मकथाम्।

३. वृत्ति, पत्र २४६ : तथा ओर्ग्यस्त्रिप्रमं राजकथाविकथादिकं जलितकथादिकं च तथाऽप्रियं च तत्समाभितवेयता विद्वेषनिन्दादिकं न कथयेत्।

४. वृत्ति, पत्र २४६।

५. जूलि, पृ० २२६ : अणदुठे अशोभना अर्थाः अनर्थाः संघभोषरोक्ताश्च अर्थोऽनर्थः, अनर्थदण्ड इत्यर्थः।

६. वृत्ति, पत्र २४६ : अनर्थान् पूजास्तुतिस्तुतिप्रशयेन स्वकुलान् परकुलतया च परकुलान्।

वेदना के अनर्थ हैं।^१

इलोक २३ :

६१. हिंसा का (बंध)

जृणिकार ने इसका अर्थ घात किया है।^२ वृत्तिकार ने प्राणव्यपरोपण की विधि को बंध माना है।^३

६२. परित्याग करे (निघाय)

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'निघाय' कर इसका अर्थ 'परित्यज्य' किया है।^४ निघाय का अर्थ परित्यज्य (त्याग करके) कैसे हो सकता है ?

इसका संस्कृत रूप 'निघाय' होना चाहिए। ओहाँक् त्यागे' वातु से यह रूप निष्पन्न होता है। इसका अर्थ होना—त्याग करके।

प्राचीन प्रयोगों में 'हकार' का घकार के रूप में वर्ण-परिवर्तन मिलता है। इसी सूत्र के १४१ में जृणिकार ने 'विहाय' के स्थान पर 'विघाय' पाठ स्वीकृत कर उसका अर्थ 'विशेषण हित्वा' किया है।

६३. (जो जीवियं जो मरणाहिकंसे)

मुनि जीने और मरने की आकांक्षा न रखे। जीने की आकांक्षा राग है और मरने की आकांक्षा द्वेष है। मुनि दोनों की बाछा न करे। वह केवल संयम-यात्रा की आकांक्षा करे।

जृणिकार ने असंयममय जीवन और परीवर्णों के उदय से मरण की बाछा न करे—यह अर्थ किया है।^५

वृत्तिकार ने इस भावना का विस्तार किया है—मुनि असंयम जीवन की इच्छा न करे तथा स्थावर और जंगम प्राणियों की घात कर लंबे जीवन की बाछा न करे। मुनि परीवर्णों से पीड़ित होकर तथा अन्यान्य वेदनाओं से दुःखित होकर, उन दुःखों को न सह सकने के कारण जल में डूब कर, आग में जलकर अथवा हिंसक प्राणी से अपना वध कराकर मरने की बाछा न करे।^६

६४. बलय (संसारचक्र) से (बलया)

जृणिकार ने इसका अर्थ माया^७ और वृत्तिकार ने माया तथा मोहनीय कर्म किया है।^८

प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ संसार-चक्र उपयुक्त लगता है।

१. सुषमण्डो २।१।६६ : जो अण्णस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । जो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । जो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । जो सेवस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । जो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । जो अण्णेसि विरुक्खवाणं कामजोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा ।

२. जृणि, पु० २२६ : बंडो नाम घातः ।

३. वृत्ति, पद्य २४६ : इच्छन्ते प्राणिनो येन स बन्धः—प्राणव्यपरोपणविधिः ।

४. वृत्ति पद्य २४६ : निघाय परित्यज्य ।

५. जृणि, पु० २२६ : असंयमजीवितं परीवर्णोदयाद्वा मरणं ।

६. वृत्ति, पद्य २४६ : असंयमजीवितं धीर्बापुष्कं वा स्थावरजङ्गमजन्तुवर्ण्येन नात्रिकाङ्क्षी स्या (जो) त् परीवर्णपराजितो वेदना-तनुवृथातः (समय) इती वा तद्देवनाम (नि) सङ्गमानी अज्ञानलसंपातापावितजन्तुपमर्गेन नापि मरणात्मिकाङ्क्षी स्यात् ।

७. जृणि, पु० २२६ : बलया—माया ।

८. वृत्ति, पद्य २४७ : बलयेन—मायाकमेव मोहनीयकर्मणा वा ।

चउद्दसमं अज्जयणं
गंधो

चीवहवां अभ्ययन
पत्थ

आमुख

इस अध्ययन का नामकरण भी आशानपद के आधार पर 'ग्रन्थ' रखा गया है। कृतिकार ने नामकरण का आधार गुण-निष्पक्षता भी माना है।^१

ग्रन्थ का अर्थ है—आत्मा को बाँधने वाला तत्त्व। कृत्तिकार के अनुसार ग्रन्थ दो प्रकार का होता है—द्रव्यग्रन्थ और भाव-ग्रन्थ। द्रव्यग्रन्थ सावद्य होता है। भावग्रन्थ के दो प्रकार हैं—

प्रसस्तभावग्रन्थ—ज्ञान, दर्शन चारित्र्य।

अप्रसस्तभावग्रन्थ प्राणातिपात आदि तथा मिथ्यात्व आदि।

ग्रन्थ का अर्थ आचारोग्र आदि आगम भी है। जो सिध्य उनको पढ़ता है, वह भी ग्रन्थ कहलाता है। सिध्य दो प्रकार के होते हैं—

१. प्रव्रज्या सिध्य—स्वयं गुरु द्वारा दीक्षित।

२. शिक्षा-सिध्य आचार्य आदि के पास शिक्षा ग्रहण करने वाला सिध्य।

आचार्य भी दो प्रकार के होते हैं—प्रव्रज्या-आचार्य और शिक्षा-आचार्य (वाचनाचार्य)। शिक्षा-आचार्य दो प्रकार के होते हैं—

१. शास्त्रपाठ की वाचना देने वाले।

२. अर्थ की वाचना देने वाले तथा सामाचार्य का सम्यग् पालन कराने वाले।

दोनों प्रकार के ग्रन्थों—बाह्य और आभ्यन्तर की पूरी जानकारी आचार्य से ही प्राप्त हो सकती है। वे श्रुत-पारमासी होते हैं। उनकी शिक्षा के अनुसार सिध्य 'ग्रन्थ' (ग्रन्थियों) के स्वरूप को समझकर धन-धान्य आदि बाह्य ग्रन्थों तथा, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि आभ्यन्तर ग्रन्थों (ग्रन्थियों) को क्षीण करने का प्रयत्न करे। मुनि ग्रन्थ विनिर्मुक्त होकर ही निर्यन्त्र बन सकता है। निर्यन्त्र ही मोक्ष का अधिकारी होता है।

जैसे रोगी चतुर वैद्य के निर्देश का पालन करता हुआ रोगमुक्त हो जाता है वैसे ही मुनि भी सावद्य ग्रन्थों को छोड़कर पाप-कर्म को दूर करने वाली औषधि-रूप प्रसस्त भावग्रन्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य को स्वीकार करे। उसका कर्मरूपी रोग शान्त हो जाएगा।^२

प्रस्तुत अध्ययन में गुरुकुलवास की निष्पत्तियों का बहुत सुन्दर विवेचन है। सूत्रकार ने उदाहरणों से उन्हें स्पष्ट किया है। गुरुकुलवास का वाचक शब्द है—'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं—चारित्र्य, नौ गुप्तियुक्त वैधुन-विरति और गुरुकुलवास।^३ आचार, आचरण, संवर, संयम और ब्रह्मचर्य—ये एकार्थक हैं।^४

जो गुरुकुल (ब्रह्मचर्य) में वास करता है उसे ग्रन्थ का सम्यग्ज्ञान हो सकता है। गुरुकुलवास में ही सामाचार्य और परंपराओं की जानकारी होती है। इनकी जानकारी के अभाव में मुनि अपरिपक्व रह जाता है। वह अपुष्टवर्मा मुनि अहंकार से ग्रस्त होकर, आचार्य की अवज्ञा कर, एकलविहार आदि प्रतिमा के लिए सक्षम न होने पर भी उसे स्वीकार कर गण से अलग हो जाता है। वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे पंखहीन पक्षी का बच्चा घोंसले से निकल कर उड़ने की चेष्टा करने पर बूंसरे पक्षियों द्वारा मार दिया जाता है। इसलिए मुनि ग्रन्थ की शिक्षा के लिए गुरुकुलवास में रहे। यह प्रथम छह श्लोकों का प्रतिपाद्य है।

आगे के छह श्लोकों (७-१२) में गुरुकुलवास में रहने वाले मुनि को अनुशासन सहन करने की क्षमता अर्जित करने का उपदेश है। अकेले के लिए कोई अनुशासन नहीं होता। संघ अनुशासन से ही चलता है। गुरुकुलवास में सभी का सहायस्थान होता

१. कृति, पृष्ठ २४७ : आशानपदम् पुननिष्पक्षत्वाच्च ग्रन्थ इति नाम।

२. कृति, पृष्ठ २४७।

३. कृति, पृष्ठ २२७।

४. कृति, पृष्ठ ४०३।

हैं। वहां एक दूसरे को सहने से ही प्रियसंवाह हो सकता है। मुनि जन्म-पर्याय से छोटे-बड़े या वीणा-पर्याय से छोटे-बड़े, सह्यमित या अन्य किसी भी प्रकार से मुनि द्वारा अनुशासित किए जाने पर, अनुशासन को स्वीकार करे। अत्यन्त तुच्छ बृहस्प भी यदि अनुशासना करे तो उस पर भी क्रोध न करे, कठोर वचन न कहे। 'यह मेरे लिए अयोग्य है, ऐसा सोचकर उसे स्वीकार करे।'

इसी प्रकार आगे के छह श्लोकों में ब्रह्मचर्य—गुरुकुलवास में रहने का फल बतलाया गया है। वह इस प्रकार है—

१. ज्ञानप्राप्ति और धर्म की सम्यग् अवगति।
२. संयम की परिपक्वता।
३. मानसिक प्रद्वेष का वियोग।
४. समाधि-प्राप्ति का अवबोध।
५. धर्म, समाधि और मार्ग का ज्ञान और आचरण की निपुणता।
६. बिस्व की शांति और निरोध की प्रक्रिया का अवबोध।
७. अप्रमत्त साधना का अभ्यास।
८. प्रतिभा और विचारवृत्ति का विकास।

अंतिम दस श्लोकों (१८-२७) में ग्रन्थी के कर्तव्यों का स्पष्ट निर्देश है। जो गुरुकुलवास में रहता है वह निपुण ग्रन्थी (भाब-ग्रन्थी) बन जाता है। उसे क्या कहना चाहिए और क्या नहीं कहना चाहिए, इसका स्पष्ट विवेक इन श्लोकों में प्रतिपादित है।

इन श्लोकों में भाषा-विवेक के निर्देश इस प्रकार प्राप्त हैं—

- अर्थ को न छिपाए।
- अप-सिद्धान्त का निरूपण न करे।
- परिहास न करे।
- प्रशस्ति वचन न कहे।
- असाधु वचन न कहे।
- स्व-प्रशंसा न करे।
- विमल्यवाद से बोलें।
- सत्त्वभाषा और व्यवहार भाषा का प्रयोग करे।
- मंदमति श्रोता के लिए हेतु, दुष्टान्त आदि का प्रयोग करे।
- कर्कश वचन न बोलें।
- किसी के वचनों का तिरस्कार न करे।
- कौशल समाप्त होने वाली बात को न संभाए।
- संगत, अर्थपूर्ण और अस्खलित बात कहे।
- आज्ञासिद्ध वचन का प्रयोग करे।
- पाप का विवेक करने वाले वचन का संधान करे।
- भर्याया का अतिक्रमण कर न बोलें।
- सिद्धान्त की यथार्थ प्रकृति बताए।
- अपरिणत को ब्रह्म न बताए।
- सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे।
- बाध और श्रुत का सम्यक् प्रतिपादन करे।
- सूत्रपाठ का शुद्ध उच्चारण करे।
- प्रस्तुत अध्ययन में कुछेक शब्द विमर्शनीय हैं—

आसिस्ताबाध (श्लोक १६)

मुनि किसी पर संतुष्ट होकर आशीर्वाद देते हुए यह न कहे—स्वस्थ रहो, भाग्यशाली हो, तुम्हारा धन बढ़े, तुम्हें पुत्रों की प्राप्ति हो, आदि-आदि।

जैन मुनि भौतिक अभ्युत्थान का वाचन आशीर्वाद न दे । वह आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए आशीर्वाद या निर्देश दे । कुछ विद्वान् इसका अर्थ—अ-स्याद्वाच करते हैं, जो सही नहीं है ।

विषयवाचं (श्लोक २२)

बावीसवें श्लोक में 'विषयवाचं च विषयगरेष्वा' ऐसा निर्देश है । इसका अर्थ है—मुनि विषयवाद के आधार पर वचन-प्रयोग करे ।

भूषिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं— भजनीयवाद और अनेकान्तवाद । वृत्ति के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं—

१. पृथक्-पृथक् अर्थों का निर्णय करने वाला वाच ।
२. स्याद्वाच ।
३. अर्थों का सम्यग् विभाजन करने वाला वाच ।

बौद्ध साहित्य में विषयवाद की अनेक स्थलों पर उर्ध्वा प्राप्त होती है । उसका स्वरूप-निर्णय भी वहां से होता है । बुद्ध ने स्वयं को विषयवाद का निरूपक कहा है ।

विशेष विवरण के लिए देखें—टिप्पण संख्या ८१ ।

चउहसर्ग अष्टम्यर्थः चौदहवां अध्यायः

गंधो : ग्रन्थ

मूल

१. गंधं विहाय इह सिद्धमाप्तो
उद्धाय सुखंमयेरं वसेत् ॥
ओवायकारी विषयं सुसिद्धे
जे छेए से विषयमात्रं न कुर्यात् ॥

२. जहा बिया-पोतमपन्नजातं
सावासगा पबितुं मन्यमानं ।
तमचाइयं तरुणमपन्नजातं
छंकादि अव्यक्तगमं हरेत् ॥

३. एवं तु सिद्धे वि अपुष्टधर्मे
निस्तारं वृत्तिमं मन्यमानो ।
वियस्त छात्रं न अपन्नजातं
हरिषु न पावधम्मा अनेगे ॥

४. ओसानमिच्छे अनुजः समाधिं
अपोसिते वंतकरे ति गच्छा ।
ओमासमाने बवियस्त वित्तं
न निष्कसे बहिराणुप्रज्ञः ॥

५. जे डावओ वा सवनासने वा
परकमे मावि सुसाधुपुत्ते ।
समितीसु गुत्तीसु च आपपणे
वियागरेत्ते न पुढो बएअ ॥

संस्कृत भाषा

ग्रन्थं विहाय इह शिक्षमाणः,
उद्धाय सुखहास्यः वसेत् ।
अवपातकारी विनयं सुशिक्षेत्,
यश्चेकः स विप्रमादं न कुर्यात् ॥

यथा द्विजपोतमपन्नजातं,
स्वावासकात् प्लवितुं मन्यमानः ।
तमघक्तं तरुणमपन्नजातं,
छंकादिः अव्यक्तगमं हरेत् ॥

एवं तु शैक्षोऽपि अपुष्टधर्मा,
निस्तारं वृत्तिमन्तं मन्यमानः ।
द्विजस्य शाबमिव अपन्नजातं,
बहार्णुः पापधर्माणः अनेके ॥

अवसानमिच्छेद् अनुजः समाधिं,
अनुजितो नान्तकरः इति ज्ञात्वा ।
अवभाषमाणः द्रव्यस्य वित्तं,
न निष्कसेत् बहिराणुप्रज्ञः ॥

यः स्वानतरणं ध्याननाशनयोश्च,
पराक्रमे चापि सुसाधुपुक्तः ।
समितिषु गुप्तिषु च आत्मप्रज्ञः,
व्याकुर्बन्धं पूषन् बवेत् ॥

हिन्दी अनुवाद

१. ग्रन्थ (परिग्रह) को छोड़ जावग्रन्थ
(श्रुतज्ञान) को प्राप्त कर, जिन-शासन
में शिक्षा प्राप्त करता हुआ प्रव्रजित
हो गुरुकुल-वास में रहे, निर्देश का
पालन करे और विनय का अभ्यास
करे । जो बहुत होता है वह प्रमाद नहीं
करता ।

२. जैसे पूरे पंख जाए बिना पक्षी का
बच्चा अपने बोंसले से उड़ना चाहता
है, किन्तु वह उड़ नहीं सकता । उड़ने
में असमर्थ उस पंखहीन बच्चे को
कोएँ आदि उठाकर ले जाते हैं ।

३. इसी प्रकार अपुष्ट-धर्म वाला शैक्ष
(नव-दीक्षित) चारित्र को निस्तार
मानकर (गुरुकुल-वास से) निकलना
चाहता है । उसे अनेक पाप-धर्म वाले
वैसे ही हर लेते हैं जैसे पंखहीन पक्षी
के बच्चे को कोएँ आदि ।

४. जो गुरुकुल-वास में नहीं रहता वह
साधु (असमाधि या संसार का) अन्त
नहीं कर सकता—यह जानकर शिष्य
गुरुकुलवास में आजीवन रहने और
समाधि प्राप्त करने की इच्छा करे ।
गुरु साधु के वित्त (या वृत्त) पर
अनुशासन करता है, इसलिए आमुप्रज्ञ
शिष्य गुरुकुलवास से बाहर न
निकले ।

५. स्वान, ध्यान, आसन और प्रत्येक श्रेष्ठा
में जो सु-साधुओं से युक्त तथा समि-
तियों और गुप्तियों में आत्मप्रज्ञ होता
है वह (दूसरो को) कहता है तो बहुत
अच्छे ढंग से कह सकता है ।

६. सहानि सोध्या अबु भेरवानि
अनासवे तेषु परिष्काएज्जा ।
निहं च भिक्षुं ण पमाय कुब्जा
कहं कहं वी वित्तिगिच्छ तिष्णे ॥

साध्यान् श्रुत्वा अथ भेरवान्,
अनाश्रवः तेषु परिव्रजेत् ।
निद्रां च भिक्षुः न प्रमादं कुर्यात्,
कथं कथं अपि विचिकित्सां तीर्णः ॥

६. मुनि प्रशंसा या कठोर मन्त्रों को सुन-
कर^१ उनके प्रति मध्यस्थ^२ रहता हुआ
परिव्रजन करे। भिक्षु निद्रा-प्रमाद^३
न करे। 'कैसे होगा?' 'कैसे
होगा?'—^४ इस प्रकार की विचि-
कित्सा को^५ तर जाए।

७. दहरेण वृद्धेण ऽनुसासिते तु
रात्रिणिण्णाऽपि समव्वएणं ।
सम्मं तयं विरतो नाभिगच्छे
णिज्जंतए वाचि अपारए से ॥

दहरेण वृद्धेन अनुशासितस्तु,
रात्रिकेनापि समव्रतेन ।
सम्यक् तर्कं स्थिरतः नाभिगच्छेत्,
नीयमानो वापि अपारगः सः ॥

७. (जन्म-पर्याय से) छोटे-बड़े तथा (दीक्षा-
पर्याय से) छोटे-बड़े^१, रात्रिक^२ या
सह-दीक्षित के द्वारा^३ अनुशासित होने
पर जो उस अनुशासन को मज्जी भांति
स्थिर रूप से^४ (झूल को पुनः न झोह-
राने की दृष्टि से) स्वीकार नहीं करता
वह संसार के पार से जाया जाता हुआ
भी उसका पार नहीं पा सकता ।^५

८. विवट्टितेणं समयानुसिद्धे
दहरेण वृद्धेण ऽनुसासिते तु ।
अभ्युत्थिताए वट्टदासिए वा
अगारिणं वा समयानुसिद्धे ॥

व्युत्थितेन समयानुशिष्टः,
दहरेण वृद्धेन अनुशासितस्तु ।
अभ्युत्थितया वट्टदास्या वा,
अगारिणा वा समयानुशिष्टः ॥

८. किसी विधिलाचारी व्यक्ति के द्वारा
समय (धार्मिक सिद्धांत) के अनुसार^१,
किसी छोटे या बड़े के द्वारा, किसी
पतित वट्टदासी के द्वारा^२ अथवा किसी
गृहस्थ के द्वारा समय (सामाजिक
सिद्धांत) के अनुसार अनुशासित होने
पर^३ ^४—

९. न तेषु कुब्भे न य पम्भहेज्जा
न यावि किब्बो फपसं ववेज्जा ।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा
सियं कु मेयं न पमाद कुब्जा ॥

न तेषु क्रुध्येत् न च प्रव्यथयेत्,
न चापि किञ्चित् परुषं वदेत् ।
तथा करिष्यामि इति प्रतिश्रुण्यात्,
श्रेयः खलु ममेतद् न प्रमादं कुर्यात् ॥

९. उन (अनुशासन करने वालों) पर क्रोध
न करे^१, उन्हें चोट न पहुंचाए^२, कठोर
वचन न कहे, 'अब मैं बंसा करूंगा',
'यह मेरे लिए श्रेय है'^३—ऐसा स्वी-
कार कर फिर प्रमाद न करे।

१०. वणंसि मूढस्स अहा अमूढा
अग्गानुसासंति हितं पयाणं ।
तेणा वि मज्झं इणमेव सेयं
अं मे बुधा सम्मऽनुसासयंति ॥

वने मूढस्य यथा अमूढाः,
मार्गमनुशासति हितं प्रजामाम् ।
तेनापि मम हृदमेव श्रेयः,
यद् मे बुधाः सम्यग् अनुशासति ॥

१०. जैसे वन में दिग्मूढ व्यक्ति को अमूढ
व्यक्ति^१ सर्व-हितकर मार्ग दिखाता है^२
और वह दिग्मूढ व्यक्ति (सोचता है)
जो अमूढ पुरुष मुझे सही मार्ग बता
रहे हैं^३, वही मेरे लिए श्रेय है।

११. अह तेण मूढेण अमूढास्स
कायव्व पूया सविसेसकुत्ता ।
एतोवमं तस्य उदाह वीरे
अनुगम्य अर्थं उपनयति सम्मं ॥

अथ तेन मूढेन अमूढकस्य,
कर्तव्या पूजा सविशेषयुक्ता ।
एतां उपमा तत्र उदाह वीरेः,
अनुगम्य अर्थं उपनयति सम्यक् ॥

११. (गन्तव्य-स्थल प्राप्त होने पर) उस
दिग्मूढ व्यक्ति के द्वारा अमूढ (पञ्च-
दशक) पुरुष की कुछ विशेषता सहित
पूजा करणीय होती है। महावीर ने^१
इस प्रसंग में यह उपमा कही है। इसके
अर्थ को समझकर मुनि इसका मज्जी-
भांति उपमय करता है—अपने पर
चठित करता है ।^२

१२. नेता ब्रह्मा अंगकारंति रात्रौ
मार्गं न जानाति अपरसमाये ।
स सुरिग्रस्ता अङ्गुलमनेन
मार्गं विजानाति पनासितंति ॥

नेता ब्रह्मा अङ्गकारि रात्री,
मार्गं न जानाति अपरसमाये ।
स सूर्यस्य अङ्गुलमने,
मार्गं विजानाति प्रकाशिते ॥

१२. जैसे नेता (चलने वाला) रात के अङ्ग-
कार में नहीं देखता हुआ मार्ग को नहीं
जानता, वह सूर्य के उगने पर प्रकाश
में मार्ग को जान लेता है—

१३. एवं तु सैहे वि अपुष्टधर्मा
धर्मं न जानाति अङ्गुलमाने ।
स कोविदः जिनवचनेन पश्चात्,
सुरोदये पश्यति चक्षणेव ॥

एवं तु सेधोऽपि अपुष्टधर्मा,
धर्मं न जानाति अङ्गुलमाने ।
स कोविदः जिनवचनेन पश्चात्,
सुरोदये पश्यति चक्षणेव ॥

१३. इसी प्रकार अपुष्ट-धर्म वाला शैव,
अज्ञानी होने के कारण, धर्म को नहीं
जानता । वह जिन-प्रवचन के द्वारा
ज्ञानी होकर धर्म को जान लेता है,
जैसे नेता सूरज के उगने पर चक्षु के
द्वारा मार्ग को देख लेता है ।

१४. ऊर्ध्वं जहे वं तिरियं विसासु
सदा य जे धावर जे य पाणा ।
सदा जए तेसु परिव्रजेज्जा
मण्यजोसं अविकल्पमाये ॥

ऊर्ध्वं जहन्व तिरियं विसासु,
सदा य जे धावर जे य पाणा ।
सदा यतः तेषु परिव्रजेज्जु
मनःप्रदोषं अविकल्पमानः ॥

१४. ऊँची, नीची और तिरछी विसासो में जो
जुग और स्थावर प्राणी हैं उनके प्रति
सदा समय करता हुआ परिव्रजन करे,
मानसिक प्रदोष का विकल्प न करे ।

१५. कालेण पुच्छेत् समिधं पयासु
आइकलमानो बधियस्त विसं ।
तं सोयकारी य पुडो पवेसै
संसाइमं केवलियं समाहि ॥

कालेण पुच्छेत् सम्यक् प्रजासु,
आवधानं द्रव्यस्य वित्तम् ।
तं श्रोतःकारो च पृथक् प्रवेशयेत्,
संस्माय इमं केवलिकं समाधिम् ॥

१५. प्रजा के बीच में मुनि के वित्त (ज्ञान
आदि) की व्याख्या करने वाले आचार्य
से, समय पर विनयावनत हो, पूर्ण
समाधि के विषय में पूछे, उसे ग्रहण
करे और इस पूर्ण या केवली-सबधी
समाधि को जानकर उसे विस्तार से
अपने हृदय में स्थापित करे ।

१६. अस्ति सुठिज्जा तिविहेण तादी
एएसु या संति निरोधमाहु ।
ते एवमवसन्ति तिलोमवन्ती
न भुज्जमेतं ति पमायसंभं ॥

अस्मिन् सुस्थित्य त्रिविधेन तादृग्,
एतेषु च शास्ति निरोधमाहुः ।
ते एवमाख्यान्ति त्रिलोकदर्शिनः
न भूयः एतं एति प्रमादसंगम् ॥

१६. वैसा मुनि धर्म, समाधि और मार्ग
की आराधनापूर्वक गुरुकुल-वास में
सम्यग्-स्थित होकर, इन (धर्म, समाधि
और मार्ग) में प्रवृत्त होता है, उससे
(चित्त की) शास्ति और निरोध
होता है । त्रिलोकदर्शी तौर्यकर ऐसा
कहते हैं कि वैसा मुनि फिर प्रमाद में
लिप्त नहीं होता ।

१७. जितम्भ से भिक्षु समीहमदं
पडिभाणवं होति विसारवे य ।
आदानमद्वी बोदान-मोक्षं
उपेत्य गुणेन उपेत मोक्षम् ॥

जितम्भ स भिक्षुः समीह्य अर्थं,
प्रतिभाणवान् भवति विसारवेयः ।
आदानार्थं व्यवदान-मार्गं,
उपेत्य गुणेन उपेत मोक्षम् ॥

१७. वह भिक्षु अर्थ को सुन, उसकी समीक्षा
कर, प्रतिभावादी और विसारद हो
जाता है । वह आदान (ज्ञान आदि)
का अर्थ बना हुआ, तपस्या और
सयम को प्राप्त कर शुद्ध (धर्म,
समाधि और मार्ग) के द्वारा मोक्ष को
प्राप्त होता है ।

१८. संसाधं धर्मं च विनाशयन्ति
बुद्धा ह ते ज्ञातव्या भवन्ति ।
ते पारणा बोद्ध विमोचयन्त
संशोधितं प्रवृत्तमुदाहरन्ति ॥

संस्थाध धर्मं च व्याकुर्वन्ति,
बुद्धाः ज्ञाते ते ज्ञातकरा भवन्ति ।
ते पारणाः द्वयोर्विमोचनाय,
संशोधितं प्रवृत्तमुदाहरन्ति ॥

१८. जो आचार्य" (ज्ञेय, काल, बुद्ध और सामर्थ्य को) जानकर" धर्म का प्रतिपादन करते हैं वे (शिष्यों के संवेहों का) ज्ञान करने वाले होते हैं ।" वे धर्म के पारणामी आचार्य" अपने और शिष्य के (संवेह-) विमोचन के लिए संशोधित प्रश्न की व्याख्या करते हैं ।"

१९. नो ह्यस्य नो वि य सृष्टएव
ज्ञातं च सेवेत पमासर्गं च ।
न चापि प्राज्ञः परिहासं कुर्यात्
न च आशीर्वादं व्याकुर्यात् ॥

नो ह्यस्येद् नो अपि च सृष्टयेत्,
मानं न सेवेत प्रकाशनं च ।
न चापि प्राज्ञः परिहासं कुर्यात्,
न च आशीर्वादं व्याकुर्यात् ॥

१९. प्रज्ञावान् न अर्थ को छिपाए", न अप-सिद्धान्त का निरूपण करे", न अभिमान करे, न अपना ह्वापन करे", (सही न समझने वाले का) परिहास" न करे और (तुष्ट होकर) आशीर्वाचन (प्रशस्ति-बचन)" न कहे ।

२०. भूतमिदं का ए बुधुं कमाने
न विज्यहे संतपएव बोधं ।
न किञ्चिच्छेद् मनुजं पमासुं
असाधुधर्मानि च संवदेत् ॥

भूताभिशंकया बुधुस्समानः,
न निर्वहेद् मंत्रपदेन गोत्रम् ।
न किञ्चिद् इच्छेद् मनुजः प्रजासु,
असाधुधर्मान् न संवदेत् ॥

२०. जीव-वध की आशका से बुधुप्सा करता हुआ मन्त्र-पद के द्वारा" सत्य जीवन का" निर्वाह" न करे । प्रजा म प्रब-चन करता हुआ वह प्रबचनकार कुछ भी (यश, कीर्ति आदि की) इच्छा न करे और असाधु-धर्मों का" संवाद न करे ।

२१. हासं पि नो संघए पापधर्मे
ओए तहियं कस्सं विद्याये ।
नो तुच्छए नो य विकल्पएव
अनादित्ते वा अकत्ताह भिक्षु ॥

हासमपि नो संघत्ते पापधर्मे,
ओजा तथ्यं परुष विजानोयात् ।
नो तुच्छयेद् नो च विकल्पयेत्,
अनाविलक्ष्य अकषायी भिक्षुः ॥

२१. निर्मल" और प्रशान्त भिक्षु पाप-धर्म (असाधु-धर्म) की स्थापना करने वालों का परिहास न करे ।" तटस्थ रहे ।" सत्य कठोर होता है, इसे जाने ।" न अपनी तुच्छता प्रदर्शित करे" और न अपनी प्रशंसा करे ।

२२. संकीर्ण वा संकीर्णभाव भिक्षु
विमज्जवायं च विद्यागरेव
भासावुगं धम्मसमुत्तिहे
विद्यागरेव समयाऽसुपणे ॥

संकेत च अशंकितभावो भिक्षुः,
विमज्जवादं च व्याकुर्यात् ।
भाषाद्विकं धर्मसमुत्थितः,
व्याकुर्यात् समया आशुप्रज्ञः ॥

२२. भिक्षु किसी पदार्थ के प्रति अशंकित हो, फिर भी सत्य के प्रति विमज्ज होकर प्रतिपादन करे ।" प्रतिपादन में विमज्ज-वाद (भ्रजनीयवाद या स्याद्वाद) का" प्रयोग करे । आशुप्रज्ञ मुनि धर्म के लिए समुत्थित पुरुषों के साथ" विहार करता हुआ दो भाषाओं" (सत्य भाषा और व्यवहार भाषा) का समतापूर्वक" प्रयोग करे ।

२३. अनुगच्छमाने वितहं विजाने
तथा तथा साधु अककंशेन ।
न कत्थाई भस विहितएव
विद्वजं चापि न वीहएव ॥

अनुगच्छन् वितथमभिजानाति,
तथा तथा साधु अककंशेन ।
न कुत्रचिद् भाषां विहित्यात्,
निरुद्धकं चापि न वीधयेत् ॥

२३. (वक्ता के वचन को) कोई ओतर यथार्थ रूप में जान लेता है और कोई उसे यथार्थ रूप में नहीं जान पाता ।" उस (मदमति) को वैसे-वैसे (हेतु, दृष्टांत आदि के द्वारा) भली-भांति समझाए, किन्तु कर्कश वचन का प्रयोग न करे ।" कही भी उसकी भाषा की हिंसा (तिरस्कार) न करे ।" शीघ्र समाप्त होने वाली बात को न संभाए ।"

२४.समालयेन्ना पडिपुण्णभासी
भिसामिया सभियामद्वंसी ।
आणाए सिद्धं वचनं भिजुंजे
अभिसंघए पावविबेकं भिक्षुः ॥

समालयेत् प्रतिपूर्णभाषी,
निशम्य सम्यग् अर्थदर्शी ।
आज्ञया सिद्धं वचनं अभिपुञ्जीत,
अभिसंघते पापविवेकं भिक्षुः ॥

२४. आचार्य के पास सुनकर भलीभाँति
अर्थ को देखने वाला^{११} भिक्षु संगत बात
कहे,^{१२} अर्थपूर्ण और अस्खलित वचन
बोले,^{१३} आज्ञा-सिद्ध वचन का प्रयोग
करे^{१४} और पाप का विवेक करने वाले
वचन का संधान करे ।^{१५}

२५.अहाहुइयाइं सुसिक्खएज्जा
अएज्ज या जाइवेलं वएज्जा ।
से विट्ठिमं विट्ठि न लूसएज्जा
से जानइ भासिउं तं समाधिं ॥

अथोक्तानि सुशिक्षेत,
यतेत च नातिवेलं वदेत् ।
स दृष्टिमान् दृष्टिं न लूषयेत्,
स जानाति भाषितुं तं समाधिम् ॥

२५. यथोक्त वचन को^{१६} सम्यक् प्रकार से
सीखे, उसे क्रियान्वित करे और मर्यादा
का अतिक्रमण कर न बोले ।^{१७} वह
दृष्टिमान् भिक्षु दृष्टि को झंडित या
दूषित न करे ।^{१८} ऐसा भिक्षु ही उस
कैवलिक समाधि को^{१९} कहने की विधि
जान सकता है ।

२६.अलूसए जो पञ्चण्णभासी
जो सुत्तसत्थं च करेज्ज अण्णं ।
सत्थारभत्ती अणुवीचि जायं
सुयं च सम्मं पडिवाइएज्जा ॥

अलूषकः नो प्रच्छन्नभाषी,
नो सूत्रमर्थं च कुर्याद् अन्यम् ।
शास्त्रभक्तिः अनुवीचि वादं,
श्रुतं च सम्यक् प्रतिपादयेत् ॥

२६. सिद्धांत को यथार्थरूप में प्रस्तुत करे,^{२०}
(अपरिणत को) रहस्य न बताए,^{२१} सूत्र
और अर्थ को अन्यथा न करे ।^{२२}
शास्त्रा की भक्ति^{२३} और परम्परा के
अनुसार^{२४} वाद (सिद्धान्त) और श्रुत
का सम्यक् प्रतिपादन करे ।^{२५}

२७.से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च
धम्मं च जे विवति तत्थ तत्थ ।
आएज्जवक्के कुसले बियत्ते
से अरिहइ भासिउं तं समाधिं ॥

स शुद्धसूत्रः उपधानवाचकः,
धर्मं च यो विन्दति तत्र तत्र ।
आदेयवाक्यः कुशलः व्यक्तः,
स अहंति भाषितुं तं समाधिम् ॥

२७. जो सूत्र का शुद्ध उच्चारण करता
है,^{२६} तपस्वी है,^{२७} धर्म को विविध
दृष्टिकोणों से प्राप्त करता है,^{२८}
जिसका वचन लोकमान्य होता है,^{२९}
जो कुशल^{३०} (आत्मज्ञ) है और व्यक्त
(परिणत) है, वह (ग्रन्थी या शास्त्रज्ञ
भिक्षु) उस कैवलिक समाधि का प्रति-
पादन कर सकता है ।

टिप्पण : अध्याय १४

श्लोक १ :

१. ग्रन्थ (परिग्रह) को (बंधं)

ग्रन्थ का अर्थ है—आत्मा को बांधने वाला तन्त्र ।^१

चूणिकार के अनुसार ग्रंथ के दो प्रकार हैं—द्रव्य-ग्रन्थ और भाव-ग्रन्थ । द्रव्य-ग्रन्थ सावध होता है । भाव-ग्रन्थ के दो प्रकार हैं—

प्रसस्तभावग्रन्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ।

अप्रसस्तभावग्रन्थ—प्राणातिपात आदि तथा मिथ्यात्व आदि ।^२

२. प्रव्रजित हो गुरुकुलवास में रहे (उद्गाय बंधमचेरं)

उत्पाय का अर्थ है—सम्यग् अनुष्ठान को स्वीकार करने के लिए उठकर अर्थात् प्रव्रजित होकर ।^३

सुब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं—^४

१. सुचारित्र ।

२. तौ गुप्तिमुक्त मैथुन-विरति ।

३. गुरुकुलवास ।

सूत्रकृतां २।५।१ में 'बंधमचेरं' की व्याख्या में चूणिकार ने आचार, आचरण, संवर, संयम और ब्रह्मचर्य को एकार्थक माना है ।^५

३. विनय का (विषयं)

विनय के अनेक अर्थ हैं—

१. भाषा का शुद्ध प्रयोग ।^६

२. आचार ।^७

३. विनय ।

यहां विनय का अर्थ है—आचार । शिष्य गुरु के प्रत्येक वचन को सम्यक् रूप से ग्रहण करे और उससे भावित होकर उसको

१. वृत्ति, पत्र २४८ : ग्रन्थते आत्मा येन स ग्रन्थः ।

२. चूणि, पृ० २२७, २२८ ।

३. चूणि, पृ० २२८ : उत्पायेति प्रव्रज्य ।

४. (क) चूणि, पृ० २२८ : लोचनं बंधमचेरं कतेज्जा सुचारित्रमित्यर्थः, गुप्तिपरितुष्टं वा मैथुनं बंधमचेरं वृण्वति, गुह्यावमूले जावच्छीवाए जाव अमुष्मन्तविहारं च वडिषण्वति ताव वसे ।

(ख) वृत्ति, पत्र २४८ ।

५. सूत्रयुगे २।५।१, चूणि, पृ० ४०३ : आचारोति वाऽऽचरणंति वा संवरति वा संयमोति वा बंधमचेरति वा एगद्वं ।

६. (क) वस्तुवैशालिखं, ७।१, विनयासचूणि पृ० २४४ : जं वासमानो धम्मं यातिक्कमह, एतो विनयो सव्वह ।

(ख) वही, हरिचरणीया वृत्ति, पत्र २१३ : विनयं शुद्धप्रयोगम् ।

७. वस्तुवैशालिखं, ६।२।१ : धम्मस्स विनजो सुत्तं ।

कार्य रूप में परिणत करे ।'

'विनय' शब्द के विविध अर्थों के लिए देखें—

१. दसवेअध्याय—७।१ टिप्पण, पृष्ठ ३४६ ।

६।१।१, टिप्पण, पृष्ठ ४२५, ४३० ।

४. (जे जेए ...)

संयम का पालन करता हुआ निपुण मुनि संयम या आचार्य के उपदेश में किसी भी प्रकार के प्रमाद का सेवन न करे । प्रमाद का अर्थ है—संयम में अनुद्यम । विप्रमाद का अर्थ है—जैसा कहना वैसा करना । वही मुनि निपुण होता है जो जैसा कहता है वैसा ही करता है ।

जैसे रोगी चतुर वैद्य के निर्देश का पालन करता हुआ रोगमुक्त होकर शांति और स्वास्था को प्राप्त करता है, वैसे ही साधु भी सावधान ग्रन्थों को छोड़कर पापकर्म को दूर करने वाली औषधि रूप प्रशस्तभावग्रन्थ या आचार्य-वचनों को स्वीकार कर कर्मरूपी रोग को हान्त करता है । इससे दूसरे साधुओं में उसकी प्रशंसा भी होती है और अशेष कर्मजय भी होता है ।'

श्लोक २ :

५. डंक आदि (डंकादि)

देखें—१।६२ का १२० वां टिप्पण ।

६. (डंकादि ...हरेज्जा)

उस पंखहीन शिशु को डंक आदि उठाकर ले जाते हैं । चूणिकार ने आदि शब्द से निम्न सूचनाएं दी हैं—चींटियां उसे खा डालती हैं, दूसरे पक्षी उसे मार डालते हैं, बच्चे उसे डराते हैं अथवा कौमा उसे उठाकर ले जाता है ।'

इस श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि जो मुनि एकलविहार प्रतिमा की साधना के लिए योग्य नहीं होता, गच्छ में कोई भी मुनि उसे एकलविहार प्रतिमा स्वीकार नहीं करवाता क्योंकि वह अभी तक उतने शास्त्रों को नहीं पढ़ पाया है जितने शास्त्र उसको पढ़ने चाहिए, तब वह आचार्य के उपदेश के बिना भी स्वच्छन्दता से गच्छ से बहिर्गमन कर एकलविहारी बन जाता है, तब वह अनेक दोषों का आसेवन करने वाला होता है । वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे पंखहीन पक्षी का बच्चा घोंसले से निकल कर उड़ने की चेष्टा करने पर दूसरों द्वारा मार दिया जाता है ।'

१. भूति, पत्र २४८ : विनीयते—अवनीयते कर्म येन स विनयस्तं सुष्ठु शिरोद्—विबध्वात् ग्रहणसेवनाभ्यां विनयं सम्यक् परिपालयेदिति ।

२. (क) भूति, पृ० २२८ : परलोकः स विप्रमादं प्रमादो नाम अनुद्यमः, (विप्रमादः) यथोक्तकरकम, यथाऽऽतुरः सम्यग्बोधोपपातकारी शांतिं लभते एवं साधुरपि सावधान्यपरिहारी पापकर्मभेदज्ञस्यापीयेन प्रशस्तभावग्रन्थेन कर्मानयशांतिं लभते ।

(ख) भूति, पत्र २४८ : 'जिको'—निपुणः स संयमानुष्ठाने सवाचार्योपदेशे वा विविधं प्रमादं न कुर्याद्, यथा हि आतुरः सम्यग्बोधोप-
देशं कुर्यात् इत्याद्यां लभते, योग्यजनं च, एवं साधुरपि सावधान्यपरिहारी पापकर्मभेदज्ञस्यानभूताभ्याचार्य-
वचनानि विप्रमदपरसाधुभ्यः साधुकारमशेषकर्मजन्यं वावाप्नोतीति ।

३. भूति, पृ० २२८ : डङ्कु वंशी, डङ्कु आदिर्वेषां ते यवति डंकादिभ्यो ज्यत्तराः, ज्यत्तराग्र इति अपभ्रंशः, हरेज्जा वा विनीतिकाओ य
वं काएज्जा, मारेज्जा वा यं वेडकमानि काडेज्जा वा जपि कानेनापि झिबते ।

४. (क) भूति, पृ० २२८ : जो पुत्र एगमविहारवडिमाए ज्यज्जलते, ज्यज्जलति केचि पुरिते अविज्जिणि (?ज्जे) जिगज्जंति अवितीर्यभूत-
महोदधी, यहा लसो तीर्थकरादिभिर्विजलतः तस्य पुज्याभावी होता अवति ।

(ख) भूति, पत्र २४६ : यः सुसप्तवसोर्गोपमगरेभ स्वच्छन्दतया यज्जलतिरस्य एककिविहारितां प्रतिपद्यते, स च बहुबोधमान् यवति
.....आवाधयेपुनिति ।

श्लोक ३ :

७. अपुष्ट धर्म वाला (अपुष्टधर्मे)

ब्रूणिकार ने इसको 'अपुष्टधर्मा' मानकर इसका अर्थ—अगीतार्थ किया है।^१

वृत्तिकार ने अपुष्टधर्मा का अर्थ—सूत्र और अर्थ से अनिष्पन्न—अगीतार्थ तथा ऐसा व्यक्ति जिसमें धर्म का परमार्थ सम्यक् रूप से परिणत नहीं हुआ है—किया है। इसी अध्ययन के तेरहवें श्लोक में भी इस शब्द का यही अर्थ किया है।^२

८. चारित्र्य को (वृत्तिम्)

ब्रूणिकार ने इसका अर्थ चारित्र्य किया है।^३ वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ 'वश्य' और वैकल्पिक अर्थ चारित्र्य माना है।^४

देखें—सूयचर ८।२० में 'वृत्तिमन्त्रो' का टिप्पण।

९. पाप धर्म वाले (पापधर्मा)

जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टि वाले और अविरत हैं, वे पाप धर्म वाले होते हैं। ब्रूणिकार ने ३६३ प्रावादुर्कों को इसके अन्तर्गत माना है।^५

वृत्तिकार के अनुसार सभी कुतीर्थिक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय से कलुषित होते हैं। वे सभी पापधर्मा कहलाते हैं।^६

१०. हर लेते हैं (हरिसु)

पाश्चात्त्य व्यक्ति अगीतार्थ मुनि के पास आकर उसको पथच्युत करने के लिए कहते हैं—'देखो, तुम्हारे जैन दर्शन में अग्नि-प्रज्वालन, विषापहार, चोटी कटाना आदि के विषय में कोई विश्वास नहीं है। अणिमा, लघिमा आदि आठ प्रकार की श्रद्धियां भी नहीं हैं। तुम्हारा मत न राजा आदि विशिष्ट पुरुषों के द्वारा आप्रित ही है। तुम्हारे आगमों में जो अहिंसा का विधान है वह दुःसाध्य है, क्योंकि समूचा लोक जीवों से आकुल है, व्याप्त है। तुम्हारे मत में स्नान आदि का विधान भी नहीं है। उसमें शीव के लिए कोई स्थान नहीं है।'^७

स्वजन, बन्धु-बान्धव आकर उस अगीतार्थ मुनि को कहते हैं—'आयुष्मन् ! तुम ही हमारे आधार हो, तुम्हारे बिना हमारा पोषण करने वाला दूसरा कोई नहीं है। तुम ही हमारे सर्वस्व हो। तुम्हारे बिना सारा संसार मूना है।'^८

इसी प्रकार स्त्रियां आकर उसे भोग का निमन्त्रण देती हैं और विविध प्रकार से उसे समयच्युत करने का प्रयत्न करती हैं।^९

श्लोक ४ :

११. गुरुकुलवास में (ओसाणं)

ब्रूणिकार ने 'अवसान' के दो अर्थ किए हैं—जीवनपर्यन्त अथवा गुरुकुलवास।^{१०} वृत्तिकार ने इसका अर्थ गुरुकुलवास

१. ब्रूणि, पृ० २२८ : न स्पृष्टो येन धर्मः स भवति अपुष्टधर्मे, अगीतार्थ इत्यर्थः।

२ (क) वृत्ति, पत्र २४६ : सूत्रार्थानिष्पन्नमगीतार्थम् 'अपुष्टधर्मा'—सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थम्।

(ख) सूयचर १४।१३, वृत्ति पत्र २४३ : अपुष्टधर्मे ... सूत्रार्थानिष्पन्नः अपुष्टः—अपुष्टकलः सम्यगपरिज्ञातः।

३ ब्रूणि, पृ० २२८ : वृत्तिम् नाम चारित्र्यम्।

४ वृत्ति, पत्र २४६ : ... वश्यम् ... यच्च वा 'वृत्तिम्' इति चारित्र्यम्।

५ ब्रूणि, पृ० २१८ : पापो येषां धर्मः—मिथ्यादर्शनं अविरतिश्च ते पापधर्माः मिश्रकादीनि तिष्ठन्ति तिसृषु पापधर्मसंज्ञाभिः।

६ वृत्ति, पत्र २४६ : पापधर्माः मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायकलुषितास्तस्मात्तान् कुतीर्थिकाः।

७ वृत्ति, पत्र २४६।

८ ब्रूणि पृ० २२६ : ओसाणमित्यवसानं जीवितावसानमित्यर्थः, अथवा ओसाणमिति स्थानमेव गुरुपाठयूने। उक्तं हि—आसन्नवयसोऽप्यपि मलिनस्तस्मिन्मरणमेवेति चेत्।

किया है।^१

आचार्य के निकट रहना गुरुकुलवास है। जो मुनि अन्यत्र रहता हुआ भी गुरु के निर्देशों का पालन करता है वह भी गुरुकुल-वासी माना जाता है। जो गुरु के अत्यन्त निकट रहकर भी उनके निर्देशों का पालन नहीं करता, व गुरु के निकट नहीं है, दूर है। वह गुरुकुलवास में नहीं है। गुरु के कालगत हो जाने पर वह किसी अन्य गीतार्थ के पास चला जाए।^२

१२. सतपु (मनुष्य)

यहां मनुष्य शब्द साधु के अर्थ में प्रयुक्त है।^३

पूर्विकार का अभिमत है कि जब तक मनुष्यत्व (मनुष्य-पर्याय) हो तब तक मुनि गुरुकुलवास में रहे।^४

वृत्तिकार का मानना है कि वही वास्तव में मनुष्य है जो अपनी प्रतिज्ञा का यथार्थ निर्वाह करता है। प्रतिज्ञा का यथार्थ निर्वाह गुरु के निकट रहकर समाधि का पालन करने वाला ही कर सकता है।^५

१३. (अणोसिते जंतकरे ति जन्म)

‘अणोसिते’ का संस्कृत रूप है—अनुवितः। इसका अर्थ है—जो गुरुकुलवास में नहीं रहता, जो अव्यवस्थित है, स्वच्छन्दा-चारी है।^६

जो मुनि गुरुकुलवास में नहीं रहता वह सब-संसार का अंत नहीं कर सकता।

वृत्तिकार के अनुसार जो स्वच्छन्दविहारी होता है, वह समाधि या यथाप्रविष्टात कार्य का पार पाने वाला नहीं होता।^७

पूर्विकार तथा वृत्तिकार ने यहां ‘बालुक बंध’ के दृष्टान्त की सूचना दी है। वह इस प्रकार है—

राजघराने में एक बंध था। वह भर गया। राजा ने लोगों से पूछा—क्या उसके कोई पुत्र था या नहीं। लोगों ने कहा—एक पुत्र है, परन्तु वह असिद्धित है। राजा ने उसे बुलाकर कहा—जाओ, विद्या का अध्ययन करो। राजा की आज्ञा पाकर वह अन्यत्र गया और एक बंध के पास विद्या-अध्ययन करने लगा। एक बार एक व्यक्ति अपनी बकरी लेकर बंध के पास आया। उसके गले में कुछ फंस गया था। गला सूज गया। बंध ने पूछा—यह कहा भर रही थी? उसने कहा—अमुक स्थान पर। बंध ने जान लिया कि इसके गले में ‘ककड़ी’ फंस गई है। बंध ने बकरी के गले पर एक कपड़ा बांधा और जोर से मरोड़ा, ककड़ी टूट गई वह गले से बाहर आकर गिर पड़ी। बकरी स्वस्थ हो गई।

उस बंधपुत्र विद्यार्थी ने यह देखा। उसने जान लिया कि यही बंध-क्रिया है, बंधक रहस्य है। वह वहां से चला और राजा के पास आ गया। राजा ने कहा—‘बंध-विद्या का अध्ययन कर लिया? उसने कहा—हां। राजा ने कहा—बहुत शीघ्रता से तुमने ज्ञान कर लिया। तुम मेघावी हो। राजा ने उसका सत्कार किया। एक बार रानी के गले में गांठ (गलगंध) उठी। उस बंधपुत्र को बुला भेजा। उसने गले की गांठ देखी। अपने शिक्षक बंध की बात उसे स्मृत हो आई। उसने रानी के गले में कपड़ा बांधा और जोर से मरोड़ा। रानी मर गई। तब राजा ने दूसरे बंधों से पूछा—क्या इसने शास्त्र के अनुसार चिकित्सा की है अथवा अशास्त्र के अनुसार? बंधों ने कहा—अशास्त्र के अनुसार। राजा ने उसे शारीरिक दण्ड देकर विसर्जित किया, निकाल दिया।

१. वृत्ति, पत्र २४६ : अवसानं—गुरोरन्तिके स्थानं।

२. पूर्विकार, पृ० २०३ : अन्यत्रापि हि वसन् जो गुरुनिर्देशं वहति स गुरुकुलवासमेव वसति, अनिर्देशवर्ती तु सस्निग्धोऽपि दूरस्थ एव, लोकेऽपि सिद्धा प्रत्यक्ष-परोक्षा सेवा। आह व—“कामकोशावनिर्दिष्ट, किमार्थं करिष्यति? कालगतेऽपि गुरो अवहायेन वीतार्थेन चाप्यत्र यत्तद्वन्।

३. वृत्ति, पत्र २४६ : मनुष्यो—मनुष्य साधुरित्यर्थः।

४. पूर्विकार, पृ० २२६ : मनुष्य इति शास्त्रमनुष्यत्वमस्य तावद्विच्छति वसितु।

५. वृत्ति, पत्र २४६ : स एव च वरमार्थतो मनुष्यो यो यथाप्रतिज्ञां निर्वाहयति, तत्र तदा गुरोरन्तिके व्यवस्थितेन सवन्मुक्तानकम् समाधि-मनुष्यावयता विधीयते नाम्ना।

६. (क) वृत्ति, पृ० २२६ : न उचितः गुरुकुलेऽपि अनुवितः।

(ख) वृत्ति, पत्र २४६ : गुरोरन्तिके ‘अनुवितः’—अव्यवस्थितः स्वच्छन्दविहारी।

७. वृत्ति, पत्र २४६ : समाधिः सवन्मुक्तानककम् कर्मो यथाप्रतिज्ञातम् वा शास्त्रकरो वधतोत्येवं ज्ञात्वा तदा गुरुकुलवासोऽनुसर्तव्यः।

८. गुरुकुलवास्य साक्षा ३७६, पृ० ११३, ११२।

१४. साधु के (द्विविधस्त)

श्रुणिकार ने इसको तीर्थंकर का वाचक माना है ।^१

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. मुक्तिगमन योग्य साधु ।
२. रागद्वेष रहित व्यक्ति ।
३. सर्वज्ञ ।

१५. वित्त (या वृत्त) पर (वित्तं)

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—वित्त या वृत्त । वित्त का अर्थ है—ज्ञान । इसका वैकल्पिक अर्थ है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य । वृत्त का अर्थ है—अनुष्ठान ।^२

इस पूरे चरण का तात्पर्य यह होगा—

जो मुनि आचार्य के पास रहता है, आचार्य समय-समय पर उसके ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य को प्रकाशित करते हैं । वह मुनि वादी है, धर्मकथी है, विमुक्त चारित्र्य वाला है या तपस्वी है—इसको प्रकाशित करते हैं, उसे इस ओर बढ़ने में प्रेरित करते हैं ।

जब मुनि इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होकर पथ-भ्रष्ट होने लगता है या कषाय के बन्दी-भूत हो जाता है तब आचार्य उस पर अनुशासन करते हुए कहते हैं—ऐसा मत करो ।^३

१६. अनुशासन करता है (अनुशासमाने)

श्रुणिकार ने 'अवभाष' के दो अर्थ किए हैं—प्रकाशित करना, अनुशासन करना ।^४

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—उद्भासित करता हुआ, अनुष्ठान का सम्यग् पालन करता हुआ—किया है ।^५

१७. आशुप्रज्ञ सिध्य (आशुपण्णो)

इसका अर्थ है—शीघ्र प्रज्ञा वाला अर्थात् प्रतिक्षण जागरूक ।^६

प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय अनुस्कंध के ५।१ में आशुप्रज्ञ शब्द प्रयुक्त है । वहां श्रुणिकार ने इसका अर्थ—केवली, तीर्थंकर^७ और वृत्तिकार ने पटुप्रज्ञा वाला, सदसद्विवेकज्ञ किया है ।^८

साधना की दृष्टि से प्रतिक्षण जागरूक व्यक्ति आशुप्रज्ञ होता है । यह अभ्रमत्त अवस्था का सूचक है । तात्पर्य में यह भीतराग अवस्था का सूचक है ।

श्लोक ५ :

१८. श्लोक ५ :

श्रुणिकार ने प्रस्तुत श्लोक को छठा श्लोक और छठे श्लोक को पांचवा श्लोक मानकर व्याख्या की है ।

१. श्रुणि, पृ० २२६ : द्विविधस्त ... नाम द्वेषरहितत्वात् तीर्थंकर एव जगज्जान् ।
२. वृत्ति, पत्र २५० : द्वेषस्य—मुक्तिगमनयोग्यस्य सत्साधो रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य वा ।
३. श्रुणि, पृ० २२६ : ज्ञानधना हि साधवः इति कुर्या वित्तं ज्ञानमेव, ज्ञानवर्तनचारित्र्याणि वा ।
४. वृत्ति, पत्र २५० : वृत्तम् अनुष्ठानम् ।
५. श्रुणि, पृ० २२६ ।
६. श्रुणि, पृ० २२६ :प्रकाशयति—वादी वा धर्मकथी वा विमुक्तचारित्र्यो वा तपस्वी वा ।
७. वृत्ति, पत्र २५० : 'अवभासयन्'—उद्भासयन् सम्यग्वृत्तिष्ठन् ।
८. श्रुणि, पृ० २२६ : आशुप्रज्ञ इति क्षिप्रप्रज्ञः ज्ञान-जव-सुहृत्प्रतिबुध्यमानता ।
९. श्रुणि, पृ० ४०३ : आशुपण्णो—आशु प्रज्ञा यस्य भवति स आशुप्रज्ञो, केवली तीर्थंकर एव ।
१०. वृत्ति, पत्र ११६ : आशुप्रज्ञः पटुप्रज्ञः सदसद्विवेकज्ञः ।

वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरणों की व्याख्या इस प्रकार है—

जो मुनि स्थान का सम्यक् प्रतिलेखन और प्रमाजन करता है, बिड़ोने पर सोते समय जाग्रत अवस्था में सोता है, आसन पर बैठते समय उन पीठ, फलक आदि का सम्यक् प्रतिलेखन करता है और आसनों को कब ग्रहण करना चाहिए, कब उनका उपभोग करना चाहिए—इसका विवेक रखता है, पांच प्रकार की निषद्याएँ—परंकादि का उपभोग करता है तथा जो प्रत्येक प्रवृत्ति में संयत रहता है, वह सुसाधु युक्त (सुसाधु की क्रिया से युक्त) होता है।^१

वृत्तिकार के अनुसार इन दो चरणों की व्याख्या इस प्रकार है—

जो मुनि स्थान की दृष्टि से सदा गुरुकुलवास में रहता है तथा ध्यान, आसन, गमनागमन और तपश्चरण में पराक्रम करते समय उद्यतविहारी मुनियों के साथ रहता है वह सुसाधु युक्त होता है। वह मेघ पर्वत की भांति निष्प्रकम्प तथा शरीर से निःस्पृह होकर कायोत्सर्ग करता है। सोते समय वह शयनभूमी, बिड़ोना और शरीर का सम्यक् प्रतिलेखन करता है और गुरु की आज्ञा प्राप्त कर, गुरु द्वारा निश्चित समय में सोता है। सोते समय भी वह जागते हुए की भांति सोता है। आसन पर बैठते समय भी वह अपने शरीर को संकुचित और संयत कर, स्वाध्याय तथा ध्यान की मुद्रा में बैठता है।^२

१९. आगमप्रज्ञा (आवयवज्ञे)

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'आगमप्रज्ञा' दिया है।^३ इसका अर्थ है—प्रज्ञावान्, कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से युक्त।^४

२०. बहुत अच्छे ढंग से (पुढो)

वृत्तिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ फलित होते हैं—

१. विस्तार से।
२. प्रत्येक को।
३. परस्पर।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—पृथक्-पृथक् रूप से अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार से—किया है।^५

श्लोक ६ :

२१. मुनि प्रशंसा या कठोर शब्दों को सुनकर (सहाणि ... भैरवाणि ।)

शब्द दो प्रकार के होते हैं मनोज और अमनोज, कर्णप्रिय और कर्णकटु। स्तुति, वन्दना, आशीर्वाचन, निमन्त्रण आदि के शब्द मनोज होते हैं। इसी प्रकार वेणु, वीणा आदि वाद्यों के शब्द भी कर्णप्रिय होते हैं।

जो शब्द भय उत्पन्न करते हैं वे भैरव कहलाते हैं। वे अप्रिय होते हैं। इसी प्रकार खर, परुष और निष्ठुर शब्द भी अप्रिय होते हैं।^६

१. ठाणं ५/५०।

२. वृत्ति, पु० २२६, २३०।

३. वृत्ति, पञ्च २५०।

४. (क) वृत्ति, पु० २३० : आगता प्रज्ञा यस्य स भवति आगतप्रज्ञः।

(ख) वृत्ति, पञ्च २५० : आगता—उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावागतप्रज्ञा—संज्ञात-कर्तव्याकर्तव्यविवेकः स्वतो भवति।

५. वृत्ति, पु० २३० : पुढो विस्तरतः कथयति, पुढो—यतिबोधिञ्च स्वयम्, ... अथवा पुढो ति परस्पर बोधयति।

६. वृत्ति, पञ्च २५० : ... पृथक् पृथक्।

७. (क) वृत्ति, पु० २२६ : कर्णकटुस्तुत्यासीद-विमर्शनासीत् तथोक्तेऽनासीत्। ... नयं कुर्वन्तीति भैरवाणि, तद्यथा—खर-परुष-निष्ठुर-भैरवादीनि।

(ख) वृत्ति, पञ्च २५० : सध्वान् केनहीन-विकृत-प्रसुरान् श्रुतिवैकल्यान् ... भैरवान्—नवाग्रहान् कर्णकटून्।

२२. मध्यस्थ (अनाश्रय)

अनाश्रय का अर्थ है—राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति । जो मध्यस्थ या राग-द्वेष रहित होता है वह अनाश्रय कहलाता है ।

शब्दों को अच्छे या बुरे रूप में ग्रहण करना आश्रयण है । इसके विपरीत जो शब्द आदि के प्रति राग-द्वेष नहीं करता, उनके विषयों में मध्यस्थ रहता है, वह अनाश्रय होता है ।

चूणिकार ने 'अनाश्रय' पाठ माना है । उसके संस्कृत रूप तीन हो सकते हैं—अनाशय, अनाश्रय और अनाश्रय ।

२३. निद्रा (निद्रा)

निद्रा प्रमाद का एक प्रकार है । भिक्षु दिन में सोकर नींद न ले । जिनकल्पी मुनि के लिए यह विधान है कि वह रात्री में भी दो प्रहर से ज्यादा नींद नहीं लेता । बहुत थोड़ी नींद लेने वाला भी शरीर-धारण के लिए नींद लेता है, क्योंकि नींद परम विद्या है ।

२४. कैसे होगा ? कैसे होगा ? (कहं कहं)

क्या मैं अपनी प्रवृत्ति को जीवन भर नहीं निष्ठा पाऊंगा ? क्या मुझे समाधि-मरण प्राप्त नहीं होगा ? मैं जो साधना करता हूँ उसका कुछ फल होगा या नहीं ? इस प्रकार का चिन्तन करना ।

२५. विचिकित्सा को (वित्तिगिच्छ)

विचिकित्सा का सामान्य अर्थ है—संदेह, शका । साधक अपनी साधना के प्रति संदेहशील न रहे । वह निर्यन्त्र प्रवचन के प्रति भी निःशंक रहे । वह यही माने—'तमेव सच्चं निस्तकं ज जिणेहि पवेइयं ।' वह प्रवचन करते समय तथा अन्यकाल में भी इस सूत्र को याद रखे । वह ऐसा प्रवचन न करे जिससे दूसरों के मन में विचिकित्सा उत्पन्न हो ।

इसलोक ७ :

२६ (जन्म-पर्याय से) छोटे-बड़े तथा (दीक्षा-पर्याय से) छोटे-बड़े (उहरेण बुद्धेन)

'बहर' का अर्थ है छोटा और 'बुद्ध' का अर्थ है बड़ा । प्रस्तुत प्रसंग में दीक्षा-पर्याय और अवस्था की दृष्टि से छोटे-बड़े का उल्लेख किया गया है ।

चूणिकार और वृत्तिकार ने 'बहर' के साथ जन्म-पर्याय और दीक्षा-पर्याय को जोड़ा है । चूणिकार ने बुद्ध के साथ अवस्था का और वृत्तिकार ने अवस्था और श्रुत—दोनों का संबंध जोड़ा है ।

२७. रात्तिक (रात्तिणिपुण)

'रात्तिक' का साम्प्रदायिक अर्थ है—दीक्षा-पर्याय में बड़ा । चूणिकार ने आचार्य, दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ तथा प्रवर्तक, यमी, मणधर, गणावच्छेदक और स्थविर को 'रात्तिक' शब्द के अन्तर्गत गिनाया है ।

१. चूणि, पु० २२१ ।

२. चूणि, पु० २२१ : दिवसतो ज निहायति, रत्ति पि बोहि आमे जिनकल्पी, एकागतं पि तज्जुणिहो सरीरधारणार्थं स्वयमिति, निद्रा हि वरसं विमाननम् ।

३. चूणि पु० २२१ : कथं कथमिति, किमहं पण्डितं ज निरपरेण ? समाधिमरणं ज लभेण ? अथवा कथं कथमिति सत्त्वगुणधीर्-स्थाय कि फलमस्ति नास्ति ?

४. चूणि पु० २२१ ।

५. (क) चूणि, पु० २३० : उहरो जन्म-पर्यायाणाम् ।

(ख) वृत्ति, वच २५१ : वयः पर्यायाण्यां भुल्लेन-लघुना ।

६. (क) चूणि, पु० २३० : बुद्धो वयसा ।

(ख) वृत्ति, वच २५१ : 'बुद्धेन वा' कपोलिकेन भुताधिकेन वा ।

७. चूणि, पु० २३० : रात्तिको आचरिओ वरियाएण वा पवसगार्हण वा पण्णानामगगतमेन ।

वृत्तिकार ने दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ तथा श्रुत में विशिष्ट मुनि को 'रात्रिक' माना है ।'

वेत्ते ससवेमालियं १।३।३।

२८. सह-दीक्षित के द्वारा (समव्यय)

इसका अर्थ है—दीक्षा-पर्याय अथवा अवस्था में समान ।' हमने इसका संस्कृत रूप 'समव्रतेन' और अर्थ सहदीक्षित किया है । पूर्णि और वृत्ति के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'समवयसा' होता है । 'समवयस्' का प्राकृत रूप 'समवय' होता है । यहां वकार का द्विबीकरण छन्द की दृष्टि से माना जाए तभी इसका 'समव्यय' रूप बन सकता है । रात्रिक के संदर्भ में 'समव्यय' का अर्थ समव्रत अधिक संगत प्रतीत होता है ।

२९. स्थिर रूप में (विरजो)

इसका अर्थ है—प्रमाद के प्रति सावधान किए जाने पर प्रमाद पुनः न दोहराना ।'

३०. (विज्जंतए.....अपारए से)

'नीयमान' का अर्थ है—ले जाया जाता हुआ, अनुशासित किया जाता हुआ ।'

कोई व्यक्ति नदी की धारा में बहता जा रहा है । कोई उसे कहता है—'भाई ! तुम वेग से बहते हुए इस काठ का, सरकने के स्तब का या वृक्ष की शाखा का मुहूर्त्त मात्र के लिए अवलंबन लो । तुम पानी में डूबने से बच कर पार पा जाओगे ।' ऐसा कहने पर वह उस पर कुपित होता है और बंसा नहीं करता । वह व्यक्ति नदी में डूब कर मरता है, कभी उस पार नहीं जा पाता ।

इसी प्रकार प्रमादोत्तरण करने वाले मुनि को आचार्य बार-बार सावधान करते हैं और उसे मोक्ष-मार्ग की ओर अप्रसर करने का प्रयत्न करते हैं । किन्तु वह कषाय के वशीभूत होकर उनके उपदेश को स्वीकार नहीं करता । अथवा अन्य मुनियों द्वारा सावधान किए जाने पर वह अहं से परिपूर्ण होकर सोचता है—'ये छोटे और अल्पश्रुत मुनि भी मुझे सावधान कर रहे हैं ।' ऐसा व्यक्ति कभी संसार का पार नहीं पा सकता ।'

इसोक्त ८ :

३१ किसी सिधिलाचारी व्यक्ति के द्वारा समय (धार्मिक सिद्धान्त) के अनुसार (विउट्टितेणं समयानुसिद्धे)

व्युत्थित का अर्थ है—संयम के प्रतिकूल आचरण करने वाला । व्युत्थान चित्त की चंचल अवस्था है । पातजल योगदर्शन में व्युत्थान-संस्कार निरोधसं-स्कार का प्रतिपक्षी है ।' व्युत्थान धर्म की प्रधानता वाला व्युत्थित व्यक्ति संयम से विचलित हो जाता है, इसलिए उसकी संज्ञा व्युत्थित है । वह स्वतीक्ष्ण भी हो सकता है और परतीक्ष्ण भी । कोई मुनि प्रमाद का आचरण करता है । वह ईर्ष्या-समिति का सम्मग्न मोक्षन न करता हुआ त्वरित गति से चल रहा है । तब व्युत्थित व्यक्ति उसे कहता है—'मुने ! ऐसा चलना

१. वृत्ति, पत्र २५१ : रत्नाधिकेन वा प्रवक्ष्यापर्यायाधिकेन श्रुताधिकेन वा ।

२. पूर्णि, पु० २३० : समवयो वरिषाएण वयसा वा ।

३. (क) पूर्णि, पु० २३० ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५१ : समवयसा वा ।

४. पूर्णि, पु० २३० : विरं नाम अं अपुनवकारयाए अणुद्वेति ।

५. वृत्ति, पत्र २५१ : नीयमानः—उत्तमानोऽनुशास्यमानः ।

६. पूर्णि, पु० २३० : यथा नदीपुटेण हिममाणः केनचिदुक्तः—इत्थं पुरकाणं अवलम्बस्व सरस्तन्वं वृत्ताकां वा मुहूर्त्तमात्रं चाऽपमानं धारय, इत्युक्ती कथ्यति न वा करोति, अनुज्यते स हि अपारये जयति, पारं गच्छतीति पारगः, एवं समिजो वि । अथवा विर्यज्जसमिजाऽऽपुरः न रागपारं गच्छति । अथवा विज्जंतए इति विज्जंततो, स हि आचार्येर्मांसं प्रति नीयमावोऽपि सम्मग्नवसेः पक्षिजोअवाहि व य पारं गच्छति संसारस्व कषायवशात्, अहं वि जोद्वज्जामि उहरेहि अणुद्वेति व ।

७. पातजलयोगदर्शन ३।१

तुम्हारे लिए योग्य नहीं है, क्योंकि तुम्हारे आगमों में यह प्रतिपादित है कि मुनि युग-प्रमाण भूमि को देखता हुआ धीरे-धीरे चले ।'

इस प्रकार व्युत्थित के द्वारा आगम-प्रमाण पुरस्सर अनुशासित होने पर समता में रहना मुनि का सामायिक धर्म है ।

३२. किसी पतित घटदासी के द्वारा (अभ्युद्धिताए घटदासिए)

अभ्युत्थित का अर्थ है—तत्पर होना । प्रकरणवश अभ्युत्थित का अर्थ दुःशील के आचरण में तत्पर किया गया है ।'

घटदासी का अर्थ है—पाती लाने वाली दासी । घटदासी के द्वारा भी प्रमादाचरण के प्रति सावधान किए जाने पर समता में रहना मुनि का सामायिक धर्म है । घटदासी के विषय में यह कथन है तो भला अल्पशील वाले व्यक्ति के द्वारा कहने पर तो अस्वीकार करने की बात ही नहीं होनी चाहिए ।

वह घटदासी सर्पिणी की भांति फुफकार करती हुई मुनि को सावधान करते हुए कहे—'अरे ! क्या तुम ऐसा कर सकते हो ?

अथवा अत्यन्त पतित दासदासी भी सावधान करे तो मुनि ऐसा न कहे—'तुम अपने ही सच कह रही हो, परन्तु मुझे कहने वाली तुम कौन हो ?'

'घटदासिए'—यह शब्द 'घटदासीए' होना चाहिए था । किन्तु छन्द की दृष्टि से लृङ्ग का प्रयोग किया है ।

३३. (अगारिणं वा समयाचुसिद्धे)

अगारी अर्थात् घर-गृहस्थी, चाहे फिर वह स्त्री, पुरुष या नपुंसक हो ।'

प्रस्तुत प्रसंग में 'समय' का अर्थ है—सामाजिक-शास्त्र ।

गृहस्थों के सारे अनुष्ठान सामाजिक-शास्त्र के द्वारा अनुशासित होते हैं । प्रमादाचरण करने वाले मुनि को गृहस्थ कहता है—'मुने ! गृहस्थ के लिए भी ऐसा आचरण करना विहित नहीं है और आप ऐसा आचरण कर रहे हैं ?'

३४. श्लोक ८ :

प्रस्तुत श्लोक में 'समय' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है । यहां अनुशासन का प्रयोग करने वालों के चार युगल हैं -

१. स्वपक्ष और प्रतिपक्ष के व्युत्थित ।

२. बच्चे या बूढ़े ।

३. घटदासी ।

४. गृहस्थ ।

१. भूमि, पृ० २३० : विउद्धिनो जाम विगुतो, यवा व्युत्थितवरः—व्युत्थितोऽस्य विषयः सम्पत्, व्युत्थिताः समयविप्रतिपक्षा इत्यर्थः । पार्श्वस्थादीनामग्रतमेन वा वञ्चित् प्रमादाचरणानुर्योग वा स्वरितस्वरितं गच्छन् 'अथा तुभं न ब्रूति तुरितं गतुं, कतं कोडगादीनि न हिस्र ? वस्तिहिस्तु वा । एवं मूलगुणेषु वा उत्तरगुणेषु वा विराधनाए अण्णतरेण वा समवे-नाऽनुशास्त—न तुभं ब्रूति एवं कातं, कुअंतरयलोअजेण होतव्वं ।

(क) वृत्ति, पत्र २५१ ।

२. (क) भूमि, पृ० २३० : अतोव उरिषता अभ्युद्धिता, कुत्रोत्थिता ? दोःसीत्ये ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५१ : अतीवाकार्यकरणं प्रति उरिषता ।

३. भूमि, पृ० २३० : घटदासीप्रहणं नीसे वि ताव जोविज्जंते वा वस्तिस्सव्वं, किं पुण जो तज्जुआणि वि सीलानि घरेसि ? अथवा अभ्युद्धिता सा ब्रह्मद्विता भुमंगीव धनधर्मेतो द्दुवा जं जजेति—तुभं ब्रूति एवं कातु ? अथवा अभ्युद्धिते सि पडिपमव्वयजेण गत, अग्रगुणस्सोवत् पुण्वः, तज्जुआ—दासदासी वस्तिस्सोऽपि पतितता ता वि जोवति नं वत्तव्व्या—सच्चा वि ताव तुमं का होसि मजं जोवेत्तु ?

४. भूमि, पृ० २३० : अगारिणं ति स्त्री-पुं-नपुंसकं वा

५. वृत्ति, पत्र २५१ : गृहस्थानामपि एतन्न युज्यते कर्तुं अवारब्धं जयता ।

पहले युगल के संदर्भ में 'समय' का अर्थ 'आगम' तथा शेष तीन के संदर्भ में 'समय' का अर्थ 'भौतिक सिद्धान्त' किया गया है। प्रसन्नवश यह उचित प्रतीत होता है।

इसलोक ६ :

३५. क्रोध न करे (य...कुण्डे)

दूसरे के द्वारा दुर्वचन कहने पर वह मुनि सोचे—

‘आक्रुष्टेन मतिमता, तत्कारणविचारणे मतिः कार्या ।

यदि सत्यं कः कोचः, श्वावन्तं किं नु कोचेन ? ॥

—‘कोई व्यक्ति आक्रुष्ट हो तब वह उसके आक्रोश करने के कारणों को खोजे। यदि आक्रोश करने का कारण उपस्थित है तो उस पर क्रोध क्यों किया जाए ? यदि आक्रोश व्यर्थ ही हो रहा है तो उससे क्या, उस पर क्रोध क्यों किया जाए ?’

३६. चोट न पहुंचाए (पञ्चहेज्जा)

इसका अर्थ है—‘तकड़ी, पत्थर या ईंट आदि से मारना, चोट पहुंचाना ।’

३७. (तहा करिस्सं सेयं नु मेयं)

अनुशासन किए जाने पर कोप करना, व्यथित करना और परुष वचन बोलना—ये वर्जित हैं। अनुशासन के उत्तर में दो वाक्यों का प्रयोग होना चाहिए—(१) तहा करिस्सं और (२) सेयं नु मेयं।

पूर्णिकार के अनुसार ‘तथा करिष्यामि’—वैसा करूंगा—यह स्वपक्ष में ‘मिच्छामि तुक्कड’ के समान तथा पर-पक्ष वालों के लिए—‘अथः खलु भम’—‘यह मेरे लिए अथ है’—यह कहना उचित है।

वृत्तिकार ने स्व-पक्ष या पर-पक्ष का विभाजन नहीं किया है।

इसलोक १० :

३८. अमूढ व्यक्ति (अमूढा)

इसका अर्थ है—‘सही मार्ग का जानकार। वह पथदर्शक जो सही-सही जानता है कि कौन-सा मार्ग किस ओर जाता है।’

३९. मार्ग दिखलाते हैं (मग्गामुसांसति)

यहां दो पदों—मग्ग + अणुसांसति में संधि हुई है। इसका अर्थ है कि पथदर्शक उस दिग्मूढ पथिक को सही मार्ग दिखाता है। वह कहता है—‘तुम इस मार्ग से चलो, अपने गन्तव्य तक पहुंच जाओगे। यह मार्ग तुम्हारे लिए हितकर और क्षेमकर है। इस

१. वृत्ति, पत्र २५१ : अविदितः स्वसमयेन, तत्तथा—नेवंविधमणुष्ठानं चत्तमागमे व्यवस्थितं येनाजिप्रवृत्तोऽसि । यदि वा व्युत्थितः—संयमाद् अष्टस्तेनापरः साधुः स्फुलितः सन् स्वसमयेन—अहंस्वधीताममानुसारेणानुसांसितः ।

२. वृत्ति, पत्र २५१ : नुहस्वार्ता यः समसः अणुष्ठानं तत्समयेनानुसांसितः ।

३. वृत्ति, पत्र २५२ ।

४. (क) वृत्ति, पु० २३१ : कटु-ओहु-इहाधीहि ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५२ : प्रकर्षेण ‘व्यवेद्’—इहाविप्रहारेण पीडयेत् ।

५. वृत्ति, पु० २३१ : सपक्वेण वा ओसक्वेण अविदितो भवति—को तुभं समुद्दे वा बोधेत् भवति ? तथा करिस्सं ति सपक्वे मिच्छामि तुक्कडं, परपक्वे भवेत्तुक्कडः ।

६. वृत्ति, पत्र २५२ : सर्वेवायमसकमुत्कायिनी बोधो येनायमपि मायेवं बोधयति, अविदितश्चेवंविधं भवता असवाचरणं न विज्ञेयमेवंविधं न पूर्वविचिरनुष्ठितमणुष्ठेवमित्येवंविधं वाक्यं तथा करिष्यामीत्येवं मध्यस्वन्त्या प्रतिशृणुयाद् अणुतिष्ठञ्च-मिच्छानुष्ठानादिना मिथर्सेत, यदेतच्छोचनं नामैतत्समयैव अथः ।

७. वृत्ति, पत्र २५२ : अमूढाः सवत्तमार्गसः ।

मार्ग में फलों से लदे वृक्ष तथा स्थान-स्थान पर जल के सरोवर हैं। इस मार्ग पर चलते हुए तुम्हें भूख-प्यास से पीड़ित नहीं होना पड़ेगा।'

४०. सही मार्ग बता रहे हैं (सम्भङ्गसासयंति)

यहां दो पदों— सम्भ+अणुसासयंति में संधि हुई है। चूर्णिकार ने सम्भक् का अर्थ श्रुजु और अनुशासना का अर्थ—मार्गों-पदेसना किया है।'

श्लोक ११ :

४१. महावीर ने (वीरे)

वृत्तिकार ने 'वीर' शब्द से तीर्थंकर अथवा गणधर आदि का ग्रहण किया है।'

४२. (एतोर्वन्..... उच्चयेद् सम्भं)

गन्तव्य स्थान प्राप्त कर लेने पर दिग्भूत व्यक्ति अपने मार्ग-दर्शक की कुछ विशेष पूजा करता है, उसका सम्मान करता है। फिर चाहे पथदर्शक चाण्डाल, पुलिन्द, गन्ध, गोपाल आदि ही क्यों न हो और स्वयं उससे विशिष्ट जाति या बलोपेत भी क्यों न हो। वह यह सोचता है— इस पथदर्शक ने मुझे दुर्य आदि दुर्लभ स्थानों तथा हिंस पशुओं के भय से बचाकर निबिघ्न रूप से गन्तव्य तक पहुंचाया है। मुझे इसके प्रति विशेष कृतज्ञ होना चाहिए। इसने जो मेरी सहायता की है, उससे भी अधिक मैं इसे कुछ दू। ऐसा सोचकर वह उस मार्ग-दर्शक को वस्त्र, अन्न, पान तथा अन्य भोग-सामग्री स्वयं देता है।

यह एक दृष्टान्त है। धर्म के क्षेत्र में भी साधक के लिए अपने मार्ग-दर्शक के प्रति विशेष पूजा का व्यवहार करणीय है। अपने आचार्य को आहार आदि लाकर देना द्रव्य-पूजा है। उनकी भक्ति और गुणानुवाद करना भाव-पूजा है।

प्रस्तुत श्लोकगत अर्थ को भलीभांति समझकर मुनि उसको अपने पर घटित करे। वह यह सोचे—गुरु ने अपने सद् उपदेशों के द्वारा मुझे मिथ्यात्व रूपी वन से तथा जन्म-मरण आदि अनेक उपद्रव-बहुल अवस्थाओं से बचाया है। ये मेरे परम उपकारी हैं। मुझे इनके प्रति बहुत कृतज्ञ रहना चाहिए। अम्भुत्थान आदि विनय प्रदर्शित कर मुझे इनकी पूजा करनी चाहिए।

मुनि चाहे चक्रवर्ती ही क्यों न रहा हो और आचार्य यदि तुच्छ जाति के भी हों, तो भी मुनि का कर्तव्य है कि वह आचार्य के प्रति पूर्ण कृतज्ञ रहे, उनकी विशेष पूजा करे।

दिग्भूत मुनि को सत्पथ पर लाने वाले आचार्य उसके परमबन्धु होते हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहां दो पद्य उद्धृत किए हैं—

'जो व्यक्ति चलते हुए घर में सोए हुए व्यक्ति को जगाता है, वह उसका परमबन्धु होता है।'

'कोई अज्ञानी व्यक्ति विष-मिश्रित भोजन करता है और ज्ञानी उसे विष बता देता है, वह उसका परमबन्धु होता है।'

१. चूर्ण, पृ० २३१ : दिग्भूतस्य उत्पन्नप्रतिपत्तस्य वा अमूढः कश्चित् पुमान् अन्यो ग्रामो वा अभिसं गच्छतो मार्गं कथयति—यथा कथयामि तथा तथाऽऽ मार्गं ईप्सितां मुचं गच्छामि, अनुशासन्तो यदि उन्मार्गापायान् वसंयित्वा ज्ञवीति—अयं ते ज्ञानो हितः क्षेत्रः अकुटिलरत्नादितः फलोन्मार्गादिबुद्धिजलोपेतत्वाच्च।

२. चूर्ण, पृ० २३१ : सम्भं उच्चयन्, न वा द्वेषेन, अनुशासना नाम मार्गोपदेशानेव।

३. वृत्ति, पृ० २५२ : वीरः—तीर्थंकरोऽप्यो वा तत्पथराशिकः।

४. (क) चूर्ण, पृ० २३१ : ततः तेन सूतेनेद्वारेण वा अमूढस्येति वेशिकस्य, यद्यपि चाण्डाल-पुलिन्द-गन्ध-गोपालादि च तस्यापि तेन निस्तीर्णकामतारेण सता तत्पथपुरुषा कायव्या पूया सवितेसपुता, अहमनेन दुर्गात्स्वायवभयादिबोवेभ्यो योजित इत्यतोऽप्य कृतज्ञत्वात् प्रतिपूजां करोमि। विशेषपुक्ता नाम यावती ये तेन पूजा कृता अतो अस्याधिकं करोमि, तच्च वा अस्मात्प्रधानं भोगप्रदानं च राजा वच्चात्।

तेनापि मिथ्यात्वबन्नाद् उत्तरस्तेन अम्भुत्थानादि सबितेवा पूजा कर्तव्या, यद्यप्यसौ चक्रवर्ती निष्कण्टः आचार्यवत्पुण्यः कुमादिजातः। इध्यपूजा आहारादि भावे भक्तिः वर्णवादश्च। वार्तास्त्वय्येऽपि बुद्ध्यागताः। तच्च वा—

'तेहे चि अग्निकाणाउलम्भि, जलमाण-उत्तममाणम्भि।

जो बोधेति सुबंछु, सो तस्स ज्ञानो वरमबंछु॥

जल वा वित्तसंयुतां, जत्तं मिद्विह ओत्तुकाभस्स।

जो वित्तबोत्तं साहति, सो तस्स ज्ञानो परमबंछु॥

(ख) वृत्ति, पृ० २५२।

श्लोक १२ :

४३. (अर्थ ज.....)

एक अटबी है। वह गदों, पत्थरों, कन्दराओं तथा वृक्षों से युग्म है। ऐसी अटबी से प्रतिदिन आने-जाने के कारण कोई व्यक्ति उसकी पगड़बड़ियों से परिचित हो जाता है। किन्तु वह भी उस अटबी में अक्षरों के कारण पूर्व परिचित पगड़बड़ियों को भी नहीं देख पाता।^१

श्लोक १३ :

४४. अपुष्ट धर्मशास्त्र (अपुष्टधर्मे)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'अपुष्टधर्मा' किया है।^२ संभव है उनके सामने 'अदिष्टधर्मे' पाठ रहा हो।

देखें—तीसरे श्लोक का ७ वां टिप्पण।

४५. धर्म की (धर्म)

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रधान धर्म, चारित्र्य धर्म अथवा अप्रमाद धर्म।^३

४६. जानी (कोविद)

वृत्तिकार के अनुसार कोविद का अर्थ है—जानी। जो ग्रहण शिक्षा में निपुण होता है, वह जान लेता है कि उसे कैसा आचरण करना चाहिए और कैसा आचरण नहीं करना चाहिए।^४

जो व्यक्ति सर्वज्ञप्रणीत आगमों के अनुसार कर्तन करने में निपुण होता है वह कोविद कहलाता है, यह वृत्तिकार का अर्थ है।^५

श्लोक १४ :

४७. (उद्धं अहे.....)

हिंसा की व्याख्या चार दृष्टिकोणों से की जाती है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

विद्या—यह क्षेत्रीय दृष्टिकोण है।

जस या स्थावर—यह द्रव्य संबंधी दृष्टिकोण है।

सदा—यह काल संबंधी दृष्टिकोण है।

मानसिक प्रवृत्ति का अभाव—यह भावात्मक दृष्टिकोण है।

इन चारों दृष्टिकोणों से हिंसा की समझता समझी जा सकती है।^६

१. वृत्ति, पु० २३९ : अर्थं करोतीति अक्षरः अक्षरार्थं अक्षरा वा राशिः, अटबी वा वर्तनी-वाच्य-वरी-वृत्तगुणवा, से तस्यां पूर्ववृत्तमपि वृत्तकथं न वारयति।

२. वृत्ति, पु० २३९ : अपुष्टधर्मो नाम अपुष्टधर्मा।

३. वृत्ति, पु० २३९ : अर्थं..... प्रवृत्ति-निवृत्तिप्रधानं धर्मं ज्ञानादि-ज्ञानातिवाताविद्युः अप्रासंग्यं, अथवा चारित्र्यधर्म अप्रमादधर्मं वा।

४. वृत्ति, पु० २३९ : कोविदो नाम विदितव्यज्ञः गृह्यविद्यायां कोविदो, आसेवितव्यं च गृह्यविद्यायां ज्ञायते।

५. वृत्ति, पु० २३९ : कोविदः अन्वयसर्वज्ञप्रणीतव्यवस्थानिपुणः।

६. (क) वृत्ति, पु० २३९ : उद्धं अहेति कैशवावातिवती। कै वाच्यं के य सत्ता द्रव्यवाच्यविद्याये। सदा अतो रिति कालवाच्यविद्याये। अति परपक्षयोः मन्वन्वयोर्वा अतिवर्णनयो रिति भाववाच्यविद्याये।

(ख) वृत्ति, पु० २३९ :

४८. प्रकम्पित न हो (अविकम्पमाने)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'संयम से अविचलित रहता हुआ'—किया है।'

वृत्तिकार ने 'अविकम्पमाने' पाठ मानकर इसका अर्थ 'विविध कल्पना न करता हुआ' किया है।'

श्लोक १५ :

४९. विनयावकत हो (समितं)

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—समितं, सम्यक्। वृत्तिकार ने सम्यक् का अर्थ तीन प्रकार की पर्युपासना (कायिकी, वाचिकी और मानसिकी) किया है।'

५०. ग्रहण करे (सोयकारी)

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. ग्रहण करने वाला।
२. ओष से ग्रहण कर हृदय में धारण करने वाला।
३. सुनकर करने वाला।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ यथोपदेशविधायी—आज्ञा का पालन करने वाला किया है।'

५१. विस्तार से अपने हृदय में स्थापित करे (पुढो पवेसे)

इस वाक्य में निर्देश दिया गया है कि धर्म के उपदेश का पृथक्-पृथक् या बार-बार पुनरावर्तन करे। बार-बार पुनरावर्तित विद्या हजार गुनी हो जाती है। इसका तात्पर्य है, केवल सुने नहीं, किन्तु सुने हुए तत्त्व पर चिन्तन और मनन करे।

इस वाक्य का दूसरा अर्थ होता है— जो धर्म का उपदेश मिले उसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से स्वीकार करे। सब तत्त्वों की एक ही दृष्टि से देखने पर यथार्थ का बोध नहीं होता। उत्सर्ग सूत्र को उत्सर्ग की दृष्टि से, अपवाद सूत्र को अपवाद की दृष्टि से देखे। इसी प्रकार स्व-समय को स्व-समय की दृष्टि से और पर-समय को पर-समय की दृष्टि से देखे। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा हुआ तत्त्व चित्त में समाधि उत्पन्न करता है।'

श्लोक १६ :

५२. धर्म, समाधि और मार्ग की (तिविहेण)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ दो प्रकार से किया है—

१. समिति, गुप्ति और अप्रमाद—इन तीनों से।
२. धर्म, समाधि और मार्ग—इन तीनों से (नीचे, दसवें और ग्यारहवें अध्ययन के ये नाम हैं)।

१. वृत्ति, पत्र २५३ : अविकम्पमानः—संयमावब्रजम्।

२. वृत्ति, पृ० २३२ : विविधं कम्पयति विकम्पमानो।

३. वृत्ति, पृ० २३२ : सम्यगिति निविद्याए षष्ठुबासजताए।

४. वृत्ति, पृ० २३२ : ओतसि करोतीति ओतःकारी प्रहीतेत्यर्थः गृह्णाति। अथवा ओत्रेण गृहीत्वा वृत्ति करोतीति ओतःकारी, भुत्वा वा करोतीति ओतःकारी।

५. वृत्ति, पत्र २५४ : ओत्रे-कर्णे कर्तुं सोमस्य ओतकारी—यथोपदेशकारी आज्ञाविधायी।

६. वृत्ति, पृ० २३२, २३३ : पुढो पवेसे ति पृथक् पृथक् पुणो पुणो वा पवेसे हृदयं पुढो पवेसे, सहस्रगुणिता विद्या शतशः परिवर्तिताः। पत्तये वा पत्तये पवेसे पुढो पवेसे, तं जघा—उत्सर्गो उत्सर्गं अववाते अववाते, एवं सत्सम्यं सत्सम्यं परसम्यं वा, अतिक्रान्ते अतिक्रान्तकालम्।

७. वृत्ति, पृ० २३३ : समिति-गुप्यप्रमादेषु धर्म-समाधि-मार्गेषु च।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

१. मन, वचन और काया से ।
२. कृत, कारित और अनुमति से ।

वृत्तिकार का अर्थ प्रकरणानुसारी होने के कारण अधिक उपयुक्त लगता है ।

५३. चित्त की शान्ति (संति)

इसका अर्थ है—शान्ति, सुख, सर्वकर्मशान्ति, समस्त इन्द्रियों से उपरति ।^१ हमने इसका अर्थ—चित्त की शान्ति किया है ।

५४. निरोध (विरोध)

निरोध का अर्थ है—कर्म-प्रवाह का रुकना । प्रत्येक प्राणी में निरंतर कर्म पुद्गलों का प्रवाह आता है । उसके आने का हेतु है—अशान्ति और उसके निरोध का हेतु है शान्ति ।

प्रस्तुत सूत्र के १।३।८० में शान्ति को निर्वाण (संति निष्वाणमाहियं) कहा है और यहाँ शान्ति को निरोध कहा है (संति निरोधमाहुः) । शान्ति निर्वाण का हेतु है या शान्ति ही निर्वाण है । इसी प्रकार शान्ति निरोध का हेतु है या शान्ति ही निरोध है । ये दोनों अर्थ किए जा सकते हैं ।

५५. त्रिलोकदर्शी तीर्थंकर (तिलोकदर्शी)

इसका अर्थ है - तीन लोक को देखने वाला । वृत्तिकार ने—ज्ञान, दर्शन, और चारित्र—को तीन लोक माना है । उसको देखने वाला होता है—तीर्थंकर । उन्होंने विकल्प में ऊँचा, नीचा और तिरछा लोक देखने वाला—यह अर्थ किया है ।^१ वृत्ति में यह वैकल्पिक अर्थ ही मिलता है ।^२

इसलोक १७ :

५६. प्रतिभावान् (पडिभावनं)

देखें—१३।१३ का ५५ वां टिप्पण ।

५७. विचारवे (विचारवे)

देखें—१३।१३ का ५६ वां टिप्पण ।

५८. ज्ञावान् (ज्ञानावि) का अर्थी बना हुआ (ज्ञावानमट्टी)

ज्ञावान का अर्थ है—ज्ञान आवि ।^१ यहाँ मकार अभासजिक है ।

५९. तपस्या (तपोदान)

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ तप किया है ।^१ स्थानांग (३।१४८) के अनुसार व्यवधान तप नहीं है वह तपस्या का फल है । तप और तप के फल में अभेदोपचार कर तप के अर्थ में व्यवधान शब्द का प्रयोग किया है ।

१. वृत्ति, पृ० २५४ : त्रिष्विधेति ज्ञानोपायकायकर्मणिः कृतकारितानुवृत्तिनिर्वा ।

२. वृत्ति, पृ० २३३ : शान्तिर्भवति, इहात्मन च लोकाग्रिमार्थः सर्वकर्मशान्तिर्वा ।

३. वृत्ति पृ० २३३ : ते तीर्थंकराः, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यात्मनो लोकात् नश्यन्तीति त्रिलोकदर्शिनः, ज्ञानावि का त्रिलोकं पश्यति ।

४. वृत्ति, पृ० २५४ : त्रिलोकम्—ऊर्ध्वमस्तिमं मूलकायं इष्टं लोकां येषां ते त्रिलोकदर्शिनः तीर्थंकराः सर्वज्ञाः ।

५. (क) वृत्ति, पृ० २३३ : ज्ञानीयस इत्यादानम् ज्ञानावीनि आदानमणि ।

(ख) वृत्ति, पृ० २५३ : लोकाग्रिममस्तिमं इत्यादानं—सम्यग्ज्ञानादिकम् ।

६. (क) वृत्ति, पृ० २३३ : तपोदानं विचारवं तपः ।

(ख) वृत्ति, पृ० २५४ : व्यवधानं ज्ञानप्रकारं तपः ।

६०. संयम (ओर्न)

ओर्न का अर्थ है—संयम ।

श्लोक १८ :

६१. आचार्य (गुडा)

ब्रूणिकार ने इसका अर्थ 'बुद्धबोधित आचार्य' और वृत्तिकार ने 'त्रिकालवेदी' किया है ।

६२. जानकर (संज्ञाए)

इसका संस्कृत रूप है—संख्याय और अर्थ है—जानकर । मुनि क्षेत्र, काल, परिषद् और अपने सामर्थ्य को भलीभांति जानकर धर्म का उपदेश देता है ।

अथवा गुरु यह भलीभांति जान ले कि अमुक शिष्य अमुक मात्रा में श्रुत के योग्य है, उससे आगे श्रुतग्रहण की शक्ति उसमें नहीं है । शक्ति के होने पर जितना वह पा सकता है उतना पा लिया—ऐसा जानकर अथवा यह शिष्य परंपरा या श्रुत को अविच्छिन्न रूप से चला सकता है—यह जानकर गुरु उसे धर्म कहता है ।

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'संख्याय' देते हुए संख्या का अर्थ सद्बुद्धि किया है ।

मुनि अपनी तथा श्रोतृवर्ग की शक्ति को जानकर, परिषद् की पूरी पहचान कर तथा प्रतिपाद्य अर्थ के तात्पर्य को भली प्रकार से जानकर फिर धर्म का प्रतिपादन करता है, यह वृत्तिकार का वैकल्पिक अर्थ है ।

६३. (शिष्यों के संदेहों का) अंत करने वाले होते हैं (अंतकरा भवन्ति)

ब्रूणिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—कर्मों का अंत करने वाला किया है ।

पूरे श्लोक के सम्बन्ध में ब्रूणिकार और वृत्तिकार का अर्थ सम्यग् नहीं लगता ।

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि वे बहुश्रुत आचार्य अपने शिष्यों के मन में उत्पन्न होने वाले प्रश्नों और संदेहों का सम्यग् समाधान देकर उन्हें समाहित करते हैं । शिष्य संदेहों से मुक्त हो जाते हैं ।

६४. श्रुत के पारगामी आचार्य (पारगा)

धर्म की व्याख्या करते हुए वे आचार्य धर्म का पार पा जाते हैं, उसकी सूक्ष्मतम व्याख्या प्रस्तुत कर देते हैं । वे स्व-पर संदेहों को दूर करने के लिए पार तक चले जाते हैं ।

१. (क) ब्रूणि, पृ० २३३ : ओर्न संयमः ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५४ : ओर्न—संयमः—आध्यात्मिकविशेषः ।

२. ब्रूणि, पृ० २३३ : [गुडा] बुद्धबोधितास्ते आचार्याः ।

३. वृत्ति, पत्र २५४ : गुडाः—कालत्रयवेदिनः ।

४. ब्रूणि, पृ० २३३ : संज्ञाए ति धर्मं ज्ञात्वा अन्तं धर्मं वा कथयति, सिस्सपडिच्छगानं धर्मकथा च कथयति । अथवा संख्यायेति केसं कालं वरितं सामर्थ्यं च शिष्यो विमानिता परिकथयति । अथवा के अर्थं पुरिते ? कं च जये ?" अथवा संख्यायेति एतन्मात्रस्यायं श्रुतस्य योग्यः, अतः परं शक्तिर्नास्ति, सत्यां वा शक्तौ कसियं प्रचरति तसियं पश्विषं एवं संख्याय । अन्वोपि वृत्तिकारे ति एवमादिभिः प्रकारैः सख्याय धर्मं जागरयन्ता ।

५. वृत्ति, पत्र २५४ : सम्यक् ज्ञायते—परिज्ञायते यथा सा संख्या—सद्बुद्धिस्तथा ।

६. वृत्ति, पत्र २५४ : यदि वा स्वपरकर्तुं परित्याज्य पर्वणं वा प्रतिपाद्यं चार्थं सम्यगवबुध्य धर्मं प्रतिपादयन्ति ।

७. (क) ब्रूणि, पृ० २३३ : कर्मार्ण अंतं करेतीति अंतकराः ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५४ : कर्माभ्यन्तरसंज्ञितानां कर्मव्यापनकरा भवन्ति ।

८. ब्रूणि, पृ० २३३ : धर्मं व्याकरयन्तः पारं गच्छन्तीति पारगा, आस्थानः परस्य च बोधू वि विमोक्षणाए पारं गच्छन्ति ।

वे आचार्य संसार समुद्र का पार पा जाते हैं—यह कृतिकार का अर्थ है ।'

६५. संशोधित प्रश्न की व्याख्या करते हैं (संशोधितं पशुमुवाहरन्ति)

वे आचार्य संशोधित प्रश्न की व्याख्या करते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि धर्म-प्रवचन करने से पूर्व या किसी के प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व आचार्य अपनी बुद्धि से यह सम्यक् पर्यालोचन कर लेते हैं कि सुनने वाली परिषद् किस मान्यता को स्वीकार करने वाली है, प्रश्नकर्ता किस दर्शन का अनुयायी है, यह किस अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ है अथवा मैं स्वयं किस अर्थ की अभिव्यक्ति अच्छे प्रकार से कर सकता हूँ । इस प्रकार अनेक पशुसुओं से सम्यक् परीक्षा कर फिर वह धर्म-प्रवचन करता है या प्रश्न का उत्तर देता है ।

अथवा एक व्यक्ति कोई प्रश्न पूछता है तो यह आवश्यक है कि उत्तरदाता उस प्रश्न की सम्यक् परीक्षा कर फिर उचित उत्तर दे ।'

कृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पूर्वापर की समीक्षा कर, अपनी या पराई शक्ति को जानकर, ब्रह्म-गुण और पर्यायों को जानकर, सूत्र से परिचित होकर जो उत्तर दिया जाता है वह है संशोधित प्रश्न का उदाहरण ।

अच्छिद्र प्रश्न (गूढ प्रश्न) का व्याकरण करने वाले अ-केवली हों या केवली रत्नकरडक के समान तथा कुत्रिकापण (बहु दुकान जहाँ तीन लोक की सारी वस्तुएं विक्रय के लिए उपलब्ध हों) तुल्य होते हैं । वे तथा चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और नौपूर्वी यावत् पञ्चकालिक सूत्र के अध्येता धर्म की प्रज्ञा को अविच्छिन्न करते हैं ।'

इलोक १६ :

६६. अर्थ को न छिपाए (जो छावए)

अर्थ को छिपाने के तीन कारण हो सकते हैं :—

१. मात्सर्य—इस कारण से व्यक्ति अर्थ को छिपा लेता है ।
२. कभी-कभी धर्म को कथा करने वाला भी स्वार्थ के वशीभूत हो गेयार्थ को छिपा लेता है ।
३. अहंकारवश अपने वाचनाचार्य का नाम छिपा लेता है ।'

६७. अप-सिद्धान्त का निरूपण (सूतएवमा)

कृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. कृति, पत्र २५५ : संसारसमुद्रस्य पारणा अवन्ति ।

२. कृति, पत्र २५५ : सम्यक् शोधितं—पूर्वोत्तराविच्छिन्नं प्रश्नं—शरमुवाहरन्ति, तथाहि—पूर्व बुद्ध्या पर्यालोच्य कोऽयं पुरुषः कस्य चाचं-
स्य बहुमतमर्थोऽयं वा किञ्चूलाचं प्रतिपादयन् सक्त इत्येवं सम्यक् परीक्ष्य व्याकुर्वन्ति अपि वा परेण कश्चिदर्थं पृष्ट-
स्तं प्रश्नं सम्यक् परीक्ष्योवाहरेत्—सम्यगुत्तरं वदन्ति ।

३. कृति, पृ० २३३, २३४ : अं संशोधिता पशुमुवाहरन्ति सम्यक् सनस्तं वा शोधिता संशोधिता, पृच्छति तमिति प्रश्नः, पूर्वापरेण समी-
कितुं आत्मवरतिं वा साक्षाद्ब्रह्मदीप्तिं वा तथा “केऽयं पुरिते” ति चरितं वा सुतं कातुण्य—
'आयत्तिवशात् कारितेन अत्येन [पुन्य] चरितेन ।
तो संशोधितवारे अवहरितुं वे सुतं होति ॥'

(अवधार उ० ३, भाष्य ताका ३५६)

अच्छिद्रपक्ष-वागवशा अकेवली केवली वा, रत्नकरडगसभायां कृतिवाक्यभूता तथा ओहस-इस-मन्त्रपुत्री जाव वसकालियं
ति संशोधितं अवोच्छिन्नं करोति ।

४. (क) कृति, पृ० २३४ : अस्तित्वेनार्थं भी छावयेत्, वास्तव्य धर्मस्य कथां कथयत् न सद्भूतपुत्रान् छावयेत्, न वा वागवायिर्यं
छावयेत् ।

(ख) कृति, पत्र २५५ : सुतार्थं 'न छावयेत्'—नाम्यवा आश्रयसमयेत् स्वार्थार्थं वा नापनयेत् धर्मकथां वा कुर्वन्मार्थं छावयेत्
आत्मपुत्रीत्वार्थं मिथ्यात्वं वा वास्तव्यस्य छावयेत् ।

५. कृति, पृ० २३४ : कृतिता नाम अवशिष्टार्थं कथयति सिद्धान्तविच्छिन्नं वा ।

१. अपसिद्धान्त का प्रतिपादन ।
२. सिद्धास्त-विषय तत्त्व का प्रतिपादन ।

वृत्तिकार ने ये दो अर्थ किए हैं—

१. दूसरों के गुणों की विवक्षता ।
२. अपसिद्धान्त का प्रतिपादन ।

६८. न अभिमान करे, न अपना क्यापन करे (भावं न सिवेन्य पगासर्षं च)

अपनी प्रज्ञा का, स्वयं के आचार्य होने का, अपने तथा दूसरों के संवेदों का अपनयन करने का मद हो सकता है । इसलिए उसका निषेध किया गया है ।

‘मैं समस्त शास्त्रों का जानकार हूँ । सारे लोक में मेरी प्रसिद्धि है । मैं सभी प्रकार के संशयों को दूर करने में समर्थ हूँ । मेरे जैसा हेतु और युक्ति के द्वारा तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला दूसरा नहीं है’—इस प्रकार अभिमान न करे ।

आत्मप्रकाशन अभिमान का ही एक पहलू है । इसके द्वारा अपना उत्कर्ष प्रदर्शित करने का प्रयत्न होता है ।

मैं बहुभूत और तपस्वी हूँ, मैं जानाया हूँ, मैं धर्मकवी हूँ - इस प्रकार के आत्म-क्यापन का निषेध किया गया है ।

६९. परिहास (परिहास)

यह विभक्तिरहित प्रयोग है । यहाँ ‘परिहास’ होना चाहिए था ।

परिहास का अर्थ है—हंसी, मजाक । वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—मुनि ऐसी धर्मकथा न करे जिससे सुनने वालों को तथा स्वयं को हंसी आए । जबवा धर्मकथा करने पर सुनने वाले उसके हार्द को न समझ सकें या अन्यथा समझें, तो भी अपने प्रज्ञामद के कारण उनका परिहास न करे, हंसी न करे ।

७०. आशीर्षचन (आशीर्षचन) (आसिसावाय)

आसिसावाय—यह विभक्तिरहित प्रयोग है ।

किसी व्यक्ति द्वारा बंदना करने पर या दान आदि देने पर मुनि संतुष्ट होकर उसे आशीर्षचन देते हुए ऐसा न कहे—स्वस्थ रहो, भाग्यशाली हो, पुत्रों की प्राप्ति हो, धन बढ़े आदि आदि ।

इसका पाठान्तर ‘न आसियावाय’ मिलता है । इस आधार पर डा० ए० एन० उपाध्ये ने आसियावाय का अर्थ किया था—अस्माद्वाय । उन्होंने टीकाकार के ‘आशीर्षाद’ अर्थ की आलोचना की है । यदि वे मूल पाठ और टीका के सम्बन्ध में विचार करते तो ऐसा नहीं होता । वृत्तिकार और वृत्तिकार के सामने ‘आसिसावाय’ पाठ था और इसके आधार पर उन्होंने इसका अर्थ आशीर्षाद किया था । वृत्ति और वृत्ति में ‘आसियावाय’ का पाठान्तर के रूप में भी उल्लेख नहीं है ।

१. वृत्ति, पत्र २११ : परपुत्राणां सूचयेद्—न विदम्ययेत् शास्त्रार्थं वा नापसिद्धान्तेन व्याख्यानयेत् ।

२. (क) वृत्ति, पृ० २१४ : प्रज्ञावान्माचार्यवान् वा संतयान् वाऽऽरभतः परस्य वा क्षेत्रं न सर्वं कुर्वत् । न वा प्रकाशयेद्वारमानम् यथा-
ऽऽमाचार्यः कचको बहुभूतो वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र २११ : तथा समस्तशास्त्रवेत्ताऽहं सर्वलोकविदितः समस्तसंशयापनेता, न अस्तस्यो हेतुयुक्तिविरथं प्रतिपादयितेत्येव-
मात्मनं जानय्—अभिमानं गर्वं न सिधेत्, नाप्यात्मनो बहुभूतत्वेन तपस्वित्वेन वा प्रकाशनं कुर्वत्, च शब्दा-
व्यवधि पुनस्तत्कारादिकं परिहरेत् ।

३. वृत्ति, पृ० २१४ : प्रज्ञावान् प्रायः न वेदुर्सी कथां कचयेद् येन श्रोतुरात्मनो वा हास्यमुत्पद्यते, अपरिबद्धं वा परे जन्मना वा
कुण्ठमात्रे न प्रज्ञावान् परिहासं कुर्वत् “यथा राजा तथा प्रजा” इति कुरवा न सर्वत्र परिहासः ।

४. (क) वृत्ति, पृ० २१४ : “संतु स्तुतौ” तस्य आशीर्षवति, स्तुतिवाचनित्यर्थः न तद्वाच-वचनादिभिस्तोषितो ब्रूयाद्—आरोम्यतस्तु
ते वीर्यं वाऽऽपुः, तथा पुत्रया जगच्छपुत्रा, इत्येवमादीनि न व्याकरेत् । एवं वाक्प्रमितः स्यात् ।

(ख) वृत्ति, पत्र २११ : तथा नापि आशीर्षादं बहुभूतो बहुभूतो [बहुभूतो] वीर्यापुस्त्वं ब्रूया इत्यादि व्यागृहीयात्, आकाशमिति-
कुष्ठेन जायमिति ।

इसोक्त २० :

७१. मन्त्र पद के द्वारा (मन्त्रपण्य)

ब्रूणिकार ने मन्त्र का मुख्य अर्थ—सांसारिक बचने और वैकल्पिक अर्थ—विद्या, संयम आदि किया है ।^१

वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—विद्या और राजा आदि के साथ गुप्त-संक्रमा ।^२

७२. संयम जीवन का (गोत्रं)

ब्रूणिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं—

१. सत्तरह प्रकार का संयम ।
२. अठारह हजार वीलांग ।
३. छह जीवनिकाय ।
४. जीवन ।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. मीन—वाक्संयम ।
२. प्राणियों का जीवन ।

७३. निर्वाह .. (निवहते)

ब्रूणिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—संयम से बाहर निकलना या संयम को गाल देना, नष्ट कर देना ।^१

वृत्तिकार ने भी दो अर्थ किए हैं—संयम को निःसार करना या जीवों को भारना ।^२

७४. असाधु धर्मों का (असाधुधर्माणि)

ब्रूणिकार के अनुसार असाधु धर्मों तीन प्रकार का होता है—

१. दण्ड, मद्य, अहंकार आदि असाधु धर्म ।
२. पचन-पाचन आदि सावद्य कर्म ।
३. असंयत दान तथा कुतूहल आदि की प्रशंसा ।

वृत्तिकार ने भी असाधु धर्मों के तीन निर्देश दिए हैं—

१. वस्तुओं का दान-तर्पण आदि ।
२. असाधु धर्म कहने वालों का अनुमोदन ।
३. धर्मकथा या व्याख्यान करते हुए आत्मश्रुति या कीर्ति की इच्छा ।

१. ब्रूणि, पृ० २३४ : मन्त्रपण्य इति मन्त्रः ब्रूणम्, मन्त्र एव पदं मन्त्रपण्यम् । अथवा मन्त्रा इति विद्या-मन्त्रादयो नृहन्ते ।

२. वृत्ति, पत्र २४६ : मन्त्रपण्येन—विद्यापमार्थमविद्यानां यच्च वा 'मन्त्रपण्येन'—राजादिगुप्तसाधनपण्येन ।

३. ब्रूणि, पृ० २३४ : पुण्यत इति गोत्रं संयमः सप्तवसविधः मन्त्रावस्य च तीर्थाङ्गुलहन्ता इति, यद् काया वा गोत्रम् गोत्राद् जीवितावित्त्वर्थः ।

४. वृत्ति, पत्र २४६ : गात्रावस्य इति गोत्रं—मीनं वाक्संयमः यच्च वा गोत्रं—अन्तर्मा जीवितम् ।

५. ब्रूणि, पृ० २३४ : संयमे निर्गन्धैर्विषयैः, न वाग्नेन विषये, संयमं निर्गन्धैर्विषयैः ।

६. वृत्ति, पत्र २४६ : न निःसारं कुर्यात् साधनपण्यम् ।

७. ब्रूणि, पृ० २३४ : असाधुर्मा धर्माः तान् असाधुधर्मान् न संयमेकम्, ते च वर्ण-मद्य-अहंकारादयः, अथवा न तत् कचयेद् येन असाधुधर्माणां 'संयमः' भवति पचन-पाचनार्थिनाम्, असंयतदानादि वा कुतूहलान् वा प्रशंसति ।

८. वृत्ति, पृ० २४६ : तथा वृत्तिसामान्य—असाधुर्मा धर्मान्—असाधुधर्माणां कुर्यात् न संयमेन' न ब्रूयाद् ; यच्च वा असाधुधर्मान् वृत्तं संयमेकम्, अथवा संयमेन व्याख्यानं वा कुर्यात् प्रशंसापरमाणां कीर्तिं नृहति ।

श्लोक २१:

७५. निर्मल (अणाउले)

अनाबिल का अर्थ है—निर्मल । जो मुनि लाभ आदि से निरपेक्ष होकर व्याख्यान देता है या धर्मकथा करता है वह अनाबिल होता है ।^१

चूणिकार ने 'अणाउले' मानकर व्याख्या की है कि मुनि धर्म-वेशना करता हुआ आतुर न हो अथवा किसी बात के लिए प्रेरित किए जाने पर आकुल-व्याकुल न हो ।^२

७६. पाप-धर्म (असाधु-धर्म) की स्थापना करने वालों का परिहास न करे (हासं पि ओ संघं पापधर्मे)

इस श्रवण की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है—

१. मुनि पाप धर्मों की स्थापना करने वालों का परिहास न करे ।
२. हास्य में भी पाप-धर्म का संधान न करे—प्रतिपादन न करे, जैसे—इसको छोड़ो, भेदो । इसको खाओ । ऐसे प्रसन्न हाँओ आदि ।
३. हास्य द्वारा भी कुसीबिकों की प्रशंसा न करे ।
४. मुनि कुप्रायश्चित्तों से मजाक करते हुए ऐसा वचन न कहे जिससे उनके मन में अमर्ष पैदा हो, जैसे—'अरे ! आपके बत तो बड़े अच्छे हैं । सोने के लिए मृगु शय्या, प्रातःकाल उठते ही अच्छे-अच्छे पेय, मध्यकास में भोजन, अपरान्ह में पीने के लिए पानक, अर्धरात्रि में द्राक्षाखंड और शबंत (शर्करा) इस प्रकार सुविधापूर्वक जीवन यापन करते हुए भी आपको मोक्ष-प्राप्ति हो जाती है ।

हंसी में भी दूसरों के दोषों की अभिव्यक्ति करना पाप-कर्म के बंधन का हेतु होता है—ऐसा समझकर मुनि हंसी में भी पाप-धर्मों का संधान न करे ।^३

७७. तटस्थ रहे (ओज)

आचारारण सूत्र में 'ओज' के दो अर्थ किए हैं—

१. अकेला ।^४
२. पक्षपात-रून्य ।^५

प्रस्तुत प्रसंग में चूणिकार ने 'ओज' के दो अर्थ किए हैं—राम-द्वेष रहित, सत्य को विपरीत न करने वाला ।^६

चूणिकार ने इसका एक अर्थ अकिंचन किया है ।^७ सामान्यतः ओज का अर्थ है शारीरिक शक्ति । आयुर्वेद के ग्रन्थों में रस से लेकर शुक तक की धातुओं के पश्चात् होने वाले तेज को 'ओज' माना है ।^८

जैन आगमों में यह शब्द बहुधा प्रयुक्त है और विशेषतः यह मुनि के विशेषण के रूप में आता है । यह शब्द वीतरागता और आकिंचन्य का सूचक है ।

१. वृत्ति, पत्र २५६ : व्याख्यानावसरे धर्मकथावसरे वाऽनाबिलो लाभानि निरपेक्षो भवेत् ।

२. चूणि, पृ० २३५ : अणाउले त्ति न धर्मं वेशमानो आतुरो भवति, कोवितो वा आकुलव्याकुलोभवति ।

३. (क) चूणि, पृ० २३५ ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५६ ।

४. आचारो ५/१२६, वृत्ति, पत्र २०२ : 'ओजः' एकोऽशेषमलकलङ्गादुरहितः ।

५. आचारो ६/१००, वृत्ति, पत्र २३१ : 'ओजः' एको रागादिविरहात् ।

६. चूणि, पृ० २३५ : ओजे त्ति राम-द्वेषरहितः, न विमंतव्यं सद्भूतम् ।

७. वृत्ति, पत्र २५६ : 'ओजो'-राम-द्वेषरहितः सबाह्याभ्यन्तरप्रवृत्त्यागाह्य निष्किंचनः ।

८. सुधृत रसादीनां शुकान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् कलु ओजः ।

१०. कृति, सू० २३४ : यद्यङ्गितमस्य आगमिषु ताम् कथयति, अनुप्रासः पुनरी का सङ्केत सङ्कितनामः—एवं तावद् भाषते, यतः परं विना भाषन्ति ।

का अभ्येक्षण करने वाला जितने सत्य को जान जाता है, उसे विमज्जता से स्वीकार करता है। उसके लिए आग्रह की खाइयों नहीं छोड़ता। सत्य की स्वीकृति के दो रूप बन जाते हैं—विमज्ज स्वीकृति और आग्रहपूर्ण स्वीकृति। विमज्ज स्वीकृति का स्वर यह होता है—'मैं इतना जानता हूँ। इससे आगे मुझसे अधिक ज्ञानी जानते हैं।' अपनी ज्ञान की सीमा का अनुभव करता, यह शक्तिवाद है। शक्तिवाद का प्रयोग यह होता है—मेरी दृष्टि में यह तत्त्व ऐसा है, पर मेरे पास समग्र ज्ञान नहीं है जिसके आधार पर मैं कह सकूँ—यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है। इस प्रकार सत्य की विमज्ज स्वीकृति शक्तिवाद है। शक्ति का तात्पर्य सविश्व नहीं किन्तु अनाग्रह है।

८१. विमज्जवाद (भजनीयवाद या स्याद्वाद) का (विमज्जवायं)

पूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—भजनीयवाद या अनेकान्तवाद। तत्त्वार्थ के प्रति अशक्ति न होने पर भजनीयवाद का सहारा लेकर मुनि कहे—'मैं इस विषय में ऐसा मानता हूँ। इस विषय की विशेष जानकारी करने के लिए अन्य विद्वानों को भी पूछना चाहिए।'।

विमज्जवाद का दूसरा अर्थ है—अनेकान्तवाद। जहाँ जैसा उपयुक्त हो वहाँ अपेक्षा का सहारा लेकर वैसा प्रतिपादन करे। अमुक नित्य है या अनित्य? ऐसा प्रश्न करने पर अमुक अपेक्षा से यह नित्य है, अमुक अपेक्षा से यह अनित्य है—इस प्रकार उसको सिद्ध करे।

वृत्तिकार ने विमज्जवाद के तीन अर्थ किए हैं—

१. पृथग्-पृथग् अर्थों का निर्णय करने वाला वाद।

२. स्याद्वाद।

३. अर्थों का सम्यग् विभाजन करने वाला वाद, जैसे—द्रव्य की अपेक्षा से नित्यवाद, पर्याय की अपेक्षा से अनित्यवाद। सभी पदार्थों का अस्तित्व अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से है। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नहीं है।

बौद्ध साहित्य में विमज्जवाद, विमज्जवाक् आदि का उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। विमज्ज के दो अर्थ हैं—

विमज्ज—विश्लेषण पूर्वक कहना (analysis)

विमज्ज—संक्षेप का विस्तार करना

बुद्ध ने स्वयं को 'विमज्जवाद' का निरूपक कहा है। इसका तात्पर्य इस प्रकार समझाया गया है। बुद्ध से पूछा गया—

'महद्दो आराधको होतिआयं धम्मं कुसलं ?'

'न पब्बञ्चितो आराधको होतिआयं धम्मं कुसलं ?'

क्या गृहस्थ आराधक होता है—न्याय, धर्म और कुशल को पाने में सफल होता है ?

क्या प्रव्रजित आराधक नहीं होता—न्याय, धर्म और कुशल को पाने में सफल नहीं होता है ?

१. बुद्धि, पृ० २३५ : विमज्जवादो नाम भजनीयवादः। तत्र शक्तिते भजनीयवाद एव वक्तव्यः—अहं तावदेव मन्थे, अतः परममन्थ्यादि पुच्छेज्जसि। अथवा विमज्जवादो नाम अनेकान्तवादः, स यत्र यत्र यथा युज्यते तथा तथा वक्तव्यः, तद्वत्—नित्या-नित्यत्वमस्तित्वं वा प्रतीत्यादि।

२. बुद्धि, पृ० २५६, २५७ : तथा विमज्जवायं पृथगर्थनिर्णयवायं व्यागृणीयात्, यच्च वा विमज्जवादः—स्याद्वादस्तं सर्वत्रास्त्वस्मिन् लोकव्यवहाराविसर्वावितया सर्वव्यापित स्वानुभवसिद्धं वदेत्, अथवा सत्यगर्थान् विमज्ज—पृथक्कृत्वा तद्वायं वदेत्, तद्वत्—नित्यवायं द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवायं वदेत्, तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति, परद्रव्याविभिस्तु न सन्ति, तथा चोक्तम्—'सर्वेऽपि सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिवनुष्ठयात् ?'।

अस्येव विपर्ययाय्येऽयं व्यवतिष्ठते ॥'

३. Early Buddhist Theory of Knowledge, K.N. Jayatilke, Page 280.

४. Early Buddhist Theory of Knowledge, Page 293.

The term vi+vbhaja—is found in another important sense in the Pali Canon to denote a detailed classification, exposition or explanation of a brief statement or title.

बुद्ध ने कहा—इसका निश्चित उत्तर (सत्य या असत्य) नहीं दिया जा सकता। क्योंकि यदि गृहस्थ मिथ्या प्रतिपन्न है तो पहला भंग असत्य है और यदि गृहस्थ सम्यक् प्रतिपन्न है तो पहला भंग सत्य है। इसी प्रकार यदि प्रव्रजित मिथ्या प्रतिपन्न है तो पहला भंग सत्य है और यदि वह सम्यक् प्रतिपन्न है तो पहला भंग असत्य है। इसलिए कुछ कथन ऐसे होते हैं, जिनका पूरा विश्लेषण किए बिना, वे सत्य हैं या असत्य, ऐसा नहीं कहा जा सकता।^१

बौद्ध साहित्य में चार प्रकार के प्रश्नों का उल्लेख है—

१. पण्हो एकांशव्याकरणीयो—वैसा प्रश्न जिसका उत्तर एकांशकारी हो।
२. पण्हो पतिपुच्छव्याकरणीयो—वैसा प्रश्न जिसका उत्तर प्रतिप्रश्न से दिया जाए।
३. पण्हो व्यापणीयो—वैसा प्रश्न जिसका उत्तर अपेक्षित नहीं होता।
४. पण्हो विमज्जव्याकरणीयो—वैसा प्रश्न जिसका उत्तर विश्लेषण के साथ दिया जाए।

विमज्जवाद को अनेकांशिकवाद भी कहा जा सकता है।

इसका अंग्रेजी रूपान्तर है—Conditional assertions or Analytical assertions.

पालि साहित्य में 'वि' पूर्वक 'मच्' वातु विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। उसका अर्थ है—विस्तारपूर्वक कहना। पालि भाषा में 'उद्देश'—का अर्थ है—संक्षेप में कहना और 'विमज्ज या विमंग' का अर्थ है—विस्तारपूर्वक कहना।^२

'अर्ली बुद्धिस्ट थियरी ऑफ नोलेज' के बिटान् लेखक ने बौद्धों के अनेकांशिकवाद की तुलना जैन दर्शन सम्मत 'अनेकान्तवाद' से की है। वे लिखते

Anekāṃśika = an + ek (a) + āṃśa (a) + ika and anekānta = an + ek (a) + anta and while āṃśa means 'part, corner or edge' (s. v. āṃśa, PTS. Dictionary) anta means 'end or edge'.^३

यह शब्दिक दृष्टि से तुलना हो सकती है। किन्तु अनेकान्तवाद की जो दार्शनिक पृष्ठभूमि है, वह अनेकांशिकवाद की नहीं है। अनेकान्तवाद प्रत्येक पदार्थ में अनन्तविरोधी धर्म युगलों की स्वीकृति देता है। अनेकांशवाद में ऐसा नहीं है। लेखक ने अनेकांशवाद को विमज्जवाद का पर्याय कहा है।^४

बुद्ध स्वयं कहते हैं—एकांसिकापि मया अम्मा वेसिता पन्नता, अनेकांसिकापि मया अम्मा वेसिता पन्नता।^५

उन्हें पूछा गया—एकांसिक धर्म कौन से हैं और अनेकांसिक धर्म कौन से हैं? उत्तर में उन्होंने कहा—'इदं दुक्खं इति'—यह दुःख है—यह एकांसिक धर्म की प्रकृति है और 'सस्सतो लोको ति वा'—लोक शाश्वत भी है—यह अनेकांसिक धर्म की प्रकृति है।^६

६२. धर्म के लिए समुत्थित पुरुषों के साथ (अम्मसमुत्थितेहि)

धर्म या संयम के अनुष्ठान से सम्यक् उत्थित अर्थात् सत्साधु, उद्यतविहारी। ऐसे साधु जो यथार्थ में साधनारत हैं और जो संयम से ओतप्रोत हैं। केवल प्रयोजन मात्र को सिद्ध करने के लिए मुनिवेश को धारण करने वाले धर्म में समुत्थित नहीं हो सकते।

६३. दो भाषाओं (भासाभुवणं)

भाषा के चार प्रकार हैं—

१. जज्झननिकाय II, ४२१, २ पु० ४६२।
२. अंगुत्तरनिकाय II ४६।
३. जज्झननिकाय III १२६। अंगुत्तरनिकाय II १२५, २२३।
४. Early Buddhist Theory of Knowledge, Page 280.
५. Early Buddhist Theory of Knowledge, Page 280

A Conditional assertion (vibhajja-vāda) would be an anekāṃśa-(or anekāṃśika.) vāda.

६. दीर्घनिकाय I, १२१।

७. मही, I १२१।

१. सत्य भाषा ।
२. मृषा भाषा ।
३. सत्यामृषा—मिश्र भाषा ।
४. असत्यामृषा—व्यवहारभाषा ।

मुनि के लिए प्रथम और अन्तिम—इन दो भाषाओं का प्रयोग करणीय और शेष दो भाषाओं का प्रयोग अकरणीय है । दशवैकालिक सूत्र के सातवें अध्यायन का नाम है— 'वाक्यबुद्धि ।' इसमें चारों प्रकार की भाषाओं का स्वरूप-कथन तथा विधि-निषेध का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है ।

प्रस्तुत प्रसंग में 'भाषाद्विक'—सत्यभाषा और व्यवहार भाषा के बोलने का कथन किया गया है ।^१

वृत्तिकार का कथन है कि मुनि विभज्यवाद का प्रतिपादन भी इन दो भाषाओं से ही करे । किसी के प्रश्न किए जाने पर या न किए जाने पर अवदा धर्म का व्याख्यान करते समय या और किसी अवसर पर मुनि इन दो भाषाओं का ही सहारा ले ।^२

८४. समतापूर्वक (समया)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'सम्यक्' किया है ।^३

चक्रवर्ती और कंगाल—दोनों के प्रति समभाव रखता हुआ या राग-द्वेष से रहित होकर मुनि विहरण करे ।^४

इलोक २३ :

८५. (अनुगच्छमाने वितर्हंसिजाणे)

आचार्य, मुनि आदि जब समंकथा करते हैं या तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं तब कोई मेधावी शिष्य अपनी प्रखर बुद्धि से उस तत्त्व को सम्यक् ग्रहण कर लेता है, उस तत्त्व का अनुसरण कर लेता है और कोई मन्द बुद्धि वाला शिष्य उस तत्त्व को विपरीत रूप से ग्रहण करता है ।^५

८६. (तहा तहा साहु अककसेन)

यहां 'साहु' शब्द दीर्घ होना चाहिए था । छन्द की दृष्टि से ह्रस्व का प्रयोग हुआ है ।

जो मंद मेधा वाला शिष्य तत्त्व का यथार्थ अनुसरण नहीं कर पाता तब आचार्य उसे जैसे-जैसे हेतु, दृष्टान्त, युक्ति, उपसंहार आदि के द्वारा प्रसीधति समझाने का प्रयत्न करें, किन्तु कर्कश वचनों से उसकी निर्भर्त्सना करते हुए यह न कहें—अरे ! तुम तो निरे मूर्ख हो । बिकार है तुम्हें ! इस अर्थ से तुम्हारा क्या प्रयोजन ! तुम दुर्बोध्य हो । तुम्हें ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता ।

मुनि तत्त्व समझाते समय मन, वचन और काया से भी शिष्य की अवहेलना न करे, भर्त्सना न करे । मन से भर्त्सना, जैसे—आस, मुंह को बिकृत करना । वचन से भर्त्सना—तुम मूर्ख हो, दुर्बोध्य हो आदि कहना । काया से भर्त्सना—कुड़मुस होना तथा हाथ और होठों को फड़फड़ाना ।^६

१. वृत्ति, पृ० २३५ : सत्या असत्यामृषा च भाषाद्वयं पठम वरिमाओ दुवे भासाओ ।

२. वृत्ति, पृ० २५७ : विमज्ज्यवादिमपि भाषाद्वितयेनैव ब्रूयादित्याह—भाषयोः—आद्यचरमयोः सत्यासत्यामृषयोद्विकं भाषाद्विकं तद्-भाषाद्वयं कश्चित्पुण्डोपुण्डो वा अर्थकभावसरेप्रयथा वा तथा वा ।

३. वृत्ति, पृ० २३५ : समयेति सम्यग् ।

४. वृत्ति, पृ० २५७ : साहु विहरन् अककसिन्नमकयोः समतया रागद्वेषरहितो वा ।

५. (क) वृत्ति, पृ० २३५ : तस्यैवं कथयतः कश्चिद् ग्रहण-धारणासम्यक्कः धर्मास्तमेवावितस्वं गुह्यति, कश्चित् मन्दमेधावी वितर्हंसि-जाजाति ।

(ख) वृत्ति, पृ० २५७ : तस्यैवं भाषाद्वयेन कथयतः कश्चिन्मेधावितया तत्रैव तत्पर्यभाषायादिना कश्चित्तनुगच्छन् सम्यक्कमुच्यते, अपरस्तु मन्दमेधावितया वितक्—अन्यमेवाविजानीयात् ।

६. (क) वृत्ति, पृ० २३५ ।

(ख) वृत्ति, पृ० २५७ ।

८७. (य कल्पेई भास विहितएवमा)

इसका अर्थ है—आपा की हिंसा न करे, दूसरे के कथन का तिरस्कार न करे, निन्दा न करे। दूसरे के कुछ कहने पर, उसके कथन में असंबद्धता का उद्घाटन कर उस प्रश्नकर्त्ता की विडम्बना न करे।

८८. (निबद्धं वाचि न दीहएवमा)

निबद्ध का अर्थ है—बोड़े अर्थ वाला व्याख्यान या बोड़े समय में पूरा होने वाला व्याख्यान।

इसका तात्पर्य है कि मुनि तत्त्व की व्याख्या करते समय या धर्मकथा करते हुए, अर्थ को बढ़ाकर उसे अधिक लम्बा न करे। केवल उतना ही अर्थ बताए जो अक्षरों में निबद्ध है—सो अत्थो वसत्थो ओ अत्थो अवकरोहि आकरो।

चार प्रकार के सूत्र होते हैं—

१. अक्षर अल्प, अर्थ महान्।
२. अक्षर अधिक, अर्थ अल्प।
३. अक्षर अल्प, अर्थ अल्प।
४. अक्षर अधिक, अर्थ महान्।

इनमें प्रथम तृतीय ही प्रसस्त है। वही सूत्र-वाक्य अच्छा माना जाता है जो अल्पाक्षर वाला हो, किन्तु जिसका अर्थ महान् हो। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने कहा है—

‘सो अत्थो वसत्थो, ओ अत्थो अवकरोहि बोधेहि।

ओ पुष बोधो बहुअवकरोहि सो होइ निस्तारो॥’

—जो अल्पाक्षर और महान् अर्थ वाला होता है, वही अच्छा है। जो अधिक अक्षर वाला और अल्प अर्थ वाला होता है वह निस्तार है।

मुनि अल्प अर्थ वाले या अल्पकाल में पूर्ण होने वाले व्याख्यान या तत्त्व-प्रसंग को व्याकरण, तर्क आदि तथा प्रसक्ति वा अनुप्रसक्ति के द्वारा लम्बा न करे।

श्लोक २४ :

८९. मलीर्जाति अर्थ को देखने वाला (समियाअट्टवंसी)

इसका संस्कृत रूप है—‘सम्यक् + अर्थदर्शी’। इसका अर्थ है—यथावस्थित अर्थ का प्रतिपादन करने वाला, देखने वाला। मुनि आचार्य आदि के पास अर्थ की जैसी अवधारणा की हो उसी प्रकार से उसको अभिव्यक्ति करे, अनवगत कथन न करे। वह नई व्याख्या न करे। वह यह समझे कि मैं आचार्य नहीं हूँ। मुझे नई व्याख्या करने का अधिकार नहीं है। मैंने आचार्य के पास जैसी अवधारणा की है, वही मैं दूसरों को बताऊँ।

इस प्रकार सोचने वाला सम्यक् अर्थदर्शी होता है।

१. (क) बृत्ति, पु० २३५ : तस्य वाग्भुज्यमानस्य ओतुनं कुत्रचित् वाचां विहृतेत्—अहो ! वाक्पूज्यमानस्य, न विन्देवित्यर्थः।

(ख) बृत्ति, पत्र २५७ : न तिरस्कुर्वामि अतःकरोबुधदुततस्तं प्रशमितारं न विडम्बोदिति।

२. बृत्ति, पत्र २५७ : निबद्धं—अर्थस्तोकम् ... निबद्धं वा—स्तोककालीनं व्याख्यानम्।

३. बृत्ति, पु० २३५ : निबद्धं वाग्भुज्यमानस्य वा न दीधं कुत्रचित् अधिकार्थः सो अत्थो वसत्थो ओ अत्थो अवकरोहि आकरो।

४. (क) बृत्ति पु० २३५।

(ख) बृत्ति, पत्र २५७।

५. बृत्ति, पत्र २५७ : स्तोककालीनं व्याख्यानं व्याकरणतर्कविप्रवेक्षणद्वारेण प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या ‘न दीधयेत्’—न दीर्घकालिकं कुर्वामि।

६. (क) बृत्ति, पु० २३५ : समिया नाम सम्यग् यथा मुच्यमानासादुपधारितम्, सम्यग् अर्थं यत्पन्ति समियाअट्टवंसी नाह्वाचार्य इति

हुत्वा।

(ख) बृत्ति, पत्र २५७ : सम्यग्—यथावस्थितमर्थं यथा मुच्यमानासादुपधारितमर्थप्रतिपाद्यं इत्यर्थं शीलमास्य स भवति सम्यगर्थदर्शी।

२०. संगत बात कहे (समाकषेयता)

इसके भी अर्थ हैं—अच्छी प्रकार से बात कहना या संगत बात कहना ।'

प्रश्नकर्त्ता यदि अल्पाक्षर वाली बात को अच्छी तरह से न समझ सके तो मुनि अपने कथन को विविध प्रकार से कहे, उसका भावार्थ बताए ।'

२१. अर्थपूर्ण और अस्खलित वचन बोले (पट्टिपुण्यभासी)

अर्थपूर्ण और अस्खलित वचन बोलने वाला प्रतिपूर्णभाषी होता है ।

जसरोँ तथा अर्थ की दृष्टि से जो वाक्य अहीन, अस्खलित और अमिश्रित होता है, वही वाक्य प्रतिपूर्ण होता है, वही भाषा प्रतिपूर्ण होती है । जो मुनि ऐसी भाषा का प्रयोग करता है, वह प्रतिपूर्णभाषी कहलाता है ।'

मुनि व्याख्यान करते समय अथवा प्रश्न का उत्तर देते समय बोड़े अक्षर बोलकर ही अपने आपको कृतार्थ न समझे । क्योंकि यदि विषय महान हो, उसकी अर्थाभिव्यक्ति दुरूह हो तो श्रोता के आधार पर उचित हेतु और युक्तियों के द्वारा विषय को स्पष्ट करे, जिससे कि श्रोता उसे हृदयंगम कर सके ।'

वस्तुवैकालिक सूत्र में भी मुनि को 'प्रतिपूर्ण' भाषा बोलने का निर्देश दिया है ।'

२२. आज्ञासिद्ध वचन का प्रयोग करे (आजाए सिद्धं वयणं मिशुंजे)

मुनि आज्ञासिद्ध वचन का प्रयोग करे । जैसे गुरु ने अर्थ की अभिव्यक्ति की है, उसी प्रकार से अर्थ की अभिव्यक्ति करे । इस प्रकार आज्ञासिद्ध का अर्थ है—गुरु के पास की हुई अवधारणा, स्वेच्छाकल्पित नहीं । वचन का अर्थ है—सूत्र और अर्थ ।

मुनि तत्त्व का निरूपण करते समय उत्सर्ग के स्थान पर उत्सर्ग, अपवाद के स्थान पर अपवाद, स्व-समय के स्थान पर स्व-समय और पर-समय के स्थान पर-समय का अवलंबन से । स्वेच्छाचारिता से वह कुछ भी न कहे ।'

वृत्तिकार ने 'आजाए सुद्धं' पाठ मानकर आज्ञा का अर्थ—सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगम और शुद्ध का अर्थ—निर्मल, पूर्वापर-अविच्छेद, निरवच्छ वचन किया है । शेष व्याख्या वृत्तिकार के समान ही है ।'

आचारान्न १।३८ में 'आजाए' का अर्थ—तीर्थङ्कर या अतिशयज्ञानी का वचन किया है ।' उसी आगम के १।६७ में 'आजाए' का अर्थ—तीर्थङ्कर के वचनो का अतिक्रमण—किया है ।'

१. वृत्ति, पृ० २३४ : लोभय संगतं वा लवेयता ।

२. वृत्ति, पृ० २५७ : यत्पुनरतिविचरन्त्यावस्थाक्षरेण सम्प्रत्यक्षोक्तमेव प्रकाशेयं समस्तात् वर्णयताव्योच्चारणतो जायार्थ-कथयतश्चाप्येव ।

३ (क) वृत्ति, पृ० २३६ : पट्टिपुण्यभासी अट्ट-अक्षरैर्हि अहीनं अस्खलितं अमिश्रितं ।

(ख) वृत्ति, पृ० २५७ : प्रतिपूर्णभाषी स्यात्—अस्खलिताभिलिखिताहीनाक्षरायंवाही अवेदिति ।

४. वृत्ति, पृ० २५७ : नाह्यैरेवाक्षरेकस्या कृतार्थो अवेद्, अपि तु ज्ञेयगह्वारायंभावने सद्धेतुमुक्तवाहिनिः श्रोतारम्..... ।

५. वस्तुवैकालिकं ८/४८ : विद्धं मियं असंविद्धं, पट्टिपुण्यं मियं मियं ।

असंविदमनुष्यिणां, जातं मिसिर असंविद्धं ।

६. वृत्ति, पृ० २३३ : आजाए सिद्धं वयणं, आज्ञा यथा गुणवोपदिष्टं तथेवोपदेष्टव्यम्, आज्ञासिद्धं नाम यथोपधारितम् न स्वेच्छा-विकल्पितम्, वचनमिति कुतमस्यो वा, विविधं बुद्धेयम् । कथं ? उस्तमगे उस्तमगे अवभाते अवभातं, एवं तसमये तसमये परसमये परसमयं ।

७. वृत्ति, पृ० २५७ : तीर्थकरावस्था—सर्वज्ञप्रणीतागमनाशुतारेण 'शुद्धम्'—अवभातं पूर्वापरविच्छेदं निरवच्छं वचनमभिव्यक्त्युत्तरीतोत्सर्गविधये सति उत्सर्गमपवादविधये चापवादं तथा स्ववरसमयोर्वाच्यं वचनमभिव्येत् ।

८. आचारो, १/३८ वृत्ति, पृ० ३२ : आज्ञया जीनीग्रवचनेन ।

९. वृत्ति, १/६७, वृत्ति पृ० २८ : आज्ञायां वसंते, न अनवद्वेषीतवचनाशुतारीति ।

‘आवाए मामर्षं धर्म’^१—इसका अर्थ है—वे मेरे धर्म को धामकर—मेरी आज्ञा को स्वीकार कर (आचीकन मुनि-धर्म का पालन करते हैं)।

‘आज्ञा’ शब्द के ये सारे परम्परागत अर्थ हैं। वास्तव में इसका अर्थ—अतीन्द्रियज्ञान वा उपचार से अतीन्द्रियज्ञानी का बचन भी हो सकता है।

६३. पाप का विवेक करने वाले बचन का संधान करे (अनिसंघए पापविबेन)

तत्त्व की व्याख्या करते समय मुनि प्रतिपक्ष यह सोचे कि मेरे पाप का पृथक्करण कैसे हो ? वह पूजा, सत्कार या किसी प्रकार के गौरव के बशीभूत होकर व्याख्यान न करे। वह केवल यह सोचे कि व्याख्यान करने का एकमात्र उद्देश्य है—कर्मों की निर्धरा, पाप का पृथक्करण।^२

मुनि लाभ, सत्कार आदि से निरपेक्ष रहकर निर्दोष बचन कहे।^३

संकोक २५ :

६४. यथोक्त बचन को (अहानुदयाहं)

इसका अर्थ है—यथोक्त बचन अर्थात् तीर्थङ्कर, गणधर आदि विनिष्ट ज्ञानियों का बचन।^४

६५. मर्यादा का अतिक्रमण कर न बोले (पाइवेसं वएज्जा)

दुर्गिकार ने ‘बेला’ के दो अर्थ किए हैं—

१. जिस सूत्र और अर्थ का या धर्मवेत्तना का जो काल है, वह।
२. मर्यादा।

दुर्गिकार ने ‘बेला’ का अर्थ—अध्ययन-काल और कर्त्तव्य-काल किया है।

जिस कार्य को जिस समय में करना हो, उसी समय में उसे निष्पन्न करना चाहिए। काल का अतिक्रमण दोष है। इसका तात्पर्य है कि मुनि अध्ययन काल में अध्ययन करे और निर्धारित काल में अपने बूझरे कर्त्तव्यों को सम्पन्न करे। जिस समय जो सूत्र पढ़ना हो, उसे पढ़े, जो अर्थ धारण करना हो उस अर्थ को धारण करे और जिस समय व्याख्यान करना हो, उस समय व्याख्यान करे। काल-मर्यादा का अतिक्रमण न करे। दशबैकालिक सूत्र का प्रसिद्ध सूक्त है—‘काले कासं समायरे।’ मुनि यथाकालवादी और यथाकालकारी हो।^५

६६. दृष्टि को संश्लिष्ट या दूषित न करे (विट्ठि न लूसएज्जा)

‘लूसएज्जा’ के दो अर्थ हैं—संश्लिष्ट करना, दूषित करना।

दृष्टिमान् मुनि धर्मकथा करते समय, स्वपक्ष या परपक्ष की बात कहते हुए ऐसी बात कहे जिससे सम्यग्दृष्टि का हनन न हो। कुटीयिकों की प्रशंसा या अपसिद्धान्त के कथन से श्रोताओं की दृष्टि को भी दूषित न करे। वह तत्त्व का प्रतिपादन इस रीति से

१. आचारो ६/४५।

२. बुद्धि, पुण्ड २३३ : कथं मम आचरताः पापविबेकः स्यात् ? न च पूजा-सत्कार-गौरवाधिकारणम् आचरति।

३. बुद्धि, पन् २३७ : आचरताकाराधिकारिणेतया काङ्क्षमाणो निर्दोषं बचनमनिरुद्धयेदिति।

४. बुद्धि, पन् २३५ : यथोक्तानि तीर्थंकरगणधराविभित्तानि।

५. बुद्धि, पुण्ड २३६ : केना नाम ये अथ सूत्रसार्थस्य धर्मवेत्तनाया वा कालः, बेला मेरा, तां बेलां नातोसं वृथावित्थं।

६. बुद्धि, २३५ : सता अहानुदयाहि को अथ कर्त्तव्यस्य कातोअध्ययनकालो वा तां बेलावसिन्नं नासिनेत्तं वदेत्—अध्ययनकर्त्तव्यमर्थां नासिन्नकूपेत्तं च (अथ) अनुष्ठानं प्रति वदेत्तं, यथोक्तं वदन्तराजायका अर्थः कियाः दुर्गिकारिणः।

करे जिससे श्रोताओं को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो या सम्यग्दर्शन स्थिर होता जाए ।'

६७. समाधि को (समाधि)

श्रुतिकार ने ज्ञान आधि समाधि तथा धर्म, मार्ग और चारित्र्य—तीनों का ग्रहण किया है ।'

श्रुतिकार के अनुसार इसका अर्थ है—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र्य रूप समाधि अथवा चित्त का सम्यक् व्यवस्थापन ।'

दशोक २६ :

६८. सिद्धान्त को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करे (अलूसए)

अलूसक वह होता है जो सिद्धान्त और आचार को यथार्थरूप में प्रस्तुत करता है ।'

६९. (अपरिणत को) रहस्य न बताए (प्रच्छन्नभाषी)

जो सिद्धान्त और आचार के विषय को प्रकट नहीं करता, प्रच्छन्न वचनों के द्वारा उसे छुपाता है, वह प्रच्छन्नभाषी होता है । अथवा जो अपरिणत श्रोता के सम्मुख ऐसे रहस्यों का उद्घाटन करता है, ऐसे अपवाद-सूत्रों का कथन करता है कि श्रोता असमंजस में पड़ जाता है, शंकाशील बन जाता है । वह भी प्रच्छन्नभाषी होता है ।'

जो सिद्धान्त के सूक्ष्म रहस्य को अपरिणत शिष्य के सामने अभिव्यक्त करता है, वह रहस्य उस शिष्य के लिए दोषकारी होता है—

‘अप्रसाप्तमती शास्त्रसम्भाषप्रतिपादनम् ।

दोषस्याभिनवोदीर्घं, तत्पत्नीयमिव चरे ॥’

—अप्रसाप्त चित्त वाले व्यक्ति के सम्मुख शास्त्र के रहस्य का प्रतिपादन करना उसके दोष के लिए ही होता है, जैसे तत्काल उत्पन्न चर में दी गई औषधि चर को बढ़ाती है, घटाती नहीं ।'

१००. सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे (जो सुतमस्यं न करेज्ज अण्णं)

मुनि सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे । इसका तात्पर्य यह है कि मुनि सूत्र—आगम को सर्वथा इधर-उधर न करे । उसके एक अक्षर को भी न घटाए और न बढ़ाए । वह जैसा और जितना है उसे वैसा और उतना ही रखे । अर्थ की विकल्पना में व्यक्ति स्वतंत्र होता है । वह अपनी मेधा और सूक्ष्म में जाने की योग्यता के अनुसार उसके अर्थ की अभिव्यक्ति करता है । वह अर्थभिव्यक्ति स्वसिद्धान्त से विरुद्ध या अविरुद्ध भी हो सकती है । किन्तु मुनि जानबूझकर सम्यक् को असम्यक् और असम्यक् को सम्यक् न करे ।'

१. (क) कृत्ति, पृ० २३६ : सम्यग्दृष्टिं सपक्खे परपक्खे वा कदा कचयेत् तत् कचयेत् जेण हरित्तं न सूत्तिज्जइ, कुत्तीर्णप्रसाप्ताभिः अपसिद्धान्तदेशनाभिर्वा न श्रोतुरपि दृष्टिं दूषयेत्, तथा तथा तु कचयेत् यथा यथाऽस्य सम्यग्दर्शनं भवति स्थिरं वा भवति ।

(ख) कृत्ति, पृ० २३८ : न दूषयेत्, इदमुक्तं भवति—पुरुषविशेषं ज्ञात्वा तथा तथा कचनीयमपसिद्धान्तदेशनापरिहारेण यथा यथा श्रोतुः सम्यक्स्थ स्थिरीभवति ।

२. कृत्ति, पृ० २३६ : ज्ञाताविसमाधि-धर्म-मार्ग चारित्र्य ज्ञानीते ।

३. कृत्ति, पृ० २५८ : समाधि—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याद्यं सम्भवचित्तव्यवस्थानाद्यं वा ।

४. कृत्ति, पृ० २३६ : अलूसकः सिद्धान्ताचारयोः प्रकटमेव कथयति ।

५. कृत्ति, पृ० २३६ : न तु प्रच्छन्नवचनैस्तमर्थं गोपयति, अपरिणतं वा श्रोतारं प्राप्य न प्रच्छन्नमुद्घाटयति, अपवादमित्यर्थः वा कुत् ‘‘माये वडे जिहिंसं’’ किञ्च—अनुकपाए दिक्कति ।

६. कृत्ति, पृ० २५८ : न प्रच्छन्नभाषी भवेत्—सिद्धान्तार्थविरुद्धमवधारितं सार्वजनिकं तत्प्रच्छन्नभाषणेन न गोपयेत्, यदि वा प्रच्छन्नं वाक्यमपरिणतय न जायेत्, तद्धि सिद्धान्तरहस्यमपरिणतशिष्यविश्वसनेन बोधार्थं संपद्यते, तथा श्रोतुः—अप्रसाप्तमती ... ।

७. कृत्ति, पृ० २३६ : न सूत्रमस्यत् प्रद्वेषेण करोति अन्यथा वा, यथा ‘‘रब्धो जत्तंसिपो जत्थं’’ । प्रथमो नाम अर्थः, तमपि नाम्यथा कुदाप्, यथा—‘‘आजंती केआजंती’’ (आचारो १/५/१) एके यावता तं लोका विपरामसंति । सूत्रं सर्वधर्मावस्था न कसंय्यन् अर्थविकल्पस्तु स्वसिद्धान्तविषयो अभिव्यक्तः स्यात् ।

१०१. शास्त्रा की शक्ति (सत्त्वारजस)

शास्त्रा का अर्थ है— तीर्थंकर, सर्वज्ञ । शक्ति का अर्थ है—बहुमान ।

शास्त्रा स्वहित साधन के होते हैं, अतः वे सदा परहित में रत रहते हैं । आगम-श्रुत उन्हीं के द्वारा प्रणीत है । इसलिए मुनि उनके प्रति अपनी शक्ति से प्रेरित होकर सूनार्य को अन्यथा न करे ।'

१०२. परम्परा के अनुसार (अनुबोधि)

इसका संस्कृत रूप है 'अनुबोधि' । यह क्रिया विशेषण है । इसका अर्थ है—परंपरा के अनुसार ।

चूनिकार और वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप—अनुविचिन्त्य किया है ।'

१०३. श्रुत का सम्यक् प्रसिपादन करे (सुयं च सम्मं पट्टिवावएज्जा)

मुनि संघ में रहता है, वहाँ अध्ययन करता है, संघ से सहयोग प्राप्त करता है । इस प्रकार वह संघ का ऋणी हो जाता है । उस ऋण से मुक्त होने के लिए संघ को सेवा देना ऋण-परिमोक्ष होता है । श्रुत के प्रसिपादन का एक उद्देश्य है—ऋण-परिमोक्ष ।'

इलोच २७ :

१०४. जो सूत्र का शुद्ध उच्चारण करता है (शुद्धसुते)

चूनिकार के अनुसार श्रुत जिसके लिए अत्यन्त परिचित हो चुका है और जिसका उच्चारण व्याप्ताभेदित आदि दोषों से रहित है, वह शुद्ध सूत्र है ।'

वृत्तिकार के अनुसार जिसका प्रवचन अध्ययन और प्ररूपणा की दृष्टि से यथार्थ होता है वह शुद्ध-सूत्र कहलाता है ।'

१०५. तपस्वी है (उपहानमं)

आगमों में जिस-जिस आगम के लिए जो-जो तपश्चरण विहित है, उसको करने वाला उपधानवान् कहलाता है ।'

१०६. धर्म को विविध दृष्टिकोणों से प्राप्त करता है (धम्मं च वे विवदंति तत्थ तत्थ)

इसका अर्थ है—जो धर्म को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्राप्त करता है । 'विवदंति' के दो अर्थ हैं—जानना, सम्यक् रूप से प्राप्त करना । इस वाक्य का तात्पर्यार्थ यह है—

मुनि आत्मप्राप्त्य अर्थ को केवल आगम से ही जाने और हेतुप्राप्त्य अर्थ को सम्यक् हेतुओं से समझे । अथवा अपने सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध अर्थ को अपने सिद्धान्त में व्यवस्थापित करे और पर-सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध अर्थ को पर-सिद्धान्त में व्यवस्थापित करे । अथवा उत्सर्ग सूत्र से व्यवस्थित अर्थ को उत्सर्ग सूत्र से समझे और अपवाद को अपवाद सूत्र से समझे । मुनि सूत्र को विभिन्न

१. (क) वृत्ति, पृ० २३६ : शास्त्रासीति शास्त्रा, शास्तरि शक्तिःसत्त्वारजसिः, स शक्तिः सत्त्वारजसिः ।

(ख) वृत्ति, पृ० २३६ : परहितैकरतः शास्त्रा तस्मिन् शास्तरि या व्यवस्थिता शक्तिः—बहुमानस्तथा तद्वक्त्या.....

२. (क) वृत्ति, पृ० २३६ :अनुविचिन्त्यनु अनुविचितेज्ज अनुविचिन्त्य ।

(ख) वृत्ति, पृ० २३६ : अनुविचिन्त्य ।

३. (क) वृत्ति, पृ० २३६ : तत्थ श्रुता सम्यक् अन्येभ्यः रिणपरिमोक्षी पट्टिवावएज्जा तद्विदं पट्टिवावयेत् पट्टिवावएज्जा सुज्जमं धम्मं-कथां वा ।

(ख) वृत्ति, पृ० २३६ : तथा यत् श्रुतवाचाविचिन्त्यः सकाशात्संज्ञेय सम्यक्काराधनामनुवर्तमानोऽन्येभ्य ऋणमोक्षं प्रतिपद्यमानः 'प्रसिपादयेत्'—प्ररूपयेत् सुवर्तनीयतां अन्यमानो अवाक्यंजितिष्ठेति ।

४. वृत्ति, पृ० २३७ : शुद्धं परिचितं तद्विचारादेति च ।

५. वृत्ति, पृ० २३७ : शुद्धम्—अवधारतं अवाक्यव्यवस्थितवस्तुप्ररूपणतोऽन्यमनसत्त्वं सूत्रं—प्रवचनं यस्यासी शुद्धसूत्रः ।

६. (क) वृत्ति, पृ० २३७ : उपधानमवधिनि तपोवधानवान् ।

(ख) वृत्ति, पृ० २३७ : उपधानम्—तपश्चरणं यस्यास्य श्रुतस्याभिहितवाक्ये तद्विदंते यस्यासावुपधानवान् ।

दृष्टियों से समझने का प्रयत्न करें।'

१०७. जिसका वचन लोकमान्य होता है (आद्यवचनके)

आवेयवाक्य अर्थात् वह व्यक्ति जिसका वचन लोकमान्य होता है, ग्राह्य होता है।'

१०८. कुशल (कुशलो)

सूत्रिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं :—

१. प्रत्यक्षज्ञानी ।

२. परोक्षज्ञानी ।

३. वेदज्ञ—आत्मज्ञ ।

सूत्रिकार के अनुसार जो मुनि आगम के प्रतिपादन में तथा सद् अनुष्ठान में निपुण होता है वह कुशल कहलाता है।'

१. (क) सूत्रि, पु० २३७ : आज्ञापाह्या आगमेनेव प्रज्ञापयितव्याः बाष्ठाभितोऽपि हेतुवाहरकोपसंहारेः । अथवा तत्र तत्र इति स्वसमये परसमये वा तथा ज्ञानादिषु इत्यादिषु वा, उत्सर्गाप्यवाच्योर्वा यत्र यत्र तत् तथा छोटयितव्यम् ।

(ख) सूत्रि, पत्र २३८, २३९ : अर्थ — अनुचारिकाद्यर्थः यः सम्यक् वेत्ति विन्दते वा — सम्यग् लभते, तत्र तत्रेति य आज्ञापाह्योऽर्थः, त आज्ञयेव प्रतिवक्तव्यो हेतुकस्तु सम्यक्हेतुना यदि वा स्वसमयसिद्धोऽर्थः स्वसमये व्यवस्थापनीयः वर (समय) सिद्धश्च परस्मिन्, अथवा उत्सर्गाप्यवाच्योर्वा वस्तुतोऽर्थास्ताभ्यामेव यथास्वं प्रतिपादयितव्यः ।

२. (क) सूत्रि, पु० २३७ : आवेयवाक्य इति ग्राह्यवाक्यः ।

(ख) सूत्रि, पत्र २३९ : आवेयवाक्यो ग्राह्यवाक्यो भवति ।

३. सूत्रि, पु० २३७ : अथवाः परोक्षज्ञानी वा वेदज्ञे ।

४. सूत्रि, पत्र २३९ : कुशलो—निपुणः आगमप्रतिपादने सद् अनुष्ठाने च ।

पञ्चरत्नं अज्ञानां
कर्मिणः

पञ्चरत्नं अध्ययन
कर्मिणः

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'यमकीय' है। समवायों में भी यही नाम निविष्ट है^१। इसके सभी श्लोक 'यमक' अलंकार से युक्त हैं। प्रथम श्लोक के अन्तिम चरण और दूसरे श्लोक के प्रथम चरण में 'यमक' है। जैसे—दूसरे श्लोक के अन्तिम शब्द हैं—'तहि-तहि' और तीसरे के प्रथम शब्द हैं 'तहि तहि'। सर्वत्र शब्द-साम्य या भाव-साम्य है। 'यमक' में निबद्ध होने के कारण इसे 'यमकीय' कहा गया है।

भूषिकार ने इसके दो नाम बताए हैं—आदानीय और संकलिका।^२

भूषिकार ने मुख्य नाम आदानीय और विकल्पक में—यमकीय^३ (प्रा० अमतीयं) और संकलिका^४—ये दो नाम माने हैं। इस प्रकार इस अध्ययन के तीन नाम हो जाते हैं—आदानीय, यमकीय और संकलिका।

भूषिकार ने 'आदानीय' और 'संकलिका' नामकरण की सार्थकता इस प्रकार बतावाई है—

मुमुक्षु व्यक्ति अपने समस्त कर्मों को जीन करने के लिए जिन ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का आदान (ग्रहण) करता है, उनका इस अध्ययन में प्रतिपादन है, इसलिए इसे 'आदानीय' नाम से सम्बोधित किया गया है।^५

संकलिका के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य संकलिका—सांकेय आदि।

२. भाव संकलिका—जिसमें उत्तरोत्तर विविष्ट अध्यवसायों का संकलन होता है।

इस अध्ययन के श्लोकों के अन्त-आदि पद में एक प्रकार की संकलना (संकलिका) है। उसके आधार पर इसे 'संकलिका' कहा गया है।^६

प्रस्तुत अध्ययन में एक शृंखला (संकलिका) का प्रयोग है। इसमें तीन प्रकार की शृंखला है—१. सूत्र शृंखला, २. अर्थ शृंखला और ३. तदुभय (सूत्र-अर्थ) शृंखला।^७

भूषिकार ने दूसरे श्लोक में सूत्र संकलिका और अर्थ संकलिका—दोनों माना है^८ तथा पन्द्रहवें श्लोक में केवल अर्थ संकलिका माना है।^९ शेष श्लोक संभवतः सूत्र-संकलिका के हैं।

१. भूषि, पु० २३८ : आदानीकर्मं ति वा संकलितकर्मणं ति वा ।

२. भूषि, पृ० २५२ : अथवा अन्तरीयं ति अस्याध्ययनस्य नाम ।

३. भूषि, पृ० २६० : केचित् तु पुनरस्याध्ययनस्यान्तराधिक्योः संकलनात् संकलिकेति नाम भुवति ।

४. भूषि, पृ० २६० ।

५. भूषि, पृ० २६० : आदानी (अन्तर्गति ?) कर्मोः संकलनादिति ।

६. भूषि, पु० २३८ : कहिंति सुरोत्र संकला भवति, कहिंति अन्वेष, कहिंति उन्मेषेण वि ।

७. भूषि, पु० २३२ : अन्वेषोन्मेषाणि संकलिका ।

८. भूषि, पु० २४१ : इयमर्थसंकलिका—अन्तर्गति और उन्मेषेण ।

पञ्चरत्नं अष्टमस्कन्धः : अष्टमस्कन्धः अध्यायः

अमईए : यमकीय

सूत्र	संस्कृत भाषा	हिन्दी अनुबाद
१. अमसीते पदुप्यर्णं आममिस्सं च भायमो । सखं अणति तं ताई अंसनावरमंतए ॥	अमसीतं प्रत्युत्पन्नं, आममिष्यञ्च जायकः । सर्वं मन्यते तत् तादृग्, दर्शनावरणान्तकः ॥	१. दर्शनावरण का अन्त करने वाला ज्ञाता और द्रष्टा पुरुष अतीत, वर्तमान और भविष्य—सबको जानता है ।
२. अंतए वित्तिगिच्छाए से जायइ अजेमिस्सं । अजेमिस्सत्त अक्खाया न से होइ तहि तहि ॥	अन्तकः विचिकित्सायाः, स जानाति अनीदृशम् । अनीदृशस्य आख्याता, न स भवति तत्र तत्र ॥	२. विचिकित्सा का अन्त करने वाला अनुपम तत्त्व को जानता है । अनुपम तत्त्व का व्याख्याता यत्र-तत्र नहीं होता ।
३. तहि तहि सुयक्खायं से य सखे सुआहिए । सदा सखेण संपण्णे मेस्स भूतेसु कणए ॥	तत्र तत्र स्वाख्यातं, तच्च सत्यं सु-आहृतम् । सदा सत्येन संपन्नः, येनैव भूतेषु कल्पयेत् ॥	३. (जहाँ विचिकित्सा का अन्त होता है) वहाँ-वहाँ स्वाख्यात है । वह सत्य और सुभाषित यह है— सदा सत्य से संपन्न हो जीवों के साथ मैत्री करे ।
४. भूतेसु च विरुद्धेज्जा एस धम्मे वृत्तीमजो । वृत्तीमं जगं परिज्जाय अस्मिन् जीवितभावनया ॥	भूतेषु न विरुद्धेत, एष धर्मः वृत्तीमतः । वृत्तीमान् जगत् परिज्जाय, अस्मिन् जीवितभावनया ॥	४. जीवों के साथ विरोध न करे—यह संयमी का धर्म है । संयमी पुरुष परिज्ञा से जगत् को जानकर इस धर्म में जीवित-भावन करे ।
५. भावनायोगसुखात्मा अके जावा च आहिपा । जावा च तीरसंपन्ना सख्यदुक्का तिउट्ठति ॥	भावनायोगसुखात्मा, अके नीरिव आहृतः । नीरिव तीरसंपन्नाः, सर्वदुःखात् नृट्यति ॥	५. जिसकी आत्मा भावना-योग से मुक्त है वह जल में नौका की तरह कहा गया है । वह तट पर पहुँची हुई नौका की भाँति सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ।
६. तिउट्ठती उ मेधावी आयं लोपसि पापमं । मुट्ठंति पापकम्मणि अयं कम्मवज्जुज्जो ॥	नृट्यति तु मेधावी, जानन् लोके पापकम् । नृट्यन्ति पापकर्मणि, तत्र कर्म अकुर्वता ॥	६. मेधावी पुरुष लोक में पाप को जानता हुआ उससे मुक्त होता है । उसके पाप-कर्म टूट जाते हैं जो नए कर्म का अकर्ता है ।
७. अकुर्वतो अयं अस्मि कम्मं आय विज्जायतो । अज्जाय स महावीरः अयं ताई च विज्जायती ॥	अकुर्वतो नयं नास्ति, कर्म नाम विज्जायतः । आत्मा स महावीरः, यो न ज्ञायते न जिज्ञते ॥	७. जो नए कर्म का कर्ता नहीं है, विज्ञाता (या द्रष्टा) है उसके नया कर्म नहीं होता । इसे जानकर जो (ज्ञाताभाव या चेतन्य के मुक्त स्वरूप में) महावीर्य- वान् है वह न जन्म लेता है और न मरता है— मुक्त हो जाता है ।

८. य मिच्छती महावीरे
अस्स भवि पुरेकं ।
वाक्क व जालमज्जेह
पिया सोमंति इत्थिजे ॥

९. इत्थिजे जे न सेवन्ते
आदिमोक्षा हु ते जना ।
ते जना बन्धनमुत्तका
भावकंति जीवितं ॥

१०. जीवितं पिट्ठो सिञ्चा
अंतं पारंति कम्मणं ।
कम्मणा संमुहीमुता
जे मग्गमनुसासति ॥

११. अनुसासनं पुढो पाणी
वसुमं वयणासते ।
अनासते अते वंते
वहे आरतमेवुणे ॥

१२. नीवारो व न लीएज्जा
छिन्नसोते अनाविले ।
अनाविले सदा वंते
संवि पत्ते अनेलिसं ॥

१३. अनेलिसस्स सेवणे
न विरुद्धेज्ज केवह ।
मणसा वयसा चेव
कायसा चेव वसुमं ॥

१४. से हु वक्क मनुस्साणं
जे कंसाए य अंतए ।
अंतेज खुरो बहुतो
वक्कं अंतेज सोट्ठति ॥

१५. अंताणि धीरा सेवन्ति
तेन अंतकरा इहं ।
इह माणुस्सए ठाणे
धम्ममाराहिजं जरा

१६. विट्ठित्ठु व देवा व
उत्तरीए ति मे सुतं ।
सुतं व मेत्तमेगेसि
अमनुस्सिणो नो त्था ॥

य अयते महावीरः,
यस्य नास्ति पुराकृतम् ।
वाहुरिव ज्वालामत्येति,
प्रियाः लोके स्त्रियः ॥

स्त्रियः ये न सेवन्ते,
आदिमोक्षाः खलु ते जनाः ।
ते जनाः बन्धनमुत्तकाः,
नायकास्मि जीवितम् ॥

जीवितं पुष्टतः कृत्वा,
अन्तं प्राप्नुवन्ति कर्मणाम् ।
कर्मणा सम्मुखीभूता,
ये मार्गमनुशासति ॥

अनुशासनं पूषक् प्राणिषु,
वसुमान् पूजाज्जाशयः ।
अनाशयः यतो दान्तः,
दृढः आरतमेवुनः ॥

नीवारो वा न लीयेत,
छिन्नस्रोता अनाविलः ।
अनाविलः सदा दान्तः,
सन्धि प्राप्तः अनीदृशम् ॥

अनीदृशस्य क्षेत्रज्ञः,
न विरुध्येत केनचित् ।
मनसा वचसा चैव,
कायेन चैव वसुमान् ॥

स खलु वसुमनुष्याणां,
यः कंक्षायाश्च अन्तकः ।
अन्तेन खुरो बहुति,
वक्त्रं अन्तेन सुठति ॥

अन्तान् धीराः सेवन्ते,
तेन अन्तकरा इह ।
इह मानुष्यके स्थाने,
धर्ममाराध्य नराः ॥

निष्ठितार्था वा देवा वा,
उत्तरीये इति मे श्रुतम् ।
श्रुतं व मे एतद् एकेषां,
अमनुष्येषु नो तथा ॥

८. जिसके पूर्वकृत कर्म नहीं होता वह महावीरवान् नहीं मरता^{१८} (छोर नहीं जम्मता) । जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को पार कर जाती है वैसे ही वह (विज्ञाता या द्रष्टा) लोक में प्रिय होने वाली स्त्रियों (काम-वासना) का^{१९} पार पा जाता है ।

९. जो स्त्रियों का सेवन नहीं करते (जो काम-वासना से मुक्त होते हैं) वे जन मोक्ष पाने वालों की पहली पंक्ति में हैं ।^{२०} वे बन्धन से उन्मुक्त हो, जीने की इच्छा नहीं करते ।^{२१}

१०. वे जीवन की ओर पीठ कर कर्मों का अन्त करते हैं । वे कर्मों के सामने लड़े हो^{२२} मार्ग का अनुशासन करते हैं ।^{२३}

११. समय-धन से सम्पन्न पुरुष^{२४} प्राणियों में उनकी योग्यता के अनुसार^{२५} अनुशासन^{२६} करते हैं । वे पूजा का आशय नहीं रखते ।^{२७} वे अनाशय, संयत, दान्त, दृढ़ और मैथुन से विरत होते हैं ।

१२. जिसके स्रोत छिन्न हो चुके हैं,^{२८} जो निर्मल चित्त वाला है,^{२९} वह प्रलोभन के स्थान में लिप्त न हो ।^{३०} वह सदा निर्मल चित्त वाला दान्त अनुपम संघि (ज्ञान आदि) को^{३१} प्राप्त करता है ।

१३. अनुपम संघि को^{३२} जानने वाला^{३३} वसुमान् पुरुष^{३४} किसी के साथ मनसा, वाचा, कर्मणा विरोध न करे ।

१४. वह मनुष्यों का वक्क है जो आकांक्षा का अन्त करता है । उस्तरा अंत (घार) से चलता है । वक्का अन्त (छोर) से चसता है ।^{३५}

१५. धीर पुरुष अंत का^{३६} सेवन करते हैं, इसलिए वे धर्म के झिलर पर पहुंच जाते हैं^{३७} । वे इस मानव जीवन में^{३८} धर्म की आराधना कर

१६. या तो मुक्त होते हैं^{३९} या अनुस्तर देवलोको में^{४०} देव होते हैं, यह मैंने सुना है ।^{४१} कुछ प्रवचनकारों (बुद्धों) का यह मत भी मैंने सुना है कि अ-मनुष्यों (देवों) का भी निर्वाण होता है, किन्तु ऐसा नहीं होता; मनुष्य ही निर्वाण को प्राप्त करता है ।^{४२}

१७. बलं करोति कुम्भायं
इहनेवेति बाहिरं ।
आवातं पुन एवेति
कुम्भमेव सनुस्सय ॥

१८. इतो विद्धस्यमानस्य,
पुनः संबोधि कुलभा ।
कुम्भभायो लक्ष्मणा
ये जन्मदं दियानरे ॥

१९. ये धर्मं सुदुर्लभं
पश्चिपुष्पमवेति ।
अवेतिसस्य जं ठानं
तस्य जन्मकथा कुतो ? ॥

२०. कुतो कथाइ मेहावी
उत्पद्यन्ति तयागता ? ।
तयागता अपश्चिपुष्पा
अन्तु भोगस्तनुत्तरा ॥

२१. अनुत्तरे य ठाने से
कासवेण पवेदिते ।
जं किष्वा विष्णुवा एवे
निदं पावेति पंथिया ॥

२२. पंथिए वीरियं नदं
विष्वायाय पवतयं ।
पुने पुष्पकं कर्म
नयं चापि न कुम्भइ ॥

२३. न कुम्भइ महावीरे
अनुपुष्पकं रजं ।
रजसा संपुष्पीयते
कर्म हेन्वाय जं मतं ॥

२४. जं मतं सत्त्वसाधनं
तं मतं सत्त्वसाधनं ।
सत्त्वसाधनं सं सिष्वा
देवा वा अन्तविष्णु ते ॥

२५. अन्तविष्णु पुरा वीरा
अन्तविष्णु वि पुष्पया ।
कुम्भमेव जन्मस्य
जन्म सत्त्वकरा सिष्वा ॥

—ति वेति ॥

अन्तं कुर्वन्ति दुःखानां,
इह एकेषां बाहृतम् ।
आस्थातं पुनरेकेषां,
कुलभोऽयं समुच्छ्रयः ॥

इतो विद्धस्यमानस्य,
पुनः संबोधिः कुलभा ।
कुलभास्तथापि,
ये धर्माय व्याकुर्वन्ति ॥

ये धर्मं सुदुर्लभान्ति,
प्रतिपूर्णमनीदृशम् ।
अनीदृशस्य यत् स्थानं,
तस्य जन्मकथा कुतो ? ॥

कुतोः कथाचिद् मेघाविनः,
उत्पद्यन्ते तयागताः ?
तयागताः अप्रतिज्ञाः,
अनुत्तराः कस्य ॥

अनुत्तरं च स्थानं तत्,
काश्यपेन प्रवेदितम् ।
यत् कृत्वा निवृत्ता एके,
निष्ठां प्राप्नुवन्ति पश्चिन्ताः ॥

पश्चितो वीर्यं लब्ध्वा,
निर्वाताय प्रवर्तकम् ।
धुनाति पूर्वकृतं कर्म,
नयं चापि न करोति ॥

न करोति महावीरः,
अनुपूर्वकृतं रजः ।
रजसा सम्पुष्पीयते,
कर्म हिंसा यद् मतम् ॥

यद् मतं सर्वसाधनां,
तद् मतं साधकतमम् ।
साधयित्वा तत् तीर्णाः,
देवा वा अन्तविष्णु ॥

अन्तविष्णु पुरा वीराः,
अन्तविष्णु अपि सुवताः ।
कुम्भमेव जन्मस्य,
जन्मस्य प्राप्नुकराः तीर्णाः ॥

इति श्रुत्वा ॥

१७. कुछ प्रवचनकारों (तीर्थंकरों) का यह अभिमत है कि मनुष्य ही दुःखों का अन्त करता है। उनका यह अभिमत है कि यह मनुष्य का शरीर दुर्लभ है।^{१७}

१८. इस मनुष्य शरीर से म्रुत जीव को फिर संबोधि दुर्लभ होती है। जो धर्म के तत्त्व का उपदेश दें वेसी विष्णु भेष्या वाली आत्माओं का योग भी^{१८} दुर्लभ है।

१९. जो सुदुर्लभ, प्रतिपूर्ण और अनुपम धर्म का निरूपण करता है और यह अनुपम धर्म जिसमें ठहरता है, उसके पुनर्जन्म की बात कहां ?^{१९}

२०. मेघावी तथागत (तीर्थंकर)^{२०} कहां और कब उत्पन्न होते हैं ? तथामत अप्रतिज्ञ, लोक के बंधु और अनुत्तर (अच्छ) होते हैं।

२१. काश्यप (महावीर) ने उस सर्वश्रेष्ठ स्थान का^{२१} प्रतिपादन किया है, जिसका आचरण कर कुछ पंडित मनुष्य उपजात हो^{२१} निष्ठा (मोक्ष) को^{२१} प्राप्त होते हैं।

२२. पंडित पुरुष कर्म-क्षय के लिए प्रवर्तक वीर्य को^{२२} प्राप्त कर पूर्वकृत कर्म की निर्धरा करता है^{२२} और नये कर्म का बन्ध नहीं करता।

२३. महावीर (महावीरवान्)^{२३} पुरुष कर्म-परम्परा में होने वाले^{२३} रज का (बंध) नहीं करता। वह रज के सामने खड़ा होकर कर्म को क्षीण कर जो मत (इष्ट) है (उसे पा लेता है)।

२४. जो सभी साधुओं का मत (इष्ट) है वह मत^{२४} (निर्गन्ध प्रवचन) श्रव्य को काटने वाला है। उसकी साधना कर वे संसार का पार पा जाते हैं अथवा देव होते हैं।

२५. वीरवान् सुवत वहने हुए हैं और अविष्य में भी होते। वे स्वयं तैरते हुए कठिनाई से समझे जा सकने वाले धर्म के अन्त (उच्चतम सिद्धि) को प्रवद करते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पण : अध्याय १५

कलौक १ :

2. ~~RE~~

जलसिक्त, वर्तमान और अविद्यमान—ये तीन काल होते हैं। वर्तमानावरण का अन्त करने वाला इन तीनों को जानता है। इन्द्र, वैश्व, काल और भाव—इन चारों दृष्टियों से जानता है—इसका ज्ञान है वह सबको जानता है। प्रस्तुत श्लोक में जानने के ज्ञान में 'मन्यति' (सं. मन्यते) वातु का प्रयोग मिलता है और ज्ञानावरण के स्थान में वर्तमानावरण का प्रयोग है। जानइ-पासइ का संयुक्त प्रयोग होता है। प्राचीन काल में वर्तमान का प्रयोग अधिक प्रचलित था। उत्तर-काल में ज्ञान का प्रयोग अधिक प्रचलित हो गया।

२. जाणखत है (सही)

इसका संस्कृत रूप है—तावुग् । कृतिकार ने इसका अर्थ प्रायी किया है । उन्होंने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—प्रायी और तायी । प्रायी का अर्थ है—प्राप्त होने वाला और 'तायी' का अर्थ है—जानने वाला ।

देवें—दसवेवासियं, ३/१, टिप्पण पृष्ठ ४७, ४८ ।

ब्लॉक २ :

३. विधिकारिता का (विस्तारिणकाए)

सृष्टिकार ने इसका अर्थ—संदेहज्ञान किया है।' वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—समयज्ञान और चित्तविप्लुति।'

इलाहाबाद ३ :

४. स्वास्थ्यत है (सुयकसार्य)

स्वाध्यायत अर्थात् वह बचन जो पूर्वापर में अविरह्य तथा युक्तियुक्त है। ठाण (३।१०७) में स्वाध्यायत धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन है। इसके अनुसार—अनवान् महावीर ने तीन प्रकार का धर्म प्रकटित किया है—सु-अधीत, सु-ध्यात, और सु-तपस्वित (सु-आचरित)।

जब धर्म सु-अधीत होता है तब वह सु-ध्यात होता है । जब धर्म सु-ध्यात होता है तब वह सु-तपस्वित होता है । सु-अधीत, सु-ध्यात और सु-तपस्वित धर्म स्वाध्यात धर्म है ।”

५. सत्य (सच्चे)

सत्य का अर्थ है—अवितर्क-अनवा संयम ।

सत्य के तीन प्रकार हैं—तपःसत्य, संयमसत्य और ज्ञानसत्य । सत्य के संयम अर्थ की भीयांसा करते हुए पूर्णिकार कहते हैं— जो यथावादी तथाकारी होते हैं, उनके मूल में संयम होता है । कसनी और करनी की समानता सत्य की सूचक है । कसनी और करनी

१ अति, पत्र २६१ : आम्हणी-आजकारणीस; यदि वा—अथवायव्यमयप्रत्ययस्य यत्तादित्यन्तं तातोर्ध्वान्तरयः तयोः सप्तः स

विद्यते यस्यासी—तामी, 'सर्वे मातर्या आनामी' इति कुम्भा साक्षात्स्य परिच्छेदकः ।

९. कृति, पृ० २३६ : चित्तिविज्ञा नाम सम्बेद्धानामम् ।

३. कृति, पत्र २३१ : विचिकित्सा—विशेषविपुलः संशयज्ञानम् ।

४. वेतने—ठाम ३।५०७, दिवस २५२ :

की पूर्ण समानता बीतरागी में बधित होती है। बीतरागी उत्कृष्ट संयमी होते हैं। वे कभी असत्य नहीं बोलते—

‘बीतरागा हि सर्वज्ञा, मित्रा न दुष्टे वचः ।
यस्मात् तस्माद् वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थवर्जितम् ॥’

इसको ४ :

६. विरोध न करे (अविरोधवैकल्या)

विरोध के दो अर्थ हैं—विग्रह, उपघात ।

७. संयमी का (बुसीमतो)

बुणिकार ने वृषीमान् का अर्थ - तीर्थंकर या साधु^१ तथा वृत्तिकार ने तीर्थंकर और संयम किया है ।

देखें—८।२० का टिप्पण ।

८. धर्म में (अस्मि)

बुणिकार ने इसे ‘धर्म’ के साथ और वृत्तिकार ने प्रधानरूप से जगत् के साथ और गौण रूप से धर्म के साथ जोड़ा है ।

९. जीवित भावना (जीवितभावना)

इसके दो अर्थ हैं—

१. यावज्जीवन तक अपनी आत्मा को पचीस या बारह भावनाओं से भावित करना ।

२. जीव को समाधान देने वाली भावनाओं की भावना करना ।

इसको ५ :

१०. जिसकी आत्मा भावना योग से शुद्ध है (भावनायोगशुद्ध्या)

जिन षेष्टाओं और संकल्पों के द्वारा मानसिक विचारों को भावित या वासित किया जाता है, उन्हें ‘भावना’ कहा जाता है । भावनाएँ असंख्य हैं । फिर भी उनके अनेक वर्गीकरण प्राप्त हैं—पांच महाव्रत की पचीस भावनाएँ, अनित्य आदि बारह भावनाएँ, मैत्री, प्रमोद, कादम्ब्य, माध्यस्थ्य आदि चार भावनाएँ, आदि-आदि ।

भावनाओं का महत्त्व बतलाते हुए योगशास्त्र ४।१२२ में कहा है—

आत्मार्थं भावयन्नास्मिन्निर्वाणमस्मिन्नुद्भासति ।

वृद्धितामपि संवसे, विशुद्धध्यानसप्ततिम् ॥

—जो साधक भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है वह विच्छिन्न विशुद्ध ध्यान के क्रम को पुनः साध लेता है ।

१. बुधि, पु० २३६ : सत्ये अविततो । ... संयमो वा सत्यः । ... तवःसंयमज्ञानसत्येन वा । कस्मात् सत्यं संयमः ? केन कथावदितः सत्कारिणी अवति सत्येद्विष्यं वास्य सत्यं अवति ।

२. बुधि, पु० २३६ : विरोधो विग्रहः लघुवचसो वा ।

३. वही, पु० २३६ : बुसीमतिव वचसम् ... साधुर्वा बुसीमान् ।

४. वृत्ति, वच २६६ : बुसीमतो त्वि तीर्थंमतोऽयं सत्यंयवतो वेति ।

५. (क) बुधि, पु० २३६ :

(ख) वृत्ति, वच २६६ ।

६. बुधि पु० २३६ : भावनीमितावात्मार्थं भावयति पचनीताए भावनाहि वारताहि वा ।

७. बुधि, वच २६६ : जीवितभावनाकारिणीः सत्यंभावात्मार्थं भावयति भावयति ।

८. साधनाकारिणं, पु० ४६० : भाविकवद् भाविकवद् जीव जीवो विशुद्धध्याने वा भावयति बुद्धिः ।

विशेष विवरण के लिए देखें—

१. उत्तराध्यायन : एक समीक्षात्मक अध्यायन, पृष्ठ १३७-१४२ ।

२. उत्तराध्यायन, भाग २ पृष्ठ २१७-२२८ ।

सूक्तिकार ने भावना और योग को भिन्न-भिन्न मानकर जिसकी आत्मा भावना और योग से विशुद्ध है उसे 'भावनायोग-शुद्धात्मा' माना है । अथवा भावना और योग में जिसकी आत्मा विशुद्ध है, वह भावनायोगशुद्धात्मा है ।

सूक्तिकार ने इसे एक मन्त्र मानकर व्याख्या की है । 'जैन-योग की अनेक शाखाएं हैं— दर्शन-योग, ज्ञान-योग, चारित्र-योग, तपो-योग, स्वाध्याय-योग, ध्यान-योग, भावना-योग, स्थान-योग, शसन-योग, और आतापना-योग ।

११. जल में नौका की तरह कहा गया है (जके नावा व आहिवा)

जैसे जल में चलती हुई या ठहरी हुई नौका नहीं डूबती वैसे ही जिसकी आत्मा भावना-योग से विशुद्ध है वह भी संसार में नहीं डूबता । वह संसार में रहता हुआ भी संसार में लिप्त नहीं होता, नौका की तरह जल से ऊपर रहता है ।

१२. (नावा व तिष्ठति)

नौका में नाविक है, अनुकूल पवन बह रहा है, किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है, वह नौका सहजता से तीर को प्राप्त कर लेती है । वैसे ही विशुद्ध चारित्र वाला यह जीवरूपी पोत, आगमरूपी कर्णधार से अक्षिप्त होकर, तपरूपी पवन से प्रेरित होता हुआ, सर्व दुःखारम्भक संसार से पार चला जाता है और समस्त दुर्गों से रहित मोक्षरूपी तीर को पा लेता है ।

इलोक ६ :

१३. पाप कर्म टूट जाते हैं (तुदंति पापकर्मणि)

सूक्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जिस मुनि ने अपने आसक्तियों को बंद कर दिया है, जो विकृष्ट तप करने में संलग्न है, उसके पूर्वसंचित कर्म टूट जाते हैं और जो नए कर्म नहीं करता, उसके संपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

इलोक ७ :

१४. कर्म का विनाश (या वृष्टा) है (कर्मं नाम विजायते)

सूक्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जो कर्म और कर्म-निर्जरण के उपायों को जानता है ।

सूक्तिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—

१. नाम का अर्थ है 'नसन' अर्थात् जो कर्म के नाम—निर्जरण को जानता है ।

२. जो कर्म और नाम को जानता है । अर्थात् जो कर्म के अन्तर्गत भेदों—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेस को सम्यग् जानता है ।

१. सूक्ति पु० २४० : भावनामिमीमेन शुद्ध आत्मा यस्य स भवति भावनायोगशुद्ध्या । अथवा भावनायु योगेभु च यस्य शुद्धात्मा ।

२. सूक्ति, पत्र २६३ : भावनामिमीमेनः सम्यक्प्रणिधानसत्ताया भावनायोगस्तेन शुद्ध आत्मा—अन्तरात्मा यस्य स तथा ।

३. (क) सूक्ति, पु० २४० : यथा जमेष्टतनोर्मज्जन्ती तिष्ठन्ती वा न निमज्जति स एवं ।

(ख) सूक्ति, पत्र २६३ : स च भावनायोगशुद्धात्मा तम् परित्यक्तसंसारस्वभावो नीरिव जलोपवीवतिष्ठते, संसारोदन्त इति; नीरिव—यथा जलेऽग्निमज्जन्तत्वेन प्रकृताया एवमसत्तायि संसारोदन्त इति न निमज्जतीति ।

४. (क) सूक्ति, पु० २४० ।

(ख) सूक्ति, पत्र २६३ ।

५. सूक्ति, पत्र २६३ : निवृत्त्याप्यवधारस्य विकृष्टतपश्चरचरतः पूर्वसंचितानि कर्माणि नृप्यन्ति निवर्तन्ते वा नवं च कर्माभ्युपेतोऽप्येवकर्म-जयो जयतीति ।

६. सूक्ति: पु० २४० : विजायते हि कर्म कर्मनिर्जरमोवावांश्च कुली जग्धः स्यात् ? एवं कर्म तत्कर्म संघरं निर्जरोवावांश्च ।

३. 'नाम' शब्द का प्रयोग संभावना के अर्थ में है ।

इसका वास्तविक अर्थ है कि जो व्यक्ति कर्म का विज्ञाता या द्रष्टा है, (उसके नये कर्म का बंध नहीं होता ।)

१५. महावीर्यवान् (महावीरे)

इसका अर्थ है—महावीर्यवान्, महान् पराक्रमशाली, आयतचारिणी, कर्मों को नष्ट करने में सुमर्थ ।

१६. न जन्म लेता है, न मरता है (जे न जाई न भिज्जती)

इस चरण का अर्थ है—जो न जन्म लेता है और न मरता है अर्थात् जो जन्म-मरण की परम्परा से सर्वथा छूट जाता है ।

वुत्तिकार ने इसका एक वैकल्पिक अर्थ भी किया है—यह प्राणी सदा के लिए मुक्त हो जाता है । फिर उसके लिए 'यह नारक है, यह तिर्यक्ययोगिक है', इस प्रकार का व्यपदेश नहीं होता, इस प्रकार का भेद नहीं होता ।

वुत्तिकार ने 'मज्झिमी' पाठ मानकर उसका अर्थ दूबना किया है ।

इसोक्त ६-७ :

१७. श्लोक ६-७ :

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति के दो मूल तत्त्व हैं—संवर और निर्जरा—नए कर्मों का बंध न होना और पुराने कर्मों का क्षय होना । निर्जरा संवर के बिना भी हो सकती है, परंतु प्रस्तुत श्लोकों में निर्जरा और संवर का साहचर्य बतलाया गया है । संवरबिहीन निर्जरा चित्तशुद्धि का समग्र साधन नहीं बनती । समग्रता के लिए निरोध और क्षय—दोनों का साहचर्य आवश्यक है । आसन्न-निरोध के उपायों के आलंबन से नए कर्मों के द्वार बंद हो जाते हैं । अब नए कर्मों को पोषण नहीं मिलता, नया आहार नहीं मिलता, तब पुराने कर्म अपने आप शिथिल होकर टूट जाते हैं । ज्ञाता और द्रष्टा होना संवर है, नए कर्मों को न करने का उपाय है ।

इसोक्त ८ :

१८. मरता (भिज्जती)

इसके दो संस्कृत रूपों के आधार पर दो अर्थ किए गए हैं—

१. मीयते—परिच्छेद करना, मापना ।
२. भ्रियते—मरना ।

१९. श्लोक में प्रिय होने वाली स्त्रियों (कामवासिना) का (पिया लोमसि इत्थिजो)

प्रश्न होता है कि यहाँ केवल स्त्रियों का ही ग्रहण क्यों किया गया है ? वुत्तिकार ने इस प्रश्न के समाधान से अनेक विकल्प प्रस्तुत किए हैं—

१. आसनों में स्त्री का प्रसंग प्रधान आवश्यक है ।

१. वुत्ति, पत्र २६४ : मज्जनं नाम—कर्मनिर्जरत्वं तच्च तत्त्वम् आनाति, यदि वा कर्म आनाति तत्राय च, अस्य बोधनकथार्यत्वात्तद्भेदोक्तं
अवृत्तिस्त्वित्यनुवाचप्रवेसकथाम् सम्यगनुज्यते, संभावनायां वा नामसम्भः ।

२ (क) वुत्ति, पु० २४० : महावीरे इति आमतचारिजो महावीर्यवान् ।

(ख) वुत्ति, पत्र २६४ : महावीरः—कर्मचारणसहिष्णुः ।

३. वुत्ति, पत्र २६४ : तत्करोति येन कुलेनास्मिन् संसारोदये न पुनर्जायते तदवाचकं नापि भिज्जते, यदि वा—आस्या नारकोदयो तिर्यक्-
योगिकोदयानिर्जयो न मीयते—न परिच्छिद्यते ।

४. वुत्ति, पु० २४० : मज्जतो संसारोदयो ।

५. वुत्ति, पत्र २६४ : न जन्मवाक्किवा 'मीयते'—परिच्छिद्यते, न भ्रियते वा ।

६. वुत्ति पत्र २६४ ।

२. कुछ दर्शनों में स्त्री के उपशोच को आज्ञाबद्धार नहीं माना है, उनके मत का खंडन करने के लिए ।
३. प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों को छोड़कर शेष बाकीस तीर्थंकरों के तीर्थ में वसुधायुग धर्म का ही प्रचलन रहता है । अंतिम तीर्थंकर के समय में पंचायुग धर्म की स्थापना है—इस तथ्य को अभिव्यक्त करने के लिए ।
४. दूसरे सारे व्रत अपवाय सहित होते हैं, ब्रह्मचर्य व्रत अपवाय रहित होता है, इसे प्रकट करने के लिए ।
५. सभी व्रत समान होते हैं, किसी एक के टूटने पर शेष सभी व्रत टूट जाते हैं, अतः किसी एक व्रत का नामोल्लेख किया गया है ।

श्लोक ९ :

२०. मोक्ष पाने वालों की पहली पंक्ति में है (आदिमोक्षता)

इसका अर्थ है—मोक्ष पाने वालों की पहली पंक्ति में । इसका तात्पर्यार्थ है कि वैसे मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रधान रूप से उद्यम करने वाले हैं । वे पहले मोक्ष पाने वाले हैं ।

वृत्तिकार ने इसका दूसरा अर्थ किया है—वे मुनि आदि, मध्य और अवसान में आयतचारित्रभाव में परिणत होते हैं ।

२१. जीने की इच्छा नहीं करते (आयकंक्षन्ति जीवन्ति)

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—वे मनुष्य असंयम जीवन या कषायपूर्ण जीवन जीने की अभिलाषा नहीं करते ।
वृत्तिकार ने इसका दूसरा अर्थ भी किया है—वे दीर्घकाल तक जीने की इच्छा नहीं करते ।

श्लोक १० :

२२. कर्मों के स्रबने लड़े हो (कम्मुना संमुहीभूता)

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—कर्मों को क्षीण करने के लिए उनके सामने लड़े हो जाना, न कि पीठ दिखा कर भाग जाना ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ दूसरे प्रकार से किया है—विशिष्ट अनुष्ठान के द्वारा मोक्ष के अभिमुख होकर ।

२३. अनुशासन करते हैं (अनुशासन्ति)

मगवान् प्राणियों के सर्वहित के लिए मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं और स्वयं भी उस मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

श्लोक ११ :

२४. संयम धन से संयम पुत्र (वसुमान्)

वसु का सामान्य अर्थ है—धन । मोक्षाभिमुख व्यक्ति का धन होता है—संयम । वसुमान् अर्थात् संयमी ।

१. वृत्ति, पृ० २४० : आदिमोक्ष्यादिसाधनेषु आयतचारित्रभावपरिणताः ।

२. वृत्ति, पृ० २४० : असंयम कषायविजीवित ।

३. वृत्ति, पृ० २४५ : नाभिलषन्ति असंयमजीवितम् अपरमपि परिग्रहादिकं नाभिलषन्ते, यदि वा परित्यक्तविषयेच्छाः सबन्धुधनपरा-यणा मोक्षैकताना जीवन्ति—दीर्घकालजीवन्ति नाभिकाङ्क्षन्तीति ।

४. वृत्ति, पृ० २४९ : येमासी कर्माभीकस्य अपवाय सम्भुजीभूतः न पराङ्मुखः ।

५. वृत्ति, पृ० २४५ : कर्मणा—विशिष्टानुष्ठानेन मोक्षस्य संभुजीभूता—वातिबन्धुष्टयकयक्रिया उत्पन्नविष्णुत्तानाः साधनतत्पराभि-मुजीभूताः ।

६. (क) वृत्ति, पृ० २४९ : केचिन्मं नाच-धंसय-चरित-सवसंतुतं मगमनुशासन्ति अर्णोति च कचयति, आत्मानं वामुशासते ।

(ख) वृत्ति, पृ० २४५ : मोक्षमार्ग—आनवसंनचारित्रकवन्, 'अनुशासन्ति'—सत्त्वहिताय प्राणिनां प्रतिपादयन्ति स्वतत्त्वानु-तिष्ठन्तीति ।

७. वृत्ति, पृ० २४५ : वसु—धनं स च मोक्षं प्रति प्रवृत्तस्य संयमः तद्विद्यते वस्यासौ वसुमान् ।

आचार्य (६/३०) में 'अनुबसु' का प्रयोग हुआ है।

वृत्तिकार श्रीवाकाचार्य ने वसु का मूल अर्थ बीतराज और 'अनुबसु' का अर्थ सराव-छद्मरथ किया है। उन्होंने वैकल्पिक रूप से वसु और अनुबसु के तीन-तीन अर्थ किए हैं—

वसु—बीतराज, जिन, संयत।

अनुबसु—छद्मरथ, स्वधिर, आशक।

२५. वीर्यता के अनुसार (पुंजी)

इसके तीन अर्थ हैं—विस्तार से, पृथक्-पृथक् अथवा पुनः पुनः।^१

२६. अनुशासन (अनुशासने)

अपने सद्-असद् विवेक से प्राणियों को सम्मार्ग में अवतरित करने के उपाय को अनुशासन कहते हैं।^२

वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल कथन किया है।^३

२७. पूजा का आशय नहीं रखते (पूजनासते)

इसमें दो शब्द हैं—पूजा+अनाशय। क्व की वृत्ति से 'बकार' का ह्रस्व प्रयोग किया गया है। इसमें द्विपदसंज्ञि भी हो सकती है—पूजा+अनासते। इसका अर्थ है—पूजा का आशय न रखने वाला।

वृत्तिकार ने इसको 'पूजनास्वावक' मानकर व्याख्या की है।^४

वृत्तिकार ने 'पूजं नासंसति' पाठ मानकर इसका अर्थ—पूजा की आशंसा—प्रार्थना न करना—किया है।^५

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरणों का अर्थ वृत्तिकार और वृत्तिकार ने सर्वथा भिन्न प्रकार से किया है।

वृत्तिकार के अनुसार—

संयमी पुरुष प्राणियों को धर्म की ओर अग्रसर करने के लिए विस्तार से या बार-बार अनुशासन करते हैं, किन्तु पूजा की वांछा नहीं करते।^६

वृत्तिकार के अनुसार—

संयमी पुरुष प्राणियों को सम्मार्ग की ओर उन्मुख करने के लिए पृथक् पृथक् रूप से अनुशासन करते हैं। वे देवादिभूत पूजा—वृत्तियों का उपयोग करते हैं।^७

यद्यपि वृत्तिकार का अर्थ ही उचित लगता है। यद्यपि वृत्तिकार ने अपनी भावना को स्पष्ट करने के लिए स्वयं एक प्रश्न उपस्थित किया है कि देवादिभूत समवसरण आदि तीर्थंकरों के लिए ही बनाए जाते हैं। वे आध्यात्मिक बोधयुक्त होते हैं। उनका उपयोग

१. आचार्य वृत्ति, पृष्ठ २१७ : वसु—अर्थ तद्भूतः कथायकालिकाविमलापययाहीतराज इत्यर्थः, तद्विषयमेवानुबसु, सराव इत्यर्थः,

वधि वा वसुः—साधुः अनुबसुः—आशकः, तदुक्तम्—

बीतराजो वसुर्ज्यो, जिनो वा संयतोऽथवा।

सरावो ह्यनुबसुः श्रोतः, स्वधिरः आशकोऽपि वा ॥

२. (क) वृत्ति, पृष्ठ २४१।

(ख) वृत्ति, पृष्ठ २४२।

३. वृत्ति, पृष्ठ २४३ : अनुशासनं—सम्मार्गोऽन्यतोऽन्यतो सवसद्विषयतः प्राणिनो येन तदनुशासनम्।

४. वृत्ति, पृष्ठ २४१ : अनुशासनं करोते।

५. वृत्ति, पृष्ठ २४३ : पूजार्थ—देवादिभूतलोकोपकारकमनायावदिति—उपयुक्त इति पूजनास्वावकः।

६. वृत्ति, पृष्ठ २४१ : पूजं नासंसति न वस्येति।

७. वृत्ति, पृष्ठ २४१।

८. वृत्ति, पृष्ठ २४३।

करने वाले सत्संगी कैसे हो सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में अगले (तीसरे) चरण में आए हुए 'अनासक्त' (सं० अनासक्त) की व्याख्या करते हुए कहते हैं—उनमें पूजा-आप्ति का आशय ही नहीं होता अथवा इव्यतः पूजा का आशय होने पर भी समयसरणादि के उपभोग में वे आसक्त अनास्वाक्य ही होते हैं, क्योंकि उनमें बुद्धि नहीं होती ।

इसी प्रकार प्रस्तुत श्लोक के तीसरे-चौथे चरण में प्रयुक्त 'पाप' शब्दों को वृत्तिकार एक-दूसरे से संबद्ध कर, अनुलोम और प्रतिलोम विधि से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । वह इस प्रकार है—

१. तीर्थंकर इव्यतः समयसरण्य आदि का उपभोग करते हैं किन्तु सावतः उनमें उन पूजा-स्थानों के उपभोग की आकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि वे बुद्धि से उपरत होते हैं । संयमपरायण होने के कारण वे उन वस्तुओं का उपभोग करते हुए भी 'यतनावान्' हैं, क्योंकि वे इन्द्रियों और मो-इन्द्रिय से दान्त होते हैं । यह जितेन्द्रियता समय की दृढ़ता से उत्पन्न होती है । वे विषुन से सर्वथा उपरत होते हैं । यह संयम का ही फलित है ।
२. तीर्थंकर में 'काम' का अभाव होता है इसलिए वे संयम में दृढ़ होते हैं । विषुद चारित्र के पालन से वे दान्त होते हैं । इन्द्रिय और मो-इन्द्रिय के बल से वे 'प्रयत' होते हैं । यतनावान् होने के कारण वे देवादि की पूजा के अना-स्वाक्य होते हैं और अनास्वाक्य होने के कारण ही इव्यतः वस्तुओं का उपभोग करते हुए भी सत्समयवान् होते हैं ।

श्लोक १२ :

२८. जिसके शीत छिन्न हो चुके हैं (छिन्नश्रोते)

श्रोत दो प्रकार के हैं—इन्द्रियों के विषय प्राणातिपात आदि आत्मबद्धार तथा राग-द्वेष आदि । ये जन्म-मरण के मूल हेतु हैं । जिस पुण्य के वे शीत छिन्न हो जाते हैं, गष्ट हो जाते हैं, वह छिन्न-श्रोत हो जाता है ।

२९. जो निर्मल चित्त वाला है (अनासक्त)

अनासक्त का अर्थ है—निर्मल चित्त वाला । जिसका चित्त अकसुब तथा राग-द्वेष से मलिन नहीं होता वह अनासक्त होता है । वैकल्पिक रूप से 'अनासक्त' पाठ मानकर अनाकुल का अर्थ विषयों में अप्रवृत्त स्वस्थ चित्त वाला व्यक्ति किया है ।

३०. प्रलोभन के स्थान में लिप्त न हो (नीबार न हो सीएम्मा)

इसका अर्थ है—भुनि प्रलोभन के स्थान में लिप्त न हो ।

नीबार सूजर आदि प्राणियों का प्रिय भोजन है । इसका प्रलोभन देकर मनुष्य सूजर आदि को बध-स्थान में ले जाते हैं । सूजर नीबार में लिप्त हो जाता है । बध-स्थान में उसे नाना प्रकार की यातनाएं दी जाती हैं और अन्ततः उसे मार दिया जाता है ।

वृत्तिकार के अनुसार स्त्री-प्रसंग (मैथुन) नीबार के समान है । मनुष्य अन्नह्यचय के वशीभूत होकर अनेक प्रकार की यातनाएं पाता है । इसलिए वह इस प्रलोभन के स्थान में लीन न हो, लिप्त न हो ।

१. वृत्ति, व० २६६ : यदि वा इव्यतो विस्मयानेऽपि समवसरणादिके आसक्तोऽनास्वाक्योऽसी, तद्गतपार्थिव्यावात्, सावज्जुपन्नोने 'यता'—प्रवतः सत्संगमवानेवासाविकास्तेन संयमपरायणत्वात्, कतो ? , यतः इन्द्रिय मोहनिर्वाप्या दान्तः, एतद्-पुण्योऽपि कथमित्याह बुद्धः संयमे, आरतम्—उपरतमयगतं मैथुनं यस्य स आरतमैथुनः—अपगतोऽप्यन्नमन्नकामः, इच्छामन्नकामावावाक्य संयमे बुद्धोऽसी जवति, आयतचारित्रत्वाक्य दान्तोऽसी जवति, इन्द्रियमोहनिर्वाप्यहमाक्य प्रवतः, प्रयत्नवत्त्वाक्य देवादिपूजनामास्वाक्यः, तदनास्वाक्यत्वाक्य सत्यपि इव्यतः परिजोने सत्संगमवानेवासाविति ।

२. (क) वृत्ति, व० २४१ : शीतं प्राणातिपातादि [६] निव्यानि वा ।

(ख) वृत्ति, व० २६६ : क्षिप्तानि—अपनीतानि श्रोतांसि—संसारव्यवहारद्वाराणि यथाविषयमिन्द्रियप्रवर्तनानि प्राणातिपातादीनि वा अस्वव्यवहाराणि तेन स क्षिप्तश्रोताः ।

३. वृत्ति, व० २६६ : अनासक्तः—अकसुबो रागद्वेषात्पुस्ततया मत्तरहितोऽनाकुलो वा—विषयाप्रवृत्तेः स्वस्थचेता एवंभूतश्चावावितोऽना-कुलो वा ।

४. वृत्ति, व० २६६ : नीबारः—सूकरादीनां यशूनां बध्यस्थानप्रवेशान्मूलो मध्यविकोवस्तत्कल्पमेतत्सैवुनं, यथा हि जसौ यशुनीवारीव प्रलोभ्य बध्यस्थानमभिनीय नामाप्रकारा देवताः प्राप्नोते, एवमसाव्ययुवान् नीबारकल्पेनामेन स्त्रीप्रसङ्गेन जवती-कृतो बहुप्रकारा यातनाः प्राप्नोति, अतो नीबारप्राप्येतामेतद्भुममवगम्य स तस्मिन् जाततरवो 'न सीयेत' वा 'स्वी-अन्नं' कर्षी ।

३१. सन्धि (ज्ञान आदि) को (सन्धि)

बुद्धि के अनुसार सन्धि का अर्थ है—सन्धान । उसमें मात्र सन्धि के तीन उदाहरण दिए हैं—मनुष्यता, कर्म सन्धि, अर्थात् कर्म का विवर तथा ज्ञान आदि ।^१

वृत्तिकार ने केवल कर्म-विवर कपी सन्धि को ही भाव-सन्धि माना है ।^२

श्लोक १३ :

३२. अनुपम सन्धि को (अवेणितस्स)

पूर्व श्लोक के अनुसार इसका अर्थ है—अनुपमसन्धि । वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—संयम, मुनि-धर्म या बर्हत् धर्म ।^३

३३. आत्मैवासा (वेयम्मे)

इसके अनेक अर्थ हैं—आत्मज्ञ, निपुण, ज्ञाता आदि ।

३४. अक्षुब्धान् पुण्य (अक्षुब्ध)

अक्षुब्धान् वही होता है जो प्रशान्त चित्त वाला, हितमित्रवादी और संयमित प्रवृत्ति करने वाला होता है ।^४

श्लोक १४ :

३५. श्लोक १४ :

प्रस्तुत श्लोक का आशय यह है—

वही व्यक्ति भव्य मनुष्यों के लिए अक्षुब्ध होता है जो अपनी विषय-बुद्धि, ओषेष्ठा के पर्यन्त में रहता है ।

प्रश्न होता है कि क्या अन्त में रहने वाला अपने प्रयोजन को सिद्ध कर लेता है ?

इसका उत्तर श्लोक के उत्तरार्द्ध में है । कहा गया है कि हाँ, अन्त से चलने वाला अपने प्रयोजन को सिद्ध कर लेता है ।

जैसे उत्तरा अन्त (घार) से चलता है और गाड़ी का चक्का भी अन्त (छोर) से चलता है । वे दोनों अन्त से चलते हुए अपने कार्य को सिद्ध कर लेते हैं ।^५

क्षुर के प्रसंग में 'अन्त' का अर्थ है—घार और चक्र के प्रसंग में 'अन्त' का अर्थ है—छोर ।^६

जैसे क्षुर और चक्र का 'अन्त' ही अर्थकारी होता है, प्रयोजनीय होता है, वैसे ही विषय—कथायात्मक मोहनीय कर्म का अन्त (नाश) ही संसार का अर्थकारी होता है ।^७

१. बुद्धि, पु० २४१ । सन्धानः सन्धिः सावतन्त्रिमांनुष्यम् कर्मसन्धिः कर्मविवरः सावादीनि च आत्मसन्धिः ।

२. बुद्धि, प० २६६ : कर्मविवरमज्ञानं भावसंश्लिम् ।

३. बुद्धि, प० २६६ : अनुपमसंयुतः संयमो मोहीन्द्रजनों वा ।

४. बुद्धि, प० २६६ : ओषेष्ठो—निपुणः ।

५. बुद्धि, पु० २४१ : वेयम्मे आत्मो ।

६. बुद्धि, प० २६६ ।

७. (क) बुद्धि, पु० २४१ ।

(ख) बुद्धि, प० २६६ ।

८. (क) बुद्धि, पु० २४१ : अन्तेवेति घारया । अक्षुब्धमन्तेन ।

(ख) बुद्धि, प० २६६ : 'अन्तेव'—अर्थमेव 'क्षुरो'—सावितोचकरं सन्तेन वृत्ति, तथा अक्षुब्धं रचाक्षुब्धमेव भाव प्रवर्तते ।

९. बुद्धि, प० २६६ : अक्षुब्धं अक्षुब्धं—अक्षुब्धं आत्मैवासात्मकमोहनीयान् एवाक्षुब्धसंसार-अर्थकारीति ।

श्लोक १३ :

१३. अन्त का (अन्तानि)

भूषिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—

१. निवास के लिए आराम, उद्यान आदि ।
२. भोजन के लिए अन्त-प्रान्त आहार ।
३. कर्म और आकाशों का अन्त अर्थात् उनमें वर्तन न करना ।

इसका तात्पर्य यह है कि जो भूमि विषय-कषाय और तृष्णा के परिकर्म के लिए आराम-उद्यान आदि में निवास करता है, अन्त-प्रान्त आहार लेता है वह 'अन्त' का जीवन करने वाला होता है ।

१४. इसलिये वे धर्म के सिद्ध पर पहुंच जाते हैं (तेन अंतकरा इह)

इसलिये वे (धीर पुरुष) धर्म के सिद्ध पर पहुंच जाते हैं—यह भूषिकार के अनुसार व्याख्या है ।

भूषिकार ने इसका सर्वथा भिन्न अर्थ किया है—अन्त-प्रान्त के अभ्यास से वे (धीर पुरुष) यहाँ संसार का या उसके कारणभूत कर्म का अन्त कर देते हैं ।

भूषिकार का अर्थ ही उचित प्रतीत होता है ।

१५. मानव जीवन में (मानुस्सए ठावे)

भूषिकार ने इसका अर्थ—मनुष्य जीवन में किया है । उन्होंने वैकल्पिक रूप में 'स्थान' शब्द से कर्मभूमि, कर्मवृत्तकर्मि और संक्षेप वर्ण का आनुष्य ग्रहण किया है ।

भूषिकार ने 'भरा' की व्याख्या में कर्मभूमि आदि का ग्रहण किया है ।

श्लोक १६ :

१६. मुक्त होते हैं (निष्ठित्तु)

जिनके ज्ञान आदि अर्थ पूर्ण हो जाते हैं, वे निष्ठितार्थ कहलाते हैं । इसका तात्पर्य है—वे मनुष्य जो मुक्त हो गए हैं, कृतकृत्य हो गए हैं ।

४०. अनुसर देखलोकों में (उत्तरीए)

भूषिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. सौधर्म, ईशान आदि देखलोकों में तथा अनुसर विमानों में उत्पन्न होना ।
२. इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिजक आदि उत्तरीय—ऊँचे स्थानों में उत्पन्न होना ।

१. भूमि, पृ० २४२ : अंताहं आरामीजानानि अस्तवर्षम्, अन्तप्रान्त-भूतानि आहारार्थम् कर्मावधारण न लेवन्ते, न तेन वर्तन्ते इत्यर्थः ।

२. भूमि, पृ० २६६, २६७ : 'अन्तान्'—वर्तमान् विषयकषायास्तृष्णावास्तत्परिकर्मवर्णभूतानादीनामाहारस्य आन्तप्रान्तादीनि ।

३. भूमि, पृ० २४२ : तेनैव प्रान्तसेवित्वेनाऽऽन्तप्रान्तपरिकर्माऽन्तकरा जगन्ति इह धर्मः ।

४. भूमि, पृ० २६७ : तेन आन्तप्रान्तप्रत्ययनेन 'अन्तकराः'—संसारस्य तत्कारणस्य वा कर्मणः अवधारिणो जगन्ति ।

५. भूमि, पृ० २४२ : इह मानुस्सए ठावे मनुष्यस्यैव, जगत्त एवाने ग्रहणात् कर्मभूमिः मन्ववर्त्तितयसंवेद्यवासावयसं च गृह्णते ।

६. भूमि, पृ० २६७ : 'भराः' मनुष्याः कर्मभूमिर्नभूतकर्मिणस्तत्संक्षेपवर्णभूतः ।

७. (क) भूमि पृ० २४२ : निष्ठित्तु निष्ठित्तु निष्ठित्तु च वेदां ज्ञानावयोधर्माः नतास्ते जगन्ति निष्ठित्तु, सिद्धवन्त इति ।

(ख) भूमि, पृ० २६७ : निष्ठित्तार्थाः—कृतकृत्या जगन्ति ।

८. भूमि, पृ० २४२ : उत्तरीयं ति अनुत्तरीयवादिना (वि) कर्मेण वा अववर्त्तमाना इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिजकादिवत्तरीकेषु स्थानेषु जगन्ति, वास्तव्येभ्यो इत्यर्थः ।

वृत्तिकार ने इसका सर्वथा भिन्न अर्थ किया है। उन्होंने 'उत्तरीय' का संबंध 'देव' से न मानकर स्वतंत्र रखा है। उनके अनुसार भी इसके दो अर्थ हैं—

१. लोकोत्तर प्रवचन।
२. लोकोत्तर अवबोध महावीर।

प्रसंग की दृष्टि से इसका संबंध 'देवा' शब्द से है और इसका अर्थ होना चाहिए—वैमानिक देव।

वृत्तिकार ने यह अर्थ 'देवा' शब्द की व्याख्या में भी दिया है।

४६. (सिद्धिस्तुतः.....कुल)

प्रस्तुत श्लोक (१६) के प्रथम दो चरणों की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है—

१. आर्य सुधर्मा ने जंबू से कहा—कुछ मनुष्य धर्म की आराधना कर मुक्त हो जाते हैं या वैमानिक देवशोक में देवस्वरूप में उत्पन्न होते हैं—यह मैंने तीर्थंकर से सुना है।
२. आर्य सुधर्मा ने जंबू से कहा—कुछ मनुष्य धर्म की आराधना कर मुक्त हो जाते हैं या इंद्र, सामानिक, प्रायस्त्रिजगत् आदि कबे पद पर देव होते हैं—यह मैंने तीर्थंकर से सुना है।
३. लोकोत्तरीय प्रवचन में जागमगुत सुधर्मा ने जंबू से कहा—मैंने लोकोत्तरीय अवबोध से, यह बोध प्राप्त किया है कि धर्म की आराधना कर कुछ मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं और कुछ वैमानिक देव।

४७. श्लोक १६

बीज-मत्त के अनुसार राग तीन प्रकार का होता है—कामराग, अपराध और अकल्पराग। जो इन तीनों का सर्वथा नाश कर देता है वह अर्हत् पद प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। जो साधक केवल कामराग को ही नष्ट कर पाता है, उसके रागसंशय रह जाता है। वह यहाँ से सरकर देवगति में जाता है। वहाँ से च्युत होकर वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है, पुनः मनुष्य-जन्म में नहीं जाता। वे देव 'अनामानी' कहलाते हैं।

वृत्तिकार ने इस मत्त का अर्थ 'जो तद्वा' इन दो कथनों से किया है। उनका प्रतिपादक है—देव (जब कल्प कति कासे प्राणी) मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते, मनुष्य ही निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं।

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने भी बीज साम्यता को उद्धृत करते हुए इसका अर्थ किया है।

श्लोक १७ :

४८. श्लोक १७ :

प्रस्तुत श्लोक में पूर्ववर्ती श्लोक में प्रतिपादित सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। मनुष्य धर्म से ही निर्वाण हो सकता है, दुःखों या कर्मों का जन्म हो सकता है। यह तीर्थंकर-सम्प्रदाय सिद्धान्त है। वृत्तिकार ने लिखा है—इस सिद्धान्त को सब धार्मिक स्वीकार नहीं करते। कुछ धार्मिक अर्थों हम इसे स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य शरीर दुर्लभ है। इस शरीर में जैसा

१. वृत्ति, पत्र २६७ : एतन्नोकोत्तरीये प्रवचने लोकोत्तरीये अवबोधेति ।

२. वृत्ति, पत्र २६७ ।

३. वृत्ति, पृ० २४२ : ... अथानुसूयामी जंबु अवति—इति मत्ता कुर्वन्ति सिद्धयस्तपासातो, न स्वर्गलोच्यते ।

४. वृत्ति, पत्र २६७ : लोकोत्तरीये प्रवचने भूतम्—अथवा : स्वभूतः सुधर्मस्यापी वा अभ्युत्थानिनः सुधर्मोक्त्याह—यथा मयैतन्नोकोत्तरीये अवबोधेति सुधर्मोक्त्याह, तत्रावा—अथावा तन्मन्त्रावित्त्यावतीकः सिध्यति वैमानिको वा भवतीति ।

५. अनुसूयनिका २/२१५, अभिज्ञानशतिका, अथर्वी टीका, पृ० १७७ : अनामानीमन्त्रं चावेत्वा कामरागज्वालायां अनवसेसप्राप्तेन अनामानी नाम भूति, अनामता इत्यर्थः ।

६. (क) वृत्ति, पृ० २४२ : तत्रावा वा भूयति—अनामानीमो देव अवति, ते हि देवा नाम्ने (१) देवा अनामतामन्त्रं कुर्वन्ति ।

(ख) वृत्ति, पत्र २६७ : एतेन अनामनीमन्त्रेण, तत्रावा—देव अनामनीमन्त्रेण जन्मो भवितव्यमेति, तत्रावा भवति ।

नाड़ी-संस्थान विकसित है वैसे अन्य शरीरों में नहीं है। इस शरीर में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का वैसे विभवस किया जा सकता है वैसे अन्य शरीरों में नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत श्लोक में शरीर के लिए 'समुच्छ्रय' (समुत्सय) शब्द का चुनाव बहुत महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ ही उन्मयन या उर्ध्वगमन है।

श्लोक १८ :

४४. श्लोक १८

जो मनुष्य इस शरीर में संबोधि का प्रयत्न नहीं करता, इस महान् समता वाले शरीर को व्यर्थ ही बंका लेता है, बर्फ़ फँकर व्याप्य शरीरों में संबोधि को प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्य जैसे शरीर और लेण्या वाले व्यक्तित्व का योग बहुत दुर्लभ है। धर्म का व्याकरण मनुष्य शरीरधारी या मनुष्य शरीर के उपयुक्त लेण्या वाला व्यक्ति ही कर सकता है।

भूमिकार ने बर्चा का अर्थ लेण्या किया है और वृत्तिकार ने उसके लेण्या और शरीर दोनों अर्थ किए हैं।

श्लोक १९ :

४५. श्लोक १९

भूमिकार ने प्रतिपूर्व का अर्थ यथाख्यातचारित्र—वीतराग चेतना का अनुभव किया है। धर्म-साधना की उत्कृष्ट भूमिका वीतरागदशा है। वह राग-द्वेषात्मक दशा से सर्वथा भिन्न है। इसीलिए उसे अनिदृश—असाधारण कहा गया है। वीतरागी व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है, इसलिए उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

प्रस्तुत श्लोक में विद्वद् या ज्योतिषिक धर्म की परिभाषा, उसके स्वरूप और परिणाम की बर्चा की गई है।

श्लोक २०

४६. तथागत (तीर्थंकर) (तथागत)

तथागत का अर्थ है—वीतराग। वीतराग यन्त्राकारी तथाकारी होता है। जो अवस्था जिस रूप में घटित होती है, वह उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेता है। यथाख्यात चारित्र को प्राप्त होने वाला व्यक्ति तथागत ही होता है। वह प्रिय और अप्रिय संबंधनों से ऊपर उठकर केवल तथात्व, तथाता या वीतराग-चेतना के अनुभव में ही रहता है।

भूमिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) यथाख्यात अवस्था को प्राप्त (२) निर्वाण को प्राप्त। तथागत का तात्पर्यार्थ है—तीर्थंकर, केवसी, गणधर आदि।

श्लोक २१ :

४७. सर्वव्येष्ट स्थान का (अनुसरे कठाने)

भूमिकार ने स्थान का अर्थ—आश्रयन किया है। इसका तात्पर्य है—चरित्र-स्थान।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अनेक या असंख्य स्थान होते हैं। यहां चरित्र के अनुसार स्थान का उल्लेख किया गया है।

१ (क) भूमि, पु० २४२ : समुच्छ्रयते इति समुच्छ्रयः शरीरम्, समुच्छ्रितानि वा ज्ञानादीनि।

(ख) वृत्ति, पत्र २६७।

२ भूमि, पु० २४२ : अर्थां भूमा।

३. वृत्ति, पत्र २६७ : अर्थां—विशेषाश्रयः करणचरित्रमिति—यदि वा अर्थां—समुच्छ्रयशरीरं।

४ भूमि, पु० २४३ : वृत्तिपुष्पं नाम सर्वतो विरतं पविपुष्पं आह्लादकानां चारित्रम्।

५. भूमि, पु० २४३ : तथागता अवाक्यातीभूता मोक्षगता वा।

६. वही, पु० २४३ : यः सर्वथा केवलसिद्धो गणधरात्मकः।

७. भूमि, पु० २४३ : कथं अत्यंतं चरित्रस्थानं।

इति कार ने इसका अर्थ संयम-स्थान किया है।

४८. अपमाना हो (निम्नगता)

पूर्विकार के अनुसार निर्जरा का अर्थ है—अपमाना।

इति कार ने इसका अर्थ—निम्न प्राप्त—किया है।

४९. निष्ठा (योग) को (गिह)

निष्ठा का अर्थ है—पर्यवसान, संपन्न होना। इसका तात्पर्य है—योग।

इलोक २२ :

५०. पंडित पुरुष कर्मक्षय के लिए प्रवर्तक बीर्य को (पंडित बीरियं)

यहां 'पंडित बीरियं' पाठ होना चाहिए। भूमि में 'पंडित बीरियं'—यह व्याख्यात है 'पंडितबीरियं'—संयमबीरियं तपोबीरियं य। पूर्वकृतकर्म का क्षय और नवकर्म का अकरण—निर्जरा और संवर का मुख्य साधन पंडितबीर्य है। तेजीसर्वे श्लोक में आए हुए 'महावीर' शब्द का संबंध भी इस पंडितबीर्य से है। पंडितबीर्य से संपन्न व्यक्ति ही महावीर होता है।

५१. निर्जरा करता है (बुने)

इसका संस्कृत रूप 'धुनीयात्' हो सकता है। अर्थ-निर्धारणा की दृष्टि से यदि 'धुनाति' मानें तो यहाँ एक पद में संधि हुई है—धुण+इ। यह प्राकृत नियम के अनुसार माना जा सकता है।

इलोक २३ :

५२. महावीर (महावीर्यवान्) पुरुष (महावीरे)

जो महान् बीर्य से संपन्न होता है वह महावीर कहलाता है।

पूर्विकार ने महावीर का अर्थ ज्ञानवीर्य से सम्पन्न पुरुष किया है।

इति कार ने महावीर का अर्थ—कर्मक्षय करने में समर्थ व्यक्ति किया है। किन्तु प्रकरण के अनुसार 'महावीर' का अर्थ संयमवीर्य और तपोवीर्य से संपन्न व्यक्ति होना चाहिए। पूर्व श्लोक में बताया गया है कि संयमवीर्य के द्वारा नए कर्मबन्ध का निरोध होता है और तपोवीर्य के द्वारा पूर्वकृत कर्म का क्षय होता है। प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद है कि महावीर पुरुष कर्मबन्ध के हेतुओं को क्षीण या उपशान्त कर नए कर्म का बन्ध नहीं करता और आत्माभिमुखी होकर तपस्या के द्वारा पूर्वकृत कर्म को क्षीण कर देता है।

५३. कर्म परम्परा में होने वाले (अनुपुण्यकर्म)

अनुपूर्व का अर्थ—कर्म, हेतु या कारण है। पूर्व का अर्थ भी कर्म, हेतु या कारण होता है। पूर्ववर्ती श्लोक में 'पूर्वकृत' और प्रस्तुत श्लोक में अनुपूर्वकृत शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्म या हेतु विद्यमान रहता है। उसके कारण निरन्तर नए-नए कर्मों का आस्रमण होता रहता है।

१. इति, पद २६८ : स्थानं तस्य सर्वव्यापकम् ।

२. भूमि, पु० २४३ : निम्नगता अवसंता ।

३. इति, पद २६८ : निष्ठाः निर्वाणमनुप्राप्ताः ।

४. इति, पद २६८ : निष्ठां पर्यवसानम् ।

५. भूमि, पु० २४३ ।

६. भूमि, पु० २४३ : तपोवीर्यसंयमयोः ।

७. इति, पद २६८ : महावीरः—कर्मविदारणसहितः ।

८. भूमि, पु० २४३ : अनुपुण्यकर्म नाम निष्कारणवीर्य कर्महेतुः अर्थात् अनुपूर्वकृत ।

1945

६४. मरुत (मरुत)

सूचि के अनुसार 'मठ' का कार्य है—मिरिन्ध-प्रवचन। सुविचार, हे-प्रवचन, कार्य, संवत्सरानुसार विचार है। मिरिन्ध-प्रवचन का 'सम्भवसाध' विशेषण मिलता है और प्रस्तुत स्तोत्र के यह 'मठ' का विशेषण है।

सोलसमं प्रज्जयणं
गच्छा



सोलहवां अध्यायन
भाषा

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'गाथा' है। निर्युक्ति में इसका नाम 'गाथा बोधक' है। महासोतहर्षा अध्ययन है, इसलिए इसका नाम 'गाथा बोधक' है। वृत्तिकार और वृत्तिकार ने इसी नाम का अनुसरण किया है। 'आवश्यक' और उत्तराध्ययन सूत्र में 'गाथा बोधक' का प्रयोग सोलह अध्ययन वाले प्रस्तुत श्रुतस्कांश के लिए किया गया है।

प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कांश हैं। पहले श्रुतस्कांश का नाम 'गाथा बोधक' है। यह नाम भी सोलह अध्ययन के आधार पर हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'गाथा' इतना ही पर्याप्त लगता है।

निर्युक्तिकार ने 'गाथा' शब्द के निक्षेप बतसाए हैं। उनमें 'ब्रह्मगाथा' और 'आवश्यक' दो निक्षेप मननीय हैं। पत्र और पुस्तक में लिखित गाथा 'ब्रह्मगाथा' कहलाती है और हमारी बेतना में अंकित गाथा 'आवश्यक' कहलाती है।

निर्युक्ति में 'गाथा' के अर्थ-पर्याय और निरुक्त निर्युक्ति हैं—

१. जिसका उच्चारण श्रुतिपेथल—सुनने से अधुर होता है, जो पढ़ी जाती है, वह गाथा है।
२. प्रस्तुत अध्ययन में अर्थ का प्रथम या गुम्फन किया गया है। इसलिए इसका नाम 'गाथा' है।
३. यह सामुद्रिक छन्द में गुम्फित है, इसलिये इसका नाम गाथा है।
४. पूर्ववर्ती पन्द्रह अध्ययनों में प्रतिपादित अर्थ पिण्डितरूप में प्रस्तुत अध्ययन में गुम्फित है, इसलिये इसका नाम गाथा है।

प्रस्तुत अध्ययन में पहले के पन्द्रह अध्ययनों का सार-संक्षेप संग्रहीत है। पूर्ववर्ती अध्ययनों में विधि और निषेध के द्वारा जिन-जिन आचरणों की ओर निर्देश किया गया है, उनका सम्यग् पालन करने वाला मुनि मुमुक्षु और श्लोकमार्ग का अधिकारी होता है। इस अध्ययन में साहन, धमण, निष्क और निर्द्वय का स्वरूप निर्युक्ति है। ये चारों शब्द त्रिष-त्रिष अवस्थाओं के सूचक भी हैं और एकार्थक भी हैं। इनके स्वरूपगत गुणों का निर्देश पूर्ववर्ती पन्द्रह अध्ययनों में प्राप्त है। वहाँ उनका विस्तार से कथन हुआ है और वहाँ उन सब गुणों को पिण्डित कर—संक्षिप्त कर कहा गया है। वृत्तिकार और वृत्तिकार के अनुसार अध्ययनों के क्रम से उनका वर्णन या उनकी संकलिका इस प्रकार है—

१. निर्युक्ति गाथा १३४ : गाथासोतस नाम अकथ्यव्यभिचं वचसि संति ।
२. (क) वृत्ति, पृ० २४५ : गाथासोतसम् अकथ्यव्यं समसं ।
(ख) वृत्ति, पत्र २७० : गाथाबोधकमिति नाम ।
३. आवश्यक, ४ ।
४. उत्तराध्ययनादि ३१.१३ : गाथासोतसर्पहि ।
५. वृत्ति, पृ० १५ : तस्य पद्यो वृत्तसंघो (गाथा) सोलसगा ।
६. निर्युक्ति गाथा १३६, १३९ :तस्य-योक्तव्यमिह, होति इमा अध्ययनाद्या तु ॥
होति पुन्य आकथाया, सागाव्ययोपगाव्यिकम्पा ।
७. निर्युक्ति गाथा १३१, १३२, १३४ : मधुराचिञ्जलबुला, तेन य गाहं ति कं वेति ॥
गात्रीकत य अस्था, अथवा सामुद्रिक अर्थेय ।
एवम होति गाथा, एतो अन्तो वि पञ्चाशो ॥
पञ्चरससु अकथ्ययेसु, विहितयेसु के अचित्तं ति ।
विहितव्ययेकस्य, अहेति अन्तो ततो गाथा ॥
८. वृत्ति, पत्र २७१ : सामुद्रिक अन्वय या निबद्धा सा गाथेऽपुञ्जते । तच्चेदं अन्तः—अन्वितं य अन्तोके, पायेति तत् पण्डितः प्रोक्तम् ।
९. (क) वृत्ति, पृ० २४६ :
(ख) वृत्ति, पत्र २६६, २७० ।

१. स्वसमय और परसमय का परिज्ञान करने से मुनि सम्यक्त्व में स्थिर होता है ।
२. ज्ञान कर्मक्षय का कारण है । आठों कर्मों के क्षय के लिये प्रयत्न करने वाला मुनि होता है ।
३. अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहनेवाला साधु होता है ।
४. विश्व में स्त्री परीसह दुर्बल है । जो इसको जीत लेता है वह मुनि होता है ।
५. महात्मा के लक्षणों को ध्यान रख कर उनसे उचित होता है, नरक-योग्य कर्म से विरत होता है, वह धर्म में स्थिर होता है ।
६. चार ज्ञान से संपन्न भगवान् महावीर ने भी इस कर्मक्षय के लिये संयम का सहारा लिया था, वैसे ही उद्यम्य मुनि को भी संयम के प्रति उद्यमशील रहना चाहिये ।
७. कुसील व्यक्ति के दोषों को जानकर मुनि कुसील के प्रति स्थिर रहे ।
८. आतमीर्ष का प्रसिद्ध कर, चण्डिकादयों के प्रति उद्यमशील रहकर, सदा मोक्ष की अभिलाषा करनी चाहिये ।
९. जाति, मुक्ति आदि जनों का आचरण कर मुनि मुक्त हो जाता है ।
१०. संपूर्ण समाधि से मुक्त मुनि सुखति को प्राप्त करता है ।
११. मोक्षमार्ग के तीन साधन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य । तीनों की आराधना करनेवाला मुनि समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है ।
१२. अन्याय दर्शनों के अभिमतों की गुणवत्ता और दोषवत्ता का विवेक कर मुनि उनमें श्रद्धाशील नहीं होता ।
१३. मिथ्य के दोषों और गुणों को जानकर सद्गुणों में वर्तन करने वाला मुनि अपना कल्याण कर लेता है ।
१४. प्रकृत आवरण से भावित आत्मज्ञान वाला मुनि बंधन के सभी जोतों को उच्छिन्न कर देता है ।
१५. मुनि यथाव्याप्त चारित्र्य का अधिकारी होता है ।

इस प्रकार इन पन्द्रह अध्यायों में मोक्षमार्ग के लिये प्रस्थित मुनि के लिये करणीय और अकरणीय का विशद विवेचन किया गया है । प्रस्तुत सोलहवें अध्याय में उन्हीं का संक्षेप मुनि आदि के विशेषण के रूप में निरूपित है ।

प्रस्तुत अध्याय में 'माहण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ'—इन चारों के निर्वचन बतलाये गये हैं । 'माहण' शब्द के निर्वचन में सोलह विशेषण प्रयुक्त हैं । 'श्रमण' शब्द के निर्वचन में बारह, 'भिक्षु' शब्द के निर्वचन में आठ और 'निर्ग्रन्थ' शब्द के निर्वचन में पन्द्रह विशेषण प्रयुक्त हैं ।

माहण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ—ये चार मुनि-जीवन की साधना भूमिकाएं प्रतीत होती हैं । चूर्णिकार ने 'श्रमण', 'माहण' और 'भिक्षु', को एक भूमिका में माना है और 'निर्ग्रन्थ' की दूसरी भूमिका स्वीकार की है । निर्ग्रन्थ की भूमिका का एक विशेषण है—आत्मप्रवाद-प्राप्त । चौदह पूर्वों में 'आत्मप्रवाद' नाम का सातवा पूर्व है । जिसे आत्मप्रवादपूर्व ज्ञात होता है वही निर्ग्रन्थ हो सकता है । माहण, श्रमण और भिक्षु के लिये इसका ज्ञात होना अनिवार्य नहीं है ।

औपपातिक सूत्र में भगवान् महावीर के साधुओं को चार भूमिकाओं में विभक्त किया गया है—श्रमण, निर्ग्रन्थ, स्थविर और अनगर । वहां श्रमण सामान्य मुनि के रूप में प्रस्तुत है । निर्ग्रन्थ की भूमिका विशिष्ट है । उसमें विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट बन्ध, विशिष्ट लक्ष्मियां (योगज विभूतियां), विशिष्ट तपस्याएं और विशिष्ट साधना की प्रतिमाएं उल्लिखित हैं । स्थविर की भूमिका का मुनि राग-द्वेष विज्ञेता, आर्जव-मार्दव आदि विशिष्ट गुणों से संपन्न, आत्मदर्शी, स्वसमय तथा परसमय का ज्ञाता, विशिष्ट श्रुतज्ञानी और तत्त्व के प्रतिपादन में सक्षम होता है । अनगर की भूमिका का मुनि विशिष्ट साधक और सर्वथा अलिप्त होता है ।

प्रत्येक भूमिका में मुनि के लिये जो भिन्न-भिन्न विशेषण हैं वे ही साधना की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं की सूचना देते हैं । इस प्रसंग में प्रस्तुत सूत्र और औपपातिक सूत्र का तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है ।

१. चूर्णिकार, पृ० २४८ : अहविद्वेसु ठावेसु बहुति, ते वि य श्रमण-माहण-भिक्षुणो । जिणंवे किञ्चि जायत्तं ।
२. समवायो १४।२ ।
३. ओवाहयं, सूत्र २३-२७ ।

प्रस्तुत आगम के अनुसार 'माहण' की भूमिका का साक्षक सब पापकर्मों से विरत है। पापकर्म के अठारह प्रकार हैं—प्राणातिपात, मृषावाद, अदस्तादान, मियुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन, रति, अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनसत्य। प्रस्तुत भूमिका का मुनि राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति, अरति, मायामृषा, मिथ्यादर्शनसत्य से विरत होता है। इसका अर्थ है कि 'माहण' अठारह पापों में से उत्तरवर्ती नौ पापों के परित्याग की विशेष साक्षता करते हैं। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती परम्परा में प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट नौ पापों के वर्जन में ही 'माहण' दीक्षा का स्वरूप निर्धारित किया गया हो। 'समण' की भूमिका में भी पांच महाव्रतों का उल्लेख नहीं है। उसमें अतिपात (हिंसा), मृषावाद और बहिस्तात् (परिग्रह), क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष—इन आचार्यों से विरत होने का उल्लेख है। 'भिक्षु' की भूमिका में एक सर्वसहिष्णु, बेहनिरपेक्ष, अध्यात्मयोगी, स्थितात्मा मुनि का रूप सामने आता है। दशवैकालिक के इसमें अध्ययन में प्रयुक्त व्युत्पृष्टकाय, परीषद्दीपसर्गजयी, अध्यात्मयोगी, स्थितात्मा आदि शब्दों के संदर्भ यहाँ खोजे जा सकते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त—माहण, समण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ—इन चारों शब्दों के स्वरूप का निरूपण अगले सूत्रों (३, ४, ५, ६) में हुआ है।

वृणिकार के अनुसार ये चारों शब्द एकार्यक हैं, किन्तु उनकी व्यंजन-पर्याय (शाब्दिक-दृष्टि) से भिन्नता है।^१

माहण

जो यह कहता है—किसी भी जीव को मृत मारो, जो किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता, वह माहण कहलाता है।

समण

जिसका मन शत्रु और मित्र के प्रति सम रहता है, जिसके लिये न कोई प्रिय है और न कोई द्वेष्य, वह 'समण' (अमण) कहलाता है।

भिक्षु

जो कर्मों का भेदन करता है, वह भिक्षु कहलाता है।

निर्ग्रन्थ

जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ से रहित होता है, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है।^२

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कंध का आदि-शब्द है—बुज्जेज्ज। यह ग्रन्थ का आदि-मंगल है। मध्यमंगल के रूप में आठवें अध्यायन के प्रथम श्लोक में प्रयुक्त 'वीर' शब्द माना जा सकता है। इस अध्यायन का प्रथम शब्द 'अथ' अन्य मंगल है।

इस प्रकार यह श्रुतस्कंध तीनों मंगलों—आदि-मंगल, मध्य-मंगल और अन्त-मंगल से युक्त होने के कारण मंगलमय है।

इस अध्यायन का अंतिम वाक्य है—'से एवमेव जाणहं जमहं भयंतारो'—इसे ऐसा ही जानो जो मैंने भदन्त (महावीर) से सुना है।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू आदि भ्रमणों को संबोधित कर कहा—आर्यों! जो मैंने कहा है, उसे तुम वैसा ही जानो। मैंने वैसा महावीर से सुना है, वैसा कहा है। स्वेच्छा से कुछ भी नहीं कहा है।^३

१. वृत्ति, पृ० २४६ : एवमेतेगहिजा माहणं नामा कसारा, वंजणवरियाएण वा किंचि जाणत्तं, अत्थो पुण सो उच्चैव ।

२. वृत्ति, पृ० २४६ : मा हवहं सम्मसत्तेहि वणमाणो अहणमाणो य माहणो जवति । मित्ता-उरिस्स समो मणो अस्स सो जवति समणो, जणवा 'जत्थि य से कोइ वेसो पिओ व० ।' 'विचिर् विहारणे' अ इति कर्मण आकथ, तं निबंतो भिक्षु जवति । वज्ज-अज्जसारातो भवन्ती किन्तो निवन्तो ।

३. (क) वृत्ति, पृ० २४८ ।

(ख) वृत्ति, पृ० २४८, २४९ ।

2000

2000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

1000

सौलसर्ग अष्टमोऽध्यायः : सोलहवीं अध्यायः

गाथा : गाथा

पुनः

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुबाद

१. अहाह भगवं—एवं से बंते
द्विए वोसट्टकाए त्ति
बज्जे—माहणे त्ति वा,
समणे त्ति वा, भिक्षु त्ति
वा, जिगंघे त्ति वा ॥

अथाह भगवान्—एवं स दान्तः
द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः इति
वाक्यः—माहन इति वा,
अमण इति वा, भिक्षु इति
वा, निर्ग्रन्थ इति वा ।

१. भगवान् ने कहा—'जो ऐसा (पूर्ववर्ती अध्ययनों से
वर्णित गुण-संपन्न भुनि) उपशान्त', कुछ चैतन्यवान्
और देह का विसर्जन करने वाला' है, वह इन सबों
से वाक्य होता है—माहन, अमण, भिक्षु और
निर्ग्रन्थ ।

२. पडिआह—मंते ! कहं बंते
द्विए वोसट्टकाए त्ति
बज्जे—माहणे त्ति वा ? समणे
त्ति वा ? भिक्षु त्ति वा ?
जिगंघे त्ति वा ? तं वो ब्रूहि
महामुनि !

प्रत्याह—मदन्त ! कवं दान्तः
द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः इति
वाक्यः—माहन इति वा ?
अमण इति वा ? भिक्षुः इति
वा, निर्ग्रन्थ इति वा ? तद् नो
ब्रूहि महामुने !

२. भिक्षु ने पूछा —'मंते ! उपशान्त, कुछ चैतन्यवान्
और देह का विसर्जन करने वाले को माहन,
अमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ क्यों कहना चाहिए ?
महामुनि !' इसे हमें बतलाएं ।

३. इतिविरतसर्वपापकर्म
पेक्क-दोस-कलह-अममज्जान-
पेसुब्ब-परपरिवाद-अरति-
रति-मायाभोस - भिच्छा-
दंसणसल्लविरते समिए
सहिए सया जए, जो कुळ्ळे
जो मानी 'माहणे' त्ति बज्जे ॥

इतिविरतसर्वपापकर्म प्रेयो-
दोष-कलह-अम्याख्यान-पेसुब्ब-
परपरिवाद-अरतिरति-माया-
मृषा-मिथ्यादर्शनशल्पविरतः
समितः सहितः सदा यतः, नो
क्रुध्येत् नो मानी 'माहन' इति
वाक्यः ।

३. जो सब पाप-कर्मों से विरत होता है—प्रेय, द्वेष,
कलह, आरोप, चुगली, पर-निन्दा, अरति-रति,
मायामृषा, मिथ्यादर्शनकल्प से विरत होता है,
जो सम्यग् प्रवृत्त, ज्ञान आवि से संपन्न और
सदा संयत होता है, जो क्रोध नहीं करता, अभि-
मानी नहीं होता वह 'माहन' कहलाता है ।

४. एत्थ वि समणे—अनिस्सिए
अनिदाने आदानं च अति-
वायं च मुसावायं च बहिउं
च कोहं च मानं च मायं च
लोहं च पेक्कं च दोसं च—
इत्थेव अतो-अतो आदानाओ
अप्यजो पडोसहेऊ ततो-ततो
आदानाओ पुब्बं पडिविरते
त्तिआ बंते द्विए वोसट्टकाए
'समणे' त्ति बज्जे ॥

अत्रापि अमणः—अनिश्रितः
अनिदानः आदानञ्च अतिपातं
च मृषावादं च बहिस्तात् क्रोधं
च लोभं च मानं च मायां च
प्रेयश्च दोषं च—इत्येव यतो
यतः आदानात् आत्मनः प्रदोष-
हेतुः ततः ततः आदानात् पूर्वं
प्रतिविरतः स्यात् दान्तः द्रव्यः
व्युत्सृष्टकायः 'अमण' इति
वाक्यः ।

४. यहां भी अमण—जो अप्रतिबद्ध होता है, जो
अनिदान (आशंसा-मुक्त) होता है, जो आदान
प्राणातिपात, मृषावाद, मेयुन, परिग्रह, क्रोध, मान,
माया, लोभ, प्रेय और द्वेष—इस प्रकार जो-जो
आदान आत्मा के लिए प्रदोष का हेतु बनता है,
उस-उस आदान से पहले ही प्रतिविरत होता है,
वह उपशान्त, कुछ चैतन्यवान् और देह का विसर्जन
करने वाला 'अमण' कहलाता है ।

५. एत्थ वि भिक्खु—अनुत्तरे
भावयते इति इविण्णोसदु-
काए संविपुणीम विक्खवण्णे
परीसहोवसग्गे अउभययोग-
सुद्धावाणे उवट्ठिए ठिअप्पा
सत्ताए परवत्तमोई 'भिक्खु'
ति वण्णे ॥

अत्रापि भिक्षुः—अनुत्तरे
नावनतः दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्ट-
कायः संविपुण्य विस्वरूपान्
परीषहोपसर्गान् अद्यात्म-योग-
सुद्धादानः उपस्थितः स्थितात्मा
संख्याकः परवत्तमोजी 'भिक्खु'-
रिति वाच्यः ।

५. यहां भी भिक्षु—जो गर्वोन्नत तथा हीन-भावना से
ग्रस्त नहीं होता,^{११} जो उपशान्त, शुद्ध चैतन्यवान्
और देह का विसर्जन करने वाला है, जो नाना
प्रकार के परीषह और उपसर्गों को^{१२} पराजित कर^{१३}
अद्यात्म-योग के द्वारा शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध होता
है^{१४}, जो संयम के प्रति उपस्थित, स्थितात्मा^{१५},
विवेक-संपन्न^{१६} और परवत्तमोजी^{१७} होता है, वह
'भिक्खु' कहलाता है ।

६. एत्थ वि निगन्थे—एगे
एगविदु बुद्धे संखिन्नसोए
सुसंजए सुसमिए सुसामाएए
आत्तप्यवादपत्ते विद्धु बुद्धो
वि सोपपत्तिच्छिन्ने जो पूया-
सत्कारत्तामद्दी धम्मद्दी धम्म-
विद्धु निपायपटिवण्णे समियं
अरे स्ते इविण्णोसदुकाए
'निगन्थे' ति वण्णे । से एव-
मेव आण्ह वसहं
मयंतारो ॥

अत्रापि निगन्थः—एकः
एकविद् बुद्धः संखिन्नस्रोताः
सुसंयतः सुसमितः सुसामायिकः
आत्मप्रवादप्राप्तः विद्वान्
द्वितोऽपि परिच्छिन्नस्रोताः नो
पूजासत्कारलाभार्थी धर्मार्थी
धर्मविद् निपायप्रतिपन्नः
सम्बन्धरः दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्ट-
कायः 'निगन्थ' इति वाच्यः ।
तत् एवमेव जानीत यदहं
मदन्ताम् ।

६. यहां भी निगन्थ—जो अकेला^{१८} होता है, एकद्व
भावना को जानता है^{१९}, बुद्ध (तत्त्वज्ञ) है, जिसके
स्रोत छिन्न हो चुके हैं^{२०}, जो सु-संयत^{२१}, सुसमित^{२२}
और सम्पक् सामायिक (समभाव) वाला^{२३} है, जिसे
आत्मप्रवाद (आठवा पूर्व-ग्रन्थ) प्राप्त है^{२४}, जो
विद्वान् है, जो इन्द्रियों का बाह्य और आंतरिक—
दोनों प्रकार से संयम करने वाला है^{२५}, जो पूजा-
सत्कार और लाभ का अर्थी नहीं होता, जो केवल
धर्म का अर्थी^{२६}, धर्म का विद्वान्^{२७}, मोक्ष-मार्ग के
लिए समर्पित^{२८}, सम्पक् चर्या करने वाला^{२९}, उपशान्त,
शुद्ध चैतन्यवान् और देह का विसर्जन करने वाला
है, वह 'निगन्थ' कहलाता है । इसे ऐसे ही जानो
जो मैंने भदन्त्र से सुना है ।

—ति वेदि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं ।

टिप्पण : अध्याय १६

सूत्र १ :

१. (अय)

वृणिकार और वृत्तिकार के अनुसार इस श्रुतस्कोध का भावि-मंगल वाचक शब्द है 'बुद्धेज्ज' (१/१) और यह 'अय' शब्द अन्त-मंगल है। आदि और अन्त मंगल के कारण यह सारा श्रुतस्कोध मंगलरूप है। 'अय' शब्द का एक अर्थ आनन्तर्य भी है।

२. उपशान्त (भंते)

वान्त वह होता है जो अपनी पाँचों इन्द्रियो तथा चार कषायो का निग्रह करता है।

३. शुद्ध चैतन्यवान् (द्विए)

द्रव्य का अर्थ है - अव्यप्राणी, शुद्ध चैतन्यवान्, भोग्यमन-योग्य। जो राग-द्वेष की कामिमा से रहित होता है, वह द्रव्य कहलाता है। जैसे स्वर्ण विजातीय पदार्थ से रहित हो जाता है तब वह शुद्ध द्रव्य कहलाता है।

४. बेह का विसर्जन करने वाला (बोसट्टकाए)

जो अपने शरीर का प्रतिकर्म नहीं करता, जो शरीर की सार-संभाल छोड़ देता है, वह व्युत्पृष्टकाय कहलाता है।

देखें—दसवेवालियं १०/१३ का टिप्पण, पृष्ठ ४६३, ४६४।

सूत्र २ :

५. भंते ! (भंते !)

वृणिकार के अनुसार यह तीर्थंकर का आमंत्रण है। वृत्तिकार ने इसके चार अर्थों के वाचक चार शब्द रखे हैं—अयवन् !, भदन्त !, भयान्त ! और भवान्त !

६. महामुनि (महामुनी !)

महामुनि अर्थात् तीर्थंकर, अमण महावीर !

१. (क) वृत्ति, पृ० २४६ : अवेस्य मज्झिमादी आनन्तर्यं च इष्टव्यः। यद्विबुधितं पञ्चवसानासव्ययानामन्तरे वर्तते, आदौ मंगलं "बुद्धेज्ज" (सूत्र १/१/१) ति, इहाप्यवशावः अन्ते, तेन सर्वमज्झिमा एवानी श्रुतस्कोधः।

(ख) वृत्ति, पत्र २७१ : 'अये' एतत् शब्दोऽयसा मज्झिमाः, आदिमज्झिमा तु बुद्धेतेत्यनेनाभिहितं, अत आनन्तर्योर्मज्झिमात्वात् सर्वोऽपि श्रुतस्कोधो मज्झिमित्येतदनेनाभिहितं भवति। आनन्तर्यं वाऽवशावः।

२. वृत्ति, पृ० २४६ : भंते इदिय-ओइदियभंते, इदियवमो सोइदियवसावि पंचविधो, ओइदियवमो कोषविजाहावि जटुविधो।

३. वृत्ति, पत्र २७१ : द्रव्यमूतो वृत्तिगमनयोग्यत्वात्, 'द्रव्यं च अये' इति वचनात्, रागद्वेषकामिकापाधपरवृत्तिवशाद्वा नात्यन्तमर्थवत् शुद्धद्रव्यमूतः।

४. (क) वृत्ति, पृ० २४६ : बोसट्टकाए ति अवविकम्मसरीरो, उज्जट्टसरीरे ति वृत्तं होति।

(ख) वृत्ति, पत्र २७१ : व्युत्पृष्टो निष्प्रतिकर्मसरीरसत्वा कायः—सरीरं केन च भवति व्युत्पृष्टकायः।

५. वृत्ति, पृ० २४६ : भंते ति भगवतो तित्त्वारस्त आमन्त्रणं।

६ वृत्ति पत्र २७२ : एवं भगवतोक्ते सति प्रत्याह लब्धिव्यः—अयवन् !, भदन्त !, अयवन्त !, भवान्त इति च।

७. (क) वृत्ति, पृ० २४७।

(ख) वृत्ति, पत्र २७२।

सूत्र ३ :

७. सब पाप कर्मों से विरत होता है (विरतसम्बन्धपापकर्मो)

श्रुतिकार ने इस संदर्भ में दो सूचनाएं दी हैं—

१. पन्द्रह अध्ययनों में मुनि के गुण बतलाए हैं। उन गुणों से सर्वपापकर्मविरत फलित होता है।

२. राग, द्वेष, कलह, अम्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, मायामृषा, मिथ्यादर्शनशक्त्य—इन नौ पापकर्मों से जो विरत होता है वह सर्वपापकर्मविरत कहलाता है।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि अठारह पापकर्मों की परंपरा से पूर्व नौ पापकर्मों की परंपरा भी रही है। इन नौ पापकर्मों से विरत होने का अर्थ सब पापकर्मों से विरत होना है।

८. प्रेय (प्रेम)

प्राचीनकाल में प्रेम के अर्थ में 'प्रेयस्' शब्द अधिक प्रचलित रहा है। उपनिषद् काल में इस शब्द का प्रचुरता से उपयोग हुआ है। प्रेयस् अर्थात् प्रेम या राग।

९. आरोप (अम्याख्यान)

अम्याख्यान अर्थात् झूठा आरोप लगाना, जैसे—तूने ही यह किया है।'

१०. परमिन्दा (परपरिवाद)

दूसरे व्यक्ति के गुणों को सहन न कर सकने के कारण उसके दोषों का उद्घाटन करना, परमिन्दा करना।'

११. अरति-रति (अरति-रति)

धर्म के प्रति अरति—अनुत्साह और अधर्म के प्रति रति—उत्साह।'

संयम के प्रति चित्त का उद्दिग्ध होना अरति और विषयो के प्रति आसक्ति का होना रति है।'

१२. माया-मृषा (मायाभोस)

मायामृषा का अर्थ है—माया सहित झूठ बोलना। दूसरे को ठगने के लिए असद् अर्थ का आविर्भाव करना मायामृषा है।'

१३. मिथ्यादर्शनशक्त्य (मिच्छाबंसनशक्त्य...)

मिथ्यादर्शन का अर्थ है—अतएव में तत्त्व का अभिनिवेश अथवा तत्त्व में अतएव का अभिनिवेश।

श्रुतिकार और वृत्तिकार ने एक भाषा को उद्धृत कर मिथ्यात्व के छह स्थानों का उल्लेख किया है।'

'अस्ति न मिच्छो न कुचति, कसं न वेदेति अस्ति ज्ञेयार्थं।

अस्ति न मोक्षोवापो, अस्मिन्नुत्तमं ठाणां॥'

(सन्मतिसर्क, काण्ड ३, वाचा ५४)

१. श्रुति, पृ० २४७ : के एते अण्भ्यनेसु गुणा नृणा ताहि वृत्तो विरतसम्बन्धपापकर्मो, तस्यसावज्जजोगविरतो ति अजितं होति। अथवा विरतसम्बन्धपापकर्मो ति सुत्तेन केव अजितं, त अथा—पिच्छ-होस ।

२. श्रुति, पृ० २४७ : अण्भ्यनेसु असंभूताभिनिवेशो यथा—स्मिन्महाकावोः।

३. वृत्ति, पत्र २७२ : परस्व परिवादः काव्यापरवोवाचनं।

४. श्रुति, पृ० २४७ : अरती ज्ञेये। अधर्मे रती।

५. वृत्ति, पत्र २७२ : अरतिः—मिच्छादर्शनशक्त्या संयमे, तथा रतिः—विषयानिच्छाः।

६. वृत्ति, पत्र २७२ : माया—परवचनं तथा कुटिलमतिमृदावाद—असदर्थविधानं गायत्रं नृवृत्तो अजितं।

७. श्रुति, पृ० २४७।

आत्मा नहीं है। वह नित्य नहीं है। वह कुछ नहीं करता। वह अपने कृत का वेदन नहीं करता। निर्वाण नहीं है और मोक्ष के उपाय नहीं हैं— ये छह मिथ्यात्व के स्थान हैं।^१

यह मिथ्यादर्शन है। यह तीन शक्तियों में एक शक्त है।

१४. विरत होता है (विरते)

यह 'विरत' शब्द सभी पापकर्मों की विरति का सूचक है। पूर्णिकार का मत है कि जो इस सूत्र में उल्लिखित सभी पापों से विरत है वही यथायं में विरत है।^२

वृत्तिकार ने 'मिच्छादंसजसल्लविरते' पाठ मानकर अर्थ किया है।^३ क्वचित् 'सल्ले' पाठ भी मिलता है।

१५. सम्यक् प्रवृत्त (समिण)

समित का अर्थ है—सम्यक् प्रवृत्त। जो ईयांसमिति आदि पाँचों समितियों से युक्त होता है, वह समित कहलाता है।^४

१६. ज्ञान आदि से संपन्न (सहिण)

सहित के दो अर्थ हैं—

१. परमार्थ भूत हित से युक्त।

२. ज्ञान आदि से संपन्न।

देखें—१।२।४२ का टिप्पण।

१७. सदा संयत (सया जए)

पूर्णिकार ने 'सदा' का अर्थ सर्वकाल और 'यत' का अर्थ 'यती प्रयत्ने' धातु को उद्धृत कर प्रयत्नवान् किया है।^५ 'यम् उपरमे' धातु का क्त प्रत्ययान्त रूप 'यतः' बनता है। वही यहाँ विवक्षित है।

१८. अभिमाना नहीं होता (नो माणी)

इसका अर्थ है—गर्व न करे। मैं उत्कृष्ट तपस्वी हूँ—ऐसा मान न करे।

वृत्तिकार ने एक माया उद्धृत की है—

'अइ सो वि निक्खरमओ, पडिसिडो अट्टमाणमहणेहि ।

अवसेसमयट्ठाना, परिहरियम्भा ययसेण ॥'

आठ मद-स्थानों का परिहार करने वालों ने निर्जरा-मद का भी प्रतिषेध किया है। अतः शेष मद-स्थानों का प्रयत्नपूर्वक परिहार करना ही चाहिए।^६

सूत्र ४ :

१९. अप्रलिबद्ध (अभिस्सिए)

वृत्तिकार ने निमित्त का निरुक्त इस प्रकार किया है—निश्चयेन आसिक्खेन वा भित्तः—निमित्तः—जो निश्चय से या बहुलता

१. वृत्ति, पं० २७२।

२. वृत्ति, पृ० २४७ : एवमादीनु पापकम्मेसु जो विरतो सो विरतसम्पपापकम्मे।

३. वृत्ति, पं० २७२।

४. वृत्ति, पं० २७२ : सम्यगितः समितः—ईयांसमित्यादिभिः यज्जग्गिभिः समित्तिभिः समित इत्यर्थः।

५. वृत्ति, पं० २७२ : सह हितेन—परमार्थभूतेन वर्तत इति सहितः बहि का सहितो—युक्ते ज्ञानादिभिः।

६. वृत्ति, पृ० २४७ : सदा सम्मसालं, "यती प्रयत्ने" सर्वकालं प्रयत्नमावीति।

७. वृत्ति, पं० २७२।

किं तस्य ह्यस्य है वह निमित्त है । निमित्त का आशय है—किसी के आशय में रहना । जो शरीर या कामभोगों से अप्रतिबद्ध है, उनके बन्ध में नहीं है, वह अनिबन्धित है ।^१

२०. अनिवान (आशंसा-मुक्त) (अनिबन्ध)

निदान का अर्थ है—पीदणलिक सुख का संकल्प । यह तीन शब्दों में से एक शब्द है । तृतीया वही हो सकता है अने शब्दों का निरखन कर देता है ।^२ इसलिए अमन को अनिवान कहा गया है, जो आकांक्षाओं से मुक्त है वह अनिवान कहलाता है ।^३

२१. आदान (आदानं)

आदान का अर्थ है—ग्रहण, कर्महेतु । जिससे कर्म का ग्रहण होता है उसे आदान कहते हैं ।^४ राग और द्वेष कर्म के आदान हैं । उत्तराध्यायन में राग और द्वेष को कर्म बीज कहा है ।^५

प्रस्तुत सूत्र में आदान के नौ प्रकार बतलाए गए हैं । उनमें अतिपात और बहिस्तात्—ये दो एक कोटि के हैं । चूर्णिकार के अनुसार इनका संबंध मूलगुण से है । क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम और द्वेष—ये दूसरी कोटि के हैं । चूर्णिकार ने इनका संबंध उत्तरगुण से बतलाया है । इस परंपरा में भी पाँच महाव्रतों का उल्लेख नहीं है । चूर्णिकार ने 'बहिद्धा' शब्द के द्वारा मैथुन और परिग्रह का ग्रहण किया है तथा एक के ग्रहण से सबका ग्रहण होता है, यह एक न्याय है । इस न्याय के अनुसार मृषावाक और अदत्तादान का ग्रहण होता है ।^६

वृत्तिकार के अनुसार कर्मबंध के हेतुभूत साधन—कषाय, परिग्रह और पापकारी अनुष्ठान 'आदान' कहलाते हैं ।^७

सूत्र ५ :

२२. जो गर्वोन्नत तथा हीनभावना से प्रस्त नहीं होता (अणुन्नते नावणते)

अर्थात् वह है जो गर्व से उन्नत नहीं है और हीनभावना से प्रस्त नहीं है ।

प्रधानरूप से उन्नत दो प्रकार का है—

१. द्रव्य उन्नत—शरीर से उन्नत-गर्वित ।

२. भाव उन्नत—जाति आदि के मद से गर्वित ।

अनुन्नत (अवनत) भी दो प्रकार का होता है—

१. द्रव्य अनुन्नत—शरीर से अवनत ।

२. भाव अनुन्नत—जिसका मन हीनभावना से प्रस्त नहीं होता, वस्तु की अप्राप्ति होने पर 'मुझे कोई नहीं पूजता' ऐसा सोचकर जो दुर्मना नहीं होता ।^८

१. वृत्ति, पृ० २७३ : निश्चयेनाविषयेन वा 'चित्तो'—निमित्तः न निमित्तोऽनिमित्तः कश्चिच्छरीरावावप्यप्रतिबद्धः ।

(क) चूर्ण, पृ० २४७ : अविस्सिते सि सरीरे काम-भोगेसु य ।

२. तत्त्वार्थ ७।१८ : निःसम्प्यो व्रती ।

३. वृत्ति, पृ० २७३ : न विच्छते निदानमस्येत्यनिदानो निराकाङ्क्षः ।

४. चूर्ण, पृ० २४७ : आदानं च येनाऽऽवीयते तदादानम्, राग-द्वेषौ हि कर्मादानं अवति ।

५. उत्तराध्यायनि ३२।७ : रागो य दोसो वि य कम्मबीजं ।

कम्मं च मोहप्यज्जं वयंति ॥

६. चूर्ण, पृ० २४७ : बहिद्धं मैथुन-परिग्रहौ, एगग्रहणे सेवान् वि मुसावाहाऽवसादानाणां ग्रहणं कृतं भवति । उवता मूलगुणाः । उत्तर-गुणास्तु—क्रोधं च मानं च ।

७. वृत्ति, पृ० २७३ : तथाऽऽवीयते—स्वीक्रियतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तदादानं—कषायाः परिग्रहसावधानाऽनुष्ठानं वा ।

८. चूर्ण, पृ० २४७ : अणुन्नते नावणते, न उन्नते अणुन्नते । उन्नतो जायादि चतुर्विधो, बध्नुन्नतो को तरीरेण उन्नतो, सी-चित्तो, नावणतो जात्यादिमदस्तव्यो एव स्वात् । अवनतोऽपि शरीरं भजितः, भावे तु हीनमना न स्वात्, अवंशमेव वा 'न मे कोऽप्युपैति' सि न दुर्मनो होत्व ।

उत्तराध्ययन सूत्र (२०।२१) में अणुण्ण नावण्ण महेसी' और वसवेवालियं (५।१।१३) में 'अणुण्ण नावण्ण' पद प्रयुक्त हैं।

२३. परीषह और उपसर्गों को (परीसहोवसर्गे)

परीषह का अर्थ है—जो कष्ट इच्छा के बिना प्राप्त होता है, वह परीषह है।^१ ये बावीस हैं। देखें—उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन।

उपसर्ग का अर्थ है—उपद्रव, बाधा। स्थानांग में उपसर्ग के चार प्रकार बतलाए हैं—

१. देवताओं से होनेवाला।
२. मनुष्यों से होनेवाला।
३. तिर्यक्ज्यों से होनेवाला।
४. स्वयं अपने द्वारा होनेवाला।^२

२४. पराजित कर (संविधुणोय)

परीषहो और उपसर्गों को समता से सहना, उनसे अपराजित रहना ही उनको धुनना है।^३

२५. अध्यात्म योग के द्वारा शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध होता है (अध्यात्मयोगमुद्रावाणे)

हमने इसका अर्थ धूर्णि के अनुसार किया है।^४

वृत्तिकार ने अध्यात्म योग का अर्थ—मुसमाहित मन से धर्मध्यान करना—किया है। उनके अनुसार आदान का अर्थ—चारित्र्य है।^५

२६. स्थितात्मा (ठिअप्पा)

धूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में अवस्थित।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—^६

जो परीषहो और उपसर्गों से अपराजित होकर मोक्ष-मार्ग में अवस्थित होता है, वह स्थितात्मा कहलाता है।

२७. विवेक-संपन्न (संख्याए)

इसका संस्कृत रूप है—संख्याकः। हमने इसका अर्थ विवेक-सम्पन्न किया है। धूर्णिकार और वृत्तिकार के अर्थ से भी यही फलित होता है।

धूर्णिकार ने इसका शब्द-परक अर्थ इस प्रकार किया है—जो गुण और दोषों की परिगणना करता है, वह 'संख्याक' कहलाता है।^७

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'संख्याय' और अर्थ—'ज्ञानकर' किया है। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—संसार की

१. तत्सार्धवृत्ति (अतसागरीय), पृष्ठ ३०१. सू० १।१७ की वृत्ति—अवृत्त्यया सत्यगतः परीषहः।

२. भाषा ४।५६७ : अउज्जिहा उपसर्गा वण्णसा, तं जहा—विद्या, माणुसा, तिरिक्कजोविया, आयसंघेयजिक्कय।

विशेष विवरण के लिए देखें—भाषा, पृष्ठ ५३५, ५३६।

३. वृत्ति, पत्र २७३ : आविगतिपरीषहान् तथा विद्याविकानुपसर्गारोहेति, तद्विद्वान् तु वसवेयां सम्पत्तं धूमं—तैरपराजितता।

४. धूर्णि, पृ० २४० : अध्यात्मैव योगः, अध्यात्मयोगः, अध्यात्मयोगेन शुद्धमावस इति।

५. वृत्ति, पत्र २७३ : अध्यात्मयोगेन-मुसमाहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन शुद्धम्-अवसातपरद्वयं-चारित्र्यं यस्य स।

६. धूर्णि, पृ० २४८ : ठितत्था ज्ञान-वंसण-चारित्तोहि।

७. वृत्ति, पत्र २७३ : स्थितो-मोक्षावधि व्यवस्थितः परीषहोवसर्गोव्यवृत्त्यः आत्मा यस्य स स्थितात्मा।

८. धूर्णि, पृ० २४८ : संख्याए परिगणेतो गुणदोसे।

असारता, कर्मभूमि की दुष्प्राप्ति और बोधि की दुर्लभता को जानकर तथा संसार-समुद्र से पार लगानेवाली सारी साधन-सामग्री को पाकर जो संयम के प्रति उद्यमशील होता है वह संख्याक (?) कहलाता है।^१

२८. परवत्तभोजी (परवत्तभोई)

जैन मुनि परवत्तभोजी होता है। 'पर' का अर्थ गृहस्थ भी है। गृहस्थ के द्वारा अपने लिए बनाया हुआ, प्रासुक और एषणीय आहार लेनेवाला—यह इस शब्द का वाच्य है।^२

सूत्र ६ :

२९. अकेला (एगे)

इसका अर्थ है—अकेला। जूणिकार ने इसकी मीमांसा दो प्रकार से की है—द्रव्य से अकेला और भाव से अकेला—

जिनकल्प मुनि द्रव्य से भी अकेले होते हैं और भाव से भी अकेले होते हैं।

स्थविरकल्पी मुनि भाव से अकेले होते हैं और द्रव्य से अकेले होते भी हैं और नहीं भी होते।^३

वृत्तिकार ने 'एक' के दो अर्थ किए हैं—

१. रागद्वेषरहित, मध्यम्य।

२. प्राणी स्वसुखदुःख का भोग अकेला ही करता है—इस दृष्टि से 'एक'।^४

३०. एकत्व भावना को जानता है (एगबिदू)

इसका अर्थ है—एकत्व भावना को जानने वाला।

जूणिकार के अनुसार एकविद् वह होता है जो यह भावना करता है कि मैं अकेला हूँ। मेरा कोई नहीं है।^५

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—^६

१. अकेला ही आत्मा परलोकगामी होता है।

२. दुःख से बचाने वाला कोई भी सहायक नहीं है।

३१. जिसके ज्ञोत छिन्न हो चुके हैं (संछिन्नसोए)

ज्ञोत का अर्थ है—कर्माश्रय के द्वार। उनको छिन्न करने वाला—संछिन्नज्ञोत कहलाता है।^७

ज्ञोत ऊपर भी हैं, नीचे भी हैं और तिरछे भी हैं।^८

१. वृत्ति, पत्र २७३ : संख्याय परिजायासारतां संसारस्य दुष्प्रापतां कर्मभूमेर्बोधेः सुदुर्लभत्वं चावाप्य च सकलां संसारोत्तरणसामग्रीं सत्संयमकरणीयताः।

२ (क) वृत्ति, पृ० २४८ : परवत्तभोइं त्ति परकट्ठ-परिणिद्धितं कासुएत्तणिज्जं भुंजति त्ति।

(ख) वृत्ति, पत्र २७३ : परेः—गृहस्थैरात्माद्यं निर्बलितमाहारजातं तर्हसं भोक्तुं शीलमस्य परवत्तभोजी।

३. वृत्ति, पृ० २४८ : एगे बव्वतो भावतो य, जिनकल्पिओ बव्वेगो वि जावेगो वि, मेरा भावतो एगो, बव्वतो कारण प्रति जइता।

४. वृत्ति, पत्र २७४ : 'एको' रागद्वेषरहिततया ओजाः, यवि वाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पयंटसुमान् स्वकृतसुखदुःखफलभाक्त्वेनैकस्वीय परलोकगमनतया सबैकक एव जवति।

५. वृत्ति, पृ० २४८ : एगबिदू एकोऽहं न च मे कश्चित्।

६. वृत्ति, पत्र २७४ : तथैकमेवात्मानं परलोकगमिभं वेसीत्येकवित्, न मे कश्चिद्दुःखपरिप्राणकारी सहायोऽस्तीत्येकमेकवित्।

७. (क) वृत्ति, पृ० २४८ : सोताइं कम्मासकवाराइं, ताइं छिन्नाइं जस्स सो छिन्नसोतो।

(ख) वृत्ति, पत्र २७४ : सय्यक् छिन्नानि—अपनीतानि भावज्ञोतांसि संबुत्तत्वात् कर्माश्रयद्वाराणि येन स तथा।

८. आचारो, ५।११८ : उहुं सोता अहे सोता, तिरियं सोता जियाइया।

३२. सुसंयत (सुसंयत)

सुसंयत का अर्थ है—निरर्थक काय-क्रिया से विरत ।'

३३. सु-समित (सुसमित)

जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सम्यक् होती है, जो चलने, बोलने, भोजन आदि क्रिया करने में जागरूक होता है वह 'सु-समित' कहलाता है ।'

३४. सम्यक्-सामायिक (समभाव) वाला (सुसामाह)

सामायिक का अर्थ है—समभाव ।

जिसका समभाव सध जाता है वह 'सु-सामायिक' कहलाता है ।'

३५. जिसे आत्मप्रवाद (आठवां पूर्व-ग्रन्थ) प्राप्त है (आत्मप्रवादपसे)

वृत्तिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ शब्द-परक किया है । जैसे—'

आत्मा का प्रवाद अर्थात् आत्मप्रवाद । आत्मा नित्य, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता और उपयोग लक्षण वाला है । सभी जीवों का यही लक्षण है । ऐसा कोई एक आत्मा नहीं है जो सर्वव्यापी हो । आत्मा असंख्य प्रदेश वाला है । उसमें सकोच-विकोच का सामर्थ्य है । वह प्रत्येक-शरीरी और साधारण-शरीरी के रूप में व्यवस्थित है । वह द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से अनन्त धर्मात्मक है ।

हमारी दृष्टि में आत्मप्रवाद एक ग्रन्थ है । इसमें आत्मा के संबंध में विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया था । यह चौदह पूर्वों में आठवां पूर्व है ।

३६. (बुहलो बि सोयपरिछिण्णे)

जो द्रव्य से और भाव से—दोनों प्रकार से इन्द्रियों का संयम करता है वह 'स्रोतपरिछिण्ण' कहलाता है ।

कानों से सुनता हुआ भी नहीं सुनता और आँखों से देखता हुआ भी नहीं देखता—यह द्रव्यतः स्रोतपरिछिण्ण है । जो इन्द्रिय विषयों के प्रति अमनस्क होता है, राग-द्वेष नहीं करता वह भावतः स्रोतपरिछिण्ण है ।'

३७. धर्म का अर्थ (धम्मट्ठो)

जो समस्त क्रियाएँ केवल धर्म के लिए ही करता है, वह धर्माधीन है । वह धर्म के लिए ही प्रयत्न करता है, बोलता है, खाता है, अनुष्ठान करता है । उसके लिए और कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता ।'

१. वृत्ति, पत्र २७४ : संयतः—कर्मवत्सयतगात्रो निरर्थककायक्रियारहितः सुसंयतः ।

२. वृत्ति, पत्र २७४ : सुष्ठु पञ्चभिः सान्निभिः सम्यगितः—प्राप्तो ज्ञानादिकं भोजनार्थवसो सुसमितः ।

३. वृत्ति, पत्र २७४ : सुष्ठु समभावतया सामायिकं समशत्रुमित्रभावो यस्य स सुसामायिकः ।

४. (क) वृत्ति, पृ० २४८ : अप्यनो पचाओ असप्पवातो, यथा—अस्त्वात्मा नित्यः अमूर्तः कर्ता भोक्ता उपयोगलक्षणः, य एवमादि आत्मप्रवादो सो य पसेमं जीवेषु अस्ति स्ति, न एक एव जीवः सर्वव्यापी ।

(ख) वृत्ति, पत्र २४८ : तच्चाऽऽमनः—उपयोगलक्षणस्य जीवस्यासंख्येयप्रदेशात्मकस्य संकोचविकाराभाजः स्वकृतफलभुजः प्रत्येक-साधारणशरीरतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्यायतया नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वा वाव आत्मवादवस्तं प्राप्त आत्मवादप्राप्तः सम्यग्प्रवाद-स्वित्तात्मस्वतत्त्ववैधीत्यर्थः ।

५. (क) वृत्ति, पृ० २४८ : बुहलो स्ति वव्वतो जावतो य, सोताणि इवियाणि, वव्वतो संकुचितवाणिपावो ः तास्सुत्तिकारवाणि—

'बुधमापो बि न सुवति वेक्खमाणो बि न वेक्खति ।

जावतो इवियथेसु राग-दोसं न गच्छति ॥'

अतो बुहलो बि स्रोतपरिछिण्णे ।

(ख) वृत्ति, पत्र २७४ ।

६. वृत्ति, पृ० २४८ : धम्मट्ठो नाम धर्मेण वेण्वते जावतो वा मुक्ते सेवते, भाग्यत् प्रयोजनम् ।

३८. धर्म का विद् (धर्मविदुः)

जो धर्म के सब प्रकारों को जानता है वह धर्मविद् कहलाता है ।^१

जो धर्म के सभी पहलुओं को और उसके फल को जानता है वह धर्मविद् कहलाता है ।^२

३९. मोक्षमार्ग के प्रति समर्पित (नियामपट्टिबन्धने)

इसका अर्थ है—मोक्ष के लिए समर्पित ।

चूनिहार ने 'नियाम' का अर्थ 'चारित्र्य' और वृत्तिकार ने मोक्षमार्ग अथवा सत्संयम किया है ।^३

४०. सम्यक् क्षर्या करने वाला (समियं क्षरे)

इसके दो अर्थ हैं—(१) सम्यक् क्षर्या करने वाला ।^४

(२) सतत समभाव में रहने वाला ।^५

१. वृत्ति, पृ० २४८ : धर्मविदुः इति सर्वधर्मविदुः ।

२. वृत्ति, पृ० २४४ : धर्मं यथावत्फलानि च स्वर्गावाप्तिलक्षणानि सम्यक् वेत्ति ।

३. वृत्ति, पृ० २४८ : नियामं याम क्षरितं तं वट्टिबन्धने ।

४. वृत्ति, पृ० २४४ : नियामो—मोक्षमार्गः सत्संयमो वा तं सर्वात्मना भावतः प्रतिपन्वः नियामपट्टिबन्धने इति ।

५. वृत्ति, पृ० २४८ : समियं क्षरे सम्यक् क्षरेत् ।

६. वृत्ति, पृ० २४४ : समियं इति समतां समभावकणां भासीवन्धनकल्पं 'क्षरेत्'—समात्मनोक्तिरेव ।

परिशिष्ट

१. टिप्पण-अनुक्रम
२. पद्यानुक्रम
३. सूक्त और सुभाषित
४. उपमा
५. व्याकरण-विमर्श

नोट : पृ० ११० से १४० तक पृ० संख्या के स्थान पर टिप्पण संख्या और टिप्पण संख्या के स्थान पर पृ० संख्या
 पृ० १

परिशिष्ट १

टिप्पण-अनुक्रम

शब्द अनुक्रम	टिप्पण पृष्ठ सं०	सं०	शब्द अनुक्रम	टिप्पण पृष्ठ सं०	सं०	शब्द अनुक्रम	टिप्पण पृष्ठ सं०	सं०
अहवुक्लक्षमयं (५।१२)	२५२	३४	अगणी (५।११)	२५१	२६	अणज्जघम्मे (७।६)	३३७	३८
अहमाण (६।३६)	४२२	११६	अगर (४।३६)	२१७	६१	अणट्ठे (१३।२२)	५५०	६०
अडकडे (१।६७)	६५	१२६	अगारिकम्म (१३।११)	५३६	४५	अणणणेया (१२।२५)	५११	३७
अजणसलाग (४।४१)	२१६	१०२	अगारिण (१।४।८)	५७२	३३	अणवज्ज (६।२३)	३०८	८२
अजणि (४।३८)	२१५	८४	अगारिणो (६।१)	२८६	२	अणवज्ज अतह (१।५६)	५५	१०८
अजु (६।१)	३६४	४	अगिडे (१।७६)	७१	१४६	अणवेक्खमाणे (१०।११)	४४२	४२
अजु समाहि (१०।१)	४३३	३	अगिडे (६।३५)	४२१	११८	अणाइले (६।८)	२६६	४२
अजु (१।४८)	५०	६७	अगिलाए समाहिए (३।५६)	१६६	८६	अणाइले (१३।२२)	५४६	८७
अतए ने समाहिए (११।२५)	४७८	३६	अग (२।५७)	११७	७७	अणाइले (१४।२१)	५८२	७५
अंतं करेति .. (१५।१७)	६११	४३	अगं वणिएहि... (२।५७)	११७	७८	अणाइले (१५।१२)	६०८	२६
अंतकडा (१२।१५)	५११	३८	अगो वेणुक्ख (३।५४)	१६२	७८	अणाऊ (६।५)	२६३	२८
अतकरा भवति (१४।१७)	५७८	६३	अजोसयंता (१३।२)	५२८	५	अणागति (१२।२०)	५१६	५५
अंतग सोयं (६।७)	३६८	२५	अजोसिया (२।५६)	११६	७५	अणायु (६।२६)	३१५	१०२
अतलिवसे (५।४४)	२६६	११०	अज्झत्तवोसा (६।२६)	३११	६०	अणारिया (१।३७)	४१	७३
अंतसो (८।१०)	३७२	२१	अज्झत्थ (१।८७)	७६	१५६	अणासवे (१।४।६)	५७०	२२
अताणि (१५।१५)	६१०	३६	अज्झत्थविसुद्ध (४।५३)	२२७	१३८	अणिएयचारी (६।६)	२६४	३०
अंघ तमं (५।११)	२५१	२७	अज्झम्पजोगमुद्धादाणे (१६।५)	६२५	२५	अणिदाणभूते (१०।१)	४३४	५
अकंतदुक्खा (१।८४)	७४	१५२	अज्झम्पेण (८।१६)	३७४	३४	अणिदाणे (१६।३)	६२४	२०
अकंतदुक्खा (११।६)	४७४	१६	अज्झम्पेण (२।५८)	११८	८०	अणिस्सिए (१६।३)	६२३	१६
अकम्मसे (१।३६)	४२	७६	अज्झम्पसे (१३।६)	५३३	१८	अणिहे (२।५२)	११४	६७
अकसाह (६।८)	२६७	४३	अट्टे (१०।१८)	४४८	६५	अणुक्कसे... जावए (१।७७)	६६	१४१
अकिरियाता (१०।१६)	४४५	५७	अट्टपयोवसुद्ध (६।२६)	३१४	१००	अणुगच्छमाणे .. (१।४।२३)	५८६	८५
अकिरियावायं (१२।१)	४६६	१	अट्टाणिए .. (१३।३)	५२६	१०	अणुजुत्तीहि (३।५६)	१६६	८०
अकोविं (८।१३)	३७३	२८	अट्टापद (६।१७)	४०४	५८	अणुजुत्तीहि (११।६)	४७३	१५
अकोविया (१।६१)	५७	११५	अट्ठे (२।४१)	१०८	५२	अणुणते णावणते (१६।५)	६२४	२२
अक्कोसे (३।५७)	१६५	८३	अणंतचक्खु (६।६)	२६४	३२	अणुतप्पई (४।१०)	२००	२७
अक्खारायं (६।१५)	४०३	५०	अणंतचक्खु (६।२५)	३११	८६	अणुत्तरं भाणवर (६।१६)	३०२	५८
अक्खिले (७।२८)	३५१	६७	अणते... अपरिमाणं (१।८-८२)	७२	१५०	अणुत्तर तवति (६।६)	२६५	३३
अक्खेतण्णा (११।७६)	४७६	३६				अणुत्तरग (६।१७)	३०३	६१
अक्खिसमारभिज्जा (७।५)	३३४	२५				अणुत्तरे य ठाणे (१५।२१)	६१२	४७

सुव्ययः १

६३२

परिशिष्ट १ : टिप्पण-अनुक्रम

संख्या अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	संख्या अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	संख्या अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०
अणुधम्मचारिणो (२।४७)	१०६	६१	अस्थि पुण्यं...जस्थिपुण्यं			अमुच्छित्तो... (१४।२३)	४५१	७७
अणुधम्मो (२।११)	१००	२२	(११।१६-२१)	४७६	२८	अमूठा (१४।१०)	५७३	३८
अणुपाणा (२।११)	६६	१६	अथ (१६।१)	६२१	१	अय (५।३५)	२६४	८५
अणुपुब्बकटं (१५।२३)	६१३	५३	अदु णाङ्गं... (४।१४)	२०४	४३	अयाणता (१।६)	२४	२२
अणुपुब्बेण (११।५)	४७०	१०	अदु... दासा वा (४।४६)	२२२	१२२	अयोहारि भव (३।६७)	१७१	६८
अणुप्पियं आसति (७।२६)	३४६	८७	अदु भोयणेहि (६।१५)	२०४	४५	अरति रति (१३।१८)	५४५	७१
अणुभावे (६।७)	२६६	३८	अदेव से (१३।५)	५३२	१५	अरति रति च (१०।१४)	४४४	५१
अणु भाणं... (८।१८)	३७४	३६	अघोऽवि (१।७३)	६७	१३४	अरति-रति (१६।३)	६२२	११
अणुवीइ (१०।१)	४३३	२	अपडिण्ण (६।१६)	३०५	७०	अरहस्सरा (५।७)	२४६	१५
अणुवीइ विमानरे (६।२५)	४१२	८३	अपडिण्णस्स (२।४२)	१०८	५५	अरहस्सरा (५।३८)	२६६	६५
अणुवीणि (१४।२६)	५६१	१०२	अपडिण्णे (१०।१)	४३४	४	अरहियाभित्तवे (५।१७)	२५४	४३
अणुसासणं (२।११)	६६	२०	अपडिण्णेण (३।५३)	१६२	७६	अलकार (४।३८)	२१६	८५
अणुसासणं (२।६८)	१२२	६३	अपरं पर (६।२८)	३१३	६७	अलूसए (१४।२६)	५६०	६८
अणुसासणं (१५।११)	६०७	२६	अपरिच्छं दिट्ठि (७।१६)	३४५	६८	अविकपमाणे (१४।१४)	५७६	४८
अणुसासति (१५।१०)	६०६	२३	अपुट्टधम्मे (३।३)	१४६	५	अविजाणओ (५।१२)	२५२	३१
अणुस्सुयं (२।४७)	१०६	५८	अपुट्टधम्मे (१६।३)	५६६	७	अवि धूयराहि (६।१३)	२०३	४१
अणेलिसस्स (१५।१३)	६०६	३२	अपुट्टधम्मे (१४।१३)	५७५	४४	अवियत्ता (१।३८)	४२	७५
अणोवसत्ता (१२।४)	५०१	१०	अप्प मासेज्ज (८।२६)	३७८	४६	अवि हत्थं 'अदु'...		
अणोसित्ते (१४।४)	५६७	१३	अप्पपिडासि (८।२६)	३७८	४५	(४।२१-२२)	२०६	६१
अण्णं (१।४८)	५०	६५	अप्पणो य वियक्काहि			असकियाड असकिणो		
अण्ण जणं पस्सति (१३।८)	५३६	३२	(१।४८)	५०	६६	(१।३७)	४१	७४
अण्णं वा अणुजाणइ (१।२)	२१	८	अप्पेण (५।२६)	२५८	५६	असथुया (१२।२)	५००	४
अण्णत्थ (६।२६)	४१५	६४	अन्नोहि (२।५५)	११५	७१	असमाहि (३।२७)	१५४	४३
अण्णत्थ वास (७।१३)	३४२	५७	अन्नकलाण (१६।३)	६२२	६	असमाहिया (३।१०)	१४८	१६
अण्णमण्णेहि मुच्छि (१।४)	२२	१४	अन्नमागमियम्मि (२।७१)	१२३	६६	असमाहिया (३।५२)	१६२	७५
अण्णयरम्मि सज्जे (२।२६)	१०३	३४	अन्नमुत्तिताए घड्ढासिए			असमाहिया (११।२६)	४७६	४०
अण्णवुत्त-तयाणुग (१।८०)	७२	१४६	(१।४।७)	५७२	३२	असमाही (२।४०)	१०७	५१
अण्णानवाय (१२।१)	४६७	१	अन्नए (६।५)	२६३	२७	असाहुधम्माणि (१४।२०)	५८१	७४
अण्णाणिया (१।४३)	४८	८४	अन्निमुजिया रुद्ध (५।६२)	२६७	१०२	असुहत्तं तथा तथा (८।११)	३७२	२६
अण्णायपिडेण (७।२७)	३५०	६२	अन्निमुजिडे (८।२६)	३७८	४७	असुरिय (५।११)	२५१	२६
अतिककमति (८।२१)	३७५	४०	अन्निमूकडेहि (२।७)	६७	१२	असेसकम्मस (६।१७)	३०३	६०
अत्तगामी (१०।२२)	४५०	७३	अन्निदुग्गसि (५।३२)	२६२	७२	अस्सि (१५।४)	६०३	८
अत्तत्ताए (३।४६)	१६०	६६	अन्निदुग्गा (५।८)	२५०	१८	अस्सि च लोए... (७।४)	३३१	१४
अत्तदुक्कडकारिणो (८।८)	३७१	१६	अन्निपातिणीहि (५।३३)	२६२	७५	अह (७।५)	३३३	१६
अत्तपण्णेसी (६।३३)	४१६	११२	अन्निपसधए पावविवेग			अह (७।६)	३३७	३७
अत्तसमाहि (३।५८)	१६६	८५	(१४।२४)	५८६	६३	अहम्मसावज्जे (१।४७)	४६	६२
अत्ताण जो आणइ (१२।२०)	५१५	५२	अन्नोच्चा (७।१३)	३४२	५६	अहाबुइयाइ (१४।२५)	५८६	६४
अत्ताण जो आणइ			अमणुणसमुप्पाय... (१।६६)	६६	१३१	अहावर... पुत्तं पि ता		
(१२।२०-२१)	५१६	५७	अमाइरुवे (१३।६)	५३४	२२	(१।५१-५५)	५२	१०६

पृथक्पृथक् १

६३३

परिशिष्ट १: टिप्पण-अनुक्रम

शब्द अनुक्रम	टिप्पण पृष्ठ सं०	सं०	शब्द अनुक्रम	टिप्पण पृष्ठ सं०	सं०	शब्द अनुक्रम	टिप्पण पृष्ठ सं०	सं०
अहिंसा समयं (११११०)	४७४	१७	आदिमोक्ता (७१२२)	३४७	५०	आबट्टा (३१३१)	१५५	४७
अहिंसापोरसीया (५१२४)	२५७	५३	आदिमोक्ता (१५१६)	६०६	२०	आबसहं (४१४५)	२२२	११६
अहिंसाएज्जा (७१२७)	३५१	६३	आदीणवित्ती (१०१६)	४३७	२०	आसली (६१२१)	४०७	७०
अहे करेति (५१६)	२५०	२३	आदीणिय (५१२)	२४८	७	आसंदियं (४१४६)	२२२	१२०
अहो वि (१२१२१)	५१७	५८	आमसिय (४१६)	१६७	२०	आसणं (२१३६)	१०७	४८
अहोसिर (५१५)	२४६	१२	आमसिय णिमतंति (४१६)	१६८	२१	आसार्णिण णावं (११५८)	५६	११०
अहोसिरं कट्टु (५१३५)	२६४	८६	आमसगाह (४१४१)	२१८	१००	आसिले देविले (३१६३)	१६८	६१
आइट्टो (४११६)	२०७	५५	आमसत्तेहि (११६२)	५८	११६	आसिसावाद (१४११६)	५८०	७०
आइएज्जा (७१२६)	३५२	१०१	आमोक्ताए (८१२७)	३७६	५१	आसुपणे (५१२)	२४६	४
आउक्खयं (१०११८)	४४८	६२	आय (१०१३)	४३६	१४	आसुपणे (६१७)	२६५	३५
आउक्खेमस्स (८११५)	३७४	३१	आयगुत्ता (८१२२)	३७६	४२	आसुपणो (१४१४)	५६८	१७
आउस्स कालातिघारं (१३१२०)	५५७	७८	आयगुत्ते (७१२०)	३४६	७३	आसुरकिम्बिसिय (११७५)	६८	१३८
आएज्जवक्के (१४१२७)	५६२	१०७	आयगुत्ते (१११२४)	४७७	३४	आसुरिय (२१६३)	१२०	८६
आणाठपणे (१३११३)	५४२	५७	आयछट्टा (१११५)	३३	४६	आसूणि (६११५)	४०२	४६
आघाह भ्रमं (७१२४)	३४	८१	आयतट्टिए (२१६८)	१२३	६७	आहाकडं (१०१८)	४३६	२८
आघाय (११२८)	३७	६०	आयदड (२१६३)	११६	८६	आहाकडं (१०१११)	४४१	३६
आघाय जे एयं (११२८-४०)	४३	८१	आयदडसमायारा (३११४)	१४६	२२	आहड (६११४)	४०२	४७
आघातकिच्चं (६१४)	३६६	१७	आयदडे (७१२)	३२६	७	आहत्तहियं (१३११)	५२७	१
आजीवग (१३११५)	५४३	६३	आयदडे (७१६)	३३७	३६	आहार-वेहाड (७१८)	३३५	३०
आजीवमेय (१३११२)	५४०	५१	आयपणे (१४१५)	५६६	१६	आहारसंपज्जण (७११२)	३४०	५०
आणवयति (४१७)	२००	२५	आयरियाड (६१३२)	४१६	१०८	आहु (६११)	२८७	७
आणा (६१२६)	४१३	८७	आयसुह (५१४)	२४८	६	इइ से अप्पग निरुत्तिसा (४१५१)	२२६	१३४
आणाए सिद्ध वयण (१४१२२)	५८८	६२	आयाण सारवत्ताए (११८६)	७५	१५७	इओ पुब्ब (१११५)	४७१	११
आणील च वत्थ रावेहि (४१४०)	२१८	६८	आयाण सुसमाहरे (८१२१)	३७६	४१	इगालरात्ति (५१७)	२४६	१४
आततो परतो वा (१२११६)	५१४	५०	आयाणगुत्ते (१२१२२)	५१८	६४	इच्छेयाहि दिट्ठीहि (११५७)	५५	१०६
आतप्पवादपत्ते (१६१६)	६२७	३५	आया लोमे य सासए (१११५)	३३	४७	इणमेव (२१७३-७४)	१२५	१०६
आतभाव (१३१२१)	५४८	८३	आर परं (२१८)	६८	१५	इतो विद्धं (१५११८)	६१२	४४
आतभावेण वियागरेज्जा (१३१३)	५२६	८	आरभणिस्सिया (१११०)	२७	३२	इत्तरवास (२१६२)	११६	८५
आतसाते (७१५)	३३३	२०	आरभणिस्सिया (१११४)	३१	४३	इत्थिवेय (४१२०)	२०७	५८
आतसुहं पडुच्च (७१८)	३३६	३२	आरभणिस्सिया (६१२)	३६५	१२	इत्थी वा कुट्टाभिमिणी (३११६)	१५०	२८
आतहित (२१५२)	११५	६६	आरभसंभिया कामा (६१३)	३६६	१५	इत्थीवेवे (४१२३)	२०६	६२
आवाण (१६१३)	६२४	२१	आरणा (१११६)	३६	५३	इत्थीसु सत्तो (१०१८)	४४०	३२
आवाणमट्टी (१४११७)	५७७	५८	आरतो परतो (८१६)	३७०	१४	इमं दरिसणमावण्णा (१११६)	३६	५५
			आराहि (५१४१)	२६७	१००	इह जीवियट्टी (१०१३)	४३६	१३
			आरिय मग (३१६६)	१७१	६६	इहलोइयस्स (७१२६)	३४६	८६
			आरज्जे उप्पहं अत्त (११४६)	४६	६०	उच्छं (२१६८)	१२२	६५
			आवट्टी (१०१४)	४३७	१६	उच्छं (४११२)	२०२	३५

सूचकको १

६३४

परिशिष्ट १ : टिप्पण-अनुक्रम

शब्द अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	शब्द अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	शब्द अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०
उत्कसं जलनं ज्ञं (११८७)	७६	१५८	उबेहती (१२१८)	५१४	४८	एवं लोगो मबिस्सिह (३१२१)	१५२	३३
उगगपुत्ते...लेकठवो (१३११०)	५३८	३६	उसिणोदगतत्तभोहणो (२१४०)	१०७	४६	एवं से --(२१७६)	१२६	१०७
उगगहं च अजाइयं (६११०)	३६६	२६	उसिया वि --(४१२०)	२०८	५६	एवमप्या सुरमिलओ होह (४१५)	१६७	१६
उच्चं अमोत्तं... (१३११६)	५४४	६७	उसीरेण (४१३६)	२१७	६२	एसंतणंतसो (१६३)	५६	१२३
उच्चावएसु (१०११३)	४४३	४७	उसु (५१३१)	२६१	७०	एसण --अणसण (१३११७)	५४५	७०
उच्छोलणं (६११५)	४०३	५१	उत्सयणाणि (६१११)	३६६	३४	एसणासमिए (११११३)	४७५	२३
उज्जला (३११०)	१४८	१५	एगतकूडे (५१४५)	२७०	११३	एसिया (६१२)	३६५	६
उज्जाणसि (३१३७)	१५७	५७	एगतविट्ठी (५१५१)	२७३	१२६	एहि तात ! --(३१२३)	१५३	३६
उज्जालओ पाण (७६)	३३३	२३	एगतदिट्ठी (१३१६)	५३४	२१	ओए (४११०)	२०१	३२
उज्जिअ (३१५२)	१६२	७४	एगतकुम्भे (७१११)	३३६	४७	ओए (४१३२)	२१३	७३
उट्ठाव सुबंभवेर (१४११)	५६४	२	एगतमोणण (१३११८)	५४६	७४	ओए (१४१२१)	५८२	७७
उट्ठं (२१५६)	११७	७६	एगतलूसगा (२१६३)	१२०	८७	ओभासमाण (१४१४)	५६८	१६
उट्ठं अहे -- (१४११४)	५७५	४७	एगचारी (१३११८)	५४६	७३	ओमाण (११७६)	७१	१४७
उट्ठं अहे यं (१०१२)	४३४	६	एगसं (१०११२)	४४२	४४	ओवायकारी (१३१६)	५३३	१६
उट्ठकाएहि (५१३४)	२६३	७६	एगया (४१४)	१६५	१३	ओसाण (१४१४)	५६६	११
उट्ठमहे -- (३१८०)	१७६	११५	एगविट्ठ (१६१६)	६२६	३०	ओह तरति कुत्तर (११११)	४६६	५
उत्तमपोगले (१३११५)	५४३	६४	एगायए (५१४४)	२६६	१०६	ओहतराहिया (११२०)	३७	५६
उत्तर (२१४७)	१०६	५६	एगायता (५१४८)	२७१	१२३	ओहंतरे (६१६)	२६४	३१
उत्तरा (३१२२)	१५३	३५	एगे (११४८)	५०	६४	कचणमट्टवण (६११२)	२६६	५१
उत्तरीए (१५११६)	६१४	४०	एगे (२१३४)	१०५	४२	कडूविणट्ठंगा (३११०)	१४८	१४
उदएण सिद्धि मावणा (३१६१)	१६७	६०	एगे (३१६६)	१७२	१०१	कडूसु (५१३४)	२६३	७८
उदगस्सऽसिवागमे (११६१)	५७	११६	एगे (४११)	१६३	२	ककाणओ (५१४२)	२६८	१०४
उदगेण -- (७११४)	३४३	५६	एगे (७११२)	३४१	५१	कक (६११५)	४०३	५३
उदासीण (४११५)	२०४	४४	एगे (१६१६)	६२६	२६	कट्टसमस्सिता (७१७)	३३४	२८
उद्विणकम्माण -- (५११८)	२५५	४४	एगे मते अहिज्जते (८१४)	३६८	६	कडेसु (११७६)	७०	१४४
उट्ठा (७११४)	३४४	६२	एगेसि (११७)	२४	२४	कप्पवाल (११७५)	६८	१३७
उहेसिय (६११४)	४०२	४४	एगो (११८)	२५	२७	कम्म (१३१२१)	५४८	८१
उरालं... (११८४)	७५	१५३	एगो मय (५१४६)	२७२	१२५	कम्म णाम विजाणतो (१५१७)	६०४	१४
उराल (१०१११)	४४२	४१	एताई -- (७१२)	३२८	५	कम्मता (३१५)	१४७	१०
उरालेसु (६१३०)	४१६	६६	एते (११७६)	६६	१३६	कम्मचितापणट्ठाण (११५१)	५२	१०४
उवघायकम्मग (६११५)	४०३	५१	एतेहि दोहि -- (८१२)	३६७	३	कम्मणा उ तिउट्टह (११५)	२३	१६
उवघाणवीरिए (१११३५)	४८१	४८	एतोवम -- (१४१११)	५७४	४२	कम्ममेव -- (८१२)	३६७	२
उवल्ले (४१३५)	२१४	७७	एयं खु (११८५)	७५	१५४	कम्मी (७१२०)	३४६	७२
उवहाणवं (६१२८)	३१२	६५	एय पिता -- (४१२३)	२१०	६४	कम्मुणा समुहीभूता (१५११०)	६०६	२२
उवहाणवं (१४१२७)	५६१	१०५	एय वीरस्स वीरिय (८११८)	३७५	३७	कयकिरिए (२१५०)	११३	६३
उवहाणेण (३१३८)	१५८	५८	एवं सु समणा -- (३१४२)	१५८	६२	कयकिरिए (६११६)	४०४	५५
उवाहणाओ (६११८)	४०५	६२	एव पुवट्ठिया (११३१)	४०	६५			

सूच्यवर्ग १

६३५

परिशिष्ट १ : टिप्पण-अनुक्रम

शब्द अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	शब्द अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	शब्द अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०
कयरे (६११)	३६४	३	कुसले (६१३)	२८६	१४	गारं पि य... (२१६७)	१२१	६२
कयरे (११११)	४६८	२	कुसले (१४१२७)	५६२	१०८	गारवाणि (६१३६)	४२२	१२०
करकं (४१४४)	२२०	११०	कुसीलधम्मे (७१५)	३३३	२२	गिरिसु (६११२)	३००	५२
कलंबुया (५११०)	२५१	२४	कुसीलयं (७१२६)	३४६	८६	गिरीवरे ... (६११२)	३००	५२
कलुणं षण्णंति (५१३५)	२६४	८४	कुसीलाणं (४११२)	२०२	३६	गिलाणा (५१३७)	२६५	६१
कमुसं (५१२७)	२५६	५६	कूडेण (१३१६)	५३६	३३	गिहिमसेसणं... (२१४२)	१०८	५७
कसायवसणेहि (३११५)	१५०	२५	कूडेण (५१४५)	२७०	११४	गुप्ते वदए (१०१५)	४४४	५४
कसिणे (११११)	२८	३६	कूरकम्मा... (५११३)	२५३	३५	गुलियं (५१३८)	२१६	८८
कसिणे (५१२७)	२५६	६०	केईणिमित्ता... (१२११०)	५०४	१६	मेण्हसु वा णं... (४१४७)	२२३	१२४
कह कहं (१४१६)	५७०	२४	केयणे (३१३३)	१४६	२१	गोते (१३१६)	५३७	३६
कहं व णाणं ... (६१२)	२८७	६	केवलिणो मत (१११३८)	४८३	५६	गोतेण जे षण्णंति...		
कामधोणे (८१५)	३७०	११	केस (३१३३)	१४६	२०	(१३११०)	५३८	४२
काममइवट्ट (४१३३)	२१३	७५	को जाणह ... (३१४३)	१५६	६३	गोयं (१४१२०)	५८१	७२
कामा (६१२२)	४०६	७६	कोट्टबलिं करेति (५१४३)	२६६	१०७	गोयणतरेण (२१२३)	१०२	३०
कामेहि... (२१६)	६७	६	कोट्ठं (४१३६)	२१६	८६	गोयवायं (६१२७)	४१४	६०
काय विओसज्ज (१०१२४)	४५२	८१	कोलाहलं (६१३१)	४१८	१०५	गोरहण (४१४४)	२२१	११४
काय वोसेज्ज (८१२७)	३७६	५०	कोमेहि (५१६)	२५०	२२	घडिगं (४१४५)	२२१	११६
काल (५१५२)	२७४	१३३	कोबिए (१४११५)	५७५	४६	घम्मठाणं (५११२)	२५२	३२
कालमाकंसे (१११३८)	४८३	५५	कोसं च मोयमेहाए (४१४३)	२२०	१०८	घम्मठाणं (५१२१)	२५७	५०
काले (३१७५)	१७५	१०६	सण (२१७३)	१२४	१०३	घातं (७११६)	३४५	६६
कासवस्स (२१४७)	१०६	६०	सत्तिया (३१४)	१४७	६	घातमेति (११६२)	५६	१२१
कासवस्स (२१७३)	१२५	१०५	सत्तिया (३१३२)	१५६	५०	घासति (१३१५)	५३२	१६
कासवेण (१११५)	४७०	८	सत्तिया (६१२)	३६५	६	चंदण (६११६)	३०५	६६
काहिए (२१५०)	११०	६३	खारस्स लोणस्स (७११३)	३४२	५४	चदे व ताराण (६११६)	३०५	६८
किंचुवक्कम (८११५)	३७४	३२	खुहुया (३१२२)	१५३	३६	चक्खु (१२११२)	५०६	१८
किमाह बंधणं (१११)	१६	४	खुद्द (१३१२०)	५४७	७७	चक्खुपहे ठियस्स (६१३)	२६०	१६
किरियाकिरिय ... (६१२७)	३११	६१	खुद्दिमा (१०१२०)	४४६	६७	चक्खुम (१५११३)	६०६	३४
किरियावाइदस्सिणं (११५१)	५२	१०२	खेयणए (६१३)	२८८	१३	चत्तारि समोसरणाणि		
किरियावाय (१२११)	४६८	१	खेयणे (१५११३)	६०६	३३	(१२११)	४६५	१
किबणेण समं... (२१५८)	११८	८१	खोओदए बा... (६१२०)	३०५	७३	चयं ण कुज्जा (१०१३)	४३६	१५
किसामपि (११२)	२०	७	गंयं (१४११)	५६४	१	चयंति ते... (७११०)	३३८	४३
कीयगड (६११४)	४०२	४५	गंया अतीते (६१५)	२६३	२६	चरगा (२१३६)	१०६	४६
कुभी (५१२४)	२५७	५४	गंये (११६)	२४	२१	चरिया... (११८९)	७५	१५७
कुक्कम्मिणं (७११८)	३४५	६७	गंयमत्तं (६११३)	४०१	४०	चरिया (८१३०)	४१७	१००
कुक्कयय (४१३८)	२१६	८६	गम्भाइ (७११०)	३३७	३६	चरे आयुसे पयासु		
कुणिमे (५१२७)	२५६	६१	गहन (३१४०)	१५८	६०	(१०१३)	४३५	१२
कुमारभूयाए (४१४५)	२२१	११५	गाठ (५११२)	२५३	३३	चित्तमंतं (११२)	२०	६
कुसे (११४)	२२	१२	गामकुमारियं किहं (६१२६)	४१६	६७	चित्तमंतमचित्तं... (११२)	२०	५
कुब्बं...जे ते (१११३-१४)	३२	४५	गामधम्मोहि (१११३३)	४८०	४५			

સુચકાવકો ૧

૬૩૬

પરિશિષ્ટ ૧ : દિવ્યજન-અનુક્રમ

સચ્ચ અનુક્રમ	દિવ્યજન સં.	પુઠ્ઠ સં.	સચ્ચ અનુક્રમ	દિવ્યજન સં.	પુઠ્ઠ સં.	સચ્ચ અનુક્રમ	દિવ્યજન સં.	પુઠ્ઠ સં.
ચિરં દુહજ્ઞમાપ્તસ			જાણં (૧૧૭૮)	૭૦	૧૪૩	ઠિતપ્પા (૧૦૧૬)	૪૩૮	૩૩
(૩૧૩૬)	૧૫૭	૫૬	જાણંતિ (૪૧૧૮)	૨૦૬	૫૩	ઠિતીણ...લલસત્તમા		
ચિરદિવ્યયા (૫૧૭)	૨૫૦	૧૭	જાણાસિ (૬૧૨)	૨૮૮	૧૧	(૬૧૨૩)	૩૦૬	૮૫
ચિરદિવ્યયા (૫૧૩૩)	૨૬૨	૭૭	જાણેહિ (૩૧૩૪)	૧૫૬	૫૨	ઠિયપ્પા (૬૧૫)	૨૬૩	૨૫
ચિરદિવ્યયા (૫૧૩૬)	૨૬૫	૮૬	જાતસ્સ બાલસ્સ (૧૦૧૧૭)	૪૪૭	૬૧	હહરા . (૨૧૨)	૬૬	૨
ચેલગોલં (૪૧૪૫)	૨૨૧	૧૧૮	જાતિ મરણં (૧૨૧૨૦)	૫૧૬	૫૬	હહરે (૧૨૧૧૮)	૫૧૨	૪૪
છંદં (૧૩૧૨૧)	૫૪૮	૮૨	જાતિ જાતિ (૭૧૩)	૩૩૦	૧૨	હહરેણ વુહ્ઠેણ (૧૪૧૭)	૫૭૦	૨૬
છંદં (૬૧૨૬)	૪૧૩	૮૫	જાતી-જસો (૬૧૧૪)	૩૦૧	૫૫	હિહિમણ (૪૧૪૫)	૨૨૧	૧૧૭
છંદં ચ... (૨૧૫૧)	૧૧૩	૬૪	જાતી વ કુલં (૧૩૧૧૧)	૫૩૬	૪૩	હંકાદિ હરેજ્ઞા		
છંદપણ (૪૧૨)	૧૬૪	૬	જસો (૬૧૧૪)	૩૦૧	૫૫	(૧૪૧૨)	૫૬૫	૬
છંતં (૬૧૧૮)	૪૦૬	૬૩	જીવિય (૩૧૭૫)	૧૭૫	૧૧૧	હકા ય કકા ય		
છિણ્ણબંધણ (૮૧૧૦)	૩૭૧	૨૦	જીવિય (૬૧૩૪)	૪૨૧	૧૧૭	(૧૧૧૨૭)	૪૮૦	૪૧
છિણ્ણસોતે (૧૫૧૧૨)	૬૦૮	૨૮	જીવિયમાવળા (૧૫૧૪)	૬૦૩	૬	હંકેહિ ય કકેહિ ય		
જહ તે સુયા (૫૧૨૪)	૨૫૭	૫૨	જુત્તે (૨૧૬૮)	૧૨૨	૬૬	(૧૧૬૨)	૫૮	૧૨૦
જં જારિસ (૫૧૫૦)	૨૭૨	૧૨૬	જે ઝ સગમ (૩૧૪૫)	૧૫૬	૬૪	જંદણ (૬૧૧૮)	૩૦૪	૬૫
જંસી વિસળ્ણા (૧૨૧૧૪)	૫૦૬	૨૬	જે કેહ (૧૧૮૩)	૭૪	૧૫૧	જંદીચુળ્ણ (૪૧૪૦)	૨૧૭	૬૬
જગઈ (૧૧૧૩૬)	૪૮૨	૫૨	જે છોઈ (૧૪૧૧)	૫૬૫	૪	જ કલ્પઈ માસ...		
જગટ્ઠાસી (૧૩૧૫)	૫૩૧	૧૩	જે ઠાળઓ (૧૪૧૫)	૫૬૮	૧૮	(૧૪૧૨૩)	૫૮૭	૮૭
જગ્ગા (૧૧૧૩૩)	૪૮૦	૪૬	જે ણ જાઈ (૧૫૧૭)	૬૦૫	૧૭	જ કમ્મુળા (૧૨૧૧૫)	૫૦૬	૩૦
જત્તી (૭૧૧૬)	૩૪૪	૬૪	જેણેહ (૬૧૨૩)	૪૦૬	૭૭	જ કુજ્ઞે (૧૪૧૬)	૫૭૩	૩૫
જમતીતે... (૧૫૧૧)	૬૦૨	૧	જે ઘમ્મ (૧૫૧૧૬)	૬૧૨	૪૫	જક્ષત્તાણ વ ચંદમા		
જમાટુ ...અપારગ (૧૨૧૧૪)	૫૦૭	૨૫	જે માળ્ણટ્ઠેણ (૧૩૧૬)	૫૩૭	૩૭	(૧૧૧૨૨)	૪૭૭	૩૦
જમિણ (૨૧૪)	૬૭	૭	જે માયર (૭૧૫)	૩૩૨	૧૭	જળ્ણત્થ (૬૧૨૬)	૪૧૫	૬૬
જરાઝ (૭૧૧)	૩૨૮	૨	જે ય દુદ્ધા (૧૧૧૩૬)	૪૮૧	૫૧	જ તેહિ વિળિહ્ણેજ્ઞા		
જરિણ (૭૧૧૧)	૩૩૬	૪૮	જે યાજ્ઞુદ્ધા (૮૧૨૩-૨૪)	૩૭૬	૪૩	(૧૧૧૩૭)	૪૮૨	૫૩
જલતો અગ્ની અકટ્ટો			જે યાવિ (૨૧૨૫)	૧૦૨	૩૩	જલ્થિ પુણ્ણ... (૧૧૧૨)	૩૦	૪૧
(૫૧૩૮)	૨૬૬	૬૩	જે યાવિ પુટ્ટા (૧૩૧૪)	૫૩૦	૧૧	જલ્થિ સત્તોવવાદયા		
જલે ણાવા (૧૫૧૫)	૬૦૪	૧૧	જે રક્ષસા (૧૨૧૧૩)	૫૦૭	૨૪	(૧૧૧૧)	૨૬	૩૬
જસં કિત્તી... (૬૧૨૨)	૪૦૬	૭૫	જો આગતિ જાણઈ			જ વુસણ્ણા (૧૦૧૨૩)	૪૫૧	૭૬
જહા...અવમેગ (૧૧૬-૧૦)	૨૭	૩૫	(૧૨૧૨૦)	૫૧૫	૫૪	જ પૂયણં (૧૩૧૨૨)	૫૫૦	૮૮
જહા કહે (૫૧૨૬)	૨૫૮	૫૮	જોહમૂયં સતતાવસેજ્ઞા			જ મિજ્ઞઈ (૫૧૧૬)	૨૫૪	૪૧
જહા ગંઢં (૩૧૭૦-૭૨)	૧૭૩	૧૦૬	(૧૨૧૧૬)	૫૧૫	૫૧	જમી વેદેહી (૩૧૬૨)	૧૬૭	૬૧
અહાતહેણં (૫૧૨૮)	૨૬૦	૬૨	જોગવ (૨૧૧૧)	૬૬	૧૮	જ ય અદક્ષુવ !...		
જાહઅઘો (૧૧૫૮)	૫૬	૧૧૦	જોગેહિ (૪૧૪)	૧૬૫	૧૧	(૨૧૬૪-૬૫)	૧૨૧	૬૦
જાહઅઘો (૧૧૧૩૦)	૪૮૦	૪૩	જો તુમે (૩૧૩૫)	૧૫૭	૫૪	જરમે પઢતિ (૫૧૨૦)	૨૫૬	૪૮
જાઈપહં (૭૧૩)	૩૩૦	૧૦	જ્ઞાણજોગ (૮૧૨૭)	૩૭૬	૪૬	જવા (૩૧૨૨)	૧૫૩	૩૭
જાહં ચ... બીયાહ (૭૧૬)	૩૩૬	૩૫	ઠાળી (૮૧૧૨)	૩૭૩	૨૭	જ વા કેઈ (૪૧૪૬)	૨૨૫	૧૨૬
જાહજરામરણેહિ (૨૧૭૨)	૧૨૪	૧૦૨	ઠિમ્પા (૧૬૧૫)	૬૨૫	૨૬	જ સંસયં... (૧૦૧૧૩)	૪૪૪	૫૦
જાણ ફલે સમુપ્પણે (૪૧૪૭)	૨૨૩	૧૨૩						

सूचकको १

६३७

परिशिष्ट १ : टिप्पण-अनुक्रम

संख्या अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	संख्या अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	संख्या अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०
न सद्गृहे (४।२४)	२१०	६५	नियंठिया (६।२६)	४१३	८६	नेयाउयं (२।२१)	१०१	२६
न से पारए (१३।११)	५३६	४६	नियच्छइ (१।१०)	२७	३४	नेयाउयं (८।११)	३७२	२२
नाइच्छो उदेइ (१२।७)	५०३	१३	निययाणियम संतं (१।३१)	३८	६३	नेयारमणुस्सरता (७।१६)	३४५	६५
नाइण (४।१४)	२०४	४२	नियामट्टी (१।४७)	४६	६१	नो इत्थि निसिज्जेज्जा		
नाइवेलं वएज्जा (१४।२५)	५८६	६५	नियामपक्खिण्णे (१६।६)	६२८	३६	(४।५१)	२२६	१३५
नाइवेलं हसे मुणी			नियोजयति (५।४१)	२६७	१०१	नो कुम्भे (२।२८)	१०४	३६
(६।२६)	४१६	६८	निरहुंकारो (६।६)	३६७	२४	नो छादए (१४।१६)	५७६	६६
नार्हणं सरई बाले (३।१६)	१५०	२७	निराकिच्छा (१।१२२)	४७५	२१	नो जीवियं नो (१।२२२)	५१८	६३
नागणियस्स (७।२१)	३४७	७६	निरामसंवे (६।५)	२६२	२३	नो जीवियं नो (१।३।२३)	५५१	६३
नागेसु (६।२०)	३०५	७२	निरावकली (१०।२४)	४५२	८०	नो तामु चक्खु सवेज्जा		
नाणप्पगारं पुरिसस्स जातं			निरुद्धं भावि (१४।२३)	५८७	८८	(४।५)	१६६	१६
(१३।१)	५२७	२	निरुद्धपणा (१।२।८)	५०४	१४	नो सुच्छए (१४।२१)	५८३	७६
नाणसकाए (१३।३)	५२६	६	निरोध (१४।१६)	५७७	५४	नो पीहे (२।३५)	१०६	४३
नाते (६।१८)	३०४	६४	निव्वहे (१४।२०)	५८१	७३	नो पूयणं (७।२७)	३५१	६४
नायगा (१२।१२)	५०६	१६	निव्वानं (६।३६)	४२२	१२१	नो माणी (१६।३)	६२३	१८
नायमासी (१३।६)	५३३	१७	निव्वान परमा बुद्धा			नो य संसगिय भए		
नालियं (६।१८)	४०६	६४	(१।१२२)	४७६	२६	(६।२८)	४१४	६२
नावकंलंति जीवित			निव्वानमेयं (१०।२२)	४५०	७४	नो मुत्तमत्थ (१४।२६)	५६	१००
(१५।६)	६०६	२१	निव्वानवादी (६।२१)	३०६	७८	तओवमं (५।३१)	२६१	६८
नावा व (१५।५)	६०४	१२	निव्वानसेट्ठा (६।२३)	३०६	८७	तंण (३।५७)	१६५	८४
नाहिंसी (१।५।६)	६६	१६	निव्वाना (१५।२१)	६१३	४८	तगर (४।३६)	२१७	६०
निकाममीणे (१०।८)	४३६	२६	निसत्तं (६।२)	२८८	१२	तज्जातिया इमे कामा		
निकामसारी (१०।८)	४३६	३०	निसडायतणं (६।१५)	३०१	५६	(४।५०)	२२५	१३२
निकिक्खणे (१३।१२)	५४०	४७	निसम्मभासी (१०।१०)	४४०	३७	तज्जिया (१।३३)	४०	६८
खिरेक्खो परिच्छए (६।७)	३६८	२६	निसिज्ज च गिहत्तरे			तण कक्ख (७।१)	३२८	१
निमिणे चरे (२।६)	६८	१७	(६।२१)	४०७	७२	तणादिफास (१०।१४)	४४४	५२
निचयं (१०।६)	४४०	३४	निह (५।३८)	२६६	६२	तथागता (१५।२०)	६१२	४६
निज्जंतए (१४।७)	५७१	३०	निहाय (१३।२३)	५५१	६२	तथावेदा (४।१८)	२०६	५२
निट्ठं (१५।२१)	६१३	४६	नीवार (३।३६)	१५७	५५	तप्पेहि (५।४३)	२६८	१०५
निट्ठितट्ठा (१५।१६)	६१०	३६	नीवार (४।३१)	२१२	७१	तत्तावादेसओ (८।३)	३६७	५
निट्ठितट्ठा च देवा (१५।१६)	६११	४१, ४२	नीवारगिद्धे (७।२५)	३४८	८५	तमाओ ते (१।१४)	३१	४४
नितियं धम्मं (६।१)	२८७	६	नीवारे व न लीएज्जा			तमाओ ते (३।११)	१४८	१८
निदान (१०।२४)	४५२	८२	(१५।२१)	६०८	३०	तम्हा उवज्जए (४।११)	२०२	३४
निदं (१४।६)	५७०	२३	नूम (३।४०)	१५८	६१	तय सं (२।२३)	१०१	२८
निमंतयंति (२।३२)	१५६	५१	नेता (६।७)	२६५	३६	तलसपुड व्व (५।२३)	२५७	५१
निमत्तंति (४।४)	१६६	१४	नेताणि सेवति (१३।१६)	५४४	६६	तवेण वा (१।३।८)	५३६	३१
निम्मसो (६।६)	३६७	२३	नेतारो अण्णेसि			तवेसु (६।२३)	३०६	८३
निमए (३।५३)	१६२	७७	(१२।१६)	५११	३५	तसयावरेहि (१३।२१)	५४६	८५
						तसा य जे (६।४)	२६०	१८

सूचकाङ्को १

६३८

परिशिष्ट १ : टिप्पण-अनुक्रम

संख्या अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	संख्या अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	संख्या अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०
तद्वा करिस्सं... (१४१६)	५७३	३७	ते य बीयोदगं... (१११२६)	४७८	३८	दीवायण (३१६३)	१६६	६१
तद्वागयस्स (२१४०)	१०७	५०	तेल्लं (४१३६)	२१७	६४	दीवे (६१४)	२६१	२०
तद्वा तद्वा सासय ... (१२११२)	५०६	२१	तेसि तु (८१२५)	३७७	४४	दीहराय (६१७७)	३१२	६४
तद्वा तद्वा साहू... (१४१२३)	५८६	८६	थंङिल्ल (६१११)	३६६	३३	दुक्खं (११४६)	५१	१००
तद्वाभूएहि (४१३५)	२१४	७८	थणति (५१७)	२५०	१६	दुक्खं (२१५५)	११६	७२
तद्वाय फलं... (१४१२१)	५८३	७८	थणितं व... (६११६)	३०४	६७	दुक्खं (१२१२१)	५१८	६१
तद्वावहाणे (६१२०)	३०६	७४	थिमियं (३१७१)	१७३	१०४	दुक्खं (६१३)	३६६	१६
ताइणो (२१३६)	१०७	४७	थिरओ (१४१७)	५७१	२६	दुक्खलसघविबुद्धं (१५५१)	५२	१०५
ताई (१०११३)	४४३	४८	थिरं (५१२६)	२६०	६५	दुक्खला (११२)	२१	६
ताई (१५११)	६०२	२	थूल वियास... (५१३०)	२६०	६६	दुक्खी (५१५०)	२७२	१२८
तारामणे (३१६२)	१६८	६१	थेरओ (३१२०)	१५२	३१	दुगुछमाणा (१२११७)	५११	४०
तिजट्टेज्जा (१११)	१६	२	दंड (१३१२३)	५५१	६१	दुग्ग (५१२)	२४७	६
तिककणे (६११०)	२६८	४८	दंतपक्खालण (४१४२)	२१६	१०६	दुणियणि (७१४)	३३२	१६
तिणक्खा (११२०)	३७	५८	दंतपक्खालण (६११३)	४०१	४२	दुपक्ख (३१५०)	१६१	७०
तिमिसघवारे (५१३)	२४८	८	दंतवक्के (६१२२)	३०७	८०	दुपक्ख वेव सेवई (११६०)	५६	११३
तिरिय कट्टु (३१४६)	१५६	६५	दत्ते (१६११)	६२१	२	दुमोक्ख (१२११४)	५०८	२६
तिलगकरणी (४१४१)	२१८	१०१	दंसमसगेहि (३११२)	१४६	१६	दुक्खस्स (५१२०)	२५६	४७
तिलोगबंसी (१४११६)	५७७	५५	दगरक्खसा (७११५)	३४४	६३	दुहओ (१११६)	३३	४६
तिवातए (११३)	२१	१०	दट्टु तसे... (७१२०)	३४६	७४	दुहओ वि सोयपलिच्छिणे (१६१६)	६२७	३६
तिविहेण (१४११६)	५७६	५२	दठ्ठम्माण (३११)	१४५	१	दुहलो (१२११४)	५०८	२८
तिव्वं (१११०)	२७	३३	दत्तेसणं चरे (११७६)	७०	१४५	दुहमट्टु (५१२)	२४७	५
तिव्वं (११४५)	४६	८७	दविए (४११०)	२००	२६	दुहमट्टुदुग्गं (१०१६)	४४०	३५
तिव्वं (५१४)	२४८	१०	दविए (८११०)	३७१	१८	दुहावाम (८१११)	३७२	२५
तिव्वंभितावेण (३१५२)	१६२	७३	दविए (१६११)	६२१	३	दुही (११६२)	५८	११६
तुट्टति पावकम्माणि (१५१६)	६०४	१३	दवियस्स (१४१४)	५६८	१४	दूरं (२१२७)	१०३	३६-३७
तुट्टति (५१२०)	२५६	४६	दाणाण सेट्ठं (६१२३)	३०७	८१	दूरमट्टाण गच्छई (११४६)	४६	८६
तुमं तुमं ति... (६१२७)	४१४	६१	दारुणि... भविस्सई राओ (४१३६)	२१५	८०	दूरे चरंती (१०१२०)	४४६	६६
ते (१११५)	३३	४८	दासीहि (४-१३)	२०३	३८	दूवण (२१४६)	११०	६२
ते आततो पासइ (१२११८)	५१२	४६	दासे मिए व पेस्से वा (४१४६)	२२४	१२७	देवउत्ते (११६४)	६०	१२४
ते ङ्गळमाणा (५१३१)	२६१	६६	दिट्ठममे (१३११७)	५४५	६६	देवा (२१५१६)	६७	८-६
तेण अंतकरा इह (१५११५)	६१०	३७	दिट्ठि ण लूसएज्जा (१४१२५)	५८६	६६	देवा अदुव माणवा (१११३)	४६६	७
ते णारगा... (५११४)	२५३	३८	दिविण (६१७)	२६६	३७	दोसे (११११२)	४७५	२०
तेणाविम (११२०)	३७	५७	दीणे (१०१७)	४३८	२५	धम्म (११११३)	५७५	४५
ते तीतजप्पण... (१२१२६)	५१०	३४	दीयं (६१३४)	४२०	११४	धम्म च जे (१४१२७)	५६१	१०६
तेओ (११८)	२५	२६	दीव (१११२३)	४७७	३३	धम्म देसितवं सुत (६१२६)	४११	७८
						धम्मट्ठी (१६१६)	६२७	३७
						धम्मपणवणा... (३१५५)	१६३	७६
						धम्मलज्जं (७१२१)	३४७	७५

सूच्यपत्र १

६३६

परिशिष्ट १ : द्विप्यण-अनुक्रम

संज्ञा अनुक्रम	द्विप्यण सं०	पृष्ठ सं०	संज्ञा अनुक्रम	द्विप्यण सं०	पृष्ठ सं०	संज्ञा अनुक्रम	द्विप्यण सं०	पृष्ठ सं०
धम्मविक्र (१६१६)	६२८	३८	पण्यसमसे... (२१२८)	१०४	३८	पलियके (६१२१)	४०७	७१
धम्मसमुत्तिहेहि (१४१२२)	५८५	८२	पण्यमहं... (१३११५)	५४३	६२	पलियंतसि (३११५)	१५०	२४
धम्मघम्म (११४६)	५१	६८	पत्तये... गरिण पुण्णे			पलेह (१३१६)	५३६	३४
धम्मिए (२१७)	६७	११	(११११, १२)	२६	४०	पविज्जला (५१४८)	२७१	१२१
धिदमं (६१५)	२६२	२४	पम्पु (११११२)	४७४	१६	पव्वहए (१३११०)	५३८	४०
धितिमंता (६१३३)	४१६	११३	पमायं... (८१३)	३६८	६	पव्वदुग्गे (६११२)	३००	५१
धीरे (१११३८)	४८३	५४	पयपासाजी (११३५)	४१	७१	पव्वया (१११६)	३६	५४
धीरे (१३१२१)	५४८	८०	पर (७१२५)	३४८	८३	पव्वहेज्जा (१४१६)	५७३	३६
धुणिया... (२११४)	६६	२१	परं (७१२६)	३५२	१०२	पसिणायतनानि (६११६)	४०४	५६
धुणे (१५१२२)	६१३	५१	परं परं (७१४)	३३२	१५	पसुभूए (४१४६)	२२५	१२८
धुत (२१८)	६८	१४	परकिरियं (४१५२)	२२७	१३७	पहाणाह पहावए (११६५)	६०	१२६
धुतं (१०११६)	४४५	५८	परकिरिय अणमण च			पाउल्लाह (४१४६)	२२२	१२१
धुत्तादाणाणि (६१११)	४००	३५	(६११०)	४०६	६६, ६७	पाएसु (३१५१)	१६१	७१
धुयं (२१५१)	११४	६५	परक्कम्म (४१२)	१६४	७	पागन्नि (५१५)	२४८	११
धुयं (५१५२)	२७३	१३२	परगेहे (६१२६)	४१५	६५	पागन्निपण्णो (७१८)	३३६	३३
धुयं (७१२६)	३५२	१००	परतित्थिया (६११)	२८६	३	पाणाहवाए (३१६८)	१७२	१००
धुवमम (४११७)	२०५	४६	परदत्तमोह (१६१५)	६२६	२८	पाणेहि (५११६)	२५६	४६
नाय (६१२)	२८७	८	परदत्तमोह (१३११०)	५३८	४१	पाणेहि ण पाव (५११६)	२५५	४५
पंच खंभे... पुढवी			परपरिवाव (१६१३)	६२२	१०	पापगं च परीणमं (८११७)	३७४	३५
(१११७, १८)	३५	५२	परमं च समानिय (३१६६)	१७१	६७	पामिच्चं (६११४)	४०२	४६
पंचमहम्मूया (११७)	२५	२५	परमट्टाणुगामियं (६१६)	३६७	२१	पायाणि य... (४१३६)	२१५	८१
पचसंवरसवुडे (११८८)	७६	१६०	परमत्ते (६१२०)	४०६	६८	पायाला (३१२६)	१५५	४६
पंचसिहा (७११०)	३३७	४१	परिगगहिरियकम्मं (६११३)	४०१	४३	पारगा (१४११८)	५७८	६४
पंडगवेजयते (६११०)	२६८	४८	परिगगहे णिविट्ठाणं (६१३)	३६६	१३	पारासरे (३१६३)	१६८	६१
पंडिए बीरियं (१५१२२)	६१३	५०	परितप्पए (३१७५)	१७५	११०	पाव (४१२२)	२०६	६०
पकत्थ (४११६)	२०७	५६	परितप्पसि (३१७४)	१७४	१०८	पावचेया (५१३६)	२६५	६०
पगन्मिया (३१५६)	१६४	८२	परितप्पमागे (१०११८)	४४६	६६	पावधम्म (१४१३)	५६६	६
पक्कणभासी (१४१२६)	५६०	६६	परिताणेण (११३३)	४०	६७	पावलोगयं (२१६३)	१२०	८८
पट्टि उम्महे (४१३६)	२१५	८२	परिवत्तयंता (५११५)	२५४	४०	मावस्स विवेग (७१२६)	३५२	६६
पट्टिगुण्णिणो (२१४२)	१०८	५४	परवत्थं अवेलो वि (६१२०)	४०७	६६	पावाओ अप्पाण... (१०१२१)	४५०	७२
पट्टिपथियमागया (३१६)	१४७	११	परिसंक्रमाणा (१०१२०)	४४६	६८	पावापुया (१२११)	५००	३
पट्टिपुण्णं (१११२४)	४७८	३५	परिसादाणीया (६१३४)	४२०	११५	पाविया (२१२४)	१०२	३२
पट्टिपुण्णभासी (१४१२२)	५८८	६१	परिहवेज्जा (१३११३)	५४२	५६	पासणिए (२१५०)	१११	६३
पट्टिभाणवं (१४११७)	५७७	५६	परिहास (१४११६)	५८०	६६	पासत्थयं (७१२६)	३४६	८८
पट्टियच्च ठाणं (६१२७)	३१२	६२	परिहिति (४१३)	१६५	१०	पासत्था (१३२२)	३६	६४
पट्टिलेह सायं (७१२)	३२८	६	परीसहोवसग्गे (१६१५)	६२५	२३	पासत्था (३१६६)	१७२	१०२
पट्टिहाणवं (१३११३)	५४१	५५	पलिउण्णं (६१११)	३६६	३१	पासाणि (४१४)	१६६	१५
पणया अक्खय... (६१८)	२६६	४१	पलिभिदियाव (४१३३)	२१३	७६			

सूच्यमन्त्रे १

६४०

परिशिष्ट १ : टिप्पण-अनुक्रम

सूच्य अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	सूच्य अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०	सूच्य अनुक्रम	टिप्पण सं०	पृष्ठ सं०
पिण (३।७१)	१७३	१०५	पूयभा (३।७३)	१७४	१०७	बुधभेज्ज तिउट्टेज्जा (१।१)	१६	१
पिण्डोल (३।१०)	१४७	१३	पूयणा (३।७७)	१७६	११३	बुधप्पमत्तेसु (१।२।१८)	५१४	४६
पिट्ठ (५।२६)	२६०	६४	पूयणासते (१।५।११)	६०७	२७	बुद्धा (१।२।१६)	५११	३६
पिट्ठो (३।२८)	१५४	४५	पूयफल (४।४३)	२२०	१०७	बुद्धा (१।४।१८)	५७८	६१
पियमप्ययं कस्सह...			पेण्णा ण ते सति (१।११)	२८	३८	बुद्धाणं (६।३२)	४१८	१०७
(१।३।२२)	५५०	८६	पेज्ज (१६।३)	६२२	८	बुद्धे (१०।६)	४३८	२१
पिया लोणसि इत्थिओ			पेसल (३।६०)	१६६	८७	बुयाबुयाणा (७।१०)	३३७	४०
(१।५।८)	६०५	१६	पेसले (१।३।७)	५३४	२४	बोक्कस (६।२)	३६५	८
पीवसप्पीव (३।६५)	१७०	६४	पेसे (५।३२)	२६२	७३	बोधि (२।७३)	१२४	१०४
पुच्छिसु (६।१)	२८६	४	पेह (६।३)	२६०	१७	भते (१६।२)	६२१	५
पुच्छिसुहं (५।१)	२४६	२	पोस (३।१६)	१५१	३०	भयण (६।११)	३६६	३२
पुट्ठं (२।५५)	११६	७३	पोसवत्थं (४।३)	१६५	६	भवाहमे (५।२६)	२५८	५५
पुट्ठा पाव वि (४।२६)	२११	६७	प्यभावेण (१।६२)	५७	११७	भाव विणइसु (१।२।३)	५०१	६
पुट्ठो तत्त्व... (६।३०)	४१७	१०१	फणिह (४।४२)	२१६	१०४	भावणाजोगसुद्धपा (१।५।५)	६०३	१०
पुट्ठवि एताहं (७।१-२)	३२६	६	फलगा व तट्ठा (५।४१)	२६७	६६	भारस्स जाता (७।२६)	३५२	६८
पुट्ठवी जीवा अहावरे			फलगावलट्ठी (७।३०)	३५२	१०३	भासमाणो ण भासेज्जा		
(१।१।७-८)	४७२	१४	फलेण (३।१६)	१५०	२६	(६।२५)	४११	७६
पुढो (१०।४)	४३७	१८	फासाह (५।४६)	२७१	१२३	भासव (१।३।१३)	५४१	५३
पुढो (१।४।५)	५६६	२०	बमउत्ते (१।६८)	६०	१२५	भासादुग (१।४।२२)	५८५	८३
पुढो (१।५।११)	६०७	२५	बभयेर (१।७२)	६७	१३३	भिक्षु (६।२)	२८८	१०
पुढो छंदा (१०।१७)	४४६	५६	बघणमुक्का (६।३४)	४२१	११६	भिण्णकहाहि (४।७)	१६६	२४
पुढो पवेसे (१।४।१५)	५७६	५१	बघणमुक्के (८।१०)	३७१	१६	भिलिगाय (४।३६)	२१७	६३
पुढोवमे ... (६।२५)	३१०	८५	बला (५।३२)	२६२	७१	भिसं (४।३)	१६४	८
पुढोवाद (१०।१७)	४४६	६०	बहिद्धं (६।१०)	३६८	२८	भूइपण्णे (६।६)	२६४	२६
पुढो सत्ता (१।१।७)	४७१	१३	बहुकूरकम्मा (५।३८)	२६६	६८	भूताभिसंकाए (१।२।१७)	५११	३६
पुढो सियाहं (७।८)	३३५	३१	बहुकूरकम्मा (५।४७)	२७१	११६	भूतिपण्णे (६।१५)	३०१	५६
पुलकारणा (२।१७)	१००	२४	बहुजणमणम्मि (२।२६)	१०४	४०	भूतिपण्णे (६।१८)	३०४	६६
पुलं पि ता (१।५।५)	५४	१०७	बहुजणे (१।३।१८)	५४५	७२	भूतेहि... (७।१६)	३८६	७१
पूरक्खायं (१।५।१)	५२	१०३	बहुण (७।८)	३३६	३४	भूमिवट्ठिए (६।११)	२६८	४६
पूरिसजाते (१।३।७)	५३४	२३	बहुणंदणे (६।११)	२६६	४६	भूयाहं (१।१।१८)	४७५	२४
पुलाए (७।२६)	३५०	६१	बहुस्सुए (२।७)	६७	१०	भूरिवण्णे (६।१३)	३०१	५४
पुव्वमरी (५।४६)	२७०	११६	बाल (५।२८)	२६०	६३	भेयमावण (६।३३)	२१३	७४
पुव्वसजोगं (४।१)	१६३	१	बालवीयण (६।१८)	४०६	६५	मइम (१०।१)	४३३	१
पुव्वि (३।६१)	१६७	८८	बालस्स मंदय बीय (४।२६)	२१२	६८	मईमता (६।१)	३६४	१
पूइकड (१।६०)	५६	११२	बालिणं अल भे (७।११)	३३६	४६	मगू (७।१५)	३४३	६१
पूति (६।१४)	४०२	४८	बाहुए (३।६२)	१६८	६१	मज्जुलाइ (८।७)	१६६	२३
पूतिकम्मं (१।१।५)	४७६	२५	बीओदगं (३।५१)	१६२	७२	मतपण (१।४।२०)	५८१	७१
पूयणकामो (४।२६)	२१२	६६	बुज्झाहि (७।११)	३३८	४४	मस (७।१३)	३४२	५५
			बुज्झेज्ज (५।५१)	२७३	१३०	मग्ग (१।१।१)	४६८	३

संख्या अनुक्रम	पृष्ठ सं०	टिप्पण सं०	संख्या अनुक्रम	पृष्ठ सं०	टिप्पण सं०	संख्या अनुक्रम	पृष्ठ सं०	टिप्पण सं०
मनसं जज्जु (११११)	४६६	४	माणुस्सए ठाणे (१५११५)	६१०	३८	मेघावी (१०१६)	४४०	३६
मनसं न... (१४११२)	५७५	४३	माता पिता... (६१५)	३६७	२०	मेहावि (७१६)	३३४	२४
मनसंसारं (१११४)	४७०	८	मामए (२१५०)	११३	६३	मेहावी (६१३)	२८६	१५
मनसाणुसासति (१४११०)	५७३	३६	मायणिएहिंति ... (१३१४)	५३१	१२	मोक्खविसारए (३१५०)	१६०	६६
मच्छरे... (२१६८)	१२२	६४	माया पुत्तं... (३१२)	१४५	४	मोणं (१४११७)	५७८	६०
मच्छा न... (५११३)	२५३	३६	मायामोस (१६१३)	६२२	१२	मोणपदसि (१३१६)	५३७	३५
मच्छा वेसासिया (११६१)	५७	११६	मायहि ... (२१३)	६६	४	मोहं (४१३१)	२१२	७२
मच्छेसणं म्मियायति (१११२७)	४८०	४२	मारेण संभुया माया (११६५)	६४	१२८	मोहेण (३१११)	१४८	१७
मज्झिम (७११०)	३३८	४२	मालुया (३१२७)	१५४	४२	रयं (२१२३)	१०२	२६
मज्झसा ... अंतसो (८१६)	३७०	१३	मा सा अणं अण गमे (३१२२)	१५३	३८	रयणं (६११२)	४००	३६
मज्झसा जे ... (११५६)	५५	१०८	माहणा... (११४१)	४४	८२	रसया (७११)	३२८	४
मणुए (१४१४)	५६७	१२	माहणा (३१३२)	१५६	४६	रहंसि जुत्त (५१३०)	२६०	६७
मतं (१५१२४)	६१४	५४	माहणा (६११)	२८६	१	राजोअवि ... छाई वा (४१४८)	२२४	१२५
ममाई (१०११८)	४४८	६३	माहणा (६१२)	३६४	५	रातिणिण (१४१७)	५७०	२७
ममाती (११४)	२२	१३	माहणे (२११५)	१००	२३	रामउत्ते (३१६२)	१६८	६१
मम्मय (६१२५)	४११	८०	माहणे लत्तिण (१३११०)	५३८	३८	रायअमच्छा (३१३२)	१५५	४८
महंतीत्त (५१३६)	२६६	६६	माहणेण (६११)	३६४	२	रुवेहि (१३१२१)	५४६	८६
महतीहि वा कुमारीहि (४११३)	२०३	३६	माहणेण (११११)	४६८	१	लद्धाणुमाणे (१३१२०)	५४७	७६
महम्मयं (११११३)	४८०	४४	मिगा (११३३)	४०	६६	लद्धे कामे ण पत्थेज्जा (६१३२)	४१८	१०६
महाणुमावे (५१२)	२४६	३	मिगाणं (६१२१)	३०६	७५	लबावसक्किणो (२१४२)	१०८	५६
महापुरिसा (३१६१)	१६७	८६	मिगे (११३६)	४३	८०	लबावसक्की (१२१४)	५०२	११
महामुणी (१६१२)	६२१	६	मिच्छादंसणसल्ले (१६१३)	६२२	१३	लाढे चरे (१०१३)	४३५	१०
महारहं (३११)	१४५	२	मिज्जाति (७१३)	३३०	१३	लाभमदावलिते (१३११४)	५४३	६१
महाविहि (२१२१)	१०१	२७	मिज्जती (११५८)	६०५	१८	लाविया (२११८)	१०१	२५
महावीरे (१५१७)	६०५	१५	मिस्तीभावं (४११७)	२०५	४८	लुत्तपण्णो (५११२)	२५२	३०
महावीरे (१५१२३)	६१३	५२	मुक्के (६१८)	२६७	४४	लुप्पंतस्स (६१५)	३६७	१६
महिषा (६१११)	२६६	५०	मुच्छिण (२१७)	६८	१३	लुप्पति (२१४)	६७	६
महीए मज्झिम (६११३)	३००	५३	मुणीण मज्जे... (६११५)	३०२	५७	लुप्पती (११४)	२२	१५
महेसि (५११)	२४६	१	मुत्तल्ले (१३११७)	५४४	६८	लूसएज्जा (१४११६)	५७६	६७
महोदही वा ... (६१८)	२६६	४०	मुम्पुरे (५११०)	२५१	२५	लूसयई व बत्थं (७१२१)	३४७	७८
माहणं (६१२५)	४१२	८२	मुसं वदति (१२१२)	५००	६	लूह (३१३)	१४६	७
माइणो कट्टु मायाओ (८१५)	३६६	१०	मुसाबायं विवज्जेज्जा (३१७६)	१७६	११४	लेसं समाहट्टु (१०११५)	४४५	५५
माइल्ले महासवेअं (४११८)	२०६	५४	मुहमंगलिकोदरियं (७१२५)	३४८	८४	लोइय (३१२१)	१५२	३४
माणं न वेवेअ... (१४११६)	५८०	६८	मुत्तसगणं (५१४४)	२६६	१११	लोए (१११४)	३१	४२
माणव ! (१२११२)	५०६	२२	लूया (७११२)	३४०	४६	लोए (७१५)	३३३	२१
माणवेसु इहं भयं (७१११)	३३६	४५	लूया (११३८)	४२	७६	लोगमिणं महंतं (१२११८)	५१३	४७
			मेघाविणो (१२११५)	५०६	३१	लोगवायं (११८०)	७१	१४८
						लोगस्स वसं न गच्छे (५१५१)	२७३	१३१

सूचक अनुक्रम	पृष्ठ सं०	दिव्य सं०	सूचक अनुक्रम	पृष्ठ सं०	दिव्य सं०	सूचक अनुक्रम	पृष्ठ सं०	दिव्य सं०
लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते (६।२३)	३०६	८४	विज्जं (७।१६)	३४५	७०	विसलितं व कंटगं णम्भा	२०१	११
लोभमया वलीता (१२।१५)	५०६	३२	विज्ज गहाम (१३।२१)	५४६	८४	विसयंगणाहि (१२।१४)	५०८	२७०
लोय (१२।२०)	५१५	५३	विज्जाचरणं (१२।११)	५०५	१७	विसारण (१३।१३)	५४२	५६
लोलणसंपन्नाहे (५।१७)	२५४	४२	विज्जाचरण (१३।११)	५३६	४६	विसारदे (१४।१७)	५७७	५७
लोहबिलीणतत्ता (५।४८)	२७१	१२२	विण्णू (१।६)	२६	३१	विसोहियं (१३।३)	५२६	७
वह (२।३५)	१०६	४५	विण्यं (१४।१)	५६४	३	विहागमणेहि (३।३४)	१५६	५३
वहरोयणिदे (६।६)	२६५	३४	विण्यवाय (१२।१)	४६८	१	विहेडिणो (८।४)	३६६	८
वंचइत्ता (५।२६)	२५८	५७	विणासे (१।८)	२५	२८	वीतगेही (८।२६)	३७८	४८
वक्कणपूयणा (२।३३)	१०५	४१	विणासो होह देहिणो (१।८)	२६	२६	वीमसा (१।४४)	४८	८५
वंदालण (४।४४)	७२०	१०६	विणिघायं (७।३)	३३०	११	वीरा (६।३३)	४१६	१११
वग्गुफलाहं (४।३५)	२१४	७६	विणिहाय (७।२१)	३४७	७६	वीरिण (६।६)	२६८	४७
वक्कवचरणं (४।४४)	२२०	१११	विण्णत्तिवीरा (१२।१७)	५१२	४३	वीरे (१।१)	१६	३
वक्ककरा (४।५०)	२२६	१३३	विण्णवणा (२।५६)	११६	७४	वीरे (१४।११)	५७४	४१
वज्जं (१।३५)	४१	७०	विण्णवणिक्खीसु (३।७०)	१७२	१०३	वीससेण (६।२२)	३०७	७६
वट्टयं (२।२)	६६	३	वित्तिगिच्छ (१२।२)	५००	५	वुच्चमाणो ण सज्जे (६।३१)	४१७	१०३
वणे घूढे (१।४५)	४५	८६	वित्तिगिच्छ (१४।६)	५७०	२५	वुड्ढे (१२।१८)	५१२	४५
वत्थाणि य (४।३७)	२१५	८३	वित्तिगिच्छतिण्णे (१०।३)	४३५	६	वुसिते (१।८६)	७५	१५५
वत्थिकम्मं (६।१२)	४००	३८	यित्तिगिच्छाए (१५।२)	६४२	३	वुसिम (१४।३)	५६६	८
वमणं च विरेयणं (६।१२)	४००	३७	वित्त (२।७०)	१२३	६८	वुसीमओ (८।२०)	३७५	३६
वम्फेज्ज (६।२५)	४१२	८१	वित्त (१४।४)	५६८	१५	वुसीमतो (११।१५)	४७६	२६
वल्लय (३।४०)	१५८	५६	विधूमठाण (५।३५)	२६३	८३	वुसीमतो (१५।४)	६०३	७
वल्लया (१२।२२)	५१८	६५	विप्पणमति (१२।१७)	५१२	४२	वेणुदेवे (६।२१)	३०६	७७
वल्लया (१३।२३)	५५१	६४	विप्परियासुवेत्ति (७।२)	३२६	८	वेणुपलासिय (४।३८)	२१६	८७
वल्लयायतानो (६।१५)	३०२	५६	विप्परियासुवेत्ति (१३।१२)	५४०	५२	वेणुफलाह (४।३६)	२१७	६५
वल्लया विमुक्के (१०।२४)	४५२	८३	विमज्जवाय (१४।२२)	५८४	८१	वेघ (६।१७)	४०५	५६
वसवस्ती (४।११)	२०१	३३	विमुक्के (१०।२३)	४५०	७८	वेयडत्ता (६।२७)	३१२	६३
वसुम...सत्ताय (१३।८)	५३५	२६	वियडेण (७।२१)	३४७	७७	वेयरणी (३।७६)	१७५	११२
वसुमान (१५।११)	६०६	२४	विरतसम्भवावकम्मे (१६।३)	६२२	७	वेयरणी (५।८)	२५०	१६
वहेण (५।४१)	२६७	६८	विरते (१६।३)	६२३	१४	वेयाणुवीह (४।१६)	२०७	५७
वायं (३।५६)	१६४	८१	विस्सज्जेज्जा (१५।४)	६०३	६	वेयालिए (५।४४)	२६६	१०८
वायावीरियं (४।१७)	२०६	५०	विल्लगाणि (७।८)	३३५	२६	वेर तेसि पवड्डई (६।३)	३६६	१४
वारिया (६।२८)	३१२	६६	विमरीयपण्णसभूयं (१।८०)	७२	१४६	वेर वड्डह अप्पणो (१।३)	२१	११
वाह्मिच्छिणा (३।६५)	१७०	६२	विम्राग (४।१०)	२००	२८	वेराह कुव्वह (८।७)	३७०	१५
वाहेण (२।५६)	११६	८२	विवाय (६।१७)	४०५	६१	वेराणुगिडे (१०।६)	४४०	३३
विज्जट्टणं (१२।२१)	५१७	५६	विबिसेसी (४।१)	१६३	४	वेसिया (६।२)	३६५	१०
विज्जट्टितेणं (१४।८)	५७१	३१, ३४	विबेगे (१०।६)	४३८	२२	वेस्सा (६।२)	३६५	७
विज्जस्सिता (१।६)	२४	२३	विसण्णमेसी (१०।८)	४३६	३१	वोदाण (१४।१७)	५७७	५६
विज्जोसितं ओ (१३।५)	५३२	१४	विसण्णेसी (४।२६)	२१२	७०	वोसट्टकाए (१६।१)	६२१	४
विज्जयणिद्धि (१।८६)	७५	१५६	विसमंते (१।३६)	४१	७२	सद्विप्पहूणा (५।६)	२५०	२१
			विसवसि (१।६१)	५७	११४	सउणी पंजरं जहा (१।४६)	५१	६६

संख्या अनुक्रम	पृष्ठ सं०	टिप्पण सं०	संख्या अनुक्रम	पृष्ठ सं०	टिप्पण सं०	संख्या अनुक्रम	पृष्ठ सं०	टिप्पण सं०
अर्थाह परियाह (११६८)	६५	१३०	संवाहिया (५१४५)	२६६	११२	सपेहाए (६१६)	३६७	२२
संकवि (११३८)	४२	७७	संबुजकमाणे (१०१२१)	४४६	७०	सबीयगा (६१८)	३६८	२७
संकलियाहि बद्धा (५१४७)	२७०	११८	संबुजकह (२११)	६६	१	सबीयगा (१११७)	४७१	१२
संकेज (१४१२२)	५८३	८०	संभमे (३१६५)	१७०	६३	समणमाहणा (११६)	२४	२०
संखाए (१४११८)	५७८	६२	संभिससभाबं (१२१५)	५०२	१२	समणव्वए (७१५)	३३३	१८
संखाए (१६१५)	६२५	२७	संबच्छरं मुमिणं (१२१६)	५०४	१५	समणा (११४१)	४७	८३
संखाम बाबं (१३१८)	५३५	३०	संवरं (१२१२१)	५१७	६०	समणा एगे (११६३)	५६	१२२
संगइयं (११३०)	३८	६२	संवासं (४१५०)	२२५	१३१	समणे (२१२६)	१०३	३५
सगाहं (७१२८)	३५१	६६	संवासो ण कप्पई (४११०)	२०१	३०	समया (१४१२२)	५८६	८४
संयवेज्जा (१०१११)	४४१	४०	संविधुणीय (१६१५)	६२५	२४	समव्वएण (१४१७)	५७१	२८
संछिणसोए (१६१६)	६२६	३१	संयुद्धकम्मस्स (२१५५)	११५	७०	समारभति (५१४०)	२६६	६७
सजीवणी (५१३६)	२६४	८८	संयुद्धचारिणी (११५६)	५५	१०८	समालवेज्जा (१४१२४)	५८८	६०
संढासग (४१४२)	२१६	१०३	संयुद्धे (११११३)	४७५	२२	समाहि (१४१२५)	५६०	६७
संयव (२१६०)	११६	८३	ससयं (१०११३)	४४४	४६	समाहिओ (५१११)	२५१	२८
सयवं (४११३)	२०३	४०	संसारे (२१२४)	१०२	३१	समाहिजोरोहि (४११६)	२०५	४६
संयव (४११६)	२०५	४७	संसदया (७१७)	३३४	२७	समाहिपत्ते (१३११४)	५४३	६०
सयवं (४१५०)	२२५	१३०	संसदया (७११)	३२८	३	समाहिय (६१२६)	३१४	६६
संतच्छणं (५११४)	२५३	३७	संसोघियं (१४११८)	५७६	६५	समिए (१६१३)	६२३	१५
संता (११३३)	४०	६६	संस्कं असकं (१२१३)	५०१	८	समियं (६१४)	२६१	२१
संतावणी (५१३३)	२६२	७६	संस्वरए (१०११२)	४४३	४६	समियं (१४११५)	५७६	४६
संति (११११)	२८	३७	संस्वे (१५१३)	६०२	५	समियं चरे (१६१६)	६२८	४०
संति (३१८०)	१७७	११७	संढी (११६०)	५६	१११	समियाबद्धसी (१४१२४)	५८७	८६
संति (१४११६)	५७७	५३	संढ (२१७२)	१२४	१०१	समीहते (८१११)	३७२	२४
संति... बुद्धो (१११५, १६)	३४	५१	सणफएहि (५१३४)	२६३	८०	सम्मस्तिभावं (१०११५)	४४५	५६
संति पंच... एए पंच (११७, ८)	२६	३०	सणिदाणप्पओगा (१३११६)	५४६	७६	समीकतं (३१२५)	१५३	४०
संतिमा तहिया... (६१२६)	४१२	८४	सतो य धम्मं (१३११)	५२८	३	समीरिया (५१४३)	२६८	१०६
संतोसिणो ओ (१२११५)	५०६	३३	सत्तिसु (५१८)	२५०	२०	समुद्धितेहि तहागतेहि (१३१२)	५२८	४
संघए (१११२२)	४७७	३१	सत्थं (८१४)	३६८	७	समुबट्टिए अजगारे (८११४)	३७३	३०
संघए साहुधम्मं (१११३५)	४८१	४६	सत्थादाणाई (६११०)	३६६	३०	समूसियं (५१३५)	२६३	८२
संघाति जीवितं वेव (११५)	२३	१८	सत्थारभसी (१४१२६)	५६१	१०१	समूसिया (५१३६)	२६४	८७
संघि (१५११२)	६०६	३१	सत्थारमेवं फसं बयति (१३१२)	५२८	६	समेच्चा (१३११६)	५४६	७५
संपमाळमि (५१३३)	२६२	७४	सदा जसा (१२११७)	५१२	४१	समे ह से होइ (१३१७)	५३५	२८
संपगाढा (१२११२)	५०६	२३	सद्धमत्त्वभासे (६१२२)	२६६	५१	समोसरणाणि (१२११)	४६५-५००	१
संपातिम (७१७)	३३४	२६	सद्धंसाय (६१२६)	३१४	१०१	सम्मज्जुसासयति (१४११०)	५७४	४०
संपराए (५१५०)	२७२	१२७	सहाणि (४१६)	१६८	२२	सयंभू (६१२०)	३०५	७१
संपसारए (२१५०)	११२	६३	सहेहि कवेहि (७१२७)	३५१	६५	सयं सयं (११५०)	५१	१०१
संपराबं (८१८)	३७१	१७	सहाणि... मेरवाणि (१४१६)	५६६	२१	सयकम्मकप्पिया (२१७२)	१२३	१००
संपसारी (६११६)	४०४	५४	सद्धिं पि (४१५)	१६७	१८	सयण (४१४)	१६५	१२
संपुच्छणं (६१२१)	४०८	७३	संपरिगहा (११७८)	७०	१४२	सया जए (१६१३)	६२३	१७
संयव... (६१४८)	१६०	६७, ६८						

संज्ञक अनुक्रम	सं०	टिप्पण सं०	संज्ञक अनुक्रम	सं०	टिप्पण सं०	संज्ञक अनुक्रम	सं०	टिप्पण सं०
सयाजला (५।४८)	२७१	१२०	साहसं (४।५)	१६६	१७	सुफणि (४।४१)	२१८	११
सयावकोपा (५।४७)	२७०	११७	सावियापकाणा (४।२६)	२११	६६	सुग्भि च दुग्भि च (१०।१४)	४४४	५३
सरणं (६।२१)	४०८	७४	साहमकारि (१०।१८)	४४८	६४	सुमणो (६।३१)	४१८	१०४
सरपाययं (४।४४)	२२१	११२	साहिण (२।५२)	११४	६८	सुय च सम्मं (१४।२६)	५६१	१०३
ससिलाज (६।२१)	३०६	७६	साहुसमिक्खाए (६।१)	२८६	५	सुयक्खातं (८।११)	३७२	२३
सवा (३।२०)	१५२	३२	साहुसमिक्खायाए (६।१)	२८६	५	सुयक्खाय (४।२३)	२१०	६३
सव्वओ विप्पमुक्के (१०।४)	४३७	१७	सिक्खं (८।१५)	३७४	३३	सुयक्खाय (१५।३)	६०२	४
सव्वं जयं (१०।७)	४३८	२४	सिणणं (६।१३)	४०१	४१	सुयक्खायधम्मो (१०।३)	४३४	८
सव्वं सव्वकारी (६।२८)	३१३	६८	सितकिक्खोवएसगा (१।७६)	६६	१४०	सुयभाविप्या (१३।१३)	५४२	५८
सव्वकामसमप्पिए (१।७३)	६७	१३५	सितेहि (१।८८)	७६	१६१	सुरालाण बा वि (६।६)	२६७	४५
सव्वज्जुयं (१।४७)	५०	६३	सिद्धा य (१।७४)	६८	१३६	सुल्लुजीवी (१३।१२)	५४०	४८
सव्वदुक्खा विमुक्कवति (१।१६)	३७	५६	सिरीसिवा (७।१५)	३४३	६०	सुविवेगं (२।५१)	११४	६६
सव्वत्थ (३।८०)	१७६	११६	सिरोवेधे (६।१२)	४०१	३६	सुत्रिसुद्धलेसे (४।५२)	२२७	१३६
सव्वप्पगं (१।३६)	४२	७८	सिलोयकामी (१३।१२)	५४०	५०	सुव्वया (८।२)	३६७	१
सव्वमेयं ण ताणह (१।५)	२३	१७	सिलोयकामी (१०।७)	४३६	२७	सुयजए (१६।६)	६२७	३२
सव्वमेयं णिराकिक्खा (११।३४)	४८१	४७	सिलोयकामी (१०।२३)	४५२	७६	सुसमिए (१६।६)	६२७	३३
सव्वसो (११।१५)	४७६	२७	सिसुपालो (३।१)	१४५	३	सुसामाइए (१६।६)	६२७	३४
सव्विदिमाभिणिब्बुडे (१०।४)	४३६	१६	सीओदग (२।४२)	१०८	५३	सुसाहुवादी (१३।१३)	५४१	५४
सव्वेवि सव्वहा (११।६)	३४	५०	सीतोदगसेवणेण (७।१२)	३४१	५२	सुसेहति (३।२६)	१५४	४१
सहणं (४।१२)	२०२	३७	सीलेण (६।१७)	३०३	५६	सुहुमासगा (३।१८)	१५१	२६
सहसमइए (८।१४)	३७३	२६	सीहलिपासग (४।४२)	२१६	१०५	सुहुमे (१३।७)	५३४	२५
सहस्सणेता (६।७)	२६६	३६	सुउज्जुगारे (१३।७)	५३५	२६	सुहुमेण (४।२)	१६४	५
सहिण (२।६६)	१२१	६१	सुक्कम्मि (१।६२)	५८	११८	सुहुम्मा (६।२३)	३०६	८६
सहिण (४।१)	१६३	३	सुगई (२।३)	६६	५	सुहुक्खा तत्थुवसगा (६।२८)	४१४	६३
सहिण (१६।३)	६२३	१६	सुण्णघरस्स (२।३५)	१०६	४४	सूर मण्णह अप्पाण (३।३)	१४६	३
सहीवायं (६।२७)	४१४	८६	सुतवस्सि (१०।३)	४३५	११	सूरियसुद्धलेसे (६।१३)	३००	५१
साहमणंत (६।१७)	३०३	६२	सुतवस्सियं (६।३३)	४१६	११०	सूव (४।४०)	२१७	६५
सागारियं पिढं (६।१६)	४०४	५७	सुदसणे (६।६)	२६८	४६	से आरियाण (७।२४)	३४८	८०
सातं सातेण विज्जई (३।६६)	१७०	६५	सुदा (६।२)	३६५	११	से णिज्जणिक्खेहि (६।४)	२६१	१६
सातियं (८।२०)	३७५	३८	सुढं (४।१८)	२०६	५१	सेवमान (७।२६)	३५०	६०
साधुतं (११।२३)	४७७	३२	सुढ (११।२)	४६६	६	से सव्वदसी (६।५)	२६२	२०
सामणेराए (४।४४)	२२१	११३	सुढसुत्ते (१४।२७)	५६१	१०४	सेहिय वा असेहिय (१।२६)	३८	६।
सामली (६।१८)	३०३	६३	सुढे (१०।२३)	४५१	७५	से ह चक्खु (१५।१४)	६०६	३।
सामं (७।१४)	३४३	५८	सुढे दह संवुढे (१।७०-७१)	६६	१३२	सोयई (२।६०)	११६	८०
सायागारवजिस्सिया (१।५७)	५६	१०६	सुखीरखम्मा (१३।१६)	५४४	६५	सोय (१।४५)	४६	८।
सायाणगा (२।५८)	११८	७६	सुप्पणं (६।३३)	४१६	१०६	सोयं (१०।११)	४४२	४।
						सोयकरी (१४।१५)	५७६	५।
						सो भासिज (१२।२१)	५३५	६।

सूचकसूची १

६४५

परिशिष्ट १ : टिप्पण-अनुक्रम

संज्ञा अनुक्रम	पृष्ठ सं०	टिप्पण सं०	संज्ञा अनुक्रम	पृष्ठ सं०	टिप्पण सं०	संज्ञा अनुक्रम	पृष्ठ सं०	टिप्पण सं०
सोयरिया (११५)	२३	१६	हृत्वेहि पादेहि... (१०१२)	४३४	७	ह्रियं (१२।१२)	५०६	२०
हंता छेत्ता (८।५)	३७०	१२	हम्ममाणो न (६।३१)	४१७	१०२	हिरोमणे (१३।६)	५३४	२०
हंसा (४।४८)	२२४	१२६	हरंति तं वित्तं (६।४)	३६७	१८	हुतेण एगे (७।१२)	३४१	५३
हृण क्षिप्रह (५।६)	२४६	१३	हरिसु (१४।३)	५६६	१०	हुतेण जे (७।१८)	३४५	६६
हृत्पकम्पं (६।१७)	४०५	६०	हरिस (३।१४)	१४६	२३	हेमंतमासम्मि (३।४)	१४६	८
हृत्पिपहं बहंति (५।४२)	२६८	१०३	हास पि णो (१४।२१)	५८२	७६	हेमवण्णे (६।११)	२६८	४६
हृत्पी वा वि (३।२८)	१५४	४४	हिसणितं वा (१०।१०)	४४१	३८	होलाबाय (६।२७)	४१३	८८
हृत्वेहि पाएहि (५।१४)	२५४	३६	हिसण्णसूनाणि बुहाणि (१०।२१)	४४६	७१			

परिशिष्ट २

पदानुक्रम

पद	स्थान	पद	स्थान	पद	स्थान
अ		अतिरिक्तमति वायाए	८१२१	अमबुडा अणादीय	११७५
अहमाणं च मायं च	६१३६	अतिमाणं च मायं च	११३४	असुरिय नाम महाभिताव	५१११
अकुम्भको णवं णत्थि	१५१७	अत्ताण जो जणइ को य लोग	१२१२०	अस्सि च लोए अदुवा परत्था	७१४
अकुसीले सदा भिक्खु	६१२८	अत्थि वा णत्थि वा पुण्ण	१११७	अस्सि मुठिक्का तिविहेण ताड	१४११६
अगारमावसंता वि	१११६	अदक्खुवं दक्खुवाहिय	२१६५	अह ण वतमावण	११३७
अगिद्धे सहकासेसु	६१३५	अदु अंजणि अलकार	४१३८	अह ण से होइ उवलदे	४१३५
अगं वणिप्पहि आहियं	२१५७	अदु कण्णणासिया छेज्जं	४१२२	अह तं तु भेयमावणं	४१३३
अक्षयंता व अूहेणं	३१३८	अदु णाइणं व सुहिणं वा	४११४	अह तं पवेज्ज वज्ज	११३५
अट्टापदं ण सिक्खेज्जा	६११७	अदु साविया पवाएण	४१२६	अह तत्थ पुणो णमयति	४१६
अणंते णितिए लोए	११८१	अपरिक्कदिट्ठि ण हू एव सिद्धि	७११६	अह तेण मूढेण अमूढगस्स	१४१११
अणागयमपस्संता	३१७४	अपरिमाण विद्याणाइ	११८२	अह ते पडिभासेज्जा	३१४०
अणासिया नाम महासियाला	५१४७	अप्पपिडासि पाणासि	८१२६	अह पास विवेगमुद्धिए	२१८
अणिह सहिए सुसंबुद्धे	२१५२	अप्पेगे खुज्जिमयं भिक्खु	३१८	अह सेज्जुतप्पई पच्छा	४११०
अणुपक्खमाणे वितहंज्जिजाणे	१४१२१	अप्पेगे णायओ दिस्स	३११६	अहावरं पुरक्काय	५१२८
अणुत्तरं धम्ममणिज्जिजाणं	६१७	अप्पेगे पडिभासंति	३१६	अहावेर तसा पाणा	१११८
अणुत्तर धम्मभुदीरइता	६११६	अप्पेगे पलिय तसि	३११५	अहाबुद्धयाइ सुसिक्खएज्जा	१४१२५
अणुत्तरं परमं महंसी	६११७	अप्पेगे वइं जुजति	३११०	अहिगरणकरस्स भिक्खुणो	२१४१
अणुत्तरे य ठाणे से	१४१२१	अप्पेण अप्प इह वचइता	५१२६	अहि मे सति आबट्टा	३१३१
अणुपुब्बेण महाओरं	१११५	अज्जागामियम्मि वा दुहे	२१७१	अहिमे मुहुमा सवा	३११८
अणु माणं च मायं च	८११८	अमविसु पुरा वि भिक्खवो	२१७४	अहियप्पाअहियपण्णाणे	११३५
अणुसासण पुढो पाणी	१५१११	अमविसु पुरा कीरा	१५१२५	अहो य रातो य समुद्धितेहि	१३१२
अणुस्सुओ उगल्लेसु	६१३०	अमिज्जिया रुइ अमाहुकम्मा	५१४२	अहो वि सत्ताण विउट्ठणं च	१२१२१
अणलिसस्स छेयणे	१५११३	अमिज्जिया णमी वेदेही	३१६२		
अणोवसंखा इति ते उदाहु	१२१४	अमणुणसमुप्पाय	११६६	अ	
अण मणेण चित्तेति	४१२४	अय व तत्त अलियं सजोइ	५१३१	आउक्कलय चेव अकुत्तमाणे	१०११८
अणणस्स पाणस्सिहलोइयस्स	७१२६	अरति रतिं च अभिभूय भिक्खु	१०११४	आध मइम अणुवीइ अम्म	१०११
अण्णाणियाण बीमसा	११४४	अरति रतिं च अभिभूय भिक्खु	१३११८	आधातकिक्कमाहुइं	६१४
अण्णाणिया ता कुसला वि संता	१२१२	अल्लसए णो पच्छण्णभासी	१४१२६	आधाय पुण एगेसि	११२८
अण्णायापिक्खेज्जहियाएज्जा	७१२७	अविभूयराहि पण्णाहि	४११३	आदीणविसी वि करेति पाव	१०१६
अण ग अणोहि मुच्छिया	२१२०	अवि हत्थपावछेयाए	४१२१	आमंतिव ओसवियं वा	४१६
अतरिखु सरसेगे	१११६	अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी	७१३०		

पद्य	स्थान	पद्य	स्थान	पद्य	स्थान
आयं न कुञ्जा इह जीवितद्वी	१०१०	उज्ज्वलमो पाण्डितवातएज्जा	७१६	एयाइं फासाइं फुसंति बाल	५१४६
आयुते सवावहे	१११२४	उट्टियमणगारमेसण	२११६	एयाणि सोब्बा णरगाणि धीरे	५१४१
आयववसमाभारा	३११४	उड्डं अहे तिरियं च	१११११	एयाणुवीह मेहावी	११७२
आसंयियं च ववसुत्तं	४१४६	उड्डं अहे य तिरिय दिसासु	६१४	एरिसा जा बई एसो	३१४४
आसदी पलियके य	६१२१	उड्डं अहे य तिरिय दिसासु	१४११४	एवं उवाहु णिग्गये	६१२४
आसिले देविले वेव	३१६३	उड्डमहे तिरिय दिसासु	८११६	एवं कामेसणाविऊ	२१६०
आसुणिमक्खिराग च	६११५	उड्डमहे तिरियं वा	३१८०	एव खु तासु विण्णप्प	४१५०
आहुसु महापुरिसा	३१६१	उत्तरमणुयाण आहिया	२१४७	एव ण से होइ समाहिपत्ते	१३१४४
आहत्तहीयं तु पवेयइस्स	१३११	उत्तरा महरुस्सावा	३१२२	एवं णिमत्तणं लद्धं	३१३६
आहत्तहीयं समुपेहमाणे	१३१२३	उदग जती कम्ममलं हरेज्जा	७११६	एवं तक्काए साहंता	११४६
आहाकडं वेव णिकाममीणे	१०१८	उदगसत्तप्पभावेण	११६२	एवं तिरिक्खमणुयामरेसु	५१५२
आहाकडं वा णिकामएज्जा	१०१११	उदगेण जे सिद्धिमुदाहरति	७११४	एवं तुब्भे सरागत्था	३१४६
		उद्देसिय कीयमह	६११४	एवं तु समणा एगे	११३७
		उरालं जगतो जोग	११८४	एव तु समणा एगे	११५६
		उवणीयतरस्स ताडणो	२१३६	एवं तु समणा एगे	११६३
		उवाणहाओ छत्त च	६११८	एवं तु समणा एगे	३१४२
		उसिणोदगनत्तभोइणो	२१४०	एव तु समणा एगे	१११२८
		उसिया वि इत्थि पोसेसु	४१२०	एव तु समणा एगे	१११३१
				एवं तु सिक्खे वि अपुट्टधम्मो	१४१३
				एवं तु सेहे वि अपुट्टधम्मो	१४१३३
				एवं बहुहि कयपुब्ब	४१४६
				एव भयं ण सेयाए	४१५१
				एव मए पुट्ठे महाणुभावे	५१२
				एव मत्ता महंतं	२१५४
				एवं लोगम्मि ताहणा	२१४६
				एवं विप्पडिक्खणेगे	३१११
				एवं समुट्ठिए भिक्ख	३१४६
				एवं से उदाहु अणुत्तरणाणी	२१७६
				एव सेहे वि अपुट्ठे	३१३
				एवमण्णाणिया नाणं	११४३
				एवमायाय मेहावी	८१३
				एवमेगे उ पासत्था	११३२
				एवमेगे उ पासत्था	३१६६
				एवमेगे उ पासत्था	३१७३
				एवमेगे णियागट्ठी	११४७
				एवमेगे त्ति अंपत्ति	१११०
				एवमेगे वियक्काहि	११४८
				एवमेगेयाणि जपता	११३१
				एयाइ मदाइं णिग्गिच धीरा	१३११६
				एहि तात घर जामो	३१२३

पद्य	स्थान
ओ	
ओए सया न रण्जेज्जा	४।३२
ओसाणमिच्छे मणुए समाहि	१४।४
अ	
अंतए वित्तिगिच्छाए	१५।२
अंतं करेति बुक्खाणं	१५।१७
अंताणि धीरा सेवन्ति	१५।१५
अंधो अंधं पहं जेतो	१४।६

क	
कंदूसु पक्खिप्प पयन्ति बालं	५।३४
कडं च कज्जमाणं च	८।२२
कडेसु चासमेसेज्जा	१।७६
कम्मं च छंदं च विणिज्जं धीरे	१३।२१
कम्मं परिष्साय वगंसि धीरे	७।२२
कम्ममेव पवेद्वेति	८।२
कयरे वम्मं अक्खाए	६।१
कयरे मग्गे अक्खाते	११।१
कहं व णाणं कहं दसणं से	६।२
कामेहि य संघवेहि य	२।६
कालेण पुच्छे समियं पयासु	१४।१५
किरियाकिरियं वेणइयाणुवाय	६।२७
कुजाए अपराजिए जहा	२।४५
कुतो कयाइ मेहावी	१५।२०
कुलाइं जे धावति साउगाइ	७।२४
कुव्वं च कारयं जेव	१।१३
कुव्वति पावणं कम्मं	४।२८
कुव्वति संघं ताहि	४।१६
केई णिमित्ता तहिया भवन्ति	१२।१०
केसि च बंधित्तु गले सिलाओ	५।१०
केसिचि तक्काए अबुज्झभावं	१३।२०
को जाणइ वियोवातं	३।४३
कोट्ठं तगरं अगधं च	४।३६
कोलेहि विज्जंति असाहुकम्मा	५।६
कोहं च भाणं च तहेव मायं	६।२६
ख	
खेयणए से कुसले मेहावी	६।३

ग	
गंतुं तात पुणाज्जच्छे	३।२४
गंथं बिहाय इह सिक्खमाणे	१४।१
गच्छाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा	७।१०
गंधमल्लं सिणाणं च	६।१३
गारं पि य आसवे णरे	२।६७
गिरीवरे वा णिसठायताण	६।१५
गिहे दीवमपासता	६।३४
गुत्ते बईए य समाहिपत्ते	१०।१५

घ	
बडिगं सह डिडिमएण	४।४६
च	
चत्तारि अगणीयो समारभेज्जा	५।१३
चत्तारि समोसरणाणिमाणि	१२।१
चिच्चा वित्तं च पुत्ते य	६।७
चित्तमतमचित्तं वा	१।२
चिया महती उ समारभित्ता	५।३६
चिरं वृद्धजमाणस्स	३।३६
चोइया भिक्खु चरियाए	३।३७

छ	
छदेण पलेति मा पया	२।४४
छणं च पसस णो करे	२।५१
छिदति बालस्स खुरेण णक्कं	५।२२

ज	
जइ कालुणियाणि कासिया	२।१७
जइ केमियाए मए भिक्खू	४।३४
जइ णे केइ पुच्छेज्जा	११।३
जइ तं कामेहि लाविया	२।१८
जइ ते सुया लोहियपूयपाई	५।२४
जइ ते सुया वेयरणीअभिदुग्गा	५।८
जइ वि य णिगिणे किसे चरे	२।६
जइ वो केइ पुच्छेज्जा	११।४
जउकुम्भे जोइसुवगूढे	४।२७
ज किचि अणगं तात !	३।२५
जस्थस्थमिए अणाउले	२।३६
जमतीत पडुप्पणं	१५।१
जमाहु ओहं सलिलं अपारण	१२।१४

जमिणं जगई पुढो जगा	२।४
जयय विहराहि ओगबं	२।११
जया हेमंतमासम्मि	३।४
जविणो मिगा जहा सता	१।३३
जस किती मिलोगं च	६।२२
जहा आसाविणि णाव	१।५८
जहा आसाविणि णावं	११।३०
जहा कुम्भे सअगाई	८।१६
जहा गड पिलाग वा	३।७०
जहा ठंकाय कंकाय	११।२७
जहा णई वेयरणी	३।७६
जहा दियापोतमपत्तजात	१४।२
जहा मधादए णाम	३।७१
जहा य पुढवीयूभे	१।६
जहा य वित्तं पसवो य सव्वे	१०।१६
जहा वक्ख वणे जायं	३।२७
जहा विहंगमा पिगा	३।७२
जहा सगामकालम्मि	३।४०
जहा सयभू उदहीण सेट्ठे	६।२०
जहा हि अघे सह जो इणा वि	१२।८
ज किचि वि पूइकड	१।६०
ज किचुवक्कम जाणे	८।१५
जं जारिम पुव्वमकामि कम्मं	५।५०
ज मत मव्वमाहूण	१५।२४
जसि कुले समुप्पणं	१।४
जसी गुहाए जलणेअतिवट्ठे	५।१२
जाईपहं अणुपरियट्टमाणे	७।३
जाई च बुद्धि च विणासयंते	७।६
जाए फले समुप्पणं	४।४७
जाण काएणअणाउट्टी	१।५२
जीवितं पिट्ठो किच्चा	१५।१०
जुवती समण ब्या	४।२५
जे आततो परतो वा वि णच्चा	१२।१६
जे इह आरंभणस्सिया	२।६३
जे इह सायाणुगा णरा	२।५८
जे उ बुद्धा महाभागा	८।२४
जे उ सगामकालम्मि	३।४५
जे एय उछं तअणुगिद्धा	४।१२
जे एय नाभिजानंति	१।४०
जे एयं चरन्ति आहिमं	२।४८

पद्य	स्थान
जे केह तसा पाया	१५३
जे केह बाला इह जीविबट्टी	५१३
जे केह लोगम्म उ अकिरियाता	१०१६
जे कोहणे होइ जयहुभासी	१३१५
जे ठाणको या सयणासणे या	१४१५
जेणेहुं निष्पहे भिक्खू	६१२३
जे ते उ बाहणो एव	१११४
जे सम्म सुद्धमक्खति	१५११६
जे सम्मलद्धं बिजिहाय भुंजे	७१२१
जे भासवं भिक्खु सुसाहुवादी	१३११३
जे मायरं च पियरं च	४११
जे मायरं च पियरं च हिक्खा	७१२३
जे माहुणे खतिए जाइए वा	१३११०
जे य बुद्धा अतिक्कता	११३६
जे य दाणं पसंसति	१११२०
जे याऽबुद्धामहाभागा	८१२३
जे यावि अणायगे सिया	२१२५
जे यावि अप्प वसुमंति मंता	१३१८
जे यावि पुट्टा पलित्तं चरति	१३१४
जे यावि बनुत्सुए सिया	२१७
जे रक्खसा जे जमलोहया वा	१२११३
जे विग्गहिए अ णायभासी	१३१६
जे विण्णवणाहिऽजोसिया	२१५६
जेसि तं उवक्कप्पेति	११११६
जेहि काले परक्कतं	३१७५
जेहि णारीण संजोगा	३१७७
जो सुमे णियमो विण्णो	३१३५
जो परिचवई पर जणं	२१२४
जोहेसु णाए अह बीससेजे	६१२२

क

क्काणजोगं समाहट्ठु	८१२७
--------------------	------

ख

ठाणाई संति सव्वहीण	११११६
ठाणी विविहठाणाणि	८११२
ठिठीण सेट्टा लवसत्तमा वा	६१२४

ङ

डहुरा बुद्धा व पासहा	२१२
डहुरेण बुद्धेणऽपुसासिते तु	१४१७

डहुरे य पाणे बुद्धेय पाणे	१२११८
झ	
णंदी बुण्णगाइ पाहुराहि	४१४०
ण कुब्बइ महावीरे	१५१२३
णण्णत्थ अंतराएणं	६१२६
ण तं सय कडं दुक्खं	११२६
ण तस्स जाती व कुलं व ताण	१३१११
ण तेसु कुज्जे ण य पब्बहेज्जा	१४१६
णत्थि पुण्णे व पावे वा	१११२
ण पूयण केव सिलोय कामे	१३१२२
ण मिज्जती महावीरे	१५१८
ण य संसयमाहु जीवियं	२१४३
ण य संसयमाहु जीवियं	२१६४
ण वि ता अहमेव लुप्पए	२११३
ण सयं कडं ण अण्णेहि	११३०
ण हि णूण पुरा अणुत्सुयं	२१५३
णाइच्चो उदेइ ण अत्थमेइ	२१७
णाणाविहाइं दुक्खाइं	११२६
णिक्किकवणे भिक्खू सुलुहजीवी	१३११२
णिक्खम्म मेहाओ निरावकली	१०१२४
णिक्खम्मदीणे परभोयणम्मि	७१२५
णिट्ठितट्ठा व देवा व	१५११६
णिब्बाणपरमा बुद्धा	१११२२
णिसम्म से भिक्खु समीहमट्ठं	१४११७
णीवारमेव बुज्जेज्जा	४१३१
णीवारे व ण लीएज्जा	१५११२
णता जहा अक्कासि राओ	१४११२
णेयाडय सुयक्खातं	८१११
णो अभिक्खेज्ज जीवियं	२१३८
णो काहिए होज्ज संजए	२१५०
णो केव ते तत्थ मसीभवति	५११६
णो छावए णो वि य लूसएज्जा	१४११६
णो तासु चक्खु संखेज्जा	४१५
णो पीहे ण यावपंगुणे	२१३५

त

तं च भिक्खु परिणाय	११७७
तं च भिक्खु परिणाय	३१३०
तं च भिक्खु परिणाय	३१७६
तं अगं अनुत्तरं सुद्धं	१११२

तलेण अनुत्तिट्ठा ते	३१५३
तत्थ वंछेण संवीते	३११६
तत्थ मंदा विसीयंति	३१६५
तमेगे परिभासति	३१४७
तमेव अवियाणता	१११२५
तमेव अवियाणता	११६१
तम्हा उ वज्जए इत्थी	४१११
तम्हा दवि इक्ख पंढिए	२१२१
तय सं व जहाइ से रयं	२१२३
तहि च ते लोखण संपगाडे	५११७
तहि तहि सुयक्खायं	१५१३
तउट्ठती उ मेहावी	१५१६
तिक्खाहि सूलाहिऽभितावयति	५१३७
तिरिया मणुया य दिव्वगा	२१३७
तिविहेण वि पाण मा हुणं	२१७५
तिव्वं तसे पाणिणो यावरे य	५१४
तुब्भे भुज्ज पाएसु	३१५१
ते एवमक्खति अनुत्तरमाणा	१२१६
ते एवमक्खति सम्मेव लोग	१२१११
ते चक्खु लोगस्सिह णायगा उ	१२११२
तेणाविमं तिणक्खा णं	११२०
तेणाविम तिणक्खा ण	११२१
तेणाविम तिणक्खा णं	११२२
तेणाविमं तिणक्खा णं	११२३
तेणाविमं तिणक्खा णं	११२४
तेणाविमं तिणक्खा णं	११२५
ते नेव कुब्बंति न कारवेंति	१२११७
ते तिप्पमाणा तिलसंपुड्ढव्व	५१२३
ते तीतउप्पण्णमणागवाइं	१२११६
ते य बीओदयं केव	१११२६
ते संपगाडम्मि पवज्जमाणा	५१३३
तेसि पु तवो सुद्धो	८१२५
तेसि पुट्टो छंदा भाणवाण	१०११७
ते हम्ममाणा णरणे पडंति	५१२०

थ

थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी	७१२०
थणितं च सहाण अनुत्तरं उ	६११६

द

दविए वंछणुम्मुक्के	८११०
--------------------	------

शब्द	संख्या
दाण्डुवाय जे पाणा	१११८
दाणाच सेट्ठं अभवप्पयाणं	६१२३
दारुणि सागपावाए	४०३६
दुक्खी मोहे पुणो पुणो	२१६६
दुहको ते ण विणस्संति	१११६
दुहको वि जे ण भासंति	१११२१
दुहावेय सुयस्काय	८११
दूरं अनुपस्सिया मुणी	२१२७
देवा शस्त्रवरकलसा	२१५

ख

धम्मपण्णवण जा सा	११३८
धम्मपण्णवणा जा सा	३१५५
धम्मस्स य पारो मुणी	२१३१
धावण रयणं चैव	६११२
धुनिया कुलिधं व लेखं	२११४

घ

पंच खंघे वयतेगे	१११७
पंडिए कीरिय लद्धुं	१५१२२
पक्खिप्प तासुं पपचति बाले	५१२५
पणसमत्ते सथा जए	२१२८
पणामद चैव तओमद च	१३११५
पत्तेयं कसिणं आया	११११
पमू दोसे णिराकिच्चा	११११२
पमाय कम्ममाहसु	८१३
पयाया सूरार रणसीसे	३१२
परमत्ते अण्णपाण	६१२०
परिरगहे णिविट्ठाण	६१३
परिताणियाणि सकता	११३४
पलिउंखणं च भयण च	६१११
पाओसिणाणाइसु णत्थि मोक्खो	७११३
पागन्निमपाणे बहुण तिवार्ह	५१५
पाणाइवाए वट्टता	३१६८
पाणे य णाइवाएज्जा	८१२०
पाणेहि णं पाव विओजयति	५११६
पावाइं कम्माइं पकुव्वओ हि	७११७
पासे भिसं णिसीयति	४१३
पिया से वेरओ तात !	३१२०
पुच्छिदु णं समवासाहणा म	६११

पुच्छिमुहं केवलिधं महेसि	५११
पुट्ठे गिम्हाहितावेणं	३१५
पुट्ठे णमे चिट्ठह भूमिवट्टिए	६१११
पुट्ठो य वंसमसगेहि	३११२
पुठवी आऊ अगणी वाऊ	६१८
पुठवी आऊ तेऊ य	१११८
पुठवी जीवा पुठो सत्ता	१११७
पुठवी य आऊ अगणी य वाऊ	७१६
पुठवी वि जीवा आऊ वि जीवा	७१७
पुठोक्खे धुणती विगयगेही	६१२५
पुत्तं पि ता समारभ	११५५
पुरिमोरम पाबकम्मुणा	२११०
पूतिकम्म ण सेवेज्जा	११११५
पूयफल तंबोलं च	४१४३

ब

बहवे गिहाइं अवहट्ठु	४११७
बहवे पाणा पुठो सिया	२१३०
बहुगुणप्पकप्पाइं	३१५८
बहुजणमणम्मि संवुडे	२१२६
बालस्स मदय बीअं	४१२६
बाला बला भूमिमणुक्कमंता	५१३२
बाला बला भूमिमणुक्कमंता	५१४३
बाहू पकत्तति य मूलओ से	५१३०
बुक्काहि जतू इह माणवेसु	७१११
बुज्जेज्जा ति उट्टेज्जा	१११

भ

भजति ण पुव्वमरी सरोस	५१४६
भजति बालस्स वहेण पट्ठि	५१४१
भारस्स जाता मुणि भुज्जेज्जा	६१२७
भावणाजोगमुद्धप्पा	१५१५
भासमाणो न भासेज्जा	६१२५
भिक्षू मुतच्चे तह विट्ठुधम्मे	१३११७
भूतेसु ण विरुज्जेज्जा	१५१४
भूयाइ समारभ	११११४
भूयाभिसंकाए दुगुत्तमाण	१४१२०

म

मच्छाय कम्माय सिरीसिवा य	७११५
--------------------------	------

मणबंघणेहि णेणेहि	४१७
मणसा जे पउस्संति	११५६
मणसा वयसा चैव	८१६
महया पलिमोव जाणिया	२१३३
महीए मज्झिमि ठिए णगिगे	६११३
माइणो कट्ठु मायाओ	८१५
मा एय अवमण्णता	३१६७
माता पिता णुसा भाया	६१५
मा पच्छ जसाहुया भवे	२१६१
मा पेह पुरा पतामए	२१४६
मायारं पियर पोस	३१२१
मायाहि पियाहि जुप्पइ	२१३
माहणा खत्तिया वेस्सा	६१२
माहणा समणा एगे	११४१
माहणा समणा एगे	११६७
मिलक्खू अभिलक्खुस्स	११४२
मुसं ण बूया मुणि अत्तगामी	१०१२२
मुसावाय बहिइ च	६११०
मुहुत्ताण मुहुत्तस्स	३१४१

र

रामो वि उट्ठिआ सता	४१४८
रागदोसाभिभूयप्पा	३१५७
रायाणो रायमच्चा य	३१३२
रक्खेसु णाते जहू सामली वा	६११८
रुहिरे पुणो वक्खसमुत्तिसयवे	५११५

ल

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा	६१३२
लित्ता तिक्खाभितावेण	३१५२
लोगवाय णिसामेज्जा	११८०

व

वणसि मूहस्स जहा अमूढा	१४११०
वणे मूढे जहा जंतू	११४५
वत्थगधमलकार	३१३४
वत्थाणि य मे पडिसेहेहि	४१३७
वदालयं च करणं च	४१४४
वाहेण जहा च विच्छए	२१५६
विउट्ठित्तेण समयाणुसिद्धे	१४१८

सूचक १

६५१

परिशिष्ट २ : पदानुक्रम

पद	स्थान	पद	स्थान	पद	स्थान
वित्तं पसको व पाइको	२।७०	संबुद्धे से महापण्णे	११।३८	सीहं जहा खुदमिगा चरंता	१०।२०
वित्तं सोयरिजा केव	१।५	सब्बुद्धकम्मस्स भिक्खुणो जं	२।५५	सीहं जहा व कुणिमेणं	४।८
विबद्धो पाइसंगेहि	३।२८	सब्बं असब्बं इति चित्तयंता	१२।३	सुवणस्सेस जसो गिरिस्स	६।१४
विरत्ते मामधम्मोहि	११।३३	सत्थमेगे सुसिक्खंति	८।४	सुद्धं मगं विराहिता	११।२६
विरया वीरसमुट्ठिया	२।१२	सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि	१४।६	सुद्धं रवह परिसाए	४।१८
विसोहियं ते अणुकाहयंते	१३।३	सद्देसु क्वेसु असज्जमाणे	१२।२२	सुद्धे सिया जाए ण दूसाएज्जा	१०।२३
बुज्झमाणाय पाणानं	११।२३	सद्धं अप्पाबए आया	१।७०	सुफणि च सागपागाए	४।४१
बुसिते विगयगिद्धी य	१।८६	सपरिगग्रहाय सारंभा	१।७८	सुयक्खाय धम्मो वित्तिगिच्छतिण्णे	१०।३
वेयालिए णाम महाभितावे	५।४४	सम अणयरमि संजए	२।२६	सुयमेयमेवमेगेसि	४।२३
वेयालियमग्गमागओ	२।२२	समज्जिणिता कलुस अणज्जा	५।२७	सुविसुद्धलेसे मेहावी	४।५२
वेराइ कुब्बती वेरी	८।७	समणं पि दट्ठु दासीणं	४।१५	सुत्तसूतमाणो उवासेज्जा	६।३३
वेराणुगिद्धे णिचय करेति	१०।६	समासवेज्जा पडिपुण्णभासी	१४।२४	सुहुमेणं तं परकम्म	४।२
स		समिए तु सया साहु	१।८८	सूरं मण्ह अप्पाणं	३।१
सउणी अह पंसुगुडिया	२।१५	समूसियं णाम विघ्नमठान	५।३५	से पणया अक्खयसागरे वा	६।८
सए सए उवट्ठाणे	१।७३	समूसिया तत्थ विसूणियंता	५।३६	से पव्वए सद्धमहप्पगासे	६।१२
सएहि परियाएहि	१।६८	सयं तिवातए पाणे	१।३	से पेसले सुहिमे पुरिसजाते	१३।७
संकेज्ज याज्जंकिताव भिक्खू	१४।२२	सयं दुक्कडं ण वयइ	४।१६	से भूइपणे अणिएयचारी	६।६
सक्खाए धम्मं च वियागरंति	१४।१८	सयंमुणा कडे लोए	१।६६	से वारिया इत्थि सराइमत्तं	६।२८
सक्खाय पेसल धम्मं	३।६०	सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा	१३।१६	से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए	६।६
सक्खाय पेसल धम्म	३।८२	सयं सयं पसंत्ता	१।५०	से सव्ववंसी अभिसूयणाणी	६।५
सद्धासयं च फणिह च	४।४२	सय सहस्साण उ जोयणाणं	६।१०	से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च	१४।२७
सतच्छण णाम महाभितावं	५।१४	सयणासणेहि ओगेहि	४।४	से सुव्वई णगरवहे व सद्दे	५।१८
संतत्ता केसलोएणं	३।१३	सया कसिण पुण धम्मठाणं	५।४०	सेहंति य णं ममाइको	२।१६
मति पच्च महक्खूया	१।७	सयाजसं ठाण णिहं महंतं	५।३८	से ह्ठ चक्खु मणुस्साणं	१५।१४
संति पंच महक्खूया	१।१५	सयाजला णाम णईअभिदुग्गा	५।४८	सोच्चा भगवानुसासणं	२।६८
संति मा तहिया भासा	६।२६	सया दत्तेसणा दुक्खं	३।३	सोच्चा य धम्मं अरहंतवासियं	६।२६
संति मे तओ आयाणा	१।५३	सब्बं जगं तु समयानुपेही	१०।७	ह	
सव्वए साहुधम्मं च	११।३५	सब्बं णच्चा अहिट्टए	२।६६	हण छिवह भिदह णं वहेह	५।६
सपरायं णियच्छंति	८।८	सव्वप्पग विउक्कस्सं	१।३६	हत्थस्स रहजाणेहि	३।३३
संपसारी कयकिरिए	६।१६	सव्वाइ संगाइ अइच्च धीरे	७।२८	हत्थीसु एरावणमाहु णाते	६।२१
संबद्धसमकप्पा	३।४८	सव्वाहि अणुजुत्तीहि	३।५६	हत्थेहि पाएहि य वंघिऊणं	५।२६
संबाहिया दुक्कडिणो थणंति	५।४५	सव्वाहि अणुजुत्तीहि	११।६	हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा	६।३६
संबुज्झमाणे उ णरे मसीमं	१०।२१	सव्विदियाभिणिक्खुडे पयासु	१०।४	हरियाणि भूयाणि वित्तं बगाणि	७।८
संबुज्झह किण्ण बुज्झहा	२।१	सव्वे सयकम्मकप्पिया	२।७२	हासं पि णो संघए पावधम्मो	१४।२१
संभिससभाव सगिरा महीते	१२।५	सहसम्मइए णच्चा	८।१४	हुतेण जे सिद्धि मुवाहरंति	७।१८
संभोक्किज्जमज्जगारं	४।३०	साह्वरे हत्थ पाए य	८।१७	होलावायं सहीवायं	६।२७
संवच्छरं सुविणं सक्खवं च	१२।६	सिद्धा य ते अरोगा य	१।७४		
संबुद्धे से महापण्णे	११।१३	सीलोज्ज पडिपुण्णिणो	२।४२		
		सीलमंते असीले वा	६।२३		

परिशिष्ट ३

सूक्त और सुभाषित

असंकियां संकति, संकियां असंकितो । (१।३३)

दिग्भूत प्राणी अशंकनीय के प्रति शका करते हैं और शंकनीय के प्रति अशंकित रहते हैं ।

अंधो अंधं बहं जेतो, दूरमन्त्राय मच्छ्वई । (१।४६)

अंधा व्यक्ति अंधे का मार्गदर्शन करता है तो वह भटकता है, मूल रास्ते से दूर ले जाता है ।

सयं सद्यं पतंसंता, गरुहता परं बगं ।

जे उ तत्त्व बिजस्संति संसारं ते बिजस्सिया ॥ (१।५०)

अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निन्दा करते हुए जो मर्ब से उछलते हैं वे संसार (जन्म-मरण की परम्परा) को बढ़ावा देते हैं ।

जहा आसाबिजि जाबं, जाइअधो बुद्धिया ।

इच्छई पारमान्तुं, अंतरासे बिसीयई ॥ (१।५८)

जन्मान्ध मनुष्य सन्निध नौका में बैठकर समुद्र का पार पाना चाहता है, पर वह उसका पार नहीं पाता, बीच में ही डूब जाता है ।

अमज्जुअसमुप्पायं, बुद्धमेव विजानिया ।

समुप्पायमज्जानंता, किह्वाहिनि संवर ? (१।६६)

दुःख असयम से उत्पन्न होता है—यह जानव्य है । जो दुःख की उत्पत्ति को नहीं जानते वे संवर (दुःख-निरोध) को कैसे जानेंगे ?

सए सए उवट्ठाजे, सिद्धिमेष ज अज्झहा । (१।७३)

अपने मत की प्रशंसा करने वाले कहते हैं—अपने-अपने सांप्रदायिक अनुष्ठान में ही सिद्धि होती है, दूसरे प्रकार से नहीं होती ।

सब्बे अकंतबुद्धया य, अओ सब्बे अहिंसया । (१।८४)

कोई भी जीव दुःख नहीं चाहता, इसलिए सभी जीव अहिंस्य हैं ।

एयं कु वाचिको सारं, जं न हिंसइ कंचणं ।

अहिंसा सभयं वेव, एयावतं विजानिया । (१।८५)

जानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता । समता अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है ।

बुसिते विगयगिद्धी य, आयाणं सारक्खए । (१।८६)

सयमी व्यक्ति धर्म में स्थित रहे । वह किसी भी इन्द्रिय-विषय में आसक्त न बने और आत्मा का संरक्षण करे ।

संयुज्झह किण्णं युज्झहा, सबोही जलु वेण्णं युज्झहा ।

जो हृबजसंति राइओ, जो सुलभं पुज्जराजि जीवियं ॥ (२।१)

संबोधि को प्राप्त करो । बोधि को प्राप्त क्यों नहीं कर रहे हो ? जो वर्तमान में संबोधि को प्राप्त नहीं होता, उसे अगले जन्म में भी वह सुलभ नहीं होती । बीती हुई रातें लौटकर नहीं आती । जीवन-सूत्र के टूट जाने पर उसे पुनः साधना सुलभ नहीं है ।

मोहं जंति जरा असंबुद्धा । (२।१०)

जो असद्वृत होते हैं, वे मोह को प्राप्त होते हैं ।

अणुसासनमेव पक्कमे । (२।११)

तू अनुशासन का अनुसरण कर ।

अबिहिसामेव पक्खए । (२।१४)

अहिंसा में ही प्रव्रजन कर ।

जे याधि अणायणे सिया, जे बि य पेसगपेसने सिया ।

इव मोणपयं उवट्ठिए, जो लज्जे समयं सया बरे ॥ (२।२५)

एक सर्वोच्च अधिपति हो और दूसरा उसके नौकर का नौकर हो । वह सर्वोच्च अधिपति मुनिपद की प्रव्रज्या स्वीकार कर (पहले से प्रव्रजित अपने नौकर के नौकर को वन्दना करने में) लज्जा का अनुभव न करे, सदा समता का आचरण करे ।

समता धम्ममुवाहरे मुणी । (२।२८)

मुनि समता धर्म का निरूपण करे ।

सुट्ठमे सस्से बुद्धरे । (२।३३)

वन्दना-पूजा ऐसा सूक्ष्म शक्य है जो सरलता से नहीं निकाला जा सकता ।

सामादयमाहु तस्स जं, जो अप्पाय जए न ईसए । (२।३६)

जो जय से विचलित नहीं होता, उस साधक के सामा-यिक होता है ।

अहिंसेन न करेण पंडितः । (२।४१)
 पंडित वह होता है जो कह नहीं करता ।
 न य संक्षयमाहु जीविय, तह बि न बालकनो बगवन् । (२।४३)
 टूटे हुए जीवन-सूत्र को जोड़ा नहीं जा सकता । फिर भी
 ब्रह्म मनुष्य हिंसा आदि में धुष्ट होता है ।
 ज्ञेयेन वनेतिमा यया । (२।४४)
 माया और मोह से डंका हुआ प्राणी स्वेच्छा से विभिन्न
 गतियों में पर्यटन करता है ।
 मा वेह बुराबनामए । (२।४६)
 मुक्त-जीवों की ओर मत देखो ।
 जलिकंके अर्वाह ध्वजिए । (२।४६)
 उपधि—मान और कर्म को दूर करने की अभिलाषा
 करो ।
 जे हूबन न ते हि नो भया । (२।४६)
 जो विषयो के प्रति नत होते हैं, वे समाधि को नहीं
 जान पाते ।
 आतहित बुक्केन लज्जते । (२।४७)
 आत्महित की साधना अत्यन्त दुर्लभ है ।
 जे इह सावानुया नरा, अक्कोववणा कामेहि मुच्छिया ।
 किञ्चयेन सनं पगवियया, न बि जाअंति समाहिमाहिं ॥ (२।४८)
 निम्नोक्त व्यक्ति समाधि को नहीं जान सकते—
 १. जो सुख-सुविधा के पीछे दौड़ते हैं ।
 २. जो आसक्त जीवन जीते हैं ।
 ३. जो कामभोगों में मूर्च्छित हैं ।
 ४. जो दोनों का परिमार्जन करने में कृपण हैं ।
 मा वण्ड असाहुया जवे अज्वेही अनुसास अप्पमं । (२।४९)
 मरणकाल में शोक या अनुताप न हो इसलिए तू काम-
 भोगों का अतिक्रमण कर अपने को अनुसासित कर ।
 न य संक्षयमाहु जीवियं । (२।४९)
 टूटे हुए जीवन को साँचा नहीं जा सकता ।
 अहं ह्यु अवनवर्तना । (२।५५)
 हे अर्वावर्शी ! तुम प्रवृत्ता वचन पर अज्ञा करो ।
 सोज्जा अगवानुसासकं, सज्जे तत्थ करेणुवककं । (२।५८)
 भगवान् के अनुशासन को सुनकर सत्य को पाने का
 प्रयत्न करो ।
 सज्जस्य विनीयसज्जरे । (२।५८)
 किसी के प्रति मात्सर्यभाव मत रखो ।
 इप्पमेव ज्ञं विद्याविद्या । (२।५९)
 उपसन्धि का ज्ञान यही है ।

मुहुत्तामं मुहुत्तस, मुहुतो होइ तारिसो । (२।५९)
 कोई एक क्षण वैसा होता है, जिसमें व्यक्ति का अघः-
 पतन या उद्धारोद्घरण होता है ।
 बिर्तिगिहसमावणा, पंथाणं न अकोविया । (२।५९)
 व्रण को अधिक खुजलाना ठीक नहीं है, क्योंकि उससे
 कठिनाई पैदा होती है ।
 जाइकंडूइयं लेयं, अज्जस्सावरज्जई ॥ (२।५९)
 व्रण को अधिक खुजलाना ठीक नहीं है, क्योंकि उससे
 कठिनाई पैदा होती है ।
 कुब्जा भिज्जु गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए । (२।५९)
 मित्र अज्ञानभाव से रण साधु की सेवा करे ।
 अजागयमवत्सला, पक्खुप्पणगवेसणा ।
 ते वण्डा परितप्पति, झीजे आउम्मि ओव्वणे ॥ (२।६४)
 भविष्य में होने वाले दुःख को दृष्टि से ओझसकर वर्त-
 मान सुख को खोजने वाले मनुष्य आयुष्य और जीवन के क्षीण
 होने पर परित्याप करते हैं ।
 जेहि काले परवत्तं, न वण्डा परितप्पए । (२।६५)
 जो ठीक समय पर पराक्रम करते हैं वे बाद में परित्याप
 नहीं करते ।
 ते धीरा बंधुमुक्का, जावकंति जीविय । (२।६५)
 जो कामभोगमय जीवन की आकांक्षा नहीं करते वे धीर
 पुरुष बंधन से मुक्त हो जाते हैं ।
 सज्जमेयं विराकिन्वा, ते ठिया सुसमाहिए । (२।६७)
 जो अनुकूल परिषदों को निरस्त कर देते हैं वे समाधि
 में स्थित हो जाते हैं ।
 आजोक्काए परिष्वएज्जाति । (२।६७)
 पुरुष ! तू मोक्ष प्राप्ति तक चलता चल ।
 बालस्स मंडय बीयं, जं न कडं अवजाअई मुक्को । (२।७२)
 मूढ़ की यह दूसरी संदता है कि वह किए हुए पाप को
 नकारता है ।
 हुप्पुं करेइ ते वावं, पुयणकामो विसज्जेसी । (२।७२)
 जो पूजा का इच्छुक और असंयम का आकांक्षी होता है,
 वह दूना पाप करता है ।
 जे विसवपासेहि, मोहमावज्जइ पुजो मंहे । (२।७२)
 जो विषय-पाश में आवद्ध होता है, वह मद मनुष्य फिर
 मोह में फंस जाता है ।
 हुक्कंति हुक्को इह हुक्कजेयं । (२।७६)
 अपने दुष्कृत से दुःखी बना हुआ प्राणी दुःख का ही
 अनुभव करता है ।
 एवो सर्वं पक्खुहोइ हुक्कं ॥ (२।७६)
 प्राणी अकेला ही दुःख का अनुभव करता है ।

यं अरिसं पुण्यमकासि कर्म, तमेव आनन्दस्य संवराय । (५।५०)
प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा ही परलोक में फल पाता है ।

कुण्डलेन पुष्टे सुयमाहएक्यः । (७।२६)
दुःख से स्पृष्ट होने पर शांत रहे ।

पमायं कर्ममाहंसु, अप्रमायं तहावरं । (८।३)
तीर्थं करो ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है ।

वेराइं कुण्यतो वेरी, ततो वेरेहि रण्यतो । (८।७)
वैरी बैर करता है और फिर बैर में ही अनुरक्त हो जाता है ।

अप्यको गिद्धिमुवाहरे । (८।१३)
मनुष्य अपनी गृद्धि को छोड़े ।

आरिसं उक्त्वसंपणे, सम्बधम्ममकोविणं । (८।१३)
मनुष्य सब धर्मों में निर्मल आर्यधर्म को स्वीकार करे ।

अहा कुम्मे सबंगाइं, सए देहे समाहरे । (८।६६)
ध्वं पार्थेहि अप्पाणं, अण्णप्पेण समाहरे ॥ (८।६६)

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, इसी प्रकार पंडित पुरुष अपनी आत्मा को पापों से बचा अह्यात्म में ले जाए ।

अवमानिते धरेणं तु, न सिलोमं वयंति ते । (८।२५)
महान् वे होते हैं जो दूसरों के द्वारा अपमानित होने पर अपनी श्लाघा नहीं करते—अपने कुल-गौरव का परिचय नहीं देते ।

तितित्थं परमं जग्घा । (८।२७)
तितिक्षा मोक्ष का परम साधन है ।

वरिष्णहे विविद्धाव, वेरं तेति पववुई । (९।३)
जो परिग्रह के अर्जन, सरक्षण और भोग में रत हैं, उनका बैर बढ़ता है ।

आरंभसंभिया कामा, न ते पुण्यविमोयणा । (९।३)
काम आरंभ—प्रवृत्ति से पुष्ट होते हैं । वे दुःख का विमोचन नहीं करते ।

कम्मी कम्मेहि किण्वती । (९।४)
जो धन के लिए कर्म का बंधन करता है, वह उन्हीं कर्मों से छिन्न होता है ।

वलिउंअं न जयणं न, वंठिस्सुस्सयणाणि य । (९।११)
सुतावाणाणि लोमंति, तं विण्णं ! परिआणिया ॥ (९।११)

माया, लोभ, क्रोध, अविमान—ये सब कर्म के आयतन हैं । इन्हें विहाय स्थावरे ।

मासमायो न मातेज्जा । (९।२५)

बोलते हुए भी न बोलते से रहो ।

जोय वण्णेज्ज अण्णमयं । (९।२५)

मर्मवेधी वचन मत बोलो ।

माहट्ठाणं विवण्णेज्जा । (९।२५)

बोलने में माया का वर्जन करो ।

अणुवीइ विवाणरे । (९।२५)

सोच-समझ कर बोलो ।

अं अणु तं न वत्तणं । (९।२६)

हिंसाकारी वचन मत बोलो ।

निज्जाणं संघए पुणि । (९।२६)

निर्वाण की सतत साधना करो ।

आवीणवित्ति वि करेति पाव । (९।०६)

जो दीनवृत्ति वाला होता है, वह पाप करता है ।

सम्भ जमं तु समयाणुपेही । (९।०७)

समूचे प्राणी जगत् को समता की दृष्टि से देखो ।

वेराणुगिडे निज्जयं करेति । (९।०६)

जो संन्यस करता है, वह जन्मान्तरानुयायी बैर में वृद्ध होता है ।

आयं न कुण्णा इह जीवित्तुही । (९।०१०)

मनुष्य इस जीवन का अर्थी होकर पदार्थों का अर्जन, संन्यस न करे ।

एयत्तमेवं अभिपत्त्यएक्यः । (९।०१२)

एकत्व (अकेलेपन) की अभ्यर्थना करो ।

एतं वमोक्खे । (९।०१२)

एकत्व ही मोक्ष है ।

आरंभसत्ता गहिया य लोए, वण्ण न जावन्ति विमोक्खहेउं । (९।०१६)

जो आरंभ—प्रवृत्ति में आसक्त और लोक में वृद्ध होते हैं, वे समाधि-धर्म को नहीं जानते ।

पववुइती वेरमसंजयस्स ॥ (९।०१७)

असंयमी व्यक्ति का बैर बढ़ता जाता है ।

अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्ठे सुसुडे अजरामरे ण्ण । (९।०१८)

जो विषयों से पीड़ित और मोह से मूर्च्छित होकर अजर-अमर की भांति आचरण करता है वह दिन-रात संतप्त रहता है ।

हिंसन्मृगानि गृहानि भस्मा,

वेराशुशंखीनि मृगजगानि ।

(१०।२१)

दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं । वे वीर की परम्परा को बढ़ाते हैं । वे महा भयंकर होते हैं ।

मुक्तं न भूया मुनि असमाधि ।

(१०।२२)

आत्मगामी मनुष्य असत्य न बोले ।

निष्वाणमेव कलिनं समाहि ।

(१०।२२)

सत्य है निर्वाण और समाधि ।

सन्ने अक्षतमुक्ता व, अतो सन्ने अहिंसा ॥

(११।६)

सभी जीवों को दुःख अप्रिय है, इसलिए किसी प्राणी की हिंसा मत करो ।

एवं नु वाचिषो सारं, अं न हिंसति कंचन ।

अहिंसा-समयं केव, एतावतं विजाजिया ॥

(११।१०)

जानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता । 'समता अहिंसा है'—इतना ही उसे जानना है ।

संति निष्वाणवाहिम ।

(११।११)

शांति ही निर्वाण है ।

न विदुश्चेक्य केणइ ।

(११।१२)

किसी के साथ विरोध मत करो ।

उन्मत्तमया दुष्कं वातमेतंति तं तथा ।

(११।२२)

जो उन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं, वे दुःख और मृत्यु की कामना करते हैं ।

संघए साधुधम्मं न, पापधम्मं चिराकरे ।

(११।३५)

साधु-धर्म—रत्नत्रयी का संभाल करो और पाप-धर्म का निराकरण करो ।

वे य बुद्धा अतिकर्ता, वे य बुद्धा अवागया ।

संती तेति वड्डुअं, मूयाणं जमई अहा ॥

(११।३६)

जो बुद्ध (तीर्थंकर) हो चुके हैं और जो बुद्ध होंगे, उन सबका आधार है शांति, जैसे जीवों का पृथ्वी ।

न कम्मणा कम्म कर्बेति वासा,

अकम्मणा कम्म कर्बेति सीरा ।

(१२।१५)

कर्म से कर्म क्षीण नहीं किया जा सकता । अकर्म से कर्म क्षीण होते हैं ।

संतोसिणो नो पकरेति वासं ।

(१२।१५)

संतोषी मनुष्य पाप से बच जाता है ।

विज्जति-वीरा य जवंति एगे ।

(१२।१७)

कुछ पुरुष केवल धार्मिक होते हैं, कर्मवीर नहीं ।

नो जीविमं नो मरणाधिकं ।

(१२।२२)

मेधावी व्यक्ति न (असंयमय) जीवन की आकांक्षा

करे और न (असंयत) मृत्यु की वांछा करे (वह संयत जीवन और पंडित मरण की वांछा करे ।)

आधानमुते बलया विमुक्के ।

(१२।२२)

जो इन्द्रियो का संवरण करता है, वह संसारचक्र से मुक्त हो जाता है ।

एणस्स अंतो पतिरायसी न ।

(१३।१८)

जीव अकेला जाता है और अकेला आता है ।

अचोसिते अंतकरे ति अज्जा ।

(१४।४)

जो गुप्तकुलवास में नहीं रहता वह असमाधि या संसार का अन्त नहीं कर सकता ।

नो तुच्छए नो य विक्खएज्जा ।

(१४।२१)

व्यक्ति न अपनी तुच्छता प्रदर्शित करे और न अपनी प्रशंसा करे ।

संकेज्ज धाअंकितवावमिक्खू ।

(१४।२२)

किसी तत्त्व के प्रति शंकित होने पर भी व्यक्ति सत्य के प्रति बिनम्र होकर उसका प्रतिपादन करे ।

विमज्जवागं न वियामरेज्जा ।

(१४।२२)

प्रातपादन में सदा विमज्जवाव—स्याद्वाद का प्रयोग करे ।

न कचई वास विहिंसएज्जा ।

(१४।२३)

किसी की भाषा की हिंसा (तिरस्कार) न करे ।

विचट्ठणं वावि न वीहएज्जा ।

(१४।२३)

शीघ्र समाप्त होने वाली बात को न संभाए ।

अलूसए नो वच्छएज्जासी ।

(१४।२६)

सिद्धांत को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करे । अपरिणत को रहस्य न बताए ।

भूतेसु न विदुश्चेक्य, एस धम्मो वुलीमओ ।

(१५।४)

जीवों के साथ विरोध न करे—यह संयमी का धर्म है ।

आवणाओगसुद्धप्पा, जसे वावा न आहिया ।

वावा न तीरसंपणा, सज्जहुक्का तिउट्ठति ॥

(१५।५)

जिनकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध है वह जल में नौका की तरह कहा गया है । वह तट पर पहुंची हुई नौका की भांति सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

पुट्ठंति पावककम्मणि, जवं कम्ममकुव्वओ ॥

(१५।६)

जो नए कर्म नहीं करता उसके पापकर्म टूट जाते हैं ।

अकुव्वओ जवं जस्मि, कम्मं जाम विजाजतो ।

(१५।७)

जो नए कर्म नहीं करता, विज्ञाता या द्रष्टा है, उसके नया कर्म नहीं होता ।

इत्थिन्वो जे न सेवन्ति, आदिसोक्ता इ ते जप्ता । (१५।१)

जो कामवासना से मुक्त होते हैं, वे मोक्ष पाने वालों की पहली पंक्ति में हैं ।

ये इ वसन्तु मनुस्तान्, जे कंसाए न भंतम् । (१५।१४)

जो आकांक्षाओं का भन्त कर देता है, वह मनुष्यों का वधु है ।

बुल्लभेज्जं समुत्सए । (१५।१७)

यह मनुष्य का शरीर दुर्लभ है ।

इतो विद्धंतमावत्स, पुनो संबोहि बुल्लभा । (१५।१८)

मनुष्य शरीर से च्युत जीव को (अन्य योनिओं में) संबोधि दुर्लभ है ।

बुल्लभावो लहक्काओ, जे छम्मट्ठं वियागरे । (१५।१९)

धर्म के तत्त्व का उपदेश देने वाली विशुद्ध भासमाओं का योग भी दुर्लभ है ।

परिशिष्ट ४

उपमा

मिना वा वासवदत्ता	(११४०)	हृत्पी वा वि जयगहे ।	(३१२८)
मिलवन् अमिलवन्तस्त जहा वृत्तावृत्तात् ।	(११४२)	सूती गो व्वा अकुरगा ॥	(३१२८)
मिलवन् व्वा अजोहिया ॥	(११४३)	पायाला व अतारिमा ।	(३१२९)
वने मूढे जहा अत्त मूढमेयाजगामिए ।	(११४४)	नीबारणे व सुपरं ॥	(३१३६)
कुक्कं ते वातिवट्टंति सडणो पंजरं जहा ॥	(११४६)	उक्कान्तंति व कुब्बला ॥	(३१३७)
जहा वाताविणि जावं जाइअंओ कुकहिया ।	(११४८)	पंकंसि व अरगावा ॥	(३१३८)
मज्झा वेतालिया जेव उदगस्सज्जियोगमे ॥	(११६१)	जहा संगामकालम्मि पट्टिमो मीठ वेहइ ।	(३१४०)
उदगस्सप्पमाजेवं सुक्कम्मि घातमैति उ ।		पंकावं व अकोविया ॥	(३१४४)
उंकेहि व कंकेहि य आमिसःवेहि ते हुही ॥	(३१६२)	अगो वेणु व्वा करिसिया ।	(३१४४)
मज्झा वेतालिया जेव	(११६३)	ठंकवा इव पक्कनं ॥	(३१४७)
वियडं व जहा मुज्जो ओरदो सरदं तहा ॥	(११७१)	वाहण्णिज्जा व गहमा ।	(३१६४)
तेणे जह वट्टयं हरे	(२१२)	पीडसप्पीव संजने ॥	(३१६४)
ताले जह वंघवचुए	(२१६)	अयोहारि व्वा कूरहा ॥	(३१६७)
बुधिया कुलियं व लेखवं	(२१६४)	जहा गंढं विलागं वा परिपीलेसा मुमुत्तनं ।	(३१७०)
सडणी जह पंतुमुडिया विहुणिय धत्तयई सियं रयं ।	(२१६४)	जहा मंघावए नाम विमिअं वियति वणं ।	(३१७१)
तव सं व जहाइ ते रयं	(२१६६)	जहा विहंगमा पिगा विमिअं वियति वणं ।	(३१७२)
वहुवणवणम्मि संघुडे	(२१६८)	पूयमा इव सवणए ॥	(३१७३)
कुजए अपराधिए जहा अक्केहि कुसलेहि वीचयं ।		जहा गई केयरणी कुतरा इह सम्मता ।	(३१७६)
कडमेव पट्टाव को कलि को तेम को जेव वावरं ॥	(२१४३)	समुहं व ववहारिणो ।	(३१७८)
कडमिव सेतज्जहाव पंडिए ॥	(२१४६)	ओहं जहा व कुणियेनं	(४१८)
अयं वरिणइहि आहिअं आरेती रावाणया इहं ।	(२१४७)	रहकारा व ओमि अणुपुववीए । वडे मिए व पासेजं	(४१६)
सिक्खेण तमं वमज्जिया	(२१४८)	ओक्का वायसं व विसमिस्सं ।	(४११०)
वाहेण जहा व विज्जए अवले होइ वयं वओइए ।		विसमिस्सं व कंटगं वक्का ।	(४१११)
ते अंतस्से अण्णयामए पाईव अए अवले विसीवइ ॥	(२१४९)	अहु साविवापवाएणं	(४१२६)
विज्जुवालो व महारहं ॥	(३११)	अउकुस्से ओइमुवगुडे आसुमितसे वासमुवयाइ ।	(४१२७)
एक्कहीवा व जलिया ॥	(३१४)	आणण्या हवंति वासा वा ॥	(४१४६)
मज्झा अण्णोवए जहा ॥	(३१५)	मारवहा हवंति उट्टा वा ॥	(४१४७)
संभावम्मि व मीचमो ॥	(३१७)	वण्यमुवा हवंति हंता वा ॥	(४१४८)
तेउपुट्टा व वाणिजो ॥	(३१८)	वाले मिए व पेस्से वा पसुज्जए व से व वा केई ॥	(४१४९)
मज्झा पविट्ठा व केयवे ॥	(३११३)	मज्झा व जीवंतुवओइयसा ॥	(५११३)
हत्थी वा कुट्टयामिणी ॥	(३११६)	कमणं व तज्जंति कुहाउहत्था ॥	(५११४)
हत्थी वा सरसंवीता	(३११७)	सजीवणक्खे व अयो-कवत्ते ॥	(५११५)
जहा कण्ठं वने जगं मातुया वडिअंइह ।	(३१२७)	ते सुज्जई जगरवहे व सहे	(५११८)

ते तिप्पमाणा सत्तसंपुडं ज्व
पेसे व बंढेहि पुरा करेति ॥
अयं व सत्तेहि ससूतयेति ॥
सावयमं व
सप्पी जहा छुं ज्योइमज्जे ॥
सत्तुं व बंढेहि समारभति ॥
फलगा व सट्ठा
उत्तुकोइया हत्तिवहं वहंति ।
दीवे व ॥
सूरिए वा
बहरोपनिवे व ॥
इंवे व वेवाज महाज्जावे
सहस्सजेता विवि नं विसिट्ठे ॥
अवज्जयसागरे वा
महोबही वा वि अणंतपारे ।
सक्के व वेवाहिर्वां जुईमं ॥
सुबंसने वा जगसज्जेसेट्ठे ।
अलिए व जोमे ॥
गिरीबरे वा विसडापलाज
ज्यते व सेट्ठे वलयापलाजं ।
संज्जेइवेगंतं व वाससुक्कं ॥
वक्खेसु जाते जह सामली वा
ज्जेसु या वंज्जमाहु सेट्ठ
वजितं व सदाव अणुसरं व
वंदे व ताराज महाज्जा मावे ।
गंजेसु वा वंज्जमाहु सेट्ठं
जहा सयंज उवहीज सेट्ठे
पागेसु वा धरणिवमाहु सेट्ठं ।
जोमोवए व रस वेजयंते
हत्पीसु एरावणमाहु जाते
सीहो मिगाजं ।
सलिलाज गंगा ।
पक्खीसु या गडले वेज्जेवे
ओहेसु पाए जह वीससेने
पुप्पेसु वा जह अरविजमाहु ।
जलीज सेट्ठे जह वंसवक्के
वाजाज सेट्ठं अज्जयय्याजं
सज्जेसु या अज्जयय्यं वधंति ।

(५।२३) तवेसु या उत्तम बंज्जेरं (६।२३)
(५।३२) डितीज सेट्ठा सवसत्तमा वा (६।२४)
(५।३५) सभा सुहम्मा व सभाज सेट्ठा । (६।२४)
(५।३७) निज्जाणसेट्ठा यह सज्जज्जमा (६।२४)
(५।३६) तरितं समुहं व महामज्जे (६।२५)
(५।४०) अंघ व जेयारमज्जसरता (७।१६)
(५।४१) जीवारणिजे व महावराहे (७।२५)
(५।४२) निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥ (७।२६)
(६।४) संगमसीसे व परं वमेज्जा ॥ (७।२६)
(६।६) अवलवत्तए वा सगडं ॥ (७।३०)
(६।६) जहा कुम्मे सगंगां सए देहे समाहरे । (८।१६)
अजरामरे व ॥ (१०।१८)
(६।७) सीहं जहा खट्ठमिगा अरंता
(६।८) दूरेण अरंती परिसंक्रमाणा । (१०।२०)
(६।८) समुहं ववहारिणो ॥ (११।५)
(६।८) पक्खलाण व जवेमा । (११।२२)
(६।९) जहा वंका य वंका य कुलला मग्गुकासिही ।
(६।१२) मज्जेमनं भियायति भाजं ते कुलसाधनं ॥ (११।२७)
(६।१५) वंका वा कलुसाधमा ॥ (११।२८)
(६।१५) जहा आसविजि जावं जाइअंओ हुकहिया ।
(६।१६) इच्छां पारमागंतु अंतरा य विसीवति ॥ (११।३०)
(६।१८) वातेज व महागिरी ॥ (११।३७)
(६।१८) जहा हि अंधे सह जोइणा वि
(६।१९) कवाणि जो पस्सइ हीणजेसे । (१२।८)
(६।१९) अडे व (१३।५)
(६।१९) जहा विद्या-पोत मपलजातं सावासणा पवित्तं मज्जमाजं ।
(६।२०) तमजाइयं तवणमपलजायं वकावि अज्जसगमं हरेज्जा ॥ (१४।२)
(६।२०) विजस्स जावं व अपलजातं (१४।६)
(६।२०) वणंति मूढस्स जहा अमूढा
(६।२१) मग्गाणुसासति हितं पयाज । (१४।१०)
(६।२१) जेता जहा अंधकारंति राओ
(६।२१) अयं न जाणाति अपस्समाजे । (१४।१२)
(६।२१) सूरुइए पासइ जक्खजेव ॥ (१४।१३)
(६।२२) जले जावा व जाहिया । (१५।५)
(६।२२) जावा व तीरसंपज्जा (१५।५)
(६।२२) वाळ व जालमज्जेइ (१५।५)
(६।२३) जीबारे व न लीए लीएज्जा (१५।१२)
(६।२३) निहितट्ठा व वेवा व (१५।१६)

परिशिष्ट ५ व्याकरण विमर्श

पहला अध्याय

श्लोक

- २० ओहंतराऽहिः—अत्र द्विपदयोः सन्धिः—ओहंतरा +
आहिः ।
२७ एस्संतणंतसो—एष्यन्ति + अनन्तशः ।
३२ एवं पुबट्टिया—एवं + अपि + उवट्टिया ।
४० एसतणंतसो—एष्यन्ति + अनन्तशः ।
४५ भियच्छई—छन्दोदृष्ट्या एकवचन—णियच्छति ।
६० सङ्की—विभक्तिरहितपदम्—सङ्कीहि ।
६० आगंतु—विभक्तिरहितपदम्—वर्णलोपश्च—आगन्तुकान्
उद्दिश्य ।
६३ वेव—वेव—इव ।
६३ एसतणंतसो—एष्यन्ति + अनन्तशः ।
६५ पहायाइ—अत्र 'कडे' इति वाक्यशेषः ।
७३ सिद्धिमेव—मकारः अलाक्षणिकः ।
८३ चिट्ठंतदुव—अत्र द्विपदयोः सन्धिः—चिट्ठति + अदुव ।

दूसरा अध्याय

- ७ बहुस्सुए, छम्मिए, माहणे भिक्खुए—सर्वत्रापि बहुवचन
युज्यते । अत्र बहुवचनान्तं क्रियापदं स्वीकृतम्, तेन
वृत्तिकृता छान्दसस्वाद् बहुवचनं द्रष्टव्यम्—इति
सिद्धितम् ।
९ भायादि—विभक्तिरहितपदम्—भायादिना ।
९ गम्भावनंतसो—भर्मादि अनन्तशः ।
१० पुरिसोरम—पुरुष । उपरम ।
१२ कोहाकारियाइपीसणा—अत्र दीर्घत्वमलाक्षणिकम् ।
१४ देहमणासणादिहि—अत्र दीर्घत्वमलाक्षणिकम् ।
१८ जीवित—विभक्तिरहितपदम्—जीवितस्स ।
२१ दवि—विभक्तिरहितपदम्—दविए ।
२१ महावीहि—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम्—महावीहि ।
२१ तय—विभक्तिरहितपदम्—तय ।
२८ सवता—समतयाः ।
२८ भावि—विभक्तिरहितपदम्—भाणी ।
३३ पजियोव—विभक्तिरहितपदम्—पजियोव ।

- ३४ मासणे—मकारः अलाक्षणिकः ।
३६ अप्पाण—विभक्तिरहितपदम्—अप्पाण ।
४० संसग्गि—विभक्तिरहितपदम्—संसग्गी ।
४२ सीओदग—विभक्तिरहितपदम्—सीओदगस्स ।
४६ सेसऽवहाय—विभक्तिरहितं सन्धिश्च—सेस अवहाय ।
४७ उत्तर—विभक्तिरहितपदम्—उत्तरा ।
४७ गामघम्म—विभक्तिरहितपदम्—गामघम्मे ।
४८ उट्टिय—विभक्तिरहितपदम्—उट्टिया ।
४९ दूवण—विभक्तिरहितपदम्—दूवणया, ये वुरूपनता न
ते हि समाधिं जानन्ति, ये नो नताः—विषयेषु न
प्रणताः सन्ति ते समाधिं जानन्ति ।
५१ पसंस—विभक्तिरहितपदम्—पसंसं ।
५१ उक्कोस—विभक्तिरहितपदम्—उक्कोसं ।
५१ पगास—विभक्तिरहितपदम्—पगासं ।
६१ अन्वेही—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
६१ असाहु—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
६२ गिद्ध—विभक्तिरहितपदम्—गिद्धा ।
६३ आयदड—विभक्तिरहितपदम्—आयदंडा ।
६८ भिक्खु—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
७५ पाण—विभक्तिरहितपदम्—पाणा ।
७५ अणियाण—विभक्तिरहितपदम्—अणियाणे ।

तीसरा अध्याय

- २० सवा—शृण्वन्तीति श्रवाः ।
२३ कम्म—अकृथाः इति क्रियाशेषः ।
३३ हुत्थस्स—सन्धिपदमिदम्—हुत्थि + अस्स ।
३६ गिद्ध—विभक्तिरहितपदम्—गिद्धा ।
४० भीरु—विभक्तिरहितपदम्—भीरु ।
४७ समाहिए—अत्र पंचम्येकवचने 'समाहीए' इतिरूप
भवति, किन्तु छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
५३ असमिक्खा—अकारस्य दीर्घत्वम् ।
५४ उ—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
६३ दीवायण—विभक्तिरहितपदम्—दीवायणे ।
७६ अमईमया—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।

चोथा अध्ययन

- १२ इत्थीसु—तृतीयायै सप्तमी ।
 १२ तऽणुगिद्धा—सन्धिपदम्—तयणुगिद्धा ।
 २७ जोहसुवगूढे—अत्र द्विपदयोः सन्धि—जोहसा + उवगूढे ।

पाचवा अध्ययन

- ११ जीवंतुवजोहपसा—अत्र द्विपदयोः सन्धिः—जीवंता + उवजोहपसा ।
 १६ पाव—विभक्तिरहितपदम्—पावा ।
 २६ तत्था—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
 २६ पिठुउ—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
 ३६ महतीउ—अत्र ओकारस्य ह्रस्वत्वम् ।
 ४२ रुद्—विभक्तिरहितपदम्—रुद् ।

छठा अध्ययन

- ४ थावर—विभक्तिरहितपदम्—थावरा ।
 ११ अंसी—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
 १२ गिरिसु—अत्र सप्तम्याः बहुवचने 'गिरीसु' इति रूपं भवति, किन्तु छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
 १५ गिसडायताणं—द्विपदयोः सन्धिः—गिसडे + आयताण ।
 १७ साइमणत—विभक्तिरहितपदम्—साइमणतं ।
 २० मुणि—विभक्तिरहितपदम्—मुणी ।
 २३ उत्तम—विभक्तिरहितपदम्—उत्तम ।
 २५ वीर—विभक्तिरहितपदम्—वीरे ।
 २७ सम्म—अत्र अनुस्वारलोपः ।
 २८ इत्थि—विभक्तिरहितपदम्—इत्थि ।
 २९ सहहताजय—द्विपदयोः सन्धिः वर्णलोपश्च—सहहता + आदाय ।
 २९ देवाहिब—विभक्तिरहितपदम्—देवाहिबा ।

सप्तवा अध्ययन

- १ तण रुक्ख—विभक्तिरहितपदम्—तणा रुक्खा ।
 १ जराउ—विभक्तिरहित वर्णलोपश्च—जराउया ।
 २ बिप्परियासुवेति—द्विपदयोः सन्धिः—बिप्परियासमुवेति ।
 २ एताइ कायाइ पवेइयाइ—काय पुल्लिङ्ग है। यहां नपुसक-
 लिङ्ग मे प्रयुक्त है ।
 ४ संसारमावण—विभक्तिरहितपदम्—ससारमावणा ।
 ४ दुणियाणि—बन्धानुलोभ्यात् 'दुणीयाणि'—अत्र ईकार-
 स्य ह्रस्वत्वम् ।
 ५ अगणि—विभक्तिरहितपदम्—अगणि ।
 ६ पाणऽतिवातएज्जा—द्विपदयोः सन्धिः—पाणा + अतिवात-
 एज्जा ।

- ६ अगणिऽतिवातएज्जा—द्विपदयोः सन्धिः—अगणि + अति-
 वातएज्जा ।
 ६ अगणि—विभक्तिरहितपदम्—अगणि ।
 ७ संपातिम—विभक्तिरहितपदम्—संपातिमा ।
 ७ अगणि—विभक्तिरहितपदम्—अगणि ।
 ८ बहुणं—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
 १० मज्झिम—विभक्तिरहितपदम्—मज्झिमा ।
 १६ अती—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
 २५ मुहमंगलिओदरिय—द्विपदयोः सन्धिः—मुहमंगलिओ +
 ओदरियं ।
 २८ भिक्खु—भिक्खू ।
 २९ मुणि—मुणी ।
 २९ विवेग—विवेग ।
 ३० पववुवेइ—द्विपदयोः सन्धिः—पवव + उवेइ ।

आठवा अध्ययन

- १५ किचुवक्कम—द्विपदयोः सन्धिः—किचि + उवक्कम ।

नौवा अध्ययन

- ६ सपेहाए—अत्र 'स' शब्दस्य अनुस्वारलोपः ।
 ८ तण रुक्ख—विभक्तिरहितपदम्—तणा रुक्खा ।
 ८ पोय, जराऊ, रस, ससेय—विभक्तिरहित वर्णलोपश्च—
 पोयया, जराउया, रसया, ससेइया ।

दसवा अध्ययन

- २ थावर—थावरा ।
 २ सुतवस्सि—सुतवस्सी ।
 ६ मेघावि—मेघावी ।
 १३ बारयमेहुणे—आ + अरत + मैथुन—विरतमैथुन
 इत्यर्थः ।
 १३ भिक्खु—भिक्खू ।
 १८ साहसकारि—साहसकारी ।
 २० मेहावि—मेहावी ।
 २२ मुणि—मुणी ।

ग्यारहवा अध्ययन

- १ उज्जु—उज्जु ।
 ७ तण—तणा ।
 ८ छक्काय—छक्काया ।

बारहवा अध्ययन

- २ वितिगिच्छ—वितिगिच्छं ।
 ३ असाहु—असाहुं ।
 १२ वक्खु—वक्खू ।

- १२ मग्गाणुसासति—द्विपदयोः संधिः—मग्गं + अणुसासति ।
 १६ मणागयाह—मकारः अलाक्षणिकः ।
 १८ बुद्धप्पमत्तेसु—द्विपदयोः संधिः—बुद्धे + अप्पमत्तेसु,
 बुद्धे + पमत्तेसु ।
 १९ सत्ताज्जसेज्जा—द्विपदयोः संधिः—सत्तं + आवसेज्जा ।
 २० अत्ताण—अत्ताणं ।
 २० जाण—अत्र इकारलोपः—जाणह ।
 २२ मरणाभिकंठे—द्विपदयोः संधिः—मरणं + अभिकंठे ।

तेरहृषां अध्ययन

- ३ बहुगुणाणं—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
 ४ मायणिएहि—द्विपदयोः सन्धिः—मायणिया +
 एहि ।
 १२ भिक्खु—भिक्खू ।
 १२ गारव—अत्र वर्णलोपः—गारवव ।
 १३ भिक्खु—भिक्खू ।
 १४ भिक्खु—भिक्खू ।
 २२ सिलोय—सिलोय ।
 २३ अकसाइ—अकसाई ।

चौबहृषां अध्ययन

- ४ णतकरे—ण + अतकरे ।
 ५ या—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
 ६ पमाय—पमायं ।
 ६ वी—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।

- ६ वित्तिगिच्छ—वित्तिगिच्छं ।
 ८ अम्मद्विताए—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
 ९ पमाद—पमादं ।
 १० मग्गाणुसासति—द्विपदयोः संधिः—मग्गं + अणुसासति ।
 १० सम्मणुसासयति—द्विपदयोः संधिः—सम्मं + अणुसास-
 यति ।
 ११ कायब्ब—कायब्बा ।
 १२ सुरियस्सा—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
 १४ पावर—पावरा ।
 १६ संति—संती ।
 १७ भिक्खु—भिक्खू ।
 १७ समीहमट्ठं—समीह्य—मकारः अलाक्षणिकः ।
 १७ आवाणमट्ठी—मकारः अलाक्षणिकः ।
 १९ परिहास—परिहासं ।
 १९ याऽसिसावाद—आसिसावादं ।
 २१ अकसाइ—अकसाई ।
 २२ याऽसंकितभाव—असंकितभावे ।
 २३ साहु—साह ।
 २३ भास—भासं ।
 २४ पावविवेग—पावविवेगं ।
 २५ दिट्ठि—दिट्ठि ।

पन्ध्रहृषां अध्ययन

- ७ जाई—जायई—जाई ।
 १८ संबोहि—संबोही ।

